

ज्ञानमण्डल लिमिटेडका ६१ वाँ ग्रन्थ

तुलसीदास और उनका युग

लेखक

डा० राजपति दीक्षित

एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य : तीस रुपये

प्रथम बार, सं० २००९

द्वितीयावृत्ति, सं० २०१८

तृतीयावृत्ति, सं० २०३०

© ज्ञानमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी, १९५३

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस)

मुद्रक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ७२८१-३१

तुलसीदास

और

उनका युग

निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्धका विषय है—‘तुलसीदास और उनका युग’। इस शीर्षकका प्रथम अंश अर्थात् ‘तुलसीदास’ तो उस अनन्य भक्त-शिरोमणि, कवि-कण्ठाभरण जिसकी वाणीका मञ्जु घोष करोड़ों उरोंमें निनादित हो रहा है और जो हिन्दी-साहित्यके विचक्षण समालोचकों द्वारा ही नहीं, वरन् पाश्चात्य चूडान्त विद्वानोंसे भी हिन्दी-काव्य-गगनका मार्तण्ड स्वीकृत किया जा चुका है—उसी गोस्वामी तुलसीदासका श्रोतक है। दूसरा अंश अर्थात् ‘युग’का तात्पर्य स्पष्ट करनेके साथ शाश्वत, निरवच्छिन्न, अबाध गतिसे प्रवाहित होनेवाले कालका संकेत आवश्यक है। अभिल, अदृष्ट और अनन्त सांसारिक प्रवाहका परिचायक है—काल। यही अविच्छिन्न प्रवाह किसी सीमामें आवद्ध होनेपर ‘युग’की संज्ञा प्राप्त करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं—यदि काल समयरूपी वृत्तकी परिधि है तो युग उसका एक चाप है। हमें जिस चापका दिग्दर्शन करना है उसकी सीमा या हृदवन्दी तुलसीके आविर्भावके समयसे लेकर तिरोभावतककी साग्रममध अवधि होगी।

इस सीमाके भीतर हिन्दू-संस्कृतिका कंसा उत्कर्षापकर्ष हुआ, कैसे सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विचारोंकी गुँज उठी और कैसे-कैसे उद्भट प्रचारक या सुधारक समाजके कर्णधार बनकर आये और उने किस प्रवाहकी ओर बहाने लगे, समाज कहाँतक बहा और प्रवाहकी प्रतिक्रिया, उसका घात-प्रतिघात किस रूपमें अवगत हुआ, इन विभिन्न स्थितियोंको तुलसीने किस रूपमें देखा और किस अंशतक वे अपने युगके चक्रव्यूहमें आवसद्ध या अनवसद्ध हुए—इन बातोंका स्पष्टीकरण ही तुलसीके युगका दिग्दर्शन कराना होगा। महाकवि अपने युगका ज्ञापक और निर्माता होता है। इस कथनकी पुष्टि गोस्वामीजीकी रचनाओंसे सवा सोलह आने होती है। इसीसे कविके युगविषयक कुछ अनुसन्धानकी विशेष आवश्यकता देखते हुए प्रबन्धका शीर्षक केवल ‘तुलसीदास’की अपेक्षा ‘तुलसीदास और उनका युग’ नितान्त उपयुक्त है।

अपने प्रबन्धकी नवीनताकी ओर संकेत करनेके पूर्व मैं यह बात सच्चे हृदयसे स्वीकार करनेमें रज्जुमात्र भी नहीं हिचकता कि महात्मा तुलसीदासका आकर-क्षेत्र इतना व्यापक और गम्भीर है कि उसके गर्भमें न जाने कितने ऐसे नवीन रत्न छिपे हैं जिनके उद्घाटन और उल्लेखनके लिए अभी कितने ही अध्यवसायी, विवेकशील, सद्ग्राही एवं कला-निपुण अनुसन्धायक वैकटिकों (जौहरियों)की आवश्यकता होगी। ज्यों-ज्यों हमारी आँखोंमें ज्ञानाञ्जनका याग होगा त्यों-त्यों वे मणि-माणिक्य स्रज पहेंगे। ऐसी स्थितिमें, तुलसी जैसे महाकविकी सभी विशेषताएँ मैंने हँद निकाली हैं—ऐसा कहना साहसमात्र है। अस्तु, अपने कई वर्षोंके अनवरत परिश्रम और अध्ययनके आधारपर गोस्वामीजीके जिस स्वरूपको समझकर किञ्चित् विशेषताओंका प्रस्तुत प्रबन्धमें उद्घाटन कर रहा हूँ उसका सारासार पण्डितजन ही निश्चित करेंगे।

इस प्रबन्धका लक्ष्य अपने पूर्ववर्ती अथवा वर्तमान आलोचकोंकी समीक्षाओंका पिष्टपेषण या चर्चितचर्चण करना नहीं है। अभीतक गोस्वामीजीपर जितनी आलोचनाएँ हुई हैं, उन सबके अध्ययनसे पता चलता है कि कविके स्वरूपको समझनेमें लोगोंकी दृष्टि एकांगी रही है; अर्थात् कुछ आलोचनाओंमें यदि कविके जीवनवृत्तकी विशेष जानकारी है तो अन्य पक्षोंपर कोई महत्त्वपूर्ण विवेचना नहीं, इतर आलोचनाओंमें यदि कला-पक्षका प्रकाशन है तो अन्योन्य पक्ष अँधेरेमें रह गये हैं; इसी प्रकार किसीगं

कविकी भक्ति-पद्धतिका विशेष निरूपण है तो दूसरे पक्षोंके सटीकरणका अभाव। प्रायः सभी आलोचनार्थोंकी यही दशा है। ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं दिखाई पड़ता जिसमें कविके सभी पक्षों, उसके व्यापकमें व्यापक स्वरूपका प्रत्यक्षीकरण हुआ हो। इस न्यूनताको यथासम्भव दूर करते हुए कविके व्यापक क्षेत्रका प्रतिभास कराना ही हमारे प्रयासकी नवीनता है। इस नवीनताकी अभिव्यक्तिकी शैली और कसौटी भी अनेक अंशोंमें अनुच्छिष्ट है। गोस्वामीजीके सभी ग्रन्थोंमें निरन्तर अवगाहनके अतिरिक्त भारतीय प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंका अध्ययन भी अनिवार्य है—उनका स्वरूप यथार्थमें समझनेके लिए। मैं यह कहनेका साहस तो नहीं करता कि मैंने कविके आधार-भूत प्राचीन समस्त संस्कृत ग्रन्थोंका आमूलचूल परिशीलन कर लिया है, पर इतनी अनुभूति अवश्य होती है कि तुलसीदासको समझनेमें हमारे प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ यथेष्ट सहायक हुए हैं। नूतन प्रणालीके आलोचनात्मक दृष्टिकोणसे भी मैंने कविके महत्त्वको यत्र-तत्र देखनेका प्रयास किया है।

वर्तमान प्रयासकी नवीनता और मौलिकता प्रतिभासित करनेके लिए अद्यावधि तुलसीपर जितनी आलोचनाएँ हुई हैं उन सबका संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है और इसके लिए अधिक वैज्ञानिक ढंग यह होगा कि पूर्व आलोचनाओंके प्रतिपाद्योंका वर्गीकरण कर लिया जाय और तदनन्तर उनके योगायोग तथा परिणामपर विचार हो।

जीवन-चरित-विचार—इस वर्गकी आलोचनाएँ जितने प्रचुर परिमाणमें प्रस्तुत हुई हैं उतनेमें अन्य किसी प्रकारकी नहीं। आधुनिक कालके जिन विद्वानोंने इस क्षेत्रमें किसी प्रकारका प्रयास किया है, उनमें एच० एच० विल्सन, गासी द तासी, एफ० एम० ग्राउस, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, ई० ग्रील, इण्डियन प्रेससे प्रकाशित 'मानस'की भूमिकाके लेखकगण, लाला सीताराम, इन्द्रदेवनारायण, शिवनन्दन सहाय, 'तुलसीग्रन्थावली' तृतीय भागके सम्पादकगण, रामकिशोर शुक्ल, रामदास गौड़, इयाममुन्दर दास और पीताम्बरदत्त बड़वाल, सोरो जिला एटाके गोविन्दवल्लभ भट्ट शास्त्री, गौरीशंकर द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी, रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा, दीनदयाल गुप्त तथा माताप्रसाद गुप्त प्रभृति सज्जनोंके नाम उल्लेखनीय हैं।

इन महानुभावोंमेंसे अधिकांश ऐसे ही हैं जिन्होंने केवल जीवनवृत्तपर ही प्रकाश डाला है, पर कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने अन्य पक्षोंपर भी विचार किया है। अतः उनके नाम अन्य वर्गमें भी गुराये गये हैं। समालोचकोंकी उक्त नामावली उनके कार्य-काल-क्रमके अनुसार है। प्रथम महोदय अर्थात् एच० एम० विल्सनका तुलसी-विषयक अनुसन्धान सन् १८३१ ई० में 'एशियाटिक रिसर्चेंज'में प्रकाशित हुआ और अन्तिम महाशय माताप्रसाद गुप्तका उनके ग्रन्थ 'तुलसीदास'में सन् १९४२ ई० में हिन्दी-संसारके सारा आया। अन्यान्य सज्जनोंके कार्य इन्हीं दोनोंके बीच विभिन्न कालोंमें हुए।

विल्सनने अपने 'ए स्केच आव् दी रेलिजस सेक्टर्स् आव हिन्दूज' नामक निबन्धमें तुलसीका जीवन-चरित दिया है। गासी द तासीने सन् १८३६ ई० में प्रथम बार प्रकाशित अपने महत्त्वपूर्ण इतिहास 'इस्त्वार दला लितरे त्योर इन्दुई ए इन्दुस्तानी'में गोस्वामीजीकी जीवनी-विषयक कुछ बातें लिखी हैं और ग्राउस साहबने इस विषयमें जो संकेत किया है वह उनके रामायणके अंग्रेजी अनुवाद 'रामायन आन् तुलसीदास' नामक ग्रन्थकी भूमिकामें है। इन तीनोंके द्वारा गोस्वामीजीका जो जीवन-वृत्त अंकित किया गया है उसमें परस्पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। कोरी जनश्रुतिके आधारपर विल्सनने यावाजीकी जाति, जन्मभूमि, काशीमें कार्य-क्षेत्र, गुरु-परम्परा, देहावसान आदिका जो कुछ उल्लेख किया था उसीको तासी और ग्राउसने किञ्चित् फेर-फारके साथ ग्रहण किया है। हाँ, ग्राउसने 'भक्तमाल'के प्रसिद्ध छाप्य 'कलिकुटिल जीव निस्तार हित' 'तुलसी भयो।' को विशेष महत्त्व दिया है।

अब शिवसिंह सेंगरको लीजिये। उन्होंने सन् १८७७ ई० में अपने ग्रन्थ 'सरोज' में तुलसीकी एक संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत की, उसीमें किन्हीं पसकानिवासी बेनीमाधवदास-रचित एक बृहत् 'गोसाई-चरित' की सूचना दी, साथ ही यह भी लिखा कि उक्त ग्रन्थ आपकी चक्षुरिन्द्रियका विषय भी हो चुका था। परन्तु उससे इसका कोई आभास नहीं मिलता कि इन्होंने उक्त ग्रन्थके आधारपर अथवा स्वतन्त्र रीतिसे गोस्वामीजीकी जीवनी लिखी और न यही पता है कि सेंगरजीने उक्त ग्रन्थ कहाँ देखा था। उनके इस अधूरे संकेतसे कविके प्रेमियोंका कुतूहल शान्त न हुआ और कालान्तरमें उस ग्रन्थको लेकर भी तुलसीके जीवन-चरित-लेखकोंमें बहुत क्षोद-क्षेम रहा; पर उससे कोई प्रयोजन-सिद्धि न हुई।

ग्रियर्सन साहबने जो कुछ लिखा है वह सन् १८८६ ई० में प्रकाशित उनके 'माडर्न बार्नाकुलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान' में है। इसके अनन्तर उन्होंने सन् १८९३ ई० की 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' में अपने 'नोट्स आन् तुलसीदास' के तीसरे खण्डमें जीवन-वृत्तसे सम्बद्ध कथानकों और जनश्रुतियोंका संग्रह उपस्थित किया। सन् १८६८ ई० में 'डेट आव् कम्पोजीशन आव् तुलसीदासस् कवित्त रामायन' के दूसरे नोटमें तुलसीकी मृत्यु प्लेगसे हुई, यह निर्णय किया। ग्रियर्सनने जो विचार किया है वह अवश्य ही बहुत-कुछ युक्त एवं गम्भीर है। इन्होंने जन-श्रुतियों को छान-बीनकर ग्रहण किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि इनके परवर्ती आलोचकोंमेंसे अधिकांशने इन्हींकी खोजोंसे लाभ उठाया है।

सन् १८९९ ई० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित ग्रीष्मका एक छोटा लेख 'गोसाई तुलसीदासका जीवन चरित' यद्यपि जीवनीविषयक कोई नवीन बात नहीं बताता, पर अपनी सुन्दर शैलीके कारण मोहक है। ग्रीष्मने अंग्रेजीमें हिन्दी-साहित्यका जो इतिहास लिखा है उसमें भी अत्यन्त संक्षेप, किन्तु बड़े ही आकर्षक ढंगसे तुलसीके जीवन-वृत्तकी चर्चा की है।

ग्रीष्मके पश्चात् सन् १९०२ ई० में 'इण्डियन प्रेस' से प्रकाशित 'मानस' की भूमिकामें वर्णित जीवन-चरित विशेषतः ग्रियर्सनके अनुसन्धानोंपर अवलम्बित है।

लाला सीतारामन यद्यपि तुलसीके जीवन-चरितपर विशेष अध्ययनकी कोई सामग्री नहीं प्रस्तुत की है, फिर भी इस वर्गमें उनका नामोल्लेख सामिप्राय है। इन्होंने सन् १९०८ ई० में राजापुरके अयोध्याकाण्डकी प्रतिलिपि कराकर प्रकाशित की और इसीकी छोटी-सी भूमिकामें गोस्वामीजीकी जीवनीपर किञ्चित् प्रकाश डालते हुए—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' के आधारपर सोरोंकी ओर इशारा किया। लालाजीके इसी इशारेपर बहुत दिन पीछे जीवन-वृत्तके लेखकोंका एक विशेष दल ही बन गया जो एटा जिलेके सोरोंको ही तुलसीकी जन्मभूमि सिद्ध करनेका असफल प्रयास बहुत दिनोंतक करता रहा।

बाबू इन्द्रदेवनाशयणने तुलसीदासके जीवन-चरितके उद्घाटनमें जो योग दिया वह सन् १९१२ ई० की 'मर्वादा' में उनके एक नोट किसी रघुवरदास-प्रणीत 'तुलसी-चरित' के सम्बन्धमें प्रकाशित हुआ। उसमें इस चरितकी छन्द-संख्या एक लाख, चौतीस हजार, नौ सौ, बत्तीस बतायी गयी और कुछ अंश उद्धृत किये गये। इस अंशमें कविका जितना जीवन-वृत्त आता है उसमें अन्य बातोंके साथ यह भी अंकित है कि उसके पूर्वज वनाढ्य मारवाड़ियोंमें गुरु थे और उनसे पुष्कल धन पाते थे; उसकी तीन शादियाँ हुई थीं और अन्तिम विवाहमें उसके पिताको छः हजार रुपये दहेजमें मिले थे। पर, जब हम कविकी रचनाओंमें उसके स्वकथित बाल्यकालके जीवनकी ओर ध्यान देते हैं तो इन्द्रदेवनाशयण द्वारा उपस्थित की गयी

१. 'प्रशियाट्रिक सोसाइटी आव् बंगाल' १८६८, पृ० १४७-४८।

वातोंपर हमारा विश्वास नहीं टिकता। दूसरे, अत्यन्त प्रकाशमें आ नहीं आया तो हमने बात तो गप्पों में नहीं—इसकी चर्चा ही व्यर्थ है।

शिवनन्दन महायने सन् १९१६ ई० में 'गोस्वामीजीके जीवनवृत्त विषयक अन्वयान्तर' नामके ग्रन्थ 'श्री गोस्वामी तुलसीदास' में प्रस्तुत किया है। उक्त ग्रन्थके दो खण्ड हैं। प्रथम खण्डमें लेखकने अपने समयतक प्राप्त समस्त सामग्रीपर परिश्रम और विस्तारपूर्वक विचार किया है। एक बात अवश्य तो कि ग्रन्थमें जन-श्रुतियोंको उनकी योग्यतासे अधिक महत्त्व दिया गया है। निस्सन्देह उस समयतक जन-श्रुतियोंके अतिरिक्त अन्य वृत्त न्यून मात्रामें उपलब्ध था। पर यह अनिवार्य नहीं था कि लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकोंकी भाँति जन-श्रुतियोंको ही प्रश्रय देता।

'नागरी प्रचारिणी सभा'ने सन् १९२३ ई० में 'तुलसी-ग्रन्थावली'के तृतीय खण्डमें जो जीवन-वृत्त प्रकाशित किया है, उसके विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सामान्य हेर-पेरके साथ सन् १९०२ ई० में प्रकाशित 'मानस'की भूमिकामें दिये हुए जीवन-वृत्तका रूपान्तरमात्र है।

अब रामकिशोर शुक्लने 'मूल गोसाई-चरित'के आधारपर लखनऊमें सन् १९२५ ई० में प्रकाशित 'मानस'के स्वसम्पादित संस्करणकी भूमिकामें तुलसीका जो जीवन वृत्त दिया है उसे लीजिये। इसमें उल्लिखित बातोंने कुछ समयतक हलचल-सी मचा दी थी। प्रारम्भमें ही यह निर्दिष्ट किया गया है कि प्रस्तुत जीवनी उस बृहत् जीवनीका अन्तिम अध्याय है जिसका उल्लेख संग्रहीने अपने 'संग्रह'में किया था। पर यह सब कहते हुए भी लेखकने इस बातकी सूचना नहीं दी है कि वह बृहत् जीवनी उसमें कहा मिली और उसका आकार-प्रकार कैसा है।

रामदाम गौड़ने तुलसीके जीवनवृत्त सम्बन्धी अपने विचारोंको सन् १९२५ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ "रामचरित मानसकी भूमिका"के पाँचवें खण्डमें व्यक्त किया है। उनके ये विचार प्रमाणोंपर ही होकर अनुमानाश्रित हैं। उनमें जनश्रुतियोंके चमत्कारका अभाव नहीं।

यद्यपि रामकिशोर शुक्ल 'मूल गोसाई-चरित'को प्रमाणित नहीं कर सके थे, फिर भी यह शेष दास श्यामसुन्दर दासके कर-कमलोंका स्पर्श प्राप्त कर कुछ समयतक काफी मान्य बना रहा है। सन् १९२७ ई० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'में बाबू साहूने 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित किया, जिसमें 'मानस'के उक्त संस्करणमें सन्निविष्ट 'मूल गोसाई-चरित' ज्योंका त्यों रखा और उसकी तिथियाँ और घटनाओंके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये। इसके अतिरिक्त उसकी प्रामाणिकताके विषयमें कतिपय विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत कर आपने उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की और उन्हींके आधारपर सन् १९३१ ई० में डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थवालका सहयोग लेकर अपना ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास' प्रकाशित किया। इस पुस्तकमें लेखकके शब्दोंमें—“अद्यतककी उपलब्ध सामग्रीको उपयोगमें लाने तथा गोस्वामीजीका एक सुश्रुत जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत करनेका उपयोग किया गया है, साथ ही उनके जीवनपर एक व्यापक दृष्टि डालनेका प्रयास किया गया है।” यह उद्योग इस विश्वासके साथ किया गया है कि “जिस व्यक्ति बेनीमाधवका अपने चरित-नायकसे चौसठ या सत्तर वर्षका दीर्घकालीन सम्पर्क रहा हो उसके लिए जीवन-चरितकी प्रामाणिकताके विषयमें सन्देहके लिए अवकाश बहुत कम हो सकता है, यदि 'मूल चरित' प्रामाणिक न हो तो आश्चर्यकी बात होगी।” फलतः कविके जीवन-वृत्त संग्रहके इस उद्योगमें 'मूल गोसाई-चरित'को प्राधान्य मिलना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि जयतक 'चरित'की किसी बातके

विरोधमें, चाहे वह कितना साधारण क्यों न हो, कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसका इस जीवन-वृत्तमें सम्मिलित करना न्याय समझा गया। 'मूल गोसाई-चरित'के आधारपर लिखे गये अन्धविश्वासों और जनश्रुतियोंका इस पुस्तकमें प्रचुर प्रचार है।

सोरो, जिला एटाके निवासी गोविन्दवल्लभ भट्ट तथा गौरीशंकर द्विवेदी पं० रामनरेश त्रिपाठी, रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा, दीनदयाल गुप्त आदि सबके सब लाला सीतारामके इंगित मार्गपर चलने-वाले हैं। इन्होंने सोरोको गोस्वामीजीकी जन्मभूमि सिद्ध करनेका प्रयास किया है। इनमेंसे प्रत्येकके कार्यका पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराना अवाञ्छनीय न होगा।

जिन दिनों 'मूल गोसाई-चरित'की महिमाका गान हो रहा था उन्ही दिनों सन् १९२९ ई० में गोविन्दवल्लभ भट्टने अपना एक लेख 'गोस्वामीजीका जन्म स्थान—राजापुर या सोरो' 'माधुरी'में प्रकाशित कराया और प्रतिपादित किया कि गोस्वामीजीका जन्म सोरो, जिला एटामें हुआ था; सोरोके योगमार्ग मनाक मुहल्लेमें अब भी उनका मकान है; वे जातिके सनाढ्य शुक्ल थे; उनके गुरु नरहरि चौधरी भी वहीँके निवासी सनाढ्य थे, उनका स्थान भी सोरोमें सुरक्षित है। तुलसीदास और नन्ददास भाई-भाई थे; तुलसीदासका विवाह सोरोके पड़ोसमें बँदरिया ग्राममें हुआ था, जहाँ उनकी ससुरालका खँडहर अब भी बताया जाता है। नन्ददासके पुत्रका नाम कृष्णदास था। तुलसीदासके राजापुर चले जानेपर वही कृष्णदास उनको मानकर घर वापस लानेके लिए उनके पास गये थे, पर वे लौटे नहीं। इन सभी बातोंकी प्रामाणिकताके लिए लेखकने विशेषतया स्थानीय मौखिक जन-श्रुतियोंका आधार लिया, साथ ही कुछ अन्य युक्तियोंसे भी काम चलाया है। भट्टजीके इन विचारोंसे हिन्दी संसार चौंक उठा और खण्डन-मण्डनकी बातें उठने लगीं। फिर कुछ समय बाद सन् १९३३ ई० में पंडित गौरीशंकर द्विवेदी नामक एक सज्जनने 'बुन्देल-वैभव' तथा 'सुकवि सरोज' दो ग्रन्थ प्रकाशित किये जिनमें बुन्देलखण्डके कवियोंका परिचय देते हुए तुलसीदासको सोरोका निवासी बताया। द्विवेदीजीने भट्टजीकी सभी बातोंका समर्थन और उनके विरोधमें लिखी बातोंके खण्डनका प्रयास भी किया।

पुनः पं० रामनरेश त्रिपाठीने सन् १९३६ ई० में 'मानस'का एक संस्करण निकाला और उसके साथ एक ऐसी विस्तृत भूमिका दी जिसमें उस समयतक प्राप्त तुलसीदासके जीवन-वृत्त तथा रचनाओंके सम्बन्धकी लगभग सभी प्रमुख सामग्रीका आधार ग्रहण कर कविका पूर्ण परिचय उपस्थित किया गया। फिर उन्होंने इसी सामग्रीको कुछ फेर-फारके साथ सन् १९३७ ई० में 'तुलसीदास और उनकी कविता'के रूपमें निकाला। इस ग्रन्थके दो भाग निकल चुके हैं और तीसरा अभी भविष्यके गर्भमें है। प्रथम खण्डमें जो जीवन-वृत्त उन्होंने दिया है, उसके विषयमें इतना सहर्ष कहना पड़ेगा कि सन् १९३७ ई० तक प्रकाशित कविके जीवन-वृत्त-विषयक सभी उल्लेखनीय सामग्री एकत्र संग्रहीत हैं। अन्तःसाध्योंके आधारपर लेखकने कविकी जीवनी देनेका जो प्रयास किया है वह स्तुत्य है। पर, तुलसीदासको सोरोका निवासी सिद्ध करनेके लिए जो अनावश्यक खींच-तान की गयी है वह ग्रन्थका महत्त्व कम करती है।

त्रिपाठीके पश्चात्, सन् १९३९ म अकस्मात् प्रस्फुटित होनेवाले उस नवीन प्रकाशकी ओर हमारा ध्यान जाता है जिसमें गोस्वामीजीके जीवन-चरितको व्यक्त करनेवाली अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ एक साथ सोरोमें चमक उठती हैं। इन प्रतियोंको प्रकाशमें लानेवाले हैं कासगंज-निवासी रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा और लखनऊ विश्वविद्यालयके दीनदयालजी गुप्त। जिन हस्तलिखित पुस्तकोंके सहारे इन सज्जनोंने प्रकाश फैलाया वे ये हैं—'मानस'की दो प्रतियोंकी पुष्पिकाएँ, 'सूकर-क्षेत्र-महात्म्य-भाषा', रत्नावली-रचित

दोहोंका संग्रह तथा मुरलीधर चतुर्वेदीद्वारा 'रत्नावलीकी जीवनी'। भारद्वाजजीने अपने दो लेख 'गोस्वामी तुलसीदासकी धर्म-पत्नी रत्नावली' (जीवनी और रचना) और 'महाकवि नन्ददास' फरवरी और जूनके 'विशाल भारत'में क्रमशः छपवाये। भद्रवत्त शर्मा और दीनदयालजीके लेख हैं—'श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी' तथा 'महात्मा तुलसीदास और कविवर नन्ददासजी'। ये लेख 'सनाढ्य-जीवन' नामक जातीय पत्रके तुलसी-स्मृति-अंकमें निकले हैं। इन सज्जनोंका कर्तृत्व उनके लेखोंके शीर्षकसे ही स्पष्ट है। जिस जीवन-चरितको गोविन्दवल्लभ भट्ट, गौरीशंकर द्विवेदी आदिने केवल जन-श्रुतियोंके आधारपर लिखा था उसको इन सज्जनों ने लिखित प्रमाणोंसे पुष्ट किया। जो भी हो, इन महानुभावोंका ध्यान इस ओर नहीं गया कि आखिर जिन प्रमाणोंका ये आधार ले रहे हैं वे मान्य हैं या नहीं। इसके लिए कुछ विद्वानोंको इनकी परीक्षाके लिए सारांश दौड़ना पड़ा और अन्तमें इनका भण्डापोड़ हुआ।

जीवन-चरित लेखकोंमें जिन विद्वानोंकी नामावली दी गयी थी उनमेंसे प्रायः सभीके कार्यका संकेत हो चुका और अब रही माताप्रसाद गुप्तकी बात। गुप्तजीने अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास'के प्रकाशनकालतक जितना जीवन-वृत्त-विषयक कार्य हुआ था उसका बड़े ही परिश्रम और विवेकसे उक्त ग्रन्थमें सन्निवेश किया है, अपनी शुद्ध तार्किक शैलीमें उन्होंने चरित-लेखकोंकी खामी बताते हुए सच्चाईको हूँदनेका प्रयास किया है। स्रोतोंमें प्राप्त तथाकथित प्रमाणोंकी जाँचके लिए पर्याप्त अन्वेषण करके उन सभी प्रमाणोंको सन्दिग्ध सिद्ध किया है। निस्सन्देह इस विद्वानने जीवन-चरितका जो स्वरूप ग्रहण किया है वह यथेष्ट रूपमें प्रामाणिक है।

कृतियोंकी प्रामाणिकता और काल-क्रम-विचार—इस क्षेत्रके प्रमुख कार्यकर्ता ग्रियर्सन, इण्डियन प्रेससे मुद्रित 'मानस'की भूमिकाके लेखक मिश्र-बन्धु, शिवनन्दन सहाय, 'तुलसी-ग्रन्थावली'के सम्पादक, श्यामसुन्दर दास और बड़थवाल, रामनरेश त्रिपाठी, रामकुमार वर्मा तथा माताप्रसाद गुप्त हैं।

ग्रियर्सन साहबके 'ऐण्टीकैरी'में प्रकाशित 'नोट्स आन् तुलसीदास'की चर्चा पहले हो चुकी है। इनके पहले और दूसरे अंशमें तुलसीकी कुछ रचनाओंमें उल्लिखित तिथियोंकी गणना और द्वादश कृतियोंकी प्रामाणिकतापर विचार किया गया है। इण्डियन प्रेसके 'मानस'की भूमिकामें सम्पादकोंने ग्रियर्सनके विचारोंको ही अपना आधार माना है। गोस्वामीजीकी रचनाओंके विषयमें मिश्र-बन्धुओंके विचार उनके 'हिन्दी-नवरत्न'में सन्निहित हैं। इस ग्रन्थका प्रकाशन प्रथम बार सन् १९१० ई० में हुआ था। शिवनन्दन सहायने चलते दंगसे गोस्वामीजीकी कृतियोंके विषयमें जो विचार किया है वह उनके 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी'में है। 'तुलसी-ग्रन्थावली'के सम्पादकोंने कृतियोंकी प्रामाणिकता और उनके पाठ्य-पक्षका सामान्य-विवेचन अवश्य किया है, पर रचनाओंके काल-क्रमकी ओर इनका ध्यान नहीं गया है। श्याम-सुन्दर दास और बड़थवालके 'गोस्वामी तुलसीदास'में यद्यपि एक अध्याय रचनाओंपर विशेष रूपसे प्रकाश डालता है, किन्तु उसमें 'मूल गोसाई-चरित'में दिये हुए कालक्रमसे मिलानेका हठात् प्रयास है। रामनरेश त्रिपाठीने तुलसीकी रचनाओंकी प्रामाणिकता और कालक्रम-विषय जो कार्य किया वह उनके 'तुलसीदास और उनकी कविता'के प्रथम भागमें है। अपने इस कार्यके विषयमें लेखकका कहना है—“तुलसीकी रचनाओंके कालक्रमपर मेरी यह स्वतन्त्र सम्मति है। काल-क्रम निश्चित करते समय मैं इस विषयके किसी लेख या तुलसीदासके किसी चरित-लेखककी कल्पनाके प्रभावमें नहीं हूँ।” रामकुमार वर्माने अपने 'हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास'में तुलसीके बारहों ग्रन्थोंके रचना-कालकी प्रामाणिकताकी परीक्षा

की है। माताप्रसाद गुप्तने अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास'में रचनाओंकी प्रामाणिकता और कालक्रम-विषयक विचारोंकी आलोचना करते हुए अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं। ये अधिकतर तार्किक प्रणालीपर अवलम्बित हैं।

कला-सौष्ठव-विचार—इस श्रेणीमें मिश्र-बन्धु-गण, शिवनन्दन सहाय, रामचन्द्र द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, स्वामिसुन्दर दास और वड्डवाल, सद्गुरुशरण अवस्थी, रामनरेश त्रिपाठी एवं माताप्रसाद गुप्तकी आलोचनाएँ आती हैं। मिश्र-बन्धुओंका नाम सर्वप्रथम सामिप्राय रखा गया है। सन् १९१० ई० अर्थात् 'हिन्दी-नवरत्न'के प्रकाशन-कालके पूर्व तुलसीकी साहित्यिक विशेषताओंके मर्मोद्घाटनकी ओर लोगोंका ध्यान नहीं गया था, सभी जीवनी और रचनाओंकी प्रामाणिकताके विचारमें पड़े थे। मिश्र-बन्धुओंने एक प्रकारसे तुलसीकी साहित्यिक समालोचनाकी नींव डाली। 'हिन्दी-नवरत्न'में गोस्वामीजीकी कुछ विशेषताएँ संक्षेप क्रमसे बतायी गयी हैं और कुछ नाममात्रकी त्रुटियोंका भी संकेत है। ग्रन्थके 'गोस्वामीजीके मत' शीर्षकमें उनके पन्द्रह मतोंका निर्देश है। तदनन्तर 'मानस'के कुछ विशिष्ट स्थलोंकी वारीकियाँ 'स्फुट गुण'के रूपमें दिखायी गयी हैं। अन्तमें, गुण-दोषोंकी सामूहिक तुलना करके गुणोंका आधिक्य दिखाकर कविको हिन्दी-साहित्यके सर्वोच्च शिखरपर अधिष्ठित किया गया है।

श्री शिवनन्दन सहायने कला-सौष्ठव-विषयक जो कार्य किया है वह उनके 'श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी' द्वितीय खण्डमें है। सर्वप्रथम, लेखकने 'मानस'के कुछ चुने हुए स्थलोंमें अन्य विद्वानों द्वारा दिखायी गयी त्रुटियोंके निराकरणका प्रयत्न किया है। तदुपरान्त 'रामायणमें नव रस', 'रामायणमें रूपक', 'रामायणमें राजनीति', 'रामायणके पात्रवर्ग', 'चरित्रोंसे क्या शिक्षा मिलती है' आदि शीर्षकोंमें अपने विचारोंका प्रतिपादन किया है। फिर, कुछ अध्यायोंमें अन्य कृतियोंकी चर्चा की है। अन्तमें, कविकी संस्कृतज्ञता, उसके दार्शनिक विचारोंका परिचय तथा वात्मीकीय एवं अध्यात्मरामायणसे 'मानस'की कथावस्तुकी तुलना करके ग्रन्थकी इति की गयी है। ग्रन्थके प्रतिपाद्योंकी बहिरंग परीक्षा विशेष रूपसे हुई है। भूतपूर्व आलोचनाओंपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है और तुलसीके 'मानस' तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में संस्कृत ग्रन्थोंकी जो प्रतिच्छाया मिलती है उसकी ओर स्पष्ट रूपसे पहले-पहल अध्येताओंका ध्यान इसीमें आकृष्ट किया गया है।

श्री रामचन्द्र द्विवेदी द्वारा की गयी तुलसी-सम्बन्धी समीक्षा "तुलसी-साहित्य रत्नाकर" नामक कृति-के रूपमें सन् १९२९ ई०में 'सत्साहित्य प्रकाशन मण्डल' नया टोला, पटनासे प्रकाशित हुई। इस पुस्तकमें तुलसीदास के पद्यांशोंके अवतरण आवश्यकतासे कहीं अधिक दिये गये हैं। फलतः पुस्तक भारी भरकम, छः सौ तेईस पृष्ठोंकी हो गयी है। यह आदि मध्य तथा अवसान तीन खण्डोंमें विभाजित है। आदि खण्डमें तुलसीका जीवनवृत्त, मध्यखण्डमें उनकी कृतियोंका विवेचन तथा अवसान खण्डमें विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करनेका सामान्य प्रयास है। पुस्तकका अन्तिम खण्ड विशेष उपादेय है। इसमें पचीस शीर्षक रखे गये हैं, जिनमेंसे 'मौलिकता और तुलसीदास', 'राजनीति और तुलसीदास' तथा 'लोकादर्श और तुलसीदास' शीर्षक विशेष महत्वपूर्ण हैं। पुस्तकमें रस, अलंकार और छन्दोंकी विवेचनाके साथ उदाहरणोंकी भरमार है जो माध्यमिक कक्षाके छात्रोंके लिए विशेष उपयोगी हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने गोस्वामीजीकी कलाका महत्त्व अपने 'गोस्वामी तुलसीदास'में उद्घाटित किया है। पहले उनकी यही आलोचना 'तुलसी-ग्रन्थावली'के तृतीय खण्डमें संग्रहीत थी, किन्तु सन् १९३५ ई०में जो संशोधित और परिवर्धित संस्करण निकला है उससे जीवन खण्ड निकाल दिया गया है और

पुस्तक लेखकके शब्दोंमें—‘अपने विशुद्ध आलोचनात्मक रूपमें पाठकोंके सामने रखी जाती है।’ ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयोंसे अवगत होता है कि इसमें काव्य-सौष्टवके उद्घाटनका ही अत्यधिक प्रयास है। तुलसी की काव्य-पद्धति’से लेकर अन्तिम शीर्षक—‘हिन्दी-साहित्यमें गोस्वामीजीका स्थान’-पर्यन्त प्रायः सर्वत्र काव्य-सौष्टवकी ही चर्चा है। पुस्तकके पृष्ठ ७५ से पृष्ठ १६० तक जिन काव्यात्मक विशेषताओंका वर्णन मिलता है, उन्हें अत्यन्त संक्षेपमें यों कह सकते हैं—गोस्वामीजीकी रचि काव्यके अतिरिक्त अथवा प्रगीत स्वरूपकी ओर नहीं थी और न कुतूहलोत्पादन और मनोव्यञ्जन ही उनका उद्देश्य था। उनकी रचि भी यथार्थ चित्रणकी ओर। वे हमारे सामने कविके अतिरिक्त उपदेशके रूपमें भी आते हैं। उन्होंने वीरगाथा-काल और प्रेमगाथाकालके वैभवसे भी अपनी काव्य-पद्धतिको विशेष उन्नत किया है। रागकथाके मार्मिक स्थलोंको पहचानने और उनकी विशद् व्यञ्जना करनेमें उनका कवि-हृदय सदैव सजग रहा है। कथाके विभिन्न पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें भी उनकी प्रतिभा अप्रतिम है। बाल-हृदय-चित्रणमें उन्होंने प्राचीन संक्षिप्त चित्रण-पद्धतिका आश्रय यद्यपि कम लिया है, पर उनके चित्रोंमें असंगति सुरुचिका अभाव, चमत्कार-प्रियता, अस्वाभाविकता आदि वे अवगुण नहीं मिलते जो हिन्दी-साहित्यके अन्य छोटे-बड़े कवियोंमें पाये जाते हैं। उन्होंने अलंकारोंको भावोंका उत्कर्ष दिखाने और रूप, क्रिया तथा गुणोंका अनुभव तीव्र करनेमें सहायक माना है। उनकी रचनाओंमें उक्ति-वैचित्र्यकी भी न्यूनता नहीं। वे भाषापर पूर्ण अधिकार रखने-वाले हैं। उनकी कृतियोंमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं। यह सब होते हुए भी वे हिन्दी-साहित्यके सर्वोत्कृष्ट कवि हैं, इत्यादि। इसके अतिरिक्त पुस्तकमें कुछ अन्य ऐसी आलोचना भी है जिसका कल्याण सम्बन्ध नहीं। उसकी चर्चा अन्य उपयुक्त भर्गमें होगी।

शुक्लजीने गोस्वामीजीकी काव्य-कलाका जो मर्म अभिव्यक्त किया है उनके सामने अन्य समीक्षकोंको कलापरक आलोचनाएँ हलकी प्रतीत होती हैं, तथापि अन्य आलोचकोंका प्रयास व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मणसुन्दर दास और पीताम्बरदत्त बृहत्वालके ‘गोस्वामी तुलसीदास’में कलाका मर्म विशेष रूपसे उद्घाटित नहीं किया गया है। फिर भी, ग्रन्थके एकादश अध्यायके ‘गोस्वामीजीकी कला’ शीर्षकमें सामान्यतया प्रतिपादित है कि तल्लीनता, प्रबन्धपटुता, रचनाचातुर्य, भाषासौष्टव, रमपरिपाक, अलंकार-योजना आदि सभी दृष्टियोंसे गोस्वामीजीकी रचना पूर्ण है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थीने गोस्वामीजीकी कलाका जो सौष्टव व्यक्त किया है वह उनकी सन् १९३५ ई०में प्रकाशित ‘तुलसीके चार दल’ पहली पुस्तकमें है। इसमें कविके सामान्य जीवन-वृत्त देनेके पश्चात् उसकी काव्य-कलापर विचार किया गया है। फिर उसके चार छोटे ग्रन्थ ‘रामलला नहलू’, ‘पार्वतीमंगल’, ‘जानकीमंगल’ तथा ‘बचै रामायण’की समीक्षा की गयी है और दूसरे खण्डमें इन्हींका टीकासहित मूल पाठ दिया गया है। ‘काव्य-कला और गोस्वामीजीकी निजी प्रेरणा’ शीर्षकके अधिकांश पृष्ठोंमें साहित्यिक सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है और उसके कुछ पृष्ठोंमें तुलसीपर उन सिद्धान्तोंके प्रयोगकी संक्षिप्त चर्चा है। अवश्य ही, इस संक्षिप्त चर्चामें समालोचनाका दृष्टिकोण नवीन है। इसमें शुक्लजीके ‘लोकधर्म’वाले सिद्धान्तपर आक्षेप है। लेखकका दृष्टिकोण गम्भीर है।

पं० रामनरेश त्रिपाठीने गोस्वामीजीकी जिन कलात्मक विशेषताओंको अनावृत किया है वे भी प्रशंसनीय हैं। त्रिपाठीजीके ग्रन्थ ‘तुलसीदास और उनकी कविता’ के प्रथम दो भागोंमें ही लगभग एक हजार पृष्ठ हो गये हैं। तीसरा भाग भी पाँच सौ पृष्ठों से क्या कम होगा। पृष्ठ-संख्याकी दृष्टिसे त्रिपाठीजीने

जितना आर्थिक कार्य किया है उतना तुलसीके किसी अन्य आलोचकों ने नहीं। हजार पत्रोंके विस्तृत क्षेत्रमें एक ही बातको कई ढंगोंसे अदा करने और किसी उदाहरणके लिए अवतरणपर अवतरण उद्धृत करनेके अतिरिक्त दूसरे प्रसंगोंका अभाव तो रहता ही है। कदाचित् यही त्रुटि त्रिपाठीजीमें विशेष रूपसे खटकती है। गोस्वामीजीकी कविता और कलाका जो सौष्ठव लेखकने दिखाना चाहा है वह उसकी व्यास-पद्धतिमें पढ़कर रोचक अवश्य हो गया है, पर सारहीनताकी मात्रा उसी अनुपातमें बढ़ गयी है। जो कुछ भी हो, त्रिपाठीजीने तुलसीकी भाषा, उनकी महाकवित्व-शक्ति एवं उनकी काव्य-सम्पदापर काफी प्रकाश डाला है।

डा० माताप्रसाद गुप्तने अपना कलाविषयक नाममात्रका सर्वकप्रगवेण अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास' में दिखाया है। गोस्वामीजीके चरित्र-चित्रण, भाव-चित्रण, वस्तु-विन्यास, नख-शिख आदि शीर्षकोंमें उनकी परखकी बानगी मिलती है।

गोस्वामीजीके कलापारखियोंमें राजबहादुर लमगोड़ा भी प्रशंसनीय हैं। लमगोड़ाजीने 'मानस' के आधारपर गोस्वामीजीका महत्त्व दिखानेके लिए अपनी वाह-वाहवाली अतिरञ्जन-प्रणालीका आश्रय अधिक लिया है। 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय खण्डसे संग्रहीत अपने निबन्ध 'हिन्दी भाषा और तुलसीकृत रामायण' के अतिरिक्त लेखकने स्वतन्त्र रूपसे 'विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस' ग्रन्थ दो भागोंमें लिखा है। प्रथम भाग, प्रथम संस्करण सन् १९३७ ई० में 'रामनारायणलाल' इलाहाबादसे प्रकाशित हुआ। आगे चलकर सन् १९४३ ई० में 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने इसका प्रकाशन श्रीरामविलास पोदार-स्मारक ग्रन्थमाला-५ के रूपमें किया। पुस्तक अपने ढंगकी निराली है। लेखकने विश्वसाहित्यमें श्रेष्ठतम् समझे जानेवाले शेक्सपियरके कुछ नाटकोंसे तुलसीके 'मानस' की विशद् रूपमें तुलना करके उसकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। पहले भागमें 'हैमलेट', 'ऑथेलो' तथा 'मैकबेथ' से 'मानस' की तुलना की गयी है और दूसरे भागमें शेक्सपियरकृत अन्य विशिष्ट रचनाओंसे तुलना करनेका वादा किया गया है। लेखककी ऐसी तुलनात्मक समीक्षा कहाँतक सफल या विफल है, इसपर सम्मति देना हमें अभीष्ट नहीं।

भक्ति एवं उपासना-विचार—इस दिशामें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० बलदेवप्रसाद मिश्रने कार्य किया है। शुक्लजीने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' के पहले ही प्रकरणमें 'तुलसीकी भक्ति-पद्धति' शीर्षकके अन्तर्गत संकेत किया है कि गोस्वामीजी विशुद्ध भारतीय पद्धतिके अनुयायी हैं। पर, भारतीय भक्ति-पद्धति क्या है, इसकी विवेचना नहीं की है।

बलदेवप्रसाद मिश्रने सन् १९३८ ई० में अपना 'तुलसी-दर्शन' प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय भक्ति-पद्धतिका इतिहास देते हुए भक्तिका स्वरूप निर्दिष्ट किया और उसकी कसौटीपर तुलसीका कसकर उन्हें प्राचीन भारतीय भक्तिका अनुयायी ठहराया, साथ ही उनकी उपासनाकी कुछ विशेषताएँ भी लक्षित कीं। 'मानस' को भक्ति-शास्त्रकी दृष्टिसे देखते हुए उनका आलोचनात्मक अध्ययन करनेका श्रेय मिश्रजीको विशेष रूपसे मिलना चाहिये। 'तुलसी-दर्शन' अपने ढंगकी अनोखी पुस्तक है। उसकी उपयोगिता और उपादेयता दोनों ही असन्दिग्ध हैं। तुलसीकी भक्ति और उपासनापर इसमें सुन्दर विवेचना है। यद्यपि ग्रन्थका नाम 'तुलसी-दर्शन' रखा गया है, पर 'मानस' को छोड़कर अन्य कृतियोंकी उपेक्षा की गयी है, यह बात अवश्य खटकती है।

सामाजिक मत-विचार—इस वर्गमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० रामचन्द्र दुबेके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शुक्लजीने गोस्वामीजीके सामाजिक मतपर अधिक प्रकाश डाला है। यह विषय

‘लोकनीति और मर्यादावाद’ प्रकरणमें सन्निहित तो है ही, पर उनकी सम्पूर्ण स्थापना इसीपर केन्द्रित है। इसमें दिखाया गया है कि गोस्वामीजी वर्णाश्रम व्यवस्थाके विघातक नहीं, किन्तु उसके व्यवस्थापक थे।

रामचन्द्र दुबेने समाजके कुछ ही अंगोंपर विचार किया है। आपने ‘तुलसी-ग्रन्थावली’ तृतीय भागमें संग्रहीत ‘गोस्वामी तुलसीदास और राजनीति’ तथा ‘गोस्वामी तुलसीदास और नारीजाति’ लेखोंमें गोस्वामी जीके राजनीति और नारीविषयक मतोंकी ‘मानस’ के आधारपर अच्छी गवेषणा की है। दूसरे लेखमें तुलसी पर लगाये हुए नारी-निन्दाके अपराधका कुछ मार्जन किया है।

धार्मिक मत-विचार—डा० ग्रियर्सन, पादरी जे० एन० कारपेण्टर, डा० जे० एम० मैक्फी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी समीक्षाएँ, गोस्वामीजीके धार्मिक मतपर प्रकाश डालती हैं। ग्रियर्सनका महत्त्वपूर्ण लेख ‘तुलसीदास कवि और धर्मसुधारक’ सन् १९०३ ई० के ‘रायल एशियाटिक सोसाइटी’ के जर्नलमें प्रकाशित हुआ। उसमें लेखकने तुलसीके अभिमत धर्मकी महत्ता तथा उनका प्रभाव दिखाया है। इस निबन्धको तुलसीके धार्मिक मतकी व्यापकताका संकेतमात्र समझना चाहिये।

कारपेण्टर साहबने गोस्वामीजीके धार्मिक मत ‘दी थियोलॉजी ऑफ़ तुलसीदास’ में विचार किया है। इस ग्रन्थका प्रकाशन सन् १९१८ ई० में हुआ। इसमें लेखकने ‘मानस’ के आध्यात्मिक स्थलों को छोटकर कविके सिद्धांतोंका निष्कर्ष निकालना चाहा है। पुस्तकमें सबसे अधिक खटकनेवाली बात यह है कि लेखकके दृष्टिकोणपर ईसाई ‘मिशनरी’का चक्षुः चढ़ा है। दूसरे यदि तुलसीदासकी ‘थियोलॉजी’ लिखनी थी तो उनके सभी ग्रन्थोंका आधार लेना चाहिये था, न कि केवल ‘मानस’के कुछ स्थलोंका। आलोचकके तटस्थ दृष्टिकोणका अभाव भी खटकता है। फिर भी एक विदेशीका प्रयास होनेके नाते ग्रन्थ स्तुत्य ही है।

जे० एम० मैक्फीने तुलसीदासके धार्मिक मतका जो विश्लेषण किया है वह उनके ‘दि रामायन ऑफ़ तुलसीदास’ में है। यह ग्रन्थ सन् १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें भी कारपेण्टरके ग्रन्थकी भाँति कविके धार्मिक सिद्धान्तोंका विवेचन है, किन्तु इसमें उन त्रुटियोंमेंसे एक भी नहीं है जो कारपेण्टर साहबकी पुस्तकमें पायी जाती हैं। प्रारम्भमें कविकी एक छोटी-सी जीवनी भूमिकाके रूपमें दी गयी है। तदुपरान्त संक्षेपमें रामकथा है। देवताओं तथा त्रिदेवोंके विषयमें कविके विचारोंका स्पष्टीकरण है। ‘मानस’ के अनुसार ब्रह्मका स्वरूप क्या है, सदाचारका क्या स्वरूप है—इसकी भी गम्भीर विवेचना है। लेखक इस बातसे तनिक भी प्रभावित नहीं है कि भारतीय भक्ति मार्गके विकासपर ईसाई धर्मका कोई प्रभाव पड़ा है। पुस्तक ‘मानस’ के आधारपर तुलसीके आध्यात्मिक विचारोंके अध्ययनमें सहायक है।

शुक्लजीने तुलसीके धार्मिक मतके विषयमें जो संकेत किया है वह उनके ‘लोक धर्म’ शीर्षकमें है। इस प्रकरणमें यही दिखाया गया है कि धर्म-व्यवस्थापक तुलसीने लोक-संग्रहकी भावनासे प्रेरित होकर धर्मके जिस स्वरूपका प्रचार किया वह पूर्ण है।

दार्शनिक मत-विचार—इस क्षेत्रमें महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदीका कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने लेख ‘गोस्वामीजीके दार्शनिक विचार’ में तुलसीका मत दर्शाया है। यह लेख ‘तुलसीग्रन्थावली’ के तीसरे भागमें संग्रहीत है। इस निबन्धमें गोस्वामीजीको शांकर-अद्वैतका पक्का अनुगामी सिद्ध किया गया है। लेखकके शब्दोंमें ही उसका दावा सुनिये—“दावेके साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैतके विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायणमें हैं ही नहीं।” इसमें सन्देह नहीं कि चतुर्वेदीजी का निबन्ध विचारपूर्ण है, पर सत्यको वह अंशतः ही उपस्थित करता है।

प्रसिद्ध रामायणी पं० विजयानन्द तिवारीका 'गोस्वामी तुलसीदासके-दार्शनिक विचार' शीर्षक जो लेख जुलाई सन् १९३७ ई० के 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ उसमें भी अंतरंग और बहिरंग-परीक्षाके आधारपर गोस्वामीजीका अद्वैत सिद्धान्त ही स्थिर किया गया है। यह लेख भी विचारपूर्ण होते हुए आंशिक सत्यका ही समर्थक है।

21,487

उपर्युक्त महानुभावोंके अतिरिक्त अन्य कई विशिष्टाद्वैत या द्वैतसमर्थक महाशयोंने भी गोस्वामीजी के दार्शनिक दृष्टिकोणका निदेश करना चाहा है, परन्तु खेद है कि सभी लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किसी एक पक्षमें ही उलझ गये हैं। आलोचककी व्यापक दृष्टिसे हटकर एक प्रकारके पक्षपातमें पड़ गये हैं। दूसरी क्षोभजनक बात यह है कि ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जिसने गोस्वामीजीका दार्शनिक दृष्टिकोण निश्चित करनेके लिए उनके सभी ग्रन्थोंपर विचार किया हो।

आर्ष ग्रन्थ-प्रभाव-विचार—इस वर्गकी आलोचनाओंमें प्रतिष्ठित किया गया है कि गोस्वामीजीपर अनुक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थका प्रभाव पड़ा है। इटालियन विद्वान् एल० पी० टेसीटोरीका 'इल रामचरित मानस ए इल रामायन' शीर्षक लेख जो अनुदित होकर सन् १९१२ ई० तथा १९१३ ई० की 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी'में निकला, उसमें विश लेखकके द्वारा 'रामचरितमानस'की कथावस्तुकी तुलना विस्तारपूर्वक 'वाल्मीकीय रामायण'की कथावस्तुसे की गयी है। यह भी संकेत किया गया है कि 'मानस'पर कुछ अन्य ग्रन्थोंके साथ 'अध्यात्मरामायण'का भी प्रभाव पड़ा है। टेसीटोरीके अतिरिक्त शिवनन्दन सहायने भी अपने ग्रन्थ 'श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी'के कई शीर्षकोंमें गोस्वामीजीपर वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटकदिका प्रभाव दिखाया है। पं० बलदेव उपाध्यायने अपने एक लेख 'तुलसीदास और जयदेव' में 'मानस'के कई स्थलोंपर जयदेवके 'प्रसन्नराघव'का प्रभाव बताया है। महाराष्ट्रके लेखक यादवशंकर जामदारने भी अपनी सन् १९२६ ई० में प्रकाशित 'मानस-हंस' पुस्तिकामें 'मानस'के कुछ स्थलोंपर पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रन्थोंका प्रभाव दिखाते हुए भी तुलसीकी मौलिकता दिखानेका सुन्दर प्रयास किया है।

गोस्वामीजीपर की गयी आलोचनाओंके मर्मोद्घाटक इन विविध विचारोंकी इतनी चर्चा कर चुकनेपर इनके विषयमें मैं इतना और इंगित कर देना चाहता हूँ कि इन विचारोंकी संख्या इतनी ही रहेगी और नये दृष्टिकोण न होंगे, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः ज्यों-ज्यों हम कविकी रचनाओंके अन्तस्तलमें प्रवेश करते जायेंगे त्यों-ज्यों उसके अधिकाधिक मर्म समझते, अन्यायकी सृष्टि और पिछलेका परिष्कार करते जायेंगे। अस्तु।

अद्यावधि हमारे कविपर जितनी आलोचनाएँ प्राप्त हैं, उन सबके परिशीलनसे प्रकट होता है कि प्रायः सभी बहिरंग परीक्षाकी ओर आवृत्त हैं, इतना ही नहीं, बहिरंग परीक्षाकी दृष्टिसे भी मेरे विचारसे अपूर्ण हैं। यथा, कृतिकार अपनी समकालीन-समाज-स्थितिको अपनी कृतिमें कहाँतक चित्रित कर सका है, यह प्रश्न बहिरंग परीक्षाके अन्तर्गत आता है, पर इस ओर अभीतक किसीने ध्यान नहीं दिया। प्रस्तुत प्रबन्धमें इस विषयपर विशेष विचार है। युगके चित्रोद्घाटनके साथ ही युगके परिष्कारार्थ कैसे नेतृत्वकी अपेक्षा थी और तुलसीने किस प्रकार अपने युगके सामाजिक नेताका काम किया, यह बात भी अनुसन्धान-गम्य है। हनुमत्पूजाके प्रचारके पीछे तुलसीदासजीकी दूरदर्शनी दृष्टिका आलोक है; इसने अन्धकारमें पड़े शिथिल होते हुए भारतीय बल-वीर्यको किस प्रकार प्रकाशित होनेका सुयोग दिया, वह अभी इतिहासके पृष्ठोंसे ओझल है। उसपर और विस्तृत कार्य करनेकी आवश्यकता है।

१, यह लेख 'तुलसी-ग्रन्थावली' तृतीय खण्डमें संग्रहीत है।

बाहिरंग परीक्षा-सम्बन्धी एक अभावकी पूर्ति का संकेत कर चुकने के उपरान्त यह कह देना भी आवश्यक है कि इस अनुसन्धानमें अन्तरंग परीक्षाको विशेष प्रश्रय दिया गया है। अन्तरंग परीक्षाके पथपर दृढ़ रहकर जो मौलिक कार्य किया गया है उसका आभासमात्र आगेके दो-चार अनुच्छेदोंमें दिया जा रहा है।

धर्म-क्षेत्रमें महात्मा तुलसीदासका महात्म्य दिखानेके लिए उन्हें अपने युगका अग्रगण्य धर्म-सुधारक कहा गया है, पर इस सुधारकके द्वारा प्रचारित धर्मका सांगोपांग स्वरूप कैसा है, इसके विविध अंगोंमें किस अंगकी प्रधानता अथवा अप्रधानता है, साधारण जनताके आचरणमें इसकी मान्यता कहां तक और कैसी है, इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरका प्रयास अभी नहीं हुआ। प्रस्तुत प्रबन्धमें इनपर विचार-विमर्श करते हुए कविकी कृतियोंके आधारपर उसकी धर्म भावनाका सर्वांगीण विश्लेषण तो किया ही गया है, साथ ही उसकी ऐतिह्यानुकूलताका निर्देश भी नहीं भुलाया गया है।

गोस्वामीजीकी धर्म-भावनाके ही समान उनकी साम्प्रदायिकताकी भावनाका भी परम्परागत वास्तविक स्वरूप इस अनुसन्धानमें सन्निविष्ट है। इससे जो विविध सम्प्रदाय-विपरीत नूतन ज्ञानोपलब्धि होगी, वह तो होगी ही, पर लोगोंकी यह धारणा भी दूर हो जायगी कि तुलसीने ही वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंमें समन्वयका प्रयास किया, क्योंकि ऐसा प्रयास तो बहुत पहलेसे ही चला आ रहा था। तुलसीने अपने ग्रन्थोंमें केवल उसका समर्थन किया, इतना ही तथ्य है।

गोस्वामीजीकी भक्ति-भावनासे सम्बद्ध आलोचनाओंमें यही घोषणा की गयी है कि वे भारतीय भक्ति-पद्धतिके अनुयायी हैं। पर, भारतीय भक्ति-पद्धति है क्या, इसका यथार्थ विवेचन उनमें नहीं है। इस प्रबन्धमें भक्ति-शास्त्रोंके अनुसार भक्तिके अंग-प्रत्यंगका सांगोपांग निरूपण करते हुए दिखाया गया है कि वे तुलसीकी रचनाओंमें किस प्रकार ओत-प्रोत हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन परम्परागत भक्ति और तुलसीकी अनर्थ भक्ति विवेककी तुलापर सूक्ष्मतासे तौली गयी हैं। भक्तिके विकासमें काल-क्रमों हेतु ठहरानेवालोंके विचारोंकी निस्सारताका संकेत भी किया गया है।

तुलसीदासजी रामोपासक थे, यह तो प्रायः सभी कहते हैं, पर अपनी जो अनन्यासक्ति उन्होंने अपने उपास्यके प्रति दिखायी और अपने उपास्यके विविध स्वरूपोंके जो हृदयस्पर्शी जगमगाते चित्र उन्होंने उपस्थित किये, उनका निर्देश किसीने नहीं किया है। प्रस्तुत प्रयास यह अभाव पूरा करता है और तुलसीकी आचार-समन्वित उपासनाकी यथार्थ महत्ता भी अनावृत्त करता है। परम्परासे यही प्रसिद्ध है कि तुलसीदास रामानन्दजीकी शिष्य-परम्परामें थे, परन्तु अनुसन्धानने यह प्रमाणित किया है कि यह बात केवल प्रवाद है। रामानन्द वस्तुतः निर्गुनिया सम्प्रदायके व्यक्ति थे, जिनके द्वादश शिष्योंमें कबीर, रैदास, धाना, पीपा, सेना आदि हो गये हैं, इन्हींके सम्प्रदायमें तुलसीदासजी एक निर्गुणोपासक सन्त हो गये हैं। जिनके कारण यह जनश्रुति पैली कि प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदासजी उनकी शिष्य-परम्परामें थे। इस प्रबन्धमें सप्रमाण सिद्ध कर दिया गया है कि 'मानस'के प्रणेता तुलसीदासका रामानन्दसे कोई सम्बन्ध नहीं था।

गोस्वामीजीके दार्शनिक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें प्रायः जितनी आलोचनाएँ हुई हैं, उनमें उन्हें किसी विशेष दार्शनिक सम्प्रदायका अनुयायी ठहरानेका प्रबल आग्रह है। इस अनुसन्धानमें किसी प्रकारका आग्रह नहीं है। कविकी विविध रचनाओंमें उपलब्ध सभी दार्शनिक उक्तियोंके प्रकाशमें उसकी जो स्वतन्त्र दार्शनिकता होती है। उसीका विश्लेषण किया गया है।

गुलामीदासजीकी साहित्यिकताका विचार भी अभीतक विस्तृत अनुसन्धानात्मक दृष्टिसे नहीं हुआ है। इस प्रबन्धमें उसके लिए भी प्रयास किया गया है। ऐतिह्य और पुराणका कितना प्राचीन अंश उन्होंने ग्रहण किया और कितनेकी अपनी बुद्धिसे नवीन व्यवस्था की, इसका भी विवेचन इसमें है। भक्ति-भावनाके साथ साहित्यिक समृद्धिका कैसा योग है, इसका सोपपत्ति और सोदाहरण विवेचन भी इस प्रबन्धकी नूतनता है। इसके लिए प्रभूत, प्रचुर और परिमाणाधिक ग्रन्थराशिका किस प्रकार अध्ययन, मनन, आलोड़न और सञ्चय-संग्रह किया गया है और यथोपलब्ध सामग्रीको किस प्रकार राशीभूत कर देनेकी चेष्टा की गयी है, यह द्रष्टव्य है। इसे कविके राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकारके विचारोंका नूतन दृष्टिसे अवलोकन करनेका अवसर प्राप्त होगा—ऐसा विद्वास करके यह प्रबन्ध लिखा गया है।

चैत्र पूर्णिमा }
संवत् २००९ }

राजपति दीक्षित

तृतीय संस्करणकी भूमिका

“तुलसीदास और उनका युग” के द्वितीय संस्करणकी प्रकाशित प्रतियोंको समान हुए कई महीने क्या लगभग दो वर्ष बीत गये, किन्तु नेरी विवशता और अतिव्यस्तता तथा प्रकाशक महोदयके समग्र कागज-के अभावकी समस्याके कारण यह तीसरा संस्करण आपके सामने शीघ्र नहीं उपस्थित किया जा सका। इसका मुझे खेद है। तुलसीदासके प्रेमी अध्येताओंको जो अनुविधा हुई उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। मनुष्य प्रकृतिः मूलमें सूक्ष्मी वृद्धि पाकर विशेष संतुष्ट हो जाता है। यही सन्तोषका विषय है कि आपके मूलधनमें काफी व्याज जोड़ दिया गया है। फलतः तुलसीदासको समझने-समझानेमें अब “तुलसीदास और उनका युग” और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। ‘तुलसीदास और उनका युग’ के प्रथम संस्करणके प्रकाशनकालसे लेकर अबतक जो नयी-नयी समीक्षाएँ या शोधप्रबन्ध प्रकाशित हुए प्रायः उन सभीका परिचय इस भूमिका-के आगे जोड़ दिया गया है, साथ ही तुलसीदासपर प्रस्तुत किये गये कुछ अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध भी इंगित हैं।

ग्रन्थके परिच्छेदोंमें भी वृद्धि हुई है। चार नूतन परिच्छेद जोड़े गये हैं, जिनके शीर्षक ये हैं—“तुलसीकी जीवनवृत्त-शिखा”; “तुलसीकी कृतियाँ”; “तुलसीकी संत भावना” तथा “तुलसीकी प्रभाव रश्मियाँ”। इतना ही नहीं, ग्रन्थके द्वादश परिच्छेद “तुलसीकी सन्दर्भ कला और रामचरित मानस” के अन्तर्गत दो विशेष महत्त्वपूर्ण उपशीर्षक—‘संवाद-योजना कौशल’ तथा ‘सन्देश स्पन्दन’ बढ़ाये गये हैं। ग्रन्थके शेष परिच्छेद सामान्यतः अपने मूल रूपमें हैं, कहीं-कहीं कुछ परिवर्धन अवश्य हुए हैं। तुलसी-साहित्य-सागरके आलोड़नसे हमें जो रत्न प्राप्त हुए, उन्हें ही चौदह परिच्छेदोंमें सुसज्जितकर ग्रन्थ रूपमें तुलसीदासके अधिकारी विद्वानों और अध्येताओंको सादर भेंटकर रहा हूँ। आधुनिकताके हिमायती छिद्रान्वेषकोंमें परित्याप्त भ्रमको दूर करनेके लिए, “आधुनिक युगमें रामचरित मानसकी प्रासंगिकता” की किञ्चित् विवेचनाको आवश्यक समझकर ‘परिशिष्ट’में स्थान दिया गया है। निश्चय है सभी श्रेणीके पाठकगण इस नवीन संस्करणसे विशेष लाभान्वित एवं परितुष्ट होंगे।

श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा लिखित ‘मानसकी रामकथा’ एक आलोचनात्मक कृति है। इसका प्रकाशन ‘किताब महल’ इलाहाबादसे सन् १९५३ ई०में हुआ। पुस्तक दो खण्डोंमें विभाजित है, जिसके प्रथम खण्डमें आलोचना तथा द्वितीय खण्डमें मानसके सभी काण्डोंसे गृहीत संक्षिप्त रामकथा वर्णित है। ग्रन्थका पहला खण्ड (आलोचना भाग) विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसमें लेखकने गोस्वामीजीके जीवनवृत्त, अन्य भाषाओंमें वर्णित रामकथा एवं रामचरितपर प्रकाश डालनेके उपरान्त उपसंहार दिया है। दूसरे खण्डमें संक्षिप्त रामकथा देनेके पश्चात् अन्तमें मानसके कथा-प्रसंगोंपर टिप्पणियाँ लिखी गयी हैं, इनसे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गयी है।

डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा लिखित ‘तुलसी रसायन’ तुलसीके जीवनवृत्त एवं उनकी कृतियोंपर प्रकाश डालनेवाली लघुकाय १९८ पृष्ठोंकी एक अच्छी पुस्तक है। इसका प्रकाशन सन् १९५४ ई०में ‘साहित्य-भवन’ इलाहाबादसे हुआ। पुस्तक चार खण्डोंमें विभाजित है—जीवनी-खण्ड, रचना-खण्ड, आलोचना-खण्ड तथा संग्रह-खण्ड। जीवनी-खण्डके अन्तर्गत तुलसीदासके युगका संक्षिप्त परिचय देते हुए अन्तःसाक्ष्य तथा बाह्य-साक्ष्योंके आधारपर उनके जीवनवृत्त सम्बन्धी चर्चा की गयी है। इसी प्रकार रचना-

खण्डमें तुलसीकी प्रागाणिक कृतियोंपर विवेचना हुई है। आलोचना-खण्डमें रामकाव्यका विकास, आदर्श रामराज्य लोक-जीवन तथा तुलसीके दार्शनिक विचारोंकी विवेचनाके साथ ही उनकी काव्यकलाका चरमोत्कर्ष दिखानेका प्रयास भी है। संग्रह खण्डमें तुलसीकी कृतियोंसे तुललित पद्यांशोंका चयन किया गया है। पुस्तक छात्रोपयोगी है। तुलसीका विशेष अध्ययन करनेवाले छात्रोंके पाठ्यक्रमानुरूप दिखाई पड़ती है।

श्री सत्यदेव चतुर्वेदीकी आलोचनात्मक कृति “गोस्वामी तुलसीदास और रामकथा”का प्रकाशन ‘हिन्दी-साहित्य-सृजन परिषद्’ जौनपुरसे सन् १९५२ ई०में हुआ। इस पुस्तकमें कुल २२४ पृष्ठ हैं। सारी पुस्तक तीन खण्डोंमें विभाजित है। प्रथम खण्डमें राम-कथाका उद्गम, द्वितीय खण्डमें राम-कथाका पल्लवन तथा तृतीय खण्डमें तुलसी द्वारा गृहीत राम-कथाकी विवेचना है। अगाध राम-कथाके इस आंशिक अन्वेषणमें लेखककी सुरुचि और श्रम दोनों सराहनीय हैं।

श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित द्वारा लिखित “तुलसीदास और उनके ग्रन्थ” एक छोटी-सी लगभग दो सौ पृष्ठोंकी आलोचनात्मक कृति है, जिसका प्रकाशन ‘अशोक प्रकाशन’ लखनऊसे सन् १९५५ ई०में हुआ। इस पुस्तकमें गोस्वामीजीकी सामयिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियोंकी सामान्य चर्चा करते हुए उनके जीवनवृत्तपर कुछ प्रकाश डाला गया है। साथ ही, उनके प्रसिद्ध द्वादश ग्रन्थोंके अतिरिक्त ‘तुलसी सतसई’ तथा ‘कुण्डलिया रामायण’का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। तुलसीको शूद्र और नारी-निन्दकके रूपमें सिद्ध करनेका पांडित्य पुस्तकमें खटकता है। इसी प्रकार ‘कवितावली’के प्रसिद्ध कवित्त “जायो कुल मंगल” “तुन तैं तनक को” के आधारपर तुलसीको जारज सन्तान बताना भी ठीक नहीं है।

स्व० पं० चन्द्रबली पाण्डेयकी आलोचनात्मक कृति ‘तुलसीदास’का प्रकाशन सन् १९४८ ई० में ‘शक्ति कार्यालय, दारागंज, इलाहाबादसे हुआ। इस पुस्तकमें गोस्वामीजीके जीवनवृत्त और उनके काव्यपर प्रकाश डालनेका स्तुत्य प्रयास किया गया है। पुस्तकमें समाविष्ट विवेच्य शीर्षक ‘जीवनवृत्त’ काव्यगत संवाद, चरित्र-चित्रण, भक्ति निरूपण, मंगल विधान, काव्यदृष्टि, भाव-व्यंजना, काव्य-कौशल तथा वर्ण्यविचार सम्बन्धी विवेचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। कृति तुलसी और उनके साहित्यको समझनेमें सहायक है। इसकी उपयोगिता और उपादेयता असंदिग्ध है। इस पुस्तकका द्वितीय संस्करण अनेकानेक नयी उपलब्धियों और संशोधनोंके साथ ‘नागरी प्रचारिणी सभा’ काशीसे सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ है।

डॉ० विमलकुमार जैन द्वारा लिखित “तुलसीदास और उनका साहित्य” तुलसीके जीवनवृत्त एवं उनकी कृतियोंपर प्रकाश डालनेवाली समीक्षात्मक कृति है। इसका प्रकाशन ‘साहित्य सदन’ देहरादूनसे सन् १९५७ ई०में हुआ। पुस्तकमें लेखकने तुलसीकी सामयिक परिस्थितियोंका आभास देते हुए अन्तः और बाह्य साक्ष्योंके आधारपर गोस्वामीजीकी संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत करनेके उपरान्त उनकी द्वादश प्रागाणिक कृतियोंका सामान्य विवेचन किया है। इस विवेचनके लिए पृथक्-पृथक् अध्यायोंकी योजना की गयी है। अन्तमें, तुलसीके समन्वयवाद, उनके रामराज्यकी झोंकी तथा उनका माहात्म्य दर्शाया गया है। इस कृतिमें लेखककी दृष्टि अपने कविके प्रति उदार और आस्थावान् है।

डॉ० देवकीनन्दन 'विश्वनाथ' शर्मा-प्रबंध 'तुलसीदासकी भाषा' लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊसे सन् १९५७ ई०में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थमें कुल पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें लेखकने 'विषय-प्रवेश'के साथ तुलसीके भाषा-विषयक दृष्टिकोणको उन्हींके कथनोंके माध्यमसे भलीभाँति समझाने हुए वह भी दिखानेका प्रयास किया है कि तुलसीका शुकाव लोकभाषाकी ओर अधिक था। दूसरे और तीसरे अध्याय क्रमशः 'व्याकरणिक विवेचन' तथा 'भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण'से सम्बन्धित हैं। चौथे अध्याय 'कला-पक्ष'के अन्तर्गत तुलसीकी कला-सम्बन्धी धारणापर प्रकाश डालकर काव्यशास्त्रीय पञ्चोक्तों दृष्टिमें रखते हुए उनके अनुरूप प्रयुक्त विभिन्न प्रकारकी शब्दावलीका समोद्घाटन बड़ी सूक्ष्मताके साथ किया गया है। अन्तिम अर्थात् पाँचवें अध्यायमें स्पष्टतया प्रकट होता है कि तुलसीके द्वारा प्रयुक्त शब्दानालीमें सांस्कृतिक संकेतोंकी प्रचुरता है। लेखकने लोक-संस्कृतिके संकेतोंकी समस्त शब्दावलीका युक्ति-रुक्त वर्गीकरण भी किया है। अन्तिम अध्यायके बाद ग्रन्थके महत्त्वपूर्ण 'उपसंहार'में भाषा-सम्राट तुलसीकी भाषाके सम्बन्धमें लेखकके निष्कर्षोंका सारांश भी समाविष्ट है। 'उपसंहार'के अतिरिक्त ग्रन्थके अन्तमें तीन परिशेष भी दिये गये हैं। प्रथम परिशेषमें भाषाके आधारपर तुलसीकी रचनाओंका वर्गीकरण दिया गया है; द्वितीय परिशेषमें भाषाके आधारपर कविकी जीवनी और कृतियोंसे सम्बन्धित संकेतोंकी चर्चा है। तृतीय परिशेषमें सहायक ग्रन्थ सूची तथा नामानुक्रमिका दी गयी है। ग्रन्थकी उपयोगिता निर्विवाद है। तुलसीकी भाषाका यथासंभव एक सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न सराहनीय है। विषय, विश्लेषण, विवेचन और उपलब्धि सभी दृष्टिसे ग्रन्थ मौलिक है।

श्री गंगाधर मिश्र द्वारा लिखित 'साहित्य सम्राट तुलसीदास' पुस्तकका प्रकाशन सन् १९५९ ई०में 'सरस्वती मन्दिर' जतनवर, वाराणसीसे हुआ। इस पुस्तकमें तुलसीकी द्वादश कृतियोंके सामान्य परिचयके साथ उनके कलाविषयक चमत्कार एवं उनकी सर्जना-शक्तिपर सहृदयतापूर्वक संश्लेषण प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तकके 'रस-वक्रोक्ति-व्यंजना'के प्रकरणमें तुलसीके काव्य वैभवका लालित्य भलीभाँति प्रकट किया गया है।

श्री श्रीधर सिंह कुत 'रामचरित मानसका कथाशिल्प'का प्रकाशन 'आनन्द परमेश्वर भवन' पहाड़िया, वाराणसीसे सन् १९५९ ई०में हुआ। यह छोटी-सी पुस्तक कुल छः अध्यायोंमें विभक्त है। अपने ढंगकी अच्छी कृति है। इसमें लेखकने 'मानस'के क्रियाकल्प या शिल्पपर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला है, वह सर्व-ग्राह्य नहीं तो मंगत अवश्य है। राम-कथाके प्रकाशनार्थ लेखकने राम-कथाके जिन अपरिमित क्षेत्रका अपनी संयत, संग्राहिका बुद्धिके सहारे नपे-तुले शब्दोंमें परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है। आधार ग्रन्थों की कथासे 'मानस'की कथाकी तुलना परिश्रमपूर्वक सहृदयकी प्रकृत वृत्तिसे की गयी है और उभरते निकाले गये निष्कर्ष बहुत कुछ निरान्त और ग्राह्य हैं। इस पुस्तककी परकृत संक्षिप्त, तथ्यशून्य भूमिका निराधार और खटकनेवाली अवश्य कही जा सकती है, इससे पुस्तकका प्रकाश धूमिल हो गया है।

डॉ० उदयभातुसिंह का शोध-प्रबंध "तुलसी दर्शन-मीमांसा" सन् १९६१ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊसे प्रकाशित हुआ। इसमें तुलसीके दर्शन एवं भक्तिका विश्लेषण करनेका महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया है। ग्रंथमें कुल ९ अध्याय हैं, लेखकने सर्वप्रथम 'उपक्रम' प्रथम अध्यायमें दर्शन संबंधी सामान्य चर्चा की है। तदुपरांत तुलसीदासके दार्शनिक मतके स्पष्टीकरणके लिए 'ब्रह्म राम,' 'चेतन जीव' 'जड़ जगत', 'मोक्ष-माधन' विषयोंकी अलग-अलग-अध्यायोंमें पांडित्यपूर्ण विवेचना करके तुलसी-दासकी इन विषयोंसे संबद्ध उक्तियोंको भी वहीं पुंजीभूत किया है। इसके पश्चात् 'धर्म-बिधि' 'ज्ञान-पंथ'

‘भक्ति-निरूपण’ शीर्षक अध्याय आये हैं जिनमें तुलसीदासके एतद्विपर्यायोंका प्रशस्त विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम नवम अध्याय ग्रंथका ‘उपसंहार’ है। इस उपसंहारके अन्तर्गत निगम, आगम, उपनिषद्, पांचरात्र, वेदांत, सांख्य-योग, तथा भक्ति शास्त्रोंके विचारों और तुलसीदासके विचारोंका तारतम्य करनेके अनन्तर निष्कर्ष रूपमें तुलसी-दर्शनको समन्वयवादी दर्शनकी संज्ञा दी गयी है। लेखक का यह निष्कर्ष सर्वमान्य भले ही न हो, पर उसका पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन सराहनीय है।

श्री परम लाल गुप्तका आलोचनात्मक ग्रंथ ‘रामचरित मानस और साकेत’ (तुलनात्मक अध्ययन) सन् १९६१ ई०में ‘नेशनल पब्लिशिंग हाउस’ दिल्लीसे प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथमें लेखकने जीवन और कला, काव्य और जीवन, चरित्र-चित्रण, भावपक्ष तथा कलापक्ष विषयोंको कसौटीपर ‘रामचरित मानस’ एवं ‘साकेत’ उभय प्रबंध काव्योंको अपनी रुचिके अनुसार परखनेका प्रयास किया है। लेखककी इस धारणासे किसीकी विमति नहीं होगी कि दोनों ग्रंथोंका हिन्दी-साहित्यमें विशिष्ट स्थान है। ‘साकेत’को आधुनिक युगका ‘मानस’ कहा जा सकता है क्योंकि दोनों कवियोंकी दृष्टि प्रायः समान ही है। ‘साकेत’ पर गांधीवादी आधुनिकताकी छाप पड़ गयी है, फलतः उसमें काल-दोष आ गया है, इस त्रुटिको नजर अंदाज करते हुए लेखकने चरित्रांकनकी दृष्टिसे ‘साकेत’के सामने ‘मानस’की जो हत्या की है, वह क्षम्य नहीं। ऐसा लगता है कि समीक्षकने ‘साकेत’का तो गंभीर अध्ययन किया है, पर ‘मानस’में उसकी गहरी पैठ नहीं हुई। इसीलिए चरित्र-चित्रणके संबंधमें उसकी समीक्षा हल्की और त्रुटिपूर्ण है। ‘साकेत’ आदर्श-शान्मुख यथार्थवादको समेटे है, पर ‘मानस’ महान् आदर्श महाकाव्य है।

डॉ० भाग्यवती सिंह का शोध-प्रबंध “तुलसीकी काव्य कला” सन् १९६२ ई०में ‘सरस्वती पुस्तक सदन,’ आगरासे प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथमें कुल तेरह अध्यायोंमें तुलसीदासकी काव्यप्रतिभाको परखनेका अच्छा प्रयास है। इसमें गोस्वामीजीकी कलामें गद्यांश तथा औचित्य, शब्द-प्रयोग-संगीत तथा चित्रात्मकता, अलंकार, प्रबंध-सौष्टव तथा वर्णन-पद्धति, चरित्र-चित्रण, छंद-योजना तथा संवाद, भाव-वर्णन एवं रस निरूपणपर विचार किया गया है।

डॉ० राजाराम रस्तोगी द्वारा लिखित शोध प्रबंध ‘तुलसीदास जीवनी और विचारधारा’का प्रकाशन सन् १९६३ में अनुसंधान प्रकाशन’ आर्य नगर, कानपुरसे हुआ। यह ग्रंथ दो खंडोंमें विभाजित है। प्रथम खंडके अन्तर्गत गोस्वामीजीके जीवनवृत्त-विषयिनी विवेचना है। द्वितीय खंडमें तुलसीदासके सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारोंका सुविचारित विश्लेषण है। उपलब्ध सामग्रीका विश्लेषण और आभोग स्तुत्य है। प्रबंधमें मौलिक तथ्य निरूपण तथा नूतन व्याख्याओंकी कमी नहीं है। हाँ, लेखकका ध्यान उपसंहारकी दिशामें नहीं गया, यह बात अवश्य खटकती है।

श्री बैजनाथ सिंह द्वारा लिखित ‘मानसका सामाजिक दर्शन’ एक लघु आलोचनात्मक कृति है। इसका प्रकाशन सन् १९६३ ई०में ‘सस्ता साहित्य मण्डल’ नयी दिल्लीसे हुआ। इस पुस्तकके कुल १७० पृष्ठोंको छोटे-छोटे उन्नीस अध्यायोंमें विभाजित किया गया है। पुस्तकमें लेखकने मानसके पात्रोंकी व्यावहारिकतापर विशेष प्रकाश डालते हुए नीति-पक्षका सुन्दर दिग्दर्शन कगया है जिससे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गयी है।

डॉ० विद्या मिश्राके शोध प्रबंध “वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानसका तुलनात्मक अध्ययन” का प्रकाशन सन् १९६३ ई० विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊसे हुआ। इस भागी भरकम ग्रंथमें कुल सात परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें ‘रामभक्तिका भारतमें विकास’ दिखाकर अन्य

परिच्छेदोंमें दोनों प्रबंध काव्योंके आधार, उनमें रामका स्वरूप, कथाकी रूप रेखा, चरित्र चित्रण, विभिन्न परिस्थितियाँ तथा काव्य कलाका समीक्षात्मक किया गया है। प्रबंधके अंतमें उपसंहार देकर उसकी इति की गयी है। दोनों कविवरोंके प्रसिद्ध काव्यके तारतम्यकी दिशामें लेखिकाका प्रयास प्रशंसनीय है।

डॉ० राजकुमार पाण्डेय के बहुचर्चित शोध-प्रबंध “रामचरितमानसका काव्य शास्त्रीय अनुशीलन” का प्रकाशन सन् १९६२ ई० में ‘अनुसंधान प्रकाशन’ आर्य नगर, कानपुरसे हुआ। इस ग्रंथमें तुलसीदासके जीवन-दर्शन एवं साहित्यिक आदर्शोंकी सम्यक् विवेचना की गयी है। इसमें गोस्वामीजीकी साहित्यिक अवधारणा एवं रचना-प्रक्रियाकी व्याख्या करते समय ‘मानस’के काव्य शास्त्रीय स्थलोंपर विशेष दृष्टि रखी गयी है। तुलसीदासने ‘मानस’में किस प्रकार विभिन्न मनोवृत्ति और प्रकृतिके चरित्रोंकी सृष्टिकी है, तथा उनकी इस पात्र-परिकल्पनामें मनोविज्ञानकी गहराई कहाँ तक विद्यमान है, इसका परिचय भली-भाँति दिया गया है, साथ ही यह भी प्रमाणित किया गया है कि मानसकार अपने पूर्ववर्ती प्राचीन राम-साहित्यके अगाध स्रोतोंसे प्रेरणा प्राप्त करते हुए भी ‘मानस’की कथा वस्तु और कथानककी योजना, चरित्रांकन एवं आदर्श-निरूपणमें सर्वथा मौलिक है। इतिवृत्तात्मक शुष्कतासे बचनेके लिए तुलसीदासने जिन रसात्मक उपक्रमोंको ग्रहण किया है उन्हें भी लेखकने नजर अंदाज नहीं किया, फलतः कविके भावुक-तापूर्ण मार्मिक स्थलोंकी विशद व्याख्या करनेमें उसे पूर्ण सफलता मिली है। प्रबंधमें ‘मानस’की कलागत विशेषताओंका उद्घाटन भी उत्कृष्ट और मान्य है। प्रबंधके अंत्य भागमें महाकाव्योंकी विकास-परम्परामें ‘मानस’के अत्युच्च स्थानको सर्वभौम प्रतिमित महाकाव्यके निकटपर परखकर उसे विश्वके महाकाव्योंमें अद्वितीय प्रमाणित किया गया है। ‘मानस’के मूल्यांकनमें लेखककी समीक्षात्मक दृष्टि और ‘मानस’के प्रति उसकी दृढ़ आस्था दोनों ही प्रशंसनीय हैं। गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि और अनन्य भक्तके व्यक्तित्व और काव्यकी समीक्षा और व्याख्याके लिए अपेक्षित शालीनता, पाण्डित्य, औदार्य और औचित्यका ध्यान सर्वत्र रखा गया है। प्रबंधकी यह सबसे बड़ी विशेषता है।

डॉ० वचन देव कुमारका शोध-प्रबंध “तुलसीके भक्त्यात्मकगीत” सन् १९६४ ई० में ‘हिन्दी साहित्य संसार,’ पटना-४ से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथमें दो खंड हैं। प्रथम खंडमें दो अध्याय अर्थात् ‘भक्तकी परंपरा’ एवं ‘भक्त्यात्मक गीतोंका विकास’ समाविष्ट हैं। प्रथम खंडको लेखकने परम्परा और पृष्ठ भूमिकी संज्ञा दी है। इस खंडमें लेखककी भक्ति-विषयिनी चर्चा विस्तृत और पांडित्य पूर्ण है। प्रबंधका दूसरा खंड पूर्णतया तुलसीदासके भक्त्यात्मक गीतोंसे संबद्ध है। इसमें कुल छः अध्याय हैं; जिनमें सर्वप्रथम प्रामाणिक गीत कृतियोंका विवरण तथा उनपर उपलब्ध विभिन्न टीकाओंकी चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् गीत कृतियोंका भक्ति शास्त्रीय दृष्टि तथा साहित्य शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करके उनका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। अन्तमें, गोस्वामीजीके भक्त्यात्मक गीतोंकी लोकप्रियता और जन मानसपर उसका अक्षुण्ण प्रभाव सहृदयताके साथ दिखाया गया है। प्रबंधकारने तुलसी गीतकृतियोंके अन्तर्गत विनय-पत्रिका, गीतावली एवं श्रीकृष्ण गीतावली को ही अपने शोधका क्षेत्र बनाया है। प्रबंधमें गीत कृतियोंपर प्रस्तुत किये गये विचारोंमें गांभीर्यकी कमी अवश्य है, फिर भी वे मौलिक हैं। प्रबंध महत्वपूर्ण है।

डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा का “रामचरितमानसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन” शोधप्रबंध सन् १९६४ ई० में ‘किताब महल’ इलाहाबादसे प्रकाशित हुआ। इस प्रबंधकी परिधि विस्तृत न होनेपर भी नवीन और मौलिक है। इस ग्रंथमें ‘मानस’ की मनोवैज्ञानिक विवेचना करते समय लेखक मानस-कारकी दृष्टिको यथातथ्य रूपमें नहीं पहचान सका है। रामचरितमानसकी घटनाओंको मैकडूगलकी मूल-

प्रवृत्तियों के साथ जोड़ना हास्यास्पद है। भौतिकतापर आधारित आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर मानस के आध्यात्मिक विचारों को कसना असंगत है। अध्यात्म को भौतिकता के शिकंजे में देखना भारी भूल है। अध्यात्म पर व्यक्ति, देश और काल के नियम नहीं लागू किये जा सकते। ऐसी त्रुटि के होते हुए भी पुस्तक प्रशंसनीय भी है। लेखक ने 'मानस' में निहित भक्ति, ज्ञान एवं कलागत विशेषताओं की यथेष्ट और रुचिर चर्चा की है, साथ ही उदारवादी दृष्टि अपनाकर मानस का मनोवैज्ञानिक पक्ष हेतुवादी मनोवैज्ञानिकों से अलग रखकर महाकाव्य के प्राणतत्त्व की रक्षा कर ली है; अंत में, उसने तुलसीदास के नैतिक कथनों एवं मत्स्य के प्रति प्रबल आग्रह की ओर संकेत करते हुए अपनी दृष्टि भारतीयों के प्रखर अध्यात्मवाद से जोड़ दिया है, फलतः पाश्चात्य भौतिकवादी दृष्टिका चश्मा धुंधला पड़ गया है।

डॉ० श्रीशकुमार का "रामचरितमानस का तत्त्वदर्शन" शोध-प्रबंध सन् १९६६ ई० में 'लोकचेतना प्रकाशन' जवलपुर से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की मौलिकता के संबंध में कुछ मीन-मेप करना उचित नहीं। तुलसीदास के दार्शनिक विचार को लेकर विद्वानों ने बहुत माथा-पच्ची की है। यह ग्रंथ भी इसी प्रकार के एक पांडित्यपूर्ण प्रयास का द्योतक है। ग्रंथ में, सर्वप्रथम 'विषय प्रवेश' के अन्तर्गत भारतीय दर्शन के संबंध में नये और पुराने विचारकों के मंतव्य दिये गये हैं। तदुपरांत 'मानस' को दृष्टिपथ में रखकर उसका दार्शनिक पक्ष निर्णय करने के लिए ब्रह्म, माया, जीव, मोक्ष और मोक्ष-साधन विषयक उक्तियों को दे-देकर विचार किया गया है। आश्चर्य की बात है कि इस तत्त्व-दर्शन के बीच लेखक ने जगत् तत्त्व को नगण्य बना दिया, उसकी उपेक्षा कर दी है।

डॉ० स्वामीनाथ शर्मा का "मानस-मंथन" सन् १९६६ में 'आशुतोष प्रकाशन, चेतगंज, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। इस आलोचनात्मक ग्रंथ में 'मानस' की महत्वपूर्ण कुछ अर्द्धालियों के खंड को पृथक्-पृथक् शीर्षक बनाकर पांडित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। यथा, 'चली सुभग कविता सरिता सी' के प्रकरण में 'मानस' के प्रेरणा स्रोतों के संकेत के साथ 'स्वान्तः सुखाय' की परिणति जन-जन हिताय में दिखाई गयी है। 'मानस का रचना-क्रम' शीर्षक के अन्तर्गत सम्यक् विषय की गवेषणा अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत और मान्य है। 'घाट मनोहर चारि' विवेच्य में अन्य विद्वानों द्वारा निरूपित मतों की विवेचना करने के साथ ही लेखक की मौलिक सूझ भी विद्यमान है। 'कवित विवेक एक नहीं मोरे' के प्रकरण में 'मानस' में व्यक्त काव्य-धारणा पर प्रकाश डाला गया है और 'कथा-प्रबंध विचित्र बनाई' तथा 'कविहि अरथ आखर बलु सौंचा' के अन्तर्गत मानस की कथावस्तु की प्राचीन रामकाव्यों से तुलना एवं उसकी बहु-विध कलागत विशेषताओं का समीक्षात्मक मर्मोद्घाटन भली-भाँति हुआ है। 'जड़चेतन गुन दोपमय' के प्रकरण में 'मानस' में आगत दोषों पर विचार किया गया है। 'मानस' में सबके चरण-कमल बंदन की योजना, उसका लोक-वेद-समन्वित रचना-विधान, उसमें समाविष्ट आध्यात्मिक तत्त्वों की मीमांसा भी विभिन्न अर्द्धालियों के खंडों के प्रकरण में की गयी है। अंत में, 'रामराज नभगेस सुनु' के प्रकरण में दिखाया गया है कि तुलसीदास की दृष्टि रामराज्य के लोकोत्तर, लोकरक्षक, लोक-रंजक दिव्य-रूप की ओर रही है; यहीं उन्हें मानव और मानवता के पूर्ण विकसित रूप दिखाई पड़े; यहीं से उन्होंने उत्कृष्ट जीवनप्रणाली के आदर्श प्रस्तुत किये। 'मानस-मंथन' की उपयोगिता निर्विवाद है। इसमें प्रस्तुत की गयी मानस की तर्क-संगत समीक्षा सराहनीय है, पर कहीं-कहीं समीक्षा के बीच लेखक का भावावेश और व्यक्ति व्यंजकता का विशेष पुट खटकता है।

डॉ० उदयभानु सिंह का "तुलसी काव्य मीमांसा" ग्रंथ सन् १९६६ ई० में 'राधाकृष्ण प्रकाशन', दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ के विवेच्य विषय दस शीर्षकों (अध्यायों) में विभाजित हैं। प्रथम शीर्षक 'अध्ययन सामग्री' के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री के द्विधारा (बहिःसाक्ष्य और अंतःसाक्ष्य) पर

यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। दूसरे शीर्षक 'तुलसी-साहित्य' में तुलसी-रचित नारी जानेवाली द्वादश कृतियोंका विवरण, प्रामाणिकता, प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों और प्रकाशित संस्करणोंकी विवेचनाएं साथ दिया गया है। तीसरे शीर्षक 'जीवन-चरित' में तुलसीदासके जीवनवृत्त विषयक विवादास्पद प्रश्नोंका युक्तियुक्त निराकरण करके कविके जीवन-चरितको प्रामाणिक और स्थिर बनानेका अच्छा प्रयास है। चौथे शीर्षक 'तुलसीकी आत्म कहानी' में तुलसीकी स्वकथित जीवनीकी विशेष उपादेयता और उपयोगिता समझकर उसकी विशेष विवेचना की गयी है। पाँचवें शीर्षक 'युगका प्रभाव' के अन्तर्गत कविपर तत्कालीन परिस्थितियोंका प्रभाव और उसकी रचनाओंमें युगकी अभिव्यक्तिकी गंभीर चर्चा की गयी है। छठे अध्याय 'काव्य-सिद्धांत' में तुलसीदासकी काव्य-विषयिनी बहुविध मान्यताओंको अच्छी तरह पस्यकर, उनके काव्य-कंचनको कमनेके लिए, उपयुक्त कसौटी बतायी गयी है। इसके पश्चात् सातवें अध्याय या 'भावपक्ष' शीर्षकमें तुलसी-साहित्यकी रामकथाका यौद्ध और जैन साहित्यमें प्राप्त रामकथामें भेद बताकर उसमें कविकी गंभीर भाव प्रवणताका परिचय दिया गया है। इसी सिलसिलेमें विविध रंगोंकी योजना चरित्रांकन और वस्तुवर्णनकी सफलताके आधारपर भी तुलसीके काव्यमें भावोत्कर्षकी चरमावस्थाके दर्शन कराये गये हैं। आठवें अध्याय 'विचारधारा' में तुलसीदासके दार्शनिक विचार, उनकी समन्वय-साधना तथा उनकी नारी भावना इन तीनोंका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करके यथोचित निष्कर्ष निकाले गये हैं। ग्रन्थके नवम् अध्याय 'कला-पक्ष' में तुलसीदासके काव्य-कोशलको कलाकी अनेक दृष्टियोंसे देखनेका सफल प्रयास है। दशम् अध्याय या अन्तिम शीर्षक 'गौरव-ग्रन्थ' में लेखकने 'रामचरित मानस', 'गीता-वली', 'विनयपत्रिका' एवं 'कवितावली' की गरिमाको दर्शाते हुए, उनकी काव्यगत विशेषताओंपर पृथक् पृथक् प्रकाश डाला है। 'तुलसीकाव्य-मीमांसा' में तुलसीदासके सम्पूर्ण साहित्यकी विवेचनाका प्रयास अवश्य किया गया है, किन्तु प्रयासमें नूतनता और पूर्णताका अभाव स्पष्टकृत है। तथापि, यह उपयोक्ती और उपादेय है।

श्रीमती डॉ० ज्ञानवती त्रिवेदी का महत्वपूर्ण ग्रन्थ "गोस्वामी तुलसीदासकी दृष्टिमें नारी और मानव-जीवनमें उसका महत्त्व" छः अध्यायोंमें विभाजित है। यह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६६ ई० में प्रकाशित हुआ। पहले यह शोध-प्रबंधके रूपमें प्रस्तुत किया गया था और इसी पर लेखिकाने का० हि० वि० की पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त की थी। श्रीमती त्रिवेदीके इस ग्रन्थके प्रकाशनके पूर्व तुलसीकी नारी-विषयक दृष्टिको लेकर अनेक भ्रांतियाँ फैली हुई थीं। आधुनिकताके प्रेमी, नयी रोशनीके कायल तथा स्त्रीजातिके तथाकथित हिमायती और तुलसीदासके विशेष समीक्षकोंकी कोटिमें गिने जानेवाले अनेक महानुभावोंने तुलसीकी नारी-विषयक दृष्टिको यथातथ्य रूपमें न ग्रहण करके उसे मनमानी ढंगसे समझा और उसके आधारपर तुलसीदासको नारीके प्रति अति अनुदार टहगाया और उन पर नारी-परिग्रहणके आरोप लगाये। सम्भवतः ऐसे ही सारहीन आरोपको सही मानकर उन्नेजनावश दक्षिणकी कुछ शिक्षित महिलाओंने 'मानस' की होली जलाकर अपनी शिक्षा और गरिमाको कलंकित किया था। हर्षका विषय है कि श्रीमती त्रिवेदी-जैसी एक सुसंस्कृत, सम्भ्रांत, विदुषी महिलाने ही तुलसीदासकी नारी विषयक दृष्टिको यथासंभव पुरुषोंकी अपेक्षा सही समझा और उसे डंकेकी चोटपर प्रमाणित कर दिया। निश्चय ही लेखिकाने तुलसीदासकी समस्त नारी विषयक मान्यताओंपर गम्भीरतासे विचार करते हुए कवि द्वारा चित्रित नारीके विभिन्न वर्गगत रूपों और तद्विषयक प्रतिक्रियाओंको भली-भाँति समझा और समझाया है; तुलसीदासपर लगाये गये 'नारी-निंदा' दोषको यथोचित सिद्ध कर दिया है और अन्तमें, अपनी भावुकतावश कविके व्यक्तिगत जीवनकी छायाके दर्शन भी उसकी नारी-संबंधी कुछ उक्तियोंके बीच किये हैं।

डॉ० रामप्रकाश अग्रवालका शोध-प्रबन्ध “वाल्मीकि और तुलसी साहित्यिक मूल्यांकन” सन् १९६६ ई० में ‘प्रकाशन प्रतिष्ठान’ सुभाषनगर, मेरठसे प्रकाशित हुआ। वाल्मीकिके रामायण और तुलसीदासके ‘रामचरितमानस’ का जैसा तुलनात्मक अध्ययन इस ग्रंथमें प्राप्त है, वैसा अन्यत्र नहीं। पुस्तकमें कुल सात अध्यायोंकी योजना है। उभय महाकवियोंके काव्यगत कथा-शिल्प, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, रस-निरूपण तथा वर्णन-शैलीपर गम्भीरतासे विचार करनेके पश्चात् प्रत्येक अध्यायके अन्तमें एक ऐसा समीचीन निष्कर्ष भी अंकित किया गया है, जिससे दोनों महाकवियोंके काव्यका साभ्य एवं वैषम्य सुस्पष्ट हो जाता है। अन्तमें, लेखकने एक महत्वपूर्ण परिशिष्टके अन्तर्गत “वाल्मीकि और तुलसीका नारी समाज” शीर्षक देकर इस सम्बन्धमें गलत धारणा रखनेवाले महानुभावोंके भ्रमका निवारण भी किया है। आदिकवि वाल्मीकि और महाकवि तुलसीदासके तुलनात्मक अध्ययन की दिशामें इस ग्रंथ की उपयोगिता निर्निवाद है।

मानस-भराल स्व० पं० शंभुनाथ चौबे की चिर साधना, गम्भीर गवेषणा और अथक प्रयासकी अनुपम उपलब्धियोंके दर्शन “मानस अनुशीलन” में होते हैं। यह ग्रन्थ चौबेजीके पाँच शोधपूर्ण गम्भीर निबन्धोंका संग्रह है। इसका सम्पादन श्री सुधाकर पांडेयने किया है और यह ‘नागरी प्रचारिणी सभा’, काशी से सन् १९६७ ई० में प्रकाशित हुआ। संकलनमें समाविष्ट पाँचो निबन्धोंके शीर्षक ये हैं—(१) मानस अनुशीलन, (२) मानस-पाठ-भेद, (३) रामचरित मानसके प्राचीन श्लेषक, (४) मूल रामायणकी छन्द संख्या, एवं (५) विषयानुक्रमणी तथा रामचरित मानसके संवाद। ग्रंथके अन्त्य भागमें सम्पादकने चार परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं, जो मानसके कुछ विशिष्ट संस्करणों, वर्तनी और पाठ भेद, हस्तलिखित प्रतियों तथा अन्तर्कथाओंसे परिचय करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि स्व० चौबेजीने सर्वप्रथम संकल्पात्मक एवं वैज्ञानिक प्रणालीसे ‘मानस’की उपलब्ध सामग्रीके आलोड़नका घोर तपस्यामूलक श्रम किया, पर उनकी विखरी हुई बहुमूल्य सामग्रीका सम्पादन एवं संकलन करके उसे व्यवस्थित रूप देनेका महत्वपूर्ण कार्य पाण्डेयजीने किया। मानसके शोधकर्त्ताओंके लिए “मानस अनुशीलन”की उपयोगिता सदैव बनी रहेगी।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघकी किताब “तुलसी : आधुनिक वातायनसे”का प्रकाशन सन् १९६७ ई० में ‘भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन’ वाराणसीसे हुआ। डॉ० स्वामीनाथ शर्माके ‘मानस-मंथन’की भाँति इस पुस्तकके अध्यायोंकी योजनामें नवीनता है। इसमें अध्यायको गोष्ठी अभिहित किया गया है। सारी पुस्तक ८ गोष्ठियोंमें विभाजित है। प्रत्येक गोष्ठीका शीर्षक तुलसीकी किसी मुख्य रचनासे गृहीत पंक्ति या पंक्ति-खंडको ही धनाया गया है। यथा, पहली गोष्ठीका विवेच्य है ‘गुप्त-प्रगट इतिहास पुराना’ तथा दूसरी गोष्ठीका ‘रामायन अनुहरत सिल जग भयो ‘भारत’ रीति’ तीसरी और चौथी गोष्ठीके क्रमिक शीर्षक हैं—‘ऐसेको ऐसो भयो कबहूँ न भजे विनु बानरके चरवाहै’ एवं ‘कोउ कह नर-नारायन हरिहर कोऊ’। पाँचवाँ और छठवाँ गोष्ठीमें विवेचनाके लिए प्रस्तुत किये गये शीर्षक हैं—‘देखत तव रचना विचित्र नव समुझि मनहिं मन रहिए’ तथा ‘स्याम गौर किमि कहाँ बखानी। गिरा अनयन नयन विनु बानी’। सातवीं गोष्ठी ‘प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। मुनु मुनि बरनी कविन्ह धनेरी’को लक्ष्य करके लिखी गयी है और अन्तिम अर्थात् समापन गोष्ठी ‘उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि’को पुस्तकका उपसंहार समझना चाहिए। इस किताबकी नवीनतापर स्वयं लेखकको बड़ा नाज है, क्योंकि इसे उसने विशेष मतलबसे लिखा है न कि तुलसीदासके वास्तविक स्वरूपको समझने और समझानेकी दृष्टिसे। जिस प्रकार रंगीन उपचक्षु लगाकर देखनेवाले व्यक्तिको उज्ज्वल और कांतिमान् दृश्य भी रंगीन और धुँधला दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार मेघजीको तुलसीका असली और ज्योतिमान् व्यक्तित्व उनका कृतित्व तथा मध्यकालीन संस्कृतिका स्वरूप सभी रंगीन और अनिश्चित ही

दिखाई पड़े हैं, क्योंकि उन्होंने बेहद आधुनिकताका सतरंगी चमत्कार लगा रखा है। इसमें संदेह नहीं कि लेखकने नृवंशशास्त्र, समाजशास्त्र, सौंदर्यबोधशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा भित्तकशास्त्र की कुछ वैज्ञानिक स्थापनाओंको आधार बनाकर तुलसी और उनके युगकी संस्कृतिको देखनेका पाण्डित्यपूर्ण प्रयत्न किया है, यही उसकी मौलिकता है। मौलिकतावादी दृष्टिकोण अपनानेके कारण लेखककी तुलसी-विषयक मान्यताओंकी लोकप्रियता और सर्वग्राह्यता कहाँतक होगी, इसे भविष्य बतायेगा।

डॉ० श्रीधर सिंहका शोध-प्रबन्ध “तुलसीकी कारयित्री प्रतिभाका अध्ययन” सन् १९६८ ई० में ‘हिन्दी प्रचारक प्रकाशन’ वाराणसीसे प्रकाशित हुआ है। यह ५०१ पृष्ठोंका ग्रंथ ३ खण्डोंमें विभाजित है। इसमें कुल चौदह परिच्छेद हैं। प्रथम खण्ड ‘कृत्तिका दृष्टिसे विचार’में प्रथम तीन परिच्छेद ‘जीवन-दर्शन’, ‘अंतःप्रेरणा’ तथा ‘समाधि’ आते हैं। इन परिच्छेदोंमें चर्चित विषयोंका विश्लेषण करते समय लेखक भारी मनोविज्ञान वेत्ता बन गया है; आधुनिक मनोविज्ञानका पचड़ा आवश्यकतासे अधिक गाकर उसीके प्रकाशमें भक्त तुलसीदासके व्यक्तित्व, उनकी साधुता एवं दैन्यको देखा है। यह ठीक नहीं विषयात् व्यक्तियोंपर मनोविज्ञानके सिद्धान्त भले ही लागू किये जा सकते हैं, पर पहुँचे हुए साधु-महात्माओंके अध्यात्मिक विचारोंपर नहीं। ग्रन्थके द्वितीय खण्ड ‘कृत्तिका दृष्टिसे विचार’के अन्तर्गत ‘भाषा-विनियोग’, ‘पद-संघटन’, ‘अभिव्यञ्जना-कौशल’, ‘लय-सिद्धि’, ‘काव्य-विधा-चयन’, ‘कथानक-योजना’, ‘स्वभाव-कल्पन’ एवं ‘भावोद्बोधन’ शीर्षक आठ परिच्छेदोंकी योजना की गयी है। द्वितीय खण्डके इन परिच्छेदोंमें लेखकने सौन्दर्यशास्त्रका पवाड़ा अधिक फैलाकर सौन्दर्यशास्त्रीका रूप ग्रहण कर लिया है। वैसे इस खण्डमें तुलसीके कविकर्मको परखनेका अच्छा और पाण्डित्यपूर्ण प्रयास किया गया है। ग्रन्थके तृतीय खण्ड ‘भावककी दृष्टिसे विचार’में तीन परिच्छेद ‘साहित्यका माध्य और तुलसीके काव्य’, ‘तुलसीकी लोकवादी साधना और रामराज्य’, तथा ‘तुलसीका योग’ रखे गये हैं। इनमें लेखकने समाजशास्त्रीय दृष्टि अपनायी है। निस्संदेह लेखककी आलोचनात्मक दृष्टिमें मौलिकता है, पर तुलसीदाम पश्चिमी मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र तथा समाजशास्त्रकी सीमाओंमें नहीं बाँधे जा सकते, उन्हें इन शास्त्रोंमें कहीं ऊँचे धरातलके आध्यात्मिक धरातलसे देखना समीचीन होगा। ग्रंथमें पाण्डित्य-प्रदर्शनका प्रयास अधिक है, तुलसीके सहज स्वरूपके प्रकाशनका कम।

डॉ० गोपीनाथ तिवारीकी समीक्षात्मक कृति “विनय-पत्रिका मर्मिका”का प्रकाशन ‘रंजन प्रकाशन’, आगरासे सन् १९७० ई० में हुआ। इस पुस्तकके प्रथम प्रकरणमें लेखकने विनय एवं स्तुति काव्यकी प्राचीन परम्पराके उत्सको बताते हुए उसके विकासकी एक झलक देते हुए तुलसीकी विनय पत्रिकाका प्रसंग छेड़कर उसकी परम्परानुगतता एवं मौलिकतापर प्रकाश डाला है। दूसरे प्रकरणमें विनय-पत्रिका तथा मानसको ‘स्वान्तः सुखाय’ एवं ‘बहुजन हिताय’की दृष्टिसे देखनेका सुन्दर प्रयास है। कलिके भयंकर आन्तरिक तथा बाह्य रूपोंसे त्रस्त तुलसीका ‘कलिले त्राण’की चर्चा तीसरे प्रकरणमें है। चौथा प्रकरण ‘राम-दरबार’से सम्बद्ध है जो विनय पत्रिका गंतव्य है। यह दरबार भावात्मक या आध्यात्मिक है। इसी हृदयस्थ राम-दरबारमें तुलसी अपनी विनयपत्रिकाके साथ हाजिर हुए हैं। इसमें दरबारकी व्यावहारिक पद्धति भी साकार हो उठी है। पाँचवें प्रकरणमें और तुलसीकी विनयपत्रिकाओंका भेद दिखाकर तुलसीकी विनयपत्रिकाकी गरिमा बतायी गयी है। छठे प्रकरण ‘आत्मप्रकाशन’में विनयपत्रिकाकी कुछ उक्तियोंके सहारे तुलसीकी जीवन-गाथाके विश्लेषणका अच्छा प्रयास है। सातवें प्रकरणमें विनयपत्रिकाके आधारपर तुलसीके दार्शनिक दृष्टिकोणकी मीमांसा है। आठवाँ प्रकरण विनय-पत्रिकामें सामाजिक समाविष्ट ‘भक्ति मार्ग’को दिखाता है और नवाँ प्रकरण विनयपत्रिकामें भक्तिरसका परिपाक बताता है। पुस्तकके दसवें,

ग्यारहवें तथा बारहवें प्रकरणोंमें क्रमशः 'अलंकार' 'शब्दस्थापना', एवं भाषा-शैलीगत चमत्कारोंकी अच्छी विवेचना है। निस्संदेह पुस्तकके वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध लेखकने तुलसीके विचारोंको बहुत-कुछ यथातथ्य रूपमें समझा है। पुस्तककी उपयोगिता और उपादेयता निर्विवाद है। यह विभिन्न विश्वविद्यालयोंके द्वारा पाठ्य-पुस्तकके रूपमें स्वीकृत हो चुकी है।

डॉ० वैजनाथ मिश्रने अपने अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध 'तुलसीके काव्यमें नीति' पर सन् १९७० ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त की है। उनके इस प्रबन्धमें कुल छः अध्याय हैं, जिनमें वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक नीति तथा राज्यके सत्ता-सहित राजनीतिके चतुर्चरणों अथवा अंगोंकी पुष्टि तुलसीकी विभिन्न कृतियोंके उदाहरणोंसे की गयी है। इतना ही नहीं, प्रबन्धमें संस्कृत-वाङ्मयकी अनेक नीति संबंधी उक्तियोंकी 'मानस'की इस प्रकारकी उक्तियोंसे तुलना करके इनका विशेष उत्कर्ष दिखाया गया है। यों तो तुलसीदासके नीति-संबंधी विचारोंकी छिटपुट चर्चा बहुतोंने की है पर मौलिक रूपमें इस विषयकी विवेचनाका प्रयास मिश्रजीने ही किया है। प्रबन्ध प्रकाशनीय और उपयोगी है।

डॉ० रामरतन भटनागरका 'तुलसी : नव मूल्यांकन' महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक ग्रन्थ सन् १९७१ ई०में 'स्मृति प्रकाशन' इलाहाबादसे प्रकाशित हुआ। इसमें महाकवि तुलसीदासकी काव्य और अध्यात्म-चेतना, धर्म-साधना, धर्म-दृष्टि और धर्म-दर्शन, श्रुति-परता, भक्ति-दर्शन, परम्परा-बोधका मूल्यांकन सुगम-बोध के सन्दर्भमें किया गया है। साथ ही, भारतीय संस्कृति और दर्शनके सन्दर्भमें तुलसीकी सर्जनात्मक भूमिकाका विवेचन करते हुए उनके काव्यकी पृष्ठभूमि एवं उनकी काव्यकलाका यथोचित मर्मोद्घाटन भी हुआ है। ग्रन्थके समीक्षा-क्रममें लेखकने निःसंग दृष्टि अपनायी है। यहाँ तुलसी-साहित्यकी समीक्षा न तो आधुनिक वातायनसे की गयी है, न नयी कविताके प्रतिमानोंके आधारपर, प्रत्युत साहित्य समीक्षाके चिरंतन आदर्शोंकी कसौटीपर की गयी है। तुलसी-साहित्यमें विषय-वस्तुके सभी धरातलोंको सहृदयतापूर्वक समझ-बूझकर उनकी साहित्य-साधनाका वैशिष्ट्य बताया गया है। तुलसीदासके समन्वयकी प्रायः सभी दिशाओंका स्पष्टीकरण सुन्दर और समीचीन ढंगसे हुआ है। तुलसीदासने किस प्रकार और किस दिशामें काव्यकी सीमाको बढ़ाया, सामाजिक भूमिकापर वर्णाश्रम धर्मके पूर्ण समर्थक होनेपर भी उन्होंने भक्तिके नाते सामाजिक उदारताका महान् आदर्श कैसे स्थापित किया, मानवकी दिव्यताको परहित धर्मकी चरितार्थता देकर उन्होंने अध्यात्म और मानवतावादी चेतनामें किस तरह तालमेल बिठाया, किस प्रकार उनका भक्ति-दर्शन जीवन-निषेधपर आधारित न होकर जीवन और जगत्की परिपूर्ण स्वीकृतिमय है, किस अनूठे ढंगसे उन्होंने वेदान्त और भक्तिको एक केन्द्रसे सम्बद्ध किया, इन सभी प्रश्नोंकी सम्यक विवेचना इस पुस्तकमें हुई है। पुस्तककी उपयोगिता निर्विवाद है। लेखककी समीक्षा-दृष्टि प्रशस्त और मर्मस्पर्शी है। तुलसीको तुलसीकी दृष्टिसे समझने और उदात्त मानवीय मूल्योंके परिप्रेक्ष्यमें उनके साहित्यकी समीक्षा करनेमें लेखकको यथेष्ट सफलता मिली है।

डॉ० चन्द्रभान रावतकी विशिष्ट कृति "तुलसी साहित्य बदलते प्रतिमान"का प्रकाशन सन् १९७१ ई०में 'जवाहर पुस्तकालय, असकुण्डा बाजार, मथुरा'से हुआ। यह पुस्तक अध्यायोंके स्थानपर संवादोंमें विभक्त है। इसमें कुल दस संवाद हैं। प्रथम संवाद : "बदलते प्रतिमान : संकट और चुनौती"में साहित्य-शास्त्रके प्रमुख प्रतिमानोंके सन्दर्भमें तुलसीकी साहित्य-विषयिनी मान्यताओंका प्रतिपादन किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी रस सम्बन्धी मान्यताको ही तुलसी-काव्यके मूल्यांकनका आधार बनानेका आग्रह अप्रत्यक्ष रूपसे इस संवादमें गृहीत है। अन्य संवादोंकी विवेचित विषय-सामग्री प्रथम

संवादकी ही भाँति सवादके शीर्षकोंके अनुरूप है। संप्र सवादोंके शीर्षक इस प्रकार हैं—“गारवाणी”, “परम्परा”, “व्यक्तित्वकी रेखाएँ : विचारोंके विन्दु”, “तुलसी साहित्य : अनुक्रमकी समझनाएँ”, “तुलसीका रावण”, “तुलसी और नारी”, “धार्मिक काव्य : सौन्दर्यबोधका प्रश्न”, “मर्यादा : नीति : एक अनुशासन”, “साहित्य संरचना : शिल्पबोध”। इन शीर्षकोंसे प्रकट है कि इस पुस्तकमें तुलसी-साहित्यके रास-समग्र मूल्यांकनका प्रयास है। तुलसी-साहित्यकी लेकर उठाये जानेवाले आधुनिक प्रश्नोंका सम्यक्ने विद्वतापूर्ण समाधान किया है। उसके इस समाधानमें न पुरातनताका व्याभोध है और न ही आधुनिकताका विरोध प्रकर्ष। राखी हुई भागमें निरपेक्ष सत्योंकी अभिव्यक्ति कर, तुलसीदास जैसे महाकविक सच्चाव सच्चा समुचित मार्गग्रहण किया गया है। लेखकका प्रयास सराहनीय है।

डॉ० रामलालसिंहका ‘तुलसी-काव्य-दर्शन’ ग्रन्थ ‘लोक-मार्ती प्रकाशन’ वाशी-भावा, इलाहाबादसे सन् १९७२ ई०में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थमें, सर्वप्रथम तुलसीके काव्योत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त तथा उनकी काव्य-रचना-प्रक्रियापर प्रकाश डाला गया है। तुलसीकी काव्य प्रवर्धन, रस, मिथान्त, अलंकार, सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त तथा औचित्यवादके प्रकाशमें देव्यन्तके उपरान्त लेखकने उन्हें हिन्दी-साहित्यका सर्वोत्कृष्ट कवि ही नहीं, अपितु एक स्वतन्त्र नेता आचार्य भी घोषित किया है; उसने तुलसीकी मौलिक विराट काव्य चेतनाका समंछाटन करनेके लिए उनके काव्य-निकाय सहृदय-लक्षण, उनकी काव्य-कला, काव्य-भाषा, अलंकार-कला तथा शैली-तत्त्वकी सुलक्षण भीभाषा की है। ‘रामचरित मानस’के ‘मानस-रूपक’से व्यंजित तुलसीकी महाकाव्य सम्बन्धी भावना सुस्पष्ट करनेके साथ ही उनकी कविता-कामिनी सम्बन्धी धारणाको भी बड़ी कुशलतासे सोला है। ग्रन्थके प्रत्य भागमें ‘तुलसी का काव्यादर्श’ तथा ‘तुलसी-काव्य-दर्शनका प्रदेय’ विषयोंकी गम्भीर विवेचना हुई है और निष्कर्ष रूपमें दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि तुलसीके काव्य-संकल्पका आदर्श जीवनके पुरुषार्थ-साधक, सुगन्ध-सम्पन्न, जगमगलदायक जीवनके महान् सत्योंकी उपलब्धि है जिसे उन्होंने काव्यात्मके पदपर आरम्भ किया है। ‘कविताके दर्शनमें तुलसीकी जितनी गहरी पैठ थी, महद्योंके समक्ष सुन्दर, दिव्य, महान तथा विराट चित्र रखनेकी जैसी शक्ति थी, वैसी विश्वके किसी कवि या आचार्यमें नहीं दिखाई पड़ती।’ पुस्तककी समीक्षात्मक दृष्टि सुन्दर और सरस है, साथ ही गोस्वामीजीके प्रति लेखककी अद्वैत आस्थाकी परिचायिका भी है।

डॉ० गयासिंहकी कृति “तुलसी-काव्यकी लोकतात्त्विक संरचना”का प्रकाशन सन् १९७२ ई०में ‘संजय प्रकाशन’, गुलानाला, काशीसे हुआ। इस सुबुक पुस्तकमें पाँच पृष्ठके ‘निवेदन’के अतिरिक्त कुल २१२ पृष्ठ हैं। विषय क्रम तरह शीर्षकोंमें इस प्रकार रखा गया है—एक : “तुलसीका महाव : उनकी समन्वयवादी लोकदृष्टि”; दो : “तुलसीका प्रामाणिक साहित्य”; तीन : “तुलसी-काव्यमें लोक और वेद”; चार : “तुलसी काव्यमें लोक-संस्कृति”; पाँच : “तुलसी-काव्यमें संस्कार और उत्सव”; छ : “तुलसीके प्रबन्धमें लोकतात्त्विक प्रविधि”; सात : “लोककथाके प्रकारोंकी दृष्टिसे मानसकी कथा-संरचना”; आठ : “रामचरितमानसकी कथानक-रुढ़ियाँ”; नव : “तुलसीके काव्य-शिल्पमें लोकतत्त्व”; दस : “तुलसी-काव्यमें लघुवार्त्ताओं और अलंकारोंका लोकतात्त्विक स्वरूप”; ग्यारह : “तुलसी-काव्यमें प्रतीकोंकी लोकतात्त्विक स्थिति”; बारह : “तुलसीके काव्य-रूप और छन्द-विधानमें लोकतत्त्व”; तेरह : लोकतात्त्विक संदर्भ और तुलसी-काव्यकी सार्थकता”। प्रस्तुत पुस्तक लेखकके अन्वेषण-विश्लेषणका फल है। लेखककी दृष्टिमें मौलिकता है, पर एकांगिकताके कारण प्रशस्तताकी कमी खटकती है। यदि लोक शब्दके व्यापक अर्थको दृष्टिमें रखकर लोकतत्त्वोंको साग्र-समग्र रूपमें ढूँढ़ा गया होता तो कविकी लोकतात्त्विक दृष्टिका

संवागीण रूप प्रकट हो सकता था। दूसरी खटकनेवाली बात यह है कि लोक शब्दों के एकांगी अर्थ में भी लोकतत्त्वों की परिधि को आवश्यकता से अधिक बढ़ाकर देखा गया है। फलतः बहुत-सी वेदशास्त्र सम्मत बातों को भी लोकतत्त्वों के भीतर गिनाया गया है फिर भी, लेखक का प्रयास सराहनीय है। इसके द्वारा तुलसी-काव्य में 'लोक और वेद' के समन्वय की अच्छी परख हो जाती है।

सन् १९७३ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में मेरे तत्त्वावधान में शोध-कार्य करनेवाले श्री सुदामाप्रसाद ने 'मध्यकालीन मुक्तक काव्य परम्परा और विनय पत्रिका' विषय पर अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया और उन्हें इसी प्रबन्ध पर पी०एच० डी० उपाधि मिली। उसी वर्ष मेरे दूसरे शोध छात्र श्री कन्हैयालाल का 'मानस का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया गया और इस प्रबन्ध पर कन्हैयालाल को पी०एच० डी० उपाधि प्रदान की गयी। सन् १९७४ ई० में "गोस्वामी तुलसीदास का भक्तिमार्ग" शोध-प्रबन्ध पर श्री राममोहन पाण्डेय ने भी पी०एच० डी० उपाधि प्राप्त की। इस समय भी हमारे हिन्दी विभाग में कई शोधार्थी भिन्न-भिन्न दृष्टि से तुलसी साहित्य पर शोध-कार्य कर रहे हैं। इनमें श्री जयशंकर द्विवेदी का प्रकृष्ट शोध-प्रबन्ध "मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में तुलसी और आधुनिक कवि" शीघ्र ही प्रस्तुत होनेवाला है।

विक्रम विश्वविद्यालय से भी दो अच्छे शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गए और उन दोनों के प्रस्तुत कर्त्ताओं को पी०एच० डी० उपाधि मिली। इन दोनों प्रबन्धों के विषय हैं—'तुलसी साहित्य में रूपक योजना' तथा 'मध्यकालीन धर्म साधनाओं के सन्दर्भ में तुलसी साहित्य : एक अनुशीलन'। इन प्रबन्धों के लेखक हैं—डॉ० मणिशंकर आचार्य (रतलाम) तथा डॉ० राजेन्द्र कुमार आर्य (उज्जैन)। पहला प्रबन्ध सन् १९७१ ई० में तथा दूसरा सन् १९७३ ई० में प्रस्तुत किया गया था।

सन् १९७४ ई० में आन्ध्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से 'मानस' और कल्पवृक्ष का तुलनात्मक अध्ययन' एक भारी भरकम शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया जिस पर श्री पी० वी० आचार्य को पी०एच० डी० की उपाधि दी गयी। 'कल्पवृक्ष' तेलुगु भाषा की आधुनिक रामायण है जिस पर उसके प्रणेता विश्वनाथ सत्यनारायण को भारतीय ज्ञानपीठ का एक लाख रुपये का पुरस्कार दोन्तीन वर्ष पूर्व मिला था। जहाँ तक श्री पी० वी० आचार्य के शोध-प्रबन्ध का सम्बन्ध है वह काफी परिश्रम के साथ लिखा गया है। प्रबन्ध-भूमिका सहित सात परिच्छेदों में विभक्त है। सातों परिच्छेदों के शीर्षक क्रमशः ये हैं—'रामभक्तिकी परम्परा'; 'तुलसी तथा विश्वनाथ की समकालीन परिस्थितियाँ'; 'तुलसी तथा विश्वनाथ का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व'; 'मानस तथा कल्पवृक्ष की तुलना'; 'मानस तथा कल्पवृक्ष के पात्रों की तुलना'; 'भावपक्ष एवं कला पक्ष' दोनों की विचारधारा एवं संदेश।'। प्रबन्ध का विषय मौलिक एवं आकर्षक है। एक अहिन्दी भाषी का यह प्रयास प्रबन्धगत कुछ त्रुटियों के होते हुए भी सराहनीय है।

अन्य भारतीय या विदेशी विश्वविद्यालयों में भी तुलसी साहित्य पर शोध-कार्य किसी न किसी रूप में बराबर चल रहा है। इसी प्रकार तुलसी-संस्थानों में भी इसकी प्रगति हो रही है। शोध-कार्य के लिए 'तुलसी-साहित्य में विशेष रूप से 'रामचरित मानस' अनन्त रत्नाकर है।

इधर सन् १९७४ ई० में मानस चतुश्शती समारोह के फलस्वरूप तुलसी-साहित्य के अध्ययन का जो सुभग फल आगे दिखाई पड़ेगा उसका लेखा-जोखा भविष्य करेगा। हमारे लिए मानस चतुश्शती वर्ष में प्रकाशित डॉ० रामेश्वर दयालु अग्रवाल के शोध-ग्रन्थ "कम्ब रामायण और रामचरित मानस" की चर्चा ही पर्याप्त होगी। यह ग्रन्थ 'कल्पना-प्रकाशन' कवाड़ी बाजार, मेरठ से छपा है। उत्तर प्रदेश सरकार

द्वारा पुरस्कृत भी है। एक हिन्दी भार्गव विद्वान द्वारा तामिल और हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्योंका अध्ययन इस ग्रन्थके रूपमें पहली बार प्रकाशमें आया है। प्रस्तुत ग्रन्थमें आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियोंका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उभय कवियोंकी रचनाओंमें समाविष्ट सभी लोक तत्त्वोंकी समानता और विषमताको बड़े ही सुन्दर ढंगसे भलीभाँति समझाया है। इतना ही नहीं, दोनों महाकाव्योंकी परम्परागत साहित्यिक गरिमाको भी बड़ी कुशलतासे अनावृत्त किया है। निश्चय ही यह ग्रन्थ उत्तर और दक्षिणके समन्वयका महत्त्वपूर्ण प्रयास है। 'निरसंदेह यह अध्ययन उत्तर और दक्षिण भारतके भाव एक सारकृतिक सेतुका गौरव प्राप्त करनेका अधिकारी सिद्ध होगा।'

'राजगृह' विरदोपुर,
वाराणसी-१

राजपति दीक्षित

विषय-सूची

विषय

पृष्ठ

प्रथम परिच्छेद

तुलसीकी जीवन-वृत्त-शिखा

१-२४

जीवन-वृत्तकी विविधता

...

१

विविधताके कारण

...

१-२

अतः साक्ष्योंसे पुष्ट जीवन-वृत्तश

...

२-१०

ग्राह्य साक्ष्योंसे ग्राह्य जीवन-वृत्तके अंश

...

१०-१७

साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवनीकी झाँकी

...

१७-२३

गोस्वामी उपाधिका मर्म

...

२३-२४

द्वितीय परिच्छेद

“तुलसीकी कृतियाँ”

२५-८०

प्रामाणिक कृतियोंकी संख्या, और उनके नाम, तुलसी-सत्सङ्की

...

२५

अप्रामाणिकता रामललानहछूका विवेचनात्मक परिचय और उसका

...

२७

रचनाकाल वैराग्य संदीपिनीका विवेचनात्मक परिचय और उसका

...

२९

रचनाकाल रामाज्ञा प्रश्नका विवेचनात्मक परिचय और उसका

...

३०

रचनाकाल जानकी मंगलका विवेचनात्मक परिचय और उसका

...

३२

रचनाकाल रामचरितमानसका विवेचनात्मक संक्षिप्त परिचय और

उसका रचनाकाल

...

३७

पर्वती मंगलका विवेचनात्मक परिचय और उसका रचनाकाल

...

३८

गीतावलीका विवेचनात्मक परिचय और उसका रचनाकाल

...

४२

श्रीकृष्ण गीतावलीका विवेचनात्मक परिचय और उसका

रचनाकाल

...

५०

बचवै रामायणका विवेचनात्मक परिचय और उसका रचनाकाल

...

५३

दोहावलीका विवेचनात्मक परिचय और उसका रचनाकाल

...

५४

कवितावलीका विवेचनात्मक परिचय और उसका रचनाकाल

...

५७

विनय-पत्रिकाका विवेचनात्मक परिचय और उसका रचनाकाल

...

७०

तृतीय परिच्छेद

तुलसीकी समकालीन परिस्थितियाँ

८१-१०४

हिन्दू राजाओं तथा प्रजाका पतन

...

८१

देवालयों तथा तीर्थोंकी स्थिति

...

८३

वर्णाश्रम धर्मका द्वाग	...	१०३
राजनीतिक शक्तिका प्रभाव	...	१०६
धार्मिक शक्तिका प्रभाव	...	१०७
साहित्यिक शक्तिका प्रभाव	...	१०८
चिन्ता और अज्ञानिका सम्बन्ध	...	१०९
कलाकी जागृति	...	११०
सामाजिक चेतनाका आभाव	...	१११
तत्कालीन स्थितिका प्रभाव	...	११२
पूर्ववर्ती तथा सामयिक कवि और प्रचारक	...	११३

चतुर्थ परिच्छेद

तुलसीका सामाजिक मत		११४-१२१
आदर्श राज्यकी भावना	...	११४
राजा-प्रजाका सम्बन्ध	...	११५
प्राचीन वर्णाश्रम धर्मकी प्रतिष्ठा	...	११६
पारिवारिक जीवनका आदर्श	...	११७
शास्त्रसम्मत प्राचीन परम्परागत नियमों और विश्वासोंका वर्णन	...	११८
मर्यादावाद	...	११९
भ्रमाजमें स्त्रियोंका स्थान	...	१२०

पंचम परिच्छेद

तुलसीकी संत-भावना		१२२-१४२
संतोंकी पहचान और उनकी ध्यात्मगत देवोपासना	...	१२२
संतोंका त्याग	...	१२५
मंतमत और लोकमतका विरोधा-विरोध	...	१२६
स्त्रियोंके प्रति संत परम्परासे गृहीत विचार	...	१२७
मंत और तुलसीदासकी तुलना	...	१२८
संत-प्रकृति और नवधा-भक्ति	...	१२९
शवरी और सुतीक्ष्ण	...	१३०

षष्ठ परिच्छेद

तुलसीकी धर्म-भावना		१४३-१६०
धर्म-भावनामें आडम्बरका बहिष्कार	...	१४३
भूत-प्रेत-पूजाका बहिष्कार	...	१४४

गृह्यवादका बहिष्कार	...	१४५
नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर धर्मकी स्थापना	...	१४६
धर्मकी व्यापकता और उसपर गन्तव्यमान्यका अधिकार	...	१४८
अहिंसावादका सर्वोच्च स्थान	...	१५३
धर्मके कठिन विधि-विधान और सरलतम रामनाम-जप	...	१५५
वैष्णवों और शैवोंमें ऐक्य-स्थापन	...	१५६
धर्मकी अन्तरात्मा और उसके बाह्य रूपका सामञ्जस्य	...	१५९

सप्तम परिच्छेद

तुलसीकी साम्प्रदायिकता

१६१-१७८

वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंकी झलक	...	१६१
देववाद	...	१६१
पूजा-पद्धति	...	१६६
धार्मिक प्रतीक	...	१६७
रामनाम-माहात्म्य और साम्प्रदायिक उपनिषद्	...	१६८
रामका स्वरूप और साम्प्रदायिक पुराणोंका ढंग	...	१६९
राम और दिव्यका सम्बन्ध पौराणिक परम्परानुसार	...	१७०
अन्य देवोंका दिग्दर्शन भी परम्परागत	...	१७३
साम्प्रदायिक एवं पौराणिक कथाएँ और वर्णन	...	१७५
निष्कर्ष	...	१७८

अष्टम परिच्छेद

तुलसीकी परम्परागत भक्ति

१७९-२०७

भक्तिकी परिभाषा	...	१७९
भक्तिके भेद	...	१८०
प्रेम-भक्तिका स्वरूप	...	१८५
प्रेम-भक्तिकी आसक्तियाँ	...	१८७
प्रेम-भक्तिके लक्षण	...	१८८
प्रेम-भक्तिके प्रमुख साधन	...	१८८
प्रेमाभक्तिकी सर्वश्रेष्ठता और सुलभता	...	१९१
प्रेमाभक्तिकी स्वयंसाध्यता	...	१९३
प्रेमाभक्तिकी विविध भूमिकाएँ	...	१९४
प्रेमाभक्तिके कण्टक	...	१९६
भक्तोंके लक्षण और उनकी श्रेणियाँ	...	१९८
भक्तोंकी महिमा	...	२००

भक्तोंकी गुरुपरम्परा	...	२०१
भक्ति और गुरुका सम्बन्ध	...	२०२
गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष	...	२०३
भक्तिके अधिकारी	...	२०५
भक्तिके विकासमें कालक्रमकी हेतुता	...	२०६
तुलसीकी भक्ति और नैराश्यकाल	...	२०७
भक्तिरस	...	२०७

नवम् परिच्छेद

तुलसीकी उपासना-पद्धति		२०८-२५३
इष्टदेवका स्वरूप	...	२०८
उपासनाका स्वरूप	...	२१८
उपासना और आचार	...	२२२
अनाचारमें पंक्ति उपासनाकी हेतुता	...	२२५
रामोपासना और नामोपासनाका तात्पर्य	...	२२६
स्वामी रामानन्द और तुलसीदास	...	२३२
वैरागी सम्प्रदाय और तुलसीदास	...	२३५
अन्य उपासना-पद्धतियाँ और तुलसीकी उपासना-पद्धति	...	२३६

दशम् परिच्छेद

तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण		२५४-२७१
समीक्षकोंकी विभिन्न भारणाएँ	...	२५४
गोस्वामीजीके माया-सम्बन्धी विचार	...	२५५
गोस्वामीजीके परमात्मा-सम्बन्धी विचार	...	२५८
गोस्वामीजीके जीव-सम्बन्धी विचार	...	२६१
गोस्वामीजीके जगत्-सम्बन्धी विचार	...	२६३
गोस्वामीजीके साधन-मार्ग-सम्बन्धी विचार	...	२६५
उक्त सभी प्रतिपाद्योंके प्रकाशमें उपलब्ध निष्कर्ष	...	२६७

एकादश परिच्छेद

तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य		२७१-२९३
प्राचीन राम-साहित्यकी व्यापकता	...	२७१
“वाल्मीकीय रामायण” और “मानस”	...	२७२

महारामायण और तुलसीका राम-साहित्य	...	२७९
अध्यात्मरामायण और तुलसीका राम-साहित्य	...	२८०
मंस्कृतके नाटकोंका प्रभाव	...	२८८
'रघुवंश'की अलङ्कार	...	२९३
निष्कर्ष	...	२९३

द्वादश परिच्छेद

तुलसीकी मन्दर्भण-कला और रामचरितमानस		२९४-३२६
उपक्रमकी नवीनता और प्रौढ़ि	...	२९४
मानसके रूपककी अपूर्वता	...	२९५
षड्विध संगति-योजना	...	२९६
माधुकरी वृत्ति और मानस-मधुकोश	...	२९९
भावानुरूप शैली	...	३०४
प्रबन्धानुरूप छन्द-योजना	...	३०६
संवाद योजनाका कौशल	...	३१०
ग्रन्थका उपमंहार	...	३१७
संदेश-संपदन	...	३१८

त्रयोदश परिच्छेद

तुलसीका साहित्यिक उपहार		३२७-३९०
विस्तृत नवीन क्षेत्रकी स्थापना	...	३२७
काव्यके विविध रूपोंपर अधिकार	...	३३१
भाषापर आधिपत्य	...	३३६
छन्द-विधानपर पूर्ण अधिकार	...	३४६
शब्द-शक्तियोंपर पूर्ण अधिकार	...	३४७
काव्यके स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायकोंका विधान	...	३५०
वाह्य दृश्योंका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण	...	३६६
आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनूठी पहचान	...	३७२
लोक-व्यवहार-नैपुण्य और सद्ग्राहिता	...	३७६
सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिम ज्ञानकी संसृष्टि	...	३७९
श्रीलताका पूर्ण परिपाक	..	३८७
कवित्व और साधुताका संयोग	...	३८८

चतुर्दश परिच्छेद

‘तुलसीकी प्रभाव-रश्मियाँ’

३५०-४०५

मानसकी ख्याति और उसका सुदान स्वयं	...	३५०
समकालीन समाजपर प्रभाव	...	३५२
रामलीलाको प्रोत्साहन	...	३५४
पञ्चवर्ती समाज पर प्रभाव	...	३५५
कला क्षेत्रमें प्रभाव	...	३५६
रामचरित-मानसकी टीका	...	३५८
व्यास पद्धतिका प्रचलन	...	४०१
तुलसीके नामपर प्रचलित अनेकानेक रचनाएँ	...	४०२
आधुनिक विद्वज्जनोंकी सम्मतियाँ	...	४०५
श्रद्धाञ्जलि	...	४०६

‘परिशिष्ट’

‘आधुनिक युगमें रामचरितमानसकी प्रासंगिकता’

४१०-४१५

उपकरण ग्रन्थोंकी तालिका

प्रथम परिच्छेद

तुलसीकी जीवन-वृत्त-शिखा

जीवन-वृत्तकी विविधता

गोस्वामी तुलसीदासका उत्कृष्ट साहित्य, जिस प्रकार लोक-कल्याणकी अपार भावनासे ओत-प्रोत है, उसी प्रकार उनके जीवन-वृत्त और व्यक्तित्वमें न जाने कितनी उत्साह-वर्द्धिनी, प्रेरणादायिनी शक्ति छिपी है। इसी शक्तिकी अनुभूति करने करानेके उद्देश्यसे प्रथम परिच्छेदकी योजनाकी गई है। मानवता-के मूर्धन्य पुजारी, भक्तशिरोमणि, महाकवि गोस्वामी तुलसीदासके जीवन-वृत्तके संबंधमें लोगोंके बीच विविध धारणाएँ देखकर बड़ा आश्चर्य होता है और सत्यासत्यका निर्णय करना कठिन हो जाता है। गोस्वामीजी किस शुणमुहूर्त्तमें अवतीर्ण हुए ? किस भव्य जननी-जनकके नामको उन्होंने उज्ज्वल किया ? किस पावन भूमि को उनकी जन्म-भूमि कहलानेका सुयश प्राप्त हुआ ? किन लोगोंने उन्हें स्वजन कहनेका सौभाग्य पाया ? किस गुरुने ऐसे सहज गुरुको अपना शिष्य बनाया ? कौन-कौन-सी घटनाएँ और परिस्थितियाँ उनके जीवनमें घटित होकर स्वयं कृतार्थ हुईं ? ऐसे ही और भी अनेक प्रश्न हैं जिनके पृथक्-पृथक् उत्तर दाताओंकी लंबी सूची है।¹

जीवन-वृत्तमें वैविध्यका कारण

तुलसीदासके जीवनवृत्तके विषयमें जो विविधताएँ दिखाई पड़ती हैं उनका मूल कारण भी विचारणीय है। महत्वाकांक्षाओंमें कीर्ति और सम्मानका विशेष स्थान है। साधारण व्यक्तियोंका तो कुछ कहना ही नहीं, उदात्त चरित व्यक्ति भी कीर्ति-पिपासाका शमन नहीं कर सकते। मिलनका कहना है—“यशस्तुहा उदात्त लोगोंकी अन्तिम दुर्बलता है”। इससे स्पष्ट है कि बड़े-से-बड़ा सांसारिक पुरुष भी अपनी प्रतिष्ठाका भूखा होता है। महत्वाकांक्षाकी और भी दिशाएँ हैं। क्या विधा, क्या ऐश्वर्य, क्या पद, क्या बल, क्या कला किसी न किसी क्षेत्रमें मनुष्य अग्रसर होना चाहता है। वह किसी विशिष्ट स्थान पर पहुँचकर ख्याति पानेके पूर्व ही संसारको अपना परिचयात्मक विशापन देता रहता है कि मैं अमुक महान् कार्यकी ओर प्रवृत्त हो रहा हूँ। कुछ बड़े-बड़े महत्वाकांक्षी हिन्दी वा संस्कृतके कवियोंको ही लीजिए। वे प्रायः अपनी रचनाओं के पूर्व अपना वंश-परिचय आदि देकर तब आगे बढ़ते हैं। ऐसा करनेसे उनकी ख्याति उनके पूर्वजोंकी ख्यातिको विस्तृत करती हुई स्वयं बढ़ती है। परन्तु, इसके विपरीत कुछ अपवाद स्वरूप ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिन्हें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं रहती कि मैं अमुक बड़ा कार्य करूँ जो मुझे सम्मानके शिखर पर आरूढ़ कराए; ऐसे लोगोंके लक्ष्य महत्तम होते हैं और अधिक-से-अधिक वे इतनेके ही अभिलाषी होते हैं कि उनके कार्यसे विश्वका परम कल्याण हो, वे कौन हैं ? उनका क्या पता है ? इन बातोंको वे गुप्त ही रखते हैं। भले ही संसार छान-बीन करके जानले, पर वे स्वयं नहीं जनाना चाहते। ऐसे विचारवाले सच्चे संत ही हो सकते हैं। क्योंकि—“लोकमान्यता अनलसम कर तप कानन दाह” समझकर वे सदैव अपनेको तुच्छ मानते हैं। संत तुलसीदासने भी ऐसा ही किया है। उन्हें क्या

१. दे० प्रतुस्त ग्रंथकी भूमिकामें ‘जीवन चरित लेखक वर्ग’।

२. “Fame is the last infirmity of noble minds”

पड़ी थी जो अपना परिचय देने जाते। अपने उदात्त लक्ष्य जिससे समस्त संसार, समस्त मानव जातिका कल्याण हो सकता है उसका परिचय तो विविध विधिसे करा ही दिया है। जिसका जी चाहे उनके गमने परिचय, पूर्ण परिचय करले। यदि तुलसीसे परिचय करना चाहे तो रामके सेवकके नाते सर्वत्र तुलसीदाम भी पढ़ ले। इतना ही नहीं, उनके जीवनकी उन दिशाओंकी भी झाँकी कर ले जिनके प्रभाव से तुलसी तुलसीदास हुए। इससे अधिक अपने विषयमें कहनेकी आवश्यकता ही क्या थी एक पहुँचे हुए महात्माको। अस्तु, अन्तः साध्योंसे पुष्ट जीवन-वृत्तका निर्विवाद अंश प्रस्तुत करनेका प्रयास पहले किया जा रहा है।

अंतः साध्योंसे पुष्ट जीवन-वृत्तांश

‘विनय पत्रिका’ और ‘कवितावली’-की कुछ उक्तियोंसे स्पष्ट होता है कि तुलसीदासका जन्म किसी ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। ब्राह्मण-कुल यों भी सामान्यतः वैभवशाली नहीं होता, पर जिस कुलमें तुलसीका जन्म हुआ वह तो बहुत ही दीन था। उसकी दरिद्रताका इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पुत्रोत्पत्तिके अवसर पर भी शहनाई नहीं गूँजी प्रत्युत माता-पिताको विषाद ही हुआ, क्योंकि वहाँ आनन्द-बधाईके लिए पूँजी न थी; यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है कि अत्यन्त निर्धनको पुत्रोत्पत्तिके समय भी चिंता रहती है कि हाय ! भगवान ! अकेले तो किसी प्रकार उपवास भी करके सो रहते किन्तु अब इस कोमल शिशुको सौर-गृहमें क्या दे। अवश्य ही तुलसीदासके माता-पिता ऐसे ही विपद्ग्रस्त दीन ब्राह्मण थे तभी तो उन्हें पुत्रोत्पत्तिके अवसर पर भी ऐसी चिंता हुई।

बालक तुलसीदास दरिद्र ब्राह्मण माता-पिताके घरमें पैदा तो हुआ ही वह माता-पिताके स्नेहसे वंचित अनाथ भी हो गया। जननी-जनक दोनों ही चल बसे थे।^१ एक अनाथ बालक जिसके आगे-पीछे कोई नहीं उसकी चितनीय दशाको सोचिए। बेचारा द्वार-द्वार भीख माँगनेके सिवा कर ही क्या सकता था। भिखमंगोंकी भाँति पेट खला-खलाकर भिक्षाके लिए दाताओंके पैरों तक पड़ना पड़ता था^२; लोगोंकी अपमानभरी दृष्टिको देखना पड़ता था। ‘पेटागि’-के कारण सुजाति कुजाति सबका दिया हुआ ठुकड़ा खाना पड़ता था।^३ एक अनाथ बालक क्रूर समाजके मुट्ठी भर दानेके लिए कितना दुखी और अपमानित होकर घूमता था इसका अनुमान ‘दुखउ दुखित मोहि हेरे’^४ से किया जा सकता है। ऐसे अनाथकी खिन्नताकी अनुभूति बिरले सन्त-महात्मा ही कर सकते हैं। हुई भी यही बात। तुलसीकी दीनावस्था देख एक संत, महात्माका हृदय द्रवीभूत हो गया; उन्होंने बालकको आश्वासन दिया। रामभक्तिका उपदेश किया। अनाथ बालकने एक संवल पा लिया। उसके हृदयमें रामभक्तिका अंकुर उगने लगा। बाल्य हृदयमें सांसारिक वासनाओंके कंटकोंका अभाव होनेके कारण रामप्रेमका पौदा अबाधगतिसे बढ़ने लगा

१. ‘विनय’ पद १३५ (१) ‘दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर..... मुरारिको।’

२. ‘कविता०’ उ० छ० ६३ ‘भलि भारत भूमि भलो कुल जन्म..... लहिकै।’

३. ‘कविता०’ उ० छ० ७३ ‘जायो कुल मंगन..... तनकको।’

४. वही ,, ,, ५७ ‘मातु पिता जग जाय तज्यो..... खोरि न लाई’

‘विनय०’ पद २२७ ‘जननी जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधिहुँ सज्यो अवदेरे।’

५. ‘विनय’ पद २७५ ‘द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परिपाई।’

६. ‘कविता०’ उ० छ० ७२. ‘जातिके सुजातिके, कुजातिके, पेटागि बस खाएदूक.....’

७. ‘विनय’ पद २२७

और कालान्तरमे अक्षयवट हो गया । बालक बिना मोलका ही रामका दास हो गया; उसे अपने भाग्यमें रामनाम ही की ओट मिली ।^१—इस प्रकार निष्कपट भावसे रामभक्तिकी ओर पैर बढ़ाते जाने और रूखा-सूखा माँगकर खानेसे भी उसे शांतिमय जीवनकी अनुभूति बाल्यकालमें ही होने लगी ।^२ इसमें संदेह नहीं कि संतने दयार्द्र होकर बालकको रामभक्तिका सहारा दिया और उसमें शांतिकी अनुभूति हुई, परंतु इसी संबंधमें यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि बाल्यकालमें ही रामभक्तिके साथ हनुमानकी भक्ति भी इस बालकको अतिप्रिय थी । बाल्यावस्थासे ही हनुमानने इसे अपना बना लिया था ।^३ इतना ही नहीं, बाल्यकालसे ही तुलसीदासका कोमल हृदय शिवकी भक्तिकी ओर भी झुका था । इसीलिए इन तीनोंके प्रति उनके हृदयमें अन्ततः अविचल, अटल, अनन्य प्रेम बना रहा । उन्होंने इन तीनोंको ‘साहेब’, ‘सहाय’ और ‘गुरु’के रूपमें देखा और इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य किसी देवको अपनी आराधनाका पात्र नहीं बनाया ।^४

बाल्यावस्थाका कोई और दृश्य उपस्थित करनेके पूर्व बाल्यकालके नामका संकेत भी अंतः साक्ष्यके आधार पर देखिए—

“रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहिबो ।”^५

×

×

×

“रामको गुलाम नाम रामबोला—।”^६

सम्भवतः इन्हें बराबर राम-नाम जपते देखकर लोग रामबोला कहकर पुकारते रहे हों ।

यह रामबोला बाल्यावस्थामें कहाँ-कहाँ बिलबिलाता रहा, इसका कोई अंतःसाक्ष्य नहीं । पर, अनुमान किया जा सकता है कि जहाँ जन्म ग्रहण किया था उसी भूमिमें भारा-मारा फिरता रहा होगा और वहीं किसी रमते साधुने दयार्द्र होकर उसे अपने साथ कर लिया हो । तुलसीदासके बाल्यकालका वह अंश जिसमें उनके हृदयमें रामभक्तिका बीज अंकुरित होकर बढ़ रहा था, गुरुके साथ ‘सूकरखेत’^७में बीता । गुरु उन्हें बार-बार रामकथा सुनाया करते और वे सरल हृदयकी जिज्ञासु वृत्तिसे उसे समझनेकी चेष्टा करते ।^८

इस प्रकार उनका बाल्यकाल गुरुके सभीप राम कथा के श्रवणादिमें व्यतीत होता रहा । श्रवणादिको यहाँ व्यापक अर्थमें लेना चाहिए अर्थात् अध्ययनादि भी इसके अन्तर्गत मानना चाहिए क्योंकि बिना अध्ययनके उन्हें नानापुराण, निगमागमका ज्ञान कैसे प्राप्त होता । इससे स्पष्ट है कि बाल्यकालमें गुरुके पास उन्होंने विद्या एवं रामभक्ति दोनोंके अक्षय भंडार प्राप्त किए । तदनन्तर सम्भवतः जन्मभूमिमें रहे

१. ‘हनुमान बाहुक’ छ० ३८ “हौं तों बिन मोल ही बिकाने बलि बारे तैं ।”

२. वही छ० ४० “बालपने सूधे मन राम सन्मुख भयो.....।”

३. वही छ० २१ “बालक बिलोकि, बलि, बारे तैं आपनो कियो.....।”

४. ‘हनुमान बाहुक’ छ० ४३ ‘सीतापति साहेब, सहाब हनुमान नित, हित उपदेसको महेस मानो गुरुकै ।’

५. ‘कविता०’ उ० छ० १००

६. ‘विनय०’ पद ७६

७. ‘मानस’ बाल० दो० ३०, ‘मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।’

८. ‘मानस’ बाल० ३०१ ।

हों या कुछ कालोपरात रमते फकीर हुए हों। इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका कोई अंतः साक्ष्य नहीं कि गुरुका स्थान छोड़ कर वे किधर बढ़े। हो सकता है कि मीधे पर्यटन करनेमें ही लग गये हों। इस विषयमें कुछ और कहनेके पूर्व गुरुके नामका प्रसंग यही समाप्त कर देना चाहिए। कोई अंतःसाक्ष्य नहीं मिलता जिसके आधारपर हम उनके उस महान गुरुका नाम बता सकें जिसने उन्हें 'शूकर क्षेत्र'में राम कथा सुनाई और अमित विद्या-दान दिया। तुलसीदासने अपना असली गुरु किसे माना है यह तो पहले ही संकेत किया जा चुका है। पर व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा-गुरुका नाम उन्होंने नहीं दिया है। विद्वानोंने स्वामी रामानंदकी परंपरासे संबद्ध नरहर्यानंदको तुलसीदासका गुरु माना है। ऐसा करनेके लिए—'वंदउ गुरु-पद-कंज कृपासिंधु नर रूप हरि' के अतिरिक्त और कोई अंतः साक्ष्य नहीं। परन्तु इस संबंधमें 'नर रूप हरि'का नरहर्यानंद अर्थ लगाना मनमाना हो जाता है। वस्तुतः 'नर रूप हरि'से गुरुका श्रेष्ठत्व दिखाना ही अभीष्ट है। न कि नाम निर्देश। गुरु का नाम जाने बिना हम उनकी गुरु परंपराका निर्देश कैसे कर सकेंगे, इस कठिनाईसे बचनेके लिए नरहर्यानंदको तुलसीदासका गुरु मान लेना उचित नहीं। वस्तुतः उनकी मान्य गुरु-परंपरा क्या थी उसका निर्देश दशमी ग्रंथमें आगे 'तुलसीकी प्राचीन परंपरागत भक्ति' शीर्षक परिच्छेदके अन्तर्गत 'गुरुपरंपरा'में विस्तार पूर्वक दिखाया गया है।

तुलसीदास अपने गुरुके यहाँसे कब और किस अवस्थामें निकले और कहाँ गये? इन प्रश्नोंका समाधान करनेके लिए कोई अंतः साक्ष्य नहीं। हाँ, अनुमान भले ही किया जा सकता है कि गुरुके घरसे लौटनेके अनन्तर वे अनियत वर्षांतक चाहे तीर्थस्थलोंमें घूमते रहे हों चाहे गार्हस्थ जीवन ही बिताते रहे हों। उनके गार्हस्थ जीवन बितानेको भी हम अंतःसाक्ष्यसे प्रमाणित नहीं कर सकते जैसा कि कुछ लोगोंने 'बाहुक'^१ की एक पंक्ति और 'दोहावली'^२के एक दोहेसे करना चाहता है। वस्तुतः इस विषयपर बाह्य साक्ष्य के आधारपर ही विचार हो सकता है। अतः इसकी चर्चा आगे यथास्थानपर होगी।

तुलसीदासके जीवनचरितमें जिन स्थानोंको महत्वपूर्ण स्थान मिला है और जिनकी पुष्टि अंतः साक्ष्योंसेकी जा सकती है, उनका उल्लेख भी हो जाना चाहिए। सं० १६३१ में तुलसीदास अपने उपास्य रामकी जन्मभूमि अयोध्यामें विराजमान थे। वहीं राम नवमीके अवसरपर रामके चरणोंमें सिर झुका कर 'रामचरित मानस'की रचनाका प्रारम्भ कर रहे थे।^३ इससे इतना तो निर्विवाद है कि वे—अयोध्यामें भी रहते थे।

काशीसे तुलसीदासका संबंध अयोध्यासे भी अधिक रहा है। तभी तो उनके काशीसे संबद्ध जीवन-पर प्रकाश डालने वाले यथेष्ट अंतःसाक्ष्य उपलब्ध हैं। काशीमें वे गंगाजीके किनारे कहीं बाबा विश्वनाथकी शरणमें रहते थे। देखिए—

“देवसरि सेवौ बामदेव गाँउ रावरे ही।”

×

×

×

१. यही ,, मंगलाचरण सोरठा ५।

२. दे० 'बाहुक' छन्द ४०।

३. 'दोहावली' दो० २५५।

४. 'मानस' बा० ३३.४, ५।

५. 'कविता०' उ० छ० १६५।

“चेरो राम रायके, मुजस सुनि तेरो, हर !,
पाँइतर आइरह्यौं सुरसरि तीर हौं ।”

उस ‘सुरसरितीर’के नामका पता अंतः साक्ष्यसे नहीं चलता । अतः उसका निश्चय बाह्य साक्ष्यके आधारपर किया जायेगा । काशीमें तुलसीदासका आगमन कब हुआ यह भी जिज्ञास्य है । सं० १६३१ में वे अयोध्यामें विद्यमान थे, इसलिए उसके बाद ही उन्होंने काशीमें पदार्पण किया होगा । कितने दिन बाद आये इसकी निश्चित तिथि अंतः साक्ष्यके आधारपर नहीं कही जा सकती । ‘मानस’के किष्किंधा कांडका सोरठा—‘जहँ बस संभु भवानि, सो कासीसेइय कस न^३’ सेव्यजित होता है इसके पूर्ववाले तीनों कांडोंको अयोध्यामें समाप्त करके ही वे काशी-सेवन करने आये । इतने रुचिर तीनों कांडोंकी रचना जितने भी वर्णोंमें मान ली जाये, सं० १६३१ के उतने ही समयोपरांत उनका काशीमें आगमन मानना चाहिए । ‘पार्वती मंगल’का रचना-काल उसके अंतः साक्ष्यके आधारपर सं० १६४३ है ।^१ जब ‘मानस’की रचनाका समारंभ सं० १६३१ में अवधमें हुआ और उसके अंतिम चार कांडोंकी समाप्ति काशीमें हुई तब इतना अनुमान तो अवश्य ही किया जा सकता है कि वे काशीमें सं० १६३१ और सं० १६४३ के बीच किसी समय आये और तदनन्तर स्थायी रूपसे यहीं रहे । स्थायी रूपसे रहनेकी तिथि-निर्देशके मेरे इस अनुमानका अभिप्राय यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह समय उनका आद्य काशी आगमन सूचित करता है । प्रारम्भिक काशी-आगमन कब हुआ ? यह नहीं बताया जा सकता । ‘रामाज्ञा प्रश्न’के रचना कालके अंतः साक्ष्यपर एवं उसमें प्रयुक्त ‘गंगा राम’ नाम देखकर कुछ विद्वान उनका काशी-आगमन काल सं० १६२१ के पहले मानते हैं ।^४ हो सकता है कि इस तिथिके पूर्व वे बतौर यात्रीके काशी आये हों ।

किसी स्थान विशेषके व्यक्ति किसी नवीन आगन्तुकको अपने बीच देख यां ही चौंकते हैं और यदि आगन्तुकमें कुछ निरालापन हुआ तो फिर कहना ही क्या । तुलसीदासके काशी-आगमनके अवसरपर कदाचित् ऐसा ही हुआ । उनकी उदार रामभक्तिको रुढ़िवादियोंने और का और ही समझा । फलतः उनके विषयमें लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हुई—कुछ लोगोंने उन्हें ‘कुसाज’-कर्त्ता समझा, अन्य लोगोंने भारी ‘दगावाज’ तक कह डाला और कुछ विचारशीलोंने रामका खरा भक्त ही माना ।^५ इस प्रकार काशीके लोगोंने अनेक प्रवाद फैलाए, पर उनका हृदय विचलित नहीं हुआ । वे अपने भक्ति-मार्गपर डटे रहे । रामनामके अमृतसे अपनी तृप्ता शांत करते हुए काशी-सेवन करते ही रहे । ‘माँगि कै खैयो मसीतको सोइयौ’^६ वाली स्थितिसे भी परितुष्ट रहे । इतनेपर भी काशी वालोंसे नहीं रहा गया । वे इस निश्चल, शांत महात्माको उद्वासित और पीड़ित करनेके लिए उसके समक्ष तरह-तरहके संघर्ष और विरोध उपस्थित करनेमें भी नहीं चूके । अस्तु, काशीमें तुलसीदासको जिन विविध प्रकारके संघर्षोंका सामना करना पड़ा उनपर प्रकाश डालनेके पूर्व उनके मूल कारणोंको समझ लेना चाहिए ।

१. वही ,, ,, १६६ ।

२. ‘मानस’ किष्कि० मंगला चरण ।

३. दे० ‘पार्वती मंगल’ छ० ३ ।

४. ,, ‘ना० प्र० प०’ भाग १९, पृ० ३१५ ।

५. ‘कविता०’ उ० छ० १०८ ‘कोऊ कहै करत कुसाज’ ।

६. वही ,, ,, १०६ ।

काशी शिवकी पुरी होनेके नाते सदासे शैवोंकी गढ़ी रही है। अनेक पंथी भी अपने-अपने घोंसले यही लगाकर रहते चले आये हैं। शैवोंके जोड़का दूसरा सम्प्रदाय वैष्णवोंका है: वह भी काशीका सेवन बहुत कालसे करता चला आ रहा है। एक वनमें दो सिंहोंके रहनेपर शांति कैसी? हाँ, छोटे-मोटे जीव भले ही इधर-उधर रह सकते हैं। यही दशा काशीमें थी। सिंहवत् शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंमें संघर्ष चला करता था। ऐसे ही अवसरपर बाबा जी भी अपनी शोली लिए पहुँचे। इनकी रामभक्तिके नामसे ही शैवोंने इन्हें वैष्णव मान कर इनका तिरस्कार किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त वैष्णवोंने भी इनकी शिवमें दृढ़ आस्था देख कर और रामभक्तिका विशेष उदार स्वरूप पाकर इन्हें टोंगी समझा हो तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। 'देव भापा'को छोड़ कर 'भाखा'में भगवान्‌का चरित्र लिखना भी कट्टर पंडितोंके विरोधका कारण हो सकता था। अन्य पंथियोंने इन्हें अपने पंथके संकीर्ण दैरेका जीव न पाकर इनकी उपेक्षाकी हो यह भी सम्भव था। अन्धी जनतामें इतनी क्षमता ही नहीं होती कि वह तुरन्त किसी महान् व्यक्तिके महत् उद्देश्यको समझ ले। इन्हीं कारणोंने तुलसीदासको काशीमें आते ही मान-प्रतिष्ठा नहीं पाने दिया प्रत्युत कुछ समय तक तिरस्कारका लक्ष्य बनाया।

खलोंके द्वारा विरोध तो हुआ ही करते हैं। उसके लिए कोई कारण नहीं दूढ़ना चाहिए। कुछ दुष्ट लोग तुलसीदासको अवश्य तंग करते थे, आँख दिखाते थे; कुचात भी चलते थे। ये दुष्ट कौन थे? हो सकता है कि वे कुछ ईर्ष्यालु या संकीर्ण साम्प्रदायिकताके दोगी लफंगे रहे हों।

शिवके भक्त कहे जाने वालोंमें भी कुछ लोगोंने तुलसीदासको कष्ट पहुँचाया था। सम्भवतः उन लोगोंको आशंका हुई हो कि कहीं रामभक्तिका प्रचार इतना अधिक न हो जाय कि शैव धर्मको भी दबावे लगे, ऐसा सोच कर शिवके उपासकोंने उनका घोरतम विरोध किया और उनके विरोधमें तुलसीदास इतने खिन्न और अधीर हो उठे कि वे काशी छोड़नेके लिए सन्नद्ध हो गये। देविए—

“दीवे जोग तुलसी न लेत काहूको कछुक
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं।
एने पर हू जो कोऊ रावरो हूँ जोर करै,
ताको जोर, देव ! दीन द्वारें गुदरत हौं ॥
पाइकै उराहनो, उराहनो न दीजै मोहिं,
काल-कला कासीनाथ कहे निबरत हौं ॥”

शिवके सेवकोंकी कटोरताका उलाहना 'विनय पत्रिका'में भी दिया गया है।^१ इन उलाहनोंका क्या फल हुआ। इसका कोई अंतः साक्ष्य नहीं। इतना अवश्य अवगत होता है कि इसके बाद भी उन्होंने काशी नहीं छोड़ी। वे निर्भीकतासे अपना धैर्य सँभाल कर समस्त विरोधोंको सच्चे रामभक्तकी भाँति रामके भरोसे सहते रहे। विरोधियोंसे वे तनिक भी भयभीत नहीं थे, उनका दृढ़ विश्वास था कि राम उनकी रक्षा करेंगे। उनके इस दृढ़ विश्वास और निर्भीकताको इस पंक्तिमें देखिए—

१. दे० 'दोहावली' दो० १४४ 'तुलसी रघुवर सेवकहि'...

२. वहीं ,, १४५ 'रावन रिपुके दासतैं'...

३. 'कविता०' उ० छ० १६५।

४. 'विनय०' पद ८।

“कौनकी त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै रामु, तौ मारिहै कोरे ।”^१

ऐसा ज्ञात होता है कि कदाचित् विरोधियोंने उनके प्राणान्त करनेका आयोजन भी किया था,^२ पर सफल नहीं हुए ।

गोस्वामीजीके सहज साधु स्वरूपको न जाननेके कारण कुछ विरोधी उन्हें अपमानित करनेके लिए उनकी जाति-पाँतिको निम्न घोषित करते-फिरते थे । ऐसा अपवाद सुनते-सुनते जब वे विशेष क्षुब्ध हुए तो उन्होंने उन अपवादोंका मुँहतोड़ उत्तर भी दिए—

“धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ।

काहूकी बेटी सों, बेटा न ब्याहब, काहूकी जाति बिगार न सोऊ ॥”^३

उद्धरणमें प्रयुक्त ‘धूत’, ‘अवधूत’, ‘रजपूत’ तथा ‘जोलहा’ शब्दोंसे सूचित होता है कि विरोधियोंने इसी प्रकारका प्रवाद फैलाया होगा कि तुलसी बड़ा धूर्त, है; नीच जातिका है; हो न हां कोई रामानंदी या कबीर-पंथी जुलाहा हो अथवा कोई इतर वर्णका हो किन्तु ब्राह्मण नहीं है । ऐसे प्रवादोंकी अति देख कर तुलसीदासने अपनी लेखनीको कुछ उग्र किया और ‘कवितावली’के कुछ छंदों तथा ‘विनय’के कुछ पदोंमें और भी उत्तर दिए ।^४

प्रश्न उठता है कि जाति-पाँतिको लेकर विरोध खड़ा करने वाले कौन थे ? हो सकता है कि यह ब्राह्मणोंकी करतूत रही हो । ‘मानस’की रचना आदिसे शंकित हो गये हों कि कहीं हम लोगोंका सम्मान तुलसीदासको न मिल जाये और हमारी पंडिताईको धक्का लगे ।

काशीके कुछ गुंडे-बदमाश भी उन्हें सतानेसे नहीं चूके । वे दिनमें तो तंग करते ही थे, रातमें उनकी चोरी कर ले जाते थे; ऐसी परिस्थितिसे खिन्न होकर उन्होंने शंकरकी ऐसी दुहाई दी—

“बासर ढासनिके ढका, रजनी चहुँदिसि चोर ।

संकर निजपुर राखिए, चितै सुलोचन कोर”^५ ।

इन प्रसंगों में इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि काशीने इस महान् आत्माका मूल्य बहुत दिनो-तक नहीं समझा था । तभी तो उन्हें इतने विरोधियोंका सामना करना पड़ा । सत्य-सत्य ही है । ‘सत्यमेव जयते’ । निष्प्रभ ज्योतियाँ मार्तंडको कैसे दबा सकती थीं । कालान्तरमें काशीके भ्रान्त लोगोंने अपनी भूल समझ ली । अपनी करनीपर पश्चात्ताप कर लोग तुलसीदासके चरणोंपर झुके । जिस काशीवालोंने पहले अपमान किया था वे ही बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखने लगे । नीचे कुछ ऐसे अवतरण दिये जाते हैं जिनसे तुलसीदासके सम्मानका पता चलता है—

“रामनामको प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रतापु,

तुलसी-सो जग मनियत महामुनि-सो”^६ ।

×

×

×

१. ‘कविता’० उ० छ० ४८ ।

२. दे० ‘विनय’ पद १३७ ।

३. “कविता०” उ० छ० १०६ ।

४. देखिए वहीं ,, ,, १०७ तथा ‘विनय’ पद ७६ ।

५. ‘दोहावली’ दो० २३९ ।

६. ‘कवितावली’ उ० छ० ७२ ।

“घर-घर माँगे दूक, पुनि सुपनि पूजे पाय ।
जे तुलसी तब राम विनु, ते अब राम सहाय” ॥”

×

×

×

“हौं तौ सदा खरको असवार, तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो ।”

अन्तमें, उनके सम्मानकी वृद्धि यहाँतक हुई कि यह उन्हें खलने लगा । अत्यधिक सम्मान पानेके पश्चात् कदाचित् दर्शनियोकी भरमारके कारण उनके राम-भजनमें विघ्न पड़ने लगा था । यह संकेत ‘हनुमान बाहुक’के कुछ छन्दोसे परिलक्षित होता है । बरतोरकी वेदना होनेके समय उन्हें अपने सम्मानपर भारी ग्लानि हुई थी: उन्हें कुछ ऐसा आभास होता था कि सम्मानमें पड़कर मैंने भक्तिकी कभी कर दी, इसी पापका फल पा रहा हूँ; उन्हें आत्मग्लानि होती थी—‘मैंं लोकरीतिमें पड़ गया, गोसाईं बनकर सम्मानित हो बैठा और दरिद्रताके दिनोंको भूल गया और उसीका दण्ड भोग रहा हूँ’ । ‘मेरे शरीरसे ‘रामराय’का ‘लोन’ बरतोरके वहाने निकल रहा है’ । वस्तुतः वे सच्चे संत थे: अतः उन्हें अपने सम्मानसे अरुचि हाँ गई थी, पर उनका सम्मान उनकी रुचिके विपरीत भी बढ़ता ही गया और उनकी मृत्युके बाद यह और भी बढ़ता जा रहा है ।

काशीमें पूर्ण सम्मान आदि प्राप्त हो चुकनेके बहुत बाद वृद्धावस्थामें किसी समय तुलसीदासके आधिभौतिक शरीरमें बड़ी प्रबल पीड़ा उठी थी, उस ‘कुपीर’से परित्राण पानेके लिए उन्होंने भगवान् भूतनाथसे प्रार्थना की थी । इसका संकेत ‘कवितावली’के दो छन्द तथा ‘बिनय’के एक पदसे मिलता है । उक्त पीड़ा किस प्रकारकी पीड़ा थी इस सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता । उस अनिश्चित पीड़ाके अतिरिक्त उनको बाहु-पीड़ा की भी असीम वेदना सहनी पड़ी थी । इसमें छुटकारा पानेके लिए उन्होंने हनुमान^१ एवं राम^२से बिनती की । पर, यह वेदना अधिक^३ दिनोंतक सहनी पड़ी और उस मार्मिक कथाको उन्होंने हनुमान बाहुकके अनेक छंदोंमें प्रकट करते हुए केसरी किशोरसे बारबार प्रार्थना की है कि वे उस दुर्दान्त पीड़ाका अन्त करें^४ । इस भयंकर पीड़ाके सम्बन्धमें उन्हें यहाँतक विश्वास हो गया था कि ‘कुरोग राढ़ राकशनि’ उन्हें खा गए होते यदि ‘केसरी-किशोर’ बरियाई न बना लेते^५ । अन्तमें, रामकी कृपासे इस पीड़ाका निवारण हुआ^६ । यह दुर्दम्य पीड़ा कब हुई थी इसका कोई अन्त साध्य नहीं, पर इतना

१. ‘दोहावली’ दो० १०९ ।
२. ‘कविता०’ उ० छ० ६० ।
३. दे० ‘बाहुक’ छ० ४० ।
४. वही ,, ४१ ।
५. दे० ‘कविता’ उ० छ० १६१, १६७ ।
६. दे० ‘बिनय’ पद १९५ ।
७. दे० ‘दोहावली’ दो० २३४, २३५ ।
८. वही ,, २३६ ।
९. दे० ‘बाहुक’ छ० २८, ३० ।
१०. दे० ‘बाहुक’ छ० २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ ।
११. वही ,, छ० ३५ ।
१२. वही छ० ३९ ।

अवश्य प्रकट होता है कि इस पीड़ाके समय 'रुद्रवीसी' और 'मीनकी शनीचरी' दोनों ही विद्यमान थीं। भीषण "महामारी" भी रुद्रका रोप अलग प्रकट कर रही थी, गोस्वामीजीने उसे अपने इष्टदेव रामसे शान्त कराया^१। इन तीनों घटनाओंकी तिथियोंका निर्णय विद्वानोंने अपने-अपने ढंगसे किये हैं। अन्तिम घटना का समय (सन् १६१६ या सं० १६२४ है जो ग्रन्थके "तुलसीकी समकालीन परिस्थितियाँ" परिच्छेदमें इतिहासके प्रमाणसे दताया गया है)। 'रुद्रवीसी' और 'मीनकी शनीचरी'का समय ज्योतिषकी गणनाके आधारपर क्रमशः सं० १६६५ से सं० १६८५ तक तथा सं० १६७१ माने गए हैं^५। इस प्रकार सम्बत् १६७१ में मीनके शनि और रुद्रवीसी दोनोंका एक साथ होना सम्भव है। अस्तु, सं० १६७१ में तुलसीदासको भयंकर बाहु पीड़ा हुई थी यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

अन्य व्याधि जिससे तुलसीदासजी अपनी वृद्धावस्थामें आक्रान्त हुए थे वह थी बरतोरकी फोड़िया। इसके कारण वे बहुत ही संतप्त हुए। इस बार भी उन्होंने हनुमान एवं शिवकी अनुगम्य-विनयकी और 'रोगसिन्धु'को 'गायखुर' कर देनेकी याचना की^६। अन्तमें, यह कहकर मौन हो गये कि कोई हर्ज नहीं, मैंने जैसा बोया है वैसा ही काटूँगा^७। इसके अनन्तर कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता जिनके आधारपर कहा जा सके कि वे बरतोरसे स्वस्थ हुए किंवा उसीसे सर्वदाके लिए मौन हो गए।

अयोध्या और काशीमें व्यतीत होनेवाले तुलसीदासके जीवनकी झाँकी जिसकी पुष्टि अन्तःसाक्ष्यसे बिना खींचतानके की जा सकती है, वह यही है। आगे इतर स्थानोंको लीजिए जो उनके जीवनसे सम्बद्ध हैं और जिनपर अन्तःसाक्ष्य विद्यमान हैं। चित्रकूटके प्रति तुलसीदासके हृदयमें बहुत ही उच्च स्थान था। 'रामचरितमानस' "विनयपत्रिका", "कवितावली" और सबसे अधिक 'गीतावली'^८के कुछ मधुर एवं प्रकृष्ट गीतोंको देखनेसे स्पष्ट धारणा होती है कि तुलसीदास चित्रकूटके वातावरणसे पूर्ण अभिज्ञ थे। यदि वे काशीका सेवन इसे शंभु-भवानीका निवास-स्थान माना करते थे तो चित्रकूटको रामका विहार-स्थल जानकर अवश्य सेते रहे। उन्हें चित्रकूटमें परम शान्ति मिली थी—

“अगनित गिरिकानन फिखो, बिनु आगि जखो हौं।

चित्रकूट गए मैं लखी कलिकी कुचाल सब, अब अपडरनि डखो हौं^९॥”

'विनयपत्रिका'की एक पंक्तिसे कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि उनको चित्रकूटमें ही रामकी कुछ विशेष लीला दिखाई पड़ी थी; कदाचित् इन्होंने वही रामके दुर्लभ दर्शन किए—

१. दे० 'कविता' उ० छ० १७०।
२. ,, वही ,, ,, १७७।
३. ,, ,, ,, १८३।
४. दे० माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास' पृ० ११३।
५. दे० 'बाहुक' छन्द ४३।
६. वही ४४।
७. देखिये 'मानस' अयोध्या काण्डका चित्रकूट वर्णन।
८. 'विनय०' पन २३, २४।
९. 'कविता०' उ० छ० १४१, १४२।
१०. 'गीतावली' अयो० गीत ४४, ४६, ४७, ४८, ५०।
११. 'विनय०' पद २६६।

“तुलसी तोकों कृपालु जो कियो कोसल पाल । चिकूचटको चरित चेति चित करि सो ।”

तुलसीदास तीर्थराज प्रयाग भी गए थे, इसका आभास ‘कवितावली’ के कुछ छन्दों में मिलता है। कुछ ‘सीतावट’ वाले छन्दों में अभिव्यक्त होता है कि वे वहाँ भी गए थे। बदरिकाश्रम का चित्रण जिसे हम ‘विनयपत्रिका’ में पाते हैं उससे उनके बदरीनारायण जानेका संकेत मिलता है। अस्तु, उक्त अंतः साक्ष्यों में इतना तो ज्ञात ही होता है कि महात्माजी पर्यटन भी करते रहे।

बाह्य साक्ष्यों से ग्राह्य जीवनवृत्त के अंश

विशुद्ध अंतःसाक्ष्यों पर आधारित गोस्वामीजी के जीवनवृत्त के इस प्रामाणिक, पर, अपूर्ण अंश को संगोपान बनाने के लिए अब कुछ बाह्य साक्ष्यों का सहारा लेकर चलना होगा। बाह्य साक्ष्यों की आधारभूत सामग्री क्या होनी चाहिए। इस प्रसंग में थोड़े से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी कविके जीवन चरित निर्माण के सम्बन्ध में उसके सन्निकट एवं साक्षर्य में रहनेवाले व्यक्तिकी सम्मत विशेष महत्वपूर्ण होती है और जहाँ निकटवर्ती व्यक्तिके द्वारा कोई जानकारी अनुपलब्ध हो, वहाँ समकालीन व्यक्तिकी सम्मत उपादेय होती है; जहाँ समकालीन व्यक्तिके भी कोई जानकारी न प्राप्त हो, वहाँ कविके स्वलिखित किमी प्रकारके पत्र आदि जो जीवन सामग्री प्रस्तुत करने में दूरेपकारक हों उन्हें ही उत्तम कोटिका बाह्य साक्ष्य मानना चाहिए। जनश्रुतियों और अलौकिक चमत्कारों की गणना बाह्य साक्ष्यों की अन्तिम कोटि में करनी चाहिए।

उत्तम बाह्य साक्ष्यों में सर्वप्रथम हमारी दृष्टि नाभादासकी कृति ‘भक्तमाल’ की ओर जाती है। इसका रचना काल सं० १६४२ के बाद माना गया है।^१ नाभाजी सं० १६५७ के लगभग विद्यमान थे और तुलसीदासकी मृत्यु के बहुत दिन पीछे तक जीवित रहे। उन्होंने तुलसीदासके विषय में जो कुछ लिखा है वह उनके ‘भक्तमाल’ के एक ही छप्पय में है। उस छप्पय का आशय यह है कि वाल्मीकि स्वयं तुलसीदास होकर आए और कलिके कुटिल जीवों को भवसागर से पार उतारने के लिए उन्होंने ‘रामचरित मानस’ रूप नौका का निर्माण किया।^२ उस छप्पय से इतना सूचित होता है कि तुलसीदास अपने जीवनकाल में ‘मानस’ रचना करने के उपरान्त बहुत सम्मानित हुए और मानसकी भी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। अंतः साक्ष्य के आधार पर भी दिखाया जा चुका है कि वे वाल्मीकि कहलाते थे। पूर्ण ग्राह्य होते हुए भी यह साक्ष्य इतना संक्षिप्त है कि इससे हमारे कविके जीवन चरितकी पूर्णता नहीं होती। अतः अन्य बाह्य साक्ष्यों की ओर बढ़ना होगा।

‘भक्तमालकी टीका’ इसे प्रियादासने सं० १७६९ में लिखी।^३ उन्होंने भक्तमाल के उक्त छप्पयकी बीज-कथा को अपनी टीका में बड़े कौशल के साथ काफी परिवर्धित करके तुलसीदासके जीवनवृत्त का ऐसा

१. ‘विनय०’ पद २६४।

२. दे० ‘कविता’ उ० छ० १४४-४७।

३. “वही” , , , १३८-४०।

४. ‘विनय’ पद ६०

५. दे० रामचंद्रशुक्ल : ‘हिंदी साहित्यका इतिहास’ (नवीन संस्करण) पृ० १७७

६. ‘भक्तमाल सटीक’ छप्पय २२९ ‘कलि कुटिल जीव निस्तारहित वाल्मीकि तुलसी भयो।’

७. दे० ‘हिन्दी साहित्यका इतिहास’ पृ० १७७

चमत्कारमय खाका खांचा है^१ जिससे बुद्धिवादी कभी सहमत नहीं होंगे, भले ही यथाश्रुत, श्रद्धालु भक्तजन उन घटनाओंको सम्भाव्य मान लें। अस्तु, हम इस टीकामें प्राप्त तुलसीदासके जीवन चरितकी सारी अलौकिकतापूर्ण बातोंको छोड़ उससे छन्द संख्या ५००में वर्णित केवल यह बात ले सकते हैं कि तुलसीदास विवाहित हुए थे और पत्नीमें उनकी तीव्र आसक्ति थी; वे उसे क्षणमात्रके लिए भी अपनेसे पृथक् नहीं करना चाहते थे। स्त्री उन्हें बिना सूचित किए ही पीहर चली गई और मालूम होने पर वे तत्काल ही ससुराल पहुँच गए। लज्जावश आवेशमें आकर स्त्रीने व्यंग वचन कहे उनके हृदयमें प्रभात हो गया। प्रियादासकी टीकासे यह अंश ग्राह्य इसलिए समझा गया है कि लोक भावनाको ठेस न पहुँचे। अभी तकके तुलसीदासके जितने जीवन-चरित लेखक या आलोचक हैं प्रायः सभीने एक स्वरसे स्वीकार किया है कि तुलसीदासने वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था; जनतामें भी यही धारणा बद्धमूल है। इस प्रकार जो बात सर्वमान्य-सी हो गई है उसे अस्वीकार करना उचित नहीं दिखाई पड़ता। वैसे भी जब कविकी रचनाओंमें यह नहीं मिलता कि उसका विवाह हुआ था और न यही मिलता है कि उसने दाम्पत्य जीवन नहीं बिताया था, ऐसे स्थितिमें यदि लोगोंकी धारणा है और उसके माननेमें कोई हानि नहीं तो हम भी क्यों न मान लें कि उसने दाम्पत्य जीवनका उपभोग किया था। जब हम तुलसीदासके गार्हस्थ्य जीवन बितानेकी बात स्वीकार कर लेते हैं तो 'हनुमान बाहुक'की यह पंक्ति—

“परथौ लोक रीतिमें, पुनीत प्रीति राम राय, मोहबस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।”^२

विवाहकी ओर संकेत करती है, यह भी मान लेना चाहिए। यही नहीं, 'दोहावली'के—

“खरिया खरी कपूर सच, ऊचित न पिय ! तिय त्याग।

कै खरिया मोहिं मेलिकै, विमल विवेक विराग॥”^३

का प्रसंग-गर्भन्त्व मी मान्य और रुचिकर प्रतीत होता है। 21,487

‘प्रियादासकी टीका’के चमत्कारोंको आधार मानकर तुलसीदासका जीवन-चरित लिखनेवाले अनेक व्यक्ति हैं;^४ पर जब उनका आधार ही संदिग्ध है तो उनसे कुछ ग्रहण करना बेकार होगा।

‘प्रियादासकी टीका’के पश्चात् हम ‘दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता’की ओर आते हैं क्योंकि यह गोस्वामीजीके समकालीन गोकुलनाथजीकी कृति घोषितकी गई है। पर, विद्वानोंने इसे, इसकी भाषाको देखते हुए गोकुलनाथकी कृति होनेमें संदेह प्रकट किया है।^५ ऐसा लगता है, भक्तोंका गौरव प्रचलित करने और बल्लभाचार्यकी गद्दीकी महिमा प्रकट करनेके लिए यह पुस्तक पीछेसे लिखी गई है।^६ अस्तु, इसमें प्राप्त तनिक-सी सामग्री अग्राह्य एवं विवाद-ग्रस्त समझकर छोड़ी जाती है।

१. ‘भक्तमाल सटीक’ टीका छ० ५००—५१०

२. ‘बाहुक’ छ० ४०

३. ‘दोहावली’ दो० २५५

४. दे० राजा प्रताप सिंह ‘भक्त कल्पद्रुम’ महाराज विश्वनाथ सिंह : ‘भक्तमाल’ महाराज रघुराज सिंह ‘भक्तमाल रामरसिकावली’ इन ग्रंथोंमें अनेक भक्तोंके जीवन वृत्तोंके साथ तुलसीदासका जीवनवृत्त भी लिखा गया है।

५. दे० रामचंद्र शुक्ल ‘हिन्दी साहित्यका इतिहास’ पृ० ४८०

६. ,, वही

समकालीन व्यक्तियोंके निर्देशोंसे जो सामग्री उपलब्ध होती है उसमें भी हमारे कविका जीवन चरित अपूर्ण रह जाता है। अतः रामसामयिकोंके अतिरिक्त अन्य प्राचीन वाच्य साहित्योंकी ओर झाकनेकी आवश्यकता है। इस ओर, सर्वप्रथम, हमारा ध्यान 'गोसाईं चरित' पर जाता है। सबसे पहले इसकी चर्चा शिवसिंह सेंगरने चलाई। उन्होंने 'शिवसिंह सरोज'में इसका ग्राम निवासी बाबा वेणीमाधवदासको गोस्वामी जीका शिष्य तथा 'गोसाईं' चरित'का रचयिता बताया है।^१ सेंगरजीने 'गोसाईं चरित'के विषयमें जो कुछ लिखा है उससे प्रकट होता है कि उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थको नहीं देखा था और न इसके विषयमें उन्हें कोई विशेष जानकारी थी। इसके विद्वानोंने भी ग्रन्थको प्राप्त करनेके लिए काफी प्रयत्न किए पर वे भी सेंगरजीसे अधिक न जान पाए। इस अवस्थामें जबकि 'गोसाईं चरित' स्वयं एक रहस्यवादी ग्रन्थ बना हुआ है तो उससे तुलसीदासके जीवन-चरित निर्माणके हेतु कोई ग्रन्थ अंश या साधन ढूँढ़ना निस्सार ही है।

'गोसाईं चरित'की अप्रामाणिकता नैराश्योंको दूर करनेके लिए हमारे सामने छप्पर पाड़ कर गिरती हुई निधिके समान बाबा वेणीमाधव दास कृत 'मूल गोसाईं चरित' प्रकट हुआ। इसमें जीवन-चरित-निर्माणकी सभी सामग्री तो है ही, एकसे एक बढ़कर चमत्कार मयी घटनाएँ भी मन्निविष्ट हैं। इसकी ग्राह्य और त्याज्य सामग्री पर विचार करनेके पूर्व इसकी प्रामाणिकता पर किंचित् प्रकाश डालना आवश्यक है। वस्तुतः इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसमें वर्णित चमत्कार सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। ऐसी घटनाएँ या तिथियाँ जिनकी सत्यताकी परीक्षा इतिहास या ज्योतिषमें की जा सकती है, वे कुछ ही अंशोंमें प्रामाणिक ठहरती हैं। उसमें कुछ ऐसी तिथियाँ और घटनाएँ भी हैं जिनकी सत्यता तुलसीदासकी कृतियोंके आधार पर कुछ अंशोंमें असंदिग्ध मानी जा सकती है। इस दशामें ग्रन्थ पूर्ण रूपसे अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। भले ही इसमें प्रयुक्त 'सत्यं शिवं सुंदरम्'से उसकी कलाई खुल जाती हो, फिर भी यह चरित नायककी जीवनीके निर्माणमें कुछ न कुछ उपादेय सामग्री भी प्रदान करता है।

जीवनीमें जन्मतिथि बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है। 'मूल गोसाईं चरित' तुलसीदासकी जन्म तिथि मं० १५५४, श्रावण शुक्ल पक्षकी समीप बताता है—

“पंद्रह सौ चौवन विपै कालिंदीके तीर।

श्रावन सुकला सत्तिमी तुलसी धरे उ सरीर ॥”

यह तिथि गणनासे ठीक नहीं उतरती। यदि ठीक भी उतरती तो भी यह अग्राह्य है क्योंकि इसके अनुसार विचार करने पर 'मानस'की रचनाके समय तुलसीदासकी अवस्था सतहत्तर वर्ष ठहरती है। ऐसी अवस्थामें 'मानस' सदृश सर्वरसमय उत्कृष्ट महाकाव्यकी रचना करना कुछ अस्वाभाविक-मा लगता है। अतः जन्म-तिथिके लिए हम और कोई बाह्य साक्ष्य ढूँढ़ेंगे।

गोस्वामीजीकी निधन तिथि 'मूल गोसाईं चरित'में यों दी गई है—

‘संवत सोरह सौ असी, असी गंगके तीर।

साँवन स्यामा तीज सनि, तुलसी तजेउ मरीर ॥”

यह तिथि ज्योतिषकी गणनासे ठीक उतरती है और इसी तिथिको टोडरके वंशज अब तक गोस्वामी जीके नाम पर सीधा देते हैं।^२ अतः इसकी सर्वमान्यता और ग्राह्यता स्वीकार्य है।

१. 'शिव सिंह सरोज' पृ० ३८९; ३९४।

२. 'मूल गोसाईं चरित' दो० २।

३. 'मूल गोसाईं चरित' दो० ११९।

४. दे० 'रामचरित मानस' सम्पादक विजयानंद त्रिपाठी, भूमिका पृ० ११।

तुलसीदासका बाल्यावस्थाका नाम रामबोला था इसका उल्लेख 'मूल गोसाईं चरित'में है।^१ इस नामका समर्थन अन्तः साक्ष्यसे भी हो जाता है। तुलसीदासके पिताके नामोल्लेख पर 'मूल गोसाईं चरित' मौन है। पर, उसमें माताका नाम हुलसी^२ बताया गया है। इस नामकी पुष्टि तुलसीदासके समकालीन अब्दुरहीम खानखानाके एक प्रसिद्ध अति प्रचलित दोहेके उत्तरार्द्ध "गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सों मुत होय।"^३से भी होती है। 'मानस'की इस अर्जुतली 'रामहि प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसीदास हित दिय हुलसी सी।'^४में भी माताके हुलसी नामका संकेत मिलता है।

'मूल गोसाईं चरित'के अनुसार तुलसीदासका जन्म-स्थान राजापुर^५ ग्राम है जो यमुनाके किनारे स्थित है। गोस्वामीजीकी जन्म-भूमि राजापुर ही है इसे और भी कई बाह्य साक्ष्य प्रमाणित करते हैं, अतः इस प्रसंगमें कुछ विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

'मूल गोसाईं चरित'का जो रूप हमारे सामने उपस्थित है उसमेंसे कुछ बातें जो असंदिग्ध और प्रमाण युक्त हैं उनका इतना उपयोग करके अब हम अन्य साक्ष्योंकी ओर बढ़ते हैं।

एक परिकल्पित बृहत्काय 'तुलसी चरित' जिसके रचयिता गोस्वामीजीके शिष्य कोई बाबा रघुवर-दास घोषित किए गए थे और जिसके कुछ अंश 'मर्यादा'में छपे थे उसकी कैफियत हासास्पद है। इस ग्रंथका अस्तित्व रहा कि नहीं इसे राम जानें, किसीने उसे देखा नहीं। ऐसी प्रतीति होती है कि 'तुलसी-चरित'के नामपर कुछ लोग एक जाल बनाना चाहते थे, पर वह बन न सका। विचारशीलोंने ताड़ लिया कि 'तुलसीचरित' कोई ग्रंथ ही नहीं है। भविष्यमें कहीं वह समूचा निकल न पड़े इसीसे 'मर्यादा'में छपे उसके अंशको सभीने एक स्वरमें अप्रामाणिक घोषित कर दिया। यहाँ भी ऐसे पूर्ण संदिग्ध अंशसे कुछ भी नहीं ग्रहण किया गया है।

हाथरसवाले तुलसी साहिब के 'धृतरामायण'से प्राप्त कुछ सामग्री हमारे कामकी है। अतः उसे देखना चाहिए। तुलसी साहिबका रचना काल सं० १८१७-१९ माना गया है।^६ 'धृतरामायण'में उन्होंने दिया है कि पूर्वजन्ममें मैं ही तुलसीदास था। उस जन्मान्तरकी एक अपूर्ण जीवनी भी दी है।^७ उस जन्ममें तुलसी साहिब तुलसीदास रहे हों या न रहे हों इस पर तर्क-वितर्क करनेकी आवश्यकता नहीं। पर हम जन्ममें अपने पूर्व जन्मकी जीवनी लिखते समय उन्होंने अवश्य कुछ छान-बीनकी होगी। ऐसा न भी किया हो तो भी पुरानी बातोंका मूल्य कुछ न कुछ अवश्य है। अतः तुलसी साहिबके पूर्व जन्मके आत्म-चरितसे यह अंश ग्राह्य है—

“राजापुर जमुनाके तीरा। जहँ तुलसीका भया सरीरा ॥
बिधि बुंदेलखंड वोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा ॥
संवत पंद्रासै नावासी। भादौ सुदी मंगल एकादसी ॥
भया जन्म सोइ कहाँ बुझाई। बाल बुद्धि सुधि बुधि दरसाई ॥
तिरिया बरत भवामन राता। बिधि-बिधि रीत चित्त सँग साथी ॥”

१. 'मूल गोसाईं चरित' दो० ४२।

२. वही ” १३।

३. दे० 'मूल गोसाईं चरित' दो० १६, ७।

४. क्षितिमोहन सेन : 'मिडिल मिस्ट्रीसिज्म आन्ड इंडिया' पृ० १६०-६१।

५. दे० 'धृतरामायण' भाग २ पृ० ४१४-४१८।

६. वही पृ० ४१५।

यमुना-तटका राजापुर ही गोस्वामी जी जन्मभूमि है, इसका समर्थन तो यह अवतरण कर ही रहा है, साथ ही जन्म-तिथिका जो निर्देश इसमें मिल रहा है, उसकी उपादेयता और निर्वाध है। ज्योतिषकी गणनाके अनुसार यह तिथि पूर्ण रूपसे शुद्ध उतरती है। अतः यह जन्म-तिथि सर्वथा मान्य है। सांगण यह कि तुलसीदासका जन्म सं० १५८०, भादों सुदी एकादशी, दिन मंगलवारको हुआ। सर जार्ज ग्रियर्सनने जन श्रुतियोंके आधार पर सन १५३२ ई० (सं० १५८९) से गोस्वामीजीका जन्म ग्रहण करना माना है।^१ प्रायः अन्य लोगोंको भी यही मान्य है। 'वटगमायण'में इसकी प्रामाणिकता और भी बढ़ जाती है।

महाराष्ट्री कवि मोरो पंत-कुत 'तुलसीदास स्तव' भी ध्यान देने योग्य है। इसके रचनाकारका समय सं० १७८९-१८५१ है। इस स्तवकारने ग्रंथमें तुलसीदासकी जीवनी न लिखकर वस्तुतः उनकी प्रशस्तियोंको छन्द बद्ध किया है। नाभादासकी भाँति मोरो पंतने भी तुलसीदासको वाल्मोक्तिका अवतार माना है। उनके विषय में विविध चमत्कारोंका भी उल्लेख किया है। इसमें कोई विशेष ग्राह्य अंश नहीं दृष्टिगत होता। इसके आधार पर इतना तो दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि तुलसीकी कीर्तिकी काचनाम किरणें महाराष्ट्रमें भी प्रसरित हुई।

तुलसीदासकी स्वलिखित सामग्रीसे जीवन चरित निर्माणका जो उपादान उपलब्ध होता है उसमें सं० १६६९ का लिखा हुआ पंचायतनामा विशेष उल्लेखनीय है। आज-कल यह काशिराजके निजी संग्रहमें है। पहले यह टोडरके उत्तराधिकारियोंके पास था। इस पंचायतनामके अनुसार टोडरके दिवंगत होनेके पश्चात् उनकी सम्पत्तिका बँटवारा उनके उत्तराधिकारी बेटे और पोते के बीच हुआ था। पंचायतनामकी प्रथम छह पंक्तियों तुलसीदासकी लिखी हुई है। उक्त पंचायतनामके आधार पर यदि हम कहें तो अनुचित न होगा कि गोस्वामीजीसे टोडरकी मैत्री अवश्य थी उसीके नाते कर्त्तव्य समझ कर उन्होंने पंचायतनामा लिखा अन्यथा एक विरक्त महात्मा किसीके धरेलू झमेलोंमें क्यों पड़ता। गोस्वामीजीकी निधन तिथिके दिन टोडरके वंशजोंका सीधा देना भी सूचित करता है कि बाबाजी टोडरके कुलके बड़े हितैषी थे। टोडरकी मृत्युके उपलक्ष्यमें तुलसीदासके जो चार दोहे प्रचलित हैं उन्हें एक प्रकारकी प्रामाणिकता मिल जाती है टोडरका यह अस्ती पर था, इससे तुलसीदासका अस्ती घाट पर रहना भी लक्षित होता है।

गोस्वामीजीकी महत्वपूर्ण हस्तलिपि है—'रामचरित-मानस'के अयोध्याकांडकी राजापुरवाली एक प्रति। इस प्राचीन प्रतिमें रामकी प्रयाग-यात्राके पश्चात् मार्गमें जो एक अद्भुत तपस्वीकी कथा वर्तमान है उसे क्षेपक कह कर ढाला नहीं जा सकता। वस्तुतः कविने यह कथा साभिप्राय लिखी है, इसकेद्वारा उसने राजापुरको अपनी जन्मभूमि होनेका प्रकारान्तरसे संकेत किया है। किसी संस्कृत रामायणमें अलौकिक तापसकी कथा नहीं मिलती। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसीदासकी प्रतिमाने उनसे अपनी जन्मभूमिमें विचरण करते हुए स्वामीके सन्मुख आकर चरण-रज लेनेके लिए उक्त कथाकी उद्भावना कराई। गोस्वामीजी—जैसे विराटकल्पना कुशल कविको ऐसा प्रसंग उपस्थित करनेमें क्या देर थी, अविचल, अनन्य प्रेमवश उन्होंने अपनेको इष्टदेवके चरणोंमें डाल ही तो दिया—

१. दे० 'जरनल आव् दी रायल एशियाटिक सोसायटी' १९०३ पृ० ५४०।

दे० 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग २ पृ० १४७०।

२. रामचन्द्रकाटे : 'सरस्वती' जिल्, १९५० ३७।

“सजल नयन तनु पुलक निज इष्टदेव पहिचानि ।
परेउ दण्ड जिमि धरनि तल, दसान जाइ बखानि ॥”

तापस अपना परम प्रेम अपने इष्टदेवके चरणोंमें अर्पित करनेके लिए एकाएक आता है। कब जाता है, किधर जाता है, इसका कोई उल्लेख नहीं। इससे यही आभास मिलता है कि तुलसीदासने ही अपनेको तापस रूपमें इष्टदेवके सामने पहुँचाया है, ठीक अपनी जन्म भूमिके प्रदेशमें।

इस प्रकार अपनेको इष्टदेवके समक्ष उपस्थित करना भी भक्तोंकी एक पद्धति माननी चाहिए। सूरदासको ही लीजिये। बल्लभाचार्यजीसे दीक्षित होनेके अनन्तर वे गोवर्द्धनपर श्रीनाथजीके मंदिरमें कीर्तन किया करते थे। उन्होंने भी अपने इष्टदेवके दर्शनके लिए अपनेको ढाढ़ीके रूपमें नन्दके द्वार पहुँचाया है—

“नन्दू जू! मेरे मन आनन्द भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो ।
तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो ॥”

×

×

×

“जब तुम मदन मोहन करि टेरी, यह सुनि कै घर जाऊँ ।
हौं तो तेरे घरकी ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊँ ॥”

निकृष्ट कोटिके बाह्य साध्य अर्थात् विविध जनश्रुतिओं जिन्हें आधार मान कर जीवनवृत्त पूर्ण बनाया जाए, उनके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे संग्रहका कार्य तो कुछ लोग कर ही चुके हैं। मैं जनश्रुतियोंको तीन श्रेणीमें रखकर प्रत्येक श्रेणीकी कुछ चुनी हुई जनश्रुतियाँ जिनकी अवहेलना करना ठीक नहीं, उन्हींका संकेत करना उचित समझता हूँ।

प्रथम श्रेणीकी जनश्रुतियाँ जो कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियोंको लपेटे चलती हैं, उनमेंसे दो-एकको लीजिए। तुलसीदास और रहीम खान-खानाके बीच दोहा पूर्ति करनेका प्रसंग बहुत प्रचलित है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं जो अस्वाभाविक लगती हो। गोस्वामीजी कोमलचित्त तो थे ही, दीन ब्राह्मणके लिए उन्होंने स्वयं दोहेकी एक पंक्ति बनाकर कविता-प्रेमी रहीमसे कुछ दिलाना ही चाहा हो तो कोई असंभव बात नहीं। यदि कविता मर्मज्ञ रहीमने दोहेके पूर्वार्द्ध चरण पर मुग्ध हो कर उत्तरार्द्धकी पूर्ति कर दी हो तो उसमें भी आश्चर्य क्या।

गुणग्राही अकबरने अपने अर्थ सचिव टोडरमलकी सिफारिशके आधारपर तुलसीदासको मनसब देनेकी स्वीकृति दे दी हो और गोस्वामीजी—जैसे लोकमान्यताको अनल समझनेवाले, विरक्त महात्माने उसका तिरस्कार किया हो यह भी अस्वाभाविक नहीं लगता। अतः

“हम चाकर रघुनाथके पटो लिखो दरबार ।
तुलसी अबका होहिगे नरके मनसबदार ॥”

की प्रचलित जनश्रुति भी उपेक्षणीय नहीं क्योंकि—“जगमें गति जाहि जगत्पतिकी, परवाह है ताहि कहा नर की।”

दूसरी श्रेणीमें कुछ ऐसी जनश्रुतियाँ रखी जाती हैं जो कविसे संबद्ध कुछ विशेष स्थानीय, पारिवारिक या समकालीन व्यक्ति विषयक हैं। काशीके चार विशेष स्थानों अर्थात् प्रह्लादघाट, अस्सी, गोपाल मंदिर

और संकटमोचन पर तुलसीदास रह चुके थे। इन चारों स्थानोंमें उनके रहनेके स्मारक भी बताए जाते हैं। गोस्वामीजी काशीमें बहुत समय तक रहे यह तो अंतः साध्योंसे सिद्ध ही है। किन्तु विद्वेष स्थानों पर रहे इसके लिए उक्त चारों स्थानों पर रहनेकी जनश्रुति ग्रहण कर लेनेमें कोई अनौचित्य नहीं।

जनश्रुतिके अनुसार गोस्वामीजीके पिताका नाम आत्मागम दूधे माना गया है। तुलसीदासके सभी जीवन-चरित लेखकोंने इसी नामको स्वीकृत किया है। अतः इसे मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

तुलसीदासके गृह-त्यागका कारण उनकी भार्याका गर्म-स्पर्शा वनन था। यह भी जनश्रुतिकी देन है। परन्तु है ग्राह्य। इसे तुलसीदासके सभी जीवनी लेखकोंने माना है।

काशीके प्रकाष्ठ विद्वान और प्रवर भक्त मधुसूदन 'सरस्वती' गोस्वामीजीके समकालीन थे। इन दोनोंमें भक्ति-विषयक कुछ विचार-विनिमय हुआ था। महात्मा मधुसूदनजीने किमीके पृष्ठने पर गोस्वामीजीकी प्रशंसा में यह श्लोक पढ़ा था—

“आनन्द कानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्ततः ।
कविता मञ्जरी यस्य राम भ्रमर भूपिता ॥”

यह श्लोक दोनों महात्माओंकी घनिष्ठताका भी परिचायक है।

जैन कवि बनारसीदास और तुलसीदासका सत्संग हुआ था। इस सन्धधमें प्रचलित जनश्रुति भी ग्राह्य है, क्योंकि तुलसीदास और बनारसीदास दोनों समकालीन रहे।

नाभादास और सूरदासके साथ गोस्वामीजीका समागम हुआ था, इस सन्धधमें प्रचलित जनश्रुति भी कुछ न कुछ प्रयोजनीय है। भक्तोंका समागम होता ही रहता है, बहुत संभव है उक्त महात्माओंका समागम हुआ हो क्योंकि वे एक ही काल में विद्यमान थे।

मीराबाईने गोस्वामीजीके साथ पत्र व्यवहार किया था, यह जनश्रुति नितान्त निर्मूल टहरती है। यद्यपि मीरा सं० १६०३ तक विद्यमान थी पर तुलसीदासकी अवस्था उस समय मात्र १४ वर्ष की थी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस अल्पावस्था में वे इतने लोकप्रिय हो गये थे कि मीरा उनसे अपने जीवन-मार्गाका निर्णय कराती। मीराके पत्र भेजनेकी स्थिति उनके स्वर्ग-प्रयाणके बहुत पहले रही होगी, उस दशा में तुलसीदास या तो बिल्कुल अनजान बालक रहे हों अथवा उनका जन्म ही न हुआ रहा हो।

तीसरी श्रेणीकी निम्नतम जनश्रुतियाँ, जैसे मुर्दा जिलाना, प्रेत-मिलन तथा ऐसे ही अन्यान्य चमत्कारोंको अग्राह्य समझकर यों ही छोड़ा जाता है, पर उनके विषयमें इतना अवश्य कहा जा सकता है कि तुलसीदासका व्यक्तित्व सामान्य लोगोंकी अपेक्षा बहुत उँचा था—श्रद्धावश लोगोंने महत्त्वप्रदर्शनके लिए नाना प्रकारके चमत्कारोंको उनके साथ जोड़ दिया है।

गोस्वामीजीकी जन्मभूमि तथा उनके ब्राह्मण भेद आदिको लेकर समय-समयपर जो भ्रामक विचार फैले, जिनमें एटा जिलेके सोरों वाली सामग्रीने विशेष रंग दिखाया है उन सबका निर्देश करते हुए,

१. “अस्थि चर्ममय देहमम, तामैं जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति ॥”

२. दे० ‘मिश्रबंधु विनोद’ प्रथम भाग पृ० ३६४।

३. ओझा, ‘उदयपुर का इतिहास’ पृ० ३६०।

विशेष छानबीन करके डॉ० माताप्रसाद गुप्तने अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास' में जो विचार व्यक्त किये हैं वे माननीय हैं। अतः उक्त अग्राह्य सामग्रीके विषयमें कुछ चर्चा करना व्यर्थ है।

साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवनी की झँकी

आजके समीक्षकोंकी दृष्टि किसी कविकी भौतिक जीवनीके पीछे आवश्यकतासे अधिक हँसान रहती है। यद्यपि ऐसा प्रयास उपेक्षणीय नहीं तथापि उसे इतना महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः कोई कवि अपनी भौतिक जीवनी के कारण अमरत्व नहीं पाता प्रत्युत वह अपने उदात्त साहित्यिक एवं मनो-वैज्ञानिक जीवनवृत्तके बलपर शाश्वत कीर्तिका अधिकारी होता है। कविकी भौतिक जीवनी उसकी कृतियों की समझने में गौण साधन होती है, इसके विपरीत उसकी साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक जीवनी उसकी कृतियोंके रहस्योद्घाटनका प्रमुख अंग है। कवि अपने रमणीय काव्योद्घानका आरोपणकर उसे संसारको समर्पितकर स्वयं यह धराधाम छोड़कर चला जाता है, उस समय हमारी दृष्टि उसकी साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवनीमें ही रमती है, हमें उसकी भौतिक जीवनीके परिज्ञानका संकल्प भी नहीं होता। कविकी कृतियोंमें ओतप्रोत उसकी जीवनी ही चिरंतन होती है। इसके विश्लेषण मात्रसे हम उसके व्यक्तित्व, उसके आदर्श किबहुना उसके पूर्ण चरितका साक्षात्कार करते हैं। महान् साधु कवि अपनी भौतिक जीवनीका परिचय देना हेय समझकर भले ही उसे गुप्त रखनेमें सफल हों, पर साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक जीवनी तो छिपानेकी इच्छा रखनेपर भी नहीं छिपती। कविकी कृति उसके हृदयका प्रतिबिम्ब है। उसमें उसकी स्वभावगत विशेषताएँ, उसके अन्तर्मनकी दशाएँ, उसके चारित्र्यके नमूने आदि भी प्रच्छन्न रूपसे समाविष्ट रहते हैं। उन्हें ढूँढ़ निकालना विवेकी सहृदयका काम है।

साहित्य-निर्माणमें कविका जो जीवनांश समर्पित होता है उसे हम उसकी साहित्यिक जीवनीकी संज्ञा दे सकते हैं। हमारे कविकी काव्य-प्रतिभाकी ज्योतिकी प्रस्फुटित करानेवाला वातावरण बड़ा ही मनोरम एवं मनोनुकूल था। वाल्यकालमें ही सौभाग्यवश उसने इस इष्ट वातावरणको पा लिया था। यद्यपि अन्धे संसारने उसे वाल्यकालमें अनाथ होनेपर भीख माँगनेका ही रास्ता दिखाया था, पर उसके भाग्यने उसे ऐसे गुरुका द्वार दिखाया जहाँ उसकी काव्य-प्रतिभाके बीजको उगाने और विकसित होनेका यथेष्ट सुअवसर मिला। गुरुने अपने अमित वात्सल्यके प्रभावसे बालकके हृदयको विशाल कोमलताका थाला बना दिया। यह बड़ी ही स्वाभाविक बात है कि जिस बालकको नित्य ही पेट भरनेके लिए झिझकार और फटकार सुननी पड़ती हो उसे यदि कोई जरा-सा भी प्रेम दिखाते हुए ठुकरा दे तो वह दाताके प्रति नैसर्गिक कृतज्ञतासे गद्गद् हो उठेगा। भले ही बार-बार ठुकराये जानेसे उसकी कोमलताकी भावना दबी पड़ी हो, किन्तु उस दयालु सहृदय दाताके प्रति वह उसी क्षण अवश्य कोमल कल्पना करेगा। ऐसी ही बात बालक तुलसीदासके साथ हुई। गुरुका सान्निध्य और वात्सल्य प्राप्तकर इनके वाल्यकालके माता-पिताके प्रति अचरितार्थ अतएव सुप्त प्रेमभाव सजग हो उठे और बालकने गुरुको ही अपना अनन्य आश्रय पाया। दूरदर्शी गुरुने बालककी लगन और उसमें प्रतिभाका अंकुर देखकर उसका संस्कार ही कुछ ऐसे ढंगसे किया कि वह आगे चलकर अपनी प्रतिभाकी पराकाष्ठाका प्रदर्शन कर सका। इस कार्यके लिए शास्त्रोंमें पारंगत करना आवश्यक था। अतः गुरुने शिक्षा तो दी ही साथ ही भगवानके विशेष स्वरूप रामकी कथाका प्रबल संस्कार भी वाल्यकालमें ही इनके हृदय-पटलपर अंकित कर दिया। इस प्रकार तुलसीदासकी साहित्यिक जीवनीका प्रादुर्भाव गुरुके पाससे ही रामकथाको लेकर होता है और अन्ततः यही रामकथा उनकी साहित्यिक कृति बनी रहती है। इसी रामकथाके प्रति अनन्य प्रेम तथा उसकी अन्तु

अभिव्यञ्जना शैली जो उनकी साहित्यिक जीवनीकी आधारशिला है, उसे कौन भुला सकता है ? प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक वाल्टर रैलेने अपने ग्रन्थ 'मिल्टन' में महाकवि मिल्टनके सम्बन्धमें कहा है—'मिल्टन अपने गद्य तथा पद्य दोनोंमें अपने जीवन भर वहीं वाच्यकालका एक ग्रामीण चरवाहा (Un Couth Swain) बना रहा ।' ठीक इसी प्रकार तुलसीदासकी साहित्यिक जीवनीके आधारपर कहा जा सकता है कि वे भी आजन्म एकमात्र वही राम-गुण-गायक बने रहे जो वाच्यकालमें थे । इस राम गुण-गान को सर्वोत्कृष्ट रूपमें अभिव्यक्त करनेके लिए तुलसीदासको प्राचीन संस्कृत-साहित्यका गम्भीर अध्ययन करना पड़ा जैसा कि 'मानस'से स्वयंसिद्ध है । तुलसीदासकी साहित्यिक जीवनी उनके मेधावी होनेके साथ उनके अगाध पाठित्य का भी संकेत करती है । वह यह भी स्पष्टतया लक्षित करती है कि उनकी प्रतिभाका विकास रामकथाके वेरमें ही उत्तरोत्तर होता रहा । 'रामलला नहछूँ', 'वैराग्य संदीपिनी', 'रामाज्ञाप्रबन्' प्रभृति रचनाएँ उनकी प्रतिभाके प्रभात कालकी सूचना देती हैं । इसके अनन्तर यही प्रभात 'मानस'के रचनाकालतक पूर्ण उत्कर्षको प्राप्तकर ज्योतिमान हो उठा है । प्रतिभा-विकासके साथ ही उनके व्यावहारिक अनुभवका विकास भी उनकी साहित्यिक जीवनीसे प्रतिपादित होता है । उनके जीवनका वह टोम व्यावहारिक ज्ञान, उनका वह कला-प्रदर्शनका पांडित्य जो 'मानस', 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली', 'विनयपत्रिका' आदिमें अवगत होता है वह अविकसित कालकी रचनाओंमें नहीं । उनकी साहित्यिक जीवनीसे यह भी प्रकट होता है कि यह महात्मा अपने कालके प्रभावसे स्वयं विमृष्ट नहीं हुआ किन्तु उसने अपनी सामयिक विपमताओं के उच्छेदका साधन भी मधुर रामकथा को ही समझा ।

रामकथाके भीतर तुलसीदासकी जिन चारित्रिक विशेषताओंके दर्शन होते हैं वे भी विचारणीय हैं । यद्यपि महाकवि अपनी व्यापक अनुभूति और प्रतिभा के सहारे सद्, असद्, दिव्य, अदिव्य, लौकिक, अलौकिक सभी प्रकारकी बातें दिखाता है, पर इन सबके आधारपर उसकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करना टेढ़ी खीर है । ऐसा होते हुए भी इतना तो निर्विवाद है कि कलाकार जिन पात्रोंके चित्रणमें सर्वोच्च समानभूति प्रकट करता है उनके चरित्रमें उसका (कलाकारका) व्यक्तित्व भी प्रतिबिम्बित हो उठता है । इस दृष्टिको अपनाकर हम इस निष्कर्षपर आते हैं कि तुलसीदासकी अनन्य समानभूति रामके प्रति है । अतः उनकी चारित्रिक विशेषताएँ रामकी विशेषताओंके प्रकाशमें अधिकांश देखी जा सकती हैं । यही नहीं, रामके भक्तोंके चरित्रके साथ भी तुलसीदासके व्यक्तित्वका तादात्म्य है । कहीं-कहीं कविके स्वतन्त्र विचारोंसे भी उसकी कोई न कोई चारित्रिक विशेषता झलकती है ।

गोस्वामीजीके चरित्रकी सर्वप्रधान विशेषता है उनकी रामोपासना इससे बढ़कर वे किसी अन्य देवकी उपासना नहीं मानते । उन्हें सर्वकालमें अपनी रामोपासनापर गर्व रहा । देखिये—

राम ! रावरो कहावौं गुन गावौं राम राव रोई,
रोटी द्वै हौं पावौं राम ! रावरी ही कानि हौं ।
जानत जहान, मन मेरे हूँ गुमान बड़ो,
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं ।^१

'मानस'में भक्त-शिरोमणि शंकर, शेष, नारद, शारद, ऋषि, मुनि, देव, जँच, नीच सभीने एक स्वरमें रामोपासना को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हुए रामके चरणोंका अनुराग ही च्वाहा है । इससे स्पष्ट है कि तुलसीदासकी व्यक्तिगत रामोपासनाकी प्रवृत्तिका रंग सबपर चढ़ा है । वे सारे संसारको रामोपासनाका

आश्रय ग्रहण कराना चाहते हैं। 'मानस' और 'विनयपात्रिका' दोनों ही ग्रंथ उनकी इस कामनाको डंकेकी चोट प्रकट करते हैं। 'कवितावली' के उत्तर काण्डके अनेकानेक कवित्त और सवैया छन्दोंमें भी बड़े जोरदार शब्दोंमें रामोपासनाकी सर्वश्रेष्ठता बताई गई है और रामके प्रेममें डूबे हुए भक्तोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है तथा रामके स्नेहसे पराङ्मुख लोगों की भयंकर कुत्सा करनेके उपरान्त कहा गया—

“जरि जाउ सो जीवनु, जानकी नाथ ! जियै जगमें तुम्हारे बिनु हैं।”

लोक अपने हितैषी तुलसीदासके कथनानुसार रामप्रेमको ही सार माने, न माने यह उसपर निर्भर करता है, पर मनस्वी तुलसीदासके मतसे संसारमें जीवन धारण करनेका फल यही है। देखिए—

“सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिउँ पुनि रामहिंको थलु है ॥
मति रामहिं सों, गति रामहिं सों, रति रामहिं सों, रामहिंको बलु है।
सशकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जगजीवनको फलु है” ॥”

तुलसीदासके चरित्रका, उनके व्यक्तित्वका सबसे प्रबल पक्ष यही है।

लोक-वेदकी मर्यादाके प्रति अनन्य आस्था और विश्व-कल्याणकी कामना तुलसीदासके चरित्रकी अन्य विशेषताएँ हैं। जब उनके उपास्य ही इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए अवतीर्ण होते हैं तो इनका व्यक्तिगत चरित्र इन गुणोंसे क्यों न भूषित होता। रामका प्रण है—

“धरमके सेतु जग-मंगलके हेतु भूमि-भार हरिवोको अवतार लियो नरको।
नीति औ प्रतीति-प्रीति-पाल चालि प्रभु मानु, लोक-वेद राखिवेको पनुः रघुवरको” ॥”

×

×

×

“बन्दउ कौंसिल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग मांची।
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारु। बिस्व सुखद खल-कमल-तुसारु” ॥”

ऐसे 'रघुवर' के अनन्य सेवकके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह लोक-मंगल-कर्त्ता होते हुए वेद, पुराण, शास्त्रादिकी मर्यादाका रक्षक बने साथ ही अपने नीति-नैपुण्यकी, प्रेम और विश्वासकी स्पृहणीय ज्योति भी फैलाए। तुलसीदासके चरित्रमें ये गुण वर्तमान थे। यही कारण है कि उनकी कृतियाँ इन विशिष्ट गुणोंसे अनुप्राणित हैं।

निराकुलता, तितिक्षा और सहिष्णुता गोस्वामीजीकी अन्य स्वभावगत विशेषताएँ हैं। काशीके संपर्कोंकी चर्चा पहले हो चुकी है। यह उनकी सहिष्णुता ही थी कि उक्त सभी संघर्ष उन्हें अपने पथसे रंच मात्र भी विचलित न कर सके। अपने विषयमें नाना प्रकारके प्रवाद सुनकर भी वे अधीर नहीं हुए; उनका चित्त क्षुब्ध नहीं हुआ। देखिए—

‘चहत न काहू सों, न कहत काहूकी कछू, सबको सहत, उर अंतर न ऊब है।’

संत होनेके कारण तुलसीदास जहाँ एक ओर तितिक्षु, निराकुल और सहिष्णु थे, वहीं दूसरी ओर

१. 'कविता' उ० छ० ४०।

१. 'कविता०' उ० छ० ३७।

३. वही ,, ,, १२२।

४. 'मानस' बा० १५.४, ५।

संसारमें जन्मग्रहण करनेके नाते वे अपनी आत्म सम्मानकी उदात्त प्रवृत्तिको रजस रगनेवाले भी थे । तभी तो उन्होंने यों भी कहा है—

“धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जालहा कहौ कोऊ ।
काहूकी बेटीसे बेटा न व्याहव, काहूकी जाति बिगार न सोऊ” ॥^१

अवतरणमें ‘काहूकी बेटीसे बेटा न व्याहव’ निह नही, प्रत्युत आत्मसम्मानकी व्यञ्जना कर रहा है । इसी प्रकारकी व्यञ्जना दूसरी पंक्तिमें देखिए :-

‘मेरे जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको, न हौं काहूके कामकी’ ॥^२

× × ×

और भी—

“अतिही अयाने-उपखानो नहिं वृझैं लोग,
साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको ।
साधु के असाधु, कै भलो के पोच सोच कहा,
का काहूँ द्वार परो जो हौं सो हौं रामको” ॥^३

‘जननी जन्म, भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ की भावनासे भी तुलसीदासका हृदय परिपूर्ण था । यद्यपि ये संसारको बन्धुत्वकी दृष्टिसे देखनेवाले निष्कारणबन्धु थे, फिर भी अपने देश भारतवर्षकी महिमा और गरिमापर उन्हें गर्व था^४ । तुलसीदासकी भारतीयतापर सुग्ध होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्लने बहुत ठीक कहा है—“आज जो हम बहुतसे ‘भारतीय हृदयोंको, चीर कर देखते हैं, तो वे अभारतीय निकलते हैं । पर एक इसी कवि केसरीको भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति-नीतिकी रक्षाके लिए सबके हृदय द्वारपर अड़ा देग्य हम निराश होनेसे बच जाते हैं’ ॥”

तुलसीदास प्रकृतितः निष्कपट, निर्भीक और स्पष्टवादी थे । बड़ेसे बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति उन्हें भयभीत नहीं कर सकता था । रामकी शरणमें जाकर वे पूर्णतया अभयदान पा चुके थे । उनका दृढ़ विश्वास था कि राम जिसकी रक्षा करते हैं उसे कोई नहीं मार सकता । सामान्य मनुष्योंकी कौन कदं, वे कालमें भी न डरनेकी प्रतिज्ञा करते हैं--

‘तुलसी यह जानि हियें अपने सपनें नहिं कालहु ते डरिहैं ।
कुमयाँ कछु हानि न औरन कीं जो पै जानकी नाथु दया करिहैं’ ॥^५

× × ×

१. ‘कविता०’ उ० छ० १०६ ।

२. वही १०७ ।

३. ,, ,, ।

४. दे० ‘कविता०’ उ० छ० ३३ तथा ‘विनय०’ पद १३५ (१) ।

५. ‘तुलसीग्रंथावली’ तृतीय भाग प्रस्तावना पृ० ११६ ।

६. ‘कविता०’ उ० छ० ४७ ।

“कौनकी त्रास करै तुलसी, जो पै राखिहै रामु तौ मारिहै को रे” ॥”

तुलसीदासजी वड़े-वड़े सम्प्रदायियोंकी कृपा-कटाक्ष अथवा उनके मुँह मोड़नेकी तनिक भी परवाह नहीं करते थे। देखिए—

‘कृपा जिनकीं कछु काजु नहीं, न अकाजु कछु जिनकें सुख मोरें ।
करैं तिनकी परवाहि ते, जो बिनु पूँछ-बिषान फिरैं दिन दौरें ।
तुलसी जेहि के रघुनाथसे नाथु, समर्थ सुसेवत रीझत थोरें ।
कहा भवभीर परी तेहिघौं, विचरै धरनीं तिनसों तिनु तोरें” ॥”

रावण सहस्र मंडलीक मणिकी राजसभामें जहाँ वड़े-वड़े देव देवगण भी हाथ जोड़े मुँह ताका करते थे वहाँ अंगदके वाद-विवाद द्वारा रावणका जो अपमान कराया गया है, उससे भी तुलसीदासकी निर्भीक और स्पष्टवादी प्रकृतिका आभास मिलता। उनकी स्पष्टवादिका एक ज्वलंत उदाहरण यह भी है—

‘तुलसी जु पै गुमानको, हो तो कछु उपाउ ।
तौ कि जानकिहिं जानि जिय, परिहरते रघुराउ” ॥”

समस्त गुणोंके आकर अपने इष्टदेवमें भी जरा-सी कमजोरी देखकर उसे कह डालना स्पष्टवादिका नहीं तो क्या है। विभीषण और सुग्रीव रामके पक्के भक्त रहे। इस नाते तुलसीदास उन दोनोंमें बड़ी आस्था रखते थे; भक्तोंकी श्रेणीमें उन दोनोंकी महिमा बार-बार दुहराया है, पर उन दोनोंका विशेष कृत्य इनकी दृष्टिमें घृणास्पद था, इसका संकेत भी इन्होंने अपनी स्पष्टवादिकाके कारण दे दिया है। देखिए—

‘महाबली बालि दलि कायर-सुकण्ठ कपि,
सखा कियो महाराज ! हौं न काहू कामको ।
भ्रातघात पातकी निसाचर सरन आये,
कियो अंगीकार नाथ ! एते वड़े वामको” ॥”

उद्धरणमें रेखांकित पदोंका प्रयोग कविकी स्पष्टवादिकाके ही कारण हुआ है। अपनी इसी प्रकृतिवश उसने राममें एक आक्षेपमय स्थान भी देख लिया था—

‘बंधु बधूरत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि ।
तुलसी प्रभु सुग्रीवकी चितइ न कछु कुचालि” ॥”

उपर्युक्त दोहा यद्यपि प्रभुकी प्रशंसामें ही कहा गया है, पर उससे ऐसा भी प्रतिभासित होता है कि तुलसीदासने आत्मीयता और पक्षपातके फेरमें पड़ गये रामके चरितमें यह आक्षेप-योग्य-स्थान देख लिया था।

तुलसीदासमें उदारता और गुण ग्राहिता भी उच्चकोटि की थी। सद्गुण चाहे शत्रुमें ही क्यों न हो उसके लिए यथेष्ट सम्मान तथा शिष्ट जनोचित उदारता उनके हृदयमें वर्तमान थी; उन्होंने प्रबल शत्रु, अमुर रावणमें भी जो महत्ता देखी उसकी प्रशंसा करनेमें वे तनिक भी नहीं हिचके—

१. ‘कविता०’ उ० छ० ४८ ।

२. वही ४९ ।

३. ‘दोहाबली’ दो० ४२३ ।

४. ‘कविता०’ उ० छ० १४ ।

५. ‘दोहाबली’ दो० १५७ ।

‘वीस बाहु दस सीस दलि, खंड-खंड तनु कीन्ह ।
सुभट सिरोमनि लंकपति, पाछे पाँव न दीन्ह’ ॥’

रणमें पीछे पैर नहीं रखना ही वीरशिरोमणिका मुख्य धर्म है; उसकी महान कीर्ति है। रावणने अंततः पीठ नहीं दिखाई। यही कारण है कि जो तुलसीदास उसकी निशाचरी वृत्तियोंके लिए उसे योग विगर्हणाका पात्र समझते थे, वही एक गुणके नाते उसकी प्रशंसा भी करते हैं।

तुलसीदासकी विशिष्ट रचनाओंमें प्रायः सभी ग्रन्थीन भारतीय धर्मों और सम्प्रदायोंका जो समन्वय दिखाई पड़ता है वह भी उनकी उदारता और गुणग्राहिताका ही परिणाम समझना चाहिए।

ससारसे तटस्थ रहने वाले बड़े-बड़े साधु महात्माओंमेंसे अधिकांश गंभीर और उदामीन प्रकृतिके ही दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामीजी संसारसे निर्लिप्त रह कर पूर्ण गंभीर तथा उदासीन होते हुए भी अपने मरल हृदयके कारण हास-परिहासका भी मूल्य नमझने थे। उनकी विनोदशील प्रकृति उनकी रचनाओंमें कहीं कहीं अपना नाज दिखाती हुई नजर आती है। उनकी हास्यप्रिय मनोवृत्तिके व्यंजक लंद ऐसे हैं कि वे पाठकके हृदयमें मधुर एवं सुखद गुदगुदी पैदा करनेकी श्रमता रखते हैं। ऐसी गुदगुदीमें पाठककी हृदय कालिका खिल उठती है, स्मितहास्य उसके अधरोपर चमक कर अंतर्भूत हो जाता है। अशिष्ट अड्डहास करनेका अवसर नहीं आता। कवि अपने उपास्यकी श्यामताकी कैसी चुटकी ले रहा, यह देखिए -

“गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह ।
देखहु आपन मूरति सियकी छौह’ ॥”

शंकरके गरल-पानकी आदतपर यह छौंटा भी द्रष्टव्य है—

“कैसे कहै ‘तुलसी’ वृषासुरके वरदानि,
बानि जानि सुधा तजि पियन जहरकी’ ॥”

ऋषि-मुनियोंके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हुए भी विनोदी तुलसीदास उनके साथ भी परिहास करनेमें नहीं चूके—

‘विंधिके वासी उदासी तर्पी व्रतधारी महा त्रिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी ‘तुलसी’, सो कथा सुनि भे मुनि वृंद सुखारे ॥
हैं हैं सिला सब चंद्रमुखी परसें पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्ही भली रघुनायक जू! करुना करि काननको पगुधारे’ ॥”

‘मानस’में यत्र-तत्र कुछ देवोंकी कुतूहलपूर्ण सूरतको व्यंगका लक्ष्य करके भी कविने अपनी विनोदशील प्रकृतिका परिचय दिया है। अहल्या जब अपने उद्धारके पश्चात् पतिके साथ जाने लगती है तो विनोदी तुलसीदासने उसे गौनेकी दुलहिन बना दिया है—

“गौतम सिधारे गृह गौनो-सो लेबाइके ।”

१. ‘रामाज्ञा-प्रश्न’ पंचम सर्ग दो० ४७ ।

२. ‘बरवै रामायण’ बा० छंद १७ ।

३. ‘कविता०’ उ० छ० १७० ।

४. ‘कविता०’ अपो० छ० २८ ।

तुलसीदासकी अन्य उत्कृष्ट विशेषता है—उनकी प्रशस्त प्रकृति तथा हृदयकी प्रगाढ़ कोमलता और दीनता। 'विनय पत्रिका' में एकसे एक बढ़ कर ऐसे पद हैं जो इन विशेषताओंको परिलक्षित करते हैं। 'मानस' में प्रायः सभी भक्त पात्रोंकी प्रकृति मानो इन्हीं विशेषताओंके साँचे में ढली है। इसे गोस्वामीजी-के व्यक्तित्वका प्रसाद ही समझना चाहिए।

तुलसीदास 'सादा जीवन उच्च विचार' वाले महापुरुष थे। उनके व्यवहार और प्रेम सभी सीधे-सादे थे; उन्हें बड़ा ही सरल, स्वच्छ और विशाल हृदय प्राप्त था: 'सियाराम मय सब जग जानी' की घोषणा करनेवाले इस महात्माके हृदयमें सबके प्रति स्नेह भरा था, अतः वह सबका सम्मान करता था। उसने स्वयं स्वीकार किया है—

“रामके गुलामनि की रीति, प्रीति सूधी सब,
सबसों सनेह, सब हीको सनमानिये।”

'जो बोओगे वही काटोगे' के अनुसार लोक-हितैषी, तेजस्वी, सबका सम्मान करने वाला व्यक्ति कैसे उपेक्षित रह सकता था। अस्तु, अपने महान व्यक्तित्वके कारण भी तुलसीदास सबकी निगाहोंमें आदरके पात्र हुए।

गोस्वामी उपाधिका मर्म :

तुलसीदासके साथ लगा हुआ 'गोस्वामी' शब्द भी विचारणीय है। यदि यह आलोचकोंके द्वारा प्रयुक्त केवल सम्मान सूचक विशेषण ही होता तो विशेष छान बीन करनेकी आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि उस दशामें यह 'इन्द्रियोंको वशमें करने वाला' महात्माका ही व्यञ्जक होता। तुलसीदास बड़े संयमी इन्द्रिय निग्रही महात्मा तो थे ही, फलतः यह विशेषण सर्वथा उनके योग्य ही ठहरता। परंतु बात कुछ और है। कविकी रचनाओंमें भी इसका विशेष प्रयोग^१ देख कर इसे केवल सम्मानार्थक कह कर नहीं टाला जा सकता। शिवोपासक शैवोंकी एक जाति विशेष जिसके गिरी, पुरी, भारती आदि दस भेद होते हैं, 'गोसाईं' कही जाती है। इन्हीं भेदोंके कारण ये 'दस नामी गोसाईं' कहे जाते हैं। हमें भ्रम वश 'गोसाईं' जातिसे तुलसीदासका संबंध स्वप्नमें भी नहीं जोड़ना चाहिए। अंतः साक्ष्यसे प्रमाणित है कि तुलसीदास ब्राह्मण थे। अतः निर्विवाद है कि तुलसीदासके साथ लगे 'गोस्वामी' या 'गोसाईं' शब्द गोसाईं जातिके बांधक कदापि नहीं हैं।

'गोस्वामी' कुछ सम्प्रदाय विशेषमें दीक्षित होनेके फलस्वरूप प्राप्त उपाधिक भी है! यथा, बल्लभाचार्य कृष्णोपासकोंकी गद्दी आबाद करने वाले आये दिन भी 'गोस्वामी' पदसे भूषित रहते हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्रमें माध्व सम्प्रदायके अनुयायी दीक्षा लेनेपर 'गोस्वावी' बन जाते हैं। यह 'गोस्वावी' 'गोस्वामी' या 'गोसाईं'से भिन्न नहीं। बहुत सम्भव है कि किसी सम्प्रदाय विशेषके प्रसादसे 'गोस्वामी'की उपाधि तुलसीदासको भी मिली हो। ऐसे अनुमानके लिए देखना चाहिए कि तुलसीदासने कृष्णोपासनाके हेतु

1, Plain Living high Thinking.

२. 'कविता०' उ० छ० १६८।

३. दे० 'बाहुक' छ० ३०. "तुलसी 'गोसाईं' भयो थोड़े दिन भूल गयो...परिपाक हौं।" 'कविता०' उ० छ० ८० 'आगेकी 'गोसाईं' स्वामी सब सुजान है.....।' 'विनय०' पद २६३ मेरे भलेको 'गोसाईं' पोचको न सोच...।

उनका कौन-सा स्वरूप ग्रहण किया है। यदि गोस्वामीजी चाहते तो वे बड़े-बड़े भूतलोकों के बीच लोक-व्यस्थाकी रक्षा करने वाले महाभारतके कृष्णका चरित्र भी ऐसे सर्वांगीण रूपमें चित्रित करते कि उसके द्वारा उनकी लोक-संग्रहकी चरमाभिव्यक्ति और जीवनके व्यापकसे व्यापक क्षेत्रकी प्रतिष्ठा हो जाती। परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। 'कृष्ण गीतावली' उन्होंने लिखी अवश्यपर, पर उसमें कृष्णका वही स्वरूप दर्शाया जो पुष्टिमार्गियोंकी उपासनाके अन्तर्गत आता है। 'भागवत'में 'पुष्टि' या 'पोषण' का अर्थ 'भगवान्का अनुग्रह' है (पोषणं तदनुग्रहः' भागवत २।१०)। 'पुष्टिमार्गी' सर्वात्मना आत्म-समर्पण तथा विप्र-योग रसात्मिका प्रीतिकी सहायतासे आनन्द-धाम भगवान्के साक्षात् अधरामृतका पान ही मुख्य फल है। परम रूप-धाम भगवान् श्री कृष्णके मुरारिविंदकी भक्ति पुष्टि भक्ति है। जिज्ञास्य है कि 'कृष्ण गीतावली' के ऐसे साम्प्रदायिक दंगसे प्रणयन करनेका अभिप्राय क्या हो सकता है। इस संबंधमें ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि कदाचित् तुलसीदास कृष्णके लीलाधाम गोकुल पंदावनमें भगवत्प्रेमामृत तरंगिणीके तटपर पहुँचे हों और वहीं बल्लभाचार्यकी पत्नीत कीर्ति पैलाने वाले गोस्वामी विट्ठलनाथजीसे समागम हुआ हो। तत्परिणाम स्वरूप इनकी प्रतिष्ठा आदिके लिए विट्ठलनाथजीने इन्हें 'गोस्वामी' उपाधिसे भूषित किया हो। ये वहींसे पुष्टि भक्तिका संस्कार लिए आये हों और उसीके अनुसार 'कृष्ण गीतावली' की रचना की हो। कुछ लोगोंकी धारणा है कि 'गोसाई' मठाधीशकी उपाधि थी, जो किसी मठके महन्त-को स्वयमेव मिलती थी। आज भी तुलसी-मठका अस्तित्व लोकार्क कुंड अस्सीपर विद्यमान है। हो सकता है कि इस अर्थमें तुलसीदासके साथ 'गोसाई' चल पड़ा हो। पर ऐसा माननेमें भारी संदेह यह होता है कि क्या 'गोसाई' मठाधीशकी उपाधि थी? आज तो मठाधीशको 'महन्त' कहते हैं, 'गोस्वामी' या 'गोसाई' नहीं। दूसरी बात यह भी है कि वैष्णव चतुष्टय-सम्प्रदायान्तर्गत केवल मठाधीश्वर होनेके नाते कोई महानुभाव 'गोस्वामी' उपाधिसे विभूषित नहीं हुए।

द्वितीय परिच्छेद

तुलसीकी कृतियाँ

प्रामाणिक कृतियोंकी संख्या

यद्यपि तुलसीदासकी प्रामाणिक कृतियोंकी संख्या तथा उनके रचनाकाल-क्रमके विषयमें सभी विद्वज्जनोंमें मतैक्य नहीं है तथापि अधिकांश लोग रामायणी परंपराके प्रसिद्ध व्यास स्वर्गीय पं० रामगुलाम द्विवेदीजीके विचारोंसे सहमत हैं। द्विवेदीजीके मतानुसार जो कृतियाँ तुलसी-कृत मानी गई हैं उन्हें निम्नांकित छंद में देखिए—

“राम लला नहछू, त्यों बिराग संदीपनिहु,
वरवै बनाइ बिरभाई मति साईकी।
पारवती, जानकीके मंगल ललित गाइ,
रम्य आज्ञा जिन कामधेनु नाईकी।
दोहा और कवित्त गीत बंध कृष्ण कथा कही,
रामायन विनय माँहि बात सब ठाईकी।
जगमें सुहानी जगदीसहुँके मनमानी,
संत सुखदानी वानी तुलसी गोसाईकी।”

छंदसे बाहर कृतियों स्पष्ट हैं। इनमेंसे रामायण अर्थात् ‘राम-चरित गानन’, ‘कवितावली’, ‘गीतावली’, ‘दोहावली’, ‘विनयपत्रिका’ तथा रामाज्ञा प्रश्न ये छह बड़े ग्रंथ हैं; शेष छह अर्थात् ‘रामलला नहछू’, ‘वैराग्य संदीपिनी’, ‘पार्वतीमंगल’, ‘जानकीमंगल’, ‘कृष्ण गीतावली’ तथा ‘वरवैरामायण’ छोटी रचनाएँ हैं। इन्हीं बारहों ग्रंथोंकी तुलसीकी प्रामाणिक कृतियोंमें गणना की जाती है।

“तुलसी सतसई”की अप्रामाणिकता

कुछ महानुभावोंका आग्रह है कि तुलसीदासकी प्रामाणिक कृतियोंमें ‘तुलसीसतसई’ भी परिगणनीय है। मैं स्वयं भी नहीं चाहता था कि ऐसा चमत्कार और वैदग्ध्यपूर्ण ग्रंथ तुलसीदासके अतिरिक्त किसी और का कहा जाए; पर खेद है, तुलसीदासके रंगमें रँग चुकने पर, उनकी अन्यान्य सभी प्रामाणिक कृतियोंका निरन्तर परिशीलन करनेके उपरान्त उनका जो प्रभाव मुझपर पड़ा उसके आधार पर जब ‘तुलसी-मतसई’की जाँच करता हूँ तो स्वभावतः इसी निष्कर्षपर आता हूँ कि ‘तुलसीसतसई’ गोस्वामीजीकी कृति नहीं है।

अत्यन्त संक्षेपमें, उपर्युक्त निष्कर्षकी पुष्टि करनेवाले कारण भी उल्लेखनीय हैं। तुलसीदासकी इतर प्रामाणिक रचनाओंमें काव्यकी जिस सीधी और हृदय-स्पर्शिनी शैलीका प्रत्यक्षीकरण होता है,

१. यह छंद श्री शिवनंदन सहायने अपने “श्री गोस्वामी तुलसीदासका जीवन-चरित”में पृ० १५९ पर उद्धृत किया है।
२. दे० ‘इन्साइक्लो पेडिया आव् रेलिजन एन्ड मेथिक्स’ भाग १२, पृ० ४७०।

‘तुलसीसतसई’में उसका अभाव है। यदि अन्यान्य रचनाओंमें हृदयके भावांतरेककी व्यञ्जना होती है तो ‘सतसई’में दिमागी कसरत की। हमारा कवि दिमागकी हल्लाकी करके कविता करनेवाला नहीं था। उसके मतसे तो नैसर्गिक सरिता-प्रवाहकी भाँति कविता-प्रवाह भी स्पंदमान् होना चाहिए।

‘सतसई’में ‘दोहावली’के जो पौने दो सौ दोहे सन्निविष्ट हैं, यदि उन्हें ग्रंथसे अलग कर दिया जाय तो शेष दोहोंसे स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि यह गोस्वामीजीकी कृति नहीं है। यदि यह उनकी कृति होती तो क्या इसके रचनाकाल (सं० १६४२)में वे ऐसी निर्बल और निरोज भाषा लिखते। यह हमारी अदूरदर्शिता होगी कि ‘मानस’ जैसे महाकाव्यमें भाषापर पूर्ण अधिकार प्राप्तकर लेनेके अनन्तर ‘सतसई’की-सी लचर और असमर्थ भाषामें रचना करनेका भार उन पर लादे। ‘सतसई’में ऐसे दोहोंकी भरभार है जिनकी व्याख्याके हेतु अध्याहार करते-करते टीकाकारोंके नाकां दम आ गया होगा। ऐसी असमर्थता तो तुलसीदासके दोहोंकी पहचान नहीं है।

नीचे दो-तीन ऐसे दोहे दिये जाते हैं जिन्हें देख कदाचित् ही कोई महाशय स्वीकार करे कि तुलसीदास ऐसे ही लचर भाषा लिखते थे—

“सलिल सुकर सोनित समुद्र, मल अरु असथि समेत ।
वाल कुमार जुवा-जरा हैं सो समुद्र करु चेत” ॥”

×

×

×

‘सरनागत तेहि रामके जिन्ह दिय थी सिय रूप ।
जा पदनि धर उदय भये, नासे भ्रम तम कूप” ॥”

×

×

×

‘जहँ ते जो आयेउ सो है, जाइ जहाँ है सोइ ।
तुलसी बिनु गुरुदेवको किमि जानै कहु कोइ” ॥”

‘सतसई’में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जो गोस्वामीजीकी किसी अन्य रचनानामें नहीं हैं। यथा, ‘तोहरो’ (तुम्हार); ‘वाय’ (वाहि); ‘जगन्न’ (जगत्); ‘कमान’ (सेना); ‘मामिला’, ‘त्रिजिन’ (दुख) आदि। इनके आधारपर भी इसी विचारका समर्थन होता है कि इसका रचयिता कोई और रहा होगा गोस्वामीजी नहीं। ‘सतसई’में ‘कना’ शब्द मकराके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। पं० सुधाकर द्विवेदीने दिखाया है कि उक्त शब्द गाजीपुरका प्रांतिक शब्द है और इनके आधारपर उन्होंने ‘सतसई’ रचयिताको गाजीपुर-निवासी ठहराया है। यही नहीं, पंडितजीने फारसीके ‘ऐन’ ‘गैन’ वर्णोंपर उसकी करामाती कल्पना देखकर उसे कायस्थ जाति का घोषित किया है।

१. ‘तुलसी सतसई’ द्वितीय सर्ग दो० २०५।

२. ‘तुलसी सतसई’ द्वितीय सर्ग दो० १८४।

३. ,, वही ,, ,, १८९।

४. दे० वही तृतीय सर्ग दो० २४२।

५. दे० वही चतुर्थ सर्ग दो० ३९२, ३९३।

६. दे० ‘तुलसी सुधाकर’ पृ० १४।

‘सतसई’ में निरूपित सिद्धान्तोंके आधारपर भी वह तुलसीदासजीकी कृति नहीं कही जा सकती। उसमें जानकी-उपासनाको बहुत प्रश्रय मिला है। तुलसीदासने अपने किसी ग्रंथमें सीताको रामसे पृथक् या प्रधान मानकर उनकी बंदना नहीं की है। सतसईकारने ज्ञान और भक्तिका जो परस्पर संबंध दिखाया है उससे अवगत होता है कि उसने मानको भक्तिमें श्रेष्ठ स्वीकृतकर उसे चरम साध्य ठहराया है। इधर गोस्वामीजीके मतमें भक्ति ही चरम साध्य है।

‘सतसई’से जानकी-उपासना संबंधी तथा ‘दोहावली’के सभी दोहे निकाल लेनेपर जो दोहे बचते हैं, यदि उनपर ध्यान देकर देखा जाय तो ऐसी श्रुति होती है कि ‘सतसई’का निर्माता कोई निर्गुण मतका प्रचारक था। तभी तो कवियोंके आत्मागम और सद्गुरु-माहात्म्य संबंधी उक्तियों और तद्विषयक ‘सतसई’की उक्तियोंमें पूर्ण साम्य है।

अन्तमें, इतना कहना अल्प होगा कि ‘सतसई’ किसी ऐसे व्यक्तिकी कृति है जो गोस्वामीजीके महत्त्वको भलीभाँति समझे था। उसने बानाजीके दोहोंको ग्रहणकर उसीमें स्वरचित दोहे जोड़कर ‘सतसई’ तैयार की और इस प्रकार गोस्वामीजीकी आंखोंमें अपने सिद्धान्त लोगोंके पास सुगमतासे पहुँचाना चाहा।

‘सतसई’की इस चर्याके बाद आगे गोस्वामीजीकी प्रामाणिक कृतियोंमेंसे प्रत्येकके विषयमें कुछ विवेचनात्मक परिचय आवश्यक है।

‘रामलला नहछू’ छंद, ग्रामीण अवर्णोंमें लिखी गई एक छंदी-सी कृति है। इसमें चार चरणवाले कुल बीस मोहर छंद हैं। मोहर हमारे प्रातकी महत्वाओंका अतिप्रिय सरल छंद है। सन्तानोत्पत्तिके अवसरपर यह विशेष रूपमें गाया जाता है, जैसे भी छठी, कर्णवेध, केश-मुंडन, नहछू, यशोपवीत आदि सभी अवसरोंपर मुंदरियोंके भगुर स्वरमें खूब चलता और फवता है। स्त्रियाँ इसकी मात्राओंमें तथा लंबाई-चौड़ाईमें भी अपनी रुचिसे अनुकूल परिवर्तन कर लेती हैं। मोहर अपने-प्रकृत रूपमें सहज बोलचालकी प्रवाहमयी भाषामें मिलता है। उसमें कड़े-कड़े तत्सम शब्दोंके प्रयोग या आलंकारिक योजनाओंसे अस्वाभाविकता आ जाती है। यह बात तुलसीदासके ध्यानमें अवश्य थी, तभी तो उन्होंने ‘नहछू’की रचनामें ही प्रचलित बोलचालके सीमित शब्दकोश तथा अलंकार-योजना-रहित सहज शैलीको अपनाया है। उदाहरणार्थ उसमें प्रयुक्त ‘अन्धबाध’, ‘धराध’, ‘दंढड़ि’, ‘वरिनिओ’, ‘नउनियों’, ‘जेठि’, ‘निवछावरि’, ‘महतारि’ आदि ऐसे ही बोलचालके शब्द हैं।

‘नहछू’में वर्णित इस प्रसंग—

देवलोक सब देखहिं आनंद अति हिय हो ॥

नगर सोहावन लागत बरनि न जातै हो ।

कौसल्याके हरष न हृदय ममातै हो ॥”

से स्पष्ट है कि यह नहछू अयोध्यामें, राजा दशरथके महलमें हुआ था। इससे पता चलता है कि यह नहछू रामके यशोपवीतके अवसरका है, विवाहके अवसरका नहीं। विवाहके पूर्व राम जनकपुरसे ‘दसरथपुर’ आये ही नहीं और कौसल्या आदि रानियों जनकपुर भी नहीं गईं। तुलसीदास घटना-विरुद्ध, इतिहास-विरुद्ध रचना करनेवाले कवि नहीं हैं। जैसे भी रामके विवाहोत्सवको मंगलगानकी व्यवस्था कविने जानकीमंगलमें की है। ‘रामलला नहछू’ द्वारा उपवीत-उत्सव-गानकी व्यवस्था कविको इष्ट अवश्य रही

होगी। रामके यज्ञोपवीतोत्सवके पहले होनेवाले नहछूके उत्सवको लक्ष्य करके 'रामलला नहछू'की रचनाकी गई है।

ग्रंथके प्रारम्भिक प्रथम छंदमें मंगला-चरण और फलश्रुति दोनों एक साथ ही गाकर मनावावादी कविने काव्य-परंपरा और अपनी आस्तिकताका परिचय दिया है। आगेके दो-तीन छंदोंमें नहछूके अवसरपर अयोध्याके राजमहलमें ही नहीं, अपितु सर्वत्र टाए हुए उत्सासमय वातावरणका चित्रण, मंडपका समाँ, वहाँ उपस्थित सुंदरियोंके मंगल-गानके बीच गंगा जलमें स्नान कराकर रामको सुंदर आसनपर बैठाने आदिका वर्णन है। फिर पाचवें छंदमें मातृका पूजनके समय प्रजावर्गकी विशेष-विशेष स्त्रियोंके आनेका संकेत तथा छठें सातवें छंदमें उनके विशेष चटक-भटकका उल्लेख है। विशेष-विशेष स्त्रियोंमें अहिरिनि, अहिरिनि, तँबोलिनि, मोचिनि, दरजिनि, मालिनि, बारिनि, नाउनि आदि हैं जो अपना सहज साज-शृंगार किए एक-एक करके रामके लिए अपनी-अपनी अंप्रति वस्तुएँ देने और नेम चार लेनेके लिए आयी हैं; इनमेंसे प्रायः सभीमें आकर्षण है, लावण्य है। देखिए, सुगठित अहिरिनिके बौवनपर स्वयं राजा दशरथ भी प्रसन्न हो रहे हैं—

“अहिरिनि हाथ दहँड़ि सगुन लेइ आवत हो।

उमरत जोवन देखि नृपति मन भावइ हो” ॥”

नहछूके अवसरपर प्रजावर्गकी उक्त स्त्रियोंमें अंतिम, पर सर्वप्रमुख, नाउनिका तो कुछ कहना ही नहीं। इस अवसरपर उसे जो सौभाग्य प्राप्त हुआ वही तो 'नहछू'का विषय है। एसीलिए तुलसीदासने आठवें छंदसे अठारहवें छंद तक उसीका वर्णन किया। उन्होंने नाउनिको अपने बहुमूल्य विविध आभूषणों और रानीद्वारा दी गई मनोहर साड़ीके बीच विशेष रूपसे शोभित पाया; उसे रानीके साथ हास-परिहास करते भी दिखाया; रामके नख काटने और उनके पाँव धोकर उनमें महावर देनेका जो सौभाग्य उसे मिला वह किसी औरको कहाँ मिलेगा। निश्चय ही—

‘अति बड़भाग नउनियाँ छुऐ नख हाथ सों हो।

नैनन्ह करति गुमान तौ श्री रघुनाथ सों हो” ॥”

×

×

×

‘जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइ हो।

सो पगधूरि सिद्धि मुनि दरस न पावइ हो” ॥”

रामके उरपर पुष्प-मालाकी जो अद्भुत छटा छाई थी, नाइन बड़े चातुर्यके साथ बार-बार उल्लसित हो उनके मुखको देख रही थी; कवि तुलसीदासकी दृष्टि वहाँ भी पहुँच गई और उन्होंने खोलकर कह दिया—

“अतिसय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।

तिरछी चितवनि आनँदमनि मुख जोहइ हो” ॥”

१. 'नहछू' छ० ५।

२. वही ,, १३।

३. वही ,, १४।

४. 'रामलला नहछू' छ० १४।

इतना ही नहीं, रूप-दर्शनकी प्यासी नाउनिकी कोमल भावनाको जान भावग्राही प्रभु भी नख कटवाते समय मुस्करा रहे थे; कविकी दृष्टिसे प्रभुकी यह मुस्कान भी नहीं छिप सकी नाइनका महावर देना तो प्रकट ही था। देखिए—

“नख काटत मुसुकाहिं वरनि नहीं जातहि हो ।
पटुम-राग-मनि मानहुँ कोमल गातहि हो ॥
प्रभुकर चरन पछालि तौ अति सुकुमारी हो ।
जावक रचति अँगुरिन्ह मृदुल सुदारी हो ॥”

रामके चरणोंमें महावर देनेके पश्चात् प्राप्त प्रचुर ‘निवछावर’का वर्णन भी एकाध छंदमें हुआ है और अन्तिम दो सोहरोंमें ग्रंथकी फलश्रुति कहकर उसे समाप्त किया गया है। बहुत संक्षेपमें यही ‘रामलला नहछू’का परिचय हुआ।

काव्य-रूपकी दृष्टिसे ‘रामलला नहछू’ एक लघुखंडकाव्य है। इसमें अयोध्यामें होनेवाला रामके पैरके नखोंके कर्तनका पूर्वांग-भूत कृत्य बड़े रंजक ढंगसे वर्णित है। इसके प्रत्येक छंदसे कविकी प्रबंध-पटुताका आभास मिलता है। मुख्य वर्ण्य विषय वर्णनकी मात्रा और उपयोगिताका यथार्थ परिज्ञान रखनेके कारण उसने गौण वर्णनोंका अनुपात भी खूब निभाया है। तभी तो नहछूके समय अयोध्याके आनन्दोल्लासमय वातावरण, भाड़व-रचना आदिके गौण वर्णनोंको मात्र एक-एक छंदमें ही रमणीय ढंगसे समाप्त करके नहछूका प्रसंग उपस्थितकर दिया और इस संस्कारके अवसरपर जिन-जिन विशिष्ट व्यक्तियों-द्वारा जो-जो कार्य होते हैं उनसबके वर्णनमें अपने कवि-हृदयकी पूर्ण तन्मयता दिखाई है। पर यहाँ ऐसा भी नहीं है कि लोहारिन, अहिरिन, तम्बोलिन, नाइन आदिकी एकाध शृंगारिक चेष्टाओंके अतिरिक्त उनका अनावश्यक या अश्लील वर्णन हुआ हो। वस्तुतः कविकी बुद्धि इतनी सधी थी कि वह भलीभाँति जानता था कि प्रबन्धकाव्यांतर्गत असुक वस्तु निर्देशके लिए असुक शब्द या वाक्य ही पर्याप्त होगा। रामके चरणोंमें महावर लगानेके अवसरपर भी उसकी संयत बुद्धि सचेष्ट रही। उक्त प्रसंगमें भी व्यर्थका विस्तार नहीं हुआ। हाँ, इस अवसरपर कविका भक्त हृदय मैन नहीं रह सका, फलतः उसने उपास्यके चरण और चरण-रजकी महिमा गाई, पर दो ही चार शब्दोंमें। इसी प्रकार ग्रंथकी समाप्तिके साथ कविका भक्त हृदय ग्रंथकी फलश्रुति कहे बिना नहीं रह सका। लोक-जीवनके बीच नहछू—जैसे संस्कारके प्रकृत लोकाचारकी जो सजीव झाँकी ‘रामलला नहछू’में मिलती है उससे प्रकट होता है कि कविकी लोकाचार विषयिनी जानकारी अत्यधिक थी। विषयानुरूप भाषापर कविका पूर्ण अधिकार दिखाई पड़ता है। रचना-में काव्यके उत्कर्षाधायक तत्त्वोंका अभाव होनेपर भी इसकी भाव व्यंजनामें तन्मयता है। उससे कविकी सरस प्रकृति और प्रेम-भक्तिका बोध होता है।

रचना-काल : ‘नहछू’के रचना-कालके विषयमें कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। फलतः शैली और वर्ण विषयके आधारपर विद्वानोंने भिन्न-भिन्न अनुमान किए हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्तके अनुमानसे इनका रचना-काल संवत् १६११ है।^१ हमें भी इसे ग्रहण करनेमें कोई आपत्ति नहीं।

वैराग्य संदीपिनी : यह भी ‘नहछू’की भाँति एक छोटी-सी प्रबंध-रचना है। इसमें प्रयुक्त दोहे, सोरटे और चौपाइयाँ सब मिलाकर ६२ छंद हैं। इनमें दोहोंकी संख्या ४६, सोरटोंकी २ तथा चौपाइयोंकी १४ है। इस कृतिकी भाषा ब्रजभाषा है, पर आदर्श ब्रजभाषा नहीं, इसमें अवधीका घाल-मेल है।

छंदोंके प्रयोगमें किसी प्रकारकी कमबद्धता नहीं है। प्रबंध-पद्धताका अभाव है। काव्यकी विशुद्ध दृष्टिसे इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखाई पड़ता। यह साधारण कोटिकी रचना कही जा सकती है। पर उद्देश्यकी दृष्टिसे यह अपने नामको सार्थक करती है। निश्चय ही यह विरागकी ज्योतिकी उद्दीप्त करनेवाली है; वैराग्यका प्रतिपादन और उसके द्वारा शांति-लाभका निर्वेश करती है।^१ शांति-प्राप्त होनेपर साधकका कैसा स्वरूप हो जाता है, इसकी पहचान भी बताई गई है।^२ संत-स्वभावका वर्णन करके संतोंके लक्षण भी दिए गए हैं।^३ उनकी महिमा भी गाई गई;^४ मन्त्रे संत, विरक्त, महात्माके उपास्य रामका स्वरूप कैसा है उसका भी संकेत दिया गया है।^५ सगुण-निर्गुणमें अभेद दृष्टिकी प्रतिष्ठाकी गई है। शरीरके द्वारा किए जानेवाले शुभाशुभ कर्मोंको दृष्टिमें रखते हुए उनसे सचेत भी किया गया है। ग्रंथमें समाविष्ट विचारों-के सम्यन्धमें हमें कविकी इस बातको ध्यानमें अवश्य रखनी चाहिए—

“तुलसी वेद-पुरान मत, पूरन शास्त्र विचार।

यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञानको सार” ॥”

इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्रंथके छोटेसे दायरेमें बहुत-सी शास्त्र-सम्मत बातें ही कथित हैं।

रचना-काल : ‘नहछू’की भाँति इस ग्रंथका भी रचना-काल निर्धारित करनेके लिए कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है फलतः विद्वानोंने यहाँ भी अनुमानसे ही काम लिया है। इसे ‘नहछू’के बादकी कृति ठहराया है। इसका रचना-काल सं० १६१४ माना है।^६

रामाज्ञा प्रश्न —

इस ग्रंथकी गणना तुलसीकी छह बड़ी कृतियोंमें की जाती है। यह सारी कृति दोहा छन्दमें निर्मित है। इसकी भाषा ब्रज भाषा है। इसमें कुल सात सर्ग और प्रत्येक सर्गमें सात सप्तक हैं। प्रत्येक सप्तकमें सात दोहे हैं। इस प्रकार इसमें कुल ३४३ दोहे हैं। प्रसिद्ध है कि गोस्वामीजीने इस रचना का निर्माण काशिराजके राज-ज्योतिषी श्री गंगारामजीके लिए किया था। ज्योतिषीजी प्रह्लाद घाटपर रहते थे और गोस्वामीजीके बड़े भक्त थे। इन्होंने इसी ग्रंथके आधारपर राजघाट निवामी गढ़वार वंशीय नरेशके राजकुमार, जो आखेटके लिए गए थे, उनके सकुशल गृह-आगमनका शकुन-विचार था, जिसके फलस्वरूप नरेशने प्रसन्न होकर ज्योतिषीजीको बहुत बड़ी सम्पत्ति देकर पुरस्कृत किया था। गंगारामने पुरस्कारमें मिले सारे धनको लाकर गोस्वामीजीके समक्ष रख दिया। गोस्वामीजीने उसे ठुकराना चाहा, परन्तु गंगारामके बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने केवल दस हजार रुपये हनुमानके दस मन्दिर निर्माणके लिए लेकर उससे दक्षिणाभिमुख हनुमानके दस मन्दिर बनवाए, जो इस समय भी वर्तमान हैं। ‘रामाज्ञा प्रश्न’ की रचना वस्तुतः ज्योतिषी गंगारामके लिए ही हुई थी या यह जनरव ही

१. दे० ‘वैराग्य संदीपिनी’ छंद ४४-५०।

२. ” वही ” ५१-६१।

३. दे० ‘वैराग्य संदीपिनी’ छंद ८-३३।

४. ” वही ” ३४-३९।

५. ” वही ” १-४।

६. ” वही ” ५।

७. ” वही ” ७।

८. दे० डॉ० माताप्रसाद गुप्त “तुलसीदास” पृ० २५३।

है, इस सम्बन्धमें दृढ़तापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। पर, ग्रन्थमें गंगाराम^१ नाम अवश्य आया है, इस आधारपर हमें भी लोगोंकी यह धारणा ठीक जँचती है कि ग्रन्थका निर्माण गंगारामके लिए ही किया था। जो भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि इस ग्रन्थका निर्माण शकुन विचारार्थ ही किया गया है। समाजका एक बहुत बड़ा भाग, आज भी सुमासुम जानने और अपने भाग्योदयकी जानकारीके लिए ज्योतिषियोंका दरवाजा खटखटाता है। तुलसीदासके युगमें भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं थी। अतः इस वर्गके लोगोंकी रासखना देने और उनके बीच इस पौराणिक ढंगसे राम-भक्तिका प्रसार करने के लिए इस ग्रन्थकी रचनाकी गई हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

ग्रन्थ का प्रथम सर्ग मंगलाचरणमें आरम्भ हुआ है। तदुपरान्त विदेश यात्राका संकेत देते हुए उसे सफल बनानेके लिए सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, गणेश, शंकर, विष्णु और गुरुके स्मरण करनेकी बात कही गई है। इसी प्रकार कुछ अन्य देवों और मानसके कुछ भक्त पात्रोंका स्मरण मंगलमय वताकर 'मानस' के वाल कांडकी राम कथाको दोहोंके सप्त सप्तकों अर्थात् ४९ दोहोंमें समाप्त किया गया है। द्वितीय सर्गमें अयोध्या कांड तथा आशिक अरण्य कांडकी कथाएँ समाविष्ट हैं। तृतीय सर्गमें अरण्य कांड की शेष कथा तथा किष्किंधा कांडकी समर्पण कथा दी गई है। चतुर्थ सर्गमें पुनः वाल कांडकी कथा कही गई है। पंचम सर्गमें सुन्दर कांड तथा लंका कांडकी प्रायः सभी कथाएँ वर्णित हैं। षष्ठ सर्गमें, रामके आदेशानुसार हनुका अमृत वरमा कर बन्दर-भाटुओंको जिलाने तथा उनके जीनेपर राम द्वारा उनके सम्मानित करनेकी चर्चा है। इसके उपरान्त राम पुष्पक विमानपर सीता, लक्ष्मण और अपने दल वालोंके साथ अयोध्याके लिए प्रस्थान करते हैं तथा अयोध्या पहुँचनेपर राजगद्दीपर बैठते हैं। रामके दरबारमें विलास करता हुआ ब्राह्मण अपने मृतक बालकको लेकर आया। रामने दुःखी ब्राह्मण के पुत्रको जिलाकर उसका दुःख दूर किया। वह और उत्क अपने झगड़ेको लेकर दरबारमें गए। रामने उनके लोकेका निरादारा किया। कुत्ते और संन्यासीकी बात सुनकर प्रभुने उन्हें भी न्याय दिया। सीतापर पालक लगानेकी वार्ता, उसका निर्वासन, लव-कुशके साथ बाल्मीकिका रामके दरबारमें आगमन आदिकी घटनाएँ भी षष्ठ सर्गमें ही आई हैं। सप्तम सर्गमें स्फुट दोहे हैं। उनमेंसे कुछ दोहोंमें समाप्तके प्रत्येक दिनके अनुसार अथवा ग्रहोंके अनुसार शकुन विचारनेकी बात कही गई है। कुछ ऐसे दोहे भी हैं जिनमें राम-कथाके कुछ विशिष्ट पात्रों यथा राम-सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी, दशरथ आदिके ध्यानके आधारपर शकुनका भ्रम समझाया गया है। कुछ दोहोंमें इस बातका संकेत दिया गया है कि प्रश्न कब करना चाहिए और प्रश्न विचार करनेके पूर्व किस निष्ठाके साथ पोथीका पूजन करना चाहिए। एक दिनमें तीन प्रश्नसे अधिकका विचार नहीं करना चाहिए इसका भी उल्लेख है।

'रामाज्ञा प्रश्न' के मंगलाचरण, उसकी सर्गबद्धता तथा उसमें प्राप्त राम कथाके विविध प्रसंगोंकी योजनाको देखते हुए उस ('रामाज्ञा प्रश्न' को) एक प्रबन्ध काव्य कहा जाता है। पर, एक सफल प्रबन्ध काव्यकी कसौटी पर कसनेसे इसमें अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। न इसमें प्रबन्धके कथानक की धारावाहिकता मिलती है, न कथाकी घटनाओंमें क्रमबद्धता है और न मार्मिक स्थलोंकी पहचान ही है। इसमें समाविष्ट कथामें प्रकट होता है कि यह आदि कवि बाल्मीकिके रामायणपर आधारित है। शकुन विचारकी दृष्टि रची जानेके कारण इसकी साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत करनेका प्रयास समीचीन

उन्हें सब प्रकारसे योग्य जानकर विद्या और मंत्र सिखलाये । आश्रमपर पहुँचकर विश्वामित्रने निर्विघ्न यज्ञ किया । रामने राक्षसोंसे उनकी रक्षा की । तदनन्तर 'सुरकाज' को ध्यानमें रखकर ऋषि दोनों भाइयोंको लेकर, धनुषयज्ञ दिग्गानेके बहाने जनकपुर गये । मार्गमें रामने अहल्याको शापसे मुक्त किया । जनकपुरमें रामको देखकर सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए । मंत्रियोंके साथ राजा जनक अगवान्नी करने आये और रामको देव्य उगका गन ब्रह्मानन्दमें बढकर सुख पाने लगा । वे रामके प्रेममें आसक्त हो गये । उन्होंने पद्या —

‘केहि सुकृती के कुअर ? कहिय मुनि नायक ।

गौर स्याम छविधाम धरे धनु सायक’ ॥’

मुनि ने बतलाया - ‘ये साक्षात् ब्रह्म स्वरूप सूर्यवंशके प्रकाशक हैं । राम और लक्ष्मण इनके नाम हैं । रूप, शील, वय, वंशमें रामको सीताके योग्य पाकर, राजा, धनुषकी कठोरताका अनुमान कर चितित हुए । फिर उन्होंने विश्वामित्रको यज्ञशाला दिखलाई और ऋषिने मुक्त-कंठ उसके कौशलकी प्रशंसा की, राम-लक्ष्मण-सहित मुनिको सुभग सिंहासनपर बैठाया गया^१ । उस समय राजसभाजके बीच विराजमान दोनों भाइयोंकी अलौकिक सुपमाने वहाँके नर-नारियाँपर जादू डाल दिया । विशेषतः रामके सौंदर्यपर सभी मुग्ध हो गये । सब उनके लावण्यका यशोगान करने लगे^२ । कुछ लोग कहते थे कि ये किशोर शिवका कठोर धनुष कैसे तोड़ेंगे^३ । दूसरे लोग उनके तेज और पराक्रमका वर्णन करके कहते थे ये अवश्य सीताका वर्ण करेंगे । स्वयंवरमें सम्मिलित होनेवाले राजाओंने भी अपनी-अपनी प्रकृतिके अंगरूप तरह-तरहके वचन कहे^४ । नगरके स्त्री-पुरुष आशा और निराशाके झूलेमें झूल रहे थे^५ । जनककी राजमहिषी मुनयना भी शिव-धनुषकी गुरुता सोचकर पछताती थी^६ । सखियोंने उन्हें भमप्राया^७ । इमी बीच सीता यज्ञशालामें लाई गई^८ । सब उनके और रामके अप्रतिम सौंदर्यको देखने और सराहने लगे^९ । उमी बीच वन्दीगणोंने, सभामें, जनकका प्रण सुनाया । अविवेकी राजा धनुषके पास गए, कुछ तो उसे देखकर लौट आए और कुछने अपना सारा परिश्रम लगा दिया पर धनुष उससे भम नहीं हुआ^{१०} । जनक व्याकुल हुए कि अब इसे कौन चढ़ावेगा; विश्वामित्रने उनसे रामको यह काम करनेकी आशा देनेको कहा^{११} । जनकजी बोले—‘जिस धनुषको देखते ही बाणासुर और

१. ‘जानकीमंगल’ छ० २७

२. ,, छ० २९

३. दे० ‘जानकीमंगल’ छ० ३०

४. दे० ‘जानकीमंगल’ छ० ३१—३४ (राम लक्ष्मण का सौंदर्य वर्णन)

५. ,, ,, ३५

६. दे० ‘जानकीमंगल’ छ० ३६-४०

७. ,, ,, ४१-४४

८. ,, ,, ४५-४८

९. ,, ,, ४९-५०

१०. ,, ,, ५१

११. ,, ,, ५२-५४

१२. ,, ,, ५५

१३. ,, ,, ५६

नयी होगा। डॉ. हिन्दी काव्योंके नीचे शकुन विचारका यह पौराणिक ढंग अवश्य तुलसीदासकी नयी रचना है।

ग्रंथका रचना काल कविने बड़े चमत्कारिक ढंगसे ग्रंथने ही इन प्रकार दिया है—

‘मगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नयवान ।
दोह सुफल मुभ जामु जमु, प्रीति प्रतीति प्रमान’ ॥’

शकुन विचार करनेकी दृष्टिसे ‘नय वान’ को ‘नयवान’ गानकर अर्थ किया जाय तो दोहेका सामान्य और सीधा अर्थ होता है कि नीतिवान् व्यक्ति एक दिन एक, दो या अधिकसे अधिक तीन प्रश्न करे। जिसका जैसा प्रेम और विध्वाम है उमीके अनुसार शकुन शुभ तथा सफल होगा।

यदि ‘नय’ और ‘वान’ को अलग मान कर अर्थ किया जाए तो दोहा ग्रंथके रचना कालका द्योतक है। अर्थात् ‘चन्द्रमा, नेत्र, गुण, नीति एवं वाणके आधिक्यकी अवधि (समय) में यह सगुन (-माला) जिसका सुवश यह है कि प्रीति-प्रतीतिके अनुसार ही सुफल होती है, सत्य है।’ कविजन-प्रयुक्त साकेतिक शब्दावलीके अनुसार चन्द्रमा १, नेत्र २, गुण ६, नीति ४ और वाण ५ के लिए प्रयुक्त होते हैं; नीति और वाणमें अन्तर १ का है। अब कवि-प्रथाके अनुसार इन दी हुई तिथियोंका ‘अंकानां वामनो गतिः’ उल्टे क्रम से पढ़ने पर १६२१ होता है। यही सं० १६२१ ‘रामाज्ञा प्रश्न’ का रचना काल है।

जानकी-मंगल :—

इस ग्रंथका अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। तुलसीदास कृत ठेठ पूर्वी अवधीके सफल छोटे प्रयन्ध काव्योंमें इसकी भी गणनाकी जाती है। इसके मंगलाचरणकी अन्तिम पंक्ति “मिय-रखुवर विवाह यथा मति गावौ” भी वर्ण्य-विषयका संकेत देती है। सीता-रामके विवाहका यह यथागति-गान शिष्ट सोहर मंगल छन्द तथा हरिगीतिकाके माध्यमसे गाया गया है। इस प्रकार कविने अपने उपास्यके जीवनसे संबद्ध एक विशेष कथानक-खंडको आधार मानकर इस ग्रंथकी रचनाकी है, अतः यह एक खंड काव्य है। इसमें कुल १२० छन्द हैं। जिनमें ९६ मंगल छन्द हैं शेष २४ हरिगीतिका। ग्रंथमें इन दोनों छन्दोंका मणिकांचन योग है। पहले चार मंगल छन्दोंमें वर्णन करनेके उपरान्त पंचवेंके स्थानपर हरिगीतिकाका समावेश हुआ है और फिर इसी क्रमका आद्यंत निर्वाह किया गया है। दोनों प्रकारके छन्दोंकी ऐसी क्रमिक योजना साम्प्रदाय और कलापूर्ण है। वह वर्णनकी शृंखलाको अटूट रखने और वर्णनको विरसतासे दूर करने और ताजगी लानेमें योग देती है। वर्ण्य-विषय तक पहुँचनेमें योग देने-वाली घटनाओंके चुनावमें भी कवि सिद्ध-हस्त है। वह इधर जनकपुरीमें जनकका प्रण और स्वयंवर रचनाकी नये-तुले शब्दोंमें सजीव झाँकी देता हुआ झट दृश्य परिवर्तनकी भाँति उधर विश्वामित्र को अवधराज महाराज दशरथके यहाँ पहुँचाता है। राजाने उनका यथोचित सम्मान करनेके पश्चात् उनके आनेका कारण पूछा। जब मुनिने अपना अभिप्राय बतलाया तो राजा प्रेम और सत्यकी दुविधामें पड़ गये। वशिष्ठके समझानेपर राजाने राम-लक्ष्मणको उन्हें दे दिया। माता-पिताको प्रणामकर दोनों भाई मुनिके साथ चल दिये। मार्गमें अच्छे-अच्छे शुभ शकुन हुए। रामने ताड़काको मारा। ऋषिने

१. ‘रामाज्ञा प्रश्न’ सप्तम सर्ग दो० ४५।

२. दो० ‘जानकी मंगल’ प्रथम छन्द।

गवण जैसे दुर्दांत योद्धा चले गए, उसे ये कोमल कलेवर राम कैसे उठाएँगे। विश्वामित्रने कहा—‘इन्हें बालक मत समझो। धनुषरूपी ससुद्रको सांखनेके लिए ये कुंभजके सदृश हैं।’ हर्ष-विपाद-रहित, सहज भावसे राम धनुष तोड़ने चले; उस समय शुभ शकुन हुए; दुंदुभी बजा कर देवगण फूल वरसाने लगे; लक्ष्मणने पृथ्वी और पर्वतोंको चेतावनी दी^१; सपरिवार विदेह शोक-मग्न हुए; सीता गणेश, शिव-पार्वती को मनाने लगी^२; रामने बिना किसी परिश्रमके धनुषके दो टुकड़े कर दिए^३। धनुष टूटनेका दिगंत-व्यापी रव और उसके प्रभावका संक्षिप्त वर्णन कविके अलंकारमय शब्दोंमें ही देखने लायक है—

‘गंजेउ सो गरजेउ घोर धुनि सुनि भूमि भूधर लरखरे ।
रघुबीर-जस-मुकुता विपुल सब भुवन पटु पेटक भरे ।
हित सुदित, अनहित रुदित मुख, छवि कहत कवि धनुजाग की ।
जनु भोर चक्र चकोर कैर व सघन कमल तड़ाग की^४॥”

फिर तो, आनन्दवश आकाश और नगरमें नगाड़ोंपर चोट पड़ी, पुष्प-वृष्टि हुई^५। जानकीकी अपूर्व दशा थी^६; उन्होंने रामके गलेमें जयमाल पहनाई^७; चतुर्दिक् उल्लसित वातावरणके बीच राम विश्वामित्र के पास लौटे^८; राजा जनक और सुनयनाकी प्रसन्नताका कोई ठिकाना नहीं था; विश्वामित्रकी आज्ञा से जनकने दशरथके पास—“ल्लिखि लगन तिलक समाज सजि कुल-गुरुहि अवध पठाएऊ”। चतुर कारीगरोंको मंडप बनानेका काम सौंपा गया; बधाई बजने लगी, सुंदरियोंके मंगल गान शुरू हुए; राम और सीताने गौरी और गणेशका पूजन किया; कलश-स्थापन करके तेल चढ़ाने आदिकी रीतियाँ सम्पन्न की गयीं^९।

उधर शतानंद जी अवध पहुँचे और वहाँ दशरथ द्वारा पूजित होकर उन्होंने वैवाहिक लग्न संबंधी-जनककी पत्रिका राजाको दी; वैवाहिक सूचना मिलते ही अयोध्यामें धूम मच गयी^{१०}। बारात चलनेकी तैयारी हुई^{११}; बारात जब जनकपुरके समीप आयी तब लोग उसकी अगवानी करने गये, सब एक-दूसरेमें मिले; बड़ा आनन्द हुआ और सब प्रकारकी सुविधाओंसे पूर्ण ‘जनवान’ दिया गया^{१२}। राम-लक्ष्मण

१. दे० ‘जानकी मंगल’ छ० ५७ ।

२. ,, ,, ,, ६० ।

३. ,, ,, छ० ६१ ।

४. ,, वही ,, ६२ ।

५. ,, वही ,, ६४ ।

६. ,, वही ,, ६५ ।

७. ,, वही ,, ६६ ।

८. ,, वही ,, ६७ ।

९. ,, वही ,, ६८ ।

१०. ,, वही ,, ६९ ।

११. ,, वही ,, ७० ।

१२. ,, वही ,, ७१, ७२ ।

१३. दे० ‘जानकी मंगल’ छ० ७३ ।

१४. ,, वही ,, ७४ ।

१५. ,, वही ,, ७५ ।

विश्वामित्रके साथ जनवासे गये; उन्हें देख सारे वराती प्रसन्न हुए; राजा दशरथकी प्रसन्नताका कुछ कहना ही नहीं; उन्होंने दोनों पुत्रोंको छातीने लगाया और विश्वामित्रकी पूजा की। ब्राह्मणोंको दान दिया; रामको विवाहके वस्त्र पहनाये गये। जनव ने वारातके लिए बहुत-सी वस्तुएँ भेंटमें भेजीं; वारात जनकके यहाँ गयी; परिचय किया गया; ग्योछावर हुई; जनकने दशरथको, वरातियों-सहित, यथायोग्य आसनपर बैठाया, राम विवाह-मंडपमें गये; कुलाचार और वेदाचार हुए; सीता जी भी वहाँ लायी गयी; वर-वधूको देख सब लोग आनन्दित हुए। अग्निस्थापनके बाद जनकने कन्यादान किया। फिर अन्य वैवाहिक रीतियोंके साथ विवाह हो गया। वर-वधू कोहबरमें लाये गये। वहाँ स्त्रियोंने कोहबरकी रीतियोंका पालन करते हुए हँसी की, वे बड़ी प्रसन्न थीं। इसी बीच जनकके छोटे भाईकी दो पुत्रियों भरत और शत्रुघ्नसे तथा सीताकी छोटी बहन लक्ष्मणसे व्याही गयी तथा राजाने अगणित दास-दासी, हाथी-घोड़े, सोना, मणि, वस्त्रादि दायजमें दिये। राजा दशरथ पुत्रों और पुत्र-वधुओंके साथ जनवासे गये; फिर ज्योनार हुई; मुहागिन स्त्रियोंने भीटे स्वरमें गालियाँ गाईं। उस रात बड़ा आनन्द हुआ; जनकने जैसा आतिथ्य-सत्कार किया वह वर्णनातीत था; दूसरे दिन वारात विदाईकी तैयारी होने लगी। राम भाइयोंके साथ राजाके महलमें गये और मामुओंसे मिले; उनसे विदा माँगी और उनकी करुणापूर्ण विनीत वाणी सुनी। सीताके चलते समय आवाल-वृद्ध नगर-निवासी, पशु-पक्षी तक बहुत व्याकुल हुए। दशरथ जीके बहुत कहनेपर जनक उन्हें विदा करके लौटे; लौटते समय उन्होंने राजासे सारे कष्टोंके लिए क्षमा प्रार्थना की साथ ही रामसे प्रेम बनाये रखनेको कहा। वारात विदा हुई; बाजे बजने लगे। कोलाहल सुनकर मार्गमें परशुराम मिले जो “डॉटहिँ आँखि देखाइ कोप दारुन किए” किंतु रामने उन्हें शांत कर दिया और वे रामको अपना धनुष देकर चले गये। रामका बाहुबल देखकर वराती प्रसन्न हुए; वारात अयोध्याके निकट पहुँची। सारा नगर सजाया गया था; वर-वर वंदनवार, पताकाएँ और चौक सुशोभित थे। स्त्रियोंने आरती उतारी और तीनों पटरानियाँ रामका

१. ,, वही ,, ७६ ।
२. ,, वही ,, ७७ ।
३. ,, वही ,, ७८-८८ ।
४. ,, वही ,, ८९ ।
५. ,, वही ,, ९० ।
६. ,, वही ,, ९१ ।
७. ,, वही ,, ९२-९४ ।
८. ,, वही ,, ९५-९७ ।
९. ,, वही ,,
१०. ,, वही ,,
११. ,, वही ,,
१२. ,, वही ,,
१३. दे० ‘जानकी मंगल’ छ० १०६-११० ।
१४. दे० ‘जानकी मंगल’ छ० १११ ।
१५. ,, वही ,, ११२ ।
१६. ,, वही ,, ११३, ११४ ।

परिछन करने चली'। चारों पुत्रों और पुत्रवधुओंकी आरती उतारी तथा बड़े सम्मान केसाथ उन्हें घर में ले गयी। वहाँ अत्यन्त आदर-सत्कार किया: ब्राह्मणोंको बहुत-सा दान दिया; भिखमंगोंको निहाल कर दिया; देव-पितरोंकी पूजा की; रीति-रम्भ हो चुकनेपर सबको वस्त्र दिये गये: सबलोग चारों जोड़ियों को देख, आशीर्वाद देते हुए, वहाँसे विदा हुए। यही 'जानकी मंगल' की सारी कथा है और अन्तमें, मंगल-गान करने वालोंको इस मंगल-गानकी पद्धतिसे भी अवगत कराया गया है। देखिए—

“उपवीत व्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं।

तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं॥”

‘जानकी मंगल’ की सम्पूर्ण कथाको देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि कविका ध्यान घटनाओं की शृंखला को अविच्छिन्न रखनेकी ओर विशेष था, इसीलिए कुछ विशेष घटनाओं या प्रसंगोंकी मार्मिकता को जानते हुए भी उसने उनका अपेक्षित विस्तृत वर्णन नहीं किया। यह बात प्रबंधकाव्यकी दृष्टिसे अवश्य खटकती है। प्रबन्धगत इस त्रुटिका कारण कविका विशेष उद्देश्य कहा जा सकता है। उसने प्रसंगसे संबद्ध सभी घटनाओंको लेते हुए भी ग्रंथको संक्षिप्त रूपमें इसलिए प्रस्तुत किया है कि यह नित्य पाठ करने अथवा महत्त्वपूर्ण अवसरोंपर गानेके लिए सुगम हो। जहाँतक काव्योत्कर्षका प्रश्न है, ‘जानकी मंगल’ तुलसीदासकी प्रौढ़ रचना है। इसमें भावों और विचारोंको नपे-तुले शब्दोंमें सीधे, पद, सरस ढंगसे कहनेकी अद्भुत कला है। इसकी पद-योजनामें कारीगरी है; उसमें अपूर्व लय और श्रुति-माधुर्य है। आलंकारिक योजनाएँ सहज और सुस्पष्ट हैं। सामान्यतया अनुप्रास, रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारोंके प्रयोग किये गये हैं और एकाध प्रसंगमें अनन्योपमा, अतिशयोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास भी आये हैं।

‘जानकी मंगल’ की कथाका आधार ‘मानस’ की इसी प्रसंगकी कथाकी भाँति विविध स्रोतोंसे गृहीत व्यापक और कलात्मक ढंगसे संयोजित नहीं है। यह सीमित है; इसके एकाध प्रसंग ‘अध्यात्म रामायण’ से मिलते-जुलते हैं, एकाध वाल्मीक-रामायणसे। ‘वाल्मीक-रामायण’ में जनककी वाटिकामें सीता और रामका परस्पर सम्प्रेक्षण और उनके पूर्वरागका कोई उल्लेख नहीं है और ‘जानकी मंगल’ में भी यही बात है। वाल्मीक-रामायणमें विवाहोपरांत, विदाईके बाद, मार्गमें परशुराम आये हैं। ‘जानकी मंगल’में भी इसीका संकेत है। ‘अध्यात्म-रामायण’ में विश्वामित्रने जनकसे आग्रह किया है कि वे राम को शिव-धनुष दिखाएँ। ‘जानकी मंगल’ में भी यही है। इसी प्रकार ‘अध्यात्म-रामायण’ का जनक द्वारा कन्यादानका वर्णन भी ‘जानकी-मंगल’ में एक-सा है। ‘जानकी-मंगल’ के अन्य प्रसंग ‘मानस’ के प्रसंगोंसे अवश्य मिलते-जुलते हैं, पर उनमें मानस के प्रसंगों की-सी गुस्ता नहीं है, साथ ही वे बहुत संक्षिप्त भी हैं।

रचना काल : ग्रंथमें इसका रचनाकाल नहीं मिलता। फलतः इसकी कथावस्तु और शैली आदि के आधारपर विद्वानोंने इसका रचनाकाल निश्चय करनेका प्रयास किया है। इस दिशामें हमें डॉ०

१. ,,	वही	,, ११५।
२. ,,	वही	,, ११६, ११७।
३. ,,	वही	,, ११८-११९।
४. ,,	वही	,, १२०।

माताप्रसाद गुप्तका मत विशेष तर्कसम्मत और समीचीन प्रतीत होता है। उसके अनुसार इसका रचनाकाल मं० १६२७ है।

रामचरित-मानस को तुलसीदासके द्वादश प्रासांगिक ग्रन्थ-रत्नोंकी मालाका सुमेरु कहा जा सकता है। इसका प्रतिपाद्य क्या है, इस विषयमें तुलसीदासने स्वयं कहा है—

“एहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥”

इस ऋषि-प्रणीत महाकाव्यकी भाषा साहित्यिक अवधी है जिसे कविने अपने युगकी राष्ट्रभाषाका-सा प्रशस्त रूप दिया है। कथाका विनियोग सात काण्डों (सप्त सोपानों) में किया गया है। इनमें प्रयुक्त छन्दोंमें मुख्य स्थान चौपाइयों और दोहोंका है, यद्यपि प्रत्येक सोपानके आरम्भ अथवा बीच-बीचमें कुछ अन्य छन्द भी अपनाये गये हैं। चौपाइयों और दोहोंके प्रयोगमें क्रमका निर्वाह सामान्यतः एक-सा किया गया है। आठ या अधिक अर्द्धालियोंके अनन्तर एक दोहेका विश्राम पड़ता है, और ऐसे दोहोंकी संख्या एक सहस्र-चौहत्तर है। ‘मानस’ भारतको राष्ट्रीय गौरव प्रदान करनेवाली, दिव्य-विधुत अनर्थ कृति है। इसपर हमारे देशको नाज है, क्योंकि इसका सानी दुनिया भरमें कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसकी सुकीर्तिका दुंदुभिनाद देश-विदेश सर्वत्र गूँज रहा है। इस समय भी मानस-चतुश्शतीका डंका बड़े जोरोंसे पीटा जा रहा है। मानस-चतुश्शती-समारोहोंकी वाढ़-सी आ गई है। सभी अधिकारी, अनधिकारी मानस-सर्मज बनकर अपनी-अपनी सुना रहे हैं। श्रोताओंको सचेत होकर सुनना और समझना चाहिए। मानस-परिचयके सम्बन्धमें सुझे इतना ही कहना है कि राम और राम-कथासे अपरिचित व्यक्ति यदि सारी दुनियामें नहीं तो कमसे कम अखण्ड भारतमें तो नहीं ही मिलेगा। इस दशामें उसकी कथा-वस्तुका परिचय देना अनावश्यक है। वैसे कवितावलीके काण्डोंके साथ साम्य-वैषम्य दिखानेके लिए मानसके प्रत्येक कांडकी कथाका परिचय दिया ही गया है। इसके अतिरिक्त आगे ‘तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य’ तथा ‘तुलसीका साहित्यिक उपहार’ शीर्षक परिच्छेदोंमें भी ‘मानस’की कथा और उसकी स्वरूपगत मौलिकतापर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। ‘तुलसीकी सन्दर्भण कला और रामचरित मानस’ शीर्षक एक स्वतन्त्र परिच्छेद भी दिया गया है। अतः यहाँ विशेष परिचय देनेका अवकाश नहीं। फिर भी ध्यानमें रखनेके लिए इतना तो कहना ही पड़ेगा कि पूर्ण मानवता और मानव-जीवनकी प्रत्येक दशाका उद्घाटन ‘मानस’में हुआ है। मनुष्य-जीवनका ऐसा कोई पहलू नहीं जो यहाँ न उपस्थित किया गया हो। ‘मानव-प्रकृतिके जितने अधिक रूपोंके साथ गोस्वामीजीके हृदयका रागात्मक सामञ्जस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिन्दी भाषाके और किसी कविके हृदयका नहीं। यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पापण्ड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता तुलसीदासके हृदयमें विम्ब-प्रतिविम्ब भावसे विद्यमान है।”

मानव-जीवनके सर्वांगीण चित्रके साथ मर्यादाके अपरिमित प्रतिष्ठापनमें भी ‘मानस’ बे-जोड़ है। इसके अन्तर्गत वर्णन, चरित्रांकन, संस्कृति-निरूपण, रस-योजना, भावचित्रण या पारस्परिक व्यवहार आदि से सम्बन्धित सभी बातोंमें मर्यादाका कुशल निर्वाह मिलता है। इसी प्रकार बहुविध समन्वयकी जैसी प्रशस्त भावना यहाँ विद्यमान है वैसे शायद ही कहीं दिखाई पड़े। सच्चे ‘मानस’-सेवी और प्रेमीको सगुण-

१. ‘तुलसीदास’ पृ० २५३।

२. ‘गोस्वामी तुलसीदास’ पृ० ९५।

योग्य वरके लिए बड़ी चिन्ता हुई; उसी बीच नारदजी हिमालयके घर पहुँचे; मुनिकी पूजा करके मयनाने पार्वतीको उनके चरणोंमें डाल दिया और पार्वतीके अनुरूप पति बतलानेके लिए ऋषिसे प्रार्थना की।^१ नारदजीने उत्तर दिया—‘इनका पति कोई पागल होना चाहिए। यह ब्रह्माने कहा है।’^२ यह सुनकर पार्वतीजी मन ही मन प्रसन्न हुई पर उनके माता-पिता डर गये और मुनिके चरणोंमें गिरे और कहने लगे हमारा जीवन, सुख, सम्पत्ति सब पार्वतीके लिए है।^३ इस दोषको दूर करनेका उपाय बताइये, मुनिने कहा ‘चन्द्रचूड़ दोष नाशक हैं; पार्वतीसे कहो कि उनके लिए तपस्या करें।’^४ नारदजीके चले जाने पर मयनाने कहा—‘विधाता किसीको स्त्री न बनावे’।^५ फिर माता-पिताने उन्हें शिवकी सेवा करनेका उपदेश दिया; पार्वतीका वर्णनातीत शिव-प्रेम था: सुंदरी, युवती, सर्वगुण-सम्पन्ना पार्वतीको देख कर भी शिवके मनमें वासना न हुई।^६ इसी अवसरपर देवोंने कामदेवको भेजा: उसने शिवका निरादर किया और उसके अनुरूप फल पाया।^७ रति विधवा हो गई और उसकी दीनावस्थापर द्रवित होकर शिवने उसे वरदान दिया।^८ मयना और हिमालयको भी मदन-दहनका समाचार मिला; वे बहुत दुखी होकर विलाप करने और विधाताको दोष देने लगे।^९ लोग पार्वतीसे तपस्या छोड़ देनेके लिए समझाने लगे: पर उनकी दृढ़ता और बढ़ गई।^{१०} उन्होंने निराहार रह कर घोर तप किया,^{११} ऐसा तप कहीं नहीं सुना गया था; उनकी परीक्षा लेनेके लिए शिव, ब्रह्मचारीका वेश रख कर, पहुँचे और पार्वतीसे बोले—‘देवि ! बुरा न मानो तो कुछ निवेदन करूँ, तुम इस भव-रत्नाकरकी अपूर्व स्त्री-रत्न हो; तुम्हारे लिए इस जगतमें कुछ भी अगम नहीं है; यदि तुम पतिकी इच्छासे तप कर रही हो तो तुम्हारी बड़ी मूर्खता है; कहीं अमृत रोगीको दूँदता है या रत्न राजाको ?’ पार्वतीका रख पाकर उनकी एक सहेली बोली—‘ये शिवके लिए तपस्या कर रही हैं।’ ब्रह्मचारी बोले ‘तब तो भारी मूर्खता है; गुण, सम्मान और जातिसे हीन व्यक्तिपर क्यों आसक्त हो ? भीख माँग कर खाने वाले, चितापर सोने वाले, पिशाच-पिशाचिनियोंके नग्न नृत्य देखनेवाले, भस्म रमाने और भोग-धत्ता खाने वाले जटिल योगी तथा नर-कपाल, गज-खाल, व्याल धारण करनेवाले वाम देवसे बढ़कर भयंकर और अमंगल वेश कहाँ मिलेगा ?’^{१२} महादेवमें एक भी गुण नहीं है और तुम रूप-गुण-शील-सम्पन्न हो। अतः मेरी बात मानो और शंकरको पति बनानेकी लालसा छोड़ो। मेरा कहना न मानोगी तो पछताओगी।^{१३} परंतु पार्वती इन तकौसे विचलित नहीं हुई; क्रुद्ध होकर वे अपनी सखीसे बोलीं—

१. दे० ‘पार्वती मंगल’ ,, ६, ७, ८ ।
२. ,, वही ,, १० ।
३. ,, वही ,, ११ ।
४. ,, वही ,, १२ ।
५. ,, वही छ० १३, १४ ।
६. दे० ‘पार्वती मंगल’ छ० १५ ।
७. ,, वही ,, १६ ।
८. ,, ,, ,, १७ ।
९. ,, ,, ,, १८, १९ ।
१०. ,, ,, ,, २० ।
११. दे० ‘पार्वती मंगल’ छ० २१-२५ ।
१२. ,, वही ,, २६-२९ ।
१३. दे० ‘पार्वती मंगल’ छ० ३५ ।

‘इस बकवादीको हटाओ । भला यह प्रीतिकी रीति क्या जाने ?’ पार्वतीका अचल प्रेम देख कर शंकरने अपना वास्तविक तेजोमय रूप धारण किया ।^१ पार्वती प्रसन्न हुई ।^२ स्नेह-सुधामय वचन शंकरके मुखसे निकले—‘हे पार्वती ! तुमने अपने तप और प्रेमसे हमें मोल ले लिया; कहो क्या चाहती हो ?’^३ पार्वती उनके चरणोंपर गिर पड़ी और शिवजी उनको संतुष्ट करके चले गये; पार्वती भी अपने घर गई ।^४ शिवजीने सप्तर्षियोंको बुलाया और उन्हें कथा-प्रसंग सुना कर कहा ‘हिमालयके घर जाकर उनसे विवाहकी लग्न लिखवा लो ।’^५ मुनिगण शिवकी बात सुन कर प्रसन्न हुए और वे हिमालयके यहाँ पहुँचे: हिमालयने उनका पूजन-सत्कार किया ।^६ मुनि लोग लग्न लेकर सानन्द विदा हुए ।^७ हिमालयने संसार भरकी नदियों, तालाबों, पहाड़ों, बनों आदिको निमन्त्रण भेजे और वे सब सुन्दर रूप धारण कर उनके यहाँ भाँति-भाँतिके चीर, वस्त्रादिके उपहार लिए उपस्थित हुए ।^८ उधर शिवजीने ब्रह्माजीसे लग्न पढ़वाई और कहा—‘सब देवता बारातमें चलें ।’^९ सब देवता चलनेकी तैयारी करने लगे ।^{१०} विविध वेश वाले शिवजीके गण प्रसन्नतासे गाने लगे ।^{११} इन्द्र, विष्णु आदि सब देवोंके साथ शिवके यहाँ गये; शिवने उन सबका यथोचित सम्मान किया; बाजे बजने लगे; आकाशसे पुष्प वृष्टि होने लगी; शिवजीके साथ भूतों और प्रेतोंकी मंडली भी चली; पे स्वयं गज-चर्म, सर्प और नरमुंडमालसे सुशोभित थे ।^{१२}

बारात हिमालयके नगरके निकट पहुँची, विष्णुने देवताओंसे, अपने-अपने दलको अलग करके, चलनेके लिए कहा । शिवजी तथा उनके गणोंके अद्भुत, वेशोंको देख कर विष्णुने मुस्कराते हुए कहा ‘वरके अनुरूप बरात बनी है’, इस विनोदको सुन शिवजी भी हँसे ।^{१३} इस प्रकार बारात मार्गमें तरह-तरहके विनोद करते हुए नगरके समीप पहुँची; नगरमें खलबली मच गई;^{१४} जो लोग बारातकी अगवानी करनेके लिए आये थे, वे शिवजीकी मंडली देखकर डरके मारे, वाहनों समेत, भाग खड़े हुए,^{१५} लड़कोंने घर-घर जा कर यह सुनाया कि ‘दूल्हा पागल है, उसके बराती भूतप्रेत हैं; यह विवाह देखनेके लिए बड़ा भाग्य-

१. ,, वही ,, ३६-४१ ।
२. ,, वही ,, ४२ ।
३. ,, ,, ,, ४३ ।
४. ,, ,, ,, ४५ ।
५. दे० ‘पार्वती मंगल’ छन्द ४६ ।
६. ,, वही ,, ४७, ४८ ।
७. ,, वही ,, ४९-५० ।
८. ,, ,, ,, ५१ ।
९. ,, वही ,, ५२, ५३ ।
१०. दे० वही छ० ५६ ।
११. ,, ,, ,, ५७ ।
१२. ,, ,, ,, ५८ ।
१३. ,, ,, ,, ५९, ६० ।
१४. दे० ‘पार्वती मंगल’ छ० ६१, ६२ ।
१५. ,, वही ,, ६३ ।
१६. ,, वही ,, ६४ ।

शाली ही जीवित रहेगा ।^१ समाचारसे मयनाचित्त होकर नारदको कोसने लगीं; पुत्रीको बार-बार छातीसे लगा कर विविध-विधि विलाप करने लगीं, इसपर हिमवानने, उन्हें शिवकी महिमा बताते हुए, समझाया ।^२ यह चर्चा सुनकर शिवने करोड़ों कामदेवको लज्जित करने वाला मनोहर रूप धारण कर लिया ।^३ बारात शुभ मुहूर्तमें हिमालयके यहाँ पहुँची;^४ गजगामिनी नारियोंने 'परछन' किया;^५ सासने प्रसन्नचित्त हो शिवजी की आरती उतारी;^६ शिवजी मंडपमें विराजमान हुए ।^७ सखियोंके साथ पार्वती भी मंडपमें आई;^८ उनके आते ही देवोंने उन्हें प्रणाम किया ।^९ शाखोच्चार हुआ और लोक-वेदकी रीतिसे हिमालयने, कुश लेकर, कन्यादान किया ।^{१०} हवनके बाद भोंवरे हुई, विवाह सम्पन्न हो गया ।^{११} व्योममें नगाड़े बजने लगे और फूलोंकी वृष्टि हुई ।^{१२} बारात वाले प्रसन्न मन जनवासे गये; शिवजी 'कोहवर' गयें^{१३} और वहाँ लोकाचार हुए । फिर बारातकी जेबनार हुई और उस अवसरपर स्त्रियोंने गालियाँ गाईं ।^{१४} शिवजी तुलहिनको बिदा करा कर चले; हिमालयने देवताओंको 'पहिरावने' दिए, बड़ा सम्मान किया; मयनाने शिवजीसे कहा— 'पार्वतीको मेरा जीवन-धन समझियेगा ।'^{१५} हिमालय उमाको बिदा करके विलखते हुए लौटे और शिव पार्वती कैलास पहुँचे ।^{१६} संसारमें इस विवाहकी कीर्ति व्याप्त हो गई, और उस कीर्ति व्याप्तिके साथ कविकी मंगलाशा भी इस प्रकार व्यक्त हुई---

“उमा महेस बिआह-उछाह भुवन भरे ।

सबके सकल मनोरथ विधि पूरन करे” ।^{१७}

‘पार्वती मंगल’के इस कथांशकी समाप्तिके पश्चात् भी एक छन्द ग्रंथकी फलश्रुतिके रूपमें यों आया है—

‘मृगनयनि विधु-वदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सो ।

उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा-सार सो ।

कल्यान काज उछाह व्याह सनेह सहित जो गाइहैं ।

तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं” ।^{१८}

उद्धरणमें ‘उर धरहु जुवती जन’ पदांसे स्पष्ट है कि कविने इस ‘मंगल’की रचना विशेष रूपसे महिलाओंके लिए किया है । इसीलिए, वह, ग्रंथमें नारी प्रकृतिके सहज मार्मिक रूपसे संबद्ध प्रसंगोंके वर्णनमें संयत रूपसे जागरूक है । वर्णन सरस और भावव्यंजक हैं; हृदय स्पर्शी हैं; दृश्योंमें चित्रोपमता है, भावनाको जगानेकी पूर्ण क्षमता है । कविकी गौन्दर्यानुभूति बोधक कुछ रूप वर्णन भी अनूठे हैं । उनमें

१. ,, वही ,, ६५ ।
३. दे० ‘पार्वती मंगल छ० ६८, ६९ ।
५. ,, वही ,, ७१ ।
७. ,, ,, ,, ७३, ७४ ।
९. ,, वही ,, ७८ ।
११. ,, वही ,, ८० ।
१३. ,, वही ,, ८२-८३ ।
१५. ,, वही ,, ८५, ८६ ।
१७. ,, वही ,, ८९ ।

२. ,, ,, ,, ६६, ६७ ।
४. ,, वही ,, ७० ।
६. ,, वही ,, ७२ ।
८. दे० पार्वती मंगल छ० ७७ ।
१०. ,, वही ,, ७९ ।
१२. ,, वही ,, ८१ ।
१४. दे० पार्वती मंगल छ० ८४ ।
१६. ,, वही ,, ८८ ।
१८. ,, ‘पार्वती मंगल’ छ० ९० ।

पूत भावनाका जागरित करते हुए आकृष्ट करनेकी अपूर्व शक्ति है। प्रबन्धकी कथाके समुचित प्रवाह और मार्मिक प्रसंगोंके यथोचित वर्णनकी दृष्टिसे 'पार्वती मंगल' निर्दोष है। इसमें 'जानकी-मंगल'की भाँति सभी घटनाओंकी शृंखलाको अविच्छिन्न रखनेके प्रयासके कारण अपेक्षित मार्मिक प्रसंगोंके उचित वर्णनोंकी उपेक्षा नहीं की गई है। काव्यके उत्कर्षाधायक तत्त्वोंकी योजनाओंकी दृष्टिसे भी 'पार्वती मंगल' युष्टिपूर्ण नहीं है। सामान्यतया इसमें अनुप्रास, उपमा, रूपक, उपेक्षा प्रभृति अलंकारोंकी सहज रूपमें कुछ योजनाएँ हुई हैं। कहीं-कहीं लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियोंके बड़े सुंदर और सटीक प्रयोग हुए हैं। रसोंमें वात्सल्य, करुण, शृंगार, हास्य आदिके वर्णन मिलते हैं। निश्चय ही, 'कवि-मति-मृगलोचनी'ने शिव-पार्वतीके प्रति श्रद्धा-भक्तिसे आपूर्ण हृदयके लिए 'तिलोक सोभा सार' 'हार'की रचना की है।

'पार्वती मंगल'की कथावस्तुका आधार भी विचारणीय है। कुछ-लोगोंकी धारणा है कि इस ग्रंथके प्रणयनमें गोस्वामीजी कालिदासके महाकाव्य 'कुमार संभव'से प्रभावित हैं। पर, यह धारणा निर्मूल है। कालिदास और तुलसीदास दोनोंके आदर्शमें कोई साम्य नहीं। सच तो यह है कि शिव-पार्वतीके प्रति ग्रहीत तुलसीदासका दृष्टिकोण शिवपुराणपर आधारित है। और 'पार्वती मंगल'की कथा 'रामचरित मानस' में वर्णित शिव-पार्वती-विवाहकी विवश और पूर्ण कथाका संक्षिप्त संस्करण है। दोनोंकी अनेकानेक उक्तियों तकमें साम्य दिखाई पड़ता है। हाँ, एकाध प्रसंगोंमें कुछ फेर-फार करके 'मंगल'को अधिक नाटकीय, सुंदर और प्रभविष्णु बनाया गया है। यथा, 'मंगल'में शिव स्वयं ब्रह्मचारीका रूप धारण कर पार्वतीके प्रेमकी परीक्षा लेने आते हैं,^१ पर, 'मानस'में इस कामके लिए सतर्षि भेजे गये हैं।^२ 'मंगल'के अनुसार, जब बारात हिमालयके यहाँ पहुँची और शिवके डरावने रूपकी चर्चा सुन मनना व्याकुल होकर विलाप करने लगी तब शिवने 'सतकोटि मनोज मनोहर' रूप धारण कर लिया, जिसे देख कर सब लोग मुग्ध हो गये।^३ 'मानस'में इस रूप-परिवर्तन की चर्चा नहीं है।

रचनाकाल :

'पार्वती मंगल'का रचना काल ग्रंथमें ही इस प्रकार दिया गया है—

“जय संबत, फागुन सुदि पाँचै, गुर दिनु ।
अस्विनि धिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु-छिनु ॥”

'जय' वार्हस्पत्य वर्ष-प्रणालीका एक वर्ष है। यह सं० १६४३ में पड़ा था। अतः ग्रंथकी रचना-तिथि सं० १६४३, फाल्गुन शुक्ला पंचमी, दिन बृहस्पतिको मानी जाती है।

गीतावली : इसको 'रामगीतावली' या 'पदावली रामायण' नामोंसे भी कहीं-कहीं अभिहित किया गया है। गोस्वामीजीके ब्रजभाषाके तीनों मुक्तक प्रगीत काव्यों में पदोंकी संख्याकी दृष्टिसे 'गीतावली' सबसे बड़ी रचना है। इसमें कुल ३३० पद हैं, जिन्हें कथाके अनुरूप 'मानस'की भाँति सात कांडोंमें विभाजित किया गया है। इसके बालकांडमें सर्वाधिक पद हैं, इनकी संख्या ११० है; इसके बाद अयोध्याकांडके पदोंकी संख्या है, जो ८९ हैं, तीसरा स्थान सुंदरकांडके पदोंका है, वे ५१ हैं; उत्तरकांडमें ३८ पद हैं; लंकाकांडमें २३ और अरण्यकांडमें १७ पद हैं; सबसे कम पद किष्किंधाकांडमें हैं, उनकी संख्या केवल २ है।

१. दे० 'पार्वती मंगल' छन्द २५।

२. „ 'मानस' बा० दो० ७७।

३. „ 'पार्वती मंगल' छन्द ६८-६९।

४. „ वही छ० ३।

५. 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' ये तीनों मुक्तक प्रगीतकाव्य हैं।

लोकगीतोंकी परंपरा ऋग्वेदसे जुड़ी है या बौद्धोंके चर्या पदोंसे इस विवादमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। हमारे हिन्दी-साहित्यके बीच गीतकाव्यकी जो प्राचीन परंपरा संस्कृतके महाकवि जयदेवके 'गीत गोविंद' अथवा मैथिल कोकिल विद्यापतिकी पदावलीसे अनुप्राणित हो कर चली, उसके सहज मधुर रूपकी ओर कबीर, रैदास, धरनीदास प्रभृति निर्गुनिष्ट साधक भी झुके और उन्होंने अनेक सुंदर पदोंकी रचनाएँ की। आगे जब वही पुरानी गीत काव्योंकी परंपरा सगुणोपासक कृष्ण भक्तोंके बीच पहुँची तो अष्टछापी कवियोंके हृदयोंमें प्रेम-स्रोत उमड़ पड़े और उनमें सूरदासका 'सूरसागर' सर्वोपरि लहराया। इस अपार 'सूरसागर'के बीच प्रगीत काव्यकी जीवन्त पद्धतिको देखकर तुलसीदास अत्यधिक प्रभावि हुए और उन्होंने गीतकाव्यकी पद-पद्धतिमें विशिष्ट योगदान किया। इस विशिष्ट योगदानके एक महत्त्वपूर्ण अंशके अंतर्गत 'गीतावली' परिगणनीय है।

यद्यपि 'गीतावली' गीतकाव्य है फिर भी यह आदिसे लेकर अन्ततक राम-कथाको लेकर चली है। इसके समस्त गीतोंको कथा-क्रमके अनुसार सात कांडोंमें विभाजित किया गया है। पहले अर्थात् बालकांडमें मँजोए प्रसंग ये हैं:—दशरथके राजभवनमें सन्तानोत्पत्तिके उत्सासमें अवसरपर वधार्हका धूम-धाम,^१ नाम करणका उत्सव,^२ शिशुके प्रति माताके हृदयमें भरे अमित दुलारकी अनेक झाँकियाँ,^३ मनमोहक बाल-लीलाके विविध दृश्य,^४ विश्वामित्रका आगमन और राम-लक्ष्मणको यज्ञ-रक्षार्थ अपने साथ ले जाना,^५ राम-लक्ष्मणकी जोड़ीको देख मुनि-परिवारोंका प्रसन्न होना,^६ रामके पद-पद्म-परागसे अहल्याका उद्धार और राममें उसकी अखंड प्रीतिका होना,^७ विश्वामित्र आदि मुनियोंके साथ जनकपुर जाते हुए राम-लक्ष्मणको देख मार्गके लोगोंके स्नेहाभिप्रेत कथन,^८ दोनों भाइयों-सहित विश्वामित्रका जनकपुरमें प्रवेश और जनक द्वारा उनका स्वागत करना,^९ जनकपुर-वासियोंकी राम-लक्ष्मणके अप्रतिम सौन्दर्य-दर्शनकी उत्कट अभिलाषा,^{१०} राम-लक्ष्मणको देख विदेहका मुग्ध होना और विश्वामित्रसे उन दोनोंका परिचय पूछना,^{११} विश्वामित्र द्वारा जनकका समाधान करना,^{१२} दूसरे दिन प्रातःकाल जनककी फुलवारीमें दोनों भाइयोंका प्रवेश,^{१३} वहीं गौरी-पूजनके लिए सीताका जाना और देवीका आर्चाप पाना,^{१४} रंगभूमिमें दोनों भाइयोंका गमन, नगर-वासियोंके बीच उसकी चर्चा और प्रभाव,^{१५} जनक पर प्रभाव और उनकी दशा,^{१६} रामका धनुषके समीप जाना और उसे सहज ही उठाकर तोड़ डालना,^{१७} धनुर्भंग देखकर जनकका आनन्दित होना,^{१८} अविवेकी क्षुब्ध राजाओंकी कानाफूसी देख लक्ष्मणकी त्योरी चढ़ना,^{१९} सीताका रामके गलेमें जयमाल डालना और जयमालधारी रामकी अलौकिक शोभा,^{२०} माता कौसल्याका विश्वामित्रके साथ गए

१. 'गीतावली' बाल० गीत १-५।			२. 'गीतावली' बाल० गीत ६।		
३.	वही	७-२२।	४.	वही	२३-४६।
५.	वही	४७-५५।	६.	वही	५६।
७.	वही	५७-५९।	८.	वही	६०।
९.	वही	६१।	१०.	वही	६२-६३।
११.	वही	६४-६५।	१२.	वही	६६-६८।
१३.	वही	७१।	१४.	वही	७२।
१५.	वही	७३-८५।	१६.	वही	८६-८९।
१७.	वही	९०-९३।	१८.	वही	९४।
१९.	वही	९५।	२०.	वही	९६-९७।

पुत्रोंके समाचारके लिए चिंतित होना,^१ जनकके पुरोहित सतानंदका अवध जाकर धनुर्भंगका समाचार देना और अवधमें वधाई बजना, बरातका प्रस्थान,^२ बरात देखकर जनकपुरकी स्त्रियोंका उत्साह,^३ विवाहके अवसरपर राम जानकीकी जोड़ीकी अनुपम शोभा,^४ लक्ष्मण और उर्मिलाकी जोड़ीकी शोभा,^५ विवाहोपरांत अयोध्या आगमनपर माता कौसल्याका रामकी भुजाओंपर वार फेरना,^६ तथा प्रकुल्ल मन आरती उतारना।^७

अयोध्याकांडके गीतोंमें समाविष्ट प्रसंग ये हैं—राज्याभिषेककी तैयारी और कंकेशीके हृदयकी कसक,^८ वन-वासकी बात सुन माता कौसल्याकी हृदय-विद्राविनी दशा,^९ रामका सीताको समझाना,^{१०} विह्वल सीताकी मनोदशा और रामके साथ वन जानेका आग्रह,^{११} प्रस्थान करनेके लिए रामकी अनुमति पाकर सीताका संतुष्ट होना,^{१२} रामके साथ सीताको चलते देख अयोध्याके नर-नारियोंकी विह्वलता,^{१३} लक्ष्मणकी परम आतुरता देख रामका उन्हें अपने साथ चलनेकी अनुमति देना,^{१४} पुत्रोंको वन जानेके लिए तैयार देख दशरथकी असीम वेदना,^{१५} वन-मार्गमें जाती हुई कोमलंगी सीताका श्रमित होकर रामसे पूछना 'कहौ सो विपिन हैं धौं कैतिक दूरि',^{१६} वन-मार्गके बीच पड़नेवाले लोगोंका दोनों राजकुमारोंकी रूप छटाको देख नाना प्रकारसे प्रभावित होकर उनके प्रति कोमल भावनाओंका अजस्र स्रोत बहाना,^{१७} चित्रकूटके सुरम्य वातावरणका चित्रण,^{१८} इस सुंदर वातावरणके बीच सीता-सहित दोनों राजकुमारोंके अनुपम लावण्यका उल्लेहन,^{१९} रामके वनवासके दिनोंमें माता कौसल्याकी विरह-वेदनाका मार्मिक वर्णन,^{२०} दशरथकी प्राणान्तक वेदना और मृत्यु,^{२१} अयोध्यामें भरतकी ग्लानि और कंकेशी की भर्त्सना,^{२२} भरतकी चित्रकूट प्रस्थान करनेकी सम्मति और प्रस्थान,^{२३} भरतके प्रस्थान करनेके उपरांत पिंडड़ेमें बँधे शुक्र-सारिकाका रामके दर्शनसे वंचित रहनेका परिताप,^{२४} चित्रकूट जाते समय मार्गमें निषाद और भरतका मिलन,^{२५} चित्रकूटमें भरत-राम सम्मेलन, भाव-विह्वल भरतकी दशाका वर्णन,^{२६} राम द्वारा भरतका प्रबोधन,^{२७} भरतका रामके साथ वनवासका प्रस्ताव,^{२८} रामका भरतको पुनः समझाना और अंतमें रामकी आज्ञाको शिरोधार्य-

१. वही	,,	९९-१०१।	२. वही	,,	१०२-१०३।
३. वही	,,	१०४।	४. वही	,,	१०५, १०६, १०८।
५. वही	,,	१०७।	६. वही	,,	१०९।
७. वही	,,	११०।	८. 'गीतावली' अयो० गीत १।		
९. 'गीतावली' अयो० गीत २-४।			१०. वही	,,	५।
११. वही	,,	६-८।	१२. वही	,,	९।
१३. वही	,,	१०।	१४. वही	,,	११।
१५. वही	,,	१२।	१६. वही	,,	१३।
१७. वही	,,	१५-४२।	१८. वही	,,	४३।
१९. वही	,,	४४-५०।	२०. वही	,,	५१-५५।
२१. वही	,,	५६-५९।	२२. वही	,,	६०-६३।
२३. वही	,,	६४-६५।	२४. वही	,,	६६-६७।
२५. वही	,,	६८।	२६. वही	,,	६९-७१।
२७. वही	,,	७२, ७३।	२८. वही	,,	७४।

कर आश्वस्त होना,^१ भरतका अयोध्या लौटनेपर नंदिग्राममें तपश्चर्यामय कालक्षेप करना,^२ भरतकी तपोनिष्ठाका माहात्म्य,^३ पुत्र-वियोगिनी माता कौसल्याका पुत्र-वियोगमें भाँति-भाँतिकी चिंताएँ करना,^४ राघवके घोड़ोंकी दशा देखकर आत्मविस्मृत होना और उनके संबंधमें तरह-तरहकी कल्पना करना,^५ चित्रकूटसे रामका कहीं अन्यत्र जानेका समाचार पाकर विशेष खिन्न होना^६ तथा निपाद राजकी पत्रिकासे रामके पंचवटीमें कुटी बनाकर रहनेके शुभ समाचारसे ढाँढ़स पाना ।^७

‘गीतावली’के अरण्यकांडके गीतोंमें अधिक प्रसंगोंकी योजना नहीं है। रामका धनुष-बाण धारण किए कानन-विहार^८ मारीच-वध,^९ सीता-हरण,^{१०} जटायु-वध,^{११} रामकी वियोग-व्यथा,^{१२} क्षत-वीक्षत समुर्धु जटायुसे भेंट होनेपर राघवका गीधको गोदमें लेना, विविध भाँति समझाना और सद्गति देना,^{१३} रामका शबरीके आश्रममें जाकर उसका आतिथ्य स्वीकार करना और उसे परम पद देना ।^{१४} ये ही गीतावलीके अरण्यकांडके सभी प्रसंग हैं ।

किष्किंधाकांडमें केवल दो प्रसंगोंका समावेश है। वियोगी रामका ऋष्यमूक पर्वतपर सीताके आभूषणोंको देख वेदनाधिक्य^{१५} तथा रामका सुग्रीवको सीताकी खोजके लिए आदेश देना ।^{१६}

सुन्दर कांड के गीतों में जिन-जिन प्रसंगोंका वर्णन हुआ है वे ये हैं—रामाज्ञा को पाकर प्रभुकी मुद्रिकाको मुखमें रखकर हनुमानका समुद्रोल्लंघन करना और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रावणकी अशोक वाटिका में सीताको देखना^{१७}, कृश-तन्वी विरहिणी सीताको धीरे-धीरे प्रभुका गुण-गाथ सुनाकर मुद्रिकाको डालना^{१८}, मुद्रिकाको देख सीताका मुद्रिकासे प्रियका कुशल-क्षेम पूछना^{१९}, मुद्रिका द्वारा सीताका समाधान^{२०}, सीता और मुद्रिकाकी वार्ता सुन और उनकी दशा देख हनुमानकी विह्वलताका बढ़ना^{२१}, सीताको विश्वास दिलाने और आश्वस्त करनेके लिए हनुमानका तरह-तरहसे अपना परिचय देना^{२२}, सीताका ग्लानिवश अपनी करनीपर पश्चात्ताप करना^{२३}, हनुमानका नाना प्रकारसे सीताको समझाना और धैर्य बँधाना^{२४}, सीता का हनुमानसे राघवके आगमनका समय पूछना^{२५}, जन-दुख-दुखी भगवान् रामकी सहज प्रकृति बताते हुए हनुमानका सान्त्वनापूर्ण उत्तर^{२६}, हनुमान और रावणकी भेंटके अवसरपर रावणको रामका सुयश सुनाकर

१.	वही	,,	७५-७८ ।	२.	वही	,,	७९ ।
३.	वही	,,	८०-८२ ।	४.	वही	,,	८३-८५ ।
५.	वही	,,	८६, ८७ ।	६.	वही	,,	८८ ।
७.	वही	,,	८९ ।	८.	‘गीतावली’ अरण्य० गीत १, २ ।		
९.	‘गीतावली’ अरण्य० गीत ३-६ ।			१०.	वही	,,	७ ।
११.	वही	,,	८ ।	१२.	वही	,,	९-११ ।
१३.	वही	,,	१२-१६ ।	१४.	वही	,,	१७ ।
१५.	‘गीतावली’ किष्कि० गीत १ ।			१६.	‘गीतावली’ किष्कि० गीत २ ।		
१७.	‘गीतावली’ सुन्दर० गीत १ ।			१८.	‘गीतावली’ सुन्दर० गीत २ ।		
१९.	,,	,,	३ ।	२०.	,,	,,	४ ।
२१.	,,	,,	५ ।	२२.	,,	,,	६ ।
२३.	,,	,,	७ ।	२४.	,,	,,	८ ।
२५.	,,	,,	९, १० ।	२६.	,,	,,	११ ।

फटकारना^१, विदा होते समय सीताको हनुमानका आश्वासन^२, हनुमानको विदा होते देख सीताकी असीम व्यथाकी व्यंजना^३, हनुमानका रामके पास लौटना^४, सीताकी मार्मिक व्यथाका बहुविध वर्णन करना^५, सीताकी व्यथा सुन रामकी विह्वलता, लक्ष्मणसे सेना सजाकर चलनेका संवेत^६, विशाल वानरी सेनाके साथ रघुवरका प्रस्थान करना, समुद्रतटपर पहुँचकर कौतुकसे ही समुद्रपर सेतु-निर्माण कराना और सुबेल पर्वतके पास जाकर ठहरना, वहींसे बंदरोंका लंकाके दुर्गको देखना और प्रभुके आगमनकी सूचना देना^७, अपने वृत्तोंसे रामकी सेनाका समाचार जानकर रावणका गाल बजाना^८, मंदोदरी, महोदर, मात्यवान, विभीषण का रावणको समझाना^९ और क्रुद्ध रावणका विभीषणको पदाघात करना^{१०}, पदाघातसे खिन्न विभीषणका अपनी माताके पास जाकर बड़े भाईके दुर्व्यवहारकी बात बताना और भाईका साथ छोड़ रामकी शरणमें जानेके लिए माताकी आज्ञा माँगना^{११}, मातासे लोक-व्यवहार-पक्षका समर्थन सुन विभीषणका धर्म-संकटमें पड़ना और भाई कुबेरके पास मंत्रणाके लिए जाना, वहीं आकस्मिक रूपसे महादेवका आना और विभीषण को रामकी शरणमें जानेका उपदेश देना^{१२}, इस उपदेश और आशीषसे उमंगित होकर रामकी शरणमें जाते हुए भक्त विभीषणके तरंगायित हृदयकी विविध भाव-भंगिमाओं और कल्पनाओंका चित्रण^{१३}, वानरी सेना के समीप पहुँचने पर विभीषणके सचिव द्वारा उसके शरणमें आनेका मार्मिक निवेदन^{१४}, विनती सुन प्रभुका प्रसन्न हो अपने सेनापति तथा प्रमुख वानरोंसे विभीषणके विषयमें पूछना और उन सभीका इस विषयमें शंकित होना^{१५}। प्रभुका विभीषणकी साधुता-सज्जनताको लक्ष्य कर हनुमानसे पूछना और हनुमान द्वारा भक्तिमय उत्तर देना^{१६}, विभीषणका आगमन निश्चय होनेपर लक्ष्मण-हनुमानको उन्हें लेनेके लिए भेजना^{१७}, रामके पास आकर विभीषणका रामको प्रणाम करना और प्रेमसे उमंगित प्रभुका उठकर उसे भाई भरतकी भाँति गले लगाना तथा उसका कुशल-प्रश्न पूछना^{१८}, करुणाकरकी करुणासे विभीषणका मृत्युभय समाप्त होना और भक्तिका माहात्म्य-गान करना^{१९}, रामके मंगलमय मंजुल रूपके दर्शनके फलस्वरूप विभीषणके भाग्यकी सराहना और प्रभुकी अमित प्रभुता और भक्तवत्सलताका बखाना^{२०}, रामप्रेम-मग्न-विभीषणके राम की शरणमें पहुँचनेपर भावविह्वल मार्मिक कथन^{२१}, विभीषणको आश्वस्त करनेके लिए राम द्वारा अपने सहज भक्त-वत्सल स्वरूपका परिचय देना^{२२}, विभीषणका भजनीय राम और करणीय रामभक्तिको सर्वोत्कृष्ट घोषित करना^{२३}, सीताका त्रिजटासे अपनी व्यथा कहते हुए प्रियके दर्शनकी तीव्रोत्कंठा प्रकट करना^{२४} और अन्तमें त्रिजटाका भक्तिभावसे रामका प्रताप बखानकर सीताको समझाना^{२५}।

१. 'गीतावली' सुन्दर० गीत० १२, १३।			२. 'गीतावली' सुन्दर० गीत १४।		
३.	॥	१५।	४.	॥	१६।
५.	॥	१७-२०।	६.	॥	२१।
७.	॥	२२।	८.	॥	२३।
९.	॥	२३, २४।	१०.	॥	२५।
११.	॥	२६।	१२.	॥	२७।
१३.	॥	२८-३०।	१४.	॥	३१।
१५.	॥	३२।	१६.	॥	३३।
१७.	॥	३४, ३५।	१८.	॥	३६।
१९.	॥	३७।	२०.	॥	३८-४२।
२१.	॥	४३-४४।	२२.	॥	४५।
२३.	॥	४६।	२४.	॥	४७-५०।
२५.	॥	५१।			

लंका काडके गीतोंमें बहुत अधिक प्रसंग नहीं है। फिर भी प्राप्त प्रसंग ये हैं—मंदोदरीका अपने पतिको ऊँचा नीचा दिखाकर रामके प्रतापका संकेत करते हुए सीताके लौटा देनेकी प्रार्थना करना^१, दूत अंगद द्वारा रामका संदेश रावणको सुनाना और समझाना^२; अंगदकी सीखको तुच्छ समझ रावणकी अहंकारपूर्ण उक्ति^३, अंगदका रुष्ट होकर रावणको फटकारते-गर्जते हुए वापस आना^४, मूर्च्छित भाई लक्ष्मण को हृदयसे लगाकर रामका कातर होकर उनके गुणोंको बार-बार बखान कर विलाप करना, उसपर सभी वानरोंका हृदय दबना और जाम्बवंतका हनुमानको उत्तेजित करना^५; उत्साहित हनुमानका लक्ष्मणको बचानेके लिए यमराज तकको समाप्त करनेकी आज्ञा माँगना^६, रामकी आज्ञासे हनुमानका सुषेण नामक वैद्यको रातमें ही उठा लाना और संजीवनी बूटीके लिए द्रोणाचल को ही वैद्यके सामने रातके भीतर ही उपस्थित करना, वैद्य द्वारा उपचार किये जानेके बाद सजग लक्ष्मणको गले लगाकर रामका प्रसन्न होना, भालु-कपि-कटकका आनन्दित होना, देवोंका पुष्प वृष्टि करना^७। लक्ष्मण-मूर्छा-निवारण प्रसंगके बादका वर्णन द्रोणाचल पर्वत लेकर आते समयका है। रातमें आकाश मार्गसे पर्वत लेकर जाते हुए हनुमानको अयोध्यामें भरतके वाणसे आहत होकर राम-राम कहते हुए नीचे गिरना, भरतका तत्काल दौड़कर उन्हें उठाना, हनुमानके द्वारा लक्ष्मणकी मूर्च्छाका समाचार पाकर पछताना^८, हनुमानको पहले भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ी देख राम-लक्ष्मणका भ्रम होना, बादमें पहचानकर उन्हें बड़े प्रेमसे प्रणाम करना, दोनों भाइयोंका उन्हें (हनुमानको) हृदयसे लगाना, भरतका हनुमानको अपने वाणपर पर्वत-सहित चढ़ाकर तुरंत भेजनेका प्रस्ताव करना और वाणपर चढ़ाना, हनुमानका भरतकी महिमाके समक्ष बार-बार नत हो उनका गुणगान करना^९, लक्ष्मणकी मूर्च्छाकी सूचनासे माता सुमित्राका रामके लिए अत्यधिक चिंतित होना और इस संकट की घडीमें अपने द्वितीय पुत्र शत्रुघ्नको रामके पास भेजनेकी कामना करना^{१०}, प्रस्थान करते हुए हनुमानके द्वारा रामको भरत तथा माता कौसल्याका मार्मिक संदेश भेजना^{११}, उपचारोपरांत मूर्च्छा दूटनेपर लक्ष्मणके मुखसे राम-प्रेमगयी अद्भुत वाणीका निकलना^{१२}, संग्राममें रावणका वध करनेके उपरांत विजयी रामके अपूर्व रूपका चित्रण^{१३}, अवधिका अनुमानतः अन्त समझ कर माता कौसल्याकी दारुण व्यथा और पुत्र-भिलनकी उत्कंठाकी सीमाका दूटना^{१४}, काग और क्षेमकरीके माध्यमसे सगुन मनाना^{१५}, वनवासकी अवधि समाप्त होते ही रामका आगमन और सारी अयोध्याका आनन्दमग्न होना^{१६}, राज्याभिकोत्सवकी समाँ और राजसिंहासनपर सीता-साहित रामका शोभित होना^{१७}।

गीतावलीका उत्तरकांड वर्णाश्रमधर्मानुयायी रामराज्यकी दिव्य झाँकीसे आरंभ हुआ है^{१८}। इसके अनन्तर जानकी-बल्लभके मनोज रूपकी, सौन्दर्य-सागरकी अनेकानेक झाँकिया प्रस्तुत की गयी हैं^{१९}। रघुवर

१. 'गीतावली' लंका० गीत १।	२. 'गीतावली' लंका० गीत २।
३. " " ३।	४. " " ४।
५. " " ५-७।	६. " " ८।
७. 'गीतावली' लंका० गीत ९।	८. 'गीतावली' लंका० गीत १०।
९. " " ११, १२।	१०. " " १३।
११. " " १४।	१२. " " १५।
१३. " " १६।	१४. " " १७, १८।
१५. " " १९, २०।	१६. " " २१।
१७. " " २२, २३।	
१८. दे० 'गीतावली' उ० गीत १।	१९. दे० 'गीतावली' उ० गीत २-१७।

के हिंडोलाका सुरग्य दृश्य भी वर्णनातीत है, उसकी सुषमापर अयोध्याकी सुंदरिया तृण तोड़ती हैं, उसमें झुलने-झुलानेके सुखका वर्णन करना कठिन है^१। पावस ऋतुमें अयोध्या नगरीकी बहार देखते ही बनती है, चतुर्दिक छाये हुई दोलोत्सवकी छटापर कौन नहीं मुग्ध होता ? मनुष्यका तो कहना ही क्या, देवगण भी उसे देख पुष्पवृष्टि करके अपना आनन्द प्रकट करते हैं^२। दीपमालिकासे नगरीकी कांति क्योंकर दुगुणित होती है इसका भी सफल वर्णन है^३। वसंतके अमित विभवोंसे परिपूर्ण अयोध्याके बीच रामका वसंत-विहार उनके फाग खेलनेके अनूठे दृश्य भी खींचे गये हैं^४। अयोध्याका आनन्द देख उल्लसित होकर देवगण दिन-प्रतिदिन फूल बरसाया करते हैं^५। न्यायमें लवलीन राजा राम प्रजा-पालनमें हर समय दत्तचित्त रहते और प्रजा उन्हें अपने प्राणोंसे बढ़कर मानती^६। जब रामकी आयु कुछ ही शेष रही और जब पिताकी आयु का भोग करनेकी घड़ी समीप आने लगी तो वे धर्मसंकटमें पड़कर सीता-त्यागका निर्दोष उपाय सोचने लगे^७। अन्तमें बहुत सोच-विचार कर मन-ही-मन उन्हें त्याग देना निश्चय किया, इस निश्चयके बाद भी वे उस गर्भवती सर्वगुणसम्पन्ना, अनन्य पतिव्रता गृहिणी, रमणी-रत्न सीताको त्यागनेमें सकुचाते और उसके गुणोंको याद करके शोकमें डूब जाते हैं^८। चरोंसे गुप्त समाचारकी बातें कर, दूतोंके मुखसे लोकमतको जान, सीताकी वनमें जाकर स्त्री, बालकों सहित तपस्वियोंका पूजन करनेकी रुचिको ध्यानमें रख कर रामने लक्ष्मणको आदेश दिया कि वे रथमें बिठाकर सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रममें छोड़ आएं^९। प्रभुकी आज्ञा मान लक्ष्मणने सीताको ले जाकर वाल्मीकिको सौंप दिया; मुनिने लक्ष्मणकी ग्लानि और व्याकुलता देख उनसे कुछ नहीं पूछा, अपने आप ही सब कुछ समझ सीताका बड़ा सम्मान किया^{१०}। सीताने बड़े मार्मिक शब्दोंमें लक्ष्मणसे “लघनलाल कुपाल ! निपटहि डारिवी न बिसारि” आदि जो कुछ कहा^{११} उसका वे कोई उत्तर न दे सके, मौन ही रह कर सीताके चरण छूए और चल पड़े^{१२}। वे पश्चात्तापमें निमग्नोन्मग्न होते लौटते हैं^{१३}। वाल्मीकिने सीताको पुत्रि संबोधन करते हुए उन्हें गंगा-सेवन, वटवृक्ष पूजन आदिके मंगल मय उपदेश दिए^{१४}। सीताकी उपस्थितिसे आश्रमका वातावरण और भी मोहक, आनन्ददायक एवं शांत बन गया है, सखियोंके बीच सीता प्रसन्न हैं, फिर भी प्रियका वियोग कैसे भुलाया जा सकता है^{१५}। शुभ अवसर आया और जानकीने दो शिशुओंको जन्म दिया; सारा आश्रम आनन्दमग्न हो उठा: वाल्मीकिने ब्राह्मणोंको बुलाकर सब विधि और व्यवहार किये; मुनिकी पूर्ण अनुकूलता और पुत्र-सुखकी उपलब्धि आदि सभी सीताको सहायक और सुखदायक हो रहे हैं, पर “सुल राम-सनेहको तुलसी न जियतैं जाइ”^{१६} मुनिवर वाल्मीकिने बालकोंकी छठी बरहीकी रीतिकी और यथासमय नामकरण एवं अन्नप्राशन आदि संस्कारोंको भी किया; वे बालकोंको खेलाते समय कहते थे—“करिहैं राज सब जग-जीति”; सीताजीके दिन बालचरितको देखनेमें बीत तो जाते थे, पर उनका चित्तरूपी चित्रकार प्रेमरूपी

१. ” ” १८ ।

२. दे० ‘गीतावली’ उ० गीत १९ ।

४. ” ” २१, २२ ।

६. ” ” २४ ।

८. ” ” २६ ।

१०. ” ” २८ ।

१२. ” ” ३० ।

१४. ” ” ३२ ।

१६. दे० ‘गीतावली’ उ० गीत ३३ ।

३. दे० ‘गीतावली’ उ० गीत २० ।

५. ” ” २३ ।

७. ” ” २५ ।

९. ” ” २७ ।

११. ” ” २९ ।

१३. ” ” ३१ ।

१६. ” ‘गीतावली’ उ० गीत ३४ ।

भित्तिपर प्रियतमके चित्र बराबर अंकित करता रहता था ।^१ बनमें सीता अपने लव-कुश नामी पुत्रोंकी बाल-क्रीड़ाओंको देख प्रसन्न होती हैं, उनका प्रिय-वियोगका महादुख उसी प्रकार नियंत्रित हो जाता जैसे उफनाता हुआ दूध जलके छींटेसे शांत हो जाता है ।^२ कैकेयी जब तक जीवित रही भरतने भूल कर भी उससे मुँह खोल कर बात नहीं की, पर रामने उसे अपनी माता कौसल्यासे भी बढ़कर माना और कौसल्याने भी उससे किसी प्रकारका मनसुटाव नहीं रखा; रामका रुख देख सीता, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न सबने उसका निर्वाह किया, किन्तु भरतने राम-प्रेमके सिवा किसी अन्य मर्यादाको देखा ही नहीं ।^३ अवधवासियों द्वारा रामका मनोहर चरित गान तथा रामके राज्याभिषेकके अवसरपर तुलसीदासका प्रभुसे भक्ति-दानकी याचना करना गीतावलीके उत्तर काण्डके अंतिम गीतका विषय है ।^४

‘कवितावली’के परिचयके सिलसिलेमें कवितावली एवं ‘मानस’के सभी कांडोंके कथा-प्रसंगोंको दिखाया गया है, उन्हें दृष्टिमें रखते हुए ‘गीतावली’ और ‘मानस’ तथा ‘गीतावली’ और कवितावलीके कथा-प्रसंगोंके भेदाभेदपर प्रकाश डाला जा सकता है, पर स्थानाभावके कारण इसे छोड़ा जा रहा है ।

निस्संदेह ‘गीतावली’ के पदोंको सप्त काण्डोंमें कथाक्रमके अनुसार सजाकर रखा गया है, पर इससे उसे प्रबन्ध काव्य नहीं समझ लेना चाहिए । तुलसीके अन्य प्रबन्धकाव्योंकी भाँति इसमें न तो मंगलाचरण है और न अन्तमें मंगल-कामना या फलश्रुति ही है । कथाके वर्णनात्मक अंशोंका जमाव भी कहीं नहीं है । काण्डोंमें विभाजित पदों की संख्या भी असंतुलित है । कथा-बन्धोंके निर्वाहका अभाव तो है ही । वस्तुतः गीतावली मुक्तक कथाश्रित गीतकाव्य है । यह स्फुट गीतोंका संग्रह है । इसके सातों काण्डोंके कथाप्रसंगोंको ध्यानसे देखनेपर स्पष्टतया प्रकट होता है कि इसके अधिकांश भाग शोभा-धाम रामकी सौन्दर्य-मधुरिमाकी विभिन्न झाँकियोंसे ओत-प्रोत है । ऐसा लगता है कि कविकी चित्तवृत्ति प्रायः ऐसे ही सुकुमार कथा-प्रसंगों के चयनमें रमी है जो केवल कोमल भावोंकी व्यंजनानोंमें सहायक हैं । इसके विपरीत परुष भावोंसे सम्बद्ध कथा-प्रसंगोंकी पूर्ण रूपसे उपेक्षा कर दी गई है । गीधकी भेंट, लक्ष्मणकी शक्ति तथा हनुमान-सीता-भेंटके प्रसंग आये भी हैं तो अपने उत्तरार्द्ध कोमल रूपमें और इनके पूर्वार्द्धके ओजपूर्ण वीरात्मक प्रसंग छोड़ दिये गये हैं । ग्रन्थमें समायोजित प्रसंगोंमें कविके स्निग्ध दास्य-भक्ति-भावके साथ वात्सल्य, शृंगार या करुण रसकी अनूठी योजना हुई है । इस रसयोजनाके लिए गृहीत शब्द-योजना भी बे-जोड़ है । कोमल भावोंकी अभिव्यक्तिमें सर्वथा समर्थ माधुर्य और प्रसादगुणमयी कोमल, कांत पदावलीमें गीतावलीका प्रत्येक गीत प्रकृतितः ढल गया है । इन रस-सिद्ध गीतोंको यदि गीतकाव्यकी कसौटीपर कसा जाए तो ये पूर्ण रूपसे दोष-रहित मिलेंगे । इनमें सफल गीतकाव्यके अपेक्षित सभी तत्त्व विद्यमान हैं । ये पूर्णतया आत्मपरक या आत्माभिव्यंजक हैं; इनमें भावकी अखण्डता है; ये संक्षिप्त हैं और संगीतमय तो हैं ही । इनकी रचना भारतीय संगीत-शास्त्रकी अनेक राग-रागिनियोंमें की गई है । ग्रन्थ भरमें प्रयुक्त कुल इक्कीस^५ राग-रागनियाँ हैं जिनमें सबसे अधिक प्रयोग राग केदाराका हुआ है । इसमें ९२ पद रचे गये हैं । इसके बाद द्वितीय स्थान राग सोरठका है । इसमें ५१ पद हैं । केदारामें हृदयके उफानों और करुण प्रसंगोंकी सफल अभिव्यक्ति होती है, यही कारण है कि गीतावलीमें ऐसे प्रसंग केदारा रागमें ही गाये गये हैं, यथा, सुन्दर काण्ड में सीताका वियोग हनुमान द्वारा रामको सुनाया जाना, सीताका करुण समाचार, भक्त विभीषणका करुण

१. दे० गीतावली उत्तर० पद ३५ । २. वही ३६ । ३. वही ३७ । ४. वही ३८ । ५. असावरी, केदारा, कान्हारा, कल्याण, गौरी, जैत श्री, टोड़ी, चंचरी, धनाश्री, नट, बसन्त, मारू, मलार, भैरव, रामकली, ललित, विभास, बिलावल, सारंग, सोरठ, सूहो ।

मिलन, अथवा अयोध्या काण्डमें वन-मार्गमें ग्रामवधूटियोंकी कातरता तथा बालकाण्डमें जनकपुरकी नारियों के भावुक कथन एवं माता कौसल्याका वात्सल्य प्रेम इसी रागमें वर्णित हैं। गम्भीर वात्सल्य प्रेमका वर्णन भी केदारा रागकी प्रकृत्यानुकूल है। राग सोरठकी प्रकृति भी केदाराकी भाँति गम्भीर होती है। इसीलिए गम्भीर प्रकृतिके भावुक कविने इस रागको भी विशेष स्थान दिया है। सीता निर्वासन, सीताहरण, राम-विलाप, राम और गीध भेंट तथा वन-मार्गकी वधूटियोंके कथन सम्बन्धी गीत सोरठ रागमें ही रचे गये हैं। अन्यान्य प्रयुक्त रागोंको भी कविने वस्तु और भावके अनुरूप ही अपनाया है। इसका अध्ययन स्वतन्त्र रूपमें संगीत शास्त्रीय आधारपर होना चाहिए। यहाँ अवकाश नहीं।

‘गीतावली’ में सौन्दर्य और कोमल भावोंकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इसके लिए अपेक्षित कला के समुचित प्रयोगमें भी तुलसीदास नहीं चूके हैं। उन्होंने गीतके अनुरूप प्रसाद और माधुर्य गुणमयी कोमल पदावलीकी अनूठी योजना की है। गीतोंमें छन्द योजनाके औचित्यका पूर्ण ध्यान रखते हुए उन्हें संगीतमय बनाया गया है। शब्द-शक्तियोंके सहारे गीतोंमें भावको अधिक तीव्र और संवेदनीय बनाया गया है। अलंकारोंमें अनूठी परम्परा-मुक्त एवं नवीन मौलिक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और रूपकोंके सुदृढ़ प्रयोगसे गीतोंकी सहज सुन्दरता बढ़ गई है। कहीं-कहीं कविने अतिशयोक्ति और असंगति अलंकारोंके द्वारा भी कमाल कर दिया है। गीतावलीके सौन्दर्य-चित्रण और दृश्यांकनमें चित्रोपमता है। सहृदयके हृदयको छूनेकी अद्भुत क्षमता है।

रचना काल

‘गीतावली’ के रचनाकालका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। ग्रन्थकी शैली, उसमें सम्मिश्रित प्रसंगों आदिको दृष्टिमें रखकर विद्वानोंने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्तका अनुमान हमें बहुत कुछ संगत प्रतीत होता है। गुप्तजीके अनुसार ‘गीतावली’ का अनुमित रचनाकाल सं० १६५३ ठहराया गया है।^१

श्रीकृष्ण गीतावली : जैसा कि इसके नामसे ही स्पष्ट है कि यह श्रीकृष्णकी लीलासे सम्बद्ध गीतों की अवली है। इसमें कुल इकसठ पद हैं, जिन्हें संगीत मर्मज्ञ कविने किसी न किसी रागके अनुरूप रचा है। सबसे अधिक पद राग मलार^२ के हैं, इनकी संख्या तेरह है; इसके बाद राग गौरी^३का स्थान है, इसके ग्यारह पद हैं; राग केदारा^४में लिखे गये पद दस हैं और राग बिलावल^५में सात; राग आसावरी^६ तथा राग धनाश्री^७ दोनोंमें छह-छह पद हैं; तीन-तीन पद राग कान्हरा^८ और राग सोरठ^९के हैं; एक पद राग ललित^{१०}में है और एक पद राग नट^{११}में। ब्रजभाषामें रचित तुलसीदासके सुक्तक गीतकाव्योंके बीच कृष्ण गीतावलीका अपना निराला स्थान है। यदि सूरदासके ‘सूरसागर’की विपुल पद-तरंगोंके बीच कुछ ऐसी लहरें भी हैं जिनमें रामकथा रूपी रत्न द्यूतिमान् होते हैं तो तुलसीदासके वृहद् राम-साहित्य रत्नागारमें एक अतिरिक्त विशिष्ट रत्न कृष्ण गीतावलीके रूपमें भी जगमगाता है, जो भगवान् कृष्णके प्रति उनकी भक्तिभावनाका द्योतक है, साथ ही राम-श्याममें उनकी अभेद दृष्टिका ज्वलन्त प्रमाण है।

१. दे० ‘तुलसीदास’ पृ० २५३। २. दे० ‘श्री कृष्ण गीतावली’ पद १८, ३२ ३९-४९। ३. वही ९-१३, १९, २३, ५६-५९। ४. वही ७, ८, १४-१७, ५२-५५। ५. वही १, २१, २२, २४, ३६-३८। ६. वही ३-६, ६०, ६१। ७. वही २६-३१। ८. वही २५, ५०, ५१। ९. वही ३३-३५। १०. वही २। ११. वही २०।

कृष्णभक्तिके साम्प्रदायिक ढर्रेकी रक्षा करते हुए तुलसीदासने श्रीकृष्ण गीतावलीके प्रणयनमें सूरदास की गीत-पद्धतिका अनुकरण किया है, पर सूरकी भाँति वस्तु-व्यापार वर्णनमें नई नई उद्भावनाएँ करके विस्तार करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसीलिए, उन्होंने भक्तोंके प्रेमवश मनुजरूप धारी ब्रजजन हितकारी भगवान् श्रीकृष्णकी बालकेलिकी अमित परिधिको अपने कुछ ही पदोंमें मित कर दिया है; कन्हैयाकी माखन-चोरीकी कला और उसके खिलाफ गोपिकाओंकी तरह-तरहकी भावनामयी शिकायतोंको भी दो-चार पदोंमें ही दिखा दिया है^१; उन शिकायतोंको निराधार सिद्ध करनेके लिए, नटवरने माताके समक्ष, अपने भोले-भाले शब्दोंमें जो सफाई दी उसे भी सहृदयतापूर्वक कुछ ही पदोंमें दिया है^२। अपनी नटखटी आदतों के कारण एक दिन बालक कृष्ण कैसे दामोदर बना और कैसे क्रुद्ध माता यशोदा हाथमें लकुटी लेकर उसे डरा रही थीं, सभीत मुद्रामें बालक कैसा लग रहा था; उसे देखकर गोपियोंका हृदय कैसी अनुभूति कर रहा था, इत्यादि प्रसंग नहीं छूटे हैं, पर इन सबका विस्तार केवल चार पदोंमें है^३। ब्रजमण्डलपर क्षुब्ध होकर जब इन्द्रने उसे बहानेके लिए अजस्र मुसलाधार वृष्टि करवाई तो श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतको उँगली पर धारण करके ब्रजकी रक्षा करके इन्द्रके गर्वको चूर कर दिया। कृष्णका पराक्रम द्योतक यह प्रसंग भी 'कृष्ण गीतावली'के एक पदमें दिया गया है^४। गोचारण^५ तथा मुरलीवादन^६ सम्बन्धी पद नाममात्रके हैं।

'कृष्ण गीतावली'में कृष्णके अप्रतिम सौन्दर्यबोधक कई पद हैं^७। उनमेंसे एक स्तुतिपरक पद उद्धरणीय है—

‘गोपाल गोकुल-बल्लभी-प्रिय गोप-गोसुत-बल्लभं ।
चरनार बिंदमहं भजै भजनीय सुर-मुनि-दुर्लभं ॥
घनस्याम काम अनेक छवि, लोकाभिराम मनोहरं ।
किजल्क-बसन, किसोर मूरति, भूरि गुन करुना करं ॥
सिर केकि-पच्छ बिलोल कुण्डल अरुन बनरुह-लोचनं ।
गुंजावतंस विचित्र, सब अंग धातु भवभय मोचनं ॥
कच कुटिल सुन्दर तिलक भ्रू राका-मयंक समाननं ।
अपहरन ‘तुलसीदास’ त्रास बिहार बृंदा-काननं ॥’

संस्कृत गर्भित कोमल-कांत पदावलीमें राग गौरीके इस उद्धृत पदको पढ़ते ही इसी रागमें लिखी गई 'विनय-पत्रिका'की प्रसिद्ध स्तुति 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन-भव-भय दारुनं ।'^८ की याद आ जाती है और इन दोनों पदोंकी एक-सी योजनाके बीच एकमें श्याम और दूसरेमें रामकी रूप-छटा देखते ही बनती है। बात यह है कि प्रेमलक्षणा, मधुरा-भक्तिमें उपास्यकी रूप-मधुरिमाका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उपासक अपने उपास्यके प्रेममें अहर्निश डूबा हुआ उसके अंग-प्रत्यंगकी सुषमापर तृण तोड़ता है। वह संयोग या वियोग किसी भी अवस्थामें अपने उपास्यकी रूप-छटाको अपनी आँखोंके सामने निरन्तर देखना चाहता है। 'भागवत'की वैष्णव नवधा भक्ति या नारदसूत्रकी एकादश प्रकारकी आसक्तियोंपर आधारित भक्तिके किसी भी भेदको लीजिए, उनमेंसे कोई भी उपास्यके परम मनोहर रूपको छोड़कर नहीं टिक सकता। विशेषतया मधुरा-भक्तिका तो कुछ कहना ही नहीं। वहाँ तो संयोगमें प्रियके अंग-अंगकी सुषमा

१. दे० श्रीकृष्ण गीतावली पद ३, ६, ७, ९, ११। २. वही ४, ५, ८, १२। ३. वही १४-१७। ४. वही १८। ५. वही १९। ६. वही २०। ७. वही २१, २२, २३। ८. वही २३। ९. दे० 'विनय' पद ४५।

को निरन्तर देखते हुए भी तृप्ति नहीं होती और वियोगमें प्रियके दर्शनकी अभिलाषा और आशा प्राणको नहीं निकलने देती ।

कृष्णके मथुरा चले जानेपर उनके वियोगमें गोपिकायें जिस मार्मिक दशाको प्राप्त हुई उसका वर्णन भी तुलसीदासने बड़ी सहृदयतासे अनेक पदोंमें किया है । 'घायलकी गति घायल जाने'के अनुसार व्रजांगनाएँ एक दूसरेकी पीड़ाको समझती हैं और परस्पर ढाँढ़स वँधाती हैं । कोई खीझकर कृष्णपर दोष लगाती है तो दूसरी उसे समझाती और अपने ही लोगोंको दोषी ठहराती है । इसी प्रकार वे वियोग-वर्णनकी रुढ़ियों, यथा, चंद्रोपालम्भ, वर्षाकृतुका विषम प्रभाव आदिके माध्यमसे भी अपनी दयनीय दशाका निवेदन करनेमें नहीं चूकी हैं ।

कृष्णभक्तोंके बीच 'भ्रमर गीत'का प्रसंग सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण माना जाता है और इस प्रसंगके चित्रणमें सूरदासने कलम तोड़ दी है । तुलसीदास भी इस प्रसंगके मर्मको खूब जानते थे, तभी तो उन्होंने इस प्रसंगको 'कृष्ण गीतावली'का मुख्य अंग बनाया है । सर्वाधिक पद इसी प्रसंगके रचे हैं ।^१ ग्रंथके लगभग आधे भागमें 'भ्रमर-गीत'के ही पद हैं । तुलसीदास रचित भ्रमर गीतके पदोंकी संख्या सूरदासके भ्रमर गीतके पदोंकी संख्यासे बहुत कम अवश्य है, पर भाषा शैली और कलाकी दृष्टिसे तुलसीदासके भ्रमर गीतके पद सूरदासके इसी प्रसंगके गीतोंसे किसी मानेमें बढ़ कर हैं । संस्कृतकी जैसी 'कोमलकांत पदावली' और अनुप्रासोंकी सहज योजना तुलसीदासके गीतोंमें मिलती है वैसी सूरदासके पदोंमें नहीं । कहीं-कहीं शब्दोंको तोड़-मरोड़कर पदमें बैठानेकी जैसी प्रवृत्ति सूरदासमें पायी जाती है वैसी प्रवृत्ति तुलसीदासमें नहीं ।

तुलसीदासने भ्रमर गीत संबंधी अपने सभी पदोंमें गोपियोंके विरहोद्गारकी अनूठी व्यंजना की है । उन्होंने प्रेममयी गोपिकाओंकी अनेकानेक विदग्ध^२ उक्तियों और अनुभावों द्वारा उनके अनन्य प्रेमको दिखा कर उनके सगुण भक्ति-मार्गका समर्थन किया है और शठ मधुपको फटकार एवं जली-कटी सुना-सुनाकर उद्धवके निगुण-संबंधी ज्ञानोपदेशको बकवाद कहा है । इस प्रसंगका एक उदाहरण देखिए—

“कौन सुनै अलिकी चतुराई ।

अपनिहि मतिथिलास अकास महुँ चाहत सियनि चलाई ॥
सरल सुलभ हरि भगति-सुधाकर निगम पुराननि गाई ।
तजि सोइ सुधा मनोरथ करि करिको मरिहै, री माई ॥
जद्यपि ताका सोइ मारग प्रिय जाहि जहाँ बनि आई ।
मैनके दसन, कुलिसके मोदक कहत सुनत बौराई ॥
सगुन छीर निधि-तीर बसत ब्रज तिहुँपुर विदित बड़ाई ।
आक दुहन तुम्ह कछो सो परिहरि हम यह मति नहिं पाई ॥
जानत हैं जदुनाथ सबनकी बुधि बिबेक जड़ताई ।
'तुलसीदास'जनि बकहि, मधुप सठ ! हठ निसिदिन अँबराई ॥”^३

‘श्री कृष्ण गीतावली’ की समाप्ति भ्रमर गीतके पदोंसे नहीं की गयी है । उसके अन्तिम दोनों पदों^४ में अशरण और आर्तकी पुकार सुननेवाले कृपालु सुरारीकी वह लीला गायी गयी है, जिसमें उन्होंने वसन-

१. दे० 'कृष्ण गीतावली' पद २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२ । २. वही ३३-५९ ।
३. वही ३५, ३६, ३८, ३९, ४१, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ५२, ५३, ५६, ५७ । ४. वही ५१ । ५. वही ६०, ६१ ।

रूप धारण कर, सभाके बीच, असहाय द्रुपद-सुताकी लाज बचायी। अस्तु, क्लेश-शमन केशवकी ऐसी कीर्ति गाकर पदकी अन्तिम पंक्तिमें कवि कहता है—

“तुलसी”को न होइ सुनि कीरति कृष्णकृपालु-भगति पथ राजी ?”

‘श्री कृष्ण गीतावली’ तुलसीदासकी रचनाओंमें अन्यतम है। यह एक आदर्श मुक्तक गीत-काव्य है। क्या भाषा, क्या भाव, क्या कला सभी दृष्टियोंसे यह कविकी प्रौढ़ रचना है। इसमें प्रयुक्त ब्रजभाषा चलती ब्रजभाषा होनेपर भी अपने प्रशस्त रूपको प्रकट करनेवाली है; उसमें कहीं-कहीं कुछ प्राचीन प्रयोग तथा संस्कृतकी कोमलकांत पदावली भी अपनायी गयी है। सामान्यतया ब्रजमंडलकी महिलाओं तथा ब्रजभाषा सुन्दरीके अधरोंपर नृत्य करनेवाली मनोहर लोकोक्तियों और मुहावरोंके बड़े सुन्दर और स्थानीय प्रयोग विशेषतया भ्रमर-गीतके प्रसंगमें किये गये हैं। ये प्रयोग ब्रजवालाओंकी प्रकृति-चोतन, उनके वाग्वैदग्ध्य, उनके आन्तरिक भावोंकी व्यंजनामें चार चाँद लगा देते हैं; उक्तिचोज और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। ग्रंथ भरमें श्रुतिमाधुर्य और लयको दृष्टिमें रखकर प्रायः सभी पदोंकी योजना की गयी है। अलंकारिक योजनाएँ भी प्रकृष्ट हैं। श्रुतिमाधुर्य उत्पन्न करने अथवा छन्द-प्रवाहमें योग देनेवाले अनुप्रासोंके महज प्रयोग सर्वाधिक हुए हैं। भावोत्कर्षक साँग-रूपकोंकी योजनाएँ भी कुछ विशेष पदोंमें की गयी हैं, सामान्यतः परंपरित रूपकोंके प्रयोग अधिक हुए हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारोंकी योजनाएँ भी कम नहीं हैं। उदाहरण अलंकारके भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। रसोंमें संयोगवात्सल्य संबंधी कुछ पद हैं और कुछ संयोग शृंगारके; पर अधिकाधिक पद, यथा, भ्रमरगीत प्रसंगके प्रायः सभी पद वियोग शृंगार रसके ही हैं। इनके द्वारा मधुर भावकी भक्तिका प्रतिष्ठापन किया गया है।

रचनाकाल :

‘श्रीकृष्णगीतावली’का रचना-काल निश्चय करनेके लिए कोई अंतः साक्ष्य नहीं है। अतः इसके विषय-निर्वाह तथा शैलीके अध्ययनके आधारपर डॉ० माताप्रसाद गुप्तने इस संबंधमें जो निष्कर्ष निकाला है उसे ग्रहण कर लेनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं। गुप्तजीके अनुसार ‘श्रीकृष्ण गीतावली’का रचना-काल सं० १६५८ के लगभग ठहराया गया है।

बरवैरामायण :

इस ग्रंथका तुलसीदासके छोटे काव्य-ग्रंथोंमें सर्वोत्कृष्ट स्थान है। यह केवल छह-सात पृष्ठोंकी रचना है। इसमें कुल ६९ बरवै छन्द हैं, जो ‘मानस’की भाँति सात कांडोंमें विभाजित करके रखे गये हैं। बाल कांडमें १९ छन्द और उत्तर कांडमें सबसे अधिक २७ छन्द हैं। शेष कांडोंमें रखे गये छन्दोंकी संख्या इस प्रकार है—अयोध्या कांडमें ८ छन्द; अरण्यकांडमें ६ छन्द; किष्किंधा कांडमें २ छन्द, सुन्दर कांडमें ६ छन्द और लंका कांडमें केवल १ छन्द। इस प्रकार सातों कांडोंके छंदोंके बीच जो कथा-प्रसंग रखे गये हैं, वे विशृंखलित हैं, उनमें क्रमका अभाव और शैथिल्य है। बीचकी बातें उखड़ी-सी लगती हैं। घटना-विकास और पात्र-चरित्र-विकास तो है ही नहीं। प्रबंध-योजनाकी दृष्टिसे यह तुटिपूर्ण ही कहा जायेगा। तुलसीदास ऐसे कच्चे प्रबंध-रचना-कार नहीं थे। ऐसा लगता है कि बरवैरामायणकी रचना कविने प्रबंधके रूपमें नहीं की थी। समय-समयपर यथा रुचि स्फुट बरवै बनाये थे। पीछे चाहे स्वयं कविने अथवा और किसीने ‘मानस’के ढंगपर कथाका आभासमात्र लेकर कांड-क्रमसे उन छंदोंका संग्रह कर दिया है। इस

प्रकार संगृहीत 'बरवैरामायण' के प्रथम-छह कांडों में 'मानस' के कथा-क्रमका कुछ आभास मिलता भी है, पर उत्तर कांड सर्वथा निराला है। उसमें मानसके उत्तर-कांडकी किसी कथाका आभास या कथाक्रम नाम मात्रको भी नहीं है।

वस्तुतः बरवैरामायणकी सहज प्रवाहपूर्ण भाषा सराहनीय है। उसमें शब्द-योजना, भाव-व्यंजना और भाव-यंत्रणा तीनों असाधारण हैं। इस कलापूर्ण कृतिके कई छंदों में कविकी रुचि अलंकार योजनाओंकी ओर विशेष रही है। फलतः उसने मीलिततद्गुण,^१ उन्मीलित तद्गुण,^२ अद्गुण,^३ व्यतिरेक,^४ प्रतीप,^५ व्याजस्तुति,^६ भ्रांतापह्नुति^७ आदि अनेक अलंकारोंकी अच्छी और चमत्कार पूर्ण योजनाएँ की हैं, जो विशेष रूपसे भावों या विचारोंमें उत्कर्ष लानेमें सहायक हुई हैं; उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। अलंकार योजनाके साथ रूप-वर्णनकी अपूर्व क्षमता भी कविमें दिखायी पड़ती है। सीताके सौन्दर्यका वर्णन बहुत ही बढ़िया और श्रील है। उससे कविकी उच्चकोटिकी सौन्दर्यानुभूतिका परिचय मिलता है। उत्तर-कांडके छन्दोंमें चित्रकूट-वास-महिमा, रामभक्ति और रामनाममें कविकी निजी आस्था और विश्वास-की चर्चा ही अधिक है। यहाँ काव्यका कला-पक्ष भक्तिके भाव-पक्षके सामने दब गया है और अन्तमें कवि भक्तके रूपमें कहता है—

‘जनम-जनम जहँ-जहँ तनु तुलसिहि देहु ।
तहँ-तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु ॥’

बरवै छन्द शृंगार, करुण, शांत या भक्ति रसके उत्कर्ष बढ़ानेमें विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। बरवै रामायणमें शृंगार और भक्ति रस ही विशेष हैं।

रचनाकाल :

बरवै रामायणका रचना काल ग्रंथमें अप्राप्त है। अतः इसकी प्रौढ़ शैली तथा इसमें सन्निविष्ट कुछ विशेष वर्णनोंके सहारे इसका अनुमित रचना काल सं० १६६१—१६८० पर्यन्त ठहराया गया है।^१

‘दोहावली’ की गणना तुलसीदासकी ब्रजभाषाकी बड़ी कृतियोंमें की जाती है। इसके नामसे प्रकट है कि यह दोहोंका संग्रह है। पर ऐसी बात नहीं। वस्तुतः यह अधिकांश दोहों और कुछ सोरठोंका संग्रह है। इसमें संगृहीत कुल दोहों और सोरठोंकी संख्या ५७३ है। इनमेंसे १२२ दोहे ऐसे भी हैं जो तुलसीकी अन्य रचनाओंमें प्राप्त होते हैं, यथा, २ दोहे ‘वैराग्य संदीपिनी’के हैं, ३५ दोहे ‘रामाज्ञा प्रश्न’के और ८५ दोहे ‘रामचरितमानस’के हैं। शेष ४५१ दोहे स्वतन्त्र रूपसे लिखे गए हैं। प्राचीन मुक्तक काव्य की जो परम्परा चली आ रही थी उसके अन्तर्गत ऐहिक और आधुनिक मुक्तकों के अतिरिक्त नीति-उपदेश-कथनकी शैलीवाले मुक्तक भी थे। इसी पूर्ववर्ती नीति-उपदेश-कथन शैलीका छायाभास दोहावली के दोहोंपर समझना चाहिए। ‘दोहावली’ तुलसीके विविध रूपोंके दर्शन कराती है। यहाँ वे रामके अनन्य भक्तके रूपमें तो दिखाई ही पड़ते हैं, साथ ही विशिष्ट नीतिकार और महान् उपदेशक बनकर भी सबका उद्धार करते हैं; धर्म, आचार-विचार, शास्त्र-व्यवहार, रीति-नीति, भक्ति-ज्ञान-विराग आदि सभी विषयोंकी कुंजी बताते हैं। हम समाजके सद्-असद् स्वरूपको पहचानते हुए, उसकी गतिविधिको देखते हुए उसमें किस प्रकारसे जीवनयापन करनेपर सुखशांति प्राप्त कर सकते हैं इसके गुर दोहावलीमें ढूँढ़े जा सकते हैं।

१. दे० ‘बरवै० रामा०’ छ० ६। २. वही ५। ३. वही छ० १। ४. वही २, ३। ५. वही ९, ११, १७। ६. वही २४। ७. वही छ० ३८। ८. वही उ० छन्द ६९। ९. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : ‘तुलसीदास’ पृ० २५४।

दोहावली के विषयोंके बीच तुलसीदास कहीं सूक्तिकार बन गये हैं तो कहीं केवल भक्त कवि ही हैं। चातक के प्रसंगसे संबद्ध सभी दोहोंमें कवित्वका पूर्ण उन्मेष झलकता है, प्रेमकी ऐसी अनूठी व्यंजना अन्यत्र दुर्लभ है। दोहावलीके ऐसे प्रसंगोंके दोहे रस-सिद्ध मुक्तककी कोटिमें रखे जा सकते हैं। पर जहाँ तुलसीका सूक्तिकारवाला रूप अधिक उभड़ा है, वहाँ रस नहीं केवल कथन अथवा उक्ति-कौशलका प्रभाव मात्र परिलक्षित होता है। यह अवश्य है कि कविकी जीवनकी सच्ची अनुभूति और रीति-नीतिमय निष्कर्षोंके प्रति उत्कट अनुरक्तिके कारण अधिकांश सूक्तिपरक मुक्तक भी बड़े प्रभावक हैं और रससिद्ध मुक्तकोंसे किसी प्रकार घटिया नहीं कहे जा सकते। अन्य दोहोंमें राम-महिमा, नाम-माहात्म्य एवं भक्ति-विषयक दोहे तुलसीकी भावभूमिमें अंकुरित होनेके कारण स्वयं रसमय हैं। चातकके आदर्श प्रेममें तो जैसे तुलसीका भाव-विह्वल प्रेम स्वयं साकार हो उठा है। प्रेमाभक्तिका स्रोत फूट पड़ा है। भले ही ये उक्तियाँ चातक और बादलको ही लक्ष्य करके रची गई हैं, पर इनमें भगवद्भक्तिकी प्रच्छन्न और पूत गंग-धारा प्रवाहित होती है। उन्होंने इन उक्तियोंके आरम्भ में स्पष्ट लिख भी दिया है—

‘एक भरोसो एक बल एक आस विदवास ।
एक राम घन स्याम-हित चातक तुलसीदास ॥
जौ घन बरसै, समय सिर जौ भरि जनम उदास ।
तुलसी याचक चातकहिं तऊ तिहारी आस ॥’

‘दोहावली’ प्रौढ़ भाषा-शैलीमें लिखी रचना है। यद्यपि इसमें कविताके तीनों गुण विद्यमान हैं, पर प्रसाद गुणका इतना आधिक्य है कि इसकी बहुत-सी उक्तियाँ साधारण जन-समुदायकी जिह्वापर लोकोक्तियाँ बनकर नाचती रहती हैं। ग्रंथमें प्रयुक्त छन्द दोहा और सोरठा दोनों ही सुष्ठु, शुद्ध, और खूब मंजे हुए हैं; उनके प्रवाह या तुकमें कोई कमी नहीं; उनकी छोटी-सी परिधिमें गम्भीरसे गम्भीर भाव, या ऊँचेसे ऊँचे विचारों या तथ्योंको रखना ‘गागरमें सागर भरना’ ही तो है। इस प्रकारके भाव-प्रकाशन या विषय-निरूपणको स्पष्ट और मनोज्ञ बनानेके लिए कविने अलंकारोंके समुचित प्रयोग भी खूब किए हैं। ग्रंथ मरमें यों तो विविध अलंकारोंके अनेकानेक प्रयोग हुए हैं, पर प्रधानता है रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों की। इन तीनोंकी योजनाएं बड़ी ही मनोहर और सटीक उतरी हैं। निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, अन्योक्ति, तुल्ययोगिता आदि अन्य अलंकारोंके प्रयोग भी केवल चमत्कार प्रदर्शनके लिए नहीं किये गये हैं, प्रत्युत वे भी कविके मन्तव्यको स्पष्ट करने और उक्तिको रमणीय बनानेमें सहायक हुए हैं। जिस प्रकार समुचित अलंकार योजनाएं उक्तियोंमें उत्कर्ष लानेमें सहायक सिद्ध हुई हैं उसी प्रकार ध्वनियाँ भी। बहुत परिश्रम करके ढूँढ़नेके बाद भी शायद ही ऐसा कोई दोहा मिले जो ध्वनिसे खाली हो। प्रायः सभी दोहोंमें हृदयको छूनेकी अद्भुत शक्ति है। कुछ दोहोंको छोड़ प्रायः सभी दोहे प्रभावक हैं और प्रभावकता ही मुक्तक रचना की सर्वोपरि विशेषता है। ‘दोहावली’ हिन्दी साहित्यके मुक्तक-काव्य-भंडारके अनर्घ रत्नों में अन्यतम है।

‘दोहावली’के सभी दोहोंके प्रसंगका परिचय देनेका अवकाश न देखकर हम उनके वर्ण्य-विषयोंको दृष्टिमें रखते हुए इस प्रकारका वर्गीकरण करके उन्हें समझ सकते हैं—

(क) रामके त्र्यायतन अथवा अन्य रूपके ध्यान-सम्बन्धी दोहे^१।

(ख) रामनाम-जपकी विधि और निष्ठा-द्योतक दोहे^२।

१. ‘दोहावली’ दो० २७७, २७८। २. वही १-४; ९८। ३. वही ५; ६; २३; ३३; ३६; ३८; ३९; १३३।

- (ग) रामनाम-माहात्म्य-द्योतक दोहे^१ ।
 (घ) भगवान् रामके गुण, उनकी साहिबी और भक्तवत्सलता-सम्बन्धी दोहे^२ ।
 (ङ) रामनाम या राम-प्रेमसे पराङ्मुख अंगोंकी निस्सारता-सम्बन्धी दोहे^३ ।
 (च) राम-विमुखकी गति-संबन्धी दोहे^४ ।
 (छ) मनको चेतावनी देनेवाले दोहे^५ ।
 (ज) चातक-प्रेमसे अनन्य प्रेमकी व्यंजना करनेवाले दोहे^६ ?
 (झ) राम-प्रेम और प्रेमकी महिमा द्योतक दोहे^७ ।
 (ञ) अवतीर्ण रामका शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मत्व द्योतक दोहे^८ ।
 (ट) सगुणोपासनाकी सुगमता और निर्गुणोपासनाकी दुरूहता व्यंजक दोहे^९ ।
 (ठ) सगुणोपासनाके मुख्य उपाय द्योतक दोहे^{१०} ।
 (ड) राम-भक्तके लक्षण-संबंधी दोहे^{११} ।
 (ढ) राम-भक्तकी महिमा द्योतक दोहे^{१२} ।
 (ण) राम-भक्तिकी महिमा और सर्वश्रेष्ठता-सम्बन्धी दोहे^{१३} ।
 (त) रामकी बाल-लीला-सम्बन्धी दोहे^{१४} ।
 (थ) राम-परिवारके विशिष्ट परिवारिकों तथा रामके विशिष्ट भक्तजनोंकी महिमा प्रकट करने वाले दोहे^{१५} ।
 (द) राम-राज्यका सौख्याधिक्य व्यंजक दोहे^{१६} ।
 (ध) यिषयासक्ति, काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकारकी प्रबलता दिखा उनसे आगाह करने वाले दोहे^{१७} ।
 (न) साधना-मार्गमें नारीको त्याज्य ठहरानेवाले दोहे^{१८} ।
 (प) जीव, माया, काल, जग, ज्ञान-सम्बन्धी दोहे^{१९} ।
 (फ) सत्संग-कुसंग तथा सज्जन-दुर्जन-सम्बन्धी दोहे^{२०} ।

१. दे० 'दोहावली' दो० ६; ८; ९; १०-२२; २४-३९ । २. वही ४६-५०, ५२, ५५, ७४, १००, १०६, ११२, १४७, १४९, १५०, १५६, १५८, १६०, १६२, १६४, १६५, १६८, १६९, १७८, १८९-१९८, ५६५, ५६६, ५७३ । ३. वही ४०, ४१ ४२, ४३, ४४, ४५ । ४. वही ५६, ६४, ६६-७५; ९७, २७२ । ५. वही ५१, १०३, १३१, १३४, १५३, १५४, २५२, २७५, ३३३, ३५१ । ६. वही २७७-३१२ । ७. वही ५७, ५८, ६३, ८६, ८९, ९१, १०३, १०४, १४२, १५२, २०३, २५६, ३१४-३२१; ३५२, ३५६; ४०३, ४५४, ५७२ । ८. वही ११३, ११४, ११६, १२३, १२४, १९९ । ९. वही ७८-८१; २५१, २५२, २७३ । १०. वही ८२-८६, ९८, १३५, १५२ । ११. वही ८७-९६, १३५ । १२. वही ५९, १११, ११२, १४१, १४२, १४३ । १३. वही ८४, ९५, ९९, १०३, १०४, १०६, १०८, १०९, ११०, १२६-१३१; १३८, १३९, २५० । १४. वही ११७-१२० । १५. वही २०४, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१६, २१७, २१८-२२१; २२२-२२७; २२८; २२९-२३३, २३८, २४० । १६. वही १८२, १८३, १८४, १८५, १८६ । १७. वही २५३-२६६, २७०, २४३, ८२, ८३ । १८. वही २६२, २६५, २६७, २६८, २६९ । १९. वही २४४-२४९, २६०, २६३, २७६, ३६५, ३६६, २७३, ६९ । २०. वही १३२; ३३४-३३९; ३४१, ३४२, ३४६, ३५०-३५४, ३५७-३६३, ३६९, ३७४-३७७, ३८२, ३९१-३९६; ३९८-४०२, ४१८, ४५५, ५३६ ।

- (ब) ग्रह, नक्षत्र, शकुन, लोक-विश्वास सम्बन्धी ज्योतिषपर आधारित दोहे^१ ।
 (भ) कलियुगकी कुचाल और उमका प्रभाव द्योतक दोहे^२ ।
 (म) राजा और राजनीति विषयक दोहे^३ ।
 (य) लोक-व्यवहारमें आचरणीय सामान्य और विशेष नीति-सम्बन्धी दोहे^४ ।
 (र) मित्रता-शत्रुता-सम्बन्धी दोहे^५ ।
 (ल) बाहु-पीड़ा, रुद्रवीसी तथा अन्तिम वृद्धावस्था-संकेतक दोहे^६ ।
 (व) भक्त-साधु-गुरु तथा चित्रकूट-काशी-सेवनकी महिमा प्रकट करनेवाले दोहे^७ ।
 (श) फुटकर दोहे^८ ।

फुटकर दोहोंके अन्तिम वर्गमें उन्हीं दोहोंको समझना चाहिए जिन्हें ऊपरके किसी अन्य वर्गमें नहीं रखा जा सकता । फुटकर वर्गके अन्तर्गत आनेवाले प्रत्येक दोहेमें पृथक्-पृथक् वस्तुका संकेत है ।

रचना काल 'दोहावली'का रचनाकाल किसी वर्ष विशेषको नहीं कहा जा सकता । इसकी रचनाका आयाम विस्तृत है । वैराग्य संदीपिनी और 'मानस'के जो दोहे इसमें प्राप्त होते हैं उन्हें अलगकरके, स्वतन्त्र रूपमें लिखे गए दोहोंको देखनेपर उनमेंसे कुछ ऐसे दोहे भी हैं जो काल विशेषका द्योतन करते हैं, यथा, ऊपर दिये गये (थ) वर्गमें आनेवाला दोहा १९२ * दशरथकी महिमासे सम्बन्धित है और यह दोहा टोडरके उत्तराधिकारियोंके पंचायत नामके शीर्षपर लिखा हुआ है । (ल) वर्गमें आनेवाले दोहों मेंसे एक 'रुद्रवीसी'का उल्लेख करता है, तीन 'बाहु-पीड़ा'का वर्णन करते हैं और तीन वृद्धावस्था और मृत्युकी छायाका चित्रांकन करते हैं । इन सभी दोहोंको दृष्टिमें रखते हुए यही कहा जा सकता है कि 'दोहावली'की रचनाका आयाम 'वैराग्य-संदीपिनी'के रचनाकालसे लेकर कविकी वृद्धावस्थातक फैला हुआ है । उनके दोहे कविके सम्पूर्ण साहित्यिक जीवनसे सम्बद्ध हैं, वे किसी कालविशेषकी कृति नहीं हैं । वैराग्य-संदीपिनी तुलसीकी प्रारम्भिक कृति है इसका रचनाकाल सं० १६१४ है और तुलसीका स्वर्गवास सं० १६८० में हुआ । ऐसा लगता है कि जीवनके अन्तिम प्रहरका संकेत करनेवाले दोहे अन्तिम वर्षमें ही लिखे गए हों । अतः दोहावलीके रचनाकालके सम्बन्धमें यही कहना समीचीन होगा कि इसमें सं० १६१४ से सं० १६८० तककी रचनाएँ हैं, फलतः यही उसका मान्य रचनाकाल है ।

कवितावली तुलसीदास की ब्रजभाषाकी प्रौढ़ एवं प्रकृष्ट कृतियोंमेंसे एक है । इसमें वर्णित राम-कथाकी कुछ क्रमवद्धता और काण्डों की योजना देखते हुए कोई इसे प्रबन्ध काव्य समझने की भूल कर सकता है, पर वस्तुतः यह प्रबन्ध काव्य नहीं है । यह एक मुक्तक काव्य है । इसका प्रत्येक छन्द अपने आपमें पूर्ण है, और राम-कथा या भक्तिभावना या किसी अन्य विषयके विषयमें पूर्ण आत्मनिर्भरताके साथ प्रकाश

१. दो० दोहावली दो० २६८, ४५६-४६३ । २. वही ५३७, ५४५-५६२, ५६६ । ३. वही ४१६, ४१७, ५०१-५२६; ५३० । ४. वही ३४४-३४९, ३५५, ३६७, ३६८, ३७०, ३७१, ३७३-३७८-३८१, ३८२, ३९०, ३९३, ३९४, ३९७, ४०४-४१२, ४१४, ४१५, ४१९-४२७; ४२८-४५५, ४६४, ५०२, ५३८-५४४, ५६५ । ५. वही ३२२-३२६; ३२८-३३२ । ६. वही २३४-२३६, २४०, १५५, १७८, ५६३ । ७. वही १४०, १४१, १८०, १९५, २३७ । ८. वही १०१, १०२, १०७, ११२५, १६८, १६९, २४१, २७१, २७४, २७५, ३२५, ३२७, ५७१ ।

ॐ तुलसी जान्यो दसरथहि, धरमु न सत्य समान ।

रामु तजे जेहि लागि, विनु राम परिहरे प्रान ॥”

डालता है। ऐसा लगता है कि पहले ये छन्द स्फुट रूपमें रचे गये थे, बादमें इन्हें यथासंभव कथाक्रमसे निबद्धकर दिया गया। 'कवितावली' की जो सबसे प्राचीन प्रति मिलती है उसमें अथवा बादवाली प्रतियों में भी 'हनुमान बाहुक' एक परिशिष्ट-सा दिखायी पड़ता है। अतः 'बाहुक' को एक स्वतन्त्र कृति न मान कर 'कवितावली' का ही एक अंग मानना समीचीन है। 'बाहुक' को 'कवितावली' का अंश मानते हुए यदि इसके छन्दों की संख्या बतानी हो तो कहा जा सकता है कि इसमें कुल तीन सौ उनहत्तर छन्द हैं। तीन सौ पचीस छन्द तो इसके सातों काण्डमें विभाजित हैं और चौवालीस छन्द 'बाहुक' के अन्तर्गत हैं। ग्रन्थके प्रत्येक काण्डकी छन्द-संख्या एक-सी नहीं है। अरण्य तथा किष्किंधा काण्डोंमें क्रमशः केवल एक-एक छन्द हैं; बालकाण्डमें बाईस छन्द हैं और अयोध्याकाण्डमें में अट्ठाईस; सुन्दरकाण्डमें बत्तीस तथा लंकाकाण्डमें अट्ठावन छन्द हैं; उत्तरकाण्ड (बाहुक-सहित) दो सौ सत्ताईस छन्दों का है। विभिन्न काण्डों में छन्दों की संख्याके ऐसे असन्तुलनसे भी ग्रन्थका मुक्तक काव्य होना सिद्ध होता है।

वर्ण्य वस्तुको दृष्टिमें रखते हुए 'कवितावली' स्पष्टतः दो भागोंमें विभाजितकी जा सकती है। बालकाण्डसे लंकाकाण्डतक उसका कथा-भाग है और उत्तरकाण्ड (बाहुक-सहित) एक स्वतन्त्र अंश ही है। कथाभागमें 'रामचरित मानस' के प्रथम छह काण्डोंकी कथा न्यूनाधिक रूपमें वर्णित है। बालकाण्डमें समाविष्ट प्रारम्भिक कुछ सरस सवैयाओंमें रामके मनोश्च बालरूप और उनकी सद्गुण बाल-लीला की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। उसके पश्चात् जनकपुरके बीच रंगभूमिमें उपस्थित महाबलशाली भूमण्डलके अनेकानेक राजाओं और रामके समक्ष जनकके बन्दीजन द्वारा राजाके प्रणकी घोषणा वर्णित है;^१ फिर, बड़े-बड़े पराक्रमी राजाओंके गर्वको चूर करनेवाले रामने बड़ी शीघ्रतासे धनुषको उठाकर उसकी प्रत्यंचा चढ़ा दी;^२ वज्रसे भी बढ़कर कठोर धनुष टूट गया।^३ धनुर्भंगका दिगंतव्यापी रव होते ही पृथ्वी डगमगाने लगी, चराचर विह्वल हो उठा, ब्रह्मा शंकर-सहित चौक पड़े, शेषनाग, कच्छप और बाराह भी कलमलाने लगे।^४ धनुष टूटनेके बाद जनकपुरकी सुन्दरियाँ अपार आनन्दका अनुभव करते हुए आपसमें रामके रूपकी प्रशंसा करने लगीं।^५ रामकी आरती उतारनेवाली और मंगल गान करनेवाली सखियोंके बीच शोभित सीता आगे बढ़ी और सखियोंके कथनानुसार उन्होंने रामके गलेमें जयमाल डाल दिया;^६ रानी और जनकपुरकी स्त्रियाँ उस नयनाभिराम दृश्यको अपने-अपने गवाक्षोंसे निर्निमेष अवलोकन करती रहीं। उस अवसरपर नगरमें तो नगाड़े बज ही रहे थे, स्वर्ग भी दुन्दुभी-नादसे पृथित था और देवांगनाएँ भी उल्लसित होकर नाच रही थीं, देवगण पुष्पवृष्टिकर रहे थे, सखियाँ राम और सीताकी अपूर्व शोभापर तृण तोड़ती हुयी "जोरी जियौ जुग-जुग" की याचनाकर रहो थीं।^७ उपस्थित राज-समाजमें भले राजाओंने दुष्ट भूषोंसे नीतिमय, मर्यादापूर्ण वचन बोलने तथा सीताको जगदम्बा और रामको जगत-पिता रूपमें देखनेकी बातें कही।^८ इसके बाद भक्त कवि द्वारा भक्ति परम्परामें अग्रगण्य भक्तों, यथा, शिव-पार्वती, नारद, लोमश, काकभुशुण्डि, हनुमान आदि की यह घोषणा—"सीय-सी न तीय, न पुरुष राम सारिखों"^९ कथित है। सुन्दर राजभवनमें सुन्दरियों के मंगल गान तथा युवा विप्रोंके वेद पाठके बीच दूल्हा और दुल्हिनके रूपमें राम और सीताकी ध्वज निराली थी; सीता अपने कंकणमें प्रतिबिम्बित रामकी परछाईपर युक्तिपूर्वक टकटकी बाँधे थीं।^{१०} चंडीशके प्रचण्ड धनुषके टूटनेपर उसके घोर रवको सुन क्रुद्ध परशुराम आ धमके और दर्पभरे शब्दोंमें धनुष तोड़नेवाले

१. कवितावली' बाल० छन्द १-३, ५। २. वही ४, ६, ७। ३. वही ८। ४. वही ९। ५. वही १०। ६. वही ११। ७. वही १२। ८. वही १३। ९. वही १४। १०. वही १५। ११. वही १६। १२. वही १७।

नृपतिको भूप-मण्डलीसे अलग होकर सामना करने और मरनेके लिए ललकारा^१। लक्ष्मणको बहुत बुरा लगा और उन्होंने मुस्कराकर भृगुनाथकी गर्वोक्तिपर व्यंग किया।^२ इससे और उत्तेजित होकर, अपने परशु का यश गाते हुए परशुरामने विश्वामित्रसे पूछा—“गोरो गरुर गुमानभरो कहो कौसिक छोटे सो दोटो है काको^३ ?” विश्वामित्रने दोनों भाइयोंके नाम बताए और कौसिकेश दशरथके राजकुमारके रूपमें उनका परिचय दिया, साथ ही उन्हें अपने साथ लानेका कारण और उनके अलौकिक पराक्रमकी चर्चा भी की।^४ परशुराम धनुर्भंगकी ध्वनि सुन नृपालके कराल कालके समान क्रुद्ध हो परशु लिए दौड़े आये; पहले चित्तचोर राम-लक्ष्मणको प्रीतिपूर्वक देखा फिर आँखें दिखाने लगे। अन्तमें, सहज धीरशिरोमणि, महावीर, परम विनयी और विजयी रामके समक्ष सुयोग्य धीर परशुराम झुके और उन्हें अपना धनुषबाण सौंपकर चले गए।^५

‘कवितावली’के अयोध्याकाण्डका आरम्भ राम-वन-गमनके प्रसंगसे होता है। इस प्रसंगमें, सर्वप्रथम दो ऐसे सवैये आये हैं जिनमें पुनीत प्रिया एवं सुबन्धुके साथ तापस वेश-भूषणमें रामकी अपूर्व शोभा, त्याग, और सुचिताका बड़ा ही हृदयहारी, गहरी अनुभूति और कवित्वमय वर्णन है।^६ तदुपरान्त राम-वन-गमन के ही सिलसिलेमें प्रेम-विह्वल माता कौसल्या सुमित्रासे अपने और कैकेयीके बीच घनिष्ठ प्रेम और सुव्यवहार की चर्चा करती हुई निष्ठुर विधाताको ही अपने सिरस-सुमन-सम-सुखपर वज्राघात करनेवाला ठहराती हैं^७। सुमित्राने कौसल्याके पैरोंपर सिर रखते हुए विवशता प्रकटकी और विधिगतिकी प्रबलताको स्वीकार करते हुए भी कैकेयीके कृत्यको अविवेकपूर्ण और अकरणीय कहा।^८ आगे केवट द्वारा रामके पाद-प्रक्षालनका प्रसंग छह छन्दोंमें वर्णित है। जिनके नामका सहारा लेकर अजामिल जैसे महापातकी भी संसार-सागरसे तरते हैं, जिनके चरणोंसे त्रयलोक पावनी सुरसरि निकली है वही प्रभु रामने कगारपर खड़े होकर नदी पार करने के लिए केवटसे नाव माँगी,^९ पर उस अनन्य प्रेमी भक्तने नाव न लाकर, बड़े भोले भावसे, सतर्क, अनेक युक्तियोंसे “बिना पग धोएँ हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू” की अपनी शर्त दोहरायी।^{१०} राम भक्तकी प्रीतिको कैसे टुकरा सकते थे, केवटने उनके पैर धोए, सपरिवार पादोदक पान किया, देवोंने उसके भाग्यकी सराहना करते हुए पुष्प वृष्टि की।^{११} परम कोमलगी सीता वन मार्गकी ओर कुछ ही दूर चली कि उनके ललाटपर पसीनेके कण झलकने लगे और वे प्रेमसे पूछने लगीं—“अभी कितनी दूर चलना है और कहाँ चलकर पर्णकुटी बनाइ एगा ?”

प्रियाकी आतुरता देख प्रियकी आँखें बरस पड़ीं^{१२}। इसी प्रकार सीताके मार्गश्रम और उनके प्रति प्रियका अगम अनुराग व्यंजक अन्य छन्द भी है।^{१३} वन मार्गमें किसी नवीन वृक्षकी डाल पकड़कर खड़े, कन्धेपर धनुष धारण किए और हाथमें बाण लिए रामकी अलौकिक सुषमापर तुलसीदास अपने प्राण निछावर करके भी ऐसी मूर्तिको हृदयमें बसानेके कायल हैं।^{१४} वन-मार्गमें पड़नेवाले गाँवोंके स्त्री-पुरुषोंके समक्ष जब बटोही राम-लक्ष्मण और सीता पहुँचती थीं तो वे लोग इनके सम्बन्धमें आपसमें तरह-तरहकी बातें करते और इन तीनोंके अप्रतिम सौन्दर्यको देख मुग्ध हो जाते।^{१५} सुनि-वेशमें, धनुष-बाण धारण किए दोनों राजकुमारों और उनके साथ साक्षात् लक्ष्मी-सी शोभित सुन्दरीको जिसने देखा उसका मन उनके साथ चला गया।^{१६} उन तीनोंकी वेश-भूषा एवं रूप-छटा के सामने वेश-भूषा तथा रूप-छटाके सभी उपमानोंका मान मर्दित हो जाता।^{१७} वल्कलवस्त्रधारी, सुनि वेशी दोनों राजकुमारों तथा उनके साथकी अनुपम सुन्दरीके दर्शन पाकर

१. ‘कवितावली’ बाल० छन्द १८। २. वही १९। ३. वही २०। ४. वही २१। ५. वही २२।

६. दे० ‘कविता०’ अयो० छन्द १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९।

१०. वही १०। ११. वही ११। १२. वही १२। १३. वही १३। १४. वही १४। १५. वही १५। १६. वही १५।

१७. वही १६।

लोग धन्य हो गये, उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो कामदेव, बसन्त और रति तीनों तपस्वियोंके वेश बनाए पथिक रूपसे मार्गमें लोगोंके नेत्रोंको सफल करने चले हैं ।^१ दर्शकोंमेंसे कुछ ग्राम-वधूटियोंका सरल, कोमल हृदय इन पथिकोंके वेश और उनकी अवस्थाको देख-मुनकर अत्यधिक सहानुभूतिसे भर गया और उनकी आँखों से आँसू टपक पड़े ।^२ मृदुल कलेवर, सहज मनोहर राजकुमारों और विधु-वदनी बनिताको कठोर भूमिपर नंगे पाँव जाते देख उनका कलेजा फटने लगा ।^३ वनमें भेजेनेवाली निर्मम माता, पिता और सगे सम्बन्धियों पर आक्षेप करते हुए उन्होंने कहा—“आँखिनमें सखि ! राखिबे जोगु, इन्हैं किमिकै वनवासु दियो है” ।^४ जिज्ञासु ग्रामवधुओंने अपनी जिज्ञासाकी तृप्तिके लिए सीताके समीप पहुँचकर उनसे बड़े ही विनम्र और मर्यादित ढंगसे पूछा—“कहौ, साँवरे-से सखि ! रावरे को हैं ?” उनके अमृतमय वचनोंको सुन सीताने उन्हें चतुरा समझकर उनका समाधान भी बड़े चातुर्य और सुन्दर ढंगसे किया—‘तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समझाइ कछू, मुसुकाइ चली’ ।^५ पथिक राम-लक्ष्मण-सीताके आगे चले जानेपर ग्रामवधुएँ धैर्य धारण कर आपसमें तरह-तरहसे प्रेमविभोर होकर उनकी चर्चा करती रहीं, उन सबके हृदयमें राम बस गये थे ।^६ आखेटार्थ निकले राम जब तरकस बाँधे तथा धनुषपर बाण चढ़ाए मृगके साथ दौड़ते तो उनके छमसीकर भय शरीरकी अपूर्व शोभा देखते ही बनती ।^७ जब धनुषधारी राम मृगया खेलते-फिरते उस समय उनका अलौकिक रूप देख मृग-मृगी चौंकर चकित हो जाते और चित्तलगाकर देखने लगते, उन्हें (रामको) कामदेव समझकर वे (मृग-मृगी) शोभादर्शनोद्भूत आनन्दमें डूबकर स्तम्भित हो जाते ।^८ प्रस्तुत काण्डका अन्तिम छन्द बड़ा प्रसिद्ध है । रामके आगमनसे विन्ध्य पर्वतपर रहनेवाले महाव्रतधारी उदासी और तपस्वी लोग खिल उठे और उन्होंने प्रसुके चरण-रजकी महिमा बड़े ही सरस परिहासके माध्यमसे व्यक्त की ।^९

‘कवितावली’ का अरण्य-कांड नाम मात्र का कांड है । इसकी सारी पूंजी एक सवैया मात्र है, जिसमें पंचवटीके बीच हेम-कुरंग-रूप-धारी मारीचके पीछे रामके धनुष-बाण लेकर दौड़ने का सुंदर चित्र खींचा गया है । इसी प्रकार किष्किधा कांडकी रचनाभी मात्र एक कवित्तमें है, जिसमें पर्वत पर चढ़े हनुमानका उमंगित होकर छलांग मार समुद्रोल्लंघन कर लंका-गमन का संकेत है ।

सुंदरकांडकी कथाके भीतर, सर्वप्रथम, हनुमानका रावणकी अशोक-वाटिकामें प्रविष्ट हो उसकी अनुपम सुषमाका अवलोकन करना और अशोक वृक्षके नीचे बैठी परम विपण्णसीताको देख दुखी और क्षुब्ध होकर वाटिकाको तहस-नहस करना वर्णित है^{१०}; उसके पश्चात् गली-गलीके चिथड़े बटोर कर इकट्ठा करना और उन्हें तेलमें भिगो-भिगोकर हनुमानकी बढ़ी पूंछमें भलीभाँति लपेटने और उसमें आग लगानेका प्रसंग आया है^{११}; आग लगने पर हनुमानने प्रबल उत्साहके साथ लंका-दहन^{१२}का भयंकर और उत्कट कार्य अद्भुत कौशलके साथ पूरा करके समुद्र में कूदकर पूंछकी आग बुझाई और उसके बाद सीताके समक्ष उपस्थित होकर उन्हें ढाँढ़स बेधाते हुए विदा माँगी^{१३}; सीतासे विदा लेकर चलनेके बाद उन्होंने समुद्र पार किया और किनारे पर प्रतीक्षा करतेहुए अपने बंदर साथियोंको सीताका समाचार सुनाकर आनन्दित किया^{१४}; फिर सबके सब प्रसन्न होकर किष्किधा पहुँचे और अंगदके आदेशसे मधुवनके मधुमय फलोंको खाने लगे^{१५} । सुंदरकांडका अन्तिम छन्द रामकी महान् उदारताका परिचायक है, जब वनवासी

१. दे० कविता० अयो० छन्द १७ । २. वही १८ । ३. वही १९ । ४. वही २० । ५. वही २१ । ६. वही २२ । ७. वही २३, २४, २५ । ८. वही २६ । ९. वही २७ । १०. वही २८ । ११. वही सुंदर० छन्द १, २ । १२. वही ३ । १३. वही २४-२५ । १४. वही २६, २७ । १५. वही २८, २९ । १६. वही ३१ ।

महाराज रामने बानरी सेनाके साथ समुद्र तट पर डेरा डाला और तीन दिनोंका उपवास व्रत रखा, उसी समय विभीषण उनकी शरणमें आया तो उन्होंने अपने एक दिनके व्रतके उपलक्ष्यमें मानो सोनेकी लंकाका ही दान दिया^१ ।

लंकाकांडका आरंभ, राक्षसोंकी चिंता-वर्णनसे होता है । हनुमानके अपार पराक्रम और लंका-दहनको देख रावणके राक्षस मंत्रीगण प्रणपूर्वक पुकार-पुकार कर कहने लगे कि कोसलेन्द्रके क्रुद्ध होकर आक्रमण करने पर त्रिपुरारि और मुरारि भी राक्षसोंकी रक्षा नहीं कर सकेगे^२ । उधर त्रिजटा नामक राक्षसीने राम-बाणकी विशेष महिमा जताकर, सीताको आश्वस्त करते हुए कहाकि रामकी कृपासे विभीषण लंकाधिपति होगा और रणक्षेत्रमें रामके क्रुद्ध होने पर रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद आदि कोई नहीं टिक पाएँगे^३ । जिज्ञासु सीताने त्रिजटासे पूछा 'क्या आर्यपुत्रके कोई समाचार मिले हैं?' त्रिजटाने समाचार पानेकी हामी भरी और बताया कि भानुकुल-वेतु (राम) समुद्र पर पुल बाँधकर इस पार उतर आए हैं, अब शीघ्र ही इन्द्रादि लोकपालोके शोककी निवृत्ति और राक्षसोंका विनाश होने वाला है^४ । समुद्र पर सेतु बाँधकर समुद्र पार करनेके समाचार तथा लंका-दहन के प्रत्यक्ष दर्शन से राक्षसगण अत्यधिक संतुष्ट हुए^५; वे आपसमें रामके अतुलनीय पराक्रमकी चर्चा करतेहुए रावणके हठकी निंदा करने लगे^६ । पुलपर होकर बंदर समुदाय पार उतरा और 'रामचन्द्रकी जय' ध्वनिसे आकाश गूँज उठा, बंदरोंके हाथोंमें बड़े-बड़े पर्वत शोभित थे और अपूर्व उत्साह से वे लंकाकी ओर बढ़े^७ । विकराल, विशाल भालु-बंदरोकी विकट सेनाकालके समान क्रुद्ध हो, रामकी दुहाई देकर चल पड़ी, फलतः पृथ्वी डगमगा उठी, कच्छप और वाराह कलमला गए, पहाड़ प्रकंपित हुए, शेषनाग दबने लगे^८ । सुक तथा सारणने विकट बानरी सेनाको देखा और भयभीत होकर लौटनेपर रावणको सेनाका वृतांत सुनाया^९ । रावणकी सभामें, दूतके रूपमें गर्जन करते हुए अंगदके प्रवेश करते ही सबकी घिग्धी बंध गयी^{१०} । अंगदने रावणको ऊँचा-नीचा समझाया^{११}, रामके अमित पराक्रमको दर्शाया^{१२}, अपने अपार बल-विक्रमका भी आभास दिया^{१३}, और अन्तमें, क्रुद्ध होकर सभामें अपने पाँव रोपकर मेघनाद जैसे महाबलशाली वीरोंके गर्वको चूर किया^{१४} । मंदोदरीने स्वर्णगिरिके शिखरपर चढ़कर बानरी सेनाको देखा तो उसके होश उड़ गए । रामके अद्भुत पराक्रम द्योतक प्रसंगों तथा उनके ईश्वरत्व की ओर संकेत करके, उसने अपने पतिसे रामकी शरणमें जाने और सीताको लौटा देनेकी तरह-तरह से प्रार्थनाकी^{१५}; रामके दोनों दूतों (हनुमान^{१६} तथा अंगद^{१७}) की करनीकी याद दिलाकर भी समझाया और वैदेहीके लौटानेकी बात फिर-फिर कही । रावणने क्रुद्ध होकर युद्धके लिए बड़े-बड़े यशस्वी वीरोंको बुलाया, जो युद्धकी तैयारीकी सारी रीति जानते थे; रावणकी सहायनीय चतुरंगिणी सेनाके प्रस्थानके समय नगाड़े बजने लगे और उस सेनाको देख बानरी सेना उत्साहित हो किल-कारने लगी; रामका इशारा पाकर हनुमान हर्षित हुए^{१८} । रावणके कवचधारी, हाथीपर सवार, महाबली वीरोंके दलको मेरु और मंदर पर्वतके समान विशाल बानर और भालु पर्वत और शालके वृक्षों से बुरी तरह मारने लगे^{१९} । तीव्रगामी घोड़ोंपर सवार चुने हुए छबीले छैल जिनके मनमें बड़ा गर्व था और रणमें

१. दे० कविता०, सुंदर० छन्द ३२ । २. वही लंका० छन्द १ । ३. वही २ । ४. वही ३ । ५. वही ४ । ६. वही ५ । ७. वही ६ । ८. वही ७ । ९. वही ८ । १०. वही ९ । ११. वही १० । १२. वही ११, १२ । १३. वही १३, १४ । १४. वही १५, १६ । १५. वही १७, १८, १९, २५, २६, २७, २८, २९ । १६. वही २०, २१, २२, २३, २४ । १७. वही २१ । १८. वही ३० । १९. वही ३१ ।

जिनका शरीर कभी ढीला नहीं हुआ था; ऐसे लोगोंको हनुमान लीलासे ही पटक-पटक मार रहे थे^१। बड़ी-बड़ी भरी हुयी (मांसल)—भुजाएँ और भारी शरीर वाले, अमित बलशाली अश्वारोही लाखों निशाचर वीरोंके विशेष दलका संहार लक्ष्मणजीने किया^२। राम और रावण दोनों पक्षोंके प्रचण्ड वीरोंकी घमासान लड़ाई छिड़ गयी^३। रावणके वीर राक्षस तीर, बरछी और सेलोंसे प्रहार करते थे और रामके वीर बानर-भालु ताड़ और तमालके वृक्षों तथा पर्वतोंके बड़े-बड़े पौने टुकड़े चलाते थे; सब वीर सिंहनाद करके भिड़ गए; उनमेंसे जो शूर थे, वे तो तलवारोंके बीचमें धँस गए और कायर खिसक गए; बानरगण राक्षसोंके भुजदण्डोंको विदीर्ण करते और धराशायी मुँड परस्पर तिरस्कार करते थे^४। राक्षसरूपी मतवाले हाथियोंके समूहका नाश करते हुए हनुमान सिंहके समान युद्ध करते थे, उस समय वे कालको भी कालसे दिखायी पड़ते थे^५। कालको भी जीतने वाले विकराल राक्षस वीरोंको जब अपने दावमे पड़े पाया तो उन्हें ललकार कर हठी हनुमानने पूँछमें लपेटकर आकाशकी ओर देखकर फेंक दिया, वे सूखकर बवंडरके साथ उड़ गए, पृथ्वीपर आए ही नहीं^६। हनुमानकी वज्र मुष्टिकाके प्रहारसे रावण जैसा विश्वविख्यात विकट भटभी गिर पड़ा^७। शूरोंमें अग्रगण्य, महाप्रचंड भुजदंडवाले, रणबोझुरे राक्षस जो लाखोंमे प्रबल थे, उन्हें हनुमानने प्रचारकर मारा और जो चोट खाए घूम रहे थे, उनको राम नाम ले-लेकर अपने भाई लक्ष्मणको दिखला रहे थे^८। हनुमानने हाथियोंसे हाथियोंको मार गिराया, घोड़ोंसे घोड़ोंका संहार किया और रथोंसे मजबूत रथोंको विदीर्ण कर दिया, उनके चंचल चपेट, लातोंकी चोट और चुटकी काटनेसे राक्षसोंकी सेनाएँ घबड़ाकर चकर खाने लगी^९। पवन-सुतने बड़े-बड़े यशस्वी वीर और बलवान निशाचर सेनारतियोंको मृत्युके घाट उतारा, उन्होंने अपने रणकौशलके अनेक दृश्य उपस्थित किए जिन्हें देख श्रीराम, रावण, देवगण, ब्रह्मा, विष्णु, चंडीपति और चंडिका सभी मन ही मन प्रशंसा करने लगे^{१०}। बड़े-बड़े भुजदंडवाले प्रबल और प्रचंड राक्षस वीरोंसे घिर जानेपर हनुमानने लाँगूल और लातसे घोर प्रहारकर उनकी दुर्गति कर दी थी, वे कराहते हुए रक्षाकी टेर लगाते थे^{११}। निशाचरोंकी सेनामें बाँकेबाने वाले बलवान हनुमानके क्रमिक प्रवेश करनेपर अकम्पन (रावणका पुत्र) काँपने लगा, अतिकाय (रावणके पुत्र) का शरीर सूख गया और कुम्भकर्ण भी आकर आह-सी लेकर पड़ रहा; जैसे गजराजोंको देख सिंह दौड़ता है, वैसे ही पवनसुत उन्हें देखते ही गरजकर दौड़े^{१२}। हनुमानकी हाँकको सुन दिक्पाल, कच्छप, शेष, पृथ्वी, सुमेरु सभी भयभीत हो उठे, समुद्र उछलने लगा, शिव शंकित हुए, ब्रह्मा व्याकुल तथा बधिर होकर इधर-उधर झाँकने लगे, और घर-घरमें राक्षसोंकी स्त्रियोंके गर्भपात हुए^{१३}। हनुमानकी-सी हाँक और उनका-सा पराक्रम त्रिलोकमें अन्य किसीमें नहीं^{१४}। ऐसी भयंकर हाँक करके, अपूर्व उत्साहके साथ हनुमानने चपतोंकी विकट चोटसे सारी सेनाकी कुंदी कर दी^{१५}। उन्होंने कहीं तो वृक्ष और पर्वत उखाड़कर शत्रुओंपर बरसाया, कहीं घोड़ेसे घोड़ेको मसल दिया, कहीं हाथियोंको घसीट कर मारा, कहीं शत्रुके सिर और छातीपर लात और थप्पड़ जड़े, कहीं भटको पूँछमें लपेटकर पटका और 'जयति राम, जय !' उच्चारण करते हुए क्रुद्ध होकर अविचल युद्ध लीला की।^{१६} रावणके लाखों वीर जिन्हें लक्ष्मणने मार गिराया था, वे सब फूले हुए सुन्दर पलाशके समान दिखाई पड़ते थे और हनुमान के द्वारा विदीर्ण, विकलांग कर पछाड़े गये शूरोंका दृश्य भी विचित्र था, उस समय रणभूमिका कौतुक

१. दे० कविता० लंका० छन्द ३२। २. वही ३३। ३. वही ३४। ४. वही ३५। ५. वही ३६। ६. वही ३७। ७. वही ३८। ८. वही ३९। ९. वही ४०। १०. वही ४१। ११. वही ४२। १२. वही ४३। १३. वही ४४। १४. वही ४५। १५. वही ४६। १६. वही ४७।

वमानोंपर चढ़े देवगण भी देख रहे थे ।^१ जहाँ-तहाँ लोथोंसे बहनेवाली रक्त-धाराओंके योगसे लोहूकी नदी अपने पूर्ण रूपमें उमड़ चली, जो वीर के लिए उत्साहवर्द्धक थी, पर निकम्मे और कायरोंके लिए भयदायक थी; सियार चिल्ला-चिल्लाकर पेट फाड़-फाड़कर खाते और कौए, गृध्र आदि कोलाहल करते थे ।^२ योगिनियोंका समूह अलग ही समररूपी नदीके किनारे बैठकर खोपड़ीके खप्परोंमें गूदे (मांस) को रुधिर से सान-सानकर सत्तूके समान खाता था और कोई-कोई प्रेत उसे घोल-घोलकर पीते थे; भूतनाथ अपने गणोंके साथ उनकी ओर देख-देखकर हाथसे हाथ मिलाकर हँस रहे थे ।^३ रामके बाण धनुषसे छूटते ही रावणके शरीरमें अस्थिपञ्जर भेदकर बाहर निकल जाते थे, फिर भी पीड़ाको कुछ न गिनकर धीर रावण अड़ा था, यह देखकर जोगिनियाँ खप्पर लिए (रक्तपानार्थ) जुट गईं; रामका शरीर रक्तके छींटोंसे युक्त बड़ा ही सुहावना लगता था ।^४ मेघनादके द्वारा घायल किए गए लक्ष्मणकी मूर्च्छाको देख राम बिलखने लगे और उनके मुखसे इतना ही निकला कि मैं विभीषणके लिए कोई प्रबन्ध नहीं कर सका, निश्चय ही उनके समान सुशील और शरणागतवत्सल दूसरा कोई नहीं ।^५ रामकी ऐसी विकलताको देख मानना पड़ेगा कि उनका-सा भुजाका आश्रय देनेवाला, उदार और दयालु अपर वीर नहीं ।^६ हनुमान द्रोणाचल पर्वतको उखाड़कर अविलम्ब, जिस द्रुत गतिसे चले उसकी तुलनामें गरुड़ और मनकी गति भी लज्जित होती थी ।^७ सञ्जीवनी बूटी लानेके लिए जाते हुए हनुमानके मार्ग में बाधा डालनेके लिए रावणने कालनेमिको भेजा, पर, उस कपटवेशी मुनिको कपिने समाप्त कर दिया, अनेक योजनके विशाल द्रोणाचल को सहसा उखाड़ लिया और अनेक वीर राक्षसोंका संहार किया; कपिनाथके द्रोणाचल पर्वत और भरतके समाचार एक साथ लानेपर मुग्ध होकर राम उनके हाथ बिक गए ।^८ वनवाससे लेकर अन्यान्य एकसे एक बढ़कर विषम परिस्थितियोंमें भी जिनके मुखकी श्री रंचमात्र भी धूमिल नहीं हुई, वही प्रभु रामने, अन्तमें, पलमात्रमें त्रिलोकको दिशोककर (लक्ष्मणको सचेत और रावणको मारकर) सबके रक्षक हुए ।^९ रामने कुम्भकर्णको मारा और रावणकी गर्दनमें तोड़कर उसका भी वध किया, रामरूपी सूर्यके तेजसे राक्षसरूपी ओले गल गए, देवगण प्रसन्न हो दुन्दुभी बजा-बजाकर नाचने लगे ।^{१०} रामने युद्धमें सकुल रावण तथा राक्षसोंका संहार किया, इससे प्रसन्न होकर देवोंने फूल बरसाए; नर, नाग, किन्नर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी पुलकित हुए, सबका हृदय प्रेमसे भर गया; बाम भागमें शोभित सीता-सहित रामके दर्शनसे सबके आनन्दकी वृद्धि और विषादका अन्त हुआ; रामकी आज्ञा पाकर लोकपाल अपने-अपने लोकोंको गए; प्रभुने सबको निहाल कर-करके मानो परवाना दे दिया (कि अब तुम लोग निर्भय रहो) ।^{११} इसी प्रसंग पर कवितावलीका लंकाकांड समाप्त हुआ है ।

‘कवितावली’ का उत्तरकांड ‘मानस’ की परम्परागत राम कथासे सर्वथा भिन्न है । इसमें कथा भाग त्रिलुल नहीं है, फिर भी इसका विस्तार ग्रन्थ के पिछले छहों कांडोंके संयुक्त योगके दुगुनेसे कम नहीं है । इसका वर्ण्य विषय बहुविध है और यह कई दृष्टियोंसे कथा भागकी अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता है । इसमें वर्णित नानाविध विषयोंके सभी छन्दोंके संक्षिप्त सारांश देनेमें भी बहुत विस्तार हो जायगा, अतः विषयोंका संकेतमात्र ही सम्भव है । भक्तिकी महत्त्वपूर्ण आश्वासन भूमिका आरम्भसे लेकर आगेके कई छन्दोंमें दिखाई पड़ती है; ‘गरीब निवाज’ रामकी अपार कृपालुता और उनकी शरणागतवत्सलताके अनेक जगमगाते चित्र खींचे गये हैं ।^{१२} दैन्य भूमिकाकी झाँकीके साथ प्रभुके अपार पराक्रम, रूप, शील

१. दे० कविता० लंका० छन्द ४८ । २. वही ४९ । ३. वही ५० । ४. वही ५१ । ५. वही ५२ । ६. वही ५३ । ७. वही ५४ । ८. वही ५५ । ९. वही ५६ । १०. वही ५७ । ११. वही ५८ । १२. वही उत्तर० १, ३-११; १७-२४ ।

और गुणोंको देख-देखकर उनकी ओर आकृष्ट करानेवाले छन्द भी हैं।^१ रामके प्रति ऐकान्तिक निष्ठा रखनेवाले तुलसीदास जैसे अनन्य भक्तोंकी इस दृढ़ताका भी परिचय मिलता है कि वे किसी वैभवशाली, राजा-महाराजाओंके आगे हाथ नहीं पसारते और न सांसारिक विभवों और मान-बड़ाईके भूखे होते हैं; वे भगवानके सिवा किसी अन्यसे याचना कर ही नहीं सकते।^२ भक्तिकी विचारण भूमिकासे दृढ़तापूर्वक उद्बोधनके प्रकाशमें सत्संग, सुविचार और सदाचारके सहारे राम-प्रेमके मार्गपर अडिग भावसे चलनेकी प्रेरणा भी दी गयी है।^३ तुलसीदासने, रामके सच्चे, त्यागी, अनन्य भक्तों तथा रामको ही विनयके योग्य अपना सर्वस्व माना है।^४ उनके मतमें जीवनका सार राम-प्रेम ही है और जिसने अपने जीवनमें जानकी-नाथको नहीं पाया उसका जीवन निष्फल हुआ।^५ राम-प्रेमसे शून्य होकर जीवन धारण करना व्यर्थ है।^६ राम प्रेमकी वरीयता सर्वोपरि है।^७ भक्तिकी दैन्य भूमिकामें अवस्थित तुलसीदासके रामनाममें दृढ़ विश्वास और नाम-प्रताप द्योतक अनेक छन्द भी हैं।^८ कुछ छन्दोंमें कलि-वर्णनके माध्यमसे वर्णाश्रम धर्मके ह्रास और समाजके पतनका संकेत है, साथ ही ऐसे समाजके उद्धारके लिए सरल उपाय राम-प्रेमको ही घोषित किया गया है।^९ विचारण और आश्वासन भूमिकाओंके आधारपर रामनाम-महिमाका उद्घोष भी कतिपय सवैयोंमें विद्यमान है।^{१०} गोस्वामीजीने अपने सामयिक समाजके बीच आर्थिक संकटवश दारिद्र्यकी चक्कीमें पिसनेवाले श्रमहारा वर्गकी दयनीय दशाका चित्र खींचकर उसके पेटकी ज्वालाका वर्णन भी किया है, साथ ही महादानी, दीनबन्धु रामसे दारिद्र्य दूर करनेकी प्रार्थना भी की है।^{११} कलिके प्रभावसे लोगोंकी कैसी निन्द्य वृत्ति हो गई थी, वह भी अंकित है।^{१२} ऐसे वर्णन भी किये गये हैं जो गोस्वामीजीके जीवनवृत्तपर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते हैं।^{१३} सेवक सुखदायक, महाराज रामपर अपनेको निछावर करते हुए उल्लसित होकर रामकी जय-जयकार करते हुए तुलसीदासने राम-गुण-गान परक छन्द भी रचे हैं।^{१४} विविध नीतिमय वचनोंके साथ राम-प्रेमको मूर्धन्य सिद्ध करनेवाले छन्द भी मिलते हैं।^{१५} प्रणत-शोच-विमोचन, लोक-वेद रक्षक रामसे राम-भक्ति-याचना भी बड़े ही दैन्य भावसे की गयी है।^{१६} दृढ़ विश्वासके साथ यह भी कहा गया है कि राम-भक्तिके अभावमें ही मानस-रोग, दुख-दारिद्र्य आदिका कष्ट सहना पड़ता है।^{१७} भगवान रामकी अनेक विशेषताओंका परिचय देते हुए उनकी अपार महिमा भी वर्णित है।^{१८} 'भ्रमर गीत' के प्रसंगसे सम्बन्धित कुछ ऐसे छन्द भी उपलब्ध हैं जिनमें गोपिकाओंके अनन्य प्रेम, उनकी मधुरा भक्तिकी अनूठी व्यंजना है।^{१९} एक छन्दमें हनुमान, लक्ष्मण, भरत तथा सीताके प्रति की गयी संयुक्त विनयमें उन सबकी कृपा-प्राप्ति द्वारा सहायता पानेकी आकांक्षा व्यक्त है।^{२०} केवल सीता माताके प्रति भी एक परम दैन्य भावपूर्ण विनय है।^{२१} स्थानीय परिवेशपूर्ण, आलंकारिक और माहात्म्यपूर्ण 'सीतावट वर्णन'^{२२} तथा 'चित्रकूट वर्णन'^{२३} भी समाविष्ट हैं। तीर्थराज प्रयागकी सुप्रभा भी माहात्म्यमय शब्दोंमें दीत हो उठी है।^{२४} सद्गति-प्रदायिनी गंगाके चमत्कारपूर्ण माहात्म्य-गान^{२५} तथा अन्नपूर्णा देवीके

-
१. दे० कविता० उत्तर० छन्द १२, १५, १६ । २. वही २५-२८ । ३. वही २९-३४ । ४. वही ३५, ३६ । ५. वही ३७ । ६. वही ३८ । ७. वही ३९-६४ । ८. वही ६५-८२; १७८ । ९. वही ८३-८८ । १०. वही ८९-९४ । ११. वही ९५-९८ । १२. वही ९९-१०५ । १३. वही १०६-११०; १६५-१६८; १८० । १४. वही १११-११४ । १५. वही ११५-१२० । १६. वही १२१-१२३ । १७. वही १२४, १२५ । १८. वही १२६-१३२ । १९. वही १३३-१३५ । २०. वही १३६ । २१. वही १३७ । २२. वही १३८-१४० । २३. वही १४१-१४३ । २४. वही १४४ । २५. वही १४५-१४७ ।

माहात्म्य-वर्णन^१ भी आये हैं। शंकर-स्तवन^२ के रूपमें भी कई छन्द रचे गये हैं, जिनमें शैव-सम्प्रदायमें गृहीत शिवके रूप, धाम, लीला, माहात्म्य, कीर्ति या पूजन विधिके आस्थाभय संकेत मिलते हैं। तुलसीदास की आँखोंके सामने काशीमें प्रचण्ड महामारीने अपना जो भयंकर रूप धारण किया और जिसके फलस्वरूप असंख्य नर-नारियोंका संहार हुआ, उसका हृदय-विद्रावक वर्णन भी नहीं छूटा है।^३ उस महामारीके समय रुद्रवीसी^४ पड़ी थी, साथ ही मीन राशिपर शनैश्चर^५ की स्थिति विद्यमान थी, इसका भी संकेत किया गया है। उक्त महामारीके वर्णनोंमेंसे कुछ ऐसे भी हैं जिनसे स्पष्टतया प्रकट होता है कि लोकहितैषी तुलसीदासने महामारीकी शांतिके लिए भवानीपति, भवानी, हनुमान और रामसे प्रार्थना की थी। तुलसीदासके समयकी काशीमें यात्रियोंको लूटकर और ब्राह्मणोंको सताकर अनेकानेक कुमांगोंसे धन बंदोरेनेवालोंकी कमी नहीं थी, ऐसे दुराचारियोंको भी चेतावनी दी गयी है कि ऐसा पापका धन हृदय जलाकर जायगा और ऐसे पापी लोग एक न एक दिन ऐसे नष्ट होंगे कि उनका कोई पता न चलेगा।^६ प्रस्थान करनेके समय क्षेमकरी (लाल रंगकी चीन्हा) के दर्शनसे सब दुःख दूर होते हैं, इसकी अभिव्यक्ति भी उन्होंने बड़े सुन्दर ढंगसे की है।^७ विशिष्ट महिमामयी काशीको, युगके प्रभावसे, अधोगतिके मार्गपर देख, चिन्तित होकर उसके परित्राणके लिए, तुलसीदास हनुमान और रामसे विनती करना भी नहीं भूले हैं।^८

उत्तरकांड के परिशिष्ट 'हनुमान बाहुक' का आरम्भ पवनसुत हनुमानकी स्तुतिसे होता है और उत्तरोत्तर अनेक छन्दोंमें उनके विशाल, शक्तिशाली, सर्वगुण-सम्पन्न, तेजस्वी रूप, उनकी विविध लीलाएँ, सुकीर्ति एवं महिमा गानेके बाद तुलसीदासने उनका ध्यान अपनी बाहु-पीड़ाकी ओर आकर्षित किया और उसे दूर करनेकी प्रार्थना की।^९ उन्होंने बाहु-पीड़ाकी भयंकरताको तरह-तरहकी उपमाओंसे दिखा-दिखाकर उसके दमनार्थ हनुमानको सर्वथा सक्षम बताया और आशा व्यक्त की कि वे उसका निवारण अवश्य ही करेंगे, पर वेदना बढ़ती ही गयी।^{१०} तो भी, हनुमानकी फिर-फिर दुहाई देनेपर पीड़ा घटी।^{११} अन्तमें, रामसे अनुनय-विनय करनेपर वे बाहु-पीड़ासे मुक्त हुए।^{१२} 'बाहुक' के अन्तिम भाग^{१३} के कुछ छन्दोंसे प्रकट होता है कि तुलसीदासको 'बरतोर' फोड़िया भी हुई थी, उससे छुटकारा पानेके लिए, उन्होंने पुनः राम, शिव एवं हनुमानसे विनती की कि वे उस 'रोग-सिन्धुको 'गाय-खुर' बना दें, पर इस बार अपनी प्रार्थनाको फलवती न पाकर, अन्तमें उन्होंने, "हैं हूँ रहैं मौन बयो सो जानि लुनिए" के साथ 'बाहुक'की इति करके कर्म-फलको स्वीकार किया।

'कवितावली'के सभी काण्डोंमें सन्निहित वस्तु-वर्णनोंकी उपर्युक्त झाँकी पानेके अनन्तर हम स्पष्ट रूपसे बता सकते हैं कि 'मानस' और कवितावलीके प्रत्येक काण्डमें कितना अन्तर है। मानसके बालकाण्ड की प्रायः सभी परिकथाएँ कवितावलीके बालकाण्डमें अछूती हैं। शिव-पार्वती-विवाह, नारद-मोह मनुशतरूपा-आख्यान तथा भानुप्रतापकी कथा मानसके बालकाण्डमें विस्तारपूर्वक वर्णित हैं, पर कवितावलीमें इनका कोई संकेत नहीं। मानसमें, जनककी फुलवारीमें सीता-रामके प्रथम दर्शन, पूर्वानुराग, गौरी-पूजन आदिके मनोहर वर्णन हैं, पर कवितावलीमें ये प्रसंग आये ही नहीं। मानसमें वर्णित राजा दशरथका बारात लेकर मिथिलापुर जाना, जनक द्वारा बारातका स्वागत किया जाना, जैवनार देना, जनकके छोटे भाईकी

१. दे० कविता० उत्तर० छन्द १४८। २. वही १४९-१६८। ३. वही १६९-१७७। ४. वही १७०। ५. वही १७७। ६. वही १७९। ७. वही १८०। ८. वही १८१-१८३। ९. हनुमान बाहुक छन्द १-२०। १०. वही २१-३२। ११. वही ३३-३५। १२. वही ३६-३९। १३. वही ३६-४४।

कन्याओंसे रामके तीनों भाइयोंका पाणिग्रहण-संस्कार होना, विवाहोपरान्त बारातकी विदाई, चारों बधुओं की विदाई और इधर अयोध्यामें माताओंका बधुओंको उतारना और उन्हें महलमें ले जाकर मंगलचार करना इन सभी प्रसंगोंकी कवितावलीमें कोई चर्चा नहीं है।

‘मानस’के अयोध्याकाण्डमें प्राप्त अनेक प्रसंगोंका ‘कवितावली’में पूर्ण अभाव है। यथा, राम-वन-गमनके पूर्वके सारे प्रसंग जो ‘मानस’में विस्तृत रूपसे वर्णित हैं, उनका कवितावलीमें कोई उल्लेख नहीं है। वन-गमनके अवसरपर राम-लक्ष्मण-सीताको सुमन्त्र द्वारा रथमें बिठाकर वनमें ले जाने और उन्हें वहीं छोड़ उनके सन्देश लेकर अयोध्या लौटनेके बाद दशरथ-मरण, भरतका ननिहालसे लौटना, पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया करना, समाज-सहित चित्रकूटके लिए प्रस्थान करना, दल-बल-सहित भरतकी जाते देख शंकित होकर घाट अवरोध करनेमें तत्पर निषाद-भरतकी भेंट, इस भेंटके बाद निःशंक होकर निषादका भरतके साथ जाना, प्रयाग-स्थित भारद्वाज-आश्रममें भरतका आतिथ्य, चित्रकूटमें भरत-राम-मिलन, वहीं राजा जनकका आगमन, चित्रकूटकी सभा, भरतका आश्वस्त होकर रामकी चरण-पादुका लेकर लौटना और नन्दिग्राममें कुटीर बनाकर तपश्चर्यापूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए प्रजा-पालन करना, ये सभी प्रसंग ‘मानस’के अयोध्याकाण्डके मेरुदण्ड हैं, पर कवितावलीमें इन्हें पूर्णतया छोड़ दिया गया है।

‘मानस’के अरण्यकाण्डकी मात्र एक घटना (स्वर्ण मृगानुधावन) ‘कवितावली’के अरण्यकाण्डमें ग्रहण की गयी है। अन्य सभी प्रसंग छोड़ दिये गये हैं। अग्रहीत प्रसंग ये हैं—मोहाविष्ट जयन्तकी करनी और उसका फल, अत्रि मुनिके आश्रममें रामका पदार्पण, अनसूयाका सीताको उपदेश, विराध-वध, मुनिश्रेष्ठ शरभंग ऋषिका शरीर त्याग, परम भक्त सुतीक्ष्णकी अनन्य प्रीति और उन्हें रामके दर्शन, राम और अगस्त्य मुनिका सत्संग, दण्डक वनके पुनीत वतावरणके बीच राम और जटायुके मैत्री-सम्बन्धकी स्थापना, रामका पंचवटीमें निवास करना और राक्षसोंके वधका प्रण करके मुनियोंको अभयदान देना, लक्ष्मणको उपदेश देना, शूर्पणखाकी माया और उसका विरूपीकरण, खरदूषण-वध, रावण-मारीच-वार्ता, मायाकी सीताका हरण, जटायु और रावणका युद्ध, रामका विलाप, मार्गमें पड़े जटायुकी क्रिया और उद्धार, कबंध-वध, शबरीके आश्रममें प्रविष्ट होकर उसका आतिथ्य ग्रहण करना और उसे सद्गति देना, पम्पासर जाकर प्रियाके वियोग में अत्यधिक सन्तप्त होना, उसी समय सहानुभूतिपूर्ण हृदय लिए नारदका आना तथा अपनी शंकाका समाधान हो जानेपर ब्रह्मलोकको लौट जाना।

‘मानस’के किष्किन्धा काण्डमें वर्णित ऋष्यमूक पर्वतके निकट राम-मारुति-मिलन, सुग्रीव-मैत्री, बालि-वध; रामकृत-सुग्रीव-राज्याभिषेक, रामका प्रवर्षण-वास, इसी बीच वर्षा और शरदका आगमन और अन्त, रामका क्षोभ और सुग्रीवका त्रास, एक मासकी अवधि देकर बानरोंको चतुर्दिक भोजना, बानरोंका प्रस्थान और आकस्मिक विवर-प्रवेश तथा स्वयंप्रभाके दर्शन पाना, स्वयंप्रभाके योगबलसे बानरोंका समुद्र तटपर उपस्थित होना, संपातीसे मिलना उसका वृत्तान्त और परामर्श सुनना, समुद्रोल्लंघनकी समस्यापर बानरोंका असमंजसमें पड़ना, उत्साह-हेतुक जामवन्तका हनुमानको प्रोत्साहन, ये सभी प्रसंग कवितावलीके किष्किन्धा काण्डमें नहीं हैं।

‘कवितावली’के सुन्दरकाण्डमें ‘मानस’के सुन्दरकाण्डके प्रसंगोंमेंसे ग्रहीत कुछ ही प्रसंग हैं, अधिकांश प्रसंग छोड़ दिये गये हैं। छोड़े गये प्रसंगोंमें ये हैं—हनुमानके समुद्रोल्लंघनमें मैनाक पर्वतका योगदान; सुरसा द्वारा हनुमानके पराक्रमका परीक्षण; छायाग्राहिणी नामी राक्षसीकी माया और उसका वध; लंकिनीका सामना और उसपर मुष्टिका प्रहार; गृह विशेषका अवलोकन और वहीं विभीषणसे भेंट, वार्ता और

परामर्श; रावणका, अशोक वृक्षके नीचे वैठी सीताके पास आगमन और उन्हें समझा-बुझाकर अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयास; सीताकी कटूक्तियोंसे क्षोभ; उन्हें तरह-तरहसे त्रास देनेका आदेश; एक महीनेकी अवधिमें अनुकूल न होनेपर प्राणदण्ड देनेकी धमकी; त्रिजटाका स्वप्न और राक्षसियोंसे उसका निवेदन; सीताका त्रिजटासे अपनी व्यथा निवेदन और चितामें जल मरनेके लिए अग्नि-याचना; रामका प्रबल प्रताप वर्णन करते हुए सीताको आश्वासन देकर त्रिजटाका प्रस्थान; सीताकी दशा और व्यथा देख-सुन हनुमानका प्रकट होना और सीताकी बातें सुन उन्हें रामका सन्देश सुनाना; मेघनादके ब्रह्मास्त्रसे मूर्च्छित नागपाशमें आवद्ध निर्भीक हनुमानका रावणकी सभामें उसे उपदेश देना; उसपर रावणका आक्रोश और उन्हें प्राणदण्डका आदेश देना, पर विभीषणके समझानेपर प्राणदण्ड न देकर पूँछमें तेलमें भिगोये कपड़े लपेटकर आग लगानेकी बात मान ली गयी, लंका दहनोपरांत लौटनेपर हनुमान द्वारा रामको सीताका चूड़ामणि देना, सीताकी परम विरहाकुल दशाका संकेत और उनका सन्देश सुनाना, शीघ्रातिशय प्रस्थानकर शत्रुदल को जीतकर सीताको ले आनेकी प्रार्थना करना; रामका सुग्रीवको बुलाना और आक्रमण करनेकी तैयारीका आदेश देना; सुग्रीव द्वारा अपने अधिनायकोंकी बानरी सेना सुसज्जित करनेकी आज्ञा देना और भयंकर बानरी सेनाका समुद्रके किनारे पहुँचना; दूतोंसे बानरी सेनाके पहुँचनेका समाचार सुन मंदोदरीका रावण को समझाना; विभीषणका रावणको समझाना और बदलेमें लात खाना; विभीषणके पीछे रावण द्वारा प्रेषित गुप्तचर और बानरों द्वारा पहचान लिए जानेपर उसकी दुर्दशा; उसी दूतके हाथ रावणको लक्ष्मणका पत्र-प्रेषण; दूतका लौटनेपर रावणको लक्ष्मणका पत्र देकर उसे बानरी सेनाका वृत्तांत सुनाना; समुद्रपार करनेके लिए समुद्रसे रामकी प्रार्थना अनसुनी किये जानेपर रामका आक्रोश और भयभीत समुद्रका विप्ररूपमें प्रकट होकर रामकी स्तुतिकर सेतुबन्धका सुझाव देना ।

‘कवितावली’ के लंकाकाण्डमें ‘मानस’के लंकाकाण्डमें वर्णित श्री रामेश्वर-स्थापना और माहात्म्य नहीं है । ‘मानस’में मंदोदरीने रावणको तीन बार समझाया है, ‘कवितावली’में केवल एक अवसरपर । प्रथम दो अवसरोंके प्रबोधन छोड़ दिये गये हैं । ‘मानस’में रावण-प्रहस्त-संवाद है, पर ‘कवितावली’में नहीं । ‘मानस’में विलासप्रिय अभिमानी रावणके विचित्र अखाड़ा (नृत्यशाला) की सक्रियता, उसकी छटा और उल्लासके रंगको रामके एक ही बाणने भंग कर दिया है, पर ‘कवितावली’में यह प्रसंग आया ही नहीं । ‘मानस’के लंकाकाण्डमें सुबेल पर्वतपर श्रीरामकी झांकी और सुष्ठु चन्द्रोदय-वर्णन मिलता है; ‘कवितावली’में यह वर्णन भी नहीं है । ‘मानस’में लक्ष्मण-रावणका भयंकर युद्ध वर्णित है, उसके अनुसार उभय बीरोंने अपना-अपना रण-कौशल दिखाकर एक दूसरेको एक-एक बार मूर्च्छित किया है; ‘कवितावली’ में यह प्रसंग भी छोड़ दिया गया है । ‘मानस’में राम-रावण युद्धके प्रसंगमें एक बार रामके मूर्च्छित होनेपर विभीषणने रावणका सामना किया और क्रुद्ध होकर रावणकी छातीपर अपनी गदाका ऐसा वज्राघात प्रहार किया कि वह रुधिर-वमन करते पृथ्वीपर गिरा, पर सम्मलकर उठ गया और दोनों बीर मल्लयुद्ध करने और एक दूसरेको मारने लगे । इसी बीच विभीषणको शिथिल होते देख, हनुमान भारी पर्वत लिए पहुँच गये, और उन्होंने रावणके रथ-सारथी दोनोंको चूरकर रावणके हृदयपर ऐसा गहरा चरण प्रहार किया कि वह बीर गिरा तो नहीं पर उसका सारा शरीर काँप उठा । ‘कवितावली’में इस प्रसंगका कोई उल्लेख नहीं । ‘मानस’के लंकाकाण्डमें रावण-वध-वर्णनके पश्चात् भी अनेक शृंखलाबद्ध प्रसंग आये हैं, यथा, मंदोदरी-विलाप, रावणकी अन्येष्टि क्रिया, विभीषणका राज्याभिषेक, हनुमानका सीताको रामकी विजय और कुशल सुनाना, सीताका रामके समीप आगमन और अग्नि-परीक्षा, देवोंकी स्तुतियाँ और इन्द्र द्वारा अमृतकी

वर्षा करना, विभीषणकी प्रार्थना, श्रीराम द्वारा भरतकी प्रेमदशाका वर्णन और अतिशीघ्र अयोध्या पहुँचनेका अनुरोध, विभीषणका वस्त्राभूषण बरसाना और बानर-भालुओंका उन्हें पहनना, विशिष्ट बन्दर-भालुसखाओं, लक्ष्मण और सीता-सहित पुष्पक विमानपर चढ़कर श्रीरामका अवधके लिए प्रस्थान और मार्गमें विशिष्ट स्थानोंका संकेत देकर वहाँपर घटी घटनाओंको सीतासे कहना तथा प्रयाग पहुँचनेपर हनुमानको वटु रूप धारणकर उधर भरतको अपने आगमनकी सूचना भेजना और इधर भक्त निषादसे मिलकर उसे हृदयसे लगाना । 'मानस'के ये सभी प्रसंग 'कवितावली'में अछूते हैं ।

'कवितावली'के उत्तरकाण्डमें 'मानस'के उत्तरकाण्डकी कथावस्तुका पूर्ण अभाव है । 'मानस'के उत्तरकाण्डमें मंगलाचरण, भरत-विरह, भरत-हनुमान-मिलन और रामके स्वागतकी प्रबल उत्कंठा, भरत-मिलाप, सबका मिलनानंद, रामका राज्याभिषेक, इस अवसरपर वेद-स्तुति, शिवस्तुति तथा बानरों और निषादकी विदाईके मुख्य प्रसंगोंकी सुगुं योजना तो है ही साथ ही राम-राज्य वर्णन, सन्तानोत्पत्ति, अयोध्याकी रमणीयता, उसके बीच सनकादि मुनियोंका आगमन और संवाद, हनुमान द्वारा भरतके प्रश्न करनेकी जिज्ञासा सुन रामका भरतके प्रति अपना प्रगाढ़ स्नेह प्रकट करना, फलतः आश्रित भरतका रामके चरण पकड़कर संत-असंतोंके लक्षण पृष्ठना, इस विषयमें रामके उपदेश; रामका प्रजाको उपदेश, पुरवासियोंका कृतज्ञता प्रकाशन; राम-वशिष्ठ-संवाद; रामका भाइयों सहित अमराईमें जाना; वीणाधारी नारदका आना और स्तुति करके ब्रह्मलोकको लौट जाना, शिव-पार्वती-संवाद, गरुड़-मोह, गरुड़का काक-भुशुंडिसे राम-कथा और राम-महिमा सुनना, काकभुशुंडिका अपने पूर्व-जन्मकी कथा और कलियुग-महिमा कहना, गुरु अपमान एवं शिव-शापकी बात बताना, गुरु द्वारा की गयी शिव-स्तुति (रुद्राष्टक) से शिवका प्रसन्न होना, अपराध क्षमापन, शापानुग्रह, भुशुंडिकी आगेकी कथा, अन्तिम द्विज देहमें उनका लोमश ऋषिके पास जाना और शाप तथा अनुग्रह पाना, ज्ञान-भक्ति-निरूपण, ज्ञान-दीपक और भक्तिकी महान महिमा; गरुड़के सप्त प्रश्न तथा भुशुंडिके उत्तर, भजन-महिमा, 'मानस-माहात्म्य, तुलसी-विनय और फलस्तुतिके प्रसंग भी पूर्ण कौशलके साथ समाविष्ट हैं । पर कवितावलीके उत्तरकाण्डमें इनका कोई संकेत नहीं । हाँ, भक्ति-महिमा, राम नामका माहात्म्य आदिके प्रसंग प्रकारान्तरसे मिलते-जुलते हैं ।

इस प्रकार 'कवितावली' और 'मानस'के प्रत्येक काण्डकी कथावस्तुमें समानता और असमानताका पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके उपरान्त अब हम इस स्थितिमें आ जाते हैं कि दोनों ग्रन्थोंकी कथावस्तुगत साम्य-वैषम्यके कारणोंको ढूँढ़ें और उनकी विस्तृत मीमांसा करें । परन्तु यहाँ उसके लिए अवकाश नहीं । सूत्र रूपमें इतना ही कहा जा सकता है कि दोनों दो भिन्न प्रकारके काव्य-रूप हैं । अतः दोनोंकी कथावस्तु में इतना अधिक अन्तर है । 'कवितावली' प्रकीर्ण रचनाओंका संग्रह-ग्रन्थ है । कविकी वृत्ति जिन-जिन प्रसंगोंपर रमी है उन्हें समय-समयपर विशेष रूपसे कवित्त-सवैया^१ छन्दोंमें और यदा-कदा छप्पय^२ तथा झुलना^३ छन्दोंमें भी लिपिबद्ध करता गया है । उन्हीं छन्दोंको एक क्रमसे सजाकर 'कवितावली' सहस्र प्रबंध-मुक्तक काव्यका निर्माण हुआ । भावुक क्षणोंमें लिखे गये इन छन्दोंमें अन्तःप्रेरणाकी मुक्तता गतार्थ होती है । ध्यानमें रखनेकी बात है कि इस ग्रन्थमें प्रायः उन रमणीय परप भाव गर्भित प्रसंगोंकी विस्तृत

१. दे० 'कवितावली'के सभी काण्डोंमें कवित्त और सवैया छन्दोंका ही प्रचुर प्रयोग हुआ है ।

२. दे० 'कवितावली'के लंकाकाण्ड तथा उत्तरकाण्डमें कुछ छन्दोंके प्रयोग भी किये गये यथा लंकाकाण्ड छन्द संख्या ४७, उत्तरकाण्ड छन्द संख्या ११०-११७; १४९-१५२ तथा 'बाहुक' छन्द संख्या-१, २

३. दे० कविता० लंकाकाण्ड छन्द संख्या ४; ४४-४६; तथा 'बाहुक' छंद संख्या ३ ।

व्यंजना हुई है जिन्हें कविने अन्यत्र प्रस्फुटित होनेका अवकाश ही नहीं दिया है। ऐसे प्रसंगोंमें लंका-दहन हनुमानकी युद्ध-लीला तथा राम-रावण युद्ध विशेष उल्लेखनीय है। हनुमानके युद्ध-कौशलका जितना प्रशस्त और विस्मयाद्गी चित्र यहाँ मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। यही बात इस ग्रन्थमें वर्णित राम-रावण-युद्धके सम्बन्धमें कही जा सकती है। हनुमानकी पूँछ-लीला और अग्निदग्ध नर-नारियोंकी विह्वलताका जैसा भयानक चित्र 'कवितावली'में है वैसा कहीं नहीं। विकराल अग्नि ज्वालाको देखते ही दर्शकोंके रोंगटे दैसे खड़े हो जाते हैं और जो लोग उस ज्वालाके पंजेमें पड़ जाते हैं उनकी क्या दशा होती है इसे भी कविने मूर्तिमान कर दिया है। अग्निका भयंकर चित्र, उसे देखनेवालोंकी दशाका चित्र, उसमें पड़नेवालोंकी दशाका चित्र, उसके चतुर्दिक् वातावरणका चित्र, सभी मूर्तिमान हो उठे हैं। इनके चित्रणकी अनूठी शैली बड़ी मार्मिक है, सहज है, उसमें अपूर्व चित्रोपमता है। भयानक रसका सहज प्रवाह उमड़ पड़ा है। छन्द-विधान, अलंकार विधान सभी भावानुवूल और सहज हैं। समूचे भारतीय साहित्यमें इसकी जैसी व्यंजना शायद ही मिले। हनुमानकी पूँछ-लीलापर तुलसीदास इतने मुग्ध रहे कि उन्होंने सुन्दर काण्डके प्रायः सभी छन्दोंको इसी लीलाके कथनमें समाप्त कर दिया, साथ ही अन्य प्रायः सभी प्रसंगोंको छोड़ दिया है। वैसे भी 'कवितावली'के कथा भागवाले प्रथम-छह काण्डोंमें तुलसीने रामकथाके थोड़ेसे चुने हुए प्रसंगोंको ही ग्रहण किया है, पर इन गृहीत प्रसंगोंमें ही कमाल किया है। भाव-जगतका कोई कोना छोड़ा नहीं। सुन्दर काण्डमें भयानक और उसीके माध्यमसे रौद्र रस तथा लंकाकाण्डमें वीर, रौद्र, वीभत्स और अद्भुत रसोंकी सिद्धि और कहीं नहीं दिखाई पड़ती। पुरुष भावोंपर दृष्टि केन्द्रित होनेपर भी कविके कोमल भाव सुप्त नहीं थे। तभी तो बालकाण्डमें भक्तिसे संपृक्त वात्सल्य और शृंगार रसकी अपूर्व योजना की गई है। अयोध्या-काण्डमें भक्ति-मिश्रित करुण रसकी अनूठी व्यंजना है, इसी काण्डके अन्तमें "बिन्धुके वासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे" वाले प्रसिद्ध सवैयाकी उपस्थितिसे हास्य रस भी दीप्त हो उठा है। शान्त रसके महोदधिका दृश्य उत्तरकाण्ड स-बाहुकमें लहराता है। 'बाहुक' और कवितावलीके उत्तरकाण्ड दोनों ही के अधिकांश छन्द स्तुति-काव्यके अन्तर्गत आते हैं; उनमें तुलसीका आत्म-द्रवण देखते ही बनता है। भगवत्प्रेमसे उछलते हुए उनके हृदयकी विविध वृत्तियोंके दर्शन होते हैं। उत्तरकाण्डमें शान्त रसकी परिधिमें अन्तर्भुक्त होनेवाले अधिकांश स्तुतिपरक छन्दोंके अतिरिक्त अनेक ऐसे भी छन्द हैं जो तुलसीके आत्म-चरितसे सम्बद्ध हैं, साथ ही ऐसे छन्दोंकी भी कमी नहीं है जिनमें उनके सम-सामयिक समाज, देश-कालके बहुविध सजीव चित्र मिलते हैं। ये सबके सब उनकी सुक्त अन्तःप्रेरणाके फल हैं। अनुभूति-जन्य होनेके कारण कवितावलीके प्रायः सभी वर्णन रस-सिद्ध हैं।

कवितावलीकी रचनाशैलीको दृष्टिमें रखते हुए निस्संकोच कहा जा सकता है कि तुलसीने अपभ्रंश और आरम्भिक हिन्दीके दरबारी कवियों और चारणोंके शृंगार और वीर रस व्यंजक शैलीकी परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखा है पर दात इतनी ही नहीं है। उन्होंने उस परम्पराके बीच अभिनव प्रयोग भी किये हैं, पूर्ववर्ती सुक्तकोंकी संकीर्ण भावभूमिको प्रशस्त, विस्तृत, भव्य और सर्व रसमयी बनाया है। इसके अतिरिक्त 'कवितावली'की शैलीके सम्बन्धमें ध्यानमें रखनेकी बात है इसकी अनेकरूपता। ग्रन्थमें रूप-मधुरिमा सौन्दर्यानुभूति या कोमलभावाश्रित किसी प्रकारके वर्णनकी प्रसादगुणमयी पदावली बड़ी ही ललित और मधुर है। इसके विपरीत उग्र भावोंके वर्णनोंमें गृहीत पदावली कुछ दूसरा ही उत्तेजक ओजपूर्ण रूप दिखाती है। ग्रन्थ भरमें भाव-वैविध्यके साथ शैलीमें भी अन्तर दिखाई पड़ता है। भावानुरूप शैलीका प्रयोग सर्वत्र हुआ है। इसमें सहज आलंकारिकताके साथ भावानुरूप श्रुति और नादका योग भी मिलता है।

रचना काल

‘कवितावली’ (स-बाहुक) का रचना-काल किसी वर्ष विशेषको नहीं माना जा सकता । उसका प्रणयन विस्तृत कालकी परिधिमें घेरे हुए है । उसमें कविके आखिरी जीवनकी मंजिलके संकेत देनेवाले छन्द प्रकट करते हैं कि ये सं० १६८० में रचे गये और बहुतसे छन्द ऐसे भी हैं जो सं० १६८० के बहुत पहलेके हैं यथा, काशीकी महामारी, मीनके शनि तथा रुद्रबीसीसे सम्बन्धित छन्द । डॉ० माताप्रसाद गुप्तने ‘कवितावली’ का अनुमानित रचना-काल सं० १६६१ से सं० १६८० तक ठहराया है^१ जो सर्वथा समीचीन होनेके कारण अग्राह्य नहीं ।

विनयपत्रिका : तुलसीदासकी कृतियोंमें अंतिमपर सर्वात्कृष्ट, विशुद्ध आत्माभिव्यंजक और विशेष महत्त्वपूर्ण मुक्तक गीतिकाव्यके रूपमें स्वीकृत की जाती है । मुक्तक-काव्य-परंपरा द्विधा रूपों (लौकिक तथा पारलौकिक मुक्तक) में अपने प्राचीनतम गंभीर स्रोत ऋग्वेदसे उद्भूत होनेके पश्चात् पौराणिक कालमें प्रविष्ट हुई और भक्तिकाल तक आते-आते किस प्रकार बहुविध रूपोंमें विकसित हुई और उसके बीच विनय पत्रिका क्यों कर शोभित हुई इस ओर विशेष अध्ययनकी आवश्यकता है । यहाँ इतना ही कहनेका अवकाश है कि विनयपत्रिका मुक्तक काव्य-परंपराके पारलौकिक मुक्तकोंकी भक्ति कालीन एक अनर्घ कड़ी है जो तुलसीकी अलौकिक मौलिकतासे मंडित होनेके कारण बड़ी ही लोकप्रिय और लोकमंगल-कारिणी बन गयी है ।

इसकी अभिव्यक्तिगत विशेषताओंपर विचार करनेसे पूर्व इसकी अभिव्यक्ति-प्रणाली ध्यान देने योग्य है । इसपर तुलसीकी निजी छाप है । कराल कलसे पीड़ित और त्रस्त व्यक्ति (तुलसीदास) ने जगत्के स्वामी श्रीरामके पास संकट-निवारणार्थ विनयपत्रिका भेजी । इस पत्रिकामें उसने आप-बीती गाथाकी कितनी हृदयस्पर्शिनी, मार्मिक व्यंजनाकी इसका स्पष्टीकरण बादमें होगा, पहले तो यह देखना है कि यह पत्रिका स्वामीके पास पहुँची कैसे ? स्वामीके पास पत्रिका पहुँचानेकी विधि ही विनय-पत्रिकाकी प्रेषण-प्रणाली है ।

कहना नहीं होगा कि इस प्रणालीपर सामंती सभ्यता—विशेषतः मुगल कालीन दरबारी सभ्यताकी छाप है । राजा-महाराजाओंके यहाँ सात ज्योढ़ी लगती थी, दूसरे शब्दोंमें यह भी कहा जा सकता है कि उनके निकट तक पहुँचनेके लिए सात परिसरोंको पार करना पड़ता था । धार्मिक मान्यताओंके अनुसार प्रधान देवताके संबंधमें भी इसी प्रकारके सप्तावरणोंकी कल्पना है । विनयपत्रिकाके प्रारम्भकी स्तुतियोंमें क्रमशः गणेश, सूर्य, शंकर, दुर्गा, गंगा, यमुना तथा हनुमानकी स्तुतियाँ की गई हैं, ऐसा लगता है मानो इन्हीं सातों ज्योढ़ीदारोंकी अनुकूल बना कर आगे बढ़नेपर प्रार्थीको राजभवन मिला । इसके पूर्व दो बन पड़े । आनन्दवन (काशी) और चित्रवन (चित्रकूट) । प्रार्थीने उल्लसित हो इन दोनोंके माहात्म्य भी गाये । राजभवनमें प्रविष्ट होनेपर उसने स्वामीके अंग-रक्षकों लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नको तो प्रसन्न ही कर लिया, रनिवासकी महारानी जगत-जननी जानकीकी कृपा-दृष्टि भी प्राप्त कर ली । इस प्रकार राजकीय चक्रको अपने अनुकूल साधनेके बाद उसकी पत्रिकापर स्वामीकी सही हो गयी; उसे अनन्य भक्तिका परवाना मिल गया; वह पूर्ण-काम हो गया । उसकी बन गयी । देखिये—

“मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ सही है ।”

विनयपत्रिकाकी आरम्भिक स्तुतियोंका परिणाम इसके अन्तिम दो पदोंमें स्पष्टतया प्रकट हुआ है । इस प्रकार आरम्भ और अन्तकी उद्देश्य-संगतिको देख कुछ लोगोंको विनयपत्रिकामें प्रबंधत्वका भी

भ्रम हो गया है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं। आत्मनिवेदनके अन्तर्गत प्रस्तुत प्रेषण-प्रणालीका प्रवर्तन और भावात्मक राम दरबारका दर्शन पाना भी भक्त-कविकी अलौकिक सूझ है जो प्रकारान्तरसे उसकी स्वानुभूति प्रकट करती है। यह उसकी आध्यात्मिक भावनाकी एक नूतन सृष्टि है। न कि किसी कथा-क्रम की योजना।

विनयपत्रिका तुलसीके आत्मावलोकनका उत्तम अभिलेख ही नहीं अपितु प्रेमा भक्तिका अमर काव्य भी है। कुछ विद्वानोंने इसे 'भक्तिकाव्यकी गीता' भी कहा है। और 'तुलसीके सम्पूर्ण काव्यकी आत्मा' भी। राम सच्चिदानन्द पञ्चरूपसे अभिन्न हैं। वे इस सृष्टिके अधिनायक हैं। सगुण-निर्गुण दोनों ही हैं। वे अपने भक्तोंके प्रेम वश होकर, सज्जनोंकी रक्षा एवं दीन-दलितोंके उद्धारके लिए अवतार लेते हैं। वे विश्व-रूप हैं। सम्पूर्ण विश्व ही राममय है। ऐसे लोकोद्धारक देवकी आराधना-अर्चनामें कवि खोया हुआ है—

“मोहिं तो 'सावनके अंधहि' १ ज्यों सूझत रंग हरो ।” २

भगवद्प्राप्तिके लिए यद्यपि शास्त्रोंने तप, तीर्थ, उपवास, दान, यज्ञ आदि बहुविध साधन बताये हैं, फिर भी इनसे कार्य-सिद्धि नहीं होती। सन्यास-मार्ग भी उतना सरल नहीं। अतः तुलसीके मतमें भक्ति-मार्ग ही राजमार्ग है—

“बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यौ राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो ॥” ३

यह 'राज-डगर' भक्ति-मार्ग कहनेमें सुगम है, परन्तु करने वालेके लिए कठिन—

“रघुपति भगति करत कठिनाई ।” ४

यह ठीक वैसे ही है जैसे जलप्रवाहमें मछली तो तैर जाती है किन्तु हाथी बह जाता है। इस राज-मार्गपर चलनेका एक ही उपाय है—‘निःशेष आत्म-समर्पण। यही रामका सान्निध्य प्राप्त करानेका एक मात्र सोपान है। ‘अहं’का विगलन एवं ‘काम’, ‘क्रोध’, ‘मोह’, ‘लोभादि’ पद्म-रिपुओंका विलयन भक्तिकी आवश्यक शर्त है। उधर भौतिक सुखोंकी मृग-तृष्णामें मन भटकता ही रहता है। इस मायासे मुक्ति पानेके लिए रामकी ‘दाया’ अनिवार्य है—

“माधव ! असि तुम्हारी यह माया ।

करि उपाय पवि मरिय, तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ॥” ५

×

×

×

“संस्तुति-सन्निपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै ।

संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई ॥

तुलसिदास भवरोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई ॥” ६

भगवानके ‘अनुग्रह’, उसकी ‘कृपा’, ‘दाया’की अमित महिमामें अडिग प्रतीति होनेके कारण तुलसीने इसकी प्राप्तिकी आकांक्षा बहुतसे पदोंमें व्यक्त की है। उनका भक्त-हृदय केवल अपने आराध्यके

१. दे० ‘विनय०’ अन्तिम पद सं० २७९। २. वही पद सं० २२६। ३. वही १७३। ४. वही १६७। ५. वही ११६। ६. वही ८१।

अनुग्रहका भूखा है। इसीलिए उनका भक्तिविभोर मन विह्वलताके शत-शत स्वरोमें फूट पड़ा है। 'काहे तें हरि मोहि विसारों'।^१ या 'जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे'।^२ सट्श पदोंमें भाव-विह्वलता देखते ही बनती है।

भगवत्प्रेम-हृदमें पूर्णतया निमग्न होनेके लिए उसकी ओर बढ़ने वाले भक्तके मनकी कुछ विशिष्ट दशाएँ होती हैं जो उसे अपने लक्ष्यकी ओर उत्तरोत्तर बढ़ाती रहती हैं। मनकी इन्हीं दशाओंको भक्तिकी भूमिकाओंकी संज्ञा दी गयी है। इनकी गणना भक्तिके आवश्यक अवयवोंमें की जाती है। ये सामान्यतः सात मानी गयी हैं—दैन्य, मानमर्पण, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य तथा विचारण। 'विनय पत्रिका'में इन सातोंके एकसे एक बढ़कर उदाहरण विद्यमान हैं। विशेष रूपसे दैन्यका तो कुछ कहना ही नहीं। वह अपने चरमोत्कर्षको पहुँचा है। इस दृष्टिसे तुलसीकी कोटिमें पहुँचने वाला कोई दूसरा कवि नहीं। उनके हृदयका दैन्य पिघल-पिघल कर पदोंमें ढल गया है। देखिए इन पंक्तियोंको—

“राम सों बड़ो है कौन ? मों सों कौन छोटी ?
राम सों खरो है कौन ? मों सों कौन खोटी ?”^३

इसी प्रकार—

“तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी ।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज हारी ॥”^४

सट्श पंक्तियोंमें भी भक्तके हृदयका दैन्य साकार हो उठा है।

स्थानाभावके कारण सभी भूमिकाओं के उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं। केवल मनोराज्यकी एक मनोहर झाँकी अपनानेके लिए लीजिए—

“कबहुँक हौं एहि रहनि रहौं गो ।

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत सुभाउ गहौं गो ॥

जथा लाभु संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौं गो ।

परहित-निरत निरंतर, मन-क्रम-बचन नेमु निबहौं गो ॥

परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौं गो ।

विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहि दोष कहौं गो ॥

परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौं गो ।

तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अविरल हरिभगति लहौं गो ॥”^५

भक्तिकी भूमिकाओंसे संबद्ध विनयके अनेक पदोंमें भगवान्, भक्ति, और भक्त तीनोंके स्वरूप और लक्षण उल्लिखित हैं और कुछ पदोंमें उनकी महिमाके गान भी। ऐसे भी पद हैं जो भक्तिकी साधनामें सहायक या बाधक तत्वोंको खोल-खोल कर दिखाते हैं। तुलसीकी भक्ति भावनाका जितना प्रशस्त और उत्कर्षमय रूप इस ग्रंथमें विद्यमान है वैसा अन्यत्र नहीं। उन्हें संसारकी किसी भी विभूतिकी तिल भर भी आकांक्षा नहीं। उनकी रति, मति और गति पूर्णतः रामभक्तिपर ही केन्द्रित है। उनकी एक मात्र आकांक्षा है, रामके चरणोंके निष्काम प्रेम की—

“मति रामनाम ही सों, रति रामनाम ही सों,
गति रामनाम हीकी विपति-हरनि ।
रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी दरैंगे राम आपनी दरनि ॥”

निश्चय ही ‘विनयपत्रिका’ भक्ति-रसका आकर है। संस्कृत-साहित्यमें भक्ति-रस संबंधी काव्योंकी न्यूनता अथवा अन्य कारणोंसे भक्ति-रसकी स्वतंत्र सत्ता भले ही विवाद-ग्रस्त हो, पर हिन्दी-साहित्यमें अकेली ‘विनयपत्रिका’ ही भक्तिको रस-कोटिमें प्रतिष्ठित करनेके लिए पर्याप्त है। वैसे भी हिन्दीका सारा पूर्वाद्ध मध्यकालीन भक्ति-साहित्य ही भक्ति-रसका अमृतमय सागर है। रस-निष्पत्तिकी दृष्टिसे विचार करने-के लिए पहले इसके स्थायीभावको लीजिए। भक्तिरसका स्थायीभाव भगवत्प्रेम है। तुलसीदासने स्वयं राम-प्रेम या राम-रतिको भक्तिरसका स्थायी भाव माना है। तभी तो, वे ‘विनय०’ की सभी स्तुतियोंमें वर माँगते समय राम-चरण-रतिके ही आकांक्षी दिखाई पड़ते हैं। यों भी उन्होंने कहा है—

“पूनो प्रेम भगति रस ।”^१

“सर्वभूत हित, निर्व्यलीक चित, भगति प्रेम, दृढ़ नेम ।”^२

‘विनयपत्रिका’में विभाव पक्षकी ओर दृष्टि ले जानेपर अवगत होता कि इसमें आश्रय हैं—तुलसी-दास और आलंबन हैं—राम या रामका नाम। उद्दीपनके अन्तर्गत रामका मनमोहक रूप, उनके वस्त्रा-भूषण, उनका शील, तो आते ही हैं उनकी तथा उनके नामकी शक्ति भी परिगणनीय है।

विनयपत्रिकामें इन सभी उद्दीपनोंकी व्यव्य योजना की गयी है। श्रीरामस्तुतिके पदोंमें इनके एक-से एक बढ़िया उदाहरण देखे जा सकते हैं।^३

आप्त वचन तथा संत समागम भी विभावके अन्तर्गत माने जाँएंगे क्योंकि ये भी राम और राम-नामकी ओर आकृष्ट करते हैं। इसीलिए विनय० के पदोंमें आप्त (वेद, पुराण, स्मृति, मुनि इत्यादि) वचनोंकी बार-बार दुहाई दी गयी है।^४ संत समागमके विषयमें तो उनका स्पष्ट मत है कि सतसंगसे भक्ति एवं रामचरण-रति उत्पन्न होती है—

“सेवत साधु द्वैत भय भागै । श्री रघुवीर चरन लय लागै ॥”

× × ×

“बिनु सतसंग भगति नहिं होई । ते तब मिलैं द्रवै जब सोई ॥”^५

× × ×

“संसय-समन दमन दुख, सुख-निधान हरि एक ।

साधु-कृपा बिनु मिलहि न करिय उपाय अनेक ॥”

अब संचारियोंकी ओर आइए। शृंगारकी भाँति भक्तिमें भी सबसे अधिक संचारी भाव प्रतिष्ठित मिलते हैं। हाँ, भक्तिमें विश्वास और प्रपत्ति—जैसे कुछ संचारी भाव अधिक महत्व पा गये हैं और सभी भक्तोंमें ये प्राप्त होते हैं। शृंगारमें नायक-नायिकाका परस्पर विश्वास उपजता है कभी कभी धीरे-धीरे घटता

१. दे० ‘विनय’ पद १८४। २. वही २०३ (१६)। ३. वही २०४ (३)। ४. वही ४३-४६; ५०-५६; ६१। ५. वही ६९, ७४, ७८। ६. वही १३६ (११) (१०)। ७. वही २०३ (१९)।

हुआ समाप्त भी हो जाता है। परिणाम यह होता है कि दोनों संबंध त्याग कर लेते हैं। भक्तिमें तो विश्वास ही मेरुदंड है। इसके बिना भक्त ऊपर बढ़ ही नहीं सकता। भक्तका विश्वास अडिग और एकांगी होता है। उपास्य क्या करता है इसकी उसे चिंता नहीं। वह तो अपने विश्वासको स्थिर बना कर अग्रसर होता है—

“उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-विमुख न पैहौं।”^१

× × ×

“नाहि न आवत आन भरोसो।

यहि कलिकाल सकल साधन तरु है सम-फलनि फरो सो।”^२

× × ×

“भरोसो जाहि दूसरो सो करो।

मोको तो रामको नाम कलप तरु कलि कल्यान फरो।”^३

“तीनि लोक तिहुँकाल न देखत सुहृद रावरे जोरको हौं।”^४

‘विनयपत्रिका’के पदोंमें प्रेमकी अनन्यता दृढ़ विश्वासपर ही आधारित है। इसलिए उनमें विश्वास पूर्णतया भरा है।

प्रपत्तिका दूसरा नाम समर्पण है। शृंगारमें भी समर्पण होता है; पर वह वासनामय होता है। वहाँ विनिमयमें भी प्रेमी वैसा ही चाहता है और यदि प्रियने उपेक्षा दिखायी तो संदेह और विरोधके कारण समर्पण समाप्त होकर कटुतामें बदल जाता है। भक्तिमें ऐसी बात नहीं। यहाँ तो भक्तका समर्पण पत्थर की लकीर है; यह एकांगी होता है। भक्त अपनेको उपास्यके चरणोंमें चढ़ा देता है। समर्पणका यह भाव भक्तिकी पुष्टिका बढ़ा ही सहायक भाव है। विनय० में तुलसीकी प्रपत्ति देखिए—

“ज्यों-त्यों तुलसी कृपाल ! चरन-सरन पावै।”^५

× × ×

“तुलसिदास भव-व्याल-प्रसित तब सरन उरग-रिपु गामी।”^६

× × ×

“यह जिय जानि दास तुलसी कहुँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥”^७

‘विनय०’में प्रपत्ति भाव व्यंजक ऐसी उक्तियाँ बहुत-सी हैं।^८

विनयपत्रिकामें प्राप्त होनेवाले अन्य संचारी भावोंमें मुख्य रूपसे निर्वेद,^९ विबोध^{१०} या प्रबोध, दैन्य,^{११} मति,^{१२} धृति,^{१३} स्मृति,^{१४} व्याधि,^{१५} श्रम,^{१६} त्रास,^{१७} हर्ष,^{१८} विषाद,^{१९} तर्क,^{२०} (वितर्क), गर्व,^{२१} व्रीडा,^{२२} चपलता^{२३} आदि भाव दिखाई पड़ते हैं।

१. दे० विनय० पद० १०४ (२)। २. वही १७३। ३. वही २२६ (१)। ४. वही २२९ (२)। ५. वही ७९। ६. वही ११७। ७. वही २४२। ८. वही १३८, १६०, १८७, २०२, २४३। ९. वही ६६ (४), ७३, १२१, १८८। १०. वही ७३, ७४। ११. वही ७६, ७९, १०९, ११०, ११३, ११४, १४३, १६५, २१०, २११, २१२, २३५, २४२। १२. वही ८७, १३३। १३. वही १०४, १०५। १४. वही १२६, १२८। १५. वही ८, १३६, १३९, १९५। १६. वही ८८, १८९। १७. वही १२५, १८१, २६६। १८. वही ७६, ६२, २२०। १९. वही ९०, १२५। २०. वही १२१, १५५। २१. वही १३७, १३८। २२. वही १४२, १४८। २३. वही ८८, ९१।

कुछ विद्वज्जन 'विनय०'के संचारी भाव 'निर्वेद'को स्थायी भाव मानकर ग्रन्थमें शान्त रसकी स्थापना करना चाहते हैं, पर यह ठीक नहीं। इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थमें संसारके प्रति अनासक्तिका भाव आद्यंत अनुस्यूत है, फिर भी इसका प्रधान रस भक्ति-रस ही कहा जाएगा जिसका स्थायी भाव राम-प्रेम है। इसी राम-प्रेमके याचक हैं—तुलसीदास और इसी रामप्रेम की पत्रिका है—विनयपत्रिका। यहाँ निर्वेद संचारी भावके रूपमें ही स्थायी भाव भगवत्प्रेमके साथ मेल खाएगा क्योंकि तुलसीकी भक्तिमें 'विरति' सहायिका है—

‘सुक-सनकादि, प्रह्लाद-नारदादि कहैं,
रामकी भगति बड़ी विरति-निरत ।’

(विनय० पद २५१)

जैसे अपने प्रियतममें अनुरक्त नायिका अपने प्रियके शत्रुसे दूर भागती, उसे डाँटती-फटकारती है वैसे ही तुलसीकी भक्ति-भावना अपने प्रिय रामको ग्रहण करती है और रामके बाधक 'संसार'को प्रतिनायक समझ कर टुकराती है। 'विनय'के अनेक पदोंमें 'संसार'की असारताका डंका पीटनेका यही रहस्य है। तुलसीने आत वचनोंके स्वरमें स्वर मिलाकर अपना यह मत घोषित किया है—

श्रुति-गुरु-साधु-समृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, विपति सकै को टारी ॥”^१

स्पष्ट है कि असार संसारसे निर्लित होकर रामसे प्रेम करना चाहिए।

अनुभावकी दृष्टिसे विचार करने पर भक्तिरसमें भी शृंगारकी भाँति संयोग-वियोग दोनोंके अनुभावों-को स्थान मिलता है। 'विनय-पत्रिका'में वियोग पक्षका ही चित्रण है। भक्त भगवानके समीप पहुँचनेके लिए आतुर है। वह ज्यों-ज्यों मार्गके व्यवधानोंका डट कर सामना करता है, त्यों-त्यों उसके हृदयका प्रेम अपने इष्टदेवके सामीप्यके लिए अत्यधिक उमड़ता जाता है। इसके फलस्वरूप जो शारीरिक अनुभाव होते हैं उनका वर्णन नहीं किया गया। केवल मानसिक अनुभाव चित्रित किए गए हैं। यथा, अत्यधिक व्याकुलतावश उनके मुँहसे ऐसे शब्द निकल ही पड़े हैं—

‘बारक कहिए कृपालु ! तुलसीदास मेरो ।’^२

इसी प्रकार प्रेम-विभोर होकर भगवान्का यह प्रेमी कभी भगवानके गुणोंका कथन करने लगता है, कभी उसकी गाथाएँ बताने लगता है कभी उसकी लीलाओंको गाने लगता है। ऐसा लगता है मानो उसका मन-मयूर नाच रहा है।^३ प्रेम-विह्वलता ऐसा गुण-कथन मानसिक अनुभावके अन्तर्गत आएगा। विरही-भक्तकी अभिलाषा सदा सजग रहती है इष्टदेवकी कृपा-प्राप्तिके लिए, उसके दर्शनके लिए, उसके समीप पहुँचने और उसका व्रन जानेके लिए। तुलसीदासकी ऐसी अभिलाषा अनेक स्थलों पर मुखरित हो उठी है—

‘रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहि कीजै ।’^४

× × ×

‘तेहि कौतुक कहिए कृपालु ! ‘तुलसी है मेरो’ ।’^५

१. दे० 'विनय०' पद १२० (४)। २. वही ७८। ३. वही १०७, १४५। ४. वही ८०।

५. वही १४६ (५)।

इसमें संदेह नहीं कि 'विनयपत्रिका'में तुलसीके भक्त रूपका ही अधिक स्फुरण हुआ है, तथापि कला-पक्षकी दृष्टिसे भी इसकी उत्कृष्टता निर्विवाद है। कला और भाव दोनों दृष्टियोंसे यह तुलसीकी साधनाकी चरमावस्था है। इसमें भावोंकी प्रौढ़ताके साथ भाषाकी प्रौढ़ताका मणि-कांचन योग है। प्रमाण-के लिए किसी भी पदको देखिए। विनयपत्रिकामें जिस भाषाका प्रयोग हुआ है वह ब्रजभाषा है, पर यह 'सूरसागर'में प्रयुक्त, ब्रजभाषाके समान चलती और सरल नहीं है वरन् संस्कृत-निष्ठ साहित्यिक ब्रजभाषा है जो ब्रजभाषाके लिए एक नई देन है। ब्रजभाषा सामासिक पदावलीसे प्रकृतिः दूर रहती थी, पर तुलसीने उसके स्वरूपकी रक्षा करते हुए उसे प्रशस्त और व्यापक बनाया। उनकी संस्कृतमय पदावली द्विधा रूपोंमें दिखाई पड़ती है—संस्कृत-निष्ठ शैली तथा संस्कृत-बहुला शैली। विनयपत्रिकाके स्तुतिपरक प्रथम-तिरसठ पदोंके बीच अधिकांश पदोंकी रचना इन्हीं दोनों रूपोंमें हुई है। हाँ, दूसरे रूप (संस्कृत-बहुला शैली)-का प्रयोग प्रथम (संस्कृत-निष्ठ शैली)-की अपेक्षा अधिक हुआ है। संस्कृत-निष्ठ और संस्कृत बहुला शैलीमें मुख्य अंतर यह है कि प्रथममें संस्कृतकी विभक्तियों और संधियोंके नियमोंका पालन करते हुए अधिकाधिक संस्कृत शब्द और समासोंको अपनाया गया है तथा दूसरी शैली में संस्कृत शब्द और समासों की बहुलता और विभक्ति रूप एवं संधियाँ भी मिलती हैं, किन्तु संस्कृत रूप ही दिखाई दे, इसका प्रयास नहीं। दोनों शैलियोंका भेद एक-एक उदाहरणसे समझा जा सकता है—

(क) “तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्म जालं।

येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोकया कालं॥”

(संस्कृत-निष्ठ शैली)

(ख) “वामदिसि जनकजासीन-सिंहासनं कनक-मृदुबल्लिवत तरु तमालं।”

(संस्कृत-बहुल शैली)

संस्कृत-साहित्यके स्तोत्र-काव्यके मुक्तकोंकी पद्धति पर रचे गये 'विनयपत्रिका'के स्तुति-पदोंकी-सी भाषाका उपर्युक्त स्वरूप ग्रंथ भरमें सर्वत्र नहीं है। स्तुतियोंके अनेक पदोंको छोड़ अन्य सभी पदोंमें भाषाका प्रधानरूप तद्भव पदावलीका है, यह दूसरी बात है कि बीच-बीचमें संस्कृत शब्द, समस्त पदावली एवं कहीं-कहीं संधि रूप भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त अरबी-फारसीके अनेक शब्द तथा कुछ प्रांतीय बोलियों यथा, बुंदेल खंडी, बघेली, भोजपुरी आदि के शब्द भी गृहीत हैं। भाषामें सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता लानेके लिए कहीं-कहीं मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियोंको अँगूठीके नगकी भाँति पदोंमें जड़ दिया गया है। ब्रजभाषाका प्रांजल प्रयोग है जो अर्थ-गौरव-सम्पन्न है। ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तोंकी जन साधारणकी भाषामें बढ़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। निष्ठात रूपसे कहा जा सकता है कि 'विनय-पत्रिका'की भाषा पर तुलसीकी छाप है। कविको जहाँ जिस भाषाके शब्दको जिस ढंगसे लेनेकी आवश्यकता पड़ी उसने शब्दको उसी रूपमें खराद कर सुंदर रूपमें प्रयोग किया है। कविकी ऐसी भाषा प्रमाणित करती है कि उसका मन अपनी सांस्कृतिक विरासतका कायल है। उसकी संस्कृतिके प्रकाशक मुहावरे, लोकोक्तियाँ, अन्तर्कथाएँ उसके भावप्रकाशनमें बराबर योग देती हैं। विनयपत्रिकाकी भाषा तुलसीके ऐसे अक्षय शब्द-भंडारका परिचय कराती है जिसमें तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव और देशज चारों प्रकारके शब्द-रत्न भरे हैं। हाँ, प्रधानता है तद्भव और तत्सम शब्द-रत्नोंकी ही। जहाँ तक शब्दोंके

प्रयोगका प्रश्न है, सभी प्रकारके शब्दोंकी पूर्ण मर्यादाका ध्यान रखा गया है। शब्द-योजनाका अद्भुत शिल्प विनयपत्रिकाके अनेक पदोंमें दिखाई पड़ता है।

विनयपत्रिकाके पदोंमें भावोत्कर्ष लानेके लिए अलंकारोंकी भी सहायता ली गई है। शब्दालंकारोंमें अनुप्रासकी छटा कहीं सहज रूपमें दिखाई पड़ती है और कहीं ऐसा लगता है कि कविने प्रयत्नपूर्वक अनुप्रासोंको बिठाया है। अर्थालंकारोंमें मुख्य रूपसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और उदाहरणके स्वाभाविक प्रयोग हुए हैं। इनमें भी रूपकके सर्वाधिक और श्रेष्ठ प्रयोग हुए हैं। उदाहरणके लिए मानसिक आरती,^१ वपुष-ब्रह्मांड,^२ संसार-कांतार^३ और जीवन-डोले^४ के सांग रूपक लिए जा सकते हैं। इन विस्तृत सांग रूपकोंके अतिरिक्त अन्य प्रकार निरंग आदिके छोटे-छोटे रूपक तो स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं। ये सब भी सरल, सुंदर और सुस्पष्ट हैं। इसी प्रकार उक्ति-वैचित्र्यके चमत्कार भी अनेक पदोंमें देखे जा सकते हैं। ऐसी उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

“हौं सनाथ हौं सही, तुम्हहूँ अनाथपति, जौं लघुताहिं न भितैहौ।”
(पद २७०)

× × ×
“खीझिवे लायक करतत्र कोटि-कोटि कटु, रीझिवे लायक तुलसीकी निलजई॥”
(पद २५२)

× × ×
“इतेहूँ पर तुम्हरो कहावत लाज अचई घोरि,
निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहिं छोरि॥”
(पद १५८)

एक मीठा व्यंग्य देखिए—

“परम पुनीत संत कोमल चित तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत विप्र, ब्याध, गनिकहिं तारेहु ? कछु रही सगाई ?”
(पद ११२)

विनयपत्रिका मुक्तक गीति काव्य है। फलतः उसके पदोंको विभिन्न राग-रागिनियोंमें बाँधा गया है। उसमें व्यवहृत कुल तेईस राग-रागिनियाँ हैं। जिनमेंसे दंडक, मलार, मारू और विभास रागोंमें केवल एक-एक पद रचे गए हैं। बिलावल, धनाश्री और कल्याण रागोंमें ही अधिक पद रचे गए हैं। विनयके उत्तरार्द्धमें आत्मनिवेदनात्मक आत्म-कल्याणार्थ राग कल्याणका ही प्रयोग किया गया है, तथा पूर्वार्द्धकी स्तुति भजनादिके लिए बिलावल तथा धनाश्री रागोंका प्रयोग हुआ है। देवताके तेजोमय रूप और ऐश्वर्य-कथनके लिए कविकी प्रसाद और ओजमयी वाणी राग धनाश्रीमें ही मुखरित हुई है, और जहाँ प्रसाद एवं माधुर्यमयी पदावलीमें स्तुतिकी गई है वहाँ राग बिलावलकी ही मनोहर ध्वनि गूंजती है। विनयपत्रिकामें प्रयुक्त राग-रागिनियोंका विशेष अध्ययन संगीत-शास्त्रकी कसौटीपर होनेके पश्चात् ही उनके संगीत तत्त्वका वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। इस दिशामें संगीत और साहित्य दोनोंके मर्मज्ञोंको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

गीति काव्यके सर्वग्राह्य मूल तत्वोंको दृष्टिमें रखकर विचार करने पर भी विनयपत्रिका सर्वथा पूर्ण ही कही जाएगी। इसके सुंदर पदोंकी संगीतमयता निर्विवाद है। इनमें आत्माभिव्यंजकता तो है ही, साथ एक भाव विशेषकी तीव्र अखंड भाव धारा भी है जो उफनाती हुई उठती और सिमिट कर केन्द्रीभूत हो कर हृदय पर चोट करती है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि 'विनय'के पद आत्माभिव्यंजक हैं; उनमें एक अखंड भावकी व्यंजना है; वे संक्षिप्त तथा संगीतमय हैं।

लोग 'विनयपत्रिका'को भले ही तुलसीके आत्म-निवेदन और हृदयोद्धारोंका भंडार कहें, पर वस्तुतः यह पत्रिका तुलसीकी ही न होकर मानव मात्रकी हो जाती है। क्योंकि जिस भव-पीड़ाका आभास तुलसीको हुआ वही पीड़ा मानव मात्रको व्याप्त है। जिस प्रेम-मार्ग पर चल कर तुलसीने अपनी पत्रिका अपने प्रभुसे सही करा ली और उनकी बन गई। उसी रास्तेका अनुगमन कर कोई भी प्राणी अपना बना सकता है। इस तरह विनयपत्रिका प्राणि-मात्रकी अक्षय निधि है। तुलसी की भाँति जो अनन्य भावसे भगवान्की शरणमें जाएगा उसका उद्धार अवश्य होगा। इसमें कोई संदेह नहीं। संसार-रूपी सन्निपात-ज्वरका दारुण दुख बिना भगवत्कृपाके कभी नष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि संयम, जप, तप, नियम, धर्म, व्रत आदि अनेक औपधियाँ हैं, पर—

“तुलसीदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥”

(विनय० ८१)

संक्षेपमें, विनयपत्रिका तुलसीकी आत्माभिव्यक्तिका ग्रंथ है। इसके आत्मनिवेदन परक पद हिन्दी साहित्यकी अनुपम उपलब्धि हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि “विनयपत्रिकाका संसारके आत्मनिवेदन साहित्यमें अत्युच्च स्थान है।”^१ विनयपत्रिका पदावली-साहित्यमें तुलसीकी अनूठी देन है। यह “तुलसी साहित्यमें ही नहीं, हिन्दी-साहित्यमें प्रयुक्त उससे भी आगे बढ़कर भारतीय साहित्यमें विनय संबंधी विशिष्ट कृति है। ऐसी प्रौढ़ रचना संस्कृतमें जगद्धर भट्टकी ‘स्तुति कुसुमांजलि’ मानी जाती है, पर विनयपत्रिकामें जैसा प्रच्छन्न बंध है वैसा उसमें नहीं।”^२ रामचरित मानसमें भी तुलसीकी काव्य-भक्तिका उतार-चढ़ाव देखा जा सकता है, किन्तु “विनयपत्रिकाको आदिसे अन्त तक कविकी रसधारा एक-सी प्रवाहित होती है।”^३ कुछ विद्वानोंने विनयपत्रिकाको ‘कालजयी गौरव ग्रंथ’की संज्ञासे अभिहित किया है जो सर्वथा समीचीन कहा जा सकता है।

विनयपत्रिकाके प्रत्येक पदके कथनको अलग-अलग बता कर सभी पदोंके तथ्यको समझानेका अवकाश न देखकर नीचे पदोंका एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाता है जो पदोंको समझने और तुलसीके अध्ययनमें सहायक होगा—

(क) प्रार्थना या स्तुति विषयक पद।^४

(ख) रामनाम जपकी साधना और उसकी महिमा द्योतक पद।^५

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त “तुलसीदास” पृ० ३७४। २. आ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र “गोसाईं तुलसीदास” पृ० २७३। ३. पं० रामनरेश त्रिपाठी “तुलसीदास और उनकी कविता” पृ० २०६। ४. दे० विनय पद १-६४ (इसमें गणपति, सूर्य, शंभु, दुर्गा, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, राम, हरि-शंकर तथा बिदुमाधव की स्तुतियाँ हैं)। ५. वही ६५-७०, १२९-१३१, १४४, १५१, १५२, १५५, १५६, १५९, १७३, १८४, १८९, १९२, २२७, २२८, २३७, २४७, २५४, २५५।

- (ग) भजनीय प्रभु रामके सहज स्वभाव द्योतक पद ।^१
 (घ) प्रभुकी गुरुता और दास की लघुता, दैन्य-निवेदन संबंधी पद ।^२
 (ङ) संसारकी निस्सारता एवं माया संबंधी पद ।^३
 (च) रामको ही अपना परम आश्रय घोषित करनेसे संबंधित पद ।^४
 (छ) मोहाविष्ट मनकी मलिनता, पश्चात्ताप एवं चेतावनी संबंधी पद ।^५
 (ज) जाग्रत मनकी निस्पृहता और उसके अनन्य राम-प्रेमकी अभिलाषा द्योतक पद ।^६
 (झ) जिह्वाको चेतावनीके बहाने अनन्य राम-प्रेम द्योतक पद ।^७
 (ञ) मोहग्रस्त एवं चैतन्य जीव-संबंधी पद ।^८
 (ट) सामयिकता या कलिप्रभाव संबंधी पद ।^९
 (ठ) आत्म-कथात्मक पद ।^{१०}
 (ड) पतितपावन भगवान्‌के दिव्य गुणगान कर आत्मोद्धारकी याचना विषयक पद ।^{११}
 (ढ) भिन्न-भिन्न कथाश्रित विनयपत्रिकासे अप्रत्यक्ष रूपमें संबद्ध पद ।^{१२}
 (ण) प्रभु-प्रेम-शून्य-जीवनका थोथापन द्योतक पद ।^{१३}
 (त) अनन्य राम-प्रेम (प्रेमा-भक्ति)के लक्षण, सुलभता, सर्वश्रेष्ठता एवं साधन संबंधी पद ।^{१४}
 (थ) संत या भक्तके लक्षण संबंधी पद ।^{१५}
 (द) भक्तिके कंटक द्योतक पद ।^{१६}
 (ध) राम-दरबारमें पत्रिकाके पहुँचाने और प्रभुकी सही संबंधी पद ।^{१७}

जो पद इन वर्गोंमें नहीं आए हैं उन्हें फुटकल वर्गकी संज्ञा दी जा सकती है। ये सभी किसी न किसी प्रकार राम-प्रेमसे संबंधित कहे जा सकते हैं। अध्ययनकी सुविधाके लिए उपर्युक्त वर्ग भले ही महत्त्वपूर्ण हैं, पर वैसे ध्यानसे देखने पर सभी वर्गोंके मूलमें ध्वनित एक ही विचार राम-प्रेमका प्रतिष्ठापन दिखाई पड़ता है।

विनयका रचनाकाल : 'विनयपत्रिका'को तुलसीकी अंतिम कृति स्वीकार करनेमें किसीको कोई आपत्ति नहीं। डॉ० माताप्रसाद गुप्तने इसका रचनाकाल सं० १६६१-१६८०के बीच ठहराया है।^{१८} उसे ग्रहण करनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ●

१. दे० विनय पद० ७१, ७२, ७५, ७६-७८, ९९, १००, १५९ (१), १७१, १६४। २. वही ७२, ७९, ८०, १०६, १०९, ११४, ११७, ११८, १३७, १३८, १५०, १५८, १६०, १६२, १६३, १९१, २३९, २४२। ३. वही ६६, १११, ११३, ११६, १२०-१२३ १८८। ४. वही ८६, १०१, १४५, १४९, १५३, १६१, १७७-१८२, १९७, २०७, २०९, २१०, २१६, २१७, २२२, २२५, २२६, २२९, २३१, २३२, २४३, २४९, २५०, २५३, २५७, २५९, २६०, २६३, २७२-२७७। ५. वही ७०, ८१, ८२-८५, ८७, ८८-९२, १२४, १२६, १३३, १४३, १९८, १९९। ६. वही ७०, १०५, १७२, १७४-१७६, १९२, १९४, १९५, १९६, २११, २१८, २२३, २२४, २३१, २३३, २४०, २५६, २६८, २६९, २७०। ७. वही ६५, ६८, १२९, १३०, २३७, २४७। ८. वही ६७, ७३, ७४, १३२, १३३, १३६ (-१९), १५१, १९४, २३६। ९. वही १३९, १४६, १९२, १९५, (१-३), २२०, २२१, २६६। १०. वही ८, २३, २४, ६०, ७६, १३५ (१), २३७, २६०, २६४, २७५। ११. वही ९३, ९४, ९७, ९८, १०२, १०७, ११०, ११२, ११३, १३४, १४८, १५२, १५४, १६०, १६२-१६६, १८३, १९३, २१२-२१५, २४१, २४८, २६२, २७१। १२. वही ५, ८६। १३. वही १४०, १७५, १९४, २०१। १४. वही १०३, १०४, १३६ (१०), १६८, २०३, २५१। १५. वही ११८, ११७, १६८, १७२। १६. वही १२५, १४७। १७. वही २७८, २७९। १८. तुलसीदास पृ० २५३।

तृतीय परिच्छेद

तुलसीकी समकालीन परिस्थितियाँ

गोस्वामीजीके समकालीन समाजका सांगोपांग निदर्शन हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं। हाँ, यह आवश्यक है कि अपने कविकी कृतियोंमें सन्निहित सामाजिक चित्रोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे विश्लेषण करते हुए उनकी सत्यता प्रतिपादन कर हम कविके युगकी एक झाँकी उपस्थित करें।

मुगल-साम्राज्यके बीजारोपणके समय दिल्लीका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था, बड़े-बड़े सूबोंमें पृथक्-पृथक् राजा थे, छोटे-छोटे जिले, यहाँतक कि प्रत्येक शहर या किलेका स्वामित्व किसी बड़े सरदार या घरानेके हाथों में था। उनके ऊपर कोई अधिकारी न था। वह छोटे-छोटे राजाओं, मुल्क अतवैफ या कार्यकारी अधिकारियों (फक्शन किंग्ज) का समय था^१। बाबरने इन दिनों राजपूतोंकी स्फूर्ति, उनकी आत्मसम्मानपर बलिदान होनेकी प्रवृत्ति, उनकी अलौकिक वीरताको अच्छी तरह समझा और उन्हें पराजित करनेमें उसे अपने कितने ही सैनिकोंका बलिदान करना पड़ा। परन्तु परमात्मा उसके पक्षमें था। आगे चलकर हुमायूँ की भी शान्ति न मिली, उसे भी राजपूतोंसे लोहा लेना पड़ा और उसके लोहा लेनेपर भी मुगल-साम्राज्यका संघटन न हो पाया। वस्तुतः मुगल-साम्राज्यका स्वर्णयुग अकबरका शासनकाल है। अकबर ही मुगल-साम्राज्यका वास्तविक संस्थापक एवं संघटनकर्ता कहलावेनाला अधिकारी है। उसके विषयमें भी यह न भूलना चाहिये कि उसे भी हिन्दुस्तानको अपने आधिपत्यमें लानेके लिए बीस वर्षतक भीषण संघर्ष करना पड़ा। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी मृत्युके समयतक उसका प्रयास सब प्रकारसे पूर्ण हो चुका था^२।

अकबरका प्रयास सोलहो आना तो नहीं, पर अधिकांश सफल हुआ। कितने ही हिन्दू राजाओंने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। सन् १६६२ (सं० १६१९) में ही वर्तमान जयपुर-महाराजके पूर्वज आमेरके राजा बिहारीमलने नवीन सम्राट्के दरबारमें पधारकर अत्यन्त हर्ष प्रकट करते हुए अपनी भेंट उपस्थित की थी। सम्राट्ने सहर्ष उनका कन्यारत्न ग्रहण किया^३। इसके पूर्व भी अकबर रुक्या तथा सलीमासे पाणिग्रहण कर चुका था। ये दोनों भी राजपूत ललनाएँ थीं^४। अकबरका हरम और भी कितनी ही हिन्दू नारियोंसे भरा था।

अकबरके ही नहीं, जहाँगीरके हरममें भी राजा उदयसिंह, बीकानेरके राजा, राय रायसिंह, राजा मानसिंहके ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह, रामचन्द्र बुन्देला आदिकी बेटियाँ पहुँच गयीं थीं^५। इससे स्पष्ट है कि हिन्दुओंकी विवशता उस समय परिस्थितियोंके कैसे चक्रमें पड़ी हुई थी। राजाओंमें अपवादस्वरूप थे मेवाड़ का मुखमण्डल सदैव आलोकसे मण्डित करनेवाले राणा प्रताप।

हिन्दू राजाओं तथा प्रजाका पतन

सामान्यतया जब राजाओंसे उनका क्षत्रियत्व ही छिन गया था, उनका आत्माभिमान भी चला गया था तो उन नाममात्रके हिन्दू-राजाओंसे क्या आशा थी? मुगल सम्राट् अकबरके अधीन उन राजाओंके

१. डा० स्टेनली लेनपूल : मिडीवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल', पृ० १८९। २. डा० स्टेनली लेनपूल : पृ० २३८। ३. वही, पृ० २५१। ४. वही, पृ० २५१। ५. प्रो० बेनीप्रसाद : 'हिस्ट्री आफ् जहाँगीर', पृ० ३०।

समक्ष शाही दरबारकी रीति-नीतिके अतिरिक्त अन्य अनुकरणीय ही क्या रह गया था ? फलतः उन राजाओं ने विलासिता और उसके विविध उपकरण प्राप्त करना ही अपना कर्तव्य समझा । उनमें अपने सम्राट्की नकल चल रही थी । नाच-गानका बाजार गरम था । अपने दरबारी कवियों द्वारा अपनी प्रशंसा सुन अथवा विलासिताकी उत्तेजक किसी काव्यनिक नायिकाका वर्णन सुनकर वे आनन्दित होते थे । उनका व्यक्तिगत जीवन पंकिल हो गया था । उनकी दृष्टि से प्राचीन हिन्दू राजाओंकी प्रजावत्सलता, उनके आचार-विचार, उनकी धर्मनिष्ठा आदिके उदात्त सिद्धान्त ओझल हो गये थे । कुछ राजाओंमें कदाचित् उनकी स्मृतियाँ रही हों तो उनमें सामर्थ्य नहीं थी कि उन्हें कार्यान्वित कर सकें ।

‘यथा राजा तथा प्रजा’के अनुसार हिन्दू जनताका पतन भी अनिवार्य था । जनताकी दास्यप्रिय मनोवृत्तिको प्रश्रय मिला । अपनी प्राचीन शिक्षा-दीक्षाकी ओरसे पराङ्मुख होकर जनता शासकोंके रंगमें अपने आपको रँगनेके लिए प्रयत्नशील हो रही थी । सत्रहवें शतकके उत्तरार्द्धमें मुंशीगिरीमें हिन्दुओंकी संख्या बड़े वेगसे बढ़ी । लगान-विभागमें छोटे-छोटे पदोंपर हिन्दू मुंशियोंका एकाधिकार मुसलमानोंके राज्यकालके पहलेसे ही था, परन्तु अकबरके समय जबसे टोडरमलने अपना यह हुक्म जारी किया कि सभी सरकारी कागज फारसीमें लिखे जायँ तबसे राज्यके सभी हिन्दू कर्मचारियोंको फारसी सीखनी पड़ी । ‘‘ सत्रहवें शतकमें कितने ही सामन्त और राजा अपने फारसी पत्र लिखवानेके लिए हिन्दू मुंशियोंको रखते थे और इस प्रकार उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी’’ । ‘‘ हरकरन इतवारखानी (सन् १६२४ के अनन्तर) प्रसिद्ध मुंशी जिनका उपनाम चन्द्रभान था, जातिके ब्राह्मण थे । फारसी उन दिनों जीवको-पार्जनका उसी प्रकार साधन थी जिस प्रकार अंग्रेजोंके शासनकालमें अंग्रेजी थी ।

प्रत्येक सामन्तकी मृत्युपर उसकी सम्पत्ति हड़प लेनेकी (एसचीट सिस्टम) प्रथाके कारण न जाने कितने हिन्दुओंका उच्छेद हो रहा था । सरदारके मरते ही उसकी भूमि राजाकी हो जाती थी और उसका फल यह होता था कि अनेकानेक परिवार अनाथ हो जाते थे । उन्हें भीख माँगनेके अतिरिक्त और मार्ग न सूझता था^१ । सरदारके जीवनकालमें भी भूमि-अपहरण-प्रणालीका समाजघातक परिणाम होता था । सरदार लोग गुलछरें उड़ाते और नैतिक पतनके गर्तमें गिरते जाते थे । वे सोचते थे कि जब हमारे परिवारको हमारे न रहनेपर कुछ भी न मिलेगा तो क्यों न हम अपने जीवनकालमें ही उसे उड़ा डालें । परिणामतः इस प्रथाने देशके कितने ही परिवारोंकी आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक प्रतिष्ठापर भारी कुठाराघात किया^२ ।

कृषिप्रधान भारतके स्तम्भ कृषकोंकी क्या दशा थी ? लगान वसूल करनेवाले कर्मचारी बेचारे किसानों को निचोड़ डालते थे । कृषकोंकी प्रधान आवश्यकताओंकी उपेक्षा कर लगान वसूल किया जाता था । लगान वसूल करनेवाले छोटे-छोटे कर्मचारी भी लुटेरोंकी भाँति इन दीनोंको नोचते-खसोटते थे । कितने ही अन्यायपूर्ण अवबाव लगाये गये थे, जिन्हें बेचारे किसान देते-देते परेशान रहते थे^३ । एक ओर जहाँ ये कर्मकरके लिए क्रूरता करते थे, वहीं दूसरी ओर कभी-कभी इन किसानोंका दुर्भाग्य महान् दुर्मिक्षके रूपमें भी अकाण्ड-ताण्डव किया करता था । आयात और निर्यातके साधनोंका अभाव तो था ही, राजाका प्रजा-पर आन्तरिक प्रेम न होने के कारण न जाने कितने मनुष्य बेमौत भी मरते थे । अन्नके बिना कितने ही तड़प-तड़पकर मृत्युके ग्रास बनते थे^४ ।

१. सर यदुनाथ सरकार : ‘मुगल एडमिनिस्ट्रेशन’, पृ० २२७ । २. वही, पृ० २२८ । ३. सर यदुनाथ सरकार : ‘मुगल एडमिनिस्ट्रेशन’, पृ० १६५ । ४. वही, पृ० १७५ । ५. वही, पंचम परिच्छेद टैक्सेशन । ६. ‘हिस्ट्री आव् जहाँगीर’, पृ० १२३ ।

तुम्हिले तो बार-बार पड़ते ही थे, एकाध बार महामारीने भी अपने भैरव हुंकारसे जहाँगीरके साम्राज्यमें त्राहि-त्राहि मचा दी थी। यह वीमारी सन् १६१६ से सन् १६२४ तक वर्तमान थी^१। पहले लाहौरसे आरम्भ हुई और सरहिन्द, दिल्ली आदि स्थानोंपर हाथ साफ करती हुई अन्तमें उसने अन्तर्वेदीकी पवित्र भूमिको भी अपनी संहारस्थली बनाया। इसने भी अगणित निरीह प्राणियोंका नाश किया और विनाशमें अधिकांश भाग हिन्दुओंका ही था।

देवालयों तथा तीर्थोंकी स्थिति

देवस्थलों और तीर्थोंपर दृष्टिपात कीजिये। अकबर या जहाँगीरके समयके इतिहाससे तीर्थादिकोंके विषयमें हिन्दुओंकी धारणाका पता नहीं चलता, पर शाहजहाँके प्रारम्भिक शासनकालमें फ्रेन्को बरनियरने भारत-यात्रा की थी, उसने कुछ हिन्दू तीर्थोंकी स्थितिका जो अंकन किया है उसके आधारपर जहाँगीर और अकबरके समयकी स्थितिका भी अनुमान किया जा सकता है।

यात्रीने पवित्र जगन्नाथपुरीमें आठ-नौ दिनोंतक होनेवाले वार्षिक रथयात्राके मेलेका भी वर्णन किया है। उस मेलेकी भीड़ देखकर यात्रीकी आँखें चौंधिया गयी थी। पता लगानेपर उसे मालूम हुआ कि किसी-किसी वर्ष यहाँकी भीड़ डेढ़ लाखसे भी अधिक होती है। इस विशेष मेलेके अवसरपर एक बहुत बड़ा विमान बनता था। उसे चौदह या सोलह पहियोंके रथपर अधिष्ठित कर उसपर नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत जगन्नाथजीकी प्रतिमा बिठायी जाती थी। फिर उस रथको पचास-साठ आदमी खींचकर एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरतक ले जाते थे।^२

प्रथम दिन जब मन्दिरमें जगन्नाथजीके दर्शन कराये जाते थे तो अत्यधिक भीड़ होती और उसमें इतनी कठिनाई से प्रवेश-निर्गम होता कि बहुत-से दूरस्थ देशसे आनेवाले थके-मोड़े तीर्थयात्री पिस उठते-मर जाते। ऐसे मरनेवालोंकी अन्यान्य लोग यह कहकर सराहना करते कि वे भाग्यशाली हैं जो तीर्थमें आकर ऐसे शुभ अवसरपर मरें। और जब उस ठसाठस भीड़में रथ चलता तो बहुत-से तीर्थयात्री अपने धार्मिक जोशमें आकर जानबूझकर अपनेको रथके पहियोंके नीचे डाल देते। उनका अन्धविश्वास था कि ऐसा करनेसे जगन्नाथजी प्रसन्न होकर हमें सद्गति देंगे, हमें पुनर्जीवन प्रदान करेंगे^३।

कुछ ब्राह्मण इस प्रकारके अन्धविश्वासोंको और भी दृढ़ कराते थे, क्योंकि इसी आधारपर उन्हें धन और यश दोनों मिलते थे। वे जगन्नाथजीके रहस्योंको जाननेवाले माने जाते थे, इसीसे लोग उन्हें बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते और दान देते थे। इन ब्राह्मणोंके विगर्हित काम देखकर बड़ी घृणा होती है। इनके पाखण्डोंके कई मार्ग थे; जैसे, ये ब्राह्मण किसी लावण्यवती युवतीको चुन लेते और अन्धविश्वासियोंके मनमें यह विश्वास जमा देते कि वह रमणी जिस मन्दिरमें जगन्नाथजी पधराये जायँगे उसीमें उनकी पत्नी बनेगी, रात्रिमें जगन्नाथजी उसके पास अवश्य पधारेंगे। रमणीको आज्ञा देते कि जिस समय जगन्नाथजी तुम्हारे पास आयें, उनसे पूछना कि वर्ष किस प्रकार बीतेगा, कैसी धूम-धाम रहेगी, कैसी प्रार्थनाएँ होंगी और उनकी अर्चनाके लिए कितने दानकी आवश्यकता पड़ेगी? रात्रिके दूसरे पहरमें मन्दिरके किसी छोटे पक्षद्वारसे इन्हीं ब्राह्मणोंमेंसे कोई प्रवेश करता, उस सीधी-सादी अशंकित युवतीका सतीत्व अपहरण करता और उनके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका आवश्यक उत्तर देकर उसका पूर्ण विश्वास

१. 'हिरद्वी आव् जहाँगीर', पृ० २९५ और दे० स्मिथ 'अकबर दी ग्रेट मुगल', पृ० ३९; इलियटकृत 'हि० आ० इ०' जि० ६, पृ० ४०६। २. कान्सटेबल एण्ड स्मिथकी 'बरनियर्स ट्रेवल्स इन दी मुगल इण्डिया', पृ० ३०४। ३. बह्वी, पृ० ३०५।

बनाये हुए चला जाता। दूसरे दिन वह रमणी भी जगन्नाथजीकी पत्नीके रूपमें उनकी प्रतिमाके साथ रथमें दूसरे मन्दिरकी ओर ले जायी जाती थी। वहाँ ब्राह्मण लोग भीड़के सामने जोरसे चिल्लाकर पूछते कि जगन्नाथजीने रात्रिमें तुमसे क्या-क्या बातें कीं ?^१

दूसरे प्रकारका अनाचार सुनिये। रथके सामने और यहाँतक कि देवलमें ही उत्सवके दिनोंमें वेद्याएँ अपनी नाना प्रकारकी कामोद्दीपक अंग-भंगियाँ दिखाकर नर्तन करतीं और ब्राह्मण लोग इसे धर्मका अंग बताते। यात्रीका कहना है कि उसने और भी कितनी ही रमणियोंको देखा जो एक सामान्य विभागमें रखी गयी थीं। वे किसी बाहरी आगन्तुक, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई यात्रियोंके उपहारको उपेक्षणीय समझती थीं। उनका विश्वास था कि वे देवलके पुजारी अथवा देवलके चारों ओर भस्म रमाकर बैठे हुए बड़े-बड़े जटाधारी सिद्धोंको अर्पित हैं।^२

साधकोंके विषयमें बरनियरने जो देखा उसे भी सुनिये। उसका कहना है कि नाना प्रकारके फकीर और दरवेश साधक या विविध प्रकारके हिन्दू मत-मतान्तरके साधकोंकी बहुत बड़ी संख्या प्रायः एक प्रकारके मठोंमें रहती है, जिनके संचालक बहुत सम्पन्न होते हैं। इन लोगोंका जीवन इतना विलक्षण है कि यदि मैं उनका वर्णन करूँ तो लोगोंको उसपर विश्वास ही न होगा। मैं विशेष रूपसे एक प्रकारके साधकोंकी ओर संकेत करता हूँ जो 'जोगी' कहे जाते हैं। ये लोग भस्म रमाये, बिलकुल नग्न वेशमें बड़े-बड़े वृक्षोंके नीचे, तालाबोंपर या अन्यान्य जलाशयों या देवलकी परिक्रमा अथवा सभामण्डपोंके पास राखपर लेटे या बैठे रात-दिन दिखायी पड़ते हैं।...इनकी बड़ी लम्बी-लम्बी जटाएँ होती हैं।... विचित्र मुद्रामें आसीन, नग्न और काले, लम्बो जटा और विशाल नाखूनधारी योगीको देखकर जैसा भय लगता है वैसा कदाचित् नरकको भी देखकर न लगेगा।^३ बरनियरने इसी प्रकारके अन्यान्य बहुत-से साधकोंका उल्लेख किया है।^४

जिन योगियोंका वर्णन अभी बरनियरके आधारपर किया गया, उनका प्रभाव अकबर और जहाँ-गीरके ही समयमें नहीं, अपितु उनके पूर्व ईसाके तेरहवें और चौदहवें शतकमें भी था। मारकोपोलोने, जिसका यात्राविवरण तेरहवें और चौदहवें शतकके भारतपर प्रकाश डालता है, दक्षिणके सिद्ध योगियोंको बड़ा निष्ठुर, पाखण्डी कहा है।^५ ये योगी नंगे ही बेधड़क घूमा करते थे। शरीरपर भस्म लेप किये रहते थे। इन्वन्वत्ताके वर्णनसे जान पड़ता है कि सर्वसाधारणका विश्वास था कि ये लोग सिद्ध योगी हैं।^६

वर्णाश्रम धर्मका हास

हिन्दू समाजके मेरुदण्ड वर्णाश्रम धर्मके हासका विचार लीजिये। मुसलमानोंके भारतमें आनेके पहले नास्तिक जैनों तथा बौद्धोंका वैदिक धर्मपर घातक प्रहार हो चुका था। किन्तु सायण, मध्व, उव्वट, दुर्ग, आनन्दतीर्थ, भट्ट भास्कर प्रभृति विद्वानोंने गिरते हुए वैदिक धर्मको अपने भाष्यों द्वारा सँभाला।

वेदोंके भाष्यके अनन्तर कुछ नेमिचृत्तिवाले सुधारकोंने हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिए स्मृतियोंके भाष्य किये तथा निबन्ध लिखे। किन्तु यह निष्प्राण शरीरमें नवीन प्राणप्रतिष्ठा करनेके समान था, क्योंकि मुसलमानोंके आनेके पहले प्राचीन सामाजिक नियमोंका बहुत कुछ क्षय हो चुका था। मेधातिथि, कुल्लूक-

१. कान्सटेबल एण्ड स्मिथ : 'बरनियर्स ट्रेवेल्स इन दी मुगल इण्डिया', पृ० ३०५। २. वही, पृ० ३०६। ३. वही पृ० ३१६। ४. वही, पृ० ३१७-२४। ५. 'जुक आव् सर मारकोपोलो' ट्रान्सलेटेड बाई यूले, भाग २, पृ० २९९, ३०२। ६. 'ट्रेवेल्स आव् इन्वन्वत्ता', भाग ४, पृ० ३३।

भट्ट, विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, रघुनन्दन आदि विद्वानोंने प्राणपणसे श्रमपूर्वक स्मृतियोंके अवतरण दे-देकर, उनका सार संकलित किया। बहुत अंशोंमें हिन्दुओंकी धर्मव्यवस्था इन्हींके अनुसार हुई।

अपने प्राचीन धर्मके रक्षार्थ कुछ विद्वज्जनोंने दर्शनोंकी ओर ध्यान दिया। यद्यपि मुसलमानोंके आनेके पहले ही शंकराचार्य एवं उनके गुरुने एक बार सभी लोगोंको उद्बोधित किया था और उसके फलस्वरूप बौद्धोंका पतन हो चुका था; उनके विहार ध्वस्त हो गये थे; शंकराचार्यने अपने सिद्धान्तके प्रचारके लिए पहले ही चार मठोंकी स्थापना कर दी थी; पट्टदर्शनके सम्प्रदायोंकी पुनः स्थापना हुई और जनताको दार्शनिक तत्त्व समझानेके लिए अनेकानेक भाष्य लिखे गये, पर सामान्य जनता इन विद्वज्जनो-पयोगी कृतियोंसे क्या लाभ उठा सकती थी ?

प्राचीन धर्मके कुछ सुधारकोंने उसका पुनरुत्थान तन्त्रों द्वारा करना चाहा, इसीसे महानिर्वाण, कुलार्णव आदि तन्त्र-ग्रन्थ सरल आकर्षक भाषामें लिखे गये।

प्राचीन भागवत धर्मके नवोद्भावित, भक्ति सम्प्रदायके प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य एवं उनके अनुयायी तथा आगे चलकर वैष्णव सम्प्रदायके अन्यान्य अधिष्ठाता सर्वश्री विष्णुस्वामी, बल्लभाचार्य, विठ्ठलनाथ, हितहरिवंश आदिने भी हिन्दू-धर्मको मिटनेसे रोका। इसी प्रकारका प्रयास शैवोंका भी था। उनके सप्त भेदागम, स्वयम्भूआगम, वीरशैवागम सम्प्रदायोंके प्रत्यभिज्ञानशास्त्र शैवोंके बीच प्रचलित रहे।^१

निस्सन्देह, जिन कतिपय वर्गोंके महारथियोंकी ओर संकेत किया गया उन्होंने मुसलमानोंके लाख आनेपर भी हिन्दू-धर्मके मूलको न हिलने दिया। यह तो एक ओरकी बात हुई। अब दूसरी ओर भी दृष्टिपात कीजिये। मुसलमानोंकी जड़ जम चुकनेके अनन्तर हिन्दू और मुसलमानके बीचमें ऐक्य लानेके लिए इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्ममें सामंजस्य स्थापनाकी प्रवृत्ति कुछ सुधारकोंमें जगी। वे बड़े वेगसे बढ़े। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मोंके मतभेदकी खाई पाटने तथा दोनों जातियोंको मिलानेके लिए दोनों धर्मोंसे गृहीत तथ्योंकी समभूमि प्रस्तुत की जाने लगी। इस भूमिकी तैयारीमें न जाने कितने पन्थवाले लिपटे। पर उन सबके दादा गुरु थे—कबीर। ये जितने बड़े विधायक (कंसट्रक्टिव) सुधारक थे, उतने ही बड़े विघातक (डिस्ट्रक्टिव) भी।^२ यही बात कबीर पन्थ, उसके बारह शाखा-प्रभेदों^३ तथा उसके सभी चचेरे पन्थों यथा दादू पन्थ, नानक पन्थ, मल्लकदास पन्थ आदि प्रभावित पन्थोंके विषयमें कही जा सकती है। इन सबका प्रयास रूढ़िग्रस्त वर्णाश्रम धर्मका उच्छेद था।

इन्हीं पन्थोंकी भाँति सूफी विचारधारा भी हिन्दू और मुसलमान दोनोंको एक भूमिपर लाना चाहती थी, पर इससे प्रभावित होनेवालोंमें विशेषतया उन्हीं शिक्षितोंकी संख्या अधिक थी जो राजदरबारसे सम्बद्ध थे। अकबरके समय और उनके आगे भी इसका प्रचार जोरोंसे होता रहा।^४

उक्त सूफी विचारधारा तथा कतिपय पन्थ तो वर्णाश्रम धर्मपर आघात कर ही रहे थे, अकबरकी आराधना करनेवालोंके सम्प्रदायने भी उसपर प्रहार किया। प्रातःकाल छज्जेपर खड़े होकर अपने दर्शनार्थियोंको दर्शन देना अकबरकी दैनिक दिनचर्याका अंग हो गया था। इन दर्शनार्थियोंका यही धर्म रह गया था कि जबतक वे बादशाहके दर्शन न पा लेते तबतक अपने दैनिक कार्य, यहाँतक कि खाना-

१. क्षितिमोहन सेन : 'मिडीवल मिस्ट्रीसिज्म आव् इण्डिया', पृ० ६२। २. भंडारकर : 'वैष्णव-विज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजन सिस्टम', पृ० १०४। ३. भंडारकरजीने अपने उपर्युक्त ग्रन्थमें इन बारहों शाखाओंका उल्लेख किया है। ४. 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन', पृ० २४३।

पीना भी न करते। दर्शनार्थियोंका यह सम्प्रदाय अकबरसे लेकर शाहजहाँके कालतक चलता रहा। औरंगजेबने इस नर-पूजाका अन्त कर दिया।^१

राजनीतिक शक्तिका प्रभाव

तुलसीके समकालीन हिन्दू-समाजके पतनकी झाँकीका ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करनेके उपरान्त उसे लानेवाली शक्तियोंका भी विचार किया जाय। किसी देश या राष्ट्रके अभ्युदय अथवा पतनमें प्रमुख हाथ हुआ करता है वहाँकी राजसत्ताका। राजसत्ता जब अपने और प्रजाके बीच सन्निकृष्ट नैतिक सम्बन्ध समझकर उसकी उन्नतिके लिए उत्तमोत्तम योजनाएँ करती चलती है तो देश या राष्ट्रका अभ्युदय उत्तरोत्तर होता रहता है। इसके विपरीत यदि राजसत्ता प्रजासे अपना विप्रकृष्ट सम्बन्ध समझती है, उसके प्रति अपने नैतिक कर्तव्योंकी उपेक्षा करती है तो प्रजाका पतन न होगा तो क्या होगा ?

मुगलोंका शासन प्रकृतिः सैनिक शासन था। अतएव उसे केन्द्रीय एकतन्त्र-शासन-प्रणाली कह सकते हैं। इसमें राजाका वही स्थान था जो धनाढ्य नागरिकका होता है। वह प्रजाके प्रति किसी प्रकारके नैतिक बन्धन नहीं मानता था और स्पष्ट रूपमें यों कह सकते हैं कि मुगलशासक सामाजिक उन्नतिके प्रबल समाजके ऊपर छोड़कर उससे विमुख रहते थे। शासनका लक्ष्य नितान्त संकीर्ण और भौतिक था।^२

मुगल-शासन-प्रणाली अरब और फारसके बादशाहोंके आदर्शपर चली। उसके सभी कल-पुरजे उसीमें ढले थे।^३ मूलमें तो यह सैनिकशासन-प्रणाली थी ही, अन्ततक भी उसी रूपमें रह गयी। इसके प्रत्येक कर्मचारीका नाम फौजकी फिहरिस्तमें अंकित रहता था। उसे कोई न कोई मनसब दिया जाता था जिसके अनुसार वह कुछ निर्दिष्ट सिपाहियोंका नाममात्रका अधिनायक बना दिया जाता था और उसके आधारपर उसके वेतन और पदकी श्रेष्ठताका मूल्य आँका जाता था।^४ राजसत्ता स्वयं ही नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण करती और अपने लिए कितने ही शाही कारखाने चलाती तथा उनकी वस्तुओंपर एकाधिकार रखती।^५ मुगल राजसत्ताकी एकतन्त्र केन्द्रीयता अत्यधिक थी। समस्त शासन-प्रणालीका सूत्र व्यक्तिविशेषके हाथमें था। राज्य दूरतक प्रसरित था, परन्तु आने-जानेकी कठिनाईके कारण एक प्रान्तकी खबर दूसरे प्रान्ततक भेजनेमें पर्याप्त समय लग जाता था। फलतः अफसरोंका स्थानान्तरण कभी-कभी होता था। न्याय और शासन-विधानकी दृष्टिसे मुगल शासन-प्रणालीकी निर्बलताके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। आधुनिक युगकी भाँति न्यायकी व्यवस्था नहीं थी। वहाँकी जनताको रंचमात्रका भी स्थानीय अधिकार न था।^६ निस्सन्देह, देशमें शहरोंका धन-जन बाहरी आक्रमणों या आन्तरिक विद्रोहसे बचानेका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे था, किन्तु देशका अधिकांश भाग, जो कृषक था, अपनी रक्षा स्वयं करता था।^७ संक्षेपमें मुगल-शासन-प्रणालीकी रूपरेखा थी—सभी प्रकारके सामाजिक कार्योंसे पराङ्मुखता। अस्तु, इस शासन-प्रणालीमें जकड़े हुए तुलसीके समकालीन समाजके लिए अवनतिके गर्तका द्वार उन्मुक्त था।

प्रजाके प्रति शासनकी उदासीनतासे प्रजाका पतन तो होता ही है, शासकके व्यक्तिगत चरित्रका प्रभाव भी उसपर पड़े बिना नहीं रहता। तुलसीके समकालीन समाजके समक्ष जिन सम्राटोंका उदाहरण था, वे थे—अकबर और जहाँगीर। दोनों ही विलासी थे। अकबरकी विलासिताका प्रमाण मीनाबाजार

१. 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन', पृ० १३४-३५। २. वही, पृ० ५। ३. वही, पृ० ६-७। ४. वही, पृ० ८। ५. वही, पृ० १०। ६. वही, पृ० ११। ७. वही, पृ० १२। ८. वही, पृ० १३।

लगवानेसे बढ़कर क्या हो सकता है ? उसके हरममें पाँच हजार^१ चन्द्रमुखियोंका जमघट भी तो था । उसने हिन्दू, फारसी, मुगल, यहाँतक कि आरमीनियाँ जातिकी चुनी हुई गजगामिनियाँ किसलिए जुटायी थीं ? उसकी धार्मिकताकी ओर ध्यान देते ही जान पड़ता है कि वह फारसके सूफी मतसे प्रभावित था ।^२ कहा भी जाता है कि ख्वाजा मुईनुद्दीन चिस्ती आफतावे हिन्दकी दरगाहतक अकबर पैदल ही गया था ।^३ वह अपनेको धर्म-नियामक भी समझता था । अपने 'दीन-इलाही' मतका, जिसे भारतीय दर्शन, फारसी रहस्यवाद तथा प्रकृति-पूजाके कतिपय सिद्धान्तोंकी खिचड़ी कहना चाहिये; प्रचार करना चाहता था । उसके अनुयायियोंमें अबुल फजल तथा फैजी तो थे ही, वीरबल सरीखे ब्राह्मण भी थे^४ । हिन्दुओंके योगियों तथा दाढ़ीवाले फकीरों द्वारा प्रदर्शित चमत्कारोंमें अकबरकी बड़ी श्रद्धा थी । वह ऐसे चमत्कारियोंका मान करता था, वह स्वयं रासायनिक बननेका हौसला रखता था और ज्योतिषमें उसका विश्वास था^५ । सौन्दर्य-पासक होनेके कारण वह कुछ कलाओंका प्रेमी था । उसकी चित्रकलाविषयक चेतना बहुत उच्च कोटिक पहुँच गयी थी । उसकी दृष्टिमें जो लोग चित्रकला नहीं पसन्द करते वे घृणास्पद हैं ।^६

जहाँगीरके हरममें भी बहुत-सी परियाँ पड़ी थीं । उनकी संख्या तीन सौतक पहुँच गयी थी ।^७ इनमें नूरजहाँका नूर तो वर्णनातीत है । जहाँगीर उसके हाथोंका खिलौना था । ऐसा भी समय आया कि प्रेमोन्मत्त जहाँगीरने राज-काज सब-कुछ नूरजहाँके हाथोंमें अर्पित कर दिया ।^८ और उस बुद्धिमती नारीने भी राज-शासन पाँच वर्षोंतक चलाया ।^९ कैपटेन हाकिनके वर्णनमें, जो जहाँगीरके दरबारमें काफी दिनोंतक रहा था, जहाँगीरका चरित्र बड़ा ही विगर्हित अङ्कित है । प्रजा उसके भयसे काँपती रहती थी, इस घोर विलासी मद्यपको जंगली जानवरोंसे आदमियोंको लड़ाकर, उनके टुकड़े-टुकड़े कराना प्रिय था; वह हफ्तेमें पाँच दिनों हाथियोंका मल्लयुद्ध कराता; कहा जाता है कि किसी आशंकासे उसने अपने एक मन्त्रीको मरवा डाला; किसी आदमीसे एक कब्र टूट गयी, उसे कोड़े मार-मारकर उसकी धज्जियाँ उड़ा दी गयीं । उसकी प्रकृति की इन कठोरताओंने प्रजाके हृदयमें उसके प्रति कोमल भाव न रहने दिया ।^{१०} वह किसी भी धार्मिक विचारपद्धतिसे शून्य था, सिर्फ एक खुदामें विश्वास रखता था; तत्कालीन प्रचलित हिन्दू धर्म तथा उसके अवतार आदिको व्यर्थ मानता था; उसके समयमें जितने सुधारवादी पन्थ चल रहे थे उनसे उसका कोई सरोकार न था; उसपर सूफियोंका प्रभाव अवश्य था, इसीसे वह जद्वप^{११} तथा अन्य सूफी साधकोंसे कभी-कभी बातें किया करता था ।^{१२} चित्रकला आदिके प्रति जहाँगीरकी रुचि भी अपने पिताके समान ही थी । वह चित्रोंका अच्छा प्रेमी और मर्मज्ञ था ।^{१३}

धार्मिक शक्तिका प्रभाव

धार्मिक शक्तिका राजनीतिक शक्तिसे कम महत्व नहीं । यह बात अवश्य है कि धार्मिक शक्ति राजनीतिक शक्तिका सहारा पाकर अधिक व्यापक और प्रभावयुक्त होती है । गोस्वामीजीके समकालीन समाजकी धार्मिक शक्तिको सुदृढ़ रखनेमें राजनीतिक शक्तिका सहारा नहींके बराबर है ।

भारतीय संस्कृतिको उत्पाटित करनेवाले विजातीय शासक यहाँकी धार्मिक शक्तिके सहायक क्यों बनते ? धार्मिक शक्तिके सम्बन्धमें यह भी स्मरणीय है कि इस शक्तिके अनुकूल रहते राजनीतिक प्रतिकूलता

१. 'मिडीवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल', पृ० २५२ । २. वही, पृ० २६९ । ३. 'मिडीवल मिस्ट्रीसिज्म आव् इण्डिया', पृ० १४ । ४. 'मिडीवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल', पृ० २८२ । ५. वही, पृ० २८० । ६. वही, पृ० २७४ । ७. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर', पृ० ३० । ८. वही, पृ० १७८ । ९. वही, पृ० ४४७ । १०. 'मिडीवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल', पृ० ३०४ । ११. Jadrup. १२. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर', पृ० ४४१ । १३. 'मिडीवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल', पृ० ३७० ।

किसी देशको पतनकी ओर ले जायगी ही, यह सन्दिग्ध है। यदि धार्मिक शक्ति स्वयं छिन्न-भिन्न न हो तो वह बिना राजकीय अवलम्बनके भी किसी देश या राष्ट्रको जीवित रख, उसका अस्तित्व अमर बना सकती है। भारत अनादि कालसे वैदिक सनातनधर्मके पथपर चला आ रहा है। बीच-बीचमें इसपर प्रबल आघात भी होते रहे हैं। प्राचीन कालमें जैनों और बौद्धोंके प्रभावसे वैदिक धर्मके लुप्त होनेकी स्थिति आ पहुँची थी। सनातनधर्म विलुप्त-सा होने लगा। राजा और प्रजामें महापुरुष प्रायः सभी बौद्धधर्ममें दीक्षित होकर वैदिक धर्मको ठुकरा चुके थे। उसमें कहीं-कहीं वैदिक धर्मका दीपक टिमटिमा रहा था, जिसके क्षीण आलोकसे कुमारिलभट्ट एवं शंकराचार्यने भयंकर अग्नि प्रज्वलित कर बौद्धधर्मका ध्वंस किया और पुनः वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठा की।

जिस धार्मिक शक्तिके कारण भारत फिरसे चेतनायुक्त हुआ, उसने शंकराचार्यके पश्चात् फिर पलटा खाय। शंकराचार्य द्वारा स्थापित किये गये चारों मठोंके अधीशोंके रहते भी उनके द्वारा दिखायी हुई धार्मिक शक्ति पहलेकी भाँति अद्वितीय न रहने पायी। शंकराचार्यने अपने सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके लिए भगवती श्रुतिका आश्रय तो लिया ही, उनके पोषण तथा अन्य मतोंके निराकरणके लिए उन्होंने आगम-रहित पुरुषोत्प्रेक्षा मात्र निबन्धन तर्कसे विपरीत वेदशास्त्राविरोधी तर्कका विशेष प्रयोग किया; उन्होंने बौद्धों के कुछ सिद्धान्तोंको भी अपने अनुकूल बना लिया; उन्होंने मायावादका जो सिद्धान्त प्रचलित किया वह आगे चलकर वैष्णव आचार्योंकी दृष्टिमें अनुपयोगी दिखायी पड़ा। उन्होंने इसे भक्तितत्त्वका विरोधी मानकर इसका खण्डन बड़े समारोहके साथ किया। यहाँतक कुछ लोगोंने शंकरको 'प्रच्छन्न बौद्ध' एवं 'संकर'तक कह डाला। शंकराचार्यकी अद्वैत-प्रणालीसे कतिपय आचार्योंकी विचारधारा भिन्न हुई और उन्होंने विशिष्टा-द्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैतकी प्रणालियाँ प्रवाहित कीं।

इन विविध विचारपद्धतियोंके पारस्परिक अन्तरके कारण धार्मिक शक्ति एकसे अनेक हो चली। पहले शैव एवं वैष्णवका ही भेद था। पर कालान्तरमें इन दोनोंके सैकड़ों टुकड़े हो गये। इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओंकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई और उसका परिणाम हुआ धार्मिक शक्तिकी छिन्न-भिन्नता। इन्हींमें कबीर, नानक, दादू आदिके पन्थोंकी ऐसी प्रशाखाएँ भी थीं जो वैदिक धर्मकी कट्टर विरोधिनी थीं। इनके कारण वैदिक सनातनधर्मका हास अनिवार्य था अथवा यों कहें कि देश और कालसे प्रभावित होकर प्राचीन धार्मिक शक्ति अपना नया रूप पकड़ने लगी। नयी रोशनीके अनुसार उसका नये ढंगसे विकास होने लगा। पर इस विकासमें लोकसमन्वयकी प्रवृत्ति न थी, अतएव इसने मूल वर्णाश्रम धर्मके बाह्य एवं आन्तरिक दोनों स्वरूपोंपर बुरा प्रभाव डाला।

धार्मिक शक्ति एकसे अनेक तो हो ही गयी, साथ ही अनेकताका प्रकृत दोष पाखण्ड भी उसमें प्रवेश करने लगा। जिनका लक्ष्य बाह्याडम्बरका जाल काटना था वे स्वयं उसमें फँस गयीं। यदि इन सबमें धर्मकी अन्तरात्माका भी मतैक्य होता तो इनके अनेक रहनेपर भी संघर्ष न होता।

साहित्यिक शक्तिका प्रवाह

जिस प्रकार समाजको अपनी क्षुधावृत्ति, शारीरिक विकास एवं प्राणरक्षाके लिए भोजनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसको अपने मानसिक पोषण, तत्परिणामस्वरूप उसके विकास तथा निरति-शयानन्दकी प्राप्तिके हेतु साहित्यरूप भोजन भी अनिवार्य होता है। जैसे सात्विक, राजस और तामस आहारोंका पृथक्-पृथक् सेवन करना हमारे ऊपर एकसा प्रभाव नहीं डालता, उसी प्रकार साहित्य भी इन त्रिविध विशेषणोंसे युक्त होनेपर हमारा मानसिक विकास और उसका परितोष भिन्न-भिन्न प्रकारसे करता

है, अर्थात् सत् साहित्यसे पोषित मस्तिष्क सदैव अभ्युदयोन्मुख होता है और उसके विपरीत असद् साहित्य-पोषित मस्तिष्क पतनोन्मुख । अस्तु, किसी देश या राष्ट्रके उत्कर्षापकर्षमें राजनीतिक और धार्मिक शक्तियों का जो हाथ रहता है उससे कहीं बढ़कर प्रभुत्व होता है साहित्यिक शक्तिका ।

समाजके मस्तिष्कको पोषित करनेवाले साहित्यकी जो धारा बह रही थी उसके कई स्रोत थे, जिनमें अधिकतर ऐसे थे जो सात्विकतासे परिप्लावित न थे और जिनका प्रवाह संकुचित पथका अनुगामी था । इनमें साहित्यकी वह संजीवनी शक्ति जो मृतकोंमें भी प्राण डाल देती है, न थी । ये वे स्रोत न थे जो जीवन के परमोच्च लक्ष्योंकी ओर संकेत करते और मानव-हृदयकी परमोत्कृष्ट विभूतियोंको पूर्णता प्राप्त कराते । शाही दरबारकी छत्रच्छायामें जिस प्रकारके साहित्यका सर्जन होता था, वह फारसीकी गजलों और कव्वालियों को ही प्रोत्साहित करता था । प्रायः इनके वर्ण्य विषय होते थे किसी विजयकी बधाई, राजकुलके विवाहोत्सव, राज्य-तिलक, जन्म-दिवस और इसी प्रकारके अन्यान्य दरबारी त्योहार एवं कामाग्निको प्रज्वलित करनेवाले प्रसंग आदि । इनके अतिरिक्त बादशाहको प्रिय इमारतों अथवा राज्यकी कुर्सियोंमें अंकित करने के लिए खुतवा^१ भी बनाये जाते थे । इन्हीं कवियोंमेंसे किसीको दस हजार रुपयोंका इनाम मिला था, सिर्फ चार पंक्तियोंकी कवितापर । उस पुरस्कृत कविताका भाव केवल यही व्यंजित करता है कि जहाँगीर के सामने सिखाये गये तेंदुएँने किस प्रकार जंगली भैंसेपर प्रहार किया ।^२

जैसे साहित्यको मुगलोंने प्रोत्साहित किया उसी प्रकारके साहित्यका अनुकरण प्रायः सभी अधीन राजाओंके दरबारमें होता रहा । तत्कालीन सामाजिकोंकी अभिरुचि भी उसी प्रकारकी हो गयी थी, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं ।

अब कुछ अन्य स्रोतोंकी ओर आइये । दरियाये इस्क बहानेवाला अथवा विविध पन्थोंके नियामकों द्वारा जो साहित्य प्रस्तुत किया गया, वह समाजको जिस ओर ले गया उसकी कल्पना सहज है । इसीके समानान्तर प्रवाहित हो रहा था कृष्ण-प्रेमका अमृत । इस स्रोतने समाजको अत्यधिक अनुप्राणित किया । पर आगे बढ़कर यह स्रोत विलासिताके ऐसे गर्तमें जा गिरा कि राधा-कृष्ण शृङ्गारके साधारण नायिका नायकमात्र रह गये और समाज आपाद-मस्तक शृङ्गाररसमें निमग्नोन्मग्न होने लगा ।

तुलसीदासजी द्वारा प्रस्तुत चित्रोंसे ऐतिहासिक आलेखोंका मिलान कीजिये और देखिये कि दोनोंमें कितना साम्य है । कुछ समीक्षकोंकी धारणा है कि तुलसीने जो कलियुग-वर्णन किया है वह उनके समकालीन समाजका ही चित्रण है; परन्तु यह कथन सर्वोशमें ठीक नहीं । तुलसीने जो कलियुग-वर्णन किया है वह विशेषतः परम्परागत है । 'भागवत'में जो कलियुग-वर्णन^३ मिलता है उसकी बहुत-सी बातें इन्होंने ज्योंकी त्यों रख दी हैं । पारम्परिक वर्णनके अतिरिक्त जो कुछ गोस्वामीजीने अपनी ओरसे जोड़ा है, यहाँ उसीकी चर्चा करना समीचीन होगा ।

दासताकी मनोवृत्तिने किस प्रकारकी शिक्षा-दीक्षाकी प्रवृत्ति जगा दी थी, एक वाक्यमें इसका संकेत यों है—

‘मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं । उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं’ ॥

सम्पत्ति-अपहरण करनेकी पूर्वोक्त प्रथाको इंगित करके राजाको गोस्वामीजीने भूमिचोरकी संज्ञा दी है—

‘वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये, साधु सीधमान, जान रीति पाप पीन की’ ।^४

१. Inscriptions. २. दे० ‘मुगल एडमिनिस्ट्रेशन’, पृ० १६२-६३ । ३. दे० ‘भागवत’ द्वादश स्कन्ध, अध्याय २, ३ । ४. ‘मानस’ उ० ९८.८ । ५. ‘कवितावली’ उ० छन्द १७७ ।

कृषकोंके साथ होनेवाले अन्याय और अत्याचारोंपर गोस्वामीजीका यह मत है—

‘भारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटि कै धन लीयो ।
संकर कोप सों पापको दाम, परिच्छित जाहि गो जारिकै हीयो ।
कासीमें संकट जेते भये ते गो, पाइ अघाइके आपन कीयो ।
आजु कि काल्हि परों कि नरों, जड़ जाहिगे चाटि दिवारीको दीयो^१ ।’

‘दोहावली’में करविषयक परिष्कृत नीतिके बार-बार उल्लेखको शासकोंकी कर-गत दुर्नीतिके संशोधनके लिए गोस्वामीजी द्वारा प्रदर्शित सुझाव ही मानना चाहिए ।

उन दिनों पड़नेवाले दुर्भिक्षों और उनके कारण कालकवलित होनेवाले प्राणियोंका संकेत इस पंक्तिमें है—

‘कलि बारहिं बार दुकाल परै, विनु अन्न दुःखी सब लोग मरै’^२ ।

शासकों द्वारा सतत शोषित, दुर्भिक्षकी ज्वालासे परिपीडित प्रजाकी आर्थिक दशा इससे अच्छी क्या रही होगी—

‘खेती न किसानको, भिखारीको न भीख, बलि, बनिकको बनज न चाकरको चाकरी ।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस, कहै एक एकन सों कहाँ जाई का करी’^३ ।

जिस भीषण महामारीसे तत्कालीन समाजका बहुत-कुछ स्वाहा हो गया था उसका हृदय-विदारक दृश्य विश्वेश्वरपुरीमें उसके कारण मची ब्राहिमें देखिये—

‘संकर-सहर-सर, नर-नारि-बारि-चर, विकल सकल महामारी मांजामई है ।

उछरत उतरात हहुरात मरि जात, भभरि भगात, जल-थल मीचुमई है’^४ ॥

देवस्थलों एवं तीर्थोंकी दशा चिन्तनीय थी । वे नाना प्रकारके छल-छद्म तथा अनाचारके अड्डे हो रहे थे । मानों कलियुग अपने दल-बल-सहित वहाँ किलेबन्दी कर रहा था—

‘सुर सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज,
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज’^५ ॥

ब्राह्मण अपने जिस कर्तव्य और सात्त्विकताके कारण साक्षात् भगवद्रूप माने जाते थे वे लुप्तप्राय हो गये थे, उनकी बुद्धि नाना प्रकारके राग-द्वेषसे पंकिल हो गयी थी, वे विद्या बेचकर जीविकोपार्जन करते थे—

‘प्रभुके बचन वेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव मई है ।
तिन्हकी मति रिस-राग-मोह-मद-लोभ-लालची लीलि लई है’^६ ॥

...

...

...

‘द्विज श्रुति-बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन’^७ ॥

नाना प्रकारके साधकोंमें योगियोंकी विशेष महिमा थी, इसीसे योग-मार्गियोंकी जोग जगानेकी बड़ी धूम थी—

‘गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग, निगम नियोग ते सो कलि ही छरो सो है’^८ ॥

१. कविता०, उ०, १७९ । २. ‘मानस’ उ०, १००. १० । ३. ‘कवितावली’ उ० छन्द ९७ ।

४. वही, उ० छन्द १७६ । ५. ‘दोहावली’ दो० ५५८ । ६. ‘विनय०’ पद १३९ । ७. ‘मानस’ उ० ९७. २ । ८. ‘कवितावली’ उ० छन्द ८४ ।

विशाल जटा और नाखूनोंमें विकट वेश बनाये रहनेवाले इन योगियोंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, वे भारी तपस्वी माने जाते थे—

‘जाके नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस असिद्ध कलि काला’^१ ॥

और भी,

‘अशुभ वेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजित कलियुग माहिं’^२ ॥

सम्राट् तथा सामन्तोंकी अवस्थिति और उनकी पारस्परिक नीति यह थी—

‘गोइ गँवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल ।
साम न दाम भेद कलि, केवल दण्ड कराल’^३ ॥

इन राजाओंको अकारण ही कठोरसे दण्ड देनेमें तनिक भी हिचक न होती थी^४ । ये नाना प्रकारसे अपनी कुटिलता और दुर्नीतिको कार्यान्वित करनेवाले थे^५ । अपनी प्रवचना एवं क्रूरतासे ये कभी बाज आने वाले न थे^६ कुपथ और कुसाज इन्हें प्रिय थे^७ । किं बहुना,

‘काल कराल नृपाल कृपाल न, राज समाज बड़ोई छली है’^८ ॥

राजाओंके समान ही प्रजा भी पतित हो रही थी पाखण्ड और पापकी वशवर्तिनी होकर वह भी मनमानी करना चाहती थी । समाज और साहित्यमें ‘सुत्व’का अभाव और ‘कुत्व’का भाव था—

‘प्रजा पतित पाखंड पाप रत, अपने अपने रंग रई है ।
साहिति सत्य सुरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है ॥
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल विलसत, हुलसति खलई है’^९ ॥

विलासिताका वातावरण देशभरमें व्याप्त था, लोगोंमें स्वैर्यकी अभिवृद्धि हो रही थी, बड़े-बूढ़ोंकी उपेक्षामें भी वह हेतु थी—

‘नारि बिबस नर सकल गोसाईं । नाचहिं नट मरकटकी नाई’^{१०} ॥

अथवा,

‘सुत मानहिं मातु पिता तब लौं, अबला नव दीख नहीं जव लौं ।
ससुरारि पिथारि लगी जब तैं, रिपु रूप कुटुम्ब भये तब तैं’ ॥

विलासिताकी सीमा यहाँतक पहुँच रही थी—

‘नहिं मानत कोउ अनुजा-तनुजा’^{११} ॥

विविध पन्थोंका प्रसार असामान्य वेगसे हो रहा था, फलतः प्राचीन वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादासे लोग

१. ‘मानस’ उ० ९७. ८ । २. वही, उ० ९८. १ । ३. ‘दोहावली’ दो० ५५९ । ४. ‘मानस’ उ० १०३. ६ । ५. वही, उ० ९७. २ । ६. ‘विनय०’ पद १३९ । ७. ‘कवितावली’ उ० छन्द १७६, १७७, १७९, ‘दोहावली’ दो० ४१६-४१७ । ८. वही, उ० छन्द । ९. ‘विनय०’ पद १३९ । १०. ‘मानस’ उ० ९८०. १ । ११. वही, उ० १०००. ४ । १२. वही, उ० १०१. ५ ।

हटते जा रहे थे, उनकी व्यवस्था शिथिल हो चली, वेद-शास्त्रके निन्दकोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी, हेतुवादका बोलवाला था—

‘दंभिन निज मत कलपि करि प्रकट किये बहु पंथ’^१ ।

... ..

‘स्रुति-सम्मत हरि-भगति-पथ, संजुत बिरति बिबेक ।
तेहि न चलहिं नर मोह वस, कलपहिं पंथ अनेक’^२ ॥

... ..

‘बरन-धरम नहिं आस्रम चारी । स्रुति-बिरोध-रत सब नर-नारी’^३ ॥

... ..

स्वारथ-परमारथ कहा । कलि कुटिल विगोयो बीच ।
धरम बरन आस्रमनिके पैयत पोथि ही पुरान’^४ ॥

... ..

‘आस्रम बरन कलि बिबस विकल भये, निज-निज मरजाद मोटरी-सी डार दी’^५ ।

... ..

‘कीबे कहा, पढ़िबेको कहा, फल बूझि न वेदको भेद विचारै ।
स्वारथको परमारथको कलि कामद रामको नाम बिसारै ।
बाद बिबाद विषाद बढ़ाइके छाती पराई औ आपनी जारै ।
चारिहुको छहुको नवको दस आठको पाठ कुकाठ ज्यों फारै’^६ ।

... ..

‘बेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है ।
वर्ण विभाग न आस्रम-धर्म दुनी दुख-दोष-दरिद्र दली है’^७ ।

... ..

‘बरन धरम गयो आश्रम निवास तज्यो, त्रासन चकित सो परावनो परो सो है’^८ ।

पराधीन राजाओंमें धर्मके प्रति उपेक्षाकी भावना जग चुकी थी, इसीसे धर्मिष्ठ जन निराहत होते थे—

‘बड़े बिबुध-दरबार ते, भूमि-भूप दरबार । जापक पूजक पेखियत, सहत निरादर भार’^९ ।

कामनाकी पूर्तिके लिए गाजियों और पीरोंकी दरगाहोंमें लोग नाक रगड़ते फिरते थे, ऐसे अन्ध-विश्वासकी भी गोस्वामीजीने जड़ काटी है—

‘लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय ।

कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइव जाय’^{१०} ॥

१. ‘मानस’ उ० ९७. २. वही, उ० १००. ३. वही, ९७.१। ४. ‘विनय०’ पद १९२।
५. ‘कवितावली’ उ० छन्द १८३। ६. वही, उ० छन्द १०४। ७. वही उ० छन्द ८५। ८. वही,
८४। ९. ‘दोहावली’ दो० ४९६।

अविवेक, असन्तोष एवं अकर्मण्यतासे मंगतोंकी वृद्धि अत्यधिक हो गयी थी—

‘नहिं तोष विचार न सीतलता । सब जाति कुजाति भये मँगता’ ।

ध्यान रखना चाहिये कि अकबरने दृष्ट-पुष्ट भिखारियोंको रोकनेका हुक्म भी जारी किया था ।

चिन्ता और अशान्तिका समय

मुगल-शासन सूत्रमें जकड़ा हुआ समाज पतनोन्मुख था, उसकी दशा सोचनीय थी, पर उस दशाकी तुलना जब पूर्ववर्ती मुसलमानोंके शासनकालसे की जाती है तो उसकी अपेक्षा कहीं उत्तम दिखाई पड़ती है । महाराज हर्षकी मृत्यु (सन् ७०४) के पश्चात् उनका विस्तृत साम्राज्य कई राज्योंमें विभक्त हो गया; इसी समयसे भारतकी शान्ति और भी डाँवाँडोल-सी हो चली थी । इन दिनों भारतकी वही दशा थी जो सोलहवें शतक के जर्मनीकी थी । अर्थात् भारत उन कतिपय राज्योंका पुञ्ज बन गया था जो एक दूसरेसे प्रत्येक दृष्टिसे स्वच्छन्द एवं भिन्न थे^१ । समयपर उत्तरी भारतमें परिहार-वंशी राजा कन्नौजमें जन्म गये, चौहान-वंशी अजमेर और दिल्लीमें । मालवामें परिमाल वंशियोंकी धीर पताका फहरायी तो मध्यभारतके बुन्देल-खण्डमें महोबाके चन्देलोंकी । बंगालमें पाल और सेन-वंशियोंकी तूती बोली तो दक्षिणमें पल्लव, चालुक्य एवं राष्ट्रकूट-वंशियोंकी । सुदूर दक्षिणमें भी पाण्ड्य, चेर और चोल नामके बहुत प्राचीन राज्य जमे । इन सभी राज्योंमें कुछ तो अहमहमिकाके कारण और कुछ पुराने वैरके प्रतिकारार्थ एक दूसरेके विनाशका मार्ग ढूँढ़ते थे । इन विविध वंशोंके राजाओंमें अपने अपने वंशको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करनेकी स्तुहा एवं अपनेको सर्वश्रेष्ठ और अग्रगण्य राजा गिानेकी महत्वाकांक्षा भी इतनी बलवती हो गयी थी कि उसके लिए ये लोग एक दूसरेपर आक्रमण करने लगे थे । ऐसी कोई शक्ति न थी जो इन्हें आपसमें लड़नेसे रोकती अथवा दबाकर अपने वंशमें रखती । फलतः इन लोगोंका संघर्ष चलता रहा । फिर भी इनके आपसी आक्रमणका कोई अनिष्ट प्रभाव भारतीय संस्कृतिपर नहीं पड़ा, क्योंकि ये सबके सब एक ही संस्कृतिके अनुयायी थे ।

ऊपर इंगित विशृंखलताके समय मरुस्थलीय अरबोंने अचानक आक्रमण करके सिन्ध प्रान्तको जीता । इसके उपरान्त कोई दार्ड सौ वर्षों तक भारतपर मुसलमानोंका आक्रमण नहीं हुआ । इस बीच हिन्दू राजाओंकी अहमहमिका नहीं घटी । हाँ, हिन्दू संस्कृति, कला और सम्पन्नताका विकास महाराज यशोवर्मन, बीसलदेव, मुज्ज, भोज आदिके बड़े-बड़े राज्योंमें पर्याप्त हो गया था । कराल कालकी गति बलवान् होती है । हिन्दू राजाओंके बाहुबलसे लालित-पालित जिस संस्कृति, जिस कला, जिस श्री और जिस सम्पन्नताका विकास तबतक हुआ था, उसे भस्म करनेके लिए खूँखार और असभ्य अफगानोंके आक्रमणकी भयावह ज्वाला प्रज्वलित हुई और वह दिन दूनी रात चौगुनी होकर देशकी शान्ति और सम्पन्नताको भस्मीभूत करने लगी । इस ज्वालाकी पहली लपट निकालनेवाले, ‘बुतपरस्ती’ (मूर्तिपूजा)का अन्त करनेकी तमन्ना रखनेवाले, हिन्दुओंके साथ युद्ध करनेको “जिहाद”^२ समझनेवाले महमूद गजनवीके बारह हमले भारतपर हुए और इनमेंसे तीन-चार आक्रमणोंमें देशका विपुल वैभव लुटेरोंके हाथ लगा । साथ ही एकसे एक बढ़कर भव्य देवालय, विद्यालय तथा मठ ढहाकर गर्तमें मिला दिये गये । कितने ही प्राणी तो

१. ‘मानस’ उ० १०१.६ । २. डॉ० ईश्वरीप्रसाद : भारत वर्षका इतिहास, पृ० २५२ ।

३. हिस्ट्री आव् मिडिलवेल इण्डिया, पृ० १ । ४. ‘मुसलमानोंका विश्वास था कि अपने धर्मका प्रचार करते समय यदि काफिरोंके साथ युद्ध करना पड़े और उसमें उनके प्राण जायें तो वे सीधे स्वर्ग जायेंगे’ । ‘भारतवर्षका इतिहास’ फुटनोट पृ० १२६ ।

तलवारके घाट उतार दिये गये और कितने ही गुलाम बनाकर गजनी ले जाये गये। महमूदके बाद मुहम्मद गोरीके सात आक्रमणोंने देशकी दशा और भी चिन्तनीय कर दी। अन्तमें देश अफगानोंके कुटिल शासनमें प्रस्त हो गया। इन आदिम मुसलमानोंके जिन भिन्न-भिन्न सात राजवंशोंने शासन किया वे सभी अपनी पीरशाही हुक्मतसे याज आनेवाले न थे। वे इसलामकी कीर्ति प्रशस्त रखनेके लिए हिन्दुओंको सतत कष्ट देना और उनके मन्दिरोंको चूर करना अपना कर्तव्य समझते थे। इन सबमें कुछ तो इतने कट्टर और धर्मान्ध थे कि उन्होंने हिन्दुओंको न तो कोई नया मन्दिर बनाने दिया और न किसी जीर्ण-शीर्ण मन्दिरकी मरम्मत ही करने दी। सिकन्दर लेदीकी भाँति कितने ही मूर्तिपूजासे इतने चिढ़ते थे कि उन्होंने मन्दिरोंका नाम-निशानतक मिटा देना चाहा^१।

इन विविध राज-वंशोंमें ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जो धार्मिक पक्षपातसे पूर्णतया रहित रहा हो। विजितोंको गुलाम बनाने या उनपर 'जजिया' कर लादनेकी कट्टरता कईमें थी। जजियाकी वसूलीमें 'जिम्मी'^२ बेचारोंको कितनी भर्त्सनाएँ सहनी पड़ती थीं, इसे उनका हृदय ही जानता था। कुछ बादशाहोंके शासन-कालतक तो ब्राह्मण लोग इस करसे मुक्त थे, पर चौदहवें शतकमें फीरोज तुगलकने ब्राह्मणोंके राख हाथ जोड़नेपर भी उन्हें इस करसे वञ्चित न रहने दिया। अपनी इसलामी कट्टरताके कारण प्रायः इन सभी मुसलमान बादशाहोंने हिन्दुओंपर अत्याचार किये और उन्हें शासन-प्रबन्धमें किसी प्रकारका विशेष अधिकार न दिया। यही नहीं, अनेकोंने हिन्दुओंकी कुल-कानि भी हटात् मिटायी। उनकी बहू-वेष्टियोंको बरजोरी छीनना अपना कर्तव्य समझा। अलाउद्दीन जैसे नितान्त निरंकुश शासकके लिए तो यह कार्य सामान्य ही था, पर अन्यान्य सुलतानोंने भी इसके कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये। चौदहवें शतकमें तुगलक शाहने बड़ी निर्दयताके साथ रानामल भट्टिकी दुहिताका अपहरण किया था^३। निरीह मूक पशुओं, विशेषतया गायकी कुर्बानी भी सुलतानोंके दीनका अंग थी। गौको माता कहनेवाले हिन्दुओंकी छाती इससे भी फटती थी।

एक ओर तो मुसलमान बादशाहोंकी निरंकुशता, उनकी स्वेच्छाचारिता और उनकी धर्मान्धतासे देशमें अशान्त, विपन्न लोगोंकी आँहें निकल रही थीं, दूसरी ओर वे बेचारे नाना प्रकारके आन्तरिक विद्रोहों तथा बाहरी आक्रमणोंसे निरन्तर भयभीत रहते थे। मुसलमानोंके शासनकालमें ही चंगेज खाँके नेतृत्वमें मुगलोंके आक्रमण भी जारी हो गये थे। गुलामवंशवाले तो मुगलोंसे डरते ही थे, अलाउद्दीन जैसा भयावह नृशंस शासक भी मुगलोंके छह बारके आक्रमण और राजधानी दिल्लीके घिर जानेसे त्रस्त हो गया था। आगे चलकर तुगलक वंशके अन्तिम बादशाह मुहम्मद तुगलकके शासन-कालमें तैमूरलंगके आक्रमणसे दिल्ली नगर लगातार पाँच दिनों तक लूटे जानेके कारण खँडहर हो गया था। लाखोंका कत्ल हुआ। खूनकी नदियाँ वहीं, असंख्य धन लूटा गया और बस्तियाँ उजड़ गयीं। ऐसे समयमें सुख और सम्पन्नता टिकती कहाँ? चारों ओर अराजकता ही अराजकता थी। सोलह वर्षोंकी अराजकताके पीछे किसी प्रकार सव्यदों तथा लोदी-वंशवालोंने समय-समयपर शासन अपने निर्बल हाथोंमें लिया और कुछ समय तक ज्यों-त्यों उसे सँभाला, पर अन्तमें बाबरके आक्रमणने उनका भी अन्त कर दिया।

१. 'हिस्ट्री ऑव् मिडीवल इण्डिया', पृ० ४७०। २. यह उन हिन्दुओंकी संज्ञा थी जो इसलाम धर्ममें आस्था न रखनेके दण्डस्वरूप जजिया कर देते थे, 'हिस्ट्री ऑव् मिडीवल इण्डिया', पृ० ५७।
३. 'हिस्ट्री ऑव् मिडीवल इण्डिया', पृ० ४६६।

मुगल-शासनके पूर्ववर्ती शासन-कालकी अशांतिसे तुलसीदासके समकालिक मुगल-राज्यकी शान्ति-सम्पन्नताकी तुलना कीजिये तो दोनोंका अन्तर स्पष्ट हो जाय । अकबर तितिक्षु था । उसमें पूर्ववर्ती मुसल-मानोंकी कट्टरता न थी । अपने साम्राज्यको स्थायी बनानेके लिए उसने हिन्दुओंको राजभक्त बनाना आवश्यक समझा । उसने राजपूतोंसे मेल-जोल कर हिन्दुओंसे अच्छा बर्ताव किया । गुलामीकी प्रथा बन्द कर दी, जजिया कर माफ कर दिया और प्रजाको धर्मके मामलेमें पूरी स्वतंत्रता दे दी । यात्रियोंसे जो कर लिया जाता था वह माफ कर दिया । पशुओंका बलिदान बन्द करा दिया । हिन्दुओंकी कुछ प्रचलित कुरीतियों, यथा, सतीप्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, आदिको रोकनेका प्रयास किया । हिन्दुओंको शासन-प्रबन्धमें स्थान दिया । उन्हें उच्च पदोंपर भी नियुक्त किया । उसके सेनाध्यक्ष राजा भगवानदास और राजा मानसिंह तथा उनके अर्थसचिव टोडरमलको कौन नहीं जानता ? इन सबने कितने ही मुसलमानी राज्योंको जीतकर अकबरके अधीनस्थ किया जिससे हिन्दुओंकी प्रतिष्ठा बढ़ी । सन् १५८६ ई०में राजा भगवानदासने कश्मीरके शासक यूसूफ खॉका दर्प-चूर्ण करके उसे अकबरका वशंवद बना दिया । इसी प्रकार सन् १५९२में उड़ीसाके अफगान सरदारोंका उपप्लव मानसिंहने शान्त किया और उन्हें पराजित करके उनसे अकबरका आधिपत्य मनवाया । सन् १५७५ ई०में जब बंगालके तत्कालीन शासक दाऊदपर आक्रमण किया गया तो सेनापति मुनीम खॉके प्रमुख सहायकके रूपमें टोडरमल ही थे और दोनोंकी कुशलतासे दाऊद हारा तथा बंगालका राज्य मुगल-साम्राज्यमें मिला लिया गया । सन् १५८०में बंगालमें फिर उपद्रव हुआ और टोडरमलने अकेले वह उपद्रव शान्त किया^१ । सामान्य नौकरियों और मुंशीगीरीकी जगहोंमें हिन्दुओंको जो बड़ा प्रोत्साहन मिला वह तो था ही, साथ ही उक्त विविध परिवर्तनोंका प्रभाव देशकी शान्ति-स्थापनामें बहुत-कुछ सहायक हुआ । मुगलोंके पूर्ववर्ती मुसलमान शासकोंकी कठोरताके कारण जो अशान्ति फैली थी वह बहुत अंशोंमें दूर हुई ।

अकबरकी व्यक्तिगत धार्मिक मनोदृष्टि देशमें शान्ति स्थापनाके लिए विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुई । प्रकृतितः वह सब धर्मोंके सिद्धान्तोंका जिज्ञासु था । हिन्दू राजाओंकी बेटियोंसे विवाह करनेके कारण उसका झुकाव हिन्दू धर्मकी ओर अधिक हो गया था ! धार्मिक शास्त्रार्थोंका भी उसपर प्रभाव पड़ा । अबुलफजल और पैजीके संसर्गसे उसका हृदय सूफी मतके रंगमें भी रंगा गया था । फलतः उसका मन इस्लामकी खुदावादी कट्टरतासे फिर गया । उसे विश्वास हो गया कि ईश्वर एक है और भिन्न-भिन्न धर्म उसके पास पहुँचनेके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं । यदि मनुष्यकी आत्मा शुद्ध है और उसके विचार पवित्र हैं तो वह ईश्वरको मन्दिरमें भी पा सकता है और मसजिद एवं गिरजेमें भी । इसलिए वह धार्मिक लड़ाई-झगड़ों और पक्षपातको निन्दनीय तथा व्यर्थ समझने लगा । फतहपुर सीकरीके महलोंमें बादशाहने इबादतखाना बनवाया, जहाँ भिन्न-भिन्न मतोंके आचार्य शास्त्रार्थ करते और अपने अपने मतोंका प्रतिपादन करते । ब्राह्मण, जैन, पारसी, ईसाई, सुन्नी, शीआ सभी शास्त्रार्थमें योग देते थे^२ । बादशाह स्वयं सभापतिका आसन ग्रहण करता था । यद्यपि वह अपने दीन-इलाहीका प्रचार करना चाहता था, तथापि उसके प्रचारमें उसने कोई सख्ती नहीं की । उसके सेनाध्यक्ष मानसिंहने दीन-इलाहीको अस्वीकार दिया था, पर बादशाहने उन्हें कभी जरा भी बाध्य नहीं किया ।

पूर्ववर्ती मुसलमानों जैसी कूट-नीतिके परित्यागसे एवं कुशल राजनीतिज्ञताके अनुरोधसे उदार

१. स्मिथ : 'अकबर दी ग्रेट', पृ० २३९ । २. वही, पृ० २४७ । ३. वही, पृ० २४८ ।

४. 'भारतवर्षका इतिहास', पृ० २५२ ।

धार्मिक नीतिके आचरणके कारण अकबरके शासन-कालमें अन्तर्विद्रोह भी शान्त हो गये थे। इतना ही नहीं, उसके समयमें बाहरी आक्रमणोंकी भी इति हो चुकी थी। अतएव देशमें शान्ति और सम्पन्नता छाने लगी थी। इस चित्रके देखनेसे गोस्वामीजी द्वारा कथित मुगल राजाओंके निरंकुश उत्पातों तथा हिन्दू जनताकी दैन्यावस्थाके कथन कुछ अतिरञ्जित समझ पड़ने लगेंगे। गोस्वामीजी परमोच्च आचरणयुक्त भारी संत और महात्मा थे, जिससे अपने विचारानुसार थोड़ा-सा भी उत्पात उन्हें बहुत अखर जाता होगा। यही कारण उनके अतिरंजनका समझ पड़ता है। विपत्तियाँ थीं तो काफी, किंतु उनकी मात्रा ऐसी दीर्घकाय न थी जैसी उनके कथनोंको देखनेसे लगती है। ऐतिहासिक उन्नतिके विचारसे तत्कालीन हिन्दू नरेशों तथा साधारण हिन्दू जनताने भी पहलेवाली तीन-चार शताब्दियोंके देखते हुए महती उन्नति आरम्भ कर दी थी, जो समयके साथ बढ़ती ही गयी। कलि-धर्म-निरूपणमें गोस्वामीजीने जो कथन किये हैं वे भी बहुत करके प्रायः सभी समयोंके समाजपर घटित हो जाते हैं।

सौन्दर्योपासक एवं कलाप्रेमी होनेके नाते तुलसीके सम-सामयिक मुगल सम्राटोंने विविध कलाओंको प्रोत्साहित किया। यह भी देशकी सम्पन्नताकी अभिवृद्धिका एक प्रमाण है।

उस भारतीय समाजको जो मुगल-साम्राज्यके पूर्ववर्ती मुसलमानी शासनकालमें कई शतकों तक अत्याचारके शृङ्खलावातसे बार-बार प्रताड़ित होता हुआ भी सँस ले रहा था, मुगल-साम्राज्यकी स्थापनाके अनन्तर कुछ सुख-शान्ति मिली। साहित्य और शिल्प-कलाकी यथेष्ट अभिवृद्धि हुई। अबुलफजल और फैजी अकबरके समयके उत्कृष्ट विद्वानोंमें थे। अबुलफजलकृत 'आइने अकबरी' और 'अकबरनामा'के सदृश फारसी के बहुमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंका सर्जन हुआ। फैजी फारसीका मर्मज्ञ कवि तथा संस्कृतका अच्छा ज्ञाता था। निजामुद्दीन अहमदने 'तबकाते अकबरी' और अब्दुलकादिर बदायूनीने 'मुत्तख बुत्तवारीख'की रचना इसी समयमें की^१। बादशाहने अथर्ववेद, महाभारत, रामायण, पञ्चतन्त्र आदि अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंका फारसीमें अनुवाद करवाया^२। उसने एक बड़ा पुस्तकालय भी बनवाया जिसमें चौबीस हजार हस्तलिखित ग्रन्थ थे^३। इससे फारसी वाङ्मयकी तत्कालीन समृद्धिका आभास मिल जाता है। शिक्षा आदिके द्वारा उसकी जो श्री बढ़ी उसे कहना ही व्यर्थ है।

फारसी वाङ्मयके सम्बन्धमें इंगितमात्रके अनन्तर अब प्रकृत विषय हिन्दी साहित्यपर आइये। राजधानी और राज दरबारका व्रजमण्डलके पास आ जाना व्रजभाषाकी उन्नतिके हेतु महत्वपूर्ण हुआ। अकबर के सभासदों और अमीरोंमें साहित्यकी अच्छी चर्चा रही। साहित्य-सेवाकी इच्छासे अन्य देशोंके कवि तथा विद्वान् मुगल-राजधानीमें आकर बस गये। व्रजवासी प्रेमके भूखे और सौन्दर्यके उपासक थे। फारसीके कवि तथा विद्वान् भी नूर और नाजुकखालीमें ही मस्त रहनेवाले थे। दोनोंकी मैत्री शीघ्र हो गयी। हिन्दीका आदर होने लगा। छोटे-बड़े राजा, अमीर, सभी हिन्दी-काव्यसे प्रेम करने लगे। फलतः हिन्दी कवियोंकी पूछ शाही दरबारमें भी होने लगी। कवियोंके सम्मानके साथ-साथ कविताका सम्मान भी यहाँतक बढ़ा कि अन्दुरहीम खानखाना ऐसे उच्चपदस्थ सरदार क्या, स्वयं बादशाह अकबरतक व्रजभाषामें कविता करने लगे।^४ बादशाहके दरबारमें रहने अथवा समय-समय पर आकर वहाँ अपना कौशल दिखानेवाले हिन्दीके कवियोंमें, जिन्होंने अपनी कृतियोंको लिखित अथवा प्रचलित किसी भी रूपमें छोड़ा है, कुलके नाम ये हैं—महापात्र नरहरि बन्दीजन, महाराज टोडरमल, महाराज बीरबल, गंग, मनोहर कवि, केशवदास,

१. 'भारतवर्षका इतिहास', पृ० २५७। २. वही। पृ० २५७। ३. वही, पृ० २५८।

४. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' नवीन संस्करण, पृ० २२०।

होलराय, रहीम खान-खाना, पुहकर कवि आदि ।^१ अकबरके आश्रित कुछ और कवियोंके नाम इस प्राचीन सवैयेमें यों मिलते हैं—

‘पूई प्रसिद्ध पुरन्दर ब्रह्म सुधारस अमृत बानी ।
गोकुल गोप गोपाल गनेश गुनी गुनसागर गंग सुज्ञानी ।
जोध जगन्न जगे जगदीश जगामन जैत जगत्त है जानी ।
कोरे अकब्बर सो न कथी इतने मिलिकै कविता जु बखानी’^२

इन कतिपय कवियोंकी कृतियोंकी ओर ध्यान देनेसे जो विशेषताएँ ज्ञात होती हैं उन्हें अत्यन्त संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि इन रचनाओंसे प्रधानतया शृङ्गार, वीररस तथा नीतिकी कविताओंके क्षेत्र लहलहा रहे थे । शृङ्गारिक रचनाओंमें जिस अतिशयोक्तिपूर्ण संयोग अथवा वियोगका चित्र खींचा गया है उसमें फारसी काव्य-धाराका रंग चटकीला है । इसके अतिरिक्त नख-शिख-वर्णन भी शृङ्गारी कविताओंका प्रधान विषय था । सैयद मुबारक अली^३ जैसे कविने तो नायिकाके अलक और तिलपर भी ‘अलकशतक’ और ‘तिलशतक’ तैयार कर डाले हैं । जिस वीरताकी व्यञ्जना इन कवियोंकी कृतियोंमें हुई है उसमें आश्रय-दाता राजा, महाराजा या सरदारोंकी चाटुकारिता ही विशेष रूपमें दिखाई देती है, सार्वभौमिकताका अभाव है । इस समयके कवियोंकी जो नीतिविषयक रचनाएँ हुईं उनमें रहीमके अतिरिक्त अन्यान्य कवियोंकी प्रवृत्ति सामान्य नीति छोड़कर वाक्चातुरी, विनोद-हास्य आदिकी ओर भी है । इन सूक्तियोंमें संसारके गहरे अनुभवोंके साथ हृदयकी मार्मिकताका अविच्छिन्न सम्बन्ध बहुत कम दिखाई देता है ।

मुसलमानोंके भारतमें आनेके पहले हिन्दी-साहित्यके आदिकालकी ओर ध्यान देनेसे पता चलेगा कि उस समयकी फुटकल रचनाएँ भी शृङ्गार, वीर और नीतिविषयोंको ही लेकर छप्पय, कवित्त, सवैयों और दोहोंमें हुआ करती थीं । अफगानोंके शासनकालमें भारतीय संस्कृतिकी यह काव्य-परम्परा दबी पड़ी थी, पर अकबरके राजत्व-कालमें उक्त परम्पराका क्षेत्र फिरसे हरा-भरा होने लगा । उसमें नूतन जागृतिका आभाम मिला । सुक्तक रचनाओंकी प्राचीन परम्पराकी पुनः प्रतिष्ठा करके उसके व्यापक क्षेत्रको तो राजाश्रित कवियोंने सजाया ही, साथ ही बहुतोंने प्रबन्धकाव्यकी परम्पराको भी कई उत्तम आख्यान-काव्य लिखकर जगमगाया, जैसाकि केशवकी ‘वीरसिंहदेव-चरित’, ‘जहाँगीर-जसमयंक-चन्द्रिका’, ‘रामचन्द्र-चन्द्रिका’ अथवा पुहकर कविकी ‘रसरतन’ आदि कृतियोंसे प्रकट होता है ।^४

कलाकी जागर्ति

साहित्यविद्याकी जागर्तिका संकेत करनेके उपरान्त अब ‘उपविद्या’^५ कलाकी ओर आना चाहिये । अकबरकी प्रकृतिका एक प्रधान गुण था—उसका कलाप्रेम । एक दिन उसने अपने एक मित्रसे कहा था—‘संसारमें बहुत-से ऐसे भी प्राणी हैं जिनकी चित्रकलामें रचि नहीं, ये लोग मेरी दृष्टिमें सम्मानके पात्र नहीं । मेरा तो विश्वास है कि चित्रकारको ईश्वरानुभूति करनेका विचित्र सौभाग्य प्राप्त होता है । चित्रकार

१. रामचन्द्र शुक्ल : ‘हिन्दी साहित्यका इतिहास’ नवीन संस्करण पृ० २२२, २२८, २३१, २४६, २५३, २५४ । २. ‘शिवसिंह सरोज’ तृतीय आवृत्ति, पृ० ३७४-७५ । ३. इनका रचनाकाल सं० १६७० के बाद है । दे० ‘हिं० सा० इ०’, पृ० २४६ । ४. नोट—इस युगमें हिन्दीके जिन विशेष आख्यान-काव्योंकी रचनाएँ हुई हैं उनकी तालिका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने ‘हिं० सा० इ०’ में दी है । दे० पृ० २५६ । ५. राजशेखरने ‘काव्य-मीमांसा’में कलाको ‘उपविद्या’ संज्ञा दी है ।

किसी सजीव प्राणीका चित्रांकन करनेके समय विविध अंगोंकी रचना कर लेनेपर भी यह अनुभव करता है कि मैं चित्रमें प्राण नहीं डाल सकता। अतः विवश होकर वह जीवनदाता परमात्माकी ओर आवृष्ट होता है और उसके ज्ञानका विकास होता है।^१ अकबर सदैव चित्र और आलेख्यका प्रेमी रहा। उसके दरबार में अच्छे-अच्छे कलाविद् थे, जो प्रति सप्ताह अपनी कलाकी बानगी बादशाहके सामने उपस्थित करते थे। इस प्रकार कला उत्तरोत्तर सम्बर्धित हो रही थी। अकबरके पश्चात् भी चित्रकलाकी उन्नति होती रही। चित्रकलाके अप्रतिम सौन्दर्यपर जहाँगीर अकबरसे भी बढ़कर आसक्त था, अतएव उसके राजत्वकालमें भारतीय चित्रकला अपनी उन्नतिकी पराकाष्ठाको पहुँची।^२ चित्रकलाकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा मुगल राज्यने ही की। इसके कारण चित्रकलाके क्षेत्रमें मुगल कलमकी^३ नवोद्भावना हुई और हमारे विशिष्ट कलाकारोंको अपनी प्रतिभा दिखलानेका सुअवसर प्राप्त हुआ।^४ आज दिन भी मुगल-कालीन कितने ही अजूबे चित्र संग्रहालयोंमें सुरक्षित हैं। इन चित्रोंसे तत्कालीन समाजके कुछ विशिष्ट वर्गवालोंकी रहन-सहनका आभास मिलता है।

चित्र और आलेख्य-कलाके अतिरिक्त संगीतकला भी तुलसीके समकालीन सम्राटोंकी कृपासे उत्कर्ष को प्राप्त हुई। अकबरके दरबारमें तानसेन जैसे गायक विद्यमान थे। 'आईने अकबरी'में दरबारी गवैयों और बिनकारों आदि कलावन्तोंकी जो फिहरिस्त दी गयी है उससे सिद्ध होता है कि बादशाह संगीतप्रेमी था। उसके राजत्वकालमें संगीतकलाकी श्रीवृद्धि हुई। जहाँगीरके समयमें भी संगीतका क्षेत्र समृद्धि-शाली हुआ।^५

स्थापत्यकलाका जो अजूबा आदर्श मुगल सम्राटोंने उपस्थित किया वह भी स्तुत्य है। आगरा और सीकरीकी प्रसिद्ध इमारतें अकबरके समयकी स्थापत्य-कलाकी ज्वलन्त उदाहरण हैं। अकबरकी सहिष्णु और उदार प्रकृतिके कारण उसके शासनकालमें जिस हिन्दू और फारसी दंगकी सम्मिश्रित मनोश स्थापत्यकलाकी सृष्टि हुई उसका सौन्दर्य निराला और बेजोड़ है। अकबरके बाद जहाँगीर, शाहजहाँ अथवा औरंगजेबकी रुचिके अनुकूल जिन इमारतोंका निर्माण हुआ उनमें हिन्दू स्थापत्यकलाका प्रभाव नगण्य है।^६ भिन्न-भिन्न मुगल सम्राटोंकी व्यक्तिगत रुचिके भेदसे भले ही भिन्न-भिन्न दंगकी इमारतें बनी हों, पर यह तो निर्विवाद है कि मुगल-शासनकालमें स्थापत्यकलाकी उन्नति हुई। यदि हिन्दू राजाओंके राजत्वकालमें मन्दिरों और प्रतिमाओंके रूपमें कला जगमगा रही थी तो मुगल-राज्यमें मकबরों और महलोंके रूपमें।

सामाजिक चेतनाका आभास

अब देखिये कि उस समय समाजमें किस प्रकारकी चेतना उद्भूत हुई। पूर्ववर्ती मुसलमानोंके शासनकालमें न जाने कितने हिन्दू मुसलमान हो चुके थे। उनमें अधिकांश बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये थे, पर कुछ सुखसे काल-यापनकी तृष्णामें पड़कर विधर्मी हुए थे। इसी प्रकार कितने ही सामाजिक कदर्थना से तंग आकर म्लेच्छ होनेको विवश हुए थे। मुगल कालतक मुसलमान केवल बुनियादी मुसलमान ही नहीं थे, उनमें हिन्दूसे मुसलमान होनेवालोंकी संख्या बहुत थी। इस घाल-मेलका कुछ-न-कुछ फल तो अनिवार्य

१. दे० 'मिडीवल इण्डिया अण्डर मुहमडेन रूल', पृ० २७४। २. वही, पृ० २७४। ३. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर', पृ० ९३। ४. Saracene School of Painting: ५. 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन', पृ० २४५। ६. 'हिस्ट्री आव् जहाँगीर', पृ० ९३। ७. और विशेष विवरणके लिए देखिये : जे० फर्ग्युसन-कूत 'हिस्ट्री आव् इण्डियन आर्किटेक्चर', भाग ३ के अन्तर्गत 'मुगल आर्किटेक्चर'।

था। इसलामी कट्टरतासे पराङ्मुख सम्राट् अकबरकी हिन्दू और मुसलमान दोनोंको समान मान देनेकी नीतिका परिणाम अच्छा हुआ। अकबरकी अपेक्षा अनुदार जहाँगीरके राजत्वकालमें भी हिन्दू-मुसलमान दोनोंके अनेक आनन्दोत्सव राज-पक्षपात-रहित होते थे। विजयादशमीके अवसरपर नाना प्रकारसे अलंकृत शाही घोड़े और हाथियोंका प्रदर्शन होता था। रक्षावन्धनके दिन हिन्दू सरदार और ब्राह्मण लोग सम्राट्की कलाईमें भी राखी बाँधते थे। दीवालीके दिन महलोंमें जूआ होता था और शिवरात्रिपर भी उत्सव मनाया जाता था। मुसलमानी त्यौहारों ईद और शबेवरात भी जनताके द्वारा उपेक्षित नहीं^१ ऐसे अवसरके मेल-मिलापोंने भी दोनोंको एक-दूसरेके प्रति सहिष्णु बनाया। उत्तरी भारतके समाजका उच्च वर्ग जो दरबारसे सम्बद्ध था, सामाजिक रीति-नीतिमें मुसलमानोंसे प्रभावित हो चला था। बाज द्वारा चिड़ियोंका शिकार आदि मृगयाकी रीतियाँ भी मुसलमानी रंग-ढंगमें ढल गयी थी^२। हिन्दी, बंगाली, मराठी आदि भारतीय भाषाएँ फारसी, अरबी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओंसे बहुत-कुछ शब्द संग्रह करने लगी थी। अनेकानेक पन्थों और सम्प्रदायोंके साधकों, प्रचारकों और कवियोंका प्रभाव भी हिन्दू-मुसलमान दोनोंपर असामान्य था^३। इसलिए भी दोनों जातियोंकी विचारधारा एक-दूसरीसे कम प्रभावित नहीं थी।

मुगल-राज्य-स्थापनाके पश्चात् समाजको शान्ति और सुखकी प्राप्ति हुई और उसकी जागतिका आभास कुछ विशिष्ट दिशाओंमें हुआ, पर गोस्वामीजी जैसे महात्माको, जिसने अपनी अन्तर्दृष्टिसे रामराज्य का दृश्य देखा था, मुगल-राज्यकी शान्ति और समृद्धि पासंगके बराबर भी न जान पड़ी। अतएव उन्हें इससे तनिक भी सन्तोष न हुआ। वे इससे पूर्णतया अप्रभावित रहे। तभी तो उन्होंने अपने सामयिक महामहिपालों और महिपालोंकी कड़ी आलोचना की है, इन्हें इनके प्रमुख कर्तव्य प्रजापालनसे न्यूनाधिक पराङ्मुख देखकर 'प्रजासन' तक कह डाला है।

तत्कालीन स्थितिका प्रभाव

तुलसीदासजी कोई राजाश्रित कवि तो थे नहीं कि राजाओं और महाराजाओंकी रुचिके अनुसार कविताकर उन्हें नाना प्रकारकी चाटुकारितासे युक्त वाग्वैदग्ध्य दिखा-दिखाकर पुरस्कार प्राप्त करते और दरबारमें 'कवीश्वर' अथवा 'कविराज'की बड़ी उपाधि लेकर समादृत होते। रामके अतिरिक्त और किसी राजा-महाराजाको प्रसन्नकर किसी प्रकारकी याचनाको तो वे विगर्हित समझते थे। राजाओं द्वारा दी हुई बड़ाईको वे फूटी कौड़ी मानते थे—

‘जाँचै को नरेस, देस देस को कलेस करै दैहैं तो प्रसन्न हूँ बड़ी बड़ाई बाँड़िये।

कृपा-पाथ-नाथ लोक-नाथ नाथ सीतानाथ, तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़िये’।^४

शान्ति और सम्पन्नताकी स्थितिके कारण राजाश्रित कवियोंकी जो प्रसिद्धि चल रही थी, गोस्वामीजी उससे तनिक भी प्रभावित न हुए।

विलासिताकी अतृप्त वासना रखनेवाले शासकोंके आदर्शको प्राप्त कर घोर विलासिताकी ओर समाजका जो नैसर्गिक झुकाव हुआ, तुलसीदासजी उससे भी अप्रभावित रहे। उनके परमोत्कृष्ट सदाचार और साधनामय जीवनके समक्ष किसी दिलासी सरदार, राजा अथवा महाराजाका आदर्श नहीं था, वहाँ तो सर्वगुणसम्पन्न गुणागार, गुणनिधि, परम मर्यादानिष्ठ, परमपुरुष रामका आदर्श उनके जीवनके शान्त,

१. 'हिस्ट्री आब जहाँगीर', पृ० १००। २. 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन', पृ० २४४। ३. इसका विवेचन विशेषरूपसे प्रस्तुत परिच्छेदमें आगे किया गया है। ४. 'कविता०' उ० छ० २५।

गम्भीर और पवित्र स्रोतको प्रवाहित करता था। फलतः उनकी कृतियाँ उनके उदात्त चरित्रकी विशेषताओं-से ओत-प्रोत होनेके कारण स्वभावतः जगमगा उठी हैं।

गोस्वामीजीके समयमें एक ओर लोक-वेद-मार्गके समर्थक सम्प्रदायोंकी वृद्धि हो रही थी तो दूसरी ओर इसलामसे प्रभावित अनुभवसाक्षिक ज्ञानोपदेश करनेवाले विविध पन्थोंकी। बाबाजी अपने युगकी इस विशेषतासे भी अप्रभावित ही रहे। उन्होंने भूलकर भी अपना कोई नया सम्प्रदाय या पन्थ नहीं चलाया; प्रत्युत शाश्वत वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादा बनाये रखना ही अपना कर्तव्य समझा। इस कर्तव्यकी पूर्तिके हेतु उन्होंने समन्वय-बुद्धिसे काम लिया।

हमारे कविके समकालीन सम्राटोंकी अमित सौन्दर्योंपासनाके फलस्वरूप जिस कलाकी श्री जाज्वल्यमान हुई और जिसकी चमक-दमक तत्कालीन समाज तो आश्चर्यचकित हो देखता ही था, जिसके भग्नावशेष आज भी इतने आकर्षक हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता, ऐसी स्थापत्यकलाने उन (तुलसी) पर अपना कुछ प्रभाव डाला होगा, यह सन्दिग्ध ही है। रामके राजसिंहासन अथवा राज-प्रासादका जो सजीव चित्रण गोस्वामीजीने किया है उसे उनकी प्रतिभाके साक्षात्कारका दिव्य समझना चाहिये। यदि वे व्रजभूमिमें रहते ही होते तो भी यह सम्भावना थी कि वे भूले-भटके शाही दरबारमें कुम्भनदासकी भाँति कभी-विवश होकर चले गये होते।

सदाचारी व्यक्तिके सामने यदि अनाचारके कार्य संघटित होते हों और वह उन्हें देखते हुए भी मौन रहे, तो उसके द्वारा एक प्रकारसे अन्यायका समर्थन हो जाता है। गोस्वामीजी समाजकी दुर्बलताओं-को देखकर तटस्थ रहनेवाले न थे। अपनी व्यक्तिगत साधनाके लिए भले ही वे समाजसे निलीन रहे हों, पर समाजके दुष्कर्मोंको उद्घाटित कर उसे चेतनामय बनानेके कर्तव्यसे वे पराङ्मुख न थे। वे अन्यान्य सुधारकोंकी भाँति दोष दिखाते भर न थे, प्रत्युत दोषदर्शनके उपरान्त समाजको आदर्शान्मुख भी करते चलते थे।

यदि पूर्ववर्ती मुसलमानोंका समय होता तो तुलसी और उनका 'मानस' दोनों ही अग्निमें स्वाहा हो गये होते। मुगल-राज्यमें ऐसा अत्याचार न था। यदि होता भी तो वे 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः'वाले सात्विक व्यक्ति थे। उनका अटल विश्वास था—

‘उथपै तेहिको जेहि राम थपै, थपिहै तेहि को हरि जौ टरिहै।

तुलसी यह जान हिये अपने, सपने नहिं कालहु तें डरिहै॥

कुमया कछु हानि न औरनिकी जो पै जानकीनाथ मया करिहै।’^१

ऐसेके समक्ष शाही शान-शौकतकी क्या हस्ती थी? गोस्वामीजीने काव्यके परिधान और वाहनके क्षेत्रमें कोई भेदभाव नहीं रखा। उन्होंने प्रचलित होनेके कारण अरबी, फारसी, तुर्की आदि सभी भाषाओंके बहुतसे शब्द अपनी रचनाओंमें प्रयुक्त किये।

पूर्ववर्ती तथा सामयिक कवि और प्रचारक

मुसलमानोंके साथ सूफी साधक भी भारत आये। जो कार्य मुसलमानोंकी तलवारें न कर सकीं उसे इन साधकोंने करनेका प्रयत्न किया। मुसलमानोंने अपनी तलवारसे हिन्दुओंको परास्त अवश्य किया, पर उसकी शक्तिसे वे हिन्दुओंके हृदयपर अपना सिक्का न जमा सके। हिन्दुओंने पराजित होकर भी मुसलमानोंके

धर्मको हेय ही माना; परन्तु सूफी साधकोंने हिन्दुओंके हृदयमें भी प्रेमकी पीर उत्पन्न कर दी। सूफियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। हिन्दुओंके ऊपर इसलामी प्रभावका असर आया। पहले-पहल सूफियोंका प्रभाव पञ्जाब और सिन्धपर पड़ा, क्योंकि प्राकृतिक भौगोलिक कारणोंसे अन्याय विदेशियोंकी भौति सूफी साधक भी वहीं पहुँचे थे।^१ ग्यारहवें शतकमें दातागंज बक्स या जुल्लाबीके नामसे प्रसिद्ध मखदूम सैयदअली-अल-हुजविरीने लाहौरको अपने आध्यात्मिक सिद्धान्त-प्रचारका क्षेत्र बनाया और यहीं उसकी जीवनलीला समाप्त हुई। आजकल भी उसकी दरगाहका दहुत-से हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मान करते हैं।^२ जुल्लाबीके अनन्तर चिश्तिया पन्थके सूफियोंका प्रभाव भारतपर पड़ा। इस पन्थका प्रथम प्रवर्तक था अहमद अब्दुल चिश्ती, परन्तु जिस साधकने इस पन्थका विशेष व्यापक प्रचार किया वह है—ख्वाजा-मुई-उद्दीन चिश्ती। इस साधकने अपने सिद्धान्त-प्रचारका केन्द्र हिन्दुओंके पवित्र तीर्थ पुष्करको बनाया था। यहीं उसकी मृत्यु सन् १३२६ में हुई। भारतीय सूफियोंमें मुई-उद्दीन चिश्तीकी अच्छी प्रतिष्ठा है। उनके द्वारा सूफी तत्त्व-दर्शनका प्रभाव समस्त भारतमें पैला, यहाँतक कि कुछ ब्राह्मण लोग भी उससे दत्त न सके।^३ पुष्करमें ऐसे ब्राह्मण भी मिलते हैं जो अपनेको 'हुसैनी' कहते हैं। ये लोग न पक्के हिन्दू ही कहे जा सकते हैं और न कट्टर मुसलमान ही। मुई-उद्दीनकी शिष्य-परम्परामें कई साधकोंके नाम आते हैं^४ जिनमें शेख फरीउद्दीन शकरगंजका नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने 'इमामशाही पन्थ'का प्रवर्तन किया। इस पन्थके याजक या 'काका' लोग हुसैनी ब्राह्मणोंसे मिलते-जुलते हैं। फरीउद्दीनकी साधना माधुर्य भावसे अत्यधिक सम्पृक्त थी, इसीसे ये 'शकरगंज' कहे जाते थे।^५ दक्षिणी पञ्जाबको इसलामी रंगमें रंगनेका विशेष श्रेय इन्हें ही है। इनकी शिष्य-परम्परामें कई साधक आते हैं।^६ सूफियोंके 'मुहराबर्दी-पन्थ'का महत्त्व भी कम नहीं। इसके प्रचारकोंमें सैयद जलालुद्दीन-सुल्तपोश, मखदूम जहानियाँ बुरहानउद्दीन, कुताबी आलम आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।^७ चिश्ती-पन्थकी 'कादिरी शाखा'का भी काफी रंग था। सोलहवें और सत्रहवें शतकमें इसने अपना बड़ा प्रभाव दिखाया। इसी पन्थके साधक मीनमीरके प्रति दाराशिकोह अपना बड़ा प्रेम और सम्मान प्रकट करता था।^८ अकबर और उसके दरबारमें सूफी मतका कैसा प्रभाव था, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। उत्तरी भारतके कतिपय भागोंमें सूफीमतकी बहुत प्रतिष्ठा थी। पन्द्रहवें शतकसे सत्रहवें शतकके मध्यतक इसमें बराबर वृद्धि होती गयी। इसका अनुमान इसीसे कीजिये कि सत्रहवें शतकके मध्यभागमें मुहम्मद शहदुल्ला नामक सूफी प्रचारकको कुछ लोग विष्णुका निष्कलंक दशम अवतार मानकर पूजनेको प्रस्तुत थे।^९

एक ओर सूफी साधकोंकी माधुर्य-भावना हिन्दुओं और मुसलमानोंके मिलनमें मध्यस्थका कार्य कर रही थी, दूसरी ओर कबीर-पन्थ निर्गुणियोंकी शाखा पन्द्रहवें शतकसे समाजमें नाममात्रके शानियोंकी संख्या बढ़ाती चली आ रही थी। इसकी कृपासे हिन्दुओं और मुसलमानोंका मेल-जोल बढ़ रहा था। साथ ही हिन्दू-समाजकी प्राचीन वर्णव्यवस्थाको अस्त-व्यस्त करने और प्राचीन शास्त्रों तथा धार्मिक प्रथाओंको कलुषित ठहरानेका प्रयास भी जोरोंपर था। कबीर द्वारा प्रवर्तित पन्थकी पहले दो प्रधान शाखाएँ हुई—'सूत गोपाली' और 'धरम गोपाली' या छत्तीसगढ़ी।^{१०} अधिकांश कबीर-पन्थी दूसरीके ही अनुयायी हैं। ये पञ्जाब, सिन्धु, गुजरात, उत्तरप्रदेश, बिहार, नेपाल, शिकम प्रभृति स्थानोंमें सम्प्रति छिटके हुए हैं।^{११}

१. 'मिडीबल मिस्त्रिसिज्म आव् इण्डिया', पृ० ११। २. वही, पृ० १५। ३. वही, पृ० १५। ४. वही, पृ० १७। ५. वही, पृ० १७। ६. वही, पृ० १८। ७. वही, पृ० १९। ८. वही, पृ० १९। ९. वही, पृ० ३२। १०. वही, पृ० ९२। ११. वही, पृ० १०६।

प्रथम शाखाके अनुयायियोंकी संख्या थोड़ी है और वे विशेषतया बनारसके मठसे सम्बद्ध हैं। 'धरम गोपाली'के प्रवर्तक धरमदासका समय है—सोलहवाँ शतक। इन दोनों प्रधान शाखाओंके अतिरिक्त अन्यान्य गौण शाखाएँ भी हैं। 'शानी पन्थ' और 'ताकसारी पन्थ'के मठ क्रमशः तिरहुत और बड़ौदामें वर्तमान हैं।^१ कहा जाता है कि कवीरने अपने शिष्य नित्यानन्द, कमलानन्द और चतुर्भुजको द्रविण देशमें भी अपने पन्थकी स्थापनाके लिए भेजा था, किन्तु इसका कोई पता नहां चलता कि वहाँ इन्होंने कोई पन्थ चलाया या नहीं।^२ कवीर पन्थका प्रचार जिस समय पूर्वी भारतकी सीमाका अतिक्रमण करके राज-पूताना, पञ्जाब तथा सिन्धमें पोंव रखते हुए काठियावाड़ एवं गुजरातमें प्रविष्ट हुआ, उस समयतक इसकी वारह शाखाएँ हो चुकी थी, यथा 'सत्य कवीर', 'नाम कवीर', 'दास कवीर', 'मंगल कवीर', 'हंस कवीर', 'उदासिका कवीर'^३ आदि।

अब दादू-पन्थकी ओर ध्यान दीजिये। दादू तुलसीके समकालीन थे। इन्होंने पारब्रह्म-समाजकी स्थापना की।^४ इस समाजमें हिन्दू-मुसलमान सभीका सांकर्य है। 'दादू-पन्थ' भी समाजपर वही प्रभाव डाल रहा था जो कवीर-पन्थ। दादूके विषयमें प्रसिद्ध है कि उन्होंने ४० दिनोंतक अकबरसे वाद-विवाद किया था। उसके बादसे अकबरने सिकेसे अपना नाम हटवाकर उसकी जगह एक ओर 'जलाजुल्लुहू' और दूसरी ओर 'अल्लाहो अकबर' लिखवाया।^५ दादूदयालके भी कई बड़े-बड़े शिष्य हुए—सुन्दरदास वीकानेरके महाराज, सुन्दरदास कवि एवं साधक, जगजीवनदास, रजब आदि।^६ दादू-पन्थके अतिरिक्त 'मलुकदासी पन्थ' भी सत्रहवें शतकमें था।^७ ऐसे ही 'नानक-पन्थ', रैदासकी परम्परासे सम्बद्ध 'साधोपन्थ' तथा और भी कितने ही पन्थ थे जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

तुलसीके पूर्ववर्ती और समसामयिक पन्थ-प्रचारकोंके दो प्रधान वर्गों अर्थात् सूफी तथा कवीर-पन्थ एवं इनसे प्रभावित अन्यान्य पन्थवालोंका विशेष बोलबाला था। इनका संकेत गोस्वामीजीने अपनी कृतियोंमें यों किया है—

‘साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निदहिं वेद-पुरान ॥
सुति-सम्मत हरि-भक्ति-पथ, संजुत-विरति-विवेक ।
तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक ॥
सकल धरम विपरीत कलि कल्पित कोटि कुपंथ ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुभ ग्रंथ ॥’^८

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि 'साखी' और 'सबदी' पद कवीर पन्थके प्रचारकोंकी ओर संकेत कर रहे हैं। 'किहनी' और 'उपखान' सूफीमतके प्रचारकोंको इंगित करते हैं। दूसरा दोहा वेदमार्ग छोड़कर चलनेवाले अन्यान्य पन्थोंका संकेतक है। तीसरा इस बातका द्योतक है कि नाना पन्थोंकी वृद्धिसे प्राचीन सच्चाओंकी नितान्त अवहेलना हुई और वे लुप्तप्राय हो गये। इन विविध पन्थोंके कारण वर्ण-व्यवस्थाके लिए कैसी विघातिनी स्थिति उत्पन्न हुई इसे भी देखिये—

‘बादहिं सूद्र द्विजन सन, ‘हम तुमते कछु घाटि ।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर’, आँखि दिखावहिं डाँटि ।’^९

१. 'मिडीबल मिस्ट्रीसिज्म आव् इण्डिया', पृ० १०६। २. वही, पृ० १०७। ३. वही, पृ० १०८। ४. वही, पृ० ११६। ५. वही, पृ० १०९। ६. वही, पृ० १११। ७. वही, पृ० ११२। ८. वही, पृ० १५४। ९. 'दोहावली', दो० ५५४, ५५५, ५५६। १०. वही, दो० ५५३।

इस कदरका ब्रह्मज्ञान बढ़ा कि—

‘ब्रह्म ज्ञान विनु नारि नर कहहि न दूसरि बात ।’^१

उम समयके मुनि भी ऐसे थे—

‘जे मुनि पुनि आपुहि आपुको ईस कहावत सिद्ध सयाने ।’^२

कदाचित् इन्हीं सयाने लोगोंके लिए गोस्वामीजीने अपना यह विचार प्रकट किया था—

‘जानपनीको गुमान बढ़ो तुलसीके बिचार गँवार महा हैं ।’

उक्त अनुभवसाक्षिक ज्ञानोपदेशक साधकोंके विविध पन्थोंके प्रवर्तकों एवं प्रचारकोंका समाजपर जो रंग जमा था, तुलसीदास सिर्फ उसीकी ओर संकेत करके नहीं रह गये अपितु उन्होंने और भी कितने ही प्रचारकोंकी ओर उँगली उठायी । कहीं वे जैन-मतावलम्बी ‘सरावग’^३ और ‘सेवड़ा’^४ के अनाचारोंका उद्घाटन करते हैं तो कहीं पथभ्रष्ट अयोरी^५ साधकों—श्मशान-सेवियोंकी^६ अश्वर साधनाका । इसी प्रकार कहीं भूत-प्रेत-पूजाके^७ प्रचारकोंकी दुर्गतिका संकेत करते हैं तो कहीं अनिष्ट वाममार्गी शाक्तोंकी अबोगतिका ।^८

गोस्वामीजीके कुछ पूर्ववर्ती एवं समसामयिक उन मत-प्रचारकोंकी ओर भी ध्यान देना चाहिये जो भागवत-सम्प्रदायसे उद्भूत भक्तिके नवोद्भावित स्वरूपका प्रचार कर प्राचीन परम्परागत भक्तिकी रक्षामें संलग्न थे । भक्तिके इस नवोद्भावित स्वरूपका प्रवर्तन यद्यपि ग्यारहवें शतकमें ही रामानुजाचार्य द्वारा दक्षिणमें हुआ था, तथापि उसका प्रसार उत्तरी भारतकी ओर भी होता चला आ रहा था । यही नहीं, चौदहवें शतकमें आनन्दतीर्थने^९ द्वैतवादी माध्व-वैष्णव-सम्प्रदायकी स्थापना करके भक्तिमार्गका प्रवाह और भी तीव्र किया । पन्द्रहवें शतकमें विष्णुस्वामीने दक्षिणमें वैष्णव धर्मका प्रचार किया । विष्णुस्वामीका सम्प्रदाय ‘रुद्र सम्प्रदाय’ कहलाता है ।^{१०} विष्णुस्वामीके एक उत्तराधिकारी थे लक्ष्मणभट्ट^{११} जो उत्तरी भारतमें आकर बस गये, जिनके शास्त्रज्ञ पुत्र वल्लभने सोलहवें शतकमें अपना पुष्टिमार्ग चलाया ।

वल्लभाचार्यके जीवनकालमें उनके सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा तो बढ़ी ही, उनकी मृत्युके अनन्तर भी गोसाईं विठ्ठलनाथ अपने पिताके सम्प्रदायकी कीर्ति धवलित करते रहे । इन्होंने सर्वोत्तम कृष्णोपासक कवियोंको चुनकर ‘अष्टछाप’की प्रतिष्ठा की । इन अष्टछाप कवियों द्वारा कृष्णोपासनाका जो मधुर स्रोत प्रवाहित हुआ उसने हिन्दुओंको बहुत-कुछ निर्गुण पन्थकी उपासनाके प्रभावसे बचानेका प्रयास किया ही, साथ ही उन्हें सूफियोंकी रहस्यमूलक प्रेमोपासनाके मोहसे भी सावधान किया । इतना ही नहीं, कृष्णोपासनाकी मधुरिमाका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सत्रहवें शतकके आरम्भमें ताज, रसखान, अलीखान, कादिरवक्स आदि मुसलमानोंतकने अपनेको कृष्णके चरणोंमें अर्पित कर दिया । उसीका फल है कि गुजरातके ‘खोजा पन्थ’वाले अपनेको वल्लभसम्प्रदायी मानते हैं^{१२} ।

१. ‘दोहावली’, दो० ५५२ । २. ‘कविता०’, उ० छ० १०५ । ३. वही, दो० ३८३ । ४. वही, दो० ३२६ । ५. वही, दो० ५५० । ६. वही, उ० छ० १६२ । ७. ‘दोहावली’, दो० ६५; ‘मानस’ अयो० १६६ । ८. ‘मानस’, अयो० १६६.७, लंका० ३०, २ । ९. ये पहले शंकर सम्प्रदायके शैव थे, बादमें वैष्णव हो गये और माध्वसम्प्रदायका प्रवर्तन किया देखिये ‘मि० मि० आव् इण्डिया’, पृष्ठ ४८ । १०. ‘मि० मि० आव् इण्डिया’, पृ० ४९ । ११. वही, पृ० ४९ । १२. वही, पृ० ३३ ।

वल्लभ-सम्प्रदायके अतिरिक्त निम्बार्क-सम्प्रदायने, जो सनक-सम्प्रदाय कहलाता है, राधा-कृष्णकी सख्य-भावकी उपासना प्रसारित की। चैतन्य महाप्रभुने भी कृष्ण-भक्तिके अमृतकी बंग प्रदेशमें बरसाकी, महाराष्ट्र प्रान्तमें तुकागमने कृष्ण-भक्तिकी तान छेड़ी, गुजरातमें नरसी मेहताका प्रेम-संगीत गूँजा, राजस्थानकी मरुस्थलीमें भी मीराबाईका कलकण्ठ निनादित हुआ। हितहरिवंशके 'राधावल्लभी-सम्प्रदाय' तथा चैतन्य-सम्प्रदायसे उद्भूत 'हरिदासी सम्प्रदाय' ने प्रेम-लक्षणा भक्तिका प्रचार बढ़ाया। गोस्वामीजीकी दृष्टि ऊपर इंगित कृष्णोपासक सम्प्रदायोंकी ओर अवश्य गयी और उन्होंने 'कृष्णगीतावली' की रचनाकी तथा 'कवितावली' के कुछ छन्दोंमें भी कृष्णलीला गायी। उन्होंने कृष्णलीलाका जो स्वरूप लिया वह राधा-कृष्णके शृंगारके वर्णनों और रहस्य-संकेतोंसे रहित है। 'कृष्णगीतावली' में ऐसा एक भी पद नहीं जिसमें राधा-कृष्णके विहारका अमर्यादित शृंगारी वर्णन हो। यह अवश्य है कि जैसे सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण-भक्तोंने ज्ञानियोंके निर्गुण ब्रह्मको भक्तिके हेतु अनुपयुक्त सिद्ध करनेके लिए उद्धव और गोपिकाओंका सगुणोपासना-समर्थक संवाद रखा है, वैसे ही तुलसीने उद्धव और गोपिकाओंके संवादको 'कृष्णगीतावली' में अत्यधिक महत्त्व दिया। इसीसे उत्तरार्द्धके अधिकांशमें यही प्रसंग रखा गया है और उसका निष्कर्ष है—

‘जेहि उर बसत स्यामसुन्दर घन तेहि निर्गुन कस आवै ।
तुलसिदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै ।’

कवियोंकी दरबारी प्रवृत्तिकी भी गोस्वामीजीने संकेतसे कुत्सा की है—

‘कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥’

प्राकृतजनोंका प्रशस्तिपाठ करनेवालोंका दल मुगल-राज्यकी स्थापनाके अनन्तर किस प्रकार बढ़ा इसकी चर्चा पहले कर चुके हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

तुलसीका सामाजिक मत

मंसारमें अधिकतर व्यक्ति ऐसे ही होते हैं जो जगत्-प्रवाहमें बहा करते हैं, पर उच्च मनोवृत्तिके ऐसे महापुरुषोंका भी समय-समयपर आविर्भाव हुआ करता है जो प्रवाहपतित होकर उसमें बहते नहीं, प्रत्युत जगत्-प्रवाहको सुदिशाकी ओर मोड़नेका भगीरथ प्रयत्न करते हैं। जैसा कहा जा चुका है, महात्मा तुलसीदास मुगल-साम्राज्यकी सुख-शान्तिसे, उसके ऐश्वर्य वैभवके चाकचिक्यसे प्रभावित होकर आश्वस्त हो जानेवाले व्यक्ति न थे। भारतीय और विदेशी फारसी-अरबी संस्कृतियोंके संघर्ष और फलस्वरूप पारस्परिक मिश्रणकी भावनाको जागरित करनेका परिणाम यह अवश्य हुआ कि जनसमाजमें ईश्वरके एकत्वकी भावना प्रबल रूपमें जगी और हिन्दू तथा मुसलमान विभिन्न धर्मोंको मानते हुए भी मिलजुलकर रहने लगे, पर राजा और प्रजा दोनोंमें उस उत्कर्षसूचक मनोभावका उदय न हुआ जो विश्वात्माके चरम लक्ष्यकी ओर ले जानेवाला होता है। दूसरे शब्दोंमें इसे यों कह सकते हैं कि जनसमाजमें जिस प्रवृत्तिकी झलक दिखायी पड़ी वह बाह्य परिस्थितिजन्य थी। आन्तरिक प्रेरणाके कारण जैसी उदात्त वृत्ति जगनी चाहिए वह न राजन्यवर्गमें ही थी और न प्रजामण्डलमें ही। जो कुछ था, बाह्य था, आभ्यन्तर कुछ भी नहीं। तुलसीदासका सारा प्रयास जनता-जनार्दनके मानस-परिष्कारके लिए था। वे जिस समाजकी कल्पना करके चले वह स्वार्थत्याग और बलिदान सिखानेवाला था और उन्होंने जिस राज्यकी भावना की थी वह लोकाराधनके लिए राज्य, सुख, राग आदि सबको निछावर कर देनेवाला था। उन्होंने राजा और प्रजाके लिए जो आदर्श रखा था वह संक्षेपमें प्राचीन वर्णव्यवस्थाका पुनरुज्जीवक और रामराज्यका प्रस्थापक था।

अब देखना चाहिये कि समाज क्या है और राजा या राज्य तथा प्रजा या जनसमुदायसे उसका क्या सम्बन्ध है। सामान्यतया समाज मनुष्योंका संघ है—‘समाजो नराणां संघः।’ इसी प्रकार सामाजिक मतका तात्पर्य हुआ जन-समुदायका रहन-सहन, खान-पान, विचार-व्यवहार, व्याह-वरेखी आदिसे सम्बद्ध मत। यहाँ तुलसीदासजीके इसी मतका विश्लेषण करना है।

आदर्श-राजकी भावना

मानवके संघटनका इतना विकास हो चुका है कि उसकी दृष्टिसे समाजके अर्थमें व्यापकता बढ़ गयी है। छोटे परिवारसे लेकर विस्तृत राज्यतकका समुदाय समाजके अन्तर्गत आता है। समाजका विकास राष्ट्रतक हो चुका है। विकासके चरमोत्कर्षके अनन्तर हो सकता है कि समाजकी व्याप्ति ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ तक हो जाय। यहाँ समाजके अद्यावधि विकसित व्यापक अर्थपर ध्यान रखते हुए हमें गोस्वामीजीका मत देखना है। पहले उनकी आदर्श राज्यकी भावना और राजनीतिपर आइये। तुलसीदासके आदर्श राज्यका नाम रामराज्य है। प्रश्न उठता है कि यह केवल कल्पनालोककी वस्तु है या इसमें व्यावहारिकता भी है? समाज संघटनके जितने आदर्श कल्पित होते हैं वे सदा ज्योंके त्यों घटित नहीं होते। व्यवहारमें जितने सिद्धान्त या आदर्श आते हैं उन्हें अपना रूप बदलना पड़ता है। इस दृष्टिसे तुलसीदासजीकी कल्पना केवल कल्पना ही ठहरती है। पर जितने सिद्धान्त प्रस्तुत होते हैं वे किसी असत्को हटाकर किसी

सत्की स्थापनाकी ओर प्रवृत्त होते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर तुलसीदामकी उक्त कल्पना केवल कल्पना, कमने कम उनकी दृष्टिमें या उसी प्रकारके अन्य महात्माओंकी दृष्टिमें, नहीं ठहरेगी।

रामराज्यकी सर्वोपरि विशेषता थी प्रजामें पारस्परिक ऐक्य। ऐक्यके अभावमें वैरकी वृद्धि अनिवार्य है। वैरका जनक है वैषम्य। और राजतन्त्रमें वैषम्यका कारण होता है राजा। सम-दृष्टि-शून्य राजा प्रजाका पालन द्वैत भावसे करता है। तत्परिणामस्वरूप प्रजावर्गमें वैरकी अग्नि प्रज्वलित होती है। यदि राजा प्रतापी हो अर्थात् उपद्रवियोंको यथोचित दण्ड देनेवाला और शान्त सजनोंपर यथावश्यक प्रसाद करनेवाला हो तो विषमताका परिहार हो जाता है। रामराज्यमें—

‘बथरु न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई ।’

जहाँ विषमता नहीं वहाँ सुख और शान्तिका विकास होता ही है। प्रजा निर्भय, अशोक और नीरोग रहती है—

‘बरनास्रम निज-निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग’।

×

×

×

‘रामराज राजत सकल, धरम निरत नर-नारि।

राग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि’।’

प्रजा त्रयतापोंसे^१ अछूती थी, अल्प मृत्यु^२, रोग, दारिद्र्य^३ आदिके महादुःख भी उसके पास नहीं फटकते थे। रामराज्यमें इनका पूर्ण अभाव कहा गया है। राजा और प्रजाके लिए धर्म अर्थात् कर्तव्य-निष्ठता या आधुनिक पदावलीमें नियमबद्धता ही सर्वोपरि होनी चाहिये। रामराज्यमें यही था, इसीसे न कोई दीन था, न दुःखी-दारिद्र, न मूर्ख, न कुलक्षण। सभी निर्दम्भ, सदाचारी, धर्मप्राण, गुणज्ञ, कृतज्ञ, ज्ञानवान् और पण्डित थे। कपटने तो उन्हें छूआ भी न था^४। ‘यथा राजा तथा प्रजा’के अनुसार जब रामको प्रजा इस रूपमें देखती थी—

‘कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें। दान अनेक द्विजन्ह कहुँ दीन्हें ॥’

‘सुतिपथ पालक धर्म धुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर’ ॥’

तो उसकी अनुकृति भी करती थी। जहाँ एक-नारीव्रत राम राज्य करते थे वहाँकी प्रजा भी वैसी ही क्यों न हो—

‘एक नारिव्रत रत सब झारी। ते मन-बच-क्रम पति हितकारी’ ॥’

रामराज्यकी विशेषताओंका वयान करनेसे यह भ्रम न होना चाहिये कि तुलसीदासजी राजाके समर्थक और प्रजाके उपेक्षक थे। तत्त्वतः वे उस समयके शासनको प्रजाके लिए अत्यन्त उद्वेजक न होते हुए भी आदर्श और लाभकर नहीं समझते थे। यह कहनेकी आवश्यकता अब नहीं रह गयी कि तुलसीदासजीनेसहृदयों और जनसमाजके समक्ष रामचरित सुधार संस्कारके लिए ही प्रस्तुत किया था। यह तथ्य इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकारके समर्थनकी अपेक्षा नहीं रखता। ‘विनयपत्रिका’में उन्होंने रामके समक्ष जो अपनी अर्जी पेश

१. ‘मानस’, उ० १९.८। २. वही, उ० २०.१। ३. ‘दोहावली’, दो० १८२। ४. ‘मानस’, उ० २०-१। ५, ६. वही, उ० २०.५, ६। ७. वही, उ० २०.६-८, २०.५। ८. ‘मानस’, उ० २३.१, २। ९. वही, उ० २१.८।

क्री है, जिसमें कलियुगके द्वारा उत्पन्न कष्टोंके निवारणकी प्रार्थना की गयी है, वह उनकी व्यक्तिगत बात नहीं है। तुलसीदास लोक-हृदय महात्मा थे, प्रजाके प्रतिनिधिके रूपमें उसमें फैले हुए अविचार और उसको होनेवाले कष्टोंको लक्ष्य कर उन्होंने यह मंत्रिधानक रखा है। मानसमें कलियुगदर्शन यद्यपि श्रीमद्भागवतसे लेकर ही अधिकतर रखा गया है, पर उसके वर्णनमें उनका सामयिक प्रयोजन है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है, उस सन्तका नवनीत हृदय प्रजाके तापसे द्रवीभूत हो रहा था। वे प्रजाके उत्थान और कष्ट-निवारणकी कामनासे ओत प्रोत थे और चाहते थे कि यह शीघ्रसे शीघ्र सम्पन्न हो।

प्रश्न होता है कि तुलसीदास राजकवि थे या लोककवि? इसके निर्णयमें कोई कटिनाई नहीं। संस्कृतके प्राचीन कवि वाल्मीकि, व्यास आदिने लोककविके रूपमें कार्य किया था, पर आगे चलकर संस्कृतका अधिकतर काव्य-वाङ्मय राजदरबारोंसे सम्बद्ध हो गया। कवियोंमें राज्य-प्रशस्तिके साथ राजाओं के लिए चमत्कारपूर्ण काव्यनिर्माणकी घोर प्रवृत्ति जगी। इसीसे संस्कृतका पिछले काँटेका काव्य भाव-भरित न रहकर कल्पनाकी कोरी उड़ानोंसे भर गया। कहनेको तो हिन्दी-साहित्यका उद्भव या आरम्भ राज-दरबारोंसे होता है, पर विचार करनेपर दिखाई देगा कि हिन्दी-साहित्यका उद्भव वस्तुतः भक्तिकालसे ही होता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसीमेसे कौन दरबारी था? हाँ, केशवदासजी पुरानी परम्परा दो रहे थे और उन्होंने आगेके रीतिकालीन दरबारी कवियोंके लिए मार्ग भी चौड़ा कर दिया था, पर लोक-हृदय कवियोंका आन्तरिक प्रवाह इतना वेगमय था कि आधुनिक युगका उदय होते ही हिन्दी-साहित्यने दरबार से मानों सदाके लिए अपना पीछा छुड़ा लिया। अस्तु, तुलसीदासको रामराज्यकी कल्पनाके कारण राज-कवि नहीं कहा जा सकता।

तुलसीदासजी रामराज्यकी चर्चा दो दृष्टियोंसे करते हैं। एक ओर तो वे राजन्यवर्गको सचेत करते हैं कि राज्य वही टिकनेवाला हो सकता है जो प्रजा-सम्मत हो। दूसरे वे प्रजाको भी चेतावनी देते हैं कि उसे ऐसे ही आदर्श राज्यके लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। भारतीय समाजमें अन्याय और अत्याचारके प्रति जो विद्रोहात्मक प्रवृत्ति जगी उस जागृतिमें तुलसीदासका बहुत अधिक हाथ है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। तुलसीदासकी कृतियोंके द्वारा समाजमें जिस भावनाका प्रसार हुआ और उनके उद्योगसे जनतामें जिस बल-वीर्यका संवर्धन हुआ वह इतिहासके पन्नोंमें छिपा पड़ा है। हनुमत्पूजाके प्रसारका आयोजन करके, हनुमन्मंदिरोंकी स्थापना करके और रामलीलाकी व्यवस्था बाँधकर उन्होंने प्रजाका हित साधन करनेमें कुछ उठा नहीं रखा। समर्थ गुरु रामदासने, जिनकी शिक्षा-दीक्षासे छत्रपति शिवाजी प्रभावित हुए और जिन्होंने भारतीय समाजकी परतन्त्रताकी बेड़ी काटनेका अप्रतिम उद्योग किया-कराया, दक्षिणापथके ग्राम ग्राममें मारुति-मन्दिरकी स्थापना करके महात्मा तुलसीदासका अनुगमन किया है, इसे इतिहास-प्रेमियों और अनु-सन्धायकोंको देखने, समझने और इसकी छान-बीन करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये।

तुलसीदास प्रजाके कितने बड़े हिमायती थे, यह देखनेके लिए प्रजाके लिए कहे गये उनके कुछ विचारोंका आलोड़न-मन्थन सुतराम अनिवार्य है। राम ऐसे आदर्श राजाको भी प्रजाकी आलोचनाका सम्मान क्यों करना पड़ता है? इसलिए कि तत्कालीन नरेश प्रजाकी वैसी चिन्ता नहीं करते थे जितनी उन्हें करनी चाहिये थी। यदि तुलसीदासजी सामन्तवादी मनोवृत्तिके होते, जैसा कुछ लोगोंको भ्रम हुआ है, तो वे प्रजा-पक्षका वैसा समर्थन न करते जैसा उन्होंने किया है। रामने स्पष्ट कहा है कि प्रजा यदि मेरे दूषण देखे तो मुझे वर्जित करे—

‘नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई, सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई ॥

...

...

..

जों अनीति कछु भाखउँ भाई । तौ मोहि बरजेउ भय बिसराई^१ ॥’

यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजी राज्यका स्वामित्व प्रजाका मानते थे। उस युगमें इस प्रकारकी सामान्यतया कल्पना करना यदि असम्भव नहीं तो असाधारण अवश्य था। राज्यका अधिकारी तुलसीदासकी दृष्टिमें राजा ही था, जैसे उम समय यदि सवकी नहीं तो अधिकतर व्यक्तियोंकी दृष्टिमें था। पर यह अवश्य और बेखटकके कहा जा सकता है कि तुलसीदास प्रजा-सम्मत शासन ही मानते थे। उनकी दृष्टिमें ‘नृपनय’के साथ ‘साधुमत’ और ‘लोकमत’ दोनोंकी मान्यता अपेक्षित थी। राजकीय व्यवहार कोरी राजनीतिसे नहीं चल सकता। उसमें साधुमत अर्थात् व्यक्तिगत उच्चादर्श और लोकमत या जनमतका मेल अनिवार्य है—

‘करिय साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरिं ।’

यह अवश्य है कि तुलसीदासजी प्राचीन शास्त्रोंके माननेवाले थे, वे ‘निगम-मत’ छोड़कर चलने वाले न थे। ‘तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते’ को वे पूर्णतया मानते थे, पर लोकमतकी अवहेलना न वे करनेकी सोच सकते थे और न उन्होंने ऐसा कहीं कहा ही है।

कई विद्वानोंका मत है कि तुलसीदासजी राज-व्यवहार, उसके नियम, कायदे कानूनसे अपरिचित थे। केशवदामजीने जितना दरबारी शिक्षाचार (एटीकेट) का ध्यान रखा है उतना उन्होंने नहीं। इसके क्या कारण थे, उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है, पर यह खुल्लमखुल्ला कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रजा-पक्षका ध्यान कहीं भी नहीं छोड़ा है। उन्होंने साधारण जनताके हृदयके दर्शन करानेके अवसरपर अपनी पूरी सहृदयताका प्रदर्शन किया है। रामके वनवामके अवसरपर ग्रामके नर-नारियोंकी ओर उनकी जैसी दृष्टि गयी है वैसी न तो तुलसीके पूर्व किसी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या भाषाके कविकी गयी और न उनके किसी उत्तरवर्तीने ही रामचरित काव्यका निर्माण करते हुए वैसा अभिनिवेशपूर्वक उसका वर्णन या उल्लेख किया। यह निरर्थक अथवा वर्णनप्रियताके कारण नहीं है। यदि ग्राम-नर नारी रामभक्तके रूपमें पहलेसे ही प्रसिद्ध होते तो भी कहा जा सकता था कि भक्त कविका यह केवल पक्षपात है। पर अपरिचित ग्रामीणोंमें, विशेषतया नारियोंमें जिस मानव-सामान्य-भावनाका उदय कविने कराया है वह उसके प्रजा-प्रातिनिध्यका प्रमाण है।

राजा-प्रजाका सम्बन्ध

अब विचार करना चाहिये कि राजा-प्रजाका सम्बन्ध कैसा हो। ‘प्रजा’ शब्दका अर्थ सन्तति होता है। तुलसीदास जी प्रजाके प्रति राजाकी वात्सल्य-भावनाको ही ठीक समझते हैं। वात्सल्यकी भावनामें स्वामित्वका दम्भ और अहंकार आपसे आप लीन हो जाते हैं। राजाके लिए प्रजा प्रिय है। राजाको उसका प्रेमी होना चाहिये। राजा भी प्रजाके लिए प्रिय हो, यह उसके कर्माँ और व्यवहारपर आश्रित है। दूसरे शब्दोंमें तुलसीकी दृष्टिमें राजाके लिए प्रजाका ‘प्रियत्व’ स्वाभाविक, प्राकृतिक होना चाहिये। प्रजामें भी राजाका ‘प्रियत्व’ जगे इसके लिए राजाको ही प्रयत्नशील होना चाहिये। इसीके लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर राजाको सचेत और सावधान किया है। इस स्पष्टीकरणसे तुलसीदासजीकी राजा और प्रजाके सन्निकृष्ट सम्बन्धकी धारणाका ठीक-ठीक पता चल जाता है।

अब रहा यह कि राजा किस प्रकारके आचरणसे प्रजाका ‘प्रियत्व’ प्राप्त कर सकता है। इसके लिए अनेक नीतिवाक्य उन्होंने ‘दोहावली’में दिये हैं। राजाकी समता जब पितासे है तो उसके साथ ही उसमें

प्रजाके लिए पालकत्वका गुण भी होना चाहिये। यों तो राजाको सबके लिए समदर्शी होना चाहिये, पर उसके लिए समान वितरण आवश्यक नहीं है। वह मुखिया है और मुखकी भाँति सब-कुछ ग्रहण करके भी वितरण अंगोंकी आवश्यकता और उपयोगिताकी दृष्टिसे ही करता है—

‘मुखिया मुख सों चाहिये खान-पानको एक।

पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक’ ॥’

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजामें पितृत्व ही उन्हें मान्य है, मातृत्व नहीं। माता सन्ततिके लिए अविवेकसे भी काम ले सकती है, पर पिता, जैसी उसके गुण-धर्मकी भारतीय भावना है, विवेकसे काम लेनेवाला है। तुलसीदासजी हृदयके साथ विवेकको भी इसीसे मान्य ठहराते हैं।

रहा यह कि राजा प्रजासे ‘खान पानको एक’ की दृष्टिसे कैसे आवश्यक सामग्रीका चयन करे। इसके लिए उनकी सम्मति बहुत ही स्पष्ट, उपयोगी और आधुनिक राजनीतिक मान्यताओंकी संवादिनी दिखाई देती है। वे कहते हैं कि राजा करका ग्रहण ऐसे उपाय और दगसे करे कि प्रजाको पता ही न चले कि किस प्रकार उसने कर लिया—जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे जल खींचता है, पर कोई यह नहीं लक्षित कर पाता कि जल कैसे आकाशमें चला गया, पर जब वही जल वृष्टि बनकर फिर लौटता है तो सभी को वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। किसी राजनीतिके विशेषज्ञको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि साम्प्रतिक राजनीति भी प्रत्यक्ष कर (डाइरेक्ट टैक्सेशन) को अच्छा नहीं मानती। तुलसीदासजी कहते हैं—

‘वरसत हरषत लोग सब करषत लखै न कोय।

तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु-सो होय’ ॥’

राजनीतिविषयक विभिन्न अंगोंसे सम्बद्ध गोस्वामीजीकी नीतिका विस्तृत परिचय देना और अनावश्यक विस्तारसे प्रबन्धको स्थूलकाय बनाना प्रयोजनीय नहीं। उसके लिए संकेतित स्थल दर्शनीय हैं^१। निष्कर्षरूपमें इतना ही कहना है कि तुलसीदासजीमें राजनीति-सम्बन्धी दृष्टि दो प्रकारकी है, एक तो पारम्परिक या परकीय और दूसरी स्वतन्त्र या स्वकीय। पारम्परिक दृष्टिसे वे मनु महाराजकी ही भाँति राजाको ईश्वरका अंश और मान्य मानते आ रहे थे^२ पर स्वतन्त्र दृष्टिसे वे राजाके प्रजासम्मत पथके ही अनुगामी थे। यहाँतक कि समयके अच्छे और बुरे होनेका हेतु उन्होंने राजाको माना है—

‘जथा अमल पावन पवन पाइ कुसंग सुसंग।

कहिय सुवास कुवास तिमि काल महीप प्रसंग’ ॥’

१. ‘मानस’, अयो० ३१४. ‘दोहावली’, दो० ५२२। २. ‘दोहावली’, दो० ५०८; यही भाव कालिदासने यों दिखाया है—‘प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्नहीत्। सहस्रगुणमुत्तमपुत्रमायत्ते हि रसं रविः॥’ ३. राजसद-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : ‘मानस’ अयो० ५९८; २२६८; २२७१; २२९६, ७। उत्तम राजप्रकृति-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : वही, बा० २७.५-१० अयो०, ३१४; ‘दोहावली’ दो० ५०७, ५१६; ५२२; ५३०। राजकर्मचारी-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : ‘दोहावली’, दो० ५१७; ५२१; ५२५। स्वत्संग्रह-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : वही, दो० ५०९-५१०; ५११। गोपन एवं अन्य नीति-सम्बन्धी विचारोंके लिए देखिये : ‘मानस’, अयो० ३१४.१; अरण्य० २०.८, १०, ११, १८.१४; बा० १७०; लं० ५.५; २३; २७.१०; उ० ११.६। ४. ‘साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला’ ‘मानस’, बा० २७.८। उधर मनुका कथन है : ‘महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति’ ‘मनुस्मृति’ ७.८। ५. ‘दोहावली’, दो० ५०५।

कहनेको तो कोई कह सकता है कि युगधर्मके अनुसार राज्यकी स्थिति हुआ करती है, पर तुलसीदासके मतसे इसका कारण राजा अर्थात् शासन ही है। शासनके 'सुत्व'का हेतु उसकी सुनीति और 'कुत्व' का हेतु कुनीति ही है।

आधुनिक शब्दावलीमें तुलसीदासजी 'क्रान्तिकारी' तो नहीं कहे जा सकते; पर उन्होंने जो कार्य किया और जिस प्रकारका मत अभिव्यक्त किया उसने परिणाम वही उत्पन्न किया जो क्रान्तिका होता है या कमसे कम माना जाता है। यदि राजा बुराई करे, प्रजाका ठीक पालन न करे तो अपने समयके अनुरूप तुलसीदास उसे तीन प्रकारकी धमकी दे सकते थे। एक तो यह कि लोकमें अयश^१ होगा, दूसरे यह कि विनाश^२ हो जायगा और तीसरे यह कि परलोकमें हानि होगी।^३ लोक और परलोकका लोभ या भय दिखाना ही उस समय सम्भव था। साम्प्रति क्रान्तिकी बात उस समयका कवि सोच ही कैसे सकता था ? पर इस प्रकारके शान्तिआन्दोलनका परिणाम वही हुआ। तुलसीदासने धनुषधारी और दशकन्धविनाशी रामका जो स्वरूप अंकित किया उससे प्रजाके हृदयमें सन्तोष और शरीरमें स्फूर्ति तथा मस्तिष्कमें स्वाधिकारका विचार भर दिया।

संक्षेपमें तुलसीदासजी तत्कालीन कुनीतिपूर्ण शासनकी तुलना रावण-राज्यसे करते थे। उनके प्रतिपक्षमें ही वे रामराज्य चाहते थे। इस रामराज्यमें प्रजा प्राणोंसे बढ़कर प्रिय होती थी, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। अन्तमें यही कहा जा सकता है कि वे अपने समयतक विकसित भावनाके अनुसार एकतन्त्र-शासन-प्रणालीको ही मानते-जानते थे, पर चाहते थे प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली। राजाकी निरंकुशताका समर्थन तो कोई भी नहीं कर सकता। तुलसीदासजी तो ऐसे राजाको भी तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं जो प्रजाको प्राणप्रिय नहीं समझता। इसलिए गोस्वामीजी प्रजा-पक्षके ही समर्थक सिद्ध होते हैं। यदि मध्यकाल में उनका आविर्भाव न हुआ होता तो वे रामराज्यका स्वरूप अवश्य सामने रखते, पर प्रजा-राज्यकी ही चर्चा करते। दूसरे शब्दोंमें उनका रामराज्य प्रजाराज्य ही है। यह वही प्रजाराज्य है जिसकी उद्भावनता महर्षि वाल्मीकिने की थी, जिस राज्यमें भोबीकी बात सुनी गयी और अपनी निर्दोष पत्नीका परित्याग किया गया। भवभूतिके शब्दोंमें रामराज्य लोकाराधन है। तुलसीदासजी लोकाराधन ही चाहते थे। सगुणोपासक भक्त अपने उपास्यकी विभूति लोकमें ही देखता है। उसके लिए जग सियाराममय है। इसीलिए वह किसी व्यक्तिका आराधना, वि सी-रईसका आराधना कर ही नहीं सकता। वह लोकसमष्टिका उपासक होता है, व्यष्टिका नहीं। अतः तुलसीदासको जो लोग सामन्तवादी कहते या समझते हैं उनकी बुद्धि वादग्रस्त या बातग्रस्त है।

प्राचीन वर्णाश्रम धर्मकी प्रतिष्ठा

समाजके राजगत व्यापक संघटन और राजनीतिक मान्यताकी चर्चा करनेके उपरान्त अब गोस्वामीजीके व्यवहारगत सामाजिक संघटन और उसकी मान्यताका विचार करना चाहिये। सबसे प्रथम यह कह देना आवश्यक है कि वेदशास्त्रानुमोदित मार्गका अवलम्बन करना-कराना ही तुलसीदास क्या समस्त भक्ति-सम्प्रदायका स्वरूप है। ऐसा क्यों हुआ और उसमें केवल प्रतिगामिता ही नहीं है, आदि

१. दे० 'मानस', अथो० १७०.४ 'सोचिय नृपति नीति नहीं जाना, जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।'

२. दे० 'दोहावली', दो० ४१६। 'राज करत बिन काज हीं करैं कुचालि कुसाज। तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज ॥' ३. दे० 'मानस', अथो० ७०.६ 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥'

वातोंका खण्डन मण्डन प्रस्तुत निबन्धका लक्ष्य नहीं, पर इतना कह देना आवश्यक है कि भारतमें जिन-जिन सुधारवादी या गतिशील आन्दोलनोंका उदय हुआ उनका समावेश आवश्यक परिवर्तनके साथ कर लेने-की प्रवृत्ति निरन्तर जगती आती है। प्राचीन युगमें, कमसे कम हमारे कविके समयमें, किसी सुधार-संस्कार या परिवर्तनका ग्रहण समस्त या अधिकांश भारतीय समाजको तभी मान्य हो सकता था जब वह श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रानुमोदित हो। इसलिए जो भी आन्दोलन, विशेषतया भक्तिका जो आन्दोलन फिरसे खड़ा हुआ उसके लिए भी श्रुति-स्मृतिका सहारा आवश्यक क्या, अनिवार्य था। बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ, निर्गुनिये आदि जिस परिष्कारके अभिलाषी थे उसीको श्रुतिसम्मतपथमें ले आना भक्ति-सम्प्रदायका आन्तरिक उद्देश्य था, इसे समझ लेनेसे भक्ति-सम्प्रदाय और उसके अन्तर्गत चलनेवाले मत-मतान्तरोंके वास्तविक रूपका पता चल जाता है। कबीर आदि निर्गुनिये जो आन्दोलन कर रहे थे उसमें जाति-पाँतिका त्याग आवश्यक था, सबकी समानता उनको मान्य थी। पर इसके साथ ही वे यह भी कहते थे कि प्रेम अर्थात् भक्तिके लिए ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। कबीरने स्पष्ट कह दिया है कि—

‘पोथी पढ़ि-पढ़ि जग सुआ पंडित हुआ न कोय।

ढाई आखर प्रेमका पढ़ै तो पंडित होय॥’

भारतीय भक्ति-मार्ग ज्ञानका विरोधी नहीं है, पर वह ज्ञान अर्थात् कोरे ज्ञानको पर्याप्त नहीं समझता। गोस्वामीजीने ऐसे कोरे ज्ञान को ‘वाक्यज्ञान’ कहा है। ‘वाक्यज्ञान’से वस्तुतः संसारका रहस्य जान लेना सम्भव नहीं। सच पृच्छिये तो तुलसीदासजी क्या और सूरदासजी क्या, जितने भी भक्त-सम्प्रदाय-के कवि हुए हैं उन्होंने निर्गुनियोंका विरोध इसीलिए किया है, अन्यथा सुधारकी बातें उन्हें भी मान्य थी। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि कबीर आदि सन्त फकीर जाति-पाँतिकी व्यवस्था हटाकर जिस सर्वमान्य मार्गका या प्रवृत्तिका उद्बोधन करना चाहते थे वही प्रवृत्ति इन सगुणोपासक भक्तोंकी भी थी; पर वे ‘क्रान्तिकारी’ नहीं थे। वर्णव्यवस्थाका उन्मूलन करनेसे ये लोग कोई लाभ नहीं समझते थे, पर समानाधिकार इन्हें भी मान्य था। वह समानाधिकार भक्तिके क्षेत्रमें सबको मिल सकता था। भक्त होनेपर श्वपच किसी जन्मना ब्राह्मणसे किसी प्रकार नीचा नहीं रह जाता; प्रत्युत यदि ब्राह्मण भक्त नहीं है तो डोम भक्तिके कारण उससे ऊँचा भी माना जाता है।^१ वस्तुतः भक्ति हृदयका व्यापार है। जो समानता केवल बुद्धिसे स्थापित होती है वह चिरस्थायी और शाश्वत नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा, हृदयके द्वारा पुष्ट समानता चिरस्थायिनी होती है। कोरे पुराणपन्थियोंसे भक्तिमार्गियोंको भिन्न समझना चाहिये। ठीक इसी प्रकार भक्ति-मार्गियोंको ज्ञान-पन्थियों या निर्गुनियोंसे भी भिन्न मानना चाहिये। गोस्वामीजी वस्तुतः समन्वयवादी वृत्तिके थे। वे ‘पुराण’ और ‘नवीन’ दोनोंका समुचित संघटन और संयोग करनेवाले थे, न वे पुराणवादी थे, न नवीनवादी। उन्हें पारस्परिक रूपमें वर्णव्यवस्था मान्य थी, पर वे उसके कट्टर समर्थक न थे। वे भक्तिके साथ ज्ञान और कर्मको भी मानते थे। पर इस त्रयीमें ज्ञान और कर्म गौण थे। ज्ञानकी मान्यताके कारण वे वेदका तिरस्कार नहीं करते थे और कर्मकी मान्यताके कारण वर्णव्यवस्थाको भी मानते थे। समाजकी मर्यादा तोड़कर कोई नया पन्थ वे नहीं चलाना चाहते थे, इसीसे उन्होंने वर्ण-व्यवस्थाका प्रत्यक्ष खण्डन नहीं किया। ‘मानस’में पात्रोंके द्वारा उन्होंने वर्णाश्रम धर्मका समर्थन इसीसे कराया। अन्य ग्रन्थोंमें उन्होंने भक्तिको ही सर्वोपरि रखकर मर्यादाके विरुद्ध बातें कहनेका साहस भी किया।

१. देखिये तुलसीकी यह उक्ति : ‘तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन दिन राम। ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम।’ वैरा० सं०, दो० ३८।

जैसा वे 'विनयपत्रिका' में कहते हैं—

‘जाके प्रिय न राम वैदेही ।

सो त्यागिये कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥’

जिस युग में गोस्वामीजी हुए थे उस युग में लोक के अधिकांश को ध्यान में रखकर अर्थात् बहुजनहित को लक्ष्य करके कोई परम्परा-प्रेमी उसके अतिरिक्त कोई दूसरी कल्पना कर ही नहीं सकता था जैसी कल्पना उन्होंने की। सामाजिक दृष्टि से उस समय इतना अधिक विकास या गतिशीलता जनता में नहीं आ पायी थी जिसकी ओर निर्गुनिये सन्त उसे ले जाना चाहते थे। कोई कहना चाहे तो कह सकता है कि निर्गुनिये सन्तों का पक्ष वस्तुतः दलित वर्ग का पक्ष था और सगुणोपासकों का पक्ष समस्त समाज से बहुमत का पक्ष। जो भी हो, समाज किस प्रकार चलता रहे और उसमें सहसा उपप्लव होकर विनाशकी स्थिति न उत्पन्न हो, इसीलिए तुलसीदासजीने प्राचीन वर्णाश्रमव्यवस्था का समर्थन किया था। उनमें ऐसा समर्थन कहीं-कहीं उस सीमा तक पहुँच गया है जो भोंड़ा, साथ ही खटकनेवाला भी प्रतीत होता है, इसमें सन्देह नहीं।

वर्णाश्रमव्यवस्था का मूल और सिद्धान्त तो उन लोगों को भी मान्य है जो उसके विरोधी हैं, पर कठिनाई यह उपस्थित होती है कि वर्ण-भेद को जन्मना माना जाय या कर्मणा? जन्मना मानने से उसके ‘गुण-कर्मविभाग’ का आगे चलकर लोप हो जाता है, सबको समान अधिकार और अवसरकी स्थिति नहीं रह जाती। कर्मणा मानने से उसका परिष्कार समय-समय पर अपेक्षित होता है। तत्त्वतः वर्णव्यवस्था न तो केवल जन्मना ही मान्य हो सकती है और न केवल कर्मणा ही। दोनों का किसी प्रकार समन्वय ही उसकी उपयोगिता सिद्ध कर सकता है। गोस्वामीजी एक प्रकार से समन्वयकी यही स्थिति लाना चाहते थे। ‘जन्मना’ की बात तो वे परम्परा के अनुसार ही स्वीकार कर लेते हैं, पर ‘कर्मणा’ के लिए उस व्यवस्था के गुण-कर्म का नियोजन करके भक्तिका विनियोजन करते हैं। भक्तिका यह विनियोग समाजकी दृष्टि से ही उन्होंने किया था। वे भक्तिको सामाजिक भूमिका पर ले आना चाहते थे। केवल व्यक्तिगत साधन के लिए उनकी भक्ति नहीं है और न वह केवल लोकसाधना के ही लिए है। यह दोनों का योग है। वे चाहते ही हैं—

‘तुलसी घर-बन बीच ही राम-प्रेम पुर छाई’^१

इसीलिए वर्णव्यवस्था-सम्बन्धी उनकी उक्तियों को अर्थवादकी दृष्टि से देखना चाहिये, शब्दवादकी दृष्टि से नहीं।

तुलसीदासजीने ब्राह्मणोंकी बड़ी प्रशंसाकी है, उनके माहात्म्यका बार-बार उल्लेख किया है^२ इतना लिखा है और ऐसे लिखा है कि यदि कोई उन्हें पण्डे-पुजारियोंका वकील कह बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। पर ऐसी बात है नहीं। यथार्थतः वे ब्राह्मणत्वका आदर्श ऊँचा समझते थे, उनके त्याग और

१. वर्णाश्रमव्यवस्थाकी प्राचीनता के संकेत के लिए देखिये—ऋग्वेद १०:९०:१२—१३। यजुर्वेद २१:११—१२। अथर्व० १६:६:६—७। ‘गीता’ ४:१३। ‘भागवत’ २:५:३७। इनके अतिरिक्त ‘मनु-स्मृति’ आदि ग्रन्थोंमें तो वर्णाश्रम धर्मकी विशद व्यवस्था है ही। २. ‘दोहावली’, दो० २५६। ३. उनके ऐसे विचारोंके लिए देखिये : ‘मानस’ अरण्य० ३३. १, २; उ०, ४४.७, ८; १०८. १३, १४; किष्कि०, १६.८; बा० १६४. ३, ६; १. ३; १४; अयो०, १२७. ३; ३.२१. ३. ४; उ०, ८५.५।

उनकी तपन्याको ही उपयुक्त समझते थे, परोपकार ही उनका लक्ष्य मानते थे। ब्राह्मणोंके पतनपर उन्हें घोर क्षोभ है, तो भी इस विषयपर उनके कुछ कथन असमर्थनीय हो जाते हैं तथा कहीं-कहीं शूद्रोंकी निन्दा भी इसी क्रोष्टिमें आ जाती है।

ध्वत्रिय और वैश्यके लिए भी लोकोपकारवाली ही दृष्टिसे उन्होंने विचार किया है, जातिगत विचार वहाँ नहीं है,। अर्थात् जैसे शूद्रके सम्यन्धोंमें है वैसे ध्वत्रिय और वैश्यके सम्यन्धमें नहीं कि ब्राह्मणको प्रणाम न करनेवाला या ब्राह्मणको मान न देनेवाला ध्वत्रिय या वैश्य मान्य नहीं है। 'विनयपत्रिका'में उन्होंने जिस 'हेतुवाद'की चर्चाकी है वह सुखर शूद्रोंसे सम्यन्ध रखनेवाला है।

अब आश्रमपर आइये। तुलसीदासजीने आश्रमोंमेंसे गृहस्थाश्रमपर ही विशेष दृष्टि दी है। है भी वह ज्येष्ठ आश्रम। हमारे कविने 'मानस' तथा अपने अन्य काव्योंका निर्माण जीवनके लिए, चलित जीवनके लिए ही किया है और भारतीय 'समाज'में मुख्य है 'गृहस्थी'—परिवार। जो व्यक्ति परिवारके लिए कुछ दे सके, उसकी मानसिक बुभुक्षाकी शान्ति कर सके, वह बहुत-कुछ कर चुका। गोस्वामीजीने पातिव्रतपर बहुत-कुछ लिखा है। गृहस्थी कैसे चले, इसका ध्यान उन्हें बराबर है। अनुसूयाने सीताको जो पातिव्रतकी शिक्षा दी है वह भारतीय समाजकी पारम्परिक स्थितिका ध्यान रखकर कविके द्वारा कहलायी गयी उक्ति है। तुलसीदास हमारे चलित जीवनके संस्कार-सुधार, देख भालका इतना अधिक ध्यान रखते हैं और उसके लिए 'मानस'में उन्होंने इतने अधिक स्थलोंपर नीति-विषयक उक्तियोंकी योजनाकी है कि 'मानस' काव्यग्रन्थके बदले स्मृति ग्रन्थ सा जान पड़ने लगता है। उनके कालमें उपदेशात्मक तत्त्व-(डाइडैक्टिक एलिमेण्ट)का प्राधान्य इसीसे है। सन्त और असन्तके लक्षण बार-बार आए हैं। जैसे केशवदासजी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करनेके लिए 'रामचन्द्रिका'में शास्त्रीय प्रमाणों और नीतिवाक्योंका सन्निवेश करते हैं वैसे ही तुलसीदास भी करते हैं, पर वे पाण्डित्य-प्रदर्शनकी दृष्टिसे ऐसा न करके समाजके उपकारार्थ करते हैं। पहलेमें आत्मपक्ष प्रधान है, दूसरेमें विश्वात्म-पक्ष। सूरदासको इसकी चिन्ता नहीं कि श्रृंगारी काव्यका समाजपर क्या प्रभाव पड़ेगा, पर तुलसीदासको इसकी चिन्ता निरन्तर है। भक्तिकालके अनन्तर रीतिकालमें सूरदासका अनुगमन विशेष हुआ, तुलसीदासका एकदम नहीं या बहुत कम। उसका कारण स्पष्ट है। सूरदासने समाजकी चिन्तामें धुल-धुलकर 'सूरसागर'का प्रणयन नहीं किया। उसमें काव्यतत्त्व उपदेशात्मक तत्त्वोंसे दबा नहीं, पर तुलसीदासजीके काव्यतत्त्वपर समाजतत्त्वका रंग खूब चढ़ा। परिणाम भी यह हुआ कि रीतिकालके कवियोंने सूरदासको माना, तुलसीको नहीं, पर समाजमें सूरदासका उतना प्रसार नहीं हुआ जितना तुलसीदासका। कहीं 'सूरसागर'न हो, पर 'मानस' आपको मिल जायगा। भारतीय परिवारोंके आदर्शोंकी, शील-शिष्टाचारकी स्थापनाकी गोस्वामीजीने बहुत चिन्ताकी है। भरतके चरित्रको केवल परमभक्तके चरित्रका आदर्श न मानना चाहिये। तुलसीदासजी भारतीय समाज, परिवारमें भ्रातृत्वका वही आदर्श चाहते हैं जो उन्होंने 'मानस'में दिखाया है।

पारिवारिक जीवनका आदर्श

भारतीय समाज और उसके अंग परिवारमें क्या विकार आ गया था, इसकी चर्चा 'विनयपत्रिका'के पदों तथा कलियुग-प्रसंगमें उन्होंनेकी है। उसका स्वरूप क्या होना चाहिये, इसे 'मानस'के राम परिवारमें सिद्धान्त-रूपसे उन्होंने कहा ही नहीं, व्यावहारिक रूपमें दिखा भी दिया है। तुलसीदासजी उसी भारतीय परम्पराके अनुगामी या अपने समयके अनुरूप उसीके समर्थक हो सकते थे जिसको आजकलकी विलायती

तीय सोपान हैं। गोस्वामीजी इसे ही मानते थे, वह आज बुरा हो या बुरा सिद्ध हो, यह दूसरी बात है। तात्पर्य यह कि लोकान्मुख प्रवृत्ति ही उनकी प्रवृत्ति है। व्यक्ति-साधना और जागतिक व्यवहारमें उन्होंने अन्तर किया है। विमाताके प्रति, जो प्रायः ईर्ष्या बुद्धिसे ही देखनेवाली होती है, मातृवत् व्यवहार उन्होंने इस जागतिक पारस्परिक भारतीय वृत्तिके अनुरूप रखा और दिखाया है। गोस्वामीजीने कैकेयीको बचानेके लिए 'गिरा'का प्रयोग करके उसकी कार्यवाही से उसे तटस्थ-सा कर दिया है तथा चित्रकूटमें उसका घोर पश्चात्ताप दिखाकर उसकी शालीनता प्रकट की है।

दास-दासी भी परिवारके अंग हैं और तुलसीदासजीने सेवक-सेव्यभावकी भक्ति-पथमें महत्ता भी स्वीकार की है। यही कारण है कि उन्होंने सेवकके गुण धर्मोंका उल्लेख और सेवकों के कर्तव्य-पालनका वर्णन अत्यन्त मनोभिनिवेशपूर्वक किया है। भक्ति के जितने सम्प्रदाय खड़े हुए उनमें सेवक या दास्य भाव अनिवार्य रूपसे रहता है। जो सख्य, वात्सल्य और कान्त-भावसे उपासना करते हैं उनमें भी शान्त और दास्य भाव रहते हैं, इसलिए दास्य भक्ति-क्षेत्रका प्रधान भाव, सवमें अनुस्यूत भाव है। अतः परिवारके इस अंगके वर्णनमें विशेष अभिनिवेश भक्तके लिये स्वाभाविक है। भारतीय व्यवहार-परम्परामें जातिगत, स्थितिगत भेदोंको मानते हुए भी दासोंके प्रति पारिवारिक सम्बन्ध जोड़नेकी और उसका निर्वाह करनेकी प्रथा है। हमारे कविने इसी पारिवारिक भाव-प्रधान सम्बन्धको आदर्श माना है। मन्थरासे कैकेयीका सम्बन्ध इसी प्रकारका लक्षित कराया गया है। कैकेयी जब मन्थरापर विगड़ती है और इस सम्बन्धका अतिरेक करके उसे सचमुच नीची श्रेणीका मानकर उसके साथ वैसा ही शब्द व्यवहार करने लगती है तो वह व्यथित होकर अपनी वास्तविक स्थितिके ज्ञानकी स्वीकृति कैकेयीके सामने यों करती है—

‘कोउ नृप होइ हमहि का हानी । चेरि छाँड़ि अब होव कि रानी ।’

मन्थरा यही कह रही है कि आजतक तो समानताका भाव बरता गया पर अब उसकी समाप्ति हो गयी। मैं दासी हूँ, आपकी बराबरी मुझे न मिल सकेगी। भरत भी राजा हो जायेंगे तो आपके आजके व्यवहारसे निश्चय हो गया कि आपके यहाँ भी मुझे वह समानताका मान, जो आजतक प्राप्त था, न मिल सकेगा। अन्तमें कैकेयीको अपनी भूल ज्ञात हुई कि रोषमें मैंने इसके साथ इस आरोपिक सम्बन्धके निर्वाहका भी ध्यान त्याग दिया। यह कह देनेमें कोई आपत्ति नहीं कि रोमी 'स्लेवों'की भाँति भारतीय दास स्वामीके अस्थावर रिक्थ नहीं थे। संक्षेपमें, उन्हें जड़ नहीं, चेतन प्राणी माना जाता था और उनके साथ अपने रक्त-मांसके लोगोंकी-सी आत्मीयता बरती जाती थी और तुलसीदास इसी आदर्शको माननेवाले थे।

दासोंकी तो कथा ही छोड़िये, पशु-पक्षियोंके साथ भी इसी आत्मीयताका परिचय दिया जाता था और वे भी इसे समझते तथा ऐसा ही व्यवहार करते थे। हमारे कविने पूरी मार्मिकताके साथ इसका उल्लेख किया है। पशुओंके मनोविज्ञानकी चर्चा करके उसके निरीक्षणकी प्रशंसा करनेका यह स्थल नहीं। यहाँ तो केवल पारिवारिक सम्बन्धका वर्ताव दिखानामात्र प्रयोजन है। शुक और सारिकाके संवादमें तुलसी-दासने 'गीतावली'में इसकी चरम अभिव्यञ्जना की है। वे रामके वियोगसे पीड़ित होकर कहते हैं—

‘हम पंख पाइ पींजरनि तरसत अधिक अभाग हमारो ।’

यहाँ यह कहना भी व्यर्थ है कि कविने बोलनेवाले पक्षियोंका ही संवाद रखकर शुद्ध प्रतीकात्मक अर्थात् कविकी ओरसे आरोपित भाव होनेसे, इसको बचा लिया है। यह बतलाना भी अनावश्यक है कि पंख होते पिंजड़ोंमें पड़े रहनेसे उनकी जो मार्मिक वेदना प्रकट होती है उससे यह भी पता चलता है कि

लोग वेदनासे इतने व्यथित हैं कि उन्हें चारा-पानी देनेके समय भी कोई उनके पिजड़ोंका द्वार नहीं खोलता कि उनसे कहकर या घात पाकर ही उड़ जायें। दिखाना यही है कि गार्हस्थ्यजीवनके जो सम्बन्ध अपनोंके प्रति होने हैं वे ही दास-दासियों और लालित-पालित पशुओंतकके साथ जोड़े जाते हैं। उनका निर्वाह दोनों ओरसे होता है।

शास्त्रसम्मत प्राचीन परम्परागत नियमों और विश्वासोंका वर्णन

तुलसीदासने हमारे लिए केवल आदर्श परिवारका स्वरूप ही नहीं खड़ा किया, चलित भारतीय पारिवारिक जीवनकी कुछ उन लोकसूद मूढ़कल्पनाओं (पापुलर सुपरस्टिशनस) को भी ज्योंका त्यों बनाये रखा जो वैज्ञानिक दृष्टिसे चाहें महन्वपूर्ण और मान्य सिद्ध न हों। जीवनके घटनाचक्र सभी तर्कप्रतिष्ठ नहीं होते, बहुत-सी ऐसी घटनाएँ होती हैं जो अतर्कप्रतिष्ठ अथवा तर्कविरुद्ध भी होती हैं और विकसित मानव-जीवनमें भी जाने-अनजाने चलती ही रहती हैं। मनुष्यका विकास जिन मूढ़ताओं और अन्धविश्वासोंके बीच से हुआ है वे संस्काररूपमें उसमें वर्तमान रहते हैं और तर्कसे सिद्ध न होनेपर भी अपने व्यक्तिगत जीवनमें वह उनका व्यवहार कर जाता है। कभी-कभी उसके लौकिक जीवनसे इसके कारण विरोध उत्पन्न होता है और उसे इन संस्कारोंके लिए समाजमें कभी-कभी लज्जित भी होना पड़ता है। इस अवसरपर विन्ध्याटवीके एक अंग्रेज मुझे याद पड़ रहे हैं जो बड़े प्रगतिशील होनेके साथ ही प्रकृति प्रेमी भी थे। अंग्रेजोंमें यह मूढ़कल्पना है कि इमलीका पेड़ अशुभ होता है। उस अंग्रेजने कुछ भूमि ली जिसमें इमली का पेड़ पड़ता था। बहुत ही शोभन और साथ ही भिष्ट फलदायक था वह महान् वृक्ष। जहाँ उन्होंने इमारत बनवायी उससे वृक्ष दूर पड़ता था। पर जाड़ेमें सूर्यके दक्षिणायन होनेपर उसकी छायाका अंशमात्र मकानपर आता था। उन्होंने उस हरे-भरे वृक्षको कटवा ही तो डाला। कटवाते समय उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। उक्त प्रकृति-प्रेमीको वह वृक्ष भाता था, पर संस्कारगत मूढ़कल्पनाने उन्हें विवश किया। उनके एक आलोचकने उनकी दुर्बलता पहचान कर उन्हें सबके बीच लज्जित किया। वे बेचारे कुछ बोल न सके।

तुलसीदासने ही ऐसे अतर्क-सिद्ध विश्वासोंका संग्रह अपने काव्यमें नहीं किया है, महर्षि वाल्मीकिने भी अपनी रामायणमें इनका ग्रहण किया है। अपशकुनादिके जो शास्त्र हैं वे तो हैं ही, संस्कृतकी सारी काव्य-परम्परा इनका संग्रह करती आ रही है। शेक्सपियर आदि विदेशी कवियोंने अपने महाकाव्यों और नाटकोंमें बराबर इनका ग्रहण किया है। बात यह है कि कविका कार्य जीवनकी अभिव्यक्ति है। जीवन जिस रूपमें चलता रहा है कवि उसका ग्रहण करके उसमें परिष्कार करनेका प्रयास करता है। इसलिए चलित जीवनकी सुधारककी भाँति सर्वत्र आलोचना करते चलनेसे उसकी लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती। इससे भावसरणिके भीतर जितनी बातें और घटनाएँ खपती चलती हैं उन्हें वह खपाता चलता है। इन संस्कारों

१. इनकी रचनाओंमें संगृहीत विश्वासों, शकुनो, आदिके प्रसंगोंके लिए देखिये 'मानस,' लं० १०१. ७-१२, ८५. १, २; अयो० १५६. ४-८; बा० ३०२. १-८; अयो० २३३.; सु० १०.२-७; अयो० १५५. ६; २२४.३-७; १९०.४; उ०, १२. १५; बा० ६७.; १३०. अयो० १४.; अरण्य० १७.६, 'दोहावली' दो० ४६०, 'कविता' उ० छ० १८०, 'गीतावली' लं० गीत २०। २. देखिये वाल्मी० रा० युद्धका०, ४१; १३-२०; ९६-४३-४८; अरण्य०, २३:३=१८। ३. देखिये 'बृहत्संहिता', अ० [८५]; [६७] अथे अध्याय शकुन, अंगस्फुरण आदिसे सम्बद्ध हैं।

का संग्रह जीवनके भरावको दिखाने भरके लिए होता है। काव्यके प्रयोजनकी सिद्धि न तो इनकी तीव्र आलोचना करनेसे होती है और न इनका संग्रह करनेसे उनकी कोई हानि ही। जिन पात्रों या जिस जीवनका स्वरूप खड़ा किया जाता है उसमें या उसमें जो-जो मान्यताएँ हैं उनका आकलन न करनेसे उनकी परिपूर्णताको श्रुति पटुचती है। इसीसे इस प्रकारकी अतर्क-मिद्व बातें भी काव्यमें जीवनसे सम्यक् होनेके कारण आ जाती हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि गोस्वामीजीने शास्त्रसम्मत और काव्य-परम्परा-सम्मत होनेके कारण ही इनका संग्रह किया है। इनमें उनकी कोई निष्ठा रही हो ऐसी बात नहीं। भगवद्भक्तके लिए ये अन्धविश्वास और ये मूढकल्पनाएँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। एक भक्तने ललकारकर कहा है—

‘सबै घरी शुभ घरी हैं सबै वार सुभ वार । भरनी भद्रा ताहि दिन जब लठै करतार ।’

भक्तके लिए भगवत्-प्रेरणा, मनोत्साह ही सब-कुछ है, सुदुर्लभ-चिन्तन और शकुन-विचार कुछ नहीं। तुलसीदास ने स्पष्ट इसका विरोध किया है। ठीक वैसा ही जैसा आधुनिक युगमें आर्यसमाजने किया है। वे ‘दोहावली’में लिखते हैं—

‘कब कोढ़ी काया लही जग वहराइच जाइ’

प्रश्न हो सकता है कि तुलसीदासने ‘रामाज्ञा-प्रश्न, लिखकर शकुन-विचारपर आस्था क्यों दिखायी ? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यह है कि अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए, शकुन-विचारसे अपनी आस्थाके कारण नहीं। जीवनमें रामचरितके प्रवेश, उनके मनन-चिन्तनको वे कल्याणकारी मानते थे। अतः जनता जिस अच्छे-बुरे प्रकारसे उसका ग्रहण करे, उन्हें ग्रहण कराना था। रामाज्ञा-प्रश्न या रामशकुनावली उन्होंने इसीसे रखी कि अन्य शकुनोंकी आस्था त्यागकर जनता रामचरितसे शकुन-विचार करे और साथ ही रामचरितके ससर्गसे अपने जीवनका परिष्कार करे। यही क्यों, उन्होंने ‘रामलला-नहछू’में अपने मर्यादावादको भी इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिए थोड़े समयके लिए भुला दिया था—जान-बूझकर—यह वैसा ही है जैसे कोई वैद्य किसी अफीमचीको ऐसी दवा दे जिसका अनुपान अफीम ही हो। रोगीका रोग दूर होना चाहिये। जनतामें प्रचलित गीतों-गालियोंके बदले रामचरितके गीत चलें, भले ही उनमें लोगोंके मनमोदके लिए एकाध स्थलपर गाली भी रख दी जाय। ‘रामलला नहछू’में प्रदर्शित शैलीके कारण लोग जो उसे तुलसीदासकी रचना माननेमें हिचकते हैं या यह कह सकते हैं कि यह उनके यौवनकालकी कृति है उन्हें इस दृष्टिसे भी विचार करना चाहिये।

छोड़िये इन अन्धविश्वासोंकी चर्चा, यम-नियमोंकी ओर आइये। ये भी बहुत प्राचीन युगसे प्रचलित हैं, यद्यपि जीवनमें इनका ग्रहण और पालन पूर्णतया क्या, आंशिक रूपमें भी नहीं होता। प्राचीन युगमें जीवन-संचालनके लिए कुछ विधान बनाये गये थे। ये साध्यके रूपमें ही थे। इनकी परिपूर्ण साधना दुरुह थी, पर इन्हे लक्ष्यमें रखकर शरीरयात्रा, मानसोत्साहमें प्रवृत्त होनेकी विधि कर दी गयी थी। आरम्भमें इनके पालनकी ओर कठोर दृष्टि रहती थी, पर ज्यों-ज्यों जीवनकी संकुलता बढ़ती गयी, इनके पालन और व्रतका बन्धन शिथिल होता गया। एक प्रकारसे व्यवहारमें ये साधु-सन्तोंके जीवनके अंग हो गये, वास्तविक और अधिकांश जीवनसे इनका विच्छेद बढ़ गया। गोस्वामीजीने इनका जो बार-बार उल्लेख किया है वह शास्त्र और काव्यकी सम्मतिके अतिरिक्त अपने साधु-सन्त जीवनकी प्रेरणाके कारण भी। ‘वैराग्य-सन्दीपिनी’

भी उन्होंने लिखी है और उसमें उन्होंने इन सबका ही विशेष उल्लेख और आकलन किया है। ये यम-नियम योगशास्त्रके हैं, पर भारतीय जीवनमें समन्वय-साधना इतने प्राचीन युगसे और ऐसे ढंगसे चली आ रही है कि वाङ्मयके जितने विभेद और रूप हैं, सबमें एक ही ध्वनि सुनाई पड़ती है—जो स्मृति कहती है वही शरीरशास्त्र आयुर्वेद कहता है, वही ज्योतिष (फलित) शास्त्र कहता है, वही साहित्यको कहना पड़ता है। 'मनुस्मृति'में लिखा है कि 'आर्द्रपादस्तु भुञ्जीयात् नार्द्रपादस्तु संविशेत्', पर जब तर्कप्रतिष्ठ 'चरक-संहिता' में भी इसीका उल्लेख मिलता है तो विचार करना पड़ता है कि ऐसा क्यों हुआ। भले ही कोई परम्पराकी बातोंको विज्ञानसे सिद्ध करनेवाला यह कहे कि पैरमें लगे कीटाणु (जर्म) मर जाते हैं, भोजनके समय इससे पैर धो लेना चाहिये और पैर धोकर सोनेसे पैरकी उष्णता मस्तिष्कमें पहुँचती है इसलिए पैर धोकर सोना विज्ञान-विहित नहीं है; पर इस विज्ञान-दृष्टिसे कोई धार्मिक ऐसा नहीं करता। मनुष्यसे उसकी भावुकताका लाभ उठाकर बहुत-से काम कराये जाते हैं। प्राचीन युगमें धर्म यही करता था। धर्मका बन्धन स्वीकार कर लेनेसे बहुत-सी अच्छी बातें भी मूढ़ता या भावुकतावश होती चलती थीं। जीवन जैसा है उसे वैसा ही मानकर कोई प्रयोग करना चाहिये। सारी जनता तर्कसे विचार करके सब समय काम नहीं करती। सब समय बुद्धि विचारोन्मुख रहती भी नहीं, इसीसे जीवनमें कुछ बातें अभ्यास या संस्कारके रूपमें समाजवेत्ता कर दिया करते हैं। जीवनकी विशालतामें, उसकी संकुलतामें सबको इतना अवकाश नहीं रहता, सबमें इतनी क्षमता नहीं होती; और नियमोंका विधान करना पड़ता है सबको लक्ष्य करके। इसीसे जीवनके लिए कार्यका विधान आगमोंमें होता है। उसके साथ ही बहुत-से अकार्य भी लगे रहते हैं। आगमोंने इन अकार्योंको भी मान लिया, उन्हें छेड़ा या उनका रुण्डन-मण्डन नहीं किया। गृहसूत्रोंमें शास्त्रीय पक्ष देकर लिखा है—'यथा मंगलं वा' अर्थात् यदि किसी कुलमें कोई मूढ़ता प्रचलित हो तो आत्मसन्तोषके लिए उसे भी किया जा सकता है। इस अवसरपर वह कथा ध्यान देने योग्य है जिसमें मूढ़ताके परम्परामें घुस पड़ने का स्वरूप दिखाया गया है। कहा जाता है कि किसी गाँवमें किसीके घर नयी बहू आयी और बिल्लीके दूध पी जानेसे व्यग्र होकर और अपने ऊपर दूध पी जानेका कलंक लगता देखकर उसने बिल्लीको डण्डेसे पीट दिया, वह मर गयी। सास बड़ी क्रुद्ध हुई। बहूने अपनी निर्दोषिता प्रमाणित की और दूसरी बिल्लीको पिंजड़ेमें बन्द कर दिया। गाँवकी स्त्रियोंने, जो बहूको देखने आयी थीं, पिंजड़ेमें बिल्ली बन्द देखी। बस फिर क्या था, उस गाँवमें फिर जिसके यहाँ नयी बहू आयी उसने पिंजड़ेमें बिल्ली बन्द करके वधूके पास रख दी। गाँवमें नियम हो गया कि नयी बहू व्याहकर आये तो पिंजड़ेमें बिल्ली बन्द करके रखी जाय। अब यदि कोई परिवार ऐसा न करे और संयोगसे उसमें कोई अमंगल हो जाय तो वह यही समझेगा कि बिल्ली पिंजड़ेमें बन्द नहीं की गयी इसीसे ऐसा हुआ। गृह्य सूत्रकारोंने सोचा कि इस झगड़ेमें कौन पड़ने जाय, उन्होंने लिख दिया कि 'यथा मंगलं वा' जैसे परिवार मंगल समझे, करे।

मर्यादावाद

भारतमें ही नहीं, जगत्में 'समाज'का निर्माण मर्यादा-बन्धनके लिए किया गया है। समाजने सबल और निर्बल, धनी और निर्धन, पण्डित और मूर्ख सबको मूलतः अधिकारकी दृष्टिसे एक समान माना। फिर समाज या सबके कल्याणके विचारसे किसी-किसीको विशेषाधिकार या छूट दी। इस प्रकार समाजका सामान्य या साधारण नियम यह हुआ कि लोग अपने लिए वँधी मर्यादाका पालन करें, कोई किसी दूसरेके अधिकारमें दखल न दे। यदि समाजमें ऐसा होने लगे तो समाज सचमुच ही आदर्श हो जाय। रामराज्यकी स्थापना हो जाय। पर ऐसा होता नहीं। अतः समाजको दण्डकी भी व्यवस्था करनी पड़ती है। गोस्वामीजी समाजकी मर्यादा अर्थात् कर्तव्यका अधिक ध्यान रखते हैं। वस्तुतः धर्मका ठीक अर्थ कर्तव्य ही है।

उन्होंने इसी धर्मको लक्ष्य करके मर्यादावादके लिए सतत प्रयत्न किया। इसीसे उनके 'मानस' में सर्वतो-भागेन मर्यादाका पालन दिखाई देता है। 'मानस' मजहबकी दृष्टिसे लिखा गया कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। वह 'धर्म' की भावभूमिपर निर्मित साहित्यिक, साथ ही भक्तिका ग्रन्थ है। उसमें मर्यादा—'धर्म'—पालनकी गहृत्ताके साथ तुलसीदासजीने 'साधुत्व'को सामने न रखकर 'समाज'को ही सामने रखा है। इसीसे उनके यहाँ 'दण्ड' भी मर्यादाका अंग है। सर्वत्र क्षमाका विधान नहीं है। जिनमें दुर्वृत्ति प्रकृतिस्थ है उनका दण्ड और जिनमें दुर्वृत्ति आरोपित है उन्हें क्षमा करना रामकी मर्यादा है। आरोपित दुर्वृत्तिका उल्लेख बाबाजीने गणभक्तोंके प्रसंगमें भी किया है और उनको क्षमा करनेमें रामका पक्षपात झलकता है। भक्तोंके लिए यह विशेष आकर्षक है—

‘जेहि अब बधेउ व्याध जिमि वाली । पुनि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ।
सोइ करतूति विभीषण करी । सपनेहु सो न राम हिय हेरी ।’

इसके साथ ही यह भी श्रुतिमार्ग है—

‘जौ सठ दंड करउँ नहिं तोरा । भ्रष्ट होइ सुति आरग मोरा ।

तात्पर्य यह कि तुलसीदासका मर्यादावाद एकांगी नहीं है, साम्प्रदायिक नहीं है। सामाजिक है, लौकिक है। उसमें उचितकी सब प्रकार से समाई है।

समाजमें स्त्रियोंका स्थान

अब गोस्वामीजीकी नारीगत भावनाकी मीमांसा की जाय। भक्तिसम्प्रदाय वस्तुतः प्रवृत्ति-मार्गी होते हुए भी निवृत्तिको लक्ष्य करके चलता है। इसीसे भक्ति-सम्प्रदायमें जितने प्रकारकी उपासनाएँ चलीं उनमें शान्तभाव सर्वमें अनुस्यूत और प्राथमिक माना गया। भक्त सप्पदिरूपसे जगत्को अपने उपास्यका स्वरूप मानता है, पर व्यक्तिगत साधनाके पक्षसे जगत्के कार्योंसे विरक्त भी रहता है। लौकिक व्यवहारमें भक्त व्यक्तिगत रूपसे संलग्न नहीं होता। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि तुलसीदासकी तीन दृष्टियाँ हैं। एक तो वे कवि-रूप में हमारे सामने आते हैं, दूसरे समाज-संस्कर्ताके रूपमें और तीसरे साधकके रूपमें। कविके रूपमें उन्होंने नारियोंके विभिन्न स्वरूपोंकी कल्पना की और उनका अपने प्रबन्धमें यथास्थान चित्रण किया। नारी-जातिके चरित्रगत वैशिष्ट्यकी दृष्टिसे जो विभिन्न रूप दिखाई देते हैं वह कवि तुलसीदासकी दृष्टि है। समाज-संस्कारकी दृष्टिसे उन्होंने नारीके सम्बन्धमें वह धारणा ग्रहण की जो परम्परासे चली आ रही थी—या यों कहिये कि उस समय जैसी धारणा थी उसे ही मान्य ठहराया। साधककी दृष्टिसे उन्होंने नारीको बहुत ही गर्हित कहा। ऐसा अन्य साधकोंने भी किया है। कबीर आदि सन्तोंने नारीके सम्बन्धमें जैसी उक्तियाँ कही हैं उन्हें कोई भी सम्यताभिमानी व्यक्ति सुननेतकको प्रस्तुत नहीं हो सकता। तुलसीदासजी मर्यादा-वादी थे और यह सोचते थे कि सम्प्रति समाज-संचालनमें नारीके लिए पातिव्रत ही प्रमुख है, इसीपर उन्होंने अधिक जोर दिया है^१। बड़े दुःखकी बात है कि इतने बड़े महात्माने नारीके लिए कहीं भी उस उक्तिको

१. देखिये भर्तृहरि : 'शृंगारसतक', श्लोक ५४, ५५, ५९, ६२, ७६, ८३, ८६; साथ ही 'भागवत' ३, ३१, ३५; 'कबीर ग्रन्थावली'की 'कामी नरका अंग' साखी संख्या १, २, ८, १०, १२, १५; 'दादूदयालकी बानी' भाग १ (१२) 'मायाको अंग' साखी ७२, ७३, १६०, ६२; 'सूरसागर' पृ० ६५, ४०९ भी देखे जा सकते हैं। २. देखिये 'मानस' बा० १०१. ३, अरण्य० ४. ६, ८, ९, १०, १६, १८; उ० १२६. ५।

प्रयोग नहीं किया जो वेदव्यासजीने बहुत पहले कही थी। इसे वे परम्पराके नाते ग्रहण कर सकते थे, पर उन्होंने 'नारीकी पूजा'के बदले उसके अपावनत्व और जड़त्व आदिका ही उल्लेख अधिक किया है^१। इसका उनके जीवनसे सम्बन्ध हो तो हो सकता है। कहते हैं कि उन्होंने वैराग्यके कारण अपनी पत्नीका त्याग कर दिया था। पत्नीकी ओरका आकर्षण भगवद्-भक्तिसे पराङ्मुख करनेवाला होता है, अतः साधक तुलसीदासके समक्ष रह-रहकर नारी का पतनकारी रूप आता था। रामपरिवारकी महिलाओंका उन्होंने जैसा चित्रण किया है वह नारीगत उनकी भावनाका परिहार नहीं है। भक्ति जिस नारीमें हो और जो उपास्यके परिवारसे सम्बद्ध हो और उनमें भी जो उपास्यके प्रति आनुकूल्य प्रदर्शित करनेवाली हो उसे ही वे उत्कृष्ट कह सकते हैं। वे 'पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुवर भगत जासु सुत होई।' को ही ठीक समझते थे। यद्यपि कैकेयीके पुत्र भरतकी चरम भक्ति राममें थी, पर व्यक्तिगत रूपसे कैकेयीने रामके प्रति जैसा व्यवहार किया उसकी दृष्टिसे वे सुमित्राको कैकेयीसे उत्तम मानते हैं। कैकेयीको उन्होंने 'कुटिल रानि'तक कह दिया है। यद्यपि नारीके सम्बन्धमें तुलसीदासजीने जितनी भी कटु उक्तियाँ कहीं हैं वे सब पूर्वकी उक्तियोंका अनुगमन करती हैं, उनका उल्लेख मात्र हैं, तथापि नारीके सम्बन्धमें उनकी अनुभूति और उनकी धारणा अच्छी नहीं थी इसमें कोई सन्देह नहीं^२। यद्यपि उनके हृदयमें कभी-कभी नारियोंकी समाजगत पराधीनताके कारण कुछ करुणाकी भावना जग जाती थी, तथापि वह भी क्षणस्थायी ही दिखाई देती है—

‘कत विधि सृजी नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।’

यह कविकी वह वृत्ति है जो मनुष्यकी मनुष्यके प्रति होती है, पर नारीके प्रति यह पुरुषके अथवा महापुरुष सर्वत्र ऐसा ही कारुणिक नहीं है। फिर भी इतना अवश्य कह सकते हैं कि नारीके प्रमदा रूपके प्रति ही उनमें अधिकतर शोभ है। नारीके प्रति उनकी इस वृत्तिका कारण उनकी इस उक्तिसे स्पष्ट हो जाता है—

‘नारि बिस्व माया प्रगट।’

संसारमें फँसाये रहनेवाली नारी ही है। यदि कोई नारी से छूट जाय तो वह संसारके बन्धनसे छूट सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, तुलसीदास मध्य मार्गका अवलम्बन करनेवाले हैं। इसीसे उन्होंने नारीके रूपका वीभत्स उल्लेख या चित्रण नहीं किया जैसा कबीर आदि सन्तोंमें पाया जाता है। नारीको 'ताड़नका अधिकारी' और 'स्वतन्त्रतासे उसके बिगड़नेकी' बात उन्होंने सामाजिक दृष्टिसे कही है। महात्मा भीष्मने भी, जिन्होंने नारीका ग्रहण अपने जीवनमें नहीं किया, जिन्होंने नारी-त्याग किया, सामाजिक दृष्टिसे ऐसी ही बात कही है। तुलसीदासके ऐसा कहनेमें परम्परा और व्यक्तित्व ही कारण नहीं है, समय भी कारण है। नारी-जातिके प्रति जैसी धारणा भारतीयोंकी रही है वह अन्य देशों और जातियोंमें नहीं देखी जाती। भारतीयोंने शक्ति-उपासनामें नारी-जातिका महत्त्व स्वीकार किया है। विदेशोंमें और

१. देखिये 'मानस' बा०. ५७ प२; अरण्य० ४३. १, ८; ४४.; ४६.; किष्कि० २०. ४; अरण्य०, १६. ५, ६; ३६. ९; लं० १५. ३; ३६. २; उ० ७०; अयो०, २६. ७; ४६. ८; ४७; १६०. ४; 'दोहावली' दो० २६२, २६६, २६८, २६९; 'कविता' उ० ल० ११८। २. आदर्शगीय मिश्रबन्धुओंने भी तुलसीकी नारी-भावनाके सम्बन्धमें इसी प्रकारके विचार व्यक्त किये हैं। देखिये, 'हिन्दी नवरत्न' पंचम संस्करण, पृ० १६६-६७

विजातीयोंने व्यवहारके श्रेष्ठमें नारी-जातिका वैसा सम्मान अतीतमें कभी नहीं किया है। 'एवरी बुमन इज रेप ऐट हार्ट' भारतमें मान्य नहीं रहा। यह दूसरी बात है कि नारीकी कामातुरताको स्वीकार यहाँ भी किया गया हो और यदि इन दोनोंकी एकवाक्यता मानी भी जाय तो कहा ही जा सकता है कि भारतने गौर-कृष्ण दोनों पक्षोंको सामने रखा था और गौर-पक्षपर ध्यान भी अधिक दिया है। तुलसीदासकी नारी-कल्पना अनुसन्धानका स्वतन्त्र विषय होनेकी श्रमता रखती है अतः उसके सम्बन्धमें अकाण्ड प्रयत्न न करके निष्कर्षरूपमें इतना ही कहना है कि गोस्वामीजीमें नारीके प्रति जैसी धारणा मिलती है उसके हेतुका तो पता चल जाता है, पर उसका पूर्ण समर्थन भारतीय दृष्टिसे भी सम्भाव्य नहीं है।

पंचम परिच्छेद तुलसी की संत-भावना

संतों की पहचान और उनकी व्यक्तिगत देवोपासना

तुलसीदासके दृढ़ एवं उदात्त व्यक्तित्वका किंचित आभास तो उनके जीवनवृत्तसे मिल जाता है, पर उसके गंभीर और पूर्ण रूपका परिज्ञान तथा उनके संत-हृदयकी परख उनकी संत-भावनाकी जानकारी से ही संभव है। वे जैसे भगवान् रामके चरितगानमें निमग्न थे वैसे ही सन्तोंके गुणानुवादमें भी। यही कारण है कि उनकी मानस-सदृश उत्कृष्ट कृतिमें भगवान्के चरितामृतके अनन्त प्रवाहके साथ सन्तोंकी विशद् विरुदावलीका सहज स्रोत भी स्पंदमान होता है। 'मानस' ही नहीं, 'विनयपत्रिका', 'दोहावली', 'कवितावली' आदिमें भी वे सन्तोंका यशोगान नहीं भूले हैं। सन्तोंकी गुण-गरिमा-गानके लिए तथा संतोंकी पहचानके लिए, एक स्वतंत्र ग्रंथ 'वैराग्य संदीपिनी'का प्रणयन करनेसे भी वे नहीं चूके। आगे इन सभी ग्रंथोंके आधारपर उनकी संत-भावनाका स्वरूप निरूपणीय है। ऐसा करनेके पूर्व एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। 'सन्त' शब्दका प्रयोग तुलसीदासने रूढ़िगत अर्थमें नहीं किया है। उनके मतानुसार 'सन्त' शब्द उस संकीर्ण अर्थका वाहन नहीं है जिसके अन्तर्गत सिर्फ निर्गुण-पंथके अनुयायी साधक आते हैं। उन्होंने इसका प्रयोग व्यापक अर्थमें किया है। यह सज्जन, सच्चरित्र, साधु आदिका ही प्रकाशक है। केवल साम्प्रदायिक निर्गुणियोंका नहीं।

सन्त स्वभावकी प्रमुख पहचान है उसकी सर्वांगीण सहज सरलता^१। इसी सहज सरलताके कारण सभी प्राणियोंपर प्रेमभाव रखना ही सन्तोंका धर्म है^२। ऐसे 'सरल चित्त' संतोंका आविर्भाव विश्वके कल्याणार्थ होता है^३। वे सूर्य-चंद्रकी भांति 'विश्व-सुखद' होते हैं^४। वे कटुभापी नहीं होते^५। उनकी अमृतमय कोमल वाणी कठोरसे कठोर हृदयको मोम बनाने^६, भ्रमाच्छादित सुप्त हृदयको जगाने^७ तथा परितप्त हृदयको शीतल करनेमें समर्थ होती है^८। ऐसे ही सरल-प्रकृति, सच्चे संतके हृदयकी मार्मिक व्यंजना इन पंक्तियोंमें की गयी है—

‘संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना ॥

निज परिताप द्रवइ नवनीता । परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥’

(‘मानस’ उ० १२४.७, ८)

कहना नहीं होगा कि हृदयकी ऐसी विशाल कोमलताके फलस्वरूप ही मनुष्य दया, क्षमा, प्रेम, श्रद्धा, शील प्रभृति गुणोंका भण्डार बन जाता है। सन्त कहलाता है। सन्त जन सदाचारके प्रतीक होते हैं और होते हैं 'गुणागार', 'संसार-दुख-रहित' और 'विगत-संदेह' भी; परमात्माके चरणोंके अनन्य प्रेममें लीन भी रहते हैं।^९ वे आत्मश्लाघाके भूखे तो नहीं रहते, पर पर-गुण-श्रवणसे आह्लादित होते हैं^{१०}। उन्हें समदर्शिनी

१. दे० 'मानस' बा० १*४, ५; २*१२; ३*; ४*३। वही 'अरण्य०' ४४*६; ४५*८। वही उ० ३८। २. दे० 'वैराग्य०' दो० ८। ३. दे० 'मानस' 'अरण्य०' ४५*२। ४. दे० 'मानस' बा० ३। ५. वही उ० १२०*२१। ६. वही उ० ३७*८। ७. दे० 'वैराग्य०' दो० १९। ८. वही दो० २०। ९. वही दो० २१। १०. दे० 'मानस' अरण्य० ४५.। ११. दे० 'मानस' अरण्य० ४५*१।

बुद्धि प्राप्त रहती है, उनके आचरण भूलकर भी नीति-विपरीत नहीं होते; जप, तप, नियमादि कर्मोंमें आस्था रखना, साथ ही विप्र, गुरु एवं परमात्माके चरणोंमें प्रीति करना भी उनकी अन्य विशेषताएँ हैं, उनमें श्रद्धा, दया, क्षमा, मैत्री, विनय, विवेक, ज्ञान, वैराग्य और वेद-पुराणका यथार्थ बोध प्रभृति गुण वर्तमान रहते हैं, हेतु रहित परोपकार भी उनका दाना है, गुण-ग्रहिताके तो मनुकर ही होते हैं; विकार रूपवारिका परित्याग कर गुण रूप पयको ग्रहण करनेवाले संत ही हंस भी कहे जाते हैं।

संतोंके इन उपादेय गुणोंकी चर्चा करनेके उपरान्त अब किंचित ऐसी क्रियाएँ भी विचारणीय हैं जो उनके लिए हेय तथा त्याज्य ठहराई गयी हैं। गोस्वामीजीने संतोंको बार-बार सावधान किया है कि वे पङ्क्तिवारोंके लक्ष्य न हों, उन्हें (पङ्क्तिवारोंको) अपने वशमें करें; सर्वथा अहंकार-शून्य हों; वस्तुतः जो 'मे' 'तैं' के अहंकारसे मुक्त हो जाते हैं वे ही 'संतराज' हैं^{१०}; परम शांतिदेवी संत अहंकारकी अग्निसे दग्ध नहीं होते^{११}; अपनी शांत प्रकृतिके आधारपर ही वे समस्त संगारको दग्ध करनेवाले अहंकारकी ज्वालासे बचे रहते हैं^{१२}; वे जैसे अहंकारका शमन करते हैं वैसे ही राग-द्वेषका भी^{१३}; वे 'अभूतरिपु', 'विमद', विरागी, लोभामर्ष हर्ष भयत्यागी' होते हैं^{१४}; वे न तो पर-द्रोहका चिंतन करते हैं^{१५} और न खल जनोंकी कटुवार्त्तासे क्षुब्ध होते हैं^{१६}।

तुलसीदासने, यों तो संतों के माहात्म्यकी प्रतिष्ठा करनेके लिए उनका गुणानुवाद करनेमें श्रुति और शारदको भी असमर्थ बताया है^{१७}, और उनके लक्षणोंको अगणित बोधित किया है^{१८}, पर सूत्ररूपमें अपनी संत-भावना प्रकट करनेके हेतु उन्होंने निम्नांकित एक ऐसा पद भी दिया है जो संत बननेकी स्पृहा रखने-वालोंके लिए सर्वथा मननीय है—

कबहुँक हौं एहि रहनि रहौं गो ।

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तैं संत सुभाउ गहौंगो ॥
जथा लाभु संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो ।
पर-हित-निरत निरंतर मन-क्रम बधन जेसु निबहौंगो ॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन, नहि दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविरल हरि भगति लहौंगो ॥'

(विनय पद १७२)

गुण-दोषमय संसारमें संतोंकी अपेक्षा असंत, असज्जन, असाधु और खलोंकी संख्या अधिक है। एतदर्थ ऐसे लोगोंसे बचने और सावधान रहनेके लिए, अथवा, उनके दोष और दुर्गुण यदि हमारे भीतर

१. मानस, बा० ३०. अरण्य० ४५.२; उ० ३८. वैराग्य० दो० १३, ३०, ३१। २. वही, अरण्य० ४५.२; लंका० ३४; उ० ३७.८। ३. वही ४५.३; उ० ३७.६, ८। ४. वही ४५.४, ५। ५. वही ४५.७; उ० १२०.१४-१६; वैराग्य० दो० १०; 'दोहावली' दो० ३७४। ६. दे० 'मानस' बा० ९.६। ७. वही ६. 'दोहा०' दो० २६९। ८. वही अरण्य० ४४.६। ९. वही अरण्य० ४४.८। १०. दे० 'वैराग्य०' दो० ३३। ११. वही ५२। १२. वही ५३। १३. वही वैराग्य० दो० ५८-६०। १४. दे० 'मानस' उ० ३७.२। १५. वही १५.१। १६. वही किष्कि० १३.४। १७. वही अरण्य० ४५.८। १८. वही उ० ३६.६।

हों तो उनका परित्याग कर संत बननेके लिए खलों और असंतोंके लक्षणोंकी जानकारी आवश्यक है, क्योंकि 'सग्रह त्याग न विनु पहिचाने'। इसी पहिचान करानेके उद्देश्यसे, साथ ही अपनी प्रतिपाद्य संत-भावनाको हृदयंगम करानेके लिए तुलसीदासने भेद-वैलक्षण्यकी युक्ति से खलों^१ और असंतों^२ की विशेषताओं को भी दो-टुक कहा है।

खल लोग अब और अवगुणरूपी धनके कुवेर होते हैं; उन्हें अकारण अपने उपकारीका अपकार करना ही रुचता है; वे किसीकी उन्नति देखकर कुढ़ते और किसीको उजड़ते देख प्रसन्न होते हैं; उनमें घोर नास्तिकता और भयंकर पर-अकारज प्रियता होती है; वे 'पर-अकारज लागि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृपी दलि गरहीं'; पर-अपवाद, परिवाद एवं पर-दोष कथन और श्रवणसे उन्हें बड़ा आनन्द आता है; सदैव कटु वचन बोलने और पर-छिटान्वेषण करनेमें वे तत्पर रहते हैं; उनकी सर्वोपरि विशेषता है उनकी परोत्कर्षभीरुता, उदासीन, शत्रु या मित्र किसीकी बढ़ती देखकर जलना उनका स्वभाव है।

असंत जन स्वभावसे ही पापी, काम-क्रोध-मद-लोभ-परायण, निर्दय, कपटी और कुटिल होते हैं; वे निष्प्रयोजन सबसे दूर करते फिरते हैं और अपने हितैषीका भी हित नहीं चाहते; अपने जीवनके सभी क्षेत्रों में झूटका ही सहारा लेते हैं; चतुर्दिक लोभसे घिरे रहते हैं, पशुओंकी भाँति आहार और मैथुनके ही परायण होते हैं, उन्हें यमपुरका डर नहीं लगता; यदि किसीकी बड़ाई सुन पाते हैं, तो वे ऐसी (दुखभरी) साँस लेते हैं मानों उन्हें जूँ आ गयी हो; और जब किसीको विपत्तिग्रस्त देखते हैं तो वे ऐसे सुखी होते हैं मानों संसारभरके राजा हो गये हों; वे स्वार्थपरायण, परिवारविरोधी, काम और लोभके कारण लंपट और बड़े क्रोधी होते हैं; उन्हें माता, पिता और गुरुकी उपेक्षा करनेमें तनिक भी संकोच नहीं होता; स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं (साथ ही अपने संगसे) दूसरोंको भी पथ-भ्रष्ट करके बिगाड़ते हैं; मोहवश वे पर-द्रोही होते हैं; उन्हें न तो संतोका संग अच्छा लगता है, न भगवानकी कथा ही सुहाती है; वे वेद-निंदक, पर-पीड़क, पर-स्व-हर्ता और पर-दार प्रिय होते हैं; उनके हृदय में दंभ और कपट भरा रहता है, पर वे (ऊपर से) सुंदर वेश बनाये रहते हैं; हृदयके कठोर और काले असंत जन स्वार्थवश भीठी-भीठी बातें करके भी संसारको छलते हैं।

संत असंत और खलोंके इन लक्षणोंपर विचार करनेके उपरान्त हम यही कह सकते हैं कि खलों और असंतोंके उपर्युक्त दुर्गुणोंसे शून्य तथा सज्जन और संतोंके कथित शुभ गुणोंसे युक्त व्यक्तिको ही सच्चा सन्त समझना चाहिए।

तुलसीदासकी संत-भावनाके जीवन्त प्रतीक-संतका स्वरूप दर्शन करने के पश्चात् अब उनकी व्यक्तिगत देवोपासना विचारणीय है। किसी संतकी उपासना दो रूप धारण कर सकती है—ऐकान्तिक अथवा सामाजिक। ऐकान्तिक उपासनमें लीन संतजन इस प्रपंचात्मक जगत्से तटस्थ होकर किसी निर्जन अरण्यमें, अथवा किसी पर्वतकी कन्दरामें आसन मारकर विविध साधनाओंके द्वारा आत्मचिन्तन करते हैं। उनका संसार उन्हींके भीतर रहता है और उसीमें वे ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधते हैं। बाह्य जगतका पतनोत्थान किस प्रकार हो रहा है इससे उनका कोई सरोकार नहीं। यदि सरोकार भी हो तो उन्हें अपने भीतरी 'गिरधर गोपाल प्यारे' अथवा 'आत्माराम' की उपासनासे फुरसत नहीं। ऐसे ऐकान्तिक साधक अपनी ऐकान्तिक साधनाके बलपर मुक्तिके पथपर अग्रसर हो सकते हैं और होते हैं; वे

१. दे० 'मानस' बाल० ३१—११; ४. (खल वंदना)। २. वही उ० ३८१-८; ३९१-८; १२०१५-२०।

अपने जीवनकालमें ही ब्रह्मानन्द-हृदमें अबाध गतिसे अवगाहन कर सकते हैं और करते हैं; वे अपने उद्धारक और पूर्ण उद्धारक कहे जा सकते हैं परन्तु वे संसारके भी उद्धारक हैं यह धड़ल्लेके साथ नहीं कहा जा सकता। ऐकान्तिक साधनाकी सरणिपर चलनेवाले सन्तोंका उपास्य कोई समुण देव हो यह आवश्यक नहीं। साधक अपने निर्गुण, निराकार, शुद्ध ब्रह्मचिन्तनमें ही मस्त रहता अथवा अज्ञातके अनन्त सौन्दर्यपर फिदा होकर प्रेमोन्मादमें ही अपनी ऐकान्तिक साधनाका आनन्द उठाता है।

दूसरे प्रकारकी सामाजिक उपासना लोकोपकारिणी उपासना कही जा सकती है। संकेत किया जा चुका है कि ऐकान्तिक साधना व्यक्तिगत साधकको परम पुरुषार्थ मोक्ष प्रदान करनेवाली है। मोक्ष प्राप्त करनेवाले धन्य हैं। परन्तु वे साधक जो स्वयं मोक्षके अधिकारी होते ही हैं, साथ ही संसारको भी मुक्तिके पथपर लाते हैं उनकी तुलना किससे की जाये? ऐसे ही साधकोंमें अन्यतम हैं, गोस्वामी तुलसीदास। इस विश्वकल्याणार्थी महात्माको विश्वकल्याणकारिणी उपासना अभीष्ट थी। इसीलिए उन्हें संसारके सामने ऐसे देवकी उपासना प्रतिष्ठित करनी पड़ी जिसकी ओर लोगोंका झुकाव सहज और सरल रूपमें हो। जीवनमें न जाने कितनी दयनीय घटनाएँ घटित होती हैं; न जाने कितनी आपत्तियों के पहाड़ हमारे सामने दहते हैं; न जाने कितनी शोक-बह्विकी ज्वालाएँ हमें दग्ध करती हैं; निराश्रयताका अकृपार हमारे चतुर्दिक लहराने लगता है—ऐसी दशाओंमें जो व्यक्ति हमारे साथ संवेदना प्रकट करता है, हम जन्म-जन्मान्तरके लिए उसपर अपना प्राणोत्सर्ग कर देना चाहते हैं, उसके चरणोंमें अपनी अपार श्रद्धा और प्रेम समर्पण करनेपर उतारू होकर उसका वेदामका दास बन जानेके लिए कमर कसे रहते हैं। तुलसीदासने संसारके समक्ष अपने ऐसे ही उपास्य देवको उपस्थित किया है, जो विश्वमात्रके साथ भूरितम संवेदना रखता है, प्रत्येकका दुःख वँटानेवाला है, प्रत्येकको सुख पहुँचानेवाला है, संसार यात्रामें प्रत्येक का सहायक है और क्षण-क्षणमें प्रत्येकको आश्वस्त करनेवाला है। इस देवका परिचय पाते ही कौन ऐसा हतभाग्य होगा जो उसके स्वागतके लिए हृदय-पाँवड़े न बिछा दे? और जिसके हृदयको भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श मिला वह अनायास ही मुक्तिका अधिकारी हुआ। गोस्वामीजीने अपने इष्टदेवका जो लोकरंजक स्वरूप चित्रित किया है वह लोकग्राह्य होनेके कारण लोकोद्धारक भी है। इष्टदेवके स्वरूप-निरूपणका विशेष विस्तार न करके यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तुलसीदास सटश समाजोद्धारक उपासक भगवान्‌के गुणागार अवतारी रूपमें पूर्ण आस्था रखते हैं उसमें अपरिमेय शक्ति, शील और सौन्दर्यके दर्शन करते और लोकको भी उससे लाभान्वित करना चाहते हैं।

सन्तोंका त्याग

पीछे सन्तोंकी अनेक विशेषताओंकी ओर संकेत करते हुए, यद्यपि उनके गुणोंको अगणित कह कर प्रसंगकी इति की गई है, फिर भी प्रस्तुत प्रसंगमें सन्तोंके त्यागपर कुछ विशेष प्रकाश डालनेकी अपेक्षा है, क्योंकि, गोस्वामीजीकी रचनाओंमें इसकी व्यापक प्रतिष्ठा है। पहले त्यागकी परिधि को समझ लेना चाहिए। विश्व-सूत्रधार, हमें अपना जीवन-नाटक खेलनेके लिए संसारके रंग-मंचपर भेजता है। हम एकसे एक बढ़कर नवीन आसक्तिके पात्र बनकर आते हैं। गर्भ-ग्रन्थि से छूटते ही हमें माताके पयोधरका पीयूष पान करना स्वयमेव आ जाता है, क्रमशः होश सँभालनेके साथ-साथ माता-पिताके प्रति हमारी आसक्ति

१. गोस्वामीजीके इष्टदेवके स्वरूपका विस्तृत परिचय आगे “तुलसीकी उपासना पद्धति” शीर्षक परिच्छेदमें दिया गया है।

बढ़ती जाती है, कालान्तरमें हमें अपना कुटुम्ब अतिप्रिय लगने लगता और हम उसीमें निमग्न होने लगते हैं। हमारे वय-विकासके साथ हमारी इन्द्रियों और भी द्रुत गतिसे बढ़ती चलती है और अपने-अपने विषयों की ओर हमें अनायास ही खींचती हैं। हम वसों इन्द्रियों और ग्यारहवें उनके सम्राट् मनके वशवर्ती होकर ऊटपटांग गैलमें चक्कर काटते-फिरते हैं। तात्पर्य यह कि मन और इन्द्रियाँ स्वभावसे ही हमें सामारिक आसक्तिमें डूबोए रहती हैं। इन्हींके वशीभूत होकर हम, रूप, रस, गंध आदि विषयोंमें नाचा करते हैं। इन दुराधर्ष इन्द्रियोंको काटूमें करना सच्चा त्याग है, वैराग्य है। महर्षि पतञ्जलिके मतानुसार वैराग्यका स्वरूप देखिए—

“दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्”

सूत्र से स्पष्ट है कि वैराग्यके लिए ऐहिक और आसुप्तिक दोनों प्रकारके विषयोंसे वितृष्णा होनी चाहिए। लौकिक अथवा पारलौकिक सुखकी किंचित स्पृहा रहते त्याग कैसा ? यह तो हुई सामान्य वैराग्यकी बात। अब परम वैराग्यको लीजिए—

“तत्परंपुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम् ।”

त्रिगुणोंसे परे हो जाना परम विरागीकी पहचान है। त्रिगुणातीतके तक्षण और आचरण आदि भी विचारणीय हैं। ‘भगवद्गीता’में कहा गया है—प्रकाश रूप सत्त्वगुण, प्रवृत्ति रूप रजोगुण और मोह रूप तमोगुणके प्राप्त होनेपर जो उनसे द्वेष नहीं करता; उदासीनकी तरह स्थित हुआ जो गुणोंसे विचलित नहीं होता; ‘गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं’ यह समझकर जो अविचल रूपसे स्थिर रहता, जो सुख-दुःखमें सम है, अपने आपमें मस्त है, भिट्टी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय सबको समान जानता है, धैर्यवान् है, निन्दा-स्तुति, मानापमान, शत्रु-मित्रके विषयमें समदर्शी है और सर्वथा आडम्बरोसे दूर रहता है—वही त्रिगुणातीत कहलाता है।^१ वही अपनी अनन्योपासनाके द्वारा परम पदका अधिकारी होता है।^२

उपर्युक्त ऐतिह्य विचारोंको ध्यानमें रखते हुए तुलसीदासके त्याग विषयक विचारोंकी मीमांसा करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि सांसारिक एवं स्वर्गिक दोनों विषयोंका त्याग ही सच्चा वैराग्य या त्याग है। गोस्वामीजीने भी सच्चे त्यागका यही रूप माना है, फलतः उन्होंने कहा है—

“एहि तन कर फल विषयन भाई । स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई ॥”

वस्तुतः ऐहिकामुष्मिक दोनों ही विषय त्याज्य हैं। इसीसे बाबाजीने सन्तोंको त्याग, विरक्ति, वैराग्य आदिका प्रशस्त पथ पुनः पुनः दिखाया है। वैराग्य-विरोधी संसारके इन तीन अजेय विषयोंसे सतर्क रहने की उनकी यह चेतावनी बड़ी महत्वपूर्ण है—

“सुत बित लोक ईषना तीनी । केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥”

इन त्रिविध एषणाओंका अत्यन्ताभाव हुए बिना वैराग्य कैसा ? और वैराग्योदय बिना सन्त बनने का दावा झूठा है। जो साधु, सन्त अथवा भक्त हैं वे भोगोंको रोगोंके समान त्याग देते हैं। देखिए—

“मैं जानी हरि पद रति नाहीं । सपनेहुँ नहिं विराग मन माहीं ॥

जे रघुबीर चरन अनुरागी । ते सब भोग रोग सम त्यागी ॥

१. ‘पतञ्जलि योग’ ‘समाधिपाद’ सूत्र १५। २. वही ‘समाधिपाद’ सूत्र १६। ३. ‘भगवद्गीता’ १४।२२-२५। ४. वही १४।२६-२७। ५. ‘मानस’ उ० ४३.१। ६. वही, उ० ७०-६।

काम भुअंग डसत जव जाही । विषय निंव कटु लगै न ताही ॥^{११}

× × ×
‘रमा बिलास राम अनुरागी । तजत वमन इव नर बड़ भागी ॥’^{१२}

पूर्व आचार्योंकी भाँति तुलसीदासने भी त्रिगुणोंके त्यागको ही परम वैराग्य ठहराया है—

“कहिय तात सो परम विरागी । तन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥”^{१३}

‘गीता’में उल्लिखित त्रिगुणातीतकी विशेषताओंको ध्यानमें रखते हुए विचार करनेसे प्रकट होगा कि गोस्वामी जीने भी उन्हीं विशेषताओंको सन्तोंका लक्षण ठहराया है । इसीसे सन्तोंको जन्म-मरण, सुख-दुख, हानि-लाभ, प्रिय-मिलन-वियोग आदि सभी स्थितियों में सम रहनेका निर्देश किया है ।^{१४} यह भी कहा है—

“सम अभूत रिपु विमद विरागी । लोभामर्ष हर्षभय त्यागी ॥”^{१५}

× × ×
अखिल-जीव-बत्सल निर्मत्सर चरन-कमल अनुरागी ।
ते तब प्रिय रघुवीर ! धीर मति अतिसय निज-पर-त्यागी ॥”^{१६}

ऐसे त्यागी संत कंचन और कांचको सम जानते हैं, कामिनीको काष्ठ और पापाण समझते हैं ।^{१७} निन्दा-स्तुति में अभेद बुद्धि रखते हैं ।^{१८} मानापमानको भी एक दृष्टि से देखते हैं ।^{१९}

विचारणीय है कि तुलसीदासने त्याग का लक्ष्य क्या माना है । मन स्वभावतः विषय-गामी होता है; यह आत्माके दिव्य स्वरूपका विस्मरण कर इन्द्रियोंका दास होकर विषयोंमें ही सना रहता; जन्म-जन्मान्तरके विषय-संस्कारोंके कारण इसकी विषयासक्तिका बार-बार नहीं रहता, फलतः इसे शान्ति या विश्रामकी छाया स्वप्नमें भी नहीं छूती । विरति, विवेक, त्याग आदिके द्वारा ही इसे विश्राम या शान्ति मिल सकती है । अतएव, त्याग शान्ति-पदका अचूक साधन है । देखिए, निम्नांकित पदमें मनकी व्याकुलता और उसकी मलिनताका संकेत करते हुए उसे स्वच्छ और शान्त करनेका एकमात्र साधन भी बताया गया है—

“कवहूँ मन विस्लाम न मान्यो ।

निसि दिन भ्रमत विसारि सहज सुख जहूँ तहूँ इन्द्रिय तान्यो ॥

जदपि विषय संग सखो दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो ।

तदपि न तजत मूढ़ ममता बस, जानतहूँ नहिं जान्यो ॥

जनम अनेक किए न ना बिधि करम कीच चित सान्यो ।

होय न बिमल विवेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ॥

.....सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥”^{२०}

और भी स्पष्ट शब्दोंमें कह सकते हैं—“त्यागको भूषण शान्ति पद, तुलसी अमल अदाग ।”^{२१} यह ‘शान्ति पद’ मनके विश्रामका ही द्योतक है । मन जिस समय विश्राम प्राप्त कर लेता है उस समय—

“सकल कामवासना बिलानी । तुलसी यहै सांति सहिदानी ॥”^{२२}

१. दे० ‘विनय०’ पद १२७ । २. दे० ‘मानस’ अयो० ३२२-८ । ३. दे० वही अरण्य० १४-८ । ४. दे० ‘मानस’ अयो० १४८-५-७ । ५. दे० वही उ० ३७-२ । ६. दे० ‘विनय०’ पद ११८ । ७. दे० ‘वैराग्य०’ दो० २७, २८ । ८. दे० ‘मानस’ उ० ३८ । ९. दे० वही उ० १३, १६ । १०. ‘विनय’ पद ८८ । ११. ‘वैराग्य०’ दो० ४४ । १२. वही दो० ५१ ।

मनको विश्राम देनेका अद्वितीय साधन ही माननेके कारण तुलसीदासने त्यागकी अप्रतिम प्रतिष्ठा की और उसे संतोका परमोच्च लक्षण ठहराया—इसमें कोई सन्देह नहीं ।

त्यागके स्थूल अर्थको ध्यानमें रखकर ऐसी शंका भी की जा सकती है कि क्या कर्मोंका न करना ही त्याग है ? उत्तर है—‘नहीं’ । कर्मके द्विधा रूपों अर्थात् सत्कर्म तथा असत्कर्मको दृष्टिमें रखते हुए कहा जा सकता है कि इनमेंसे दूसरे प्रकारके कर्म निन्द्य होनेके कारण त्याज्य हैं । त्याज्य कर्मोंके उदाहरण देनेकी आवश्यकता ही क्या जबकि संसारमें ऐसे कर्मोंका बोलबाला है । हाँ, सत्कर्मोंके विषय में कुछ विचार अवश्य कर लेना चाहिए । ‘भगवद्गीता’में कहा गया है—

‘त्याजं दोष वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यश दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

× × ×

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याजं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गत्कर्त्या फलानि च ।

कर्त्तव्या नीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥”

अवतरणसे स्पष्ट है कि सत्कर्मोंका करना तो आवश्यक पर उनमें आसक्ति और फल की कामनाका अभाव होना चाहिए । अपने वर्ण-विहित कर्मोंको निष्काम भावसे संपादित करते रहना ही कर्त्तव्य है । निष्काम कर्म करना ही त्याग है । ऐसे ही निष्काम कर्मको गोस्वामीजीके विचारसे भी सन्तों का त्याग कहा जा सकता है । देखिए—

“त्यागहिं करम सुभासुभदायक । भजहिं मोहिं सुर नर मुनिनायक^१ ॥”

✽

✽

✽

“प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीति । निज निज कर्म निरत श्रुति रीति ॥

यहि कर फलु मन विषय बिरामा । तब मम चरन उपज अनुरागा^२ ॥”

मनको विषय-विमुख होनेके लिए, त्याग की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि और पुष्टिके लिए ‘प्रबोधचन्द्रोदय’ का यह महत्वपूर्ण निर्देश स्मरणीय है—

“भावानाम नित्यता भावनमेव तावन्मतोच्छेदस्य प्रथमोऽभ्युपायन^३ ॥”

“इधर वैराग्य साधनके लिए वैराग्यका प्रथम सोपान जिसका तुलसीदासने निर्देश किया है वह यह है—

धर्म तें विरति, जोग तें ग्याना । ग्यान मोच्छ-प्रद वेद बखाना^४ ॥”

हमें स्वधर्माचरण करते हुए, मनको विषयोंमें पराङ्मुख करनेके लिए उसे नाना प्रकारसे चेतावनी भी देते रहना चाहिए । ऐसा करते-करते मनको ‘जग-जामिनी’में ‘देह-गेह-नेह’ सभी ‘घन दामिनी’वत् प्रतीत होने लगेंगे^५ । भगवान्की विषममायासे आक्षिप्त जीवनको चाहिए कि वह इस घोर, गंभीर, गहन

१. ‘गीता’ १८।३, ५, ६ । २. ‘मानस’ उ० ४०.७ । ३. वही, ‘अरण्य०’ १५.६, ७ । ४. प्रबोध-चन्द्रोदय, पंचमो अंक श्लोक २६ के पश्चात् । ५. ‘मानस’ अरण्य० १५.१ । ६. ‘विनय०’ पद ७३, ‘जागु जागु जागु जीव जोहै जग जामिनी । देह-गेह-गेह जानि जैस घनदामिनी ॥’

संसार-कासारकी दुर्भेद्यता और भयकरताके स्मरणमात्रसे मज्जन् होकर प्रवृत्ति रूप आपगामें पापकी उतुङ्ग-तरंगोंको पुनः पुनः आकाश चूमते देख भयभीत हो उठे, उसकी अपार दुस्तरता विचारे और अपने तन, मन, सुहृद, परिवार, प्रतिष्ठा आदि सबको उक्त भयावह आपगामे विविध अवयव मानकर उनसे अनासक्त होनेका प्रयास करे, साथ ही कलिकी प्रचंडता और कालकी कठोरता समझ बार-बार भगवान् की शरणमें जाए; अहंकार और मनकी चंचलता दोनोंको बंधनका महान् कारण जानकर उन्हें छोड़नेका मतत प्रयास स्वयं करना गढ़ और इस हेतु भी भगवत्कृपाका वाचक निरन्तर बना रहे; आन्तरिक मलोच्छेदकर हृदयको शुचि एवं पवित्र बनाए और गर्व यह विचार करता रहे कि जन्म-जन्मके अभ्यास के कारण मन मोह-जनित नाना प्रकारके विषयोंसे पकिल हो गया है, आँख परनारीको देखनेसे मलिन हो गई है, हृदय, धासना, मान, मद आदिके कारण मलिन हो गया है; मैं अपना गृहज मुख छोड़ने के कारण मलिन हो गया हूँ, कान पर-निद्रा सुनते-सुनते और जिह्वा पर-निद्रा गाते-गाते मलिन हो गई है, भगवद्भक्ति न करनेसे सभी प्रकारके मलोंका भार मेरे सिरपर लड़ गया है—अतएव मेरे लिए सभी प्रकारके मलोंसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है भगवद्भक्ति। हृदय जवतक मलयुग्म नहीं होता तबतक उसमें बैराग्य की प्रखर ज्योति देदीप्यमान नहीं होती और हृदयके आलोकित हुए विना न 'जग-जोनि' भ्रमण ही बन्द होता है और न शांति ही मिलती^१।

त्यागका यथार्थ स्वरूप हृदयगम करा कर उसकी परिपुष्टिमें बाग देनेवाले अनेकानेक सुन्दर शब्द 'विनयपत्रिका'में समाविष्ट हैं^२। इन पदोंके द्वारा गोस्वामीजीने वह मनोज्ञ मार्ग बताया जिसके अनुभावन मात्रसे हम सच्चे त्यागी बन सकते हैं। ज्यों ही हमें वस्तविक त्याग की अनुभूति होगी ज्योंही हमारे हृदय से माया के प्रपञ्चोंका नितांत अभाव हो जाएगा, और तत्परिणामस्वरूप अनायास ही हमें आनन्दकी सहजानुभूति होने लगेगी। इसीलिए संसार-संतरणका सर्वोत्कृष्ट उपाय है—त्याग। देखिए—

“बहु उपाय संसार तरन कहँ बिभल गिरा श्रुति गावै।
तुलभिदास 'मैं' 'मोर' गए बिनु, जिव सुख कवहुँ न पावै॥”

कहना नहीं होगा कि 'मैं' 'मोर' ही मायाका स्वरूप है। उदाहरण लीजिए—

“मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि वस कीहें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥”

संतमत और लोकमतका विरोधाविरोध

संत-भावना एवं सन्तोंके विशिष्ट त्यागकी उपर्युक्त चर्चाको साधुमतकी झोंकीके लिए पर्याप्त समझ कर अब सन्तमत और लोकमतके विरोधाविरोधका प्रसंग छेड़ना समीचीन होगा। प्रसंग के स्पष्टीकरण के हेतु इससे अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं कि संतमतका परिपालन वैयक्तिक साधन कहा जा सकता है और लोकमतका अनुसरण उन सार्वभौमिक सिद्धान्तोंका अनुभावन कहा जा सकता है जो समाजके सुव्यवस्थित संचालनके लिए प्राचीन परम्परासे चले आ रहे हैं। एक दृष्टांतके द्वारा भी संतमत और लोकमत का भेद समझ लीजिए। काकभुशुडिके जन्मान्तरके आख्यानमें गुरुने शिष्यकी घोर शटता देखकर भी उसका 'परम कल्याण' चाहा, यह साधुमत की बात है, क्योंकि—

१. दे० 'विनय०' पद ८१। २. वही, ८२। ३. वही २१३। ४. वही, ११७, ११९-१२२, १२६, १३६, १९८, १९९, २००। ५. वही, १२०। ६. दे० 'मानस' अध्या० १४.२, ३।

“उमा संतकी इहै बड़ाई । मन्द करत जो करइ भलाई” ॥

इसके विपरीत हरने क्रुद्ध होकर जो शाप दिया वह लोकमतकी रक्षा हुई, क्योंकि लोकमतके अनुसार नियमोंके अतिक्रमण करनेवाले व्यक्तिको दंडभागी होना चाहिए । प्रस्तुत दृष्टान्तमें संतमत और लोकमतका विरोध दिखाई पड़ता है अर्थात् संतमत अपराधीका भी कल्याण चाहता है और लोकमत अपराधीको दंडनीय ठहराता है और दण्ड देता है । तुलसीदास लोकमतके ही समर्थक हैं, इसीलिए उन्होंने लोकमत विरोधीको दण्ड दिलाया है । लोकमतकी पुष्टिके लिए उन्होंने ‘दोहावली’में भी कई दृष्टान्त उपस्थित किए हैं ।

जहाँ संतमत और लोकमतमें परस्पर ऐसे विरोधकी संभावना नहीं जो लोक-हानिका कारण हो वहाँ संतमत ही श्रेयस्कर बताया गया है । देखिए—

“जूझे तें भल वृझियो, भली जीति तें हारि ।

डहके तें डहकाइयो भलो, जो करिअ विचारि” ॥

संतमत और लोकमतके विरोधाविरोधका निर्णय गोस्वामीजीके आदर्श पात्रोंके द्वारा भी किया जा सकता है । यथा, भरत जो संतोंके साक्षात् प्रतीक हैं, उन्हें संतमतका पक्का अनुयायी और आदर्श कहना चाहिए । उनके संवम्भमें स्वयं रामने कहा है—

“भरत कहे महुँ साधु सयाने” १

भरतके प्रायः सभी कार्य साधुमतके अनुसार हुए हैं । हाँ, जब वे रामको लौटानेके लिए वनमें गए और वहाँ उनसे मिले तो अन्तमें उन्होंने रामको लौटा ले चलनेका विचार छोड़ दिया—यही एक अपवाद है । यहाँ उन्हें लोकमतके सामने साधुमतको महत्व देना ठीक नहीं जँचा । अतः प्रजाके कल्याणकी कामना लेकर वे अयोध्या लौट आए; अवधि पर्यन्त साधना करते हुएभी लोकमतके अनुसार प्रजा-पालनमें संलग्न रहे ।

रामने लोकमतका कैसा निर्वाह किया यह भी द्रष्टव्य है । तुलसीदासके ही शब्दोंमें राम लोकमत के वशीभूत हैं—

“लोक एक भाँतिको, त्रिलोकनाथ लोक बस,

आपनो न सोच, स्वामी सोच ही सुखात ही” ॥

यद्यपि गोस्वामीजीने रामको ‘लोकवस’ ही बताया है, पर जहाँ कहीं उन्होंने लीला दिखाई है वहीं उसमें साधुमतकी प्रतिष्ठा कर दी है । वस्तुतः राम साधुमतके पोषक होते हुए भी लोकमतके वशीभूत हैं । एक उदाहरणसे बात स्पष्ट हो जायेगी । रामने हाथ जोड़कर अनुनयविनय करके समुद्रसे पार जानेका रास्ता माँगा, उनका यह आचरण साधुमतके अनुकूल हुआ, परन्तु अपनी याचनाको निष्फल होनेपर क्षुब्ध होकर—

“संधानेउ प्रभु बिसिख कराला । उठी उद्धि डर अंतर ज्वाला” ॥

उदधिके हृदयमें ज्वाला उत्पन्न करनेवाला सर-संधान लोकमतके अनुकूल हुआ, क्योंकि, लोकमत के अनुसार शठसे विनय करना ही भूल है^२ । वहाँ तो नीचोंका गला दबा कर ही कार्य करानेका विधान

१. दे० ‘मानस’ सुन्दर० ४०.७ । २. दे० ‘दोहावली’ दो० ३९३-४०१ । ३. वही दो० ४३१ ।

४. ‘मानस’ अयो० २२५.५ । ५. ‘कविता’ उ० छन्द १२३ । ६. ‘मानस’ सुन्दर० ६७.६ । ७. वही ५२.२ ।

है'। रामने रावण आदि राक्षसोंका वध भी लोकमतके कारण ही किया अन्यथा साधुमतानुसार तो सब कुछ न्योकर भी संतोष किए बैठे रहना चाहिए था।

अन्तमें, लक्ष्मणके लोकमत-पालनका नमूना भी ध्यान देने योग्य है। मेरी समझमें, लक्ष्मण लोकमत के उत्कृष्ट अनुयायी चित्रित किये गये हैं। इनकी साधुमत-पालनकी प्रवृत्ति बहुत दृढ़दनेपर मिले तो मिले। जब देखा तब वे लोकमतके अनुसार तुरन्त कमर कसे तैयार रहते हैं। समुद्र-शोषणके लिए रामने वादमें जिम लोकमत का अनुसरण किया उसे लक्ष्मण पहले ही बता चुके थे—

“नाथ देव कर कवन भरोसा। मोखिय सिंधु करिय मन रोसा ॥

कादर मन कहूँ एक अधारा। देव देव आलसी पुकारा” ॥”

गोस्वामीजीका कुछ ऐसा निश्चित विचार अवगत होता है कि संतमतका पुट लोकमतके साथ तबतक अवश्य लगा रहना चाहिए जबतक कि प्रथमका द्वितीयसे कोई विरोध नहीं होता, परन्तु जहाँ वे परस्पर विरोधी हों वहाँ लोकमतको ही प्रथम मिलना चाहिए। इस दशामे साधुमतकी किंचित उपेक्षा निंदनीय नहीं। दूसरे शब्दोंमें यो भी कहा जा सकता है कि व्यवहार-क्षेत्रमें सर्वदा और सर्वथा अनुकरणीय है—लोकमत, किन्तु साधना-क्षेत्रमें साधुमतकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए। लोकमत और साधुमतका ऐसा ही समन्वित रूप समाजको हराभरा रख सकता है। कोरा व्यक्तिवाद समाजको ले झूबेगा।

वैयक्तिक साधनाके क्षेत्रमें गोस्वामीजी साधुधर्मकी चाहे जितनी भी सराहना करें, पर लोकधर्मकी पुष्टिके अवसरपर वे साधुधर्मको गौण ही बताते हैं। किसी असहाय अवस्थाकी रक्षा करनेके प्रयासमें प्राणोत्सर्ग कर देनेवाला अध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करनेवाले साधकसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह है तुलसीकी लोकहित-कारिणी दृष्टि। देखिए—

“मुये मुकुत, जीवन मुकुत, मुकुत, मुकुत हूँ वीच।

तुलसी सबही तें अधिक गीधराजकी मीच ॥”

‘दोहावली’ दो० २२५

स्त्रियोंके प्रति सन्तोंकी परम्परासे गृहीत विचार

संत-भावनाके लोकमें स्त्रियोंकी प्रतिष्ठा भी विचारणीय है। प्राचीन परम्पराके पथिक बिरागी साधु-सन्तोंने नारीके विषयमें अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उन्हें दृष्टिमें रखकर ही तुलसीदासके स्त्री-सम्बन्धी विचारोंका मर्म समझा जा सकता है। अतः प्राचीन सन्तोंमें अग्रगण्य परम विरागी ‘भर्तृहरि’ सद्गुरु महात्मा-के उपदेशोंको, सबसे पहले लीजिये—

“सत्यंजना वत्सि न पक्षपातो-लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत्।

नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैक हेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥”

इस निष्पक्ष उक्तिसे स्पष्ट है कि नितम्बिनी सर्वोपरि मनोहर वस्तु तो है, पर उससे बढ़कर कोई अन्य दुःखदायी वस्तु भी नहीं। नारी वैराग्य नष्ट करनेका मुख्य कारण है, यह सिद्ध करनेके लिए भर्तृहरिने कहा है—“यह विवेक रूपी निर्मल दीपक विवेकियोंके हृदयमें तभीतक प्रकाशमान रहता है, जबतक वह

मृग नयनी स्त्रियोंके चञ्चल नयन सपी अञ्चलसे नहा बुझाया जाता”^१ और भी, “मनुष्य सन्मार्गपर तभी-तक प्रवृत्त रहता है जबतक कि लीलावती भाषिणियोंके नयन बाणसे विधा नहीं जाता”^२ नारीका कटाक्ष नरकका द्वार उन्मुक्त करनेका साधन भी माना गया है^३। नारी मायाकी कैभी पिटागी है, यह भी देखिये—

“आवर्तः संशयानाम् विनय भवनं पतनं साहसानाम् ।
दोषाणां सञ्जिज्ञानं कपट शतमयं क्षेत्रम् प्रत्ययानाम् ॥
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरं मुखं सर्वमाया करण्डम् ।
स्त्री यन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः” ॥^४

उद्धरणमें इंगित भयावहता और भी बढ़ जाती है जब कि भर्तृहरि नारीको विपैले सर्पसे भी अधिक विपैली सिद्ध कर देने है—सर्पका विष तो मन्त्रादि तथा ओषधियोंसे उतारा जा सकता है, परन्तु स्त्रीका विष किसी प्रकार नहीं उतरता ।^५

‘भागवत’में स्त्रीका संग और स्त्रीका संग करनेवाले दोनों ही बन्धनके कारण ठहराये गये हैं—

“न तथास्व भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसंगतः ।
योपित्संगाद्यथा पुंस्तो तथा तत्संगिसंगतः” ॥^६

चाणक्यनीति, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र प्रभृति नीति ग्रंथोंमें नारी-विषयक ऐसे विचारोंको विस्तार-भयसे छोड़, हम निर्गुण-पन्थी दो महात्मा कबीर और दादूके नारी परक उपदेशोंकी ओर संकेत मात्र कर गोस्वामी जीकी ओर बढ़ना चाहते हैं ।

कबीरकी दृष्टिमें ‘कामणि काली नागणी’^७ है; वह खाड़की भिड़ भी है, अतएव छेड़नेपर काट ग्नाती है । नारी क्या अपहरण करती है और उसके द्वारा साधक क्या खोता है, यह देखिये—

“नारी सेंती नेह बुधि बिबेक सबही हरै ।

काँह गवायै देह कारिज कोई ना सरै” ॥^८

× ×

× ×

“नारि नसायै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ ।

भगति, मुकुति निज ग्यान मैं पैसिन सकई कोइ” ॥^९

कबीरने ‘कनक अरु कामनी’को वह तीक्ष्ण ज्वाला घोषित किया है जिसे दूरसे देखनेपर भी शरीर भस्म होने लगता है और कहीं स्पर्शकर लिया तो बचानेवाला कोई नहीं ।^{१०} अग्निकी ज्वालाके अतिरिक्त ‘नरकका कुंड’^{११} भी नारी ही है । इस कुण्डमें गिरनेसे बचनेवाले विरले साधु ही होते हैं । कबीर की ऐसी ही और भी बहुत-सी साखियाँ हैं जिनमें उन्होंने भरपेट नारी-निंदा की है ।

दादूदयालने भी कबीर ही की भाँति कनक-कामिनीकी कुत्सा की है । इन्हें मायाका प्रबल रूप माना है ।^{१२} उन्होंने नारीको दीपककी शिखा बताया है जिसमें जीव पतिंगे अनायास ही आकर भस्म होते हैं ।^{१३}

१. ‘शृङ्गार शतक’ श्लोक ५५ । २. वही ५९ । ३. वही ६२ । ४. वही ७६ । ५. वही, श्लोक ८३, ८६ । ६. ‘भागवत’ ३, ३१, ३५ । ७. ‘कबीर ग्रंथावली’ ‘कामीनर कौ अंग’ साखी १ । ८. वही, २ । ९. ‘कबीर ग्रंथावली’ ‘कामीनर कौ अंग’ साखी ८ । १०. वही, १० । ११. वही, १२ । १२. वही, १५ । १३. ‘दादू दयालकी बानी’ भाग १ (१२) ‘माया कौ अंग’ साखी ३८, १३५ । १४. वही ७२, ७३

नारी 'नागिणी' के इसनेमें कोई नहीं बच पाता, अतः उससे बहुत सतर्क रहना चाहिये।^१ दादू के विचारसे नारी 'नागिणी' ही नहीं बरं 'बाधिणी' भी है, जो लोग इसमें आसक्त होते हैं उन्हें यह निश्चय ही खा जाती है। नारीको इतना खतरनाक समझकर दादू सलाह देते हैं—

“नारी नैन न देखिए सुख मूं नाँव न लेइ ।
कानों कामणि जिनि सुणै, यह मण जाण न देइ ॥”

पुरानी परम्पराके कुछ सन्तोंके नारी-गन्धन्धी इन विचारोंको दिखानेके बाद अब तुलसीदासके नारी-विषयक विचारोंकी ओर बढ़नेके पूर्व, हम इस सम्बन्धमें उनके अनन्य जोड़े मूरदासके विचारोंको अधिक नहीं तो दो-चार शब्दोंमें ही व्यक्त करना चाहते हैं। वर्ण्य विषय, उपासना-पद्धति, एवं घोर रसिकतासे संपृक्त अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्तिके कारण सूत्रने जैसे अपनी रचनाओंमें सामाजिक, नैतिक अथवा साधनात्मक बहुत-सी अन्धान्य बातोंकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया वैसे ही नारीनिदा स्तुति की ओर भी। तो भी साधक होनेके नाते उन्होंने भी भामिनी' और 'भुअंगिन' की समता कर दी है—

“भामिन और भुअंगिन कारी इनके बिषहिं डरै ।
राचेउ विरचे सुख नाहीं भूलि न कबहु पत्यै ॥
इनके वस मन परे मनोहर बहुत जतन करि पै ॥
कामी होइ काम आतुर तेहि कैसे पै समुझै ॥”

और भी—

“नारी नागिन एक स्वभाउ ।.....
नागिनके काटे बिष होइ ।
नारी चितवत नर रहे मोइ ॥”

सन्तोंकी परम्परामें स्त्रियोंके प्रति जो विचार गृहीत थे उन्हें ध्यानमें रखते हुए अब विचारणीय है कि इस सम्बन्धमें तुलसीदासकी क्या धारणा थी ? इसमें संदेह नहीं कि सन्तोंके परम्परागत विचारोंके अनुसार तुलसीदासने भी स्त्रीको वंघनका कारण मायारूप ही माना है, पर उन्होंने उसे 'नागिन,' 'बाधिण,' 'नरक कुण्ड' आदि कहकर गालियों नहीं दी हैं। उन्होंने शिष्ट और साहित्यिक दंगसे दर्शाया है कि काम-क्रोध लोभादि-मद प्रबल मोहकी सेनाके शूर हैं और इन्हीं अजेय शत्रुओंमें अति दारुण दुखद मायारूप नारी भी है।^२ नारी ही 'मोह विपिन' की बसन्त हैं, सारे जप-तप-नेम प्रभृति जलाशयोंका शोषण करनेके लिए नारी ग्रीष्म है; काम-क्रोध-मद-मत्सर रूप मेढकोंको जीवन दान देनेके लिए नारी वर्षाका प्रथम जल (द्वैवगरा) है; दुर्वासना रूप कुसुमोंको उत्फुल्ल करनेवाली शरद् भी नारी ही है; वही समस्त धर्मरूप कमलोंको झुलसानेके लिए हिम है, ममता रूप जवासा नारी-शिशिरको प्राप्तकर डहडहाता है; पाप-उल्लूकोंके लिए सुखकर निविड़-तिमिर-मय रजनी भी नारी ही है; इतना ही नहीं, सत्य, शील, बुद्धि, बलरूप मछलियों को फँसानेकी तीक्ष्ण वन्सी (कटिया) भी नारी है।^३ प्रमदा ही अवगुणोंकी मूल, शूल प्रदायिनी, यातनाओं की खान है।^४ युवतीका तन दीप-शिखाके समान है उसमें भस्म होनेके लिए मनको पतिगा नहीं होना

१. 'दादू दयालकी बानी' भाग १ (१२) 'माया को अंग' साखी १६०। २. वही १६१।
३. वही १६२। ४. 'सूरसागर' पृ० ४०९। ५. वही, पृ० ६५। ६. 'मानस' अरण्य ४३;
'दोहावली' दो० २६६। ७. वही ४३.१-८। ८. वही ४४।

चाहिये।^१ वैर और मृत्युका कारण भी नारी है। मृगयनीका कटाक्ष-संग बड़ा ही भयंकर होता है उससे बचनेवाले धन्य हैं।^२

तुलसीदासके इन विचारोंसे स्पष्टतया प्रकट होता है कि उन्होंने नारीके उम पक्षको उद्घाटित किया है जिसके द्वारा विरागकी पुष्टि होती है। संकेत किया जा चुका है कि इन्द्रियोंके विषयोंपर अधिकार पाना सच्चा त्याग है। स्त्री अनेकानेक विषयोंकी पोषिका है। फलतः एक मात्र स्त्रीके प्रति वैराग्य आ जानेपर कितने ही विषयोंका दमन स्वयमेव हो जाता है; इस हेतु प्रमदाके प्रति त्यागकी वृत्ति उत्तरोत्तर दृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि साधक उसमें विरक्ति उत्पन्न करनेवाले विचारोंकी ओर ध्यान दे। मन दीर्घ रांगीकी भाँति कुपथ्य ही चाहता है, परन्तु चतुर साधक-वैद्य उसे कुपथ्यमें हटाकर कड़वी आपधके ममान विरागके साधनोंका सेवन ही बताता है। यही कारण है कि अन्यान्य सन्तोंके इस विचारसे गोस्वामीजीकी विमति नहीं कि साधन-क्षेत्रसे च्युत करने और पतनके गर्तमें दबेलेनेमें नारीका बड़ा हाथ रहता है।

तुलसीदासने नारी-प्रकृतिके कृष्ण-पक्ष और उसकी सहज दुर्वृत्तियोंको खोलकर इसलिए दिखाया है कि उस ओर ध्यान जाते ही नारीके प्रति अनामक्ति हो। इस सम्बन्धमें हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उन्होंने कोई अनर्गल या मनमानी बात नहीं कही है। वस्तुतः नारी-प्रकृतिकी जो दुर्बलताएँ प्राचीन परम्परागत शास्त्रोंमें वर्णित हैं अधिकांशमें वे ही दर्शायी गई हैं। उन्होंने व्यक्तिगत अनुभवोंके आधारपर भी जो कुछ कहा है उसमें लल्ल-बुद्धके अप्रतिम अनुभवोंकी एकांगिकता नहीं-प्रत्युत सर्वजनीन सार्व-भौमिकता है।

तिरिया-चरित्तर अपार, अगम सागर है^३; दर्पणमें हम अपना प्रतिबिम्ब भले ही पकड़ लें, किन्तु 'नारि-गति' हमारी पकड़के बाहर है^४; प्रबल अवला सब कुछ कर सकती है^५; उसकी लीलाको समझना टेढ़ी खीर है, उसे विधाता भी नहीं जान सकते^६; नारी कैसी कामान्ध होती है इसका तो कुछ कहना ही नहीं, मनोहर पुरुष देखते ही वह मर्यादाका अतिक्रमण कर बैठती है—

“भ्राता पिता पुत्र उर गारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥

होइ विकल मन सकइ न रोकी। जिमि रवि मनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥”^७

इसके अतिरिक्त वह इतनी बेवफा होती है कि हृदयमें रखने पर भी किसीकी नहीं होती—

‘राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं’^८॥”

नारीके ये आठ अवगुण जन्म-सिद्ध माने गये हैं—

‘साहस अनृत चपलता माया। भय अविबेक असौच अदाया॥’^९

जड़ता और अज्ञता स्त्री प्रकृतिके सहज अंग हैं^{१०}। गोपनकी प्रवृत्ति भी उसकी स्वभावगत विशेषता है^{११}। वह कच्चे मनवाली और सशंक भी होती है^{१२}।

१. ‘मानस’, अरण्य, ४६; ‘दोहावली’ दो० २६९; ‘विनय’ पद १४२। २. ‘मानस’ किष्कि० २१४; उ० ७०। ३. वही अयो० २६७। ४. वही ४६८। ५. वही ४७। ६. वही १६०४। ७. वही अरण्य० १६५, ६। ८. वही ३६९। ९. वही लंका० १५३। १०. वही बा० ५७। ११. वही ५२। १२. वही ५०६; लंका० ३६२।

स्त्री-स्वभावके इस निकृष्ट स्वरूपका चित्रण जिस अभिप्रायसे किया गया है वह यही है कि साधना-क्षेत्रमें पाँव रखनेवालोंका मन रमणीमें न रहे। इसके अतिरिक्त संत कविका अन्य मन्तव्य सोचना ठीक नहीं। तुलसीदास स्त्रीजातिसे चिढ़े थे अथवा उन्हें उससे कटु अनुभव हुआ था, इसलिए उन्होंने ऐसा चित्रण किया ऐसी बात नहीं। यदि कोई घोर विषयारुक्त अपनी प्रबल आसक्तिके कारण किसी कुलदामें ही समस्त गुणोंको ला-लाकर आरोपित करे और उसके अंग-प्रत्यंगमें मोक्षका साधन बताए तो इसका अभिप्राय यह नहीं हुआ कि वह स्त्रियोंके प्रति बड़ा उदार है, प्रत्युत यहाँ यही कहना समीचीन होगा कि वह अपनी आसक्तिवश प्रशंसाका पुल बाँध रहा है। इसी प्रकार यदि कोई विरक्त अपना वैराग्य दृढ़ करने अथवा औरोंका वैराग्य दृढ़ करानेके लिए नारी-निंदा करे तो उसका आशय यह नहीं हुआ कि वह नारी-जातिके प्रति अनुदार है।

गंभीरतासे विचार किया जाये तो अवगत होगा कि गोस्वामीजीने लोक-कल्याणकी दृष्टिसे भी स्त्री-प्रकृतिके कृष्ण-पक्षका प्रकाशन किया है। उन्होंने नारी-स्वभावकी जिन गुणोंको दिखाया है वे उसमें अधिकांशमें रहती हैं अवश्य। यह दूसरी बात है कि किसीमें न्यून मात्रामें होती हैं और किसीमें अधिक। नारी जातिका सबसे बड़ा समर्थक होकर मैं मुँहसे भले ही कह दूँ कि नारी इन निर्बलताओंसे शून्य होती है, पर मेरी अन्तरात्मा कदाचित् ही ऐसा कह सके और यदि मेरा हृदय सचमुच ही नारीको इन दोषोंसे रहित स्वीकार करता है तो मैं यही कह सकता हूँ या तो मुझे नारी-हृदयकी परख नहीं अथवा उसकी मायामें पड़कर मैं उसके वास्तविक रूपको नहीं पहचान पाया। ऐसी दृष्टिसे हमें गोस्वामीजीकी परखकी ही ठीक समझना चाहिए और विचार करना चाहिए कि इस ठीक परखसे मेरे अथवा लोकके कल्याणकी संभावना किस रूपमें होगी। व्यक्तिगत रूपमें संभाव्य कल्याण यही कहा जा सकता है कि हम नारीके फेरमें पड़कर बरबाद नहीं होंगे। कल्पना कीजिए हम इसे पक्की बात मानते हैं कि स्त्री एकान्त पाकर मर्यादाका अतिक्रमण कर हमारी ही भोंति चंचल हो सकती है तो हम एकान्तमें किसी स्त्रीके साहचर्यका अवसर ही नहीं आने देंगे। यदि हम जानते हैं कि नारीमें अविवेककी मात्रा अधिक है तो हमें उसके अविवेकमय कार्योंका कुफल नहीं भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हम इस तथ्यसे परिचित हैं कि स्त्री अपनी चंचलतावश बड़ेने बड़ा अनर्थ कर सकती है तो हम उसके अनर्थोंसे भी सावधान रह सकते हैं। एक उदाहरणसे इन बातोंका स्पष्टीकरण हो जायगा। मान लीजिए हमारे पास एक सधा हुआ स्वामिभक्त अश्व है, जो किसी समय अपनी अमुक नैसर्गिक प्रेरणा होने पर हमें अपनी पीठसे फँकनेका प्रयत्न करता है, इस परिस्थितिमें घोड़े की उस विशिष्ट प्रेरणाको भलीभाँति जानकर ही हम सतर्क और सुखी रह सकते हैं। यही बात स्त्री पर घटाए। यावत् हमें उसकी प्रकृतिगत दुर्बलताएँ नहीं मालूम रहती, तावत् उससे गाफिल पड़कर हम चूर-चूर हो सकते हैं। दूसरी ओर, स्त्री यदि अपनी जन्म-जात दुर्बलताओंको जानती रहती है तो वह भी उनके निराकरणका प्रयास करेगी। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि बाबाजीने नारीके कृष्ण-पक्षकी अभिव्यक्ति करके साधुमत एवं लोकमत दोनोंको योग दिया। इसी प्रसंगमें हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि लोक-हितके लिए नारी जातिका वह शुक्लपक्ष जो जीवनदायक होता है तथा जिससे समाज उत्तरोत्तर समृद्ध और सुखी होता है उसकी भी व्यापक और हृदयग्राहिणी अभिव्यक्ति गोस्वामीजीने की है। इस विषयकी यथेष्ट चर्चा इसी ग्रंथमें अन्यत्र की गयी है।*

* देखिए 'तुलसीदासका सामाजिक मत' शीर्षक परिच्छेदमें सन्निविष्ट 'समाजमें स्त्रियोंका स्थान'।

तुलसीदासके “भ्राता पिता पुत्र उरगारी” — “यिहि बिलोकी ।” का प्रतिस्पर्धी वक्तव्य किसी अन्य रचनाकी रचनामें नहीं मिलता, इसलिए वे नारीके प्रति अनुदार टह्राये गये हैं ।^१ ऐसी नीतिपरक उक्तियों पर फैसला देना ठीक नहीं । ‘हितोपदेश’ सदृश नीतिग्रंथमें भी ऐसी उक्ति समाविष्ट है—

“सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं जनकं वा सुतम् ।

योनिः क्षिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद” ॥”

भ्राता, पिता, पुत्र आदिके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चलायमान होनेकी बात स्वतन्त्र अन्वय्य पर साम्प्रतिक कालमें भी ऐसे दृष्टान्तोंका पूर्ण अभाव नहीं । तुलसीदासके युगमें संस्कृतिके प्रभावके कारण कदाचित् ऐसी घटनाएँ अधिक घटित होती रही हो और उन्हींके आधारपर इस रघुपदादी महात्माने यह बात कही हो । सर्वोत्तम अनुमान तो यह होगा कि यह उक्ति नीतिवाक्यके रूपमें कही गयी है । पलतः हममें अर्थवाद ही समझना चाहिए ।

मनुष्य आत्म-इलावाका भूत्वा होता है । उसे अपने दोषोंका सुनना जहर-सा लगता है । वह अपनी प्रशंसा सुननेमें अपार आनन्दका अनुभव करता है । इसीलिए यदि कोई हमारी प्रशंसाकी उपेक्षा करके हमारे दोषोंको दिखाता है तो हम उसे अनुदार कह बैठते हैं, भले ही उसने हमारे हितार्थ उन दोषोंको अनावृत्त किया हो । तुलसीदासपर अनुदारताका आगेप हमारी इन्ही मनोवृत्तिने कराया है । पर तथ्यकी बात तो यही है कि उनकी अनुदारतामें भी साधुमत एवं लोकमतके प्रस्थापनकी उदारता निहित है ।

‘मानस’ में सती, सीता, कैकेयी प्रभृति असाधारण कोटिकी जो पतिव्रता स्त्रियों प्रस्तुत की गयी हैं, उनमें भी उनकी प्रकृतिगत निर्बलताएँ जिनके कारण भयावह परिणामोंकी सृष्टि हुई उन्हें देखते हुए यह आवश्यक था कि तुलसीदास स्त्री स्वभावकी श्यामलता स्पष्ट कर देते ।

जिज्ञास्य है कि तुलसीदासकी संत-भावना आदिके प्रसंगोंमें चित्रित संत-स्वरूप हाथीका निकला हुआ दाँत है अथवा उनके व्यक्तिगत जीवनसे भी उसका कोई संबंध है । और खुले शब्दोंमें कह सकते हैं कि तुलसीदासने संतोंकी जो कसौटी बतायी है उसपर उनके व्यक्तिगत चरित्रको कसकर हम उनकी संत-प्रकृतिकी जाँच करना चाहते हैं । एतदर्थ प्रस्तुत परिच्छेदके आरम्भमें दिये गये संतोंके लक्षण और ‘तुलसीकी जीवनी-शिखा’ परिच्छेदमें अंकित तुलसीकी चारित्रिक विशेषताओंको दृष्टिमें रखकर तुलना करनी होगी ।

संत और तुलसीदासकी तुलना

संत-प्रकृतिकी प्रमुख विशेषता है—सरलता, कौमल्य और विनम्रता; गोस्वामीजीकी प्रकृतिमें इन तीनों गुणोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी । संत जन विश्वकल्याणके लिए अवतीर्ण होते हैं; गोस्वामीजीका आधिर्भाव भी संसारके हितके लिए हुआ । संतोंकी बाणी अज्ञानको दूर करनेवाली और तापोंको शांत करनेवाली होती है; महात्मा तुलसीदासकी वाणीमें भी ऐसी ही शक्ति थी जैसा कि उनकी रचनाएँ प्रमाणित करती हैं । संत जन सदाचारी होते हैं; तुलसीदास भी सदाचारके साक्षात् स्वरूप थे । संत लोग संसारके प्रति अनासक्त और परमात्माके प्रति परमासक्त होते हैं; गोस्वामीजीको भी संसारसे पूर्ण वितृष्णा और भगवान्‌में परमासक्ति थी । संत जनोंको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिका पूर्ण बोध होता है; तुलसीदासको भी इनका यथार्थ बोध था ।

१. देखिए डॉ० माताप्रसाद गुप्त : ‘तुलसीदास’ पृ० ३०१-२ । २. ‘हितोपदेश’ मित्रलाभ कथा ५ श्लोक १६५ ।

संतजन वर्णाश्रम-धर्म, वेद-पुराण आदिमें पूर्ण आस्था रखते हैं; तुलसीदास भी धर्मपरायण और वेद-शास्त्र सेवी थे। कुमार्य एवं अधर्मका मूलोच्छेद करना तथा सम्मार्ग और धर्मकी रक्षा करना सन्तोंका वाना है; गोस्वामीजी भी कुमार्य और अधर्मको ध्वस्त करके सम्मार्ग और धर्मकी नींवको अचल करनेवाले थे। सन्त-जन पद्धिकारोंके लक्ष्य नहीं होते: तुलसीदासमें भी अहंकार आदिके चिह्न लेशमात्र नहीं मिलते, वे दैन्यके गायक प्रतीक थे। संतजन स्वप्नमें भी पर-द्रोह नहीं करते: गोस्वामीजीमें यही बात थी तभी तो उन्होंने पर-द्रोहकी घोर कुत्सा की है। सन्तोंकी सहिष्णुता भी मराहनीय होती है, वे स्वलों के वचन-विश्लेषसे श्रुत नहीं होते: तुलसीदासकी सहिष्णुता भी उच्च कोटि की थी। सन्तोंको, अनासक्त भावसे निष्काम क्रमोक्ता सतत सम्पादन करते-करते वैराग्य दृढ़ हो जानेपर, वास्तविक तत्त्वबोधके कारण संसार परमात्माका ही विस्तृत रूप दिखाई पड़ने लगता है: गोस्वामीजीको भी यह तत्त्व प्रतिभासित हो चुका था, इसीसे उन्होंने—

“सीय राम मय सव जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।”

×

×

×

“मैं सेवक मचाचर रूप स्वामि भगवंत ।”

आदिकी घोषणा की है।

गोस्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट सन्त-लक्षण और उनके व्यक्तिगत चरितकी इस संक्षिप्त तुलनाके उपरान्त हम इस तथ्यपर पहुँचते हैं कि तुलसीदास सच्चे सन्त थे। उन्होंने संतोंके जो लक्षण व्यक्त किये हैं वे शास्त्रीय होते हुए भी उनके व्यक्तिगत साधु चरितके प्रतिबिम्ब मात्र हैं।

संत-प्रकृति और नवधा भक्ति

संत-प्रकृतिको दृष्टिमें रखते हुए विचारणीय है कि उसमें और तुलसीदासके द्वारा निर्वापत नवधा भक्तिमें क्या सम्यन्ध है। उस सम्बन्ध विशेषको समझनेके पूर्व प्रस्तुत प्रगंगमें निरूपिणीय नवधा भक्तिका यह संकेत देखिये—

“तुलसी-भनित सबरी प्रनति, रघुवर प्रकृति करुनामई ।

गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई ॥”

अस्तु, भगवान्‌के चरणारविन्दमें निव्य नूतन प्रेम उत्पन्न करनेवाली नवधा भक्तिके सभी भेद द्रष्टव्य हैं। सन्त-सत्संग नवधा भक्तिका प्रथम प्रकार है और दूसरा है भगवान्‌की कथा-वार्तामें अनुरक्त होना; गुरुके चरणोंकी सेवा करना तृतीय भेद है और चौथा है निष्कपट भावसे भगवान्‌का गुणानुवाद करना^१; पाँचवे भेदके अन्तर्गत परमात्मामें दृढ़ विश्वास रखनेके साथ मन्त्र, जपादिके अनुष्ठान आते हैं और छठे भेदमें आचार, शील, साधुधर्माचरण, इन्द्रिय-निग्रह और उत्तरोत्तर वैराग्यकी पुष्टि सम्निहित है^२; सातवे भेदानुसार समत्वकी दृष्टि मिल जाती है, समस्त संसार प्रभुमय दिखाई देने लगता है और साधु-संत भगवान्‌से भी बढ़कर प्रतीत होने लगते हैं; आठवें भेदकी विशेषता यह है कि भक्त स्वप्नमें भी पर-छिद्रान्वेषण नहीं करता और जो कुछ भी उसे मिल जाता है उसीमें परितुष्ट रहता है^३; अन्तिम प्रकारकी नवधा भक्ति है मृदुल प्रकृतिका होना, सबके साथ निष्कपट व्यवहार करना, अपने हृदयमें एकमात्र भगवान्‌का अनन्य भरोसा रखना और हर्ष-विपाद आदि द्वन्द्वोंसे शून्य हो जाना।^४

१. ‘गीतावली’ अरण्य० गीत १७ (८) । २. ‘मानस’ अरण्य० ३४.८ । ३. वही अरण्य ३५.१ ।

४. वही अरण्य ३५.१, २ । ५. ‘मानस’ अरण्य० ३५.३, ४ । ६. वही अरण्य० ३५.५ ।

नवधा भक्तिके इन भेदोंसे स्पष्टतया प्रकट होता है कि उनमेंसे कई भेद तो सदाचार-प्रतिष्ठा और वर्णाश्रम-धर्म-पालनका ही संकेत करते हैं। हम जिम किसी वर्णाश्रमके हों उसके शास्त्र-विहित कर्मोंको निष्काम भावसे करते चले और उत्तरोत्तर अपनी प्रकृतिको संत प्रकृतिके मोर्चेमें ढालते रहे। ऐसा करते-करते अन्ततोगत्वा हमें भी मुनि और योगियोंकी गति प्राप्त होगी।

संत-प्रकृति और नवधा भक्तिके अन्तर्गत जो विशेषताएँ दिखाई गयी हैं, यदि उनका मिलान किया जाय तो स्पष्टतया प्रकट होगा कि जिसकी संत-प्रकृति है उसमें नवधा भक्तिके एक ही नहीं, अपितु सभी प्रकार अनायास ही जगमगाते हैं। भरत सट्ठा एक संत चरित्रके द्वारा भी इस कथनकी पुष्टि की जा सकती है। वन-गमनके समय मार्गमें जितने भी साधु महात्माओं या भक्तों से उनका मिलन हुआ, अयोध्याके जितने भी ब्राह्मण, गुरु, मन्त्री, सज्जन आदि उनके सम्पर्कमें आये सभीका सत्संग उन्होंने पूर्ण निष्ठाके साथ किया। उन्होंने संतोंके लक्षण^१ एवं माहात्म्य जाननेकी उत्कट अभिलाषा प्रकट करके उसका समाधान श्रीमुखसे कराया—इन सभी प्रसंगोंसे उनकी संत-संगकी प्रथम भक्ति प्रकट होती है। राम कथामें उनकी प्रीति अटल है, वे प्रत्येक क्षण उसे सुननेके लिए उत्कण्ठित रहते हैं; हनुमानसे मिलनेपर उनकी अप्रत्युपकार्य कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

‘नाहिं न तात उरिन मैं तांही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोहीं॥’^२

यह कथन भी उनकी भगवत्कथा विपायिणी प्रीतिका ही परिचायक है। उनकी गुरु-सेवाके पक्के प्रमाणस्वरूप यह देखिये—

‘तेहि ते कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति वस भइ मति भोरी^३॥’

‘गुरु अनुराग भरत पर देखी। राम हृदय आनन्द बिसेखी॥’^४

नवधा भक्तिके चौथे भेद अर्थात् नाम जप या कीर्तन आदिमें तो वे अहर्निश रमते ही थे^५; पाँचवें और छठे भेदकी वांछ अर्थात् मन्त्र, जप, शील, आचार, धर्माचरण, इन्द्रिय-निग्रह तथा वैराग्य वृत्तियोंका उत्तरोत्तर विकास आदि सभी उनमें विद्यमान थे जैसा कि निम्नांकित अवतरणोंसे अवगत होता है—

सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥^६

‘सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥’^७

‘हिय सप्रेम सुभिरहु सब भरतहिं। निजं गुन सील राम वस करतहिं॥’^८

‘जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुरि धरनि धरत को॥’^९

‘रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥’^{१०}

‘भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति विरति गुन विमल बिभूती॥’^{११}

१. ‘मानस’, उ० ३७-१-८; ३८। २. वही १-१४। ३. वही अयो० ३५६-६। ४. वही २५७-१। ५. वही ३२४-१; उ० १। ६. वही ३२४-४। ७. वही ३२३-४। ८. वही अयो० २६३-८। ९. वही २३१-१। १०. वही ३२२-८। ११. वही ३२३-७।

गातवें, आटवें और नवें भेदकी विशेषताएँ भी उनमें थीं। वे सभस्वकी भावनाको प्राप्त कर स्वार्थ और परमार्थ दोनोंकी व्यापक सीमाके आगे बढ़ चुके थे: वे स्वप्नमें भी पर-दोषोपग दृष्टि डालनेवाले नहीं थे; उनके हृदयसे द्वन्द्वोंका निरन्तर प्रगट हो गया था, तभी तो उन्होंने स्वयं कहा है—

“नाथ न मोहिं सन्देह कहु सपनेहुँ मोक न मोह ।
केवल कृपा तुम्हारि ही कृपानन्द सन्दोह ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि माधु भरतमें नवधा भक्तिके सभी भेद वर्तमान थे। बात यह है कि जिस व्यक्ति में नवधा भक्ति होगी वह संत-प्रकृतिका होगा और अवश्य होगा। गोस्वामीजीने संत-प्रकृति और नवधा भक्तिमें निकटतम एव अन्यान्याश्रय सम्बन्ध टहराया है। संत प्रकृतिवालोंके लिए यह भक्ति मुगम है, क्योंकि—

“जो जेहिकला कुसल ताकहुँ सो सुलभ सदा सुखकारी ।”

की बात पक्की है, इसके विपरीत जो लोग संत-प्रकृतिके नहीं हैं उन्हींके लिए—“रघुपति भगति करन कठिनाई” का संकेत समझना चाहिए ।

तुलसीदासकी संत-भावना विषयक प्रस्तुत परिच्छेद समाप्त करनेके साथ ही अब, अन्तमें ‘ज्ञानि-मुनि’ सुतीक्ष्ण तथा ‘अधम जाति जोपित जड़’ शवरी सदृश दो भक्त पात्रोंकी भक्तिका उत्कर्ष भी दर्शनीय है।

शवरी और सुतीक्ष्ण

सुतीक्ष्ण परम संत हैं, फलतः अविरल, भक्ति, विरति, विज्ञान और सकल गुण-ज्ञान-निधान हैं । भक्ति-बुद्धिकी परिशुद्धि अथ च प्रेम भक्तिका प्रादुर्भाव तथा परिणाम सांसारिक प्रेमवत् लक्ष्णोंसे ही जाना जा सकता है । अर्थात् जैसे अनुभाव, रोमाञ्च, अश्रुपातादिकसे लौकिक रसोंके उद्वेगका अनुमान तथा लक्षण मनुष्योंमें प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार भगवत्प्रेम रूपा भक्तिके प्रादुर्भावका अनुमान ईश्वरके कीर्तनादि में भक्तके रोमांच, प्रलाप, अश्रुपात, लय आदि सात्त्विक अनुभावोंके चिन्होंसे किया जाता है और उन्हींसे प्रतीत होता है कि भक्तके प्रेमकी गहरायी कितनी है। सुतीक्ष्णकी भक्तिका अनुमान निम्नांकित पक्तियोंसे कीजिये—

“निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ।
दिसि अरु विदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं सूझा ।
कबहुँक फिर पाछे पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ।
अविरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई ।
अतिसय प्रीति देखि रघुवीरा । प्रगटे हृदय हरन भव भीरा ॥”

इस ‘अतिसय प्रीति’का इतना तीव्र प्रभाव हुआ कि आत्म-विस्मृति हो गयी—

“मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥”

×

×

×

“मुनिहिं राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान जनित सुख पावा ॥”

१. दे० ‘मानस’ अयो० २८७-७ । २. वही उ० ३६ । ३. दे० ‘विनय०’ पद १६७ ।
४. दे० ‘मानस’ अरण्य० १०. २६ । ५. ‘शालिख्य सूत्र’ ॥४३॥ ‘तत्परिणुद्धिश्च लोक बलिलङ्गेभ्यः ।’
६. ‘मानस’ अरण्य० ९. १०—१४ । ७. वही ९-१५ । ८. वही ९-१७ ।

ऊपरके अवतरणोंमें स्पष्ट है कि मुतीक्षणकी भक्ति उनके अविरल राम प्रेमकी परिचायिका है। यद्यपि वे रामको विरज व्यापक, सबके हृदयोंमें निरन्तर वास करनेवाले ब्रह्मके रूपमें जानते हैं तथापि उनके नगाकार रगुण रूपका ही चिन्तन करते हैं। जब रामने इस प्रेमा भक्तिसे परम प्रसन्न होकर वरदान देना चाहा उग समय भी मुनिने नर वेशधारी रगुण रामकी ही भक्ति माँगी—

“अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।

मम ह्रिय-गगन इंदु इव वसहु सदा निहकाम ॥”

और, इन कांसलपति, राजीवनयन रामके अतिरिक्त वे अपने हृदयमें किसी अन्यको स्थान देनेवाले नहीं—

“अस अभिमान जाय जनि भोरे । मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥”

मुतीक्षणके इन विचारोंसे ऐसा लगता है मानो तुलसीदासने अपने निजी विचार व्यक्त किये हैं। ऐसी कल्पना न करके हम यह भी कह सकते हैं कि दोनों ही परम संत हैं, अतः साम्यका होना स्वाभाविक ही है। उनमें प्रकृतितः भक्तिके सभी प्रकार अवगत होते हैं।

परम संत मुतीक्षणकी भक्तिकी चर्चाके बाद अब दूसरी ओर आइए। शूद्रों और स्त्रियोंकी आध्यात्मिक उन्नतिके द्वार पर अर्गला लगाकर वेदोंने उन्हें साधन-क्षेत्रसे वंचित कर दिया था, परन्तु पुराणोंने उस द्वारको उन्मुक्त किया और शूद्र तथा नारी दोनों ही भक्तिके अधिकारी घोषित किये गये। तुलसीदास सभी प्रकारके अधिकारियोंकी भक्ति-भावनाका निदर्शन उपस्थित करना चाहते थे। फलतः उन्होंने निम्न वर्ण एवं नारी जातिकी भक्तिभावनाका आदर्श भी दिखाया है। इसीसे निपाद और शबरीकी भक्तिका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भगवद्भक्तिमें लवलीन प्राणी सामाजिक व्यवस्थाकी तुलापर नहीं तौला जाता। अर्थात् जिसने अपने आपको भगवच्चरणारविदमें सर्वथा अर्पित कर दिया वह अपने वर्णमें सर्वसम्मति से अपवाद स्वरूप समझा जाता है। यथा, शूद्र वर्णका कोई चंडाल है जो अपने कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हुए निरन्तर भगवत्प्रेममें निमग्न रहते-रहते अन्तमें भगवत्प्रेमका प्रतीक ही बन जाता है। इस दशामें वह भक्त अपने वर्णको पुनीत करता हुआ स्वयं चांडाल कुलमें अपवाद स्वरूप ही माना जायगा। समाज उसे परमोत्कृष्ट ही स्वीकृत करेगा। यही भक्तोंकी छूट है। संत-जन इसके भूखे नहीं होते कि समाज उनकी प्रतिष्ठा अपवाद रूपसे करे। पर, भक्तिका प्रताप ही ऐसा होता है कि वहाँ—“नास्ति तेषु जाति विद्यारूप कुल क्रियादि भेदः^{१)}” का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। भगवद्भक्ति और प्रपत्तिके प्रतापसे भक्तजन स्वयं उस विशिष्ट कोटिमें पहुँच जाते हैं कि उन्हें भगवान्का स्वरूप ही माना जाता है—“यतस्तदीया।^{२)}” यही कारण है कि बहुत प्राचीनकालसे सामाजिक उत्सर्गोंमें भक्तजन अपवाद ही माने गये हैं। तुलसीदासने भी भक्तोंके इस विशेषाधिकारका पूर्ण समर्थन किया है^{३)}। भक्तकी कोई जाति हो वह स्वयं परम पवित्र है। उसके लिए सामाजिक प्रतिबंधोंको तिलाञ्जलि देनी ही होगी। अन्यथा भक्ति और भक्तकी महिमा ही क्या रह जायेगी। एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त लीजिए। सामाजिक नियमानुसार निपाद शूद्रवर्णका था, फलतः—

“लोक वेद सब भौतिहिं नीचा । जासु छौह छुइ लेइय सींचा ॥”

१. ‘मानस’, अरण्य १०.१७, १८। २. वही ११। ३. वही १०.२१। ४. ‘नारद सूत्र’ ॥७२। ५. वही ॥७३॥ ६. दे० ‘विनय’ पद १०६, ‘मानस’ अयो० १९३। ७. ‘मानस’ अयो० १९२.३।

योग्य था। पर, नहीं, भगवत्प्रेम-निष्ठ और गमका अन्त-य मिला था। अतः निम्न वर्णवा होते हुए भी उत्कृष्ट माना गया है। परमोदात्त, धर्म-धुरंधर भक्तके हृदयसे आलिंगन करनेका अधिकारी ठहराया गया है। भक्त ही नहीं, ब्राह्मण-कुल-शिरोमणि वशिष्ठजीने उसे परम पवित्र ही जानकर हृदयसे लगाया—

“प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दृरि तें दंड प्रनामू ॥
राम सखा गिपि वरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा” ॥”

स्निग्ध स्नेह—जैसे अनर्थ पदार्थमें रचमात्र भी धूल न लगे इसीलिए उसे मुनि इतनी उत्कंठासे समेट रहे थे।

स्वयं रामने भी ऊँच-नीचका विना कोई भेद किये ही उसे हृदयसे लगाकर भेंटा था—

“हिसारत निपाद तामस वपु पसु समान वनचारी।
भेंट्या हृदय लगाइ प्रेमवस नहिं कुल जाति विचारी” ॥”

शवरीकी भक्तिकी चर्चा करते समय सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि शवरीकी भक्तिमें सुतीक्ष्णकी भक्ति-सी गहवाई नहीं। रामके प्रेममें वह झुकी है अवश्य, पर उसकी तन्मयता इतनी नहीं बढ़ गयी है कि गमके समीप आने पर भी उसे खबर न हो। वह तो सामान्य प्राणियोंकी भाँति रामकी प्रतीक्षा में उत्कंठित होकर—

“छन भवन, छन वाहर, विलोकति पंथ भ्रू पर पानि कै” ॥”

रामके सत्कारार्थ किये गये इस सामान्य उपक्रमसे उसका सहज स्नेह छलकता है—

“दोना रुचिर रचे पूरन कंद-मूल-फल-फूल।
अनुपम अमियहुँ तें अंवक अवलोकत अनुकूल ॥
अनुकूल अंवक अंव ज्यों निज डिंभ हित सब आनि कै।
सुंदर सनेह सुधा सहज जनु सरस राखे सानि कै ॥”

अन्तमें, प्रेमके वशवर्ती राम सहानुज उसके समक्ष लोचन-गोचर होते हैं। उन्हें देखते ही उनमें अपनेको भगवच्चरणोंमें अर्पित कर दिया—

“सबरी परी चरन लपटाई” ॥”

प्रेमातिरेकवश मृक-सी होकर बारम्बार नमन करने लगी। तदुपरात चरण धोकर उन्हें सुंदर आसन पर बिठाकर—

कंद-मूल-फल सुरस अति, दिये राम कहूँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाये, बारम्बार बखानि” ॥”

भगवान्ने केवल बखान-बखान कर ही नहीं खाया, अपितु माँग-माँग कर खाया—

“प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम भोगी जाग के” ॥”

१. 'मानस', अयो ०१९१'६, ७। २. वही १९२.। ३. वही २४१'५, ६। ४. विनय० पद १६६। ५. 'गीतावली' अरण्य० गीत १७ (३)। ६. वही गीत १७ (३)। ७. 'मानस' अरण्य० ३३'८। ८. वही ३३'९। ९. वही ३४'। १०. 'गीतावली' अरण्य गीत १७ (६)।

यह दृश्य देख 'मित्र, सिद्ध-सनकादि' भी उसके भाग्यकी मगहना किये बिना न रह सके। यदि कोई संदेह करे कि रामको शबरीका कंद-मूल-फल इतना क्यों भाया तो तुलसीदास उसका समाधान यों करते हैं—

“बालक सुमित्रा कौसिलाके पाहुने फल सागके।
सुनि समुझि 'तुलसी' जानु रामहिं बस अमल अनुरागके॥”

इसी 'अमल अनुराग' से ही मुक्ति भी हमगत होती है। तभी तो वह—

“अति प्रीति मानस राखि रामहिं, राम धामहिं सो गई।
तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई॥”

तुलसीदासकी रचनाओंमें शबरीका जो चित्रण मिलता है उसके आधार पर यह निर्णय करना कठिन है कि रामने नवधा भक्तिके जिन भेदोंको उसे समझाया वे सब उसमें विद्यमान थे या नहीं; पर रामकी इस उक्ति—

“नव महुं एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥”

से स्पष्ट है कि उसमें नवधा भक्ति थी। भले ही वह अधम जातिकी स्त्री थी; परन्तु उसकी प्रीति सच्ची और उच्च कोटि की थी, इसीसे भगवान् ने बिना किसी भेद-भावके उसका उद्धार किया—

“अधम जाति सबरी जोपित जड़ लोक वेद तें न्यारी।
जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी॥”

अन्तमें, सत-प्रकृतिकी लौकिक तथा आभ्यात्मिक उपादेयता एवं उपयोगिताको दृष्टिमें रखते हुए इनकेकी चोट कहा जा सकता है कि आजके भौतिकवादी युग या किसी युग विशेषमें आत्म-कल्याणार्थी अथवा राष्ट्रोत्थान तथा राष्ट्र-चरित्र-निर्माणकी कामना करनेवाला व्यक्ति यदि स्वयं संत-प्रकृतिका नहीं है तो उसकी कामना स्वप्नमें भी पूरी नहीं हो सकती। निश्चय ही कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग या किसी भी योगमें कृत-कृत्य होनेके लिए संत-प्रकृतिका होना अनिवार्य है।

— — —

१. 'गीतावली' अरण्य० गीत १७(६)। २. वही १७(८)। ३. 'मानस' अरण्य० ३५.६, ७।

४. 'विनय०' पृष्ठ १६६।

षष्ठ परिच्छेद

तुलसीकी धर्म-भावना

धर्म और भक्तिका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। गोस्वामीजी इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको धर्मका पूरक मानते हैं। उनकी दृष्टिसे भक्ति और धर्ममें अंगांगिभाव-सम्बन्ध है। किसी अंगके मृग्य होनेपर जैसे समस्त शरीरकी विकलता कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार धर्मके किसी आडम्बर या अनाचारसे ग्रस्त हो जानेपर भक्तिका विकृत हो जाना अनिवार्य है। भक्तिका विमल और यथार्थ प्रकाश प्रस्फुटित हो और उससे विश्वका अभ्युदय होता रहे, इसके लिए आवश्यक है कि साधककी उपासना किसी प्रकारके अनाचारसे पकिल और रहस्यसे आवृत न हो। गोस्वामीजी यह बात भली भाँति जानते थे, इसीसे इन्होंने इनको रामोपासनामें रंचमात्र भी स्थान नहीं दिया, प्रत्युत इन्हें मिटानेका प्रयास किया है।

धर्म-भावना में आडम्बरका वहिष्कार

आडम्बरका सम्भाव्य स्वरूप क्या है? बाहरी प्रदर्शनके द्वारा वास्तविकताको तिरोहित करके अन्य सत्य अथवा सत्याभासको महत्ता देना आडम्बर या ढोंग कहा जा सकता है। जिम क्रियाके बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूपमें एकरूपताका अभाव हो वही आडम्बरयुक्त कही जायगी। किसी प्रकारके छल, छद्म, कपट, धूर्तता आदिसे युक्त क्रिया ही नहीं, व्यवहार, नीति, वेश आदि भी आडम्बरके अन्तर्गत आते हैं। सत्य सर्वदा एक और सार्वभौम होता है, जब कि आडम्बर क्षण-क्षणमें बदलनेवाला और अनेक होता है।

विशद वेश बनाने और वाणीमें अमृत घोलनेसे भी यदि मनकी विशदता न आयी और उसके परिणामस्वरूप मलिन कामोंका ही सम्पादन होता रहा तो यह आडम्बर हुआ। गोस्वामीजी ऐसे आडम्बरी कर्त्ताको उपासनाके अयोग्य समझते हैं। जो आडम्बर-प्रेमी साधना या धर्मकी प्रतिष्ठा केवल बाह्य वेश और वाणीके आधारपर करना चाहता है: उसके लिए यह कैसी उत्तम चेतावनी दी गयी है—

‘वचन वेष तैं जो बनै, सो विगैरै परिनाम । तुलसी मन ते जो बनै, वनी बनायी राम’ ।^१

वस्तुतः शुचि मनवाला साधक ही आडम्बर-रहित होगा। वह सत्य वचनका उच्चारण करेगा, रामभक्त कहलानेका अधिकारी होगा और उसे स्वयं कलिकाल न छल सकेगा।^२ इसके विपरीत केवल बाह्य वेश रचनेवाला आडम्बरी होनेके कारण निन्द्य है। उदर-भरणके लिए गृहत्यागी बनकर साधनामें प्रवृत्त होनेवाला भिक्कारने योग्य है—‘मूढ़ सुझायो बादि ही, भौड़ भयो तजि गेह’ ।^३

आडम्बरकारियोंका मायावी सुन्दर वेश बड़ा ही भयावह होता है, अतएव गोस्वामीजी सावधान करते हैं—

‘हृदय कपट वर वेष धरि, वचन कहैं गढ़ि छोलि ।

अवके वोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिये मन खोलि’ ।^४

१. ‘दोहावली’, दो० १५३ । २. वही, दो० १५४ । ३. वही, दो० ८७ । ४. वही, दो० ६३ ।

५. वही, दो०, ३३२ ।

विश्वरूपमें मयकर जीवको भी पना तानेवाले भूभूत समान मिष्टभाषी आडम्बर-प्रेमी हेय हाँट-मे देखने योग्य है'। ऐसे तामसावके भक्तन वेशधारी पाश्वरीका संग स्थाप्य है'। तुलसीदासजी ऐसे वेशियोंको चिताते भी हैं कि किसी-न-किसी दिन तुम्हारे हाँसका भण्डाफोड़ हो ही जायगा, अतएव अच्छा है कि पहले ही उसे त्याग दो'। झूठे आडम्बरमें वक्तचित्त प्राणी कभी कीर्ति, विजय या विभूति नहीं प्राप्त कर सकता'। जिस धर्म या उपासनामें आडम्बरको आश्रय दिया जाता है उसके अनुयायीको वास्तविक सुख क्योंकि मिल सकता है—

‘वचन विचार अचार तन मन कर्तव्य छल हृति ।

तुलसी क्यों सुख पाइये अन्तरजामिहिं धृति' ।

पि०, यह कैसे सम्भव हो सकता था कि ऐसे दुष्ट फलदायक और अपकीर्तिविधायक आडम्बरको गोस्वामीजी अपने लोककल्याणकारी धर्ममें समाविष्ट होने देते ? उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें सभी प्रकारके आडम्बरोंकी भर्त्सना की है और सर्वथा उससे अपनी उपासनाको अदृष्टा स्वर्गका संकेत किया है तथा इकेकी चोट कहा है कि मनकी निर्गलताके बिना भगवत्प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती, अस्तु ।

भूत-प्रेत-पूजाका बहिष्कार

जैसे आडम्बर हमारे कविकी धर्मभावना या उपासनामें पूर्णरूपसे बहिष्कृत किया गया है वैसे ही भूत-प्रेतका पूजन भी । भूत-प्रेतकी पूजाको तुलसीने उपासनाकी अधम कोटिमें रखा है । बात यह है कि उनके सदृश सात्त्विक श्रद्धावान् व्यक्तिके मनमें तामसी श्रद्धाके आलम्बन भूत-प्रेतके प्रति पूज्यताकी भावना कैसे टिक सकती थी । तामसी श्रद्धावालोंका जीवन मृदता या जड़ताके घोर अन्धकारमें पड़ा रहता है । मनुष्यकी जैसी मति होती है वैसी ही गति भी । भूत-प्रेत-पूजकोंकी पूजा भयमूलक होती है और उसमें नाना प्रकारके अनाचार भी प्रविष्ट हो जाते हैं । ऐसी उपासना किस प्रकार शुभगतिदायिनी हो सकती है । ऐसे पूजक या साधक लोककल्याणके वातक होते हैं, उनकी उपासनामें मारण, मोहन, उच्चाटन प्रभृति नृशम कर्मोंके अतिरिक्त रहता ही क्या है ? प्रेतोंके उपासकका आचरण भी प्रेतवत् हो जाता है । इन्हीं कारणोंसे गोस्वामीजीने तामसी प्रेतोपासनासे धर्मको पंक्ति नहीं होने दिया । ऐसी उपासना घोर पाप या अधर्मकी श्रेणीमें परिगणनीय है, एतदर्थ उसमें लगे हुए साधकोंकी वे बड़ी कड़ी भर्त्सना करते दिखाई पड़ते हैं । देखिये—

‘तुलसी परिहरि हरि-हरहि पाँवर पूजहिं भूत । अन्त फजीहति होहिं गनिका कैसे पूत' ।

भूत-पूजाकी अधोगतिसे बचानेके लिए वे ओझा-वर्गको सचेत करनेमें भी नहीं पिछड़े हैं—

‘तुलसी रामहिं परिहरे, निपट हानि सुनु ओझ ।

सुरसरि डर गत सोइ सलिल, सुरा सरिस गंगोझ ।’

१. ‘दोहावली’, दो० ३३१, ३३३ । २. वही, दो० ४०९ । ३. वही, दो० ४१०, कविता० उ० छ० ३२ । ४. ‘दोहावली’, दो० ४१२ । ५. वही, दो० ४११ । ६. ‘कविता०’, उ० छ० ११९ । ७. ‘मानस’, सुन्दर० ४३.५ । ८. ‘दोहावली’, दो० ६५, ‘मानस’ अयो० दो० १६६ भी देखिये । ९. ‘दोहावली’, दो० ६८ ।

प्रेत-पूजकोंकी निन्दा तुलसीने स्वेच्छामे ही नहीं की है, शास्त्रोंके प्रमाणमे भी प्रेत पूजा हेय है। 'गीता'में कहा गया है—

‘यान्ति देवव्रता देवान पितृव्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि मम’ ।

रहस्यवादका वहिष्कार

गोस्वामीजीकी रचनाओंमें धर्मका रहस्यवादके दलदलसे पृथक् रमनेका प्रवास भी है। इसके लिए प्रमाण प्रस्तुत करनेके पूर्व रहस्यवादका सामान्य अर्थ भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। वो तो रहस्यवाद एक गुप्त और स्वतन्त्रतासे आलोचनीय भावमूलक बुद्धिवाद है, पर स्थूल रूपमें रहस्यवाद उपास्य और उपासनाके गुप्त रहने और गोपन करनेकी प्रवृत्तिका ही व्यञ्जक है। कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जो अपनी उपासना गुप्त रीतिसे करते हैं, उनका कोई गूढ़ रहस्य माननेके कारण अपने दलके अनिरिक्त और किसीको अपनी उपासना-विधि बताते ही नहीं। कहा नहीं जा सकता कि ये अपने अनाचारोंको छिपानेके लिए यह आवरण ढाँटे रहते हैं अथवा वस्तुतः इनकी इस प्रवृत्तिका कोई तात्त्विक प्रयोजन भी है। जो कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि ऐसे उपासक गुप्त रीतिसे अपने गुप्त विधि-विधानोंके अनुसार उपासना करते हैं।

गोस्वामीजीके धर्ममें ऐसी कोई दुराव व छिपावकी बात नहीं। यहाँ राम-भक्तिका राजमार्ग सभीके लिए खुला हुआ है। उसमें प्रवेश करनेके लिए एकमात्र सात्त्विक आचारकी अपेक्षा है—

‘मूढे मन सूये वचन सूधी सब करनूनि । तुलसी मूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रमूति ।’

वह धर्म ‘चक्र’के भीतर पहेली बनकर रहनेवाला न होकर सारे संसारके लिए अन्न-जलकी भाँति सुलभ है—

‘निगम अगम साहव सुगम राम साँचिली चाह ।
अम्बु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह’ ॥

साहित्यिक और साम्प्रदायिक रुढ़िके अनुसार रहस्यवादी साधक भावावेशकी दशामें अपने अन्तःकरणके भीतर प्रियतम भगवान या ब्रह्मके साक्षात्कारका बोध करता है। इस मिलनके बाद विरहकी दशामें साधकके प्रलापके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। ऐसे रहस्यावादी साधकका धर्म हृदयके संकुचित कोनेमें उस ज्योतिको ढूँढ़नेके सिवाय होता ही क्या है? तुलसीमें ऐसा रहस्यवाद भी नहीं। उनकी दृष्टिमें राम केवल हृदयमें ढूँढ़े जानेवाले नहीं है। वे तो सारे संसारके विग्नारमें हैं, प्रेमसे जहाँ भी उनका स्मरण किया जाय वही प्रकट हो जाते हैं—

‘अन्तरजामिहुँ तें बड़ बाहरजामि हैं राम, जे नाम लिये तें ।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तें ॥
आपनि बुझि कहै तुलसी कहिये की न बावरि बात बिये तें ।
पैज परे प्रह्लादहुको प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें’ ॥’

रामका जो स्वरूप गोस्वामीजीने दिखाया है वह ऐसा नहीं है जो हमारे हृदयमें जगमगाती हुई ज्योतिकी भाँति अकस्मात् कौंधकर अन्तर्धान हो जाय, प्रत्युत वह ऐसा स्वरूप है जो अमित सौन्दर्य,

१. ‘गीता’, अध्या० ९, श्लोक २५ । २. ‘दोहावली’; दो० १५२ । ३. वही, दो० ८० ।
४. ‘कविता०’; उ० छ० १२९ ।

अपरिमेय शक्ति और उदार शील आदिक द्वांग अपनी पारमार्थिक गत्ताका परिचय देते हुए साक्षात् धनुष-बाण धारण किये हमारी आँखोंके सामने सर्वत्र दिग्वाई पड़ता है। ऐसी सगुणोपासनामें रहस्यवाद कैसा ?

गोस्वामीजीमें उक्त प्रयाम अर्थात् धर्मको आडम्बर, भूत-प्रेत-पूजा और रहस्यवादने अलग रखनेकी प्रवृत्ति किस मात्रातक बढ़ी हुई थी तथा उसका भाग्यीय समाजपर क्या प्रभाव पड़ा, इन्हे ग्रियर्सन साहबके मुँहसे सुनिये—

‘तुलसीकी धर्म-भावनाको अपनानेका जो कुछ प्रत्यक्ष परिणाम हुआ वह उत्तरी भारतके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। कविके जीवन-कालमें भारतकी सामान्य जनताके लिए यथेष्ट अनुसरणीय दो ही धर्म-मार्ग खुले थे। एक तो स्थूल बहुदेववादपर आश्रित ग्रामीण देवी-देवताकी पूजा-पद्धति और दूसरा कृष्ण-सम्प्रदाय। इनमें प्रथम इस समय भी वर्तमान है, पर उसपर गोस्वामीजीके नवप्रवर्तित भक्ति-मार्गका पूरा अनुशासन है और वह बहुत-कुछ संयत होकर विलीन हो गया है। कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायका अशिक्षित जनतापर क्या प्रभाव पड़ता है इसका प्रत्यक्ष रूप बंगालकी धार्मिक भावनाने उपस्थित कर दिया है। वह अनिवार्य रूपसे कामोपासनाका रूप धारण कर लेती है और उसके धार्मिक ग्रन्थोंमें गोपी-कृष्णकी अत्यन्त उन्मादिनी और विकार-ग्रस्त प्रेम-लीलाओंकी भरमार हो जाती है। और सब तो लुप्त हो गया, केवल शाक्तमत के अत्यन्त भयानक तथा वर्णानातीत अनाचारोंका प्राधान्य हो चला। इस विपत्तिसे तुलसीदासजीने उत्तरी भारतकी रक्षा कर ली’।

नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर धर्मकी स्थापना

अपने धर्म-रसायनकी योजनामें गोस्वामीजीने नैतिक, भाविक और बौद्धिक तत्त्वोंका जो प्रशंसनीय और अनूठा अनुपात स्थिर किया है उसका विश्लेषण भी कर देना चाहिये। ऐसा करनेके लिए पहले इन विविध तत्त्वोंकी विशेषताओंका स्पष्टीकरण आवश्यक है। नैतिकका सम्बन्ध हमारे उन सभी कार्योंसे है जो परस्पर व्यवहारके लिए आवश्यक हैं जो माता-पिता, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र, पड़ोसी, स्वप्रान्तवासी, स्वदेश-वासी, राजा-प्रजा, ग्राहक, दुकानदार आदिके बीच चलते हैं। इस क्षेत्रकी व्यापकतापर ध्यान देते हुए कहा जा सकता है कि इसके विलुप्त होनेपर समाजका स्वरूप ही नहीं रह सकता। वह विशृंखल होकर तुरन्त विनाशोन्मुख होने लगेगा। नीतिके अभावमें कोई भी अनाचार अकरणीय नहीं कहा जा सकता। अतः इसके अभावमें, व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपोंमें समाजका घोर पतन अयश्वम्भावी है।

भाविक तत्त्वकी प्रधानता हमारे उन सभी कृत्योंमें रहती है जिनमें हमारी अन्तर्वृत्तियोंकी भी खुल-खेलनेका अवसर मिलता है। इसमें हमारे कार्य केवल नीतिके कठोर पाशसे ही नियमित नहीं रहते, अपितु उनमें हृदयकी कोमल और उदात्त वृत्तियोंका सहयोग भी वर्तमान रहता है। यथा, शासकका कर लेकर बदलेमें शासितके लिए कुछ करना तो नीति है, पर कर देनेवालोंसे आत्मीयता और प्रेम भी रहे यह धर्मका भाविक पक्ष है। अमुक कर्तव्य भाई-भाईके बीच अनिवार्य है यह नीति है, पर भाई-भाईके लिए सर्वस्व त्यागकर अनन्य प्रेमी रहे, यह भाविक तत्त्वका फल है। हृदयविदारक स्थितिमें देखकर किसी अपरचितके प्रति करुणा, दया आदि भावोंके वशवर्ती हो जो कृत्य हम करते हैं वे भाविक पक्षकी कोटिमें आयेंगे। इस पक्षके फलकी ओर दृष्टि डालनेपर कहा जा सकता है कि यह समाजको निस्संशयता और निर्जीवतासे बचाकर महाप्राण बनाता है।

इष्टानिष्ठ परिणामकी ओर दृष्टि रखकर माधक-वाधक तर्क-वितर्कोंका मन्थन करके जो कार्य किया जाता है, वह बौद्धिककी कांठिमे आता है। बौद्धिक कृतियोंके तीन रूप दिखाई पड़ते हैं—बुद्धि-ग्राह्य (रैशनल) अर्थात् जिनका तर्कमे समर्थन होता है; अबुद्धि-ग्राह्य (इर्रैशनल) जो तर्ककी पहुँचके बाहर है और अन्तिम बुद्धि-विपरीत (एण्टीरैशनल) जो पूर्ण रूपसे तर्क-विरुद्ध और असंगत है। बौद्धिक तत्त्वका परिणाम देखते हुए कहा जा सकता है कि यह ममाजको व्यवहार-कुशलताकी ओर ले जानेवाला है। व्यक्तिगत उन्नतिको दृष्टिमे रखकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि स्वार्थ-माधनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

अब हम कह सकते हैं कि जो धर्म नैतिक, भाविक और बौद्धिक तीनों आधारपर अधिष्ठित रहता है वह लोकार्थ, स्वार्थ और परार्थ तीनोंका समन्वयकारी, अतएव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंका सम्पादक है। ऐमे ही धर्ममें—

‘करव साधुमत लोकमत नृप नय निगम निचोर’।^१

की भावनाएँ सन्निविष्ट रहती हैं। कहना न होगा कि साधुमत, ‘लोकमत’ तथा ‘नृपनय’ आदि हमारे भाविक, बौद्धिक और नैतिक पक्षके ही व्यंजक हैं। गोस्वामीजीने जिन धर्मकी प्रतिष्ठा की है उनके आचरणमें रामसे बढ़कर पारंगत अन्य कोई नहीं—

‘नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम नम जान जथारथ’।^२

नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर अधिष्ठित धर्म श्री रामके चरित्र द्वारा किम प्रकार कार्यान्वित हुआ है, इसके स्पष्टीकरणके लिए रामकी यह उक्ति देखिये—

‘सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राजा कोसपुर नारी’।^३

वानरराजके इस आचरणपर क्रोध आना अस्वाभाविक नहीं। अतः राम उन्नेजित होकर कहते हैं—

‘जेहि सायक मारा मैं वाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहूँ काली’।^४

ऐसा रोष नीति-विरुद्ध नहीं है। सुग्रीव अपनी शर्तसे पराङ्मुख हो रहा था, एतदर्थ उसे दण्ड देना ठीक था, इसीसे नीति-निपुण लक्ष्मणने तुरन्त—‘धनुष चढ़ाइ गहं कर वाना।’ परन्तु नहीं, तुलसीको नीतिके सामने भाविकताका दमन अभीष्ट न था। सुग्रीव सखा हो चुका है, उसको प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता, अतएव रामको कहना पड़ा—

‘भय दिखाय लै आवहु तात सखा सुग्रीव।’

इस ‘भय दिखाय लै आवहु’में बौद्धिक तत्त्वका प्राधान्य है। ऐसा करनेसे स्वार्थ-सिद्धि भी हो जायगी। इस प्रकार उक्त प्रसंगमें रामने तीनों तत्त्वोंके सम्मेलन द्वारा धर्मका निर्वाह किया है।

दूसरा प्रसंग लीजिये। भाविकताके प्रवाहमें पड़कर सारी अयोध्यापुरी भरतके साथ चित्रकूट पहुँच गयी, परन्तु वहाँ पहुँचकर नैतिक और बौद्धिक जागर्तिके कारण लोग शान्त-से हो गये। जिस सभामें जनक, बशिष्ठ, भरत आदि जैसे धर्म-प्रवर विद्यमान थे, उसमें उनके सामने किसीको अपनी सम्मति देनेकी प्रगल्भता

१. ‘मानस’, अयो० २५७. २. वही, अयो० २५२. ५। ३. वही, किष्कि०, १७.४। ४. वही, किष्कि०, १७.५।

नीतिके विरुद्ध होती, इसीसे लोग इन्हीं महापुरुषोंका मुँह ताकने रहे। अन्तमें गुरु, जगक आदि भी भावुकताके चरचर्ती होकर भरतकी पृथी गड़ाई करनेमें असमर्थ होने लगे, रामका हृदय भी तरलित हो उठा और उन्हें—‘भरत कहहि मोइ किये भलाई’ कहकर नन्वध होना पड़ा। यह साधारण भावुकता नहीं थी, बुद्धि कहती थी—‘राखेउ राख सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेंउ प्रेम पन त्यागी।’ ऐसे पिताका वचन टालना कितना भारी अनौचित्य होता, किन्तु नहीं। द्रवित हृदयने उन्हें ये वचन कहनेके लिए विवश किया—

‘मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ मोइ आज’ ।’

रामकी ऐसी अप्रतिम भावुकताने भरतपर अमित प्रभाव डाला, उससे उन्हें पूर्ण सन्तोष हो गया और अपने कर्तव्य-निर्णयके लिए उन्हें नैतिक पक्षकी ओर झुकना पड़ा—

‘प्रभु पद सपथ कहउँ सति भाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ’ ॥’

‘प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देव।

सो सिर धरि धरि करहि सवु, मिटिहि अनट अवरेव’ ॥’

सेवकके लिए स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करनेसे बढ़कर दूसरी नीति नहीं। फलतः भरतने यही ठीक समझा कि प्रभुकी आज्ञा माननेमें ही सर्व-कल्याण निहित है। एतदर्थ रामकी आज्ञा और उनके वताय हुए राजनीति-तत्त्वको समझ लेनेपर वे प्रजापालनके लिए अयोध्या प्रत्यागमनके हेतु तत्पर हुए। उस समय उनके भाविक और बौद्धिक पक्ष फिर मजग होकर कुछ स्थूल आधार ढूँढ़ने लगे। रामने—

‘बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु आधार मन तोष न साँती’ ।’

फिर तो प्रभुको कृपा करनी ही पड़ी—

‘प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हि। सादर भरत सीस धरि लीन्हि’ ।’

नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधारपर धर्मका जो हृदयंगम होनेवाला स्वरूप ऊपरके प्रसंगसे अवगत होता है उसकी उपयोगिता, समीचीनता और ग्राह्यता किसे अप्रिय होगी?

प्रस्तुत प्रसंगकी समाप्तिके पहले एक बात और कहनी है। गोस्वामीजीने धर्मके इन त्रिविध तत्त्वोंका निष्कर्ष उपदेशात्मक शब्दों या लोकोक्तियों द्वारा उतना व्यक्त नहीं किया है जितना प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण द्वारा। इस विशेषतापर मैक्फी साहब भी परम मुग्ध हैं—‘इस काव्यकी नैतिक शिक्षा शब्दों या कहावतोंमें उस प्रकार नहीं व्यक्त हुई है जिम प्रकार स्त्री-पुरुष पात्रोंके यथार्थ चित्रणमें। राम और सीता, भरत और लक्ष्मणने अपने विश्वासमूलक धर्मके प्रभावोत्पादक पालनसे, अपनी सत्यनिष्ठासे, अपने पवित्र और शुचि सदाचारसे और दाक्षिण्यसे, भारतके समक्ष बड़े ही उच्च आदर्श उपस्थित किये हैं’ ।’

धर्मकी व्यापकता और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार

तुलसीने जिस व्यापक धर्मका निर्देश किया वह उनका कोई व्यक्तिगत प्रवर्तित नया धर्म न था। वह प्राचीन भारतका सनातनधर्म ही है जो मनुष्यमात्रके लिए सामान्य धर्मके नामसे अनादिकालसे चला

१. ‘मानस’, अयो० २५७.८। २. वही, अयो० २६२.६। ३. वही, अयो० २६३.। ४. वही, अयो० २६७.८। ५. वही, अयो० २६८.। ६. ‘मानस’, अयो० ३१४.२। ७. वही, अयो० ३१४.४। ८. ‘रामायन आवू तुलसीदास’, पृ० १८५।

आ रहा है। प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें इस व्यापक धर्मकी महत्ता, उसके लक्षण और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार जिस रूपमें अवगत होता है, पहले उसका सिद्धान्तलोकन कर लेना अनुचित न होगा। धर्मकी महिमा 'तैत्तिरीयारण्यक'में इस प्रकार बतायी गयी है— 'विश्वकी प्रतिष्ठा धर्मसे होती है, धर्मशीलके पाम लोग जाते हैं, धर्मसे पापोच्छेद होता है, धर्मपर ही मनु-कुल प्रतिष्ठित है, धर्म ही परम पुरुषार्थ है'।^१ इधर मनुने धर्मकी महिमाके सम्बन्धमें कहा है— 'मृत शरीरको काट और ढेलेकी तरह धरतीपर छोड़कर बान्धव-गण मुँह फेरकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उस समय पीछे-पीछे जाता है'। यही नहीं, परलोकमें जहाँ हमारा कोई कुटुम्बी सहायता नहीं कर सकता वहाँ धर्म ही हमारे मायने महान् हितके रूपमें खड़ा रहता है'। परम धर्मज्ञ भीष्म पितामहने 'महाभारत'में कुण्डधार और निर्धन ब्राह्मणके उपाख्यान द्वारा युधिष्ठिरको धर्मकी जो महिमा सुनायी है वह इस बातका प्रमाण है कि धर्मकी मज्जा 'काम' और 'अर्थ' कदापि नहीं कर सकते। देखिये—

‘देवता ब्राह्मणाः सन्तो यथा मानुषचारणाः।

धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः’ ॥

अब धर्मके व्यापक लक्षणोंकी ओर आइये। 'महाभारत'में कहा गया है—

‘प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्। यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

धारणाद्धर्मित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः। यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्। यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः’ ॥’

अवतरणसे स्पष्ट है कि धर्म प्राणिमात्रकी उत्पत्तिका कारण है, उसमें धारण किये जाने और धारण करनेकी क्षमता है और वह अहिंसाका रूपान्तर है।

कणाद ऋषि प्रयोजन-सिद्धिके विचारसे कहते हैं—

‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः’ १

अर्थात् जिससे लोक-परलोक दोनों बने वह धर्म है। मनुने इस व्यापक धर्मके दस लक्षण निर्धारित किये हैं—

‘धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। वीर्यव्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्’ ॥’

धर्मके इन दस अंगोंके आचरणका अधिकार सभी वर्णोंको दिया गया है और धर्मके संक्षिप्त रूपका वर्णन भी यां मिलता है—

‘अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः’ १

कहना नहीं होगा कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह ये सामान्य धर्म हैं और इनपर मनुष्यमात्रका अधिकार है।

१. 'तैत्तिरीय०' १०.६३। २. 'मनु०', ४ : २४१। ३. वही, ४ : २३९। ४. 'महाभारत', शान्ति० २७० : ५५। ५. 'महाभारत', राज० १०९ : १० : १२। ६. 'वैशेषिक सूत्र', '२'। ७. 'मनु०', ६ : ९२। ८. 'मनु०', १० : ६३।

महिषि याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें सर्व प्राणियोंका सामान्य धर्म यह है—

‘दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्’^१

सामान्य धर्मके अंगभूत जिन सार्ववर्णिक गुणोंका संकेत ‘महाभारत’में मिलता है वे ये हैं—अक्रोध, सत्य, संविभाग, क्षमा, दया, स्वपत्नीव्रत, पतिव्रता; आर्जव और स्वभृत्य-भरण आदि ।^२

‘भागवत’में स्वयं भगवान्‌के द्वारा वताये गये सनातनधर्मके ये लक्षण, जिनके सम्पादनसे सभी वर्ण और आश्रमके लोग परम ज्ञान और भक्ति प्राप्त करते हैं, धर्मराजके पृथ्वीने नारदजीने वतल्याये हैं—

‘सत्यं दयां तपः^३ शौचं^४ तितिक्षेक्षा^५ शमो^६ दमः^७
अहिंसा^८ ब्रह्मचर्यं च^९ त्यागः^{१०} स्वाध्यायः^{११} आर्जवम्^{१२} ।
सन्तोषः^{१३} समदृक्सेवा^{१४} ग्राम्येहोपरमः^{१५} शनैः^{१६}
नृणां विपर्ययेहेक्षा^{१७} मौनमात्मविमर्शनम्^{१८} ।
अग्नाद्यादेः^{१९} संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः^{२०}
तेष्वात्मदेवता^{२१} बुद्धिः सुतरां नृपु पाण्डव ।
श्रवणं^{२२} कीर्तनं^{२३} चास्य स्मरणं^{२४} महतां गतेः^{२५}
‘सेवेज्या’^{२६} धनं^{२७} तिर्दास्यं^{२८} सख्यं^{२९} मात्मसमर्पणम्^{३०} ।’

‘भागवत’ ७:११:८—११

इन तीसों गुणोंसे युक्त धर्मको नारदजी सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपयोगी व्यापक धर्म कहते हैं और इसीके आचरण द्वारा मनुष्य भगवत्कृपाका अधिकारी बनता है^३, अस्तु ।

प्राचीन शास्त्रोंके आधारपर जो संक्षिप्त विवेचन अभीतक किया गया उससे व्यापक धर्मका स्वरूप, उसकी महिमा तथा उसपर सर्वसामान्यके अधिकारका निर्देश मिल जाता है । अब इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीके जो विचार हैं उनका निरूपण भी हो जाना चाहिये । पहले उनके धर्म-महिमा सम्बन्धी विचारोंको लीजिये । वे धर्मको गले पड़ी वस्तु समझनेवालोंमें नहीं । उनके मतमें धर्म दिव्य और अलौकिक वस्तु है, उसके पालनमें घोरतिघोर यातनाओंको सहकर भी उससे विचलित न होना ही परम कर्तव्य है—

‘सहि कुबोल साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान ।

तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गये सुजान’ ॥’

धर्मकी वेदीपर अपना सर्वस्व उत्सर्ग करनेवाले महापुरुषोंके दृष्टान्तोंमें गोस्वामीजीने अपनी अपार आस्था दिखायी है—

‘सिवि दधीचि हरिचन्द नरेसा, सहे धरम हित कोटि सलेसा ।

रंतिदेव बलिभूप सुजाना । धरम धरेउ सहि संकट नाना’ ॥’

इन दृष्टान्तोंके अतिरिक्त, एकसे एक बढ़कर धर्म-प्रतीक महात्माओंके दर्शन ‘मानस’में होते हैं । ‘धर्म धुरीन भानु कुल भानू’ राम, ‘धर्म-धुरन्धर’ भरत तथा महान् धर्मज्ञ दशरथसे बढ़कर धर्मव्रती कौन

१. ‘याज्ञ० स्मृ०’, १:१२२ । २. दे० ‘महाभारत’, शा० ६०:७ ।

३. ‘भागवत’, ७:११:१२ । ४. दोहावली, दो० ४६६ । ५. ‘मानस’, अयो० ९४:३, ४ ।

होगा ? गोस्वामीजीने इन पात्रोंके चरित्र द्वारा व्यक्त कर दिया है कि किस प्रकार धर्मव्रतियोंका सर्वोत्सर्ग होता है—धर्मके लिए ।

गोस्वामीजीका दृढ़ विश्वास है कि सासारिक सुख-सम्पत्ति धर्मशीलके पीछे-पीछे स्वयं दौड़ती है—

‘जिमि सरिता सागर पहुँ जाहीं, जद्यपि ताहि कामना नाही ।

तिमि सुख संपति बिनहि बोलाए, धरम सील पहुँ जाहि सुभाए’ ॥’

परम पुरुषार्थ मोक्षका प्रथम सोपान भी धर्म ही है—

‘धर्म ते धिरति जोग ते ग्याना, ग्यान मोक्ष प्रद वेद बखाना’ ।’

धर्मकी महिमा और उसकी अलौकिकतामें बाबाजी कैसी प्रबल आस्था रखते थे, इसके लिए कोई प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं, ‘मानस’के पृष्ठ-पृष्ठपर इसका संकेत मिलता है । ग्रंथमें चारों ओरसे धर्मकी प्रशंसा और अधर्मकी निन्दा सुनायी पड़ती है । इससे निष्कर्षरूपमें हम यही कह सकते हैं कि धर्म-महिमाके विषयमें तुलसीके वैसे ही विचार हैं जैसे हमारे प्राचीन धर्माचार्योंके ।

अब रहा उनके व्यापक अर्थात् सामान्य धर्मकी भावनाके स्वरूपका निर्देप । पहले, रामके श्रीमुख द्वारा कहे गये गोस्वामीजीके उस ‘धर्म रथ’को देखिये जो ‘महा अजय मंसार रिपु’पर भी पूर्ण विजय दिलाने की सामर्थ्य रखता है उस ‘धर्मरथ’के अवयव हैं—शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, ईशभक्ति, विरति, सन्तोष, दान, बुद्धि, श्रेष्ठ ज्ञान, अचल पवित्र मन, सम, यम, नियम, विप्र गुरु-पूजन आदि । इन विविध अवयवोंको देखते हुए कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता न होगी कि ये सब उसी व्यापक धर्मके अवयव हैं जो सामान्य धर्म कहा गया है । मनुष्यमात्र इन गुणोंको ग्रहण करनेका अधिकारी है । पहले संकेत किया जा चुका है कि प्राचीन धर्मशास्त्रोंमें भी प्रायः इन्हीं गुणोंको सार्ववर्णिक माना गया है । हमारे कविने स्वयं यह कहीं नहीं कहा है कि असुक वर्ण या आश्रमका ही प्राणी इन्हें अपनाये, किन्तु जहाँ कहीं इन गुणोंका उल्लेख हुआ है वहीं इनके साथ ही इनका आचरण करनेवालोंकी बिना किसी भेद-भावके प्रशंसा की गयी है और उक्त गुणोंके विरोधी दुर्गुणोंको व्यापक अधर्म कहकर उनकी तथा उनके सेवियोंको अधर्मी कहकर कड़ी निन्दा भी की गयी है ।

व्यापक धर्मके कुछ विशिष्ट अवयवोंकी गोस्वामीजीने जो निष्पक्ष स्तुति की है उसमेंसे कुछके दां-एक उदाहरण लीजिये—

‘सत्य मूल सब सुकृत सुहाये । वेद पुरान विदित मुनि गाये’ ।

×

×

×

‘धरम न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना’ ॥’

सत्यव्रती दशरथ एवं सत्यसन्ध रामके चरित्र द्वारा भी सत्यकी अपूर्व प्रतिष्ठा हो जाती है ।

उन्होंने अपने इष्टदेव रामको ‘शील-सागर’ बनाकर उसी बहाने ‘शील’की बड़ी महिमा दिखायी है और हमारे लिए शील-प्राप्तिका साधन यों इङ्गित किया है—

‘सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई’ ।’

१. वही, बा० २९३. २, ३ । २. वही, अरण्य० १५. १ । ३. ‘मानस’, लं० ७९.५—११ ।

४. ‘मानस’, अयो० २७.६ । ५. वही, अयो० ९४.५ । ६. वही, उ० ८९.६ ।

किन-किन व्यापक दुर्गुणोंको अधर्म मानकर गोस्वामीजीने उनकी निन्दा की है, इसपर विस्तार करनेका अवकाश न देवकर हम संक्षेपमें यही कहेंगे कि 'मानस'में उन्होंने मायाके कटकका जो स्वरूप दिखाया है उसके सभी अंगोंसे छुटकारा पाना दुर्जय अधर्मसे वचना है और इस अधर्मसे वचनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है, चाहे वह किसी वर्ण या आश्रमका हिन्दू, मुसलमान या ईसाई कोई भी हो। यही गोस्वामीजीके व्यापक धर्मपर सर्वसामान्यका अधिकार समझना चाहिये।

प्रसंगकी समाप्तिके साथ ही यह भी कह देना असंगत न होगा कि जिस धर्मके आचरणमें पुष्कल स्वर्ण चाहिये वह धर्म जनसाधारणकी सम्पत्ति नहीं, जिस धर्मवृक्षके चारों ओर स्वर्णके काँटेदार जाल पड़े हों और जो व्यवसायकी ज्वालासे दग्ध हो रहा हो अथवा जो अपनी ओटमें विलासिताका परोक्ष समर्थन करता हो वह धर्म जनसाधारणके किसी कामका नहीं। गोस्वामीजीने जिस व्यापक धर्मका प्रसार किया है उसमें उपर्युक्त दोषोंकी रज्जुमात्र छाया नहीं। इसीसे उसे व्यापक और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार कहना सत्य है।

अहिंसावादका सर्वोच्च स्थान

धर्मका व्यापक स्वरूप और उसपर सर्वसामान्यका अधिकार जताना तुलसीको अभीष्ट था अवश्य, पर इससे भी बढ़कर जो धार्मिक सन्देश उन्होंने दिया वह है उनका 'परम धर्म'—अहिंसा। उनके इस 'परम धर्म'के सन्बन्धमें पहले किञ्चित् शास्त्रीय विवेचन अवाञ्छित न होगा। परम पुरुषार्थतक ले जानेवाले मार्गोंमें अहिंसाका सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग माना गया है। चाहे अष्टांग योग, चाहे ज्ञानकाण्ड, चाहे उपासना-काण्ड, चाहे कर्मकाण्ड, किसी क्षेत्रमें देखिये, सर्वत्र अहिंसाकी व्यावहारिक उपादेयताका गुणगान मिलेगा। विशेषतया भक्ति-क्षेत्रमें तो अहिंसा अनिवार्य रूपसे सर्वोत्कृष्ट साधना मानी गयी है।

अहिंसा अष्टांग योग^१ परिवारके यमकी पहली सीढ़ी है। यह वह सार्वभौम महाव्रत है जो जाति, देश, काल आदिसे परिच्छिन्न नहीं होता^२। हिंसा करनेकी छूट न कोई जाति दिला सकती है, न देश दिला सकता है और न काल अथवा समय दिला सकता है। किसी जातिका कोई प्राणी कहीं या कभी यदि हिंसा करता है तो वह हिंसक ही कहा जायगा। जाति, देश, काल या समय इनमेंसे कोई उस हिंसकका बचाव नहीं कर सकता। हिंसा केवल प्राण-वियोगके अनुकूल व्यापारतक ही सीमित नहीं है। किसीके प्रतिकूल किसी प्रकारका मानसिक, वाचिक या क्रियात्मक आचरण भी हिंसाकी कोटिमें आता है। इस प्रकारकी हिंसाके त्रैकालिक अभावको महामुनि व्यासने 'धर्मसर्वस्व' कहा है—

‘श्रूयतां धर्मसर्वस्व’ श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥^३

हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठाके लिए उसके प्रतिपक्ष हिंसाकी व्यापकता—जैसे, कृत-हिंसा, कारित-हिंसा अथवा अनुमोदित-हिंसा, उसकी उत्पत्तिके कारण काम, क्रोध और मोह और उसके दुरन्त फल दुःख और अज्ञानकी ओरसे सदा सचेत रहना चाहिये^४। हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जानेके पश्चात् साधक स्वतः तो निर्भय हो ही जाता है, उसके समीपवर्ती अन्य प्राणियोंमें भी भयमूलक बैर नहीं रहता^५। इसे ही अहिंसाका परम फल समझना चाहिये। इस प्रकार जब मनुष्यको अहिंसाव्रत सिद्ध हो जाता है तो उसके हृदयमें किसी कारण किसीको दुःख पहुँचाने या सतानेकी भावना नहीं रह जाती।

१. दे० पतञ्जलि : 'साधनपाद', सूत्र २९। २. वही, 'साधनपाद', सूत्र ३०। ३. वही ३१।
४. दे० पतञ्जलि : 'साधनपाद', सूत्र ३४। ५. वही, 'साधनपाद' सूत्र ३५।

अहिंसाका माहान्म्य असामान्य है। 'महाभारत' एवं 'मनुस्मृति' में अहिंसाकी बड़ी प्रशंसा और हिंसाकी घोर निन्दा की गयी है। इधर जब हम गोस्वामीजीकी रचनाओंमें समाविष्ट अहिंसाविषयक उक्तियोंका परिशीलन करते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि उन्होंने अहिंसाके व्यापक अर्थको ग्रहण किया है, उनकी अहिंसाकी भावनाके अन्तर्गत किसी जीवकी हत्या न करनेकी भावनासे लेकर किसीको न सताना, जीवमात्रपर क्रूरता न करना, परोपकारमें सदैव निरत रहना, किसीसे द्रोह अथवा मनोमालिन्य आदिका न रखना इत्यादि सभी बातें आती हैं। प्राचीन धर्माचार्योंकी भाँति तुलसीने भी हिंसाको पाप माना है। उन्होने बताया है कि आसुरी प्रकृतिवाले ही सर्वभूत-द्रोहरत होते हैं। परद्रोह कितना जघन्य पाप है इसका अनुमान इस एक ही पंक्तिसे कीजिये—

‘गिरि सरि सिन्धु भार नहिं मोही । जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही^१ ॥’

धर्मात्मा परहित-चिन्तनमें निमग्न रहता है। परहितके विषयमें गोस्वामीजीकी धारणा यह है—

‘स्रुति कह परम धरम उपकारा ।

परहित लागि तजइ जो देही ।

संतत संत प्रसंसत तेही^२ ।’

परहितव्रत-परायणको संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं^३। हेतुरहित परोपकारी ही भगवान्‌के प्रिय भक्त होते हैं^४; उनकी सम्पत्ति लोकहितके लिए होती है^५; वे दूसरोंके लिए उचित अवसरोंपर अपनी खालतक खिचवानेको प्रस्तुत करते हैं^६। जैसे वेदव्यासने परोपकारको परम पुण्य और परपीड़नको परम पाप ठहराया है वैसे ही तुलसीने भी—

‘परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीड़ा सम नहिं अधमाई ।

निरनय सकल पुरान बेद कर । कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर^७ ।’

यदि मानव-देहको पाकर भी किसीने ‘श्रुतिसार परोपकार’का आचरण न किया तो उसका दुर्लभ नर-देह पाना ही व्यर्थ हुआ—

‘काज कहा नर तनु धरि सारथो ।

पर उपकार सार स्रुति को जो सो धोखेहु न बिचारथो^८ ।’

यह जानकर भी कि इस भवार्णवका सन्तरण करनेके लिए केवल मनसा-वाचा-कर्मणा परहितव्रतका करना ही श्रेयस्कर है, लोग इसके विपरीत आचरण करते हैं। ऐसी दशामें उद्धारकी क्या आशा हो सकती है ? इसपर खेद प्रकट करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

जानत हूँ मन-बचन-करम परहित कीन्हें तरिए ।

सोइ बिपरीत देखि पर-मुख बिनु कारन ही जरिए^९ ।’

१. देखिये ‘महाभारत’, अनु० ११५ : १०, २५, ७८, ८२ । ‘मनुस्मृति’, ५ : ४५—५५ ।

२. दे० ‘मानस’ बा० १८३; १८०—१८४; १८०.१ । ३. वही, बा० १८३.५ । ४. ‘मानस’, बा०

८३.१, २ । ५. वही, अरण्य० ३०.९ । ६. वही, अरण्य० ४५.७, उ० ४६.५ । ७. वही, किष्कि० १४.५ ।

८. वही, उ० १२०. १५, १६ । ९. वही, उ० ४०.१, २ । १०. ‘बिनय०’, पद १०२ । ११. वही,

पद १८६ ।

परहितव्रतकी भाँति 'दया' भी धर्मका प्रधान अंग है। इसीसे गोस्वामीजी घोषित करते हैं—

'दयामें वसत देख सकल धरम'।'

कहना नहीं होगा कि दूसरोंके दुःखको देखकर दुःखी होनेकी प्रवृत्ति हमारे हृदयकी सात्त्विक दयाके सञ्चारसे होती है। जिस हृदयमें दयाका स्रोत जितना ही तीव्र होगा वह उतना ही परोपकारी, उतना ही परदुःख-दुःखी, दयालु होगा। इस परपीड़ाकी अनुभूतिके द्वारा हम न जाने कितने कित्तिवोंसे मुक्त हो जाते हैं, यह अनायास ही हमारे हृदयसे अनेक विकारोंको उखाड़ फेकती है। इसीसे गोस्वामीजी समझाते हैं—

'सेइ साधु, सुनि समुझि कै पर-पीर पिरातो। जनम कोटि कै काँदलो हृद हृदय थिरातो' ॥'

हृदयका निर्मल होकर स्थिर हो जाना मामूली बात नहीं। इसके निर्मल होनेपर हम परम पुरुषार्थ-तक पहुँच सकते हैं। इसीलिए दयाका स्थान अत्युच्च एवं उदात्त है—'धरम कि दया सरिस हरिजाना'।'

गोस्वामीजी वैष्णवधर्मके अहिंसावादको सर्वोच्च मानते हैं। इसका प्रतिपादन भरत जैसे अहिंसाकी प्रतिमूर्ति आदर्शचरित्रके आधारपर भी किया जा सकता है। सन्त-प्रकृतिके निरूपणमें तुलसीदासजीने अहिंसाकी मौलिक उपादेयता दिखाकर उसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है और उसके विपरीत राक्षसों, खलों अथवा असज्जनोंकी हिंसाप्रिय प्रकृतिकी भर्त्सना की है। इससे भी उनके अहिंसावादका प्रकारान्तरसे समर्थन हो जाता है।

मनुष्य स्वभावतः अभ्युदय चाहता है। उसके लिए वह विविध कार्योंका सम्पादन भी करता है। जो अभ्युदय—सासारिक वैभवके साथ निःश्रेयस अर्थात् पारलौकिक अभ्युदयकी भी कामना रखते हैं उन विवेकी प्राणियोंकी दृष्टि सदैव उस ओर भी रहती है, क्योंकि बिना उभयविध प्रेय और श्रेयकी सन्तुलित उपलब्धिके मानव-जीवन अकृतार्थ ही रहता है।

धर्मके कठिन विधि-विधान और सरलतम रामनाम जप

भारतवर्षके ऋषिगण अध्यात्मचिन्तक थे। उन्होंने सदैव ऐसे ही मार्गका अनुसरण श्रेयस्कर बताया है जिसपर चलनेसे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका उत्थान हो। उनके विचारसे इन दोनोंमें भी पारलौकिक अधिक श्रेयस्कर है। हम भी उन्हीं आयोंकी सन्तान होनेके कारण ऐसे ही मार्गपर चलना चाहते हैं जिससे दोनों लोकोंके बननेकी सम्भावना हो। यही इच्छा हमें धर्मावलम्बी बनाती है और हम वेदविहित अनुष्ठानोंकी ओर झुकते हैं, योग, यज्ञ, तप, व्रत आदिमें पूर्ववत् प्रवृत्त होनेका हौसला किया करते हैं।

हमारी ऐसी लालसा और आश्वासनके लिए बाबा तुलसीदासजीने हमें यह सरलतम साधन बताया—

'पावन प्रेम राम चरन जनम लाहु परम। राम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम ॥

जोग, मख, विवेक बिरति बेद-बिदित करम। करिवे कहूँ कटु कठोर, सुनत मधुर नरम ॥

तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जनि मरम। तेहि प्रभु को होहि, जाहि सबकी सरम' ॥'

*

*

*

१. 'विनय०' पद २४९। २. वही, पद १५१। ३. 'मानस' उ० १११.१०। ४. 'विनय०'

‘जथा भूमि सब वीजमय, नखत निवास अकास ।
राम नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास’ ॥’

कितने ही सीधे-सादे श्रद्धालु साधक ज्ञानकी अटपटी बातोंके रहस्य-दर्शन तथा पञ्चाग्नि-सेवनके प्रदर्शनसे लुई पा, श्रद्धापूर्वक नाम-जप द्वारा विश्राम पाने लगे । संक्षेपमें, तुलसीके राम-नाम-जपके प्रस्थापन का यही फल हुआ ।

सर्वधर्ममय इस जपने जहाँ अनेक सन्तोंको शीतल किया, अनेक भ्रान्तोंको ठीक मार्गपर लगाया, अज्ञानके घोर तिमिरसे आच्छादित उरोंमें ‘चिन्तामणि’का प्रकाश फैलाया, प्राचीन संस्कृतिका प्रतिभास दिया, वही इसकी ओटमें आलस्य, अकर्मण्यता और प्रमादमें पड़े असत्पात्रोंकी भी खूब वन पड़ी । दोगियोंका दल दिन दूना रात चौगुना बढ़ा । चिलमपर गँजेका दम लगानेवाले न जाने कितने मालपूआखोर ऐसे भी हैं जिनके आचरणका नग्न नर्तन देखकर स्तब्ध हो जाना पड़ता है । इन मुस्टण्डोंसे समाजका कोई कल्याण होता है, यह नहीं कहा जा सकता । इतना ही कहना अलं होगा कि बहुत-से खलों, लम्पटों और ‘धीगधमधूसरों’को कालनेमि बननेका अवसर राम-नामने ही दिया है । मिहनत-मजदूरीसे जी चुराकर केवल बाह्याङ्ग्यके आधारपर सीता-रामकी अनन्य भक्तिका झूठा दावा करना, नाना प्रकारके अधार्मिक कृत्यों द्वारा समाजको छलकर अपनी टेट गरम करना ही तो अधिकांश राम-नामकी ओट लेनेवाले धूर्तोंका व्यवसाय हो गया है । यही राम-नाम-जपका अफल या कुफल है । ऐसे प्रच्छन्न पापियों, बक-दाम्भिकों और विडाल-व्रतिकोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है ।

वैष्णवों और शैवोंमें ऐक्य-स्थापन

शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता और तत्कलभूत मनोमालिन्य और द्वेष बहुत बढ़ गये थे । गोस्वामीजीका ध्यान इस ओर भी विशेष रूपसे गया और उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाके अनुरूप इनका पारस्परिक संघर्ष मिटाकर ऐक्य-स्थापनका उद्योग भी विशेष रूपसे किया । ऐसा करनेके लिए उन्होंने जो उपाय अपनाया वह ऐसा है कि उसकी प्रेरणाशक्तिके केन्द्रमें दोनों सम्प्रदाय अबोधपूर्वक स्वतः आकर्षित होकर एक-दूसरेके प्रति अपनी अनुदारताजनित विद्वेषवृत्तिका परित्याग कर दें । ‘मानस’के दिव्य सरोवरमें प्रवेश करनेके पहले ही घाटपर वे शिवको उपस्थित कर देते हैं और बड़े ही चित्ताकर्षक ढंगसे याज्ञवल्क्य द्वारा उनकी कथाका विस्तार करते हैं । पश्चात् झट उसी कथामें अनुरक्तिको ही राम-भक्तिकी कसौटी मानते हैं—

‘प्रथमहिं कहि मैं सिव चरित ब्रूझा मरम तुम्हार ।
सुचि सेवक तुम्ह रामके रहित समस्त विकार’ ॥’

राम-भक्त होनेके लिए शिवकी भक्ति अनिवार्य है । शिवकी आराधना किये बिना कोई राम-भक्त नहीं हो सकता और राम स्वप्नमें भी ऐसे भक्तपर कृपा न करेंगे^१ । शंकरके समान रामका अनन्य भक्त कौन है । किसने अपनी भक्तिकी प्रतिष्ठाके लिए सती जैसी स्त्रीका परित्याग किया है । शिवसे बढ़कर रामका प्रिय कोई नहीं^२ । दोनों देवोंकी भक्तिका गूढ़ सम्बन्ध समझनेके लिए रामके श्रीमुख द्वारा कथित यह गुप्त मत भी स्मरणीय है—

१. ‘दोहावली’, दो० २९ । २. ‘मानस’, बा० १०४ । ३. वही, बा० १०३. ५ । ४. वही, बा० १०३. ६, ८ ।

‘अउरउ एक गुपुत मत सवहिं कहहुँ कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि’ ।^१

गोस्वामीजीका निजी विश्वास भी ऐसा ही है । देखिये—

‘जलज नयन, गुन अयन, मयन-रिपु-महिमा जान न कोई ।
बिलु तुअ कृपा राम-पद-पंकज सपनेहु भगति न होई’ ॥^२

यदि कोई शिव-द्रोही बनकर रामका प्रिय होना चाहता है तो यह उसका घोर अविवेक है; वह उत्तम गति कदापि नहीं पायेगा^३ । शंकर-द्रोही सुख-प्राप्तिका अधिकारी न होगा^४ । यही नहीं, शिवका प्रिय होकर भी यदि कोई रामका द्रोही हो अथवा रामका प्रिय होकर शिवका द्रोही हो तो वह कल्पपर्यन्त नरकमें पड़ा रहेगा^५ । इन विचारोंसे प्रभावित विरला ही कोई शैव या वैष्णव धर्मान्ध होकर पारस्परिक द्वेषकी वृद्धि करेगा । कोई वैष्णव रामके इन वचनोंको सुनकर शिवद्रोह न करेगा—

‘कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे, अस्ति परतीति तजहुं जनि भोरे ।
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी, सो न पाव मुनि भगति हमारी’ ॥^६

इसी प्रकार काकभुशुण्डिके जन्मान्तरके परम शैव गुरु द्वारा वर्णित ऐसे तथ्यको जानकर कोई शैव रामसे द्रोह करनेका दुस्साहस भूलकर भी न करेगा—

‘सिव सेवा कै फल सुत सोई, अबिरल भगति राम पद होई ।
रामहिं भजहिं तात सिव धाता, नर पाँवर कै केतिक बाता ।
जासु चरन अजसिव अनुरागी, तासु द्रोह सुख चहसि अभागी’ ।^७

शिव और रामकी उपासनामें इस प्रकारके अन्योन्याश्रय सम्बन्धकी अनिवार्यता परिणाम यह होता है कि दोनों सम्प्रदाय परस्पर उदार होकर प्रिय बन जाते हैं ।

गोस्वामीजीके व्यक्तिगत आचरणकी स्पृहणीयताने भी दोनों सम्प्रदायोंमें ऐक्यकी प्रतिष्ठा करायी है । वे स्वयं शिव-भक्त भी हैं । रामकी अनन्य उपासना स्वीकार करते हुए भी वे शिवोपासनामें तल्लीन थे । यही कारण है कि दोनों देवोंकी भक्तिके उद्गारस्वरूप ही उन्होंने दोनों देवोंका खूब गुणानुवाद किया है । उन्होंने ‘रामायण’ निकाला जरूर पर जबतक उसमें शिवके अयनका मेल नहीं कराया उसे पूरा नहीं समझा । राजा रामके दरबारमें प्रवेश पानेके लिए उन्होंने ‘विनयपत्रिका’ लिखी, पर उसमें भी शिव-महिमा का गठन करनेसे वे न चूके । रामके विवाहोत्सवसे उन्होंने जैसे ‘जानकीमंगल’की प्रेरणा प्राप्त की वैसे ही शिवके गार्हस्थ्य-जीवनसे ‘पार्वतीमंगल’की भी ।

हमारे कविके आदर्श पात्रोंके शीलानुशीलनसे भी शैवों और वैष्णवोंमें ऐक्य भावकी प्रतिष्ठा होती है । रामके परम भक्त भरत भी ‘सिव अभिप्रेक करहिं विधि नाना’ और ‘माँगहि हृदय महेश मनाई’^८ के कारण कारण शिवाराधनमें आस्था रखते दिखाये गये हैं । रामके परम अनुरागी महाराज दशरथ भी ‘सदाशिव’ से याचना करते हैं—

१. ‘मानस’, उ० ४५. । २. ‘विनय०’, पद ९ । ३. ‘मानस’, लं० १.७, ८ । ४. वही, किष्कि० १६.५ । ५. वही, लं० २. ‘दोहावली’, दो० १०१ । ६. ‘मानस’ बा० १३७.६, ७ । ७. वही उ० १०५.२-४ । ८. ‘मानस’ अयो० १५५.७, ८ ।

‘सुभिर महेसहिं कहइ बहोरी । विनती सुनहु सदासिव मोरी ।
आसुतोष सिव अबधर दानी । आरति हरहु दीन जन जानी’ ॥

अन्य पात्रोंकी बात छोड़िये । स्वयं राम भी शिवके परिवारका स्मरण करते हैं—‘गनपति गौरि गिरीस मनाई’ १

शिवकी ओरसे देखा जाय तो उनके मानम मानसरोवरमे गम सदैव हंसवत् विहार करते दिखायी पड़ेंगे । मुनि, धीर, योगी, सन्त आदिसे सेवित अपने इष्टदेव रामके नामका महामन्त्र शिव अहर्निश जपते हैं^२ । अपने स्वामी रामकी सभी आज्ञा उन्हें शिरोधार्य है और उसे ही अपना परम धर्म मानते हैं^३ ।

इसमे सन्देह नहीं कि तुलसीकी रचनाओंमेसे ऐसे विशेष प्रसंग समाविष्ट है जिनमे उन्होंने राम और शिवका सम्बन्ध क्रमशः उपास्य और उपासकके रूपमे इंगित किया है और इस प्रकार रामकी श्रेष्ठता दिखायी है, पर कुछ ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जहाँ उन्होंने राम और शिवका तादात्म्य^४ कर दिया है; साथ ही ‘सेवक स्वामि सखा सिय पीके’^५के समान वचन भी कहे हैं जिनमे दोनों देवोंकी बड़ाई-छोटाईका प्रश्न उठाना ही व्यर्थ-सा लगता है ।

राम और शिवकी कथाका संयोग, दोनोंकी भक्तिका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध, दोनोंकी उपासनामे तुलसीकी समान रुचि, आदर्श पात्रोंमें दोनोंके प्रति श्रवण आस्था तथा दोनोंके सम्बन्धकी गहराईका चित्रण ऐसे मार्मिक ढंगसे किया गया है कि उसे देखकर स्वभावतः वैष्णव और शैव दोनों सम्प्रदायोंको परस्पर उदार होना पड़ा । साम्प्रतिक युगमे दोनों सम्प्रदायोंमे जो उदारता एक-दूसरेके प्रति दिखायी पड़ती है उसका बहुत-कुछ श्रेय तुलसीको है । निश्चय ही तुलसीने तत्कालीन मत-मतान्तरोंकी विद्वेषज्वाला अपने शीतल उपदेश-सलिलसे शान्त की । ऐसी शान्त कर दी कि फिर उसके प्रज्वलित होनेकी सम्भावना नहीं रही ।

जैसे विविध अंगोंसे युक्त हमारे स्थूल शरीरके भीतर चेतन आत्मा बैठी हुई है वैसे ही धर्मके बाह्य विधि-विधान-रूप स्थूलके भीतर उसको संचालित करनेवाली सूक्ष्म शक्ति या भावना वर्तमान है । जैसे आत्मारहित देह सड़-गलकर अनेकानेक विकारोंका लक्ष्य होती है ठीक उसी प्रकार आत्मशून्य धर्मका, बाह्य शरीर भी विकृत होकर अनेकानेक दुराचारों या रोगोंका आकार बन जाता है । उसके विपरीत धर्म यदि अपनी विशाल आत्मा और बाह्य कलेवरके समुचित सामञ्जस्यसे युक्त है तो उसका अवलम्ब लेकर संसार अवाध गतिसे उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता रहता है । धर्म केवल अमूर्त अन्तरात्ममाके ही आधार-पर चल सकेगा या आचरणीय होगा यह सम्भावना निर्मूल है, क्योंकि बिना आधारके आत्माका अधिष्ठान ही कहाँ होगा । अतः सूक्ष्म धर्म-भावनाके लिए किसी आधारका होना आवश्यक है । भले ही वह मूर्ति-पूजा न होकर आसन, प्राणायाम या समाधि ही क्यों न हो, अथवा गिरजेकी हाजिरी, मसजिदका सिजदा या संघारामका भाणक या चैत्यका नमस्कार ही क्यों न हो । ऐसा कोई भी धर्म न होगा जिसका कोई-न-कोई बाह्य स्वरूप न हो, यह दूसरी बात है कि किसीका बाह्यरूप विस्तृत और विशेष स्थूल है और किसीका संक्षिप्त और सूक्ष्म । सनातनधर्मका बाह्य रूप दोनों प्रकारका है । बहुत व्यापक और विशाल भी है, बहुत संकीर्ण और सूक्ष्म भी । कबीर-पन्थको एक अलग धर्म मानें तो उसका बाह्य रूप बहुत सूक्ष्म है । इसी प्रकार ईसाई धर्म या इस्लाम किसीको लीजिये, सबका कोई-न-कोई बाह्य स्वरूप अवश्य है ।

१. ‘मानस’, अयो० ३४.७, ८ । २. वही, अयो० ८०.२ । ३. वही, बा० २८४.५ । ४. वही, बा० १८.३ । ५. इसकी चर्चा आगे की गयी है । ६. ‘मानस’ बा० ४१.४ ।

अतः किसी धर्मके बाह्य रूपकी निन्दा करना ठीक नहीं। हाँ, यदि उससे व्यष्टि या समष्टिका अहित होता हो, उसमें अनाचार समाविष्ट हो गये हों तो वह प्रशंसनीय न होगा। इसीलिए कभी-कभी तटस्थवृत्ति महात्माओंको भी बहुत-सी उपासना-पद्धतिके बाह्य रूपकी निन्दा करनी पड़ी है! तुलसीने भी ऐसा किया है।

सनातनधर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्था, उसमें प्रतिष्ठित नियम, व्रत, उपवास, स्वाध्याय, यज्ञ, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, तिलक-मुद्रा प्रभृति सभी बातें उस धर्मके बाह्य स्वरूप हैं। कहना न होगा कि इन सभी बाह्य रूपोंपर गोस्वामीजीने पूर्ण आस्था शकट की है और भूलकर भी इनकी निन्दा नहीं की है।

धर्मकी अन्तरात्मा और उसके बाह्य रूपका सामञ्जस्य

इतना कहनेके उपरान्त धर्मकी अन्तरात्माके विषयमें थोड़ा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। जैसे नाना प्रकारकी योनियोंमें उत्पन्न विविध जीवधारियोंकी अन्तरात्मा एक ही है, वैसे ही नाना प्रकारके रूपोंके भीतर वर्तमान अनादि अनन्त धर्मतत्त्व भी एक ही है। अन्तरात्माके समान उस एक ही तत्त्वकोविविध बाह्य रूप विविध कालतक धारण कर सकता है। उस सूक्ष्म तत्त्वके प्रवेशसे भिन्न-भिन्न देहोंमें नियत कालतक भिन्न-भिन्न कार्य-सम्पादनकी शक्ति आ जाती है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। मक्खलीकी देहमें वही आत्मतत्त्व परिच्छिन्न होकर वर्तमान रहता है और वह देह उसे दो-चार महीनेकी अवधितक ही धारण किये रहती है। उसी अवधितक मक्खली अपने जीवनका व्यापार चलानेमें समर्थ रहती है। अन्तमें मक्खलीकी देह उस तत्त्वको नहीं रख सकती और वह अपने अनन्त रूपमें मिल जाता है। मनुष्यादि सभी जीवधारियोंकी यही दशा है। हाँ, मनुष्य-देहमें उच्चसे उच्च कार्य-सम्पादनकी क्षमता है, देही उसका उपयोग करे, या न करे, उसके अधीन है।

इसी प्रकार सभी धर्मोंकी अन्तरात्मा एक है। उसको धारण करनेकी शक्ति या धारण करनेका रूप भिन्न-भिन्न है। चारों ओर अनादि अनन्त सत्-चित् आनन्दका पारावार हिलोरें ले रहा है। उसमेंसे जिस धर्ममें जितनी धारणशक्ति है वह उतने ही को ग्रहण कर अपने बाह्य रूपको देदीप्यमान कर रहा है। हिन्दू धर्मके अतिरिक्त प्रायः जितने धर्म हैं वे इस अनन्त सागरसे कुछ ही अंश लेकर उतनी-सी ही अन्तरात्माके बलपर अपनी सत्ताको सँभालते हैं, पर प्राचीन भारतीय वैदिक सनातन-धर्मने इस समस्त विशाल सच्चिदानन्द-सागरको ही अपनी व्यापकतासे परिच्छिन्न कर दिया है और नाना रूपोंमें उसकी अभिव्यक्ति की है। महात्मा तुलसीदास धर्मकी इसी विशाल अन्तरात्मापर अपनी अमित आस्था रखते थे, क्योंकि इसीमें उन्होंने धर्मका पूर्ण स्वरूप देखा। अन्यान्य धर्मोंसे उन्हें कोई विद्वेष नहीं क्योंकि वे सभी धर्मोंकी अन्तरात्माको उसी सच्चिदानन्द-सागरका अंश मानते हैं। यही कारण है कि गोस्वामीजीके विशाल धर्ममें विभिन्न धर्मोंसे अवरोध ही नहीं, उनकी झलक भी मिलती है। उनमें हिन्दू धर्मके प्रायः सभी सम्प्रदायोंकी अन्तरात्मा तो स्पष्ट रूपसे लक्षित होती ही है, बहुतोंके बाह्यरूप भी सम्मानित हुए हैं।

प्राचीन आर्य धर्मकी अन्तरात्मा और उसका बाह्य रूप, दोनोंमें सामञ्जस्यपूर्ण अविच्छिन्न सम्बन्ध सुरक्षित रखते हुए चलना चाहिये—यही तुलसीका अन्तिम धार्मिक सन्देश है। 'भारतीय प्राचीन आर्य धर्मकी सभी समाजकी उन्नायक पद्धतियोंको एक साथ ही पकड़े रहना उनकी प्रधान विशेषता है। एक-देववादके अनुरागमें पड़कर वे शिवको नहीं छोड़ते, यदि वे सुधारक हैं तो भीतरसे। कबीर, दादू आदि-की भाँति उन्होंने आर्य धर्मके बाह्य रूपपर कोई आघात नहीं किया।'

१. इसका विशेष विवरण इसी ग्रंथमें अन्यत्र किया गया है। २. जे० एम० मैकफी : 'रामायन आव् तुलसीदास', पृ० २१५।

धर्मके दोनों रूपोंमें समन्वय एवं उनके प्रति सम्मान-भावकी स्थापनाका परिणाम बड़ा उत्तम हुआ। हिन्दू धर्मके यथेष्ट रूपको ग्रहण करनेवाले सभी लोगोंमें ऐक्य और प्रेमका भावोदय पर्याप्त मात्रातक हो चला है और उसने हिन्दू धर्मकी श्रेष्ठता बढ गयी है। साथ ही देशका कल्याण भी हुआ है। इस दृष्टिसे मर गियर्मेनका यह कथन सर्वथा सत्य है—‘भारतवर्षीय धर्मोन्नतिके इतिहासमें जो आसन तुलसीको दिया जाता है उससे कहीं उच्चतर आसनके वे अधिकारी हैं, क्योंकि हम किसी धर्म-प्रचारक महात्माकी श्रेष्ठताका अटकल उसके फलसे लगाते हैं, यह कहनेमें कि नौ करोड़ मनुष्य महात्मा तुलसीकी रचनाओपर ही अपने धर्म और सदाचारके तत्त्वोंकी स्थापना किये हुए हैं, हम सामान्य गणनासे बहुत कम आँकते हैं। वर्तमान कालमें इनकी रचनाओंने लोगोंपर जो प्रभाव डाल रखा है, यदि हम इसीको मानदण्ड मानकर जाँच करें तो एशियाके तीन या चार महान् लेखकोंमें गोस्वामीजी एक ठहरते हैं।’

सप्तम परिच्छेद

तुलसीकी साम्प्रदायिकता

वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंकी झलक

तुलसीकी रचनाओंमें अन्य सम्प्रदायोंसे अधिक प्रतिष्ठित तथा अधिक मान्य वैष्णव और शैव इन दोनों सम्प्रदायोंकी जो विशिष्ट झलक मिलती है उसके अनुसार उनके देववाद, पूजा-पद्धति एवं धार्मिक प्रतीकोंपर कुछ प्रकाश डालना उपेक्षणीय न होगा। देववादसे हमारा तात्पर्य क्या है, पहले इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वैदिक कालके अनन्तर पौराणिक कालमें वैदिक देवोंकी क्या स्थिति हो गयी थी और कौन-कौनसे देव प्राधान्य प्राप्त कर चुके थे, सम्प्रदायविशेषमें इनका क्या स्वरूप हो गया था और तुलसीमें वे देव किस रूपमें गृहीत हुए—इत्यादि सभी प्रश्नोंका सम्बन्ध देववादसे है।

देववाद

हमारे आदि धर्म-कालमें ही जय कि साम्प्रदायिकताका नाम निशान भी न था, आयोंने विविध देवोपासना की थी। उस वैदिक कालमें भी अग्नि, सोम, इन्द्र, विष्णु, पृथ्वी, मरुद्गण, रुद्र, बृहस्पति, वरुण, पूषा, ऊषा, अश्विनीकुमार, यम, सरस्वती, प्रजापति प्रभृति देवोंकी महिमाका विशद गान, उनके विशेष कार्य आदि सभी बातोंका उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद'की ऋचाएँ इसका प्रमाण हैं। देवोंके विविध कुल होते थे। वरुणने एक अप्सरासे प्रेम किया और उसके फलस्वरूप गन्धर्व कुलकी उत्पत्ति हुई आदि बातें कथित हैं। देवगण सन्तानोत्पत्ति करते थे; उन्हें भी सुरांगनाओंका भोग प्रिय था। भोगों और सुखोंके वे भी इच्छुक थे। उनका पराक्रम और उनकी शक्ति अलौकिक थी। मनुष्यकी शक्ति उनकी शक्तिके सामने पासंग थी। इन विविध देवोंसे परे भी कोई एक था जो अनादि अजन्मा और सर्वशक्तिमान् था। अत्यन्त संक्षेपमें आदिकालमें यही देवोंकी स्थिति थी।

कालचक्र बदला, वैदिक युग गया और साथ ही वैदिक देवोंका महत्त्व भी जाता रहा। पौराणिक काल आते-आते वैदिक देवोंमें कतिपय अग्रगण्य देव सामान्य कोटिमें चले आये और विष्णु जैसे वैदिक देव इस कालमें भी देवोंके अनन्य संरक्षक और अजेय होकर सर्वोपरि मान्य हुए। वैदिक कालके अन्यान्य देवोंकी अमोघ शक्ति तो सामान्य वीरोंकी-सी हो गयी, केवल विष्णु ही प्रधान रहे। वे जबतक स्वयं संग्राममें न उतरते तबतक संग्राम कोई असाधारण रूप न धारण करता। अन्य देवगण किसी अवतारी यशस्वी योद्धाकी मूर्च्छा दूर करनेके लिए खड़े दिखाई पड़ते। वीर नायकमें उत्साह भरनेके लिए उसका गुणानुवाद करनेके अतिरिक्त, कुछ वैदिक देव रणमें प्रवृत्त नायकके मुखमण्डलके स्वेद-कण सुखानेमें ही सहायक होते थे। वं कुहरेकी भाँति अदृश्य आधारमें लटक दृशक बने रहते थे। नायकको विजयी होते देख पुष्प-वृष्टि करना और दुन्दुभी बजाना उनके मुख्य कार्य थे। जितना अपने धर्म और कर्तव्यका मान था उतना इन देवोंका नहीं। वैदिक देवोंकी पौराणिक कालमें यही स्थिति थी।

वैदिक कालके रुद्र और प्रजापति औपनिषद् कालमें क्रमशः शिव और ब्रह्मा (विरञ्चि)के रूपमें दिखाई पड़े। विष्णुका क्या स्थान था, इसकी ओर किञ्चित् संकेत ऊपर किया जा चुका है। शिव और विष्णुके विषयमें अभी बहुत कुछ कहना है, क्योंकि हिन्दू-धर्म और उसके विविध सम्प्रदायोंका मूल स्रोत

इन्हीं दोनों देवोंसे सम्बद्ध है। ब्रह्माके विषयमें पहले दो-चार शब्द कहकर उनका प्रसंग समाप्त किया जाता है। स्वतन्त्र रूपमें ब्रह्मा अवश्य ही देवोंमें सबसे बृद्ध पितामह माने गये हैं। वे ही उत्पत्तिकर्ता और भविष्यद्रष्टा भी हैं। वे स्वयं भावातीत नहीं हैं, देवोंके सुख-दुःखसे वे सुखी और दुःखी होते हैं। वे सर्वत्र नहीं हैं। उनको सृष्टि-निर्माणका कार्य सौंपा गया है। वे परमोच्च देव नहीं हैं।

ब्रह्माके विषयमें और कुछ न कहकर हिन्दू-धर्मके मूलभूत दोनों देवोंकी ओर वदता हूँ। साम्प्रदायिकता हिन्दू-धर्मकी एक विशेषता है। हिन्दू-धर्मके अधिकांश सम्प्रदायोंकी प्रवृत्ति यही रही है कि वे अपने नवोद्भाविता देवको सर्वोपरि दिखाते हैं। वे अपने देवको एक भौतिक व्यक्तिगत स्वरूपमें प्रतिष्ठित करते हैं और अन्तमें उसका शिव अथवा विष्णुसे तादात्म्य करके उसे सर्वोच्च कोटिमें बिठाते हैं। जो लोग अपने उपास्य देवका शिवसे तादात्म्य करते हैं वे शैव और जो विष्णुसे तादात्म्य करते हैं वे वैष्णव कहे जाते हैं। यही दोनों सम्प्रदाय समस्त हिन्दू-धर्ममें अधिक व्याप्त हैं। इन्हींके सैकड़ों रूप-रूपान्तर फैले हुए हैं। इन सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिका पचड़ा छेड़ना यहाँ व्यर्थ है। यहाँ केवल यही विचारणीय है कि दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार शिव और विष्णुका स्वरूप कैसा है। पहले शिवकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। किस प्रकार 'ऋग्वेद'में रुद्र 'यजुर्वेद'में 'ईशान', 'महादेव' और 'त्रिपुरारि' रूपमें परिणत हुए और फिर वे ही 'महाभारत'में 'शिव' हो गये, इसे इतिहास जाने, हमें तो शिवका सम्प्रदाय-मान्य रूप निरूपित करना है।

शिवका रूप पौराणिक दंगका है। अपने गणों सहित शिव पुराणोंमें अन्यान्य देवोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माने गये हैं। ब्रह्मा और विष्णुके अतिरिक्त उनके समान कोई देव नहीं। वे कैलासके वासी हैं; कैलासके चतुर्दिक् यक्षगण तथा विविध भूतगण पहरा देते हैं। इन गणोंके परामर्शदाता हैं गणेश, और उस देवसेनाके सेनानी हैं स्कन्द। वीरभद्र शिवके सर्वश्रेष्ठ गण हैं। वे रणकी प्रचण्ड ज्वालाके प्रतीक हैं, साथ ही शिव-स्वरूप भी। यों तो शिवके नाना जन्म हुए हैं, पर वस्तुतः वे शाश्वत हैं, महाकाल हैं, क्योंकि सभीका संहार करते हैं। वे ही मृत्युके प्रतीक भी हैं। उनका क्रोध असाधारण है। वे भूत-प्रेतोंके नाथ भी हैं; भैरव भी हैं। वे ताण्डव नृत्य करते हैं। उनमें अपार और अद्वितीय गुण हैं। वे महान् योगिराज हैं; दिगम्बर हैं; व्याघ्र-चर्म ही उनका परिधान है; उनका जटाजूट विशाल है; उनका शरीर भस्मावगुण्ठित है; उनका तप अखण्ड एवं महाकठोर है; उनके तीन नेत्र हैं; तृतीय नेत्रके खुलनेपर वे किसे क्षार नहीं कर सकते, इसीसे कामको भस्म किया था; वे अजित हैं; उनके वाम भागमें उनकी अर्द्धांगिनी हैमवती उमा रहती हैं; वे देवी, पार्वती, दुर्गा, गौरी, सती, भैरवी, काली, कराला आदि नामोंसे परिचित और अवतीर्ण होकर पूजित हैं।

मुख्य पुराणोंके अतिरिक्त जब हम शिवपुराणादि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंको देखते हैं तो वहाँ भी शिवके ऐसे ही वर्णन मिलते हैं। हाँ, वहाँ शिवके नानावतारों, यथा कैलासनिवासी अवतार, नन्दिकेश्वरावतार, भैरवावतार, वीरभद्रावतार, यक्षावतार, महेश्वरावतार, अवधूतावतार, हनुमद्-अवतार, नटावतार प्रभृति अवतारोंका विशेष उल्लेख मिलता है, अस्तु।

'ऋग्वेद'में विष्णुका भी स्थान सामान्य नहीं था, वे सूर्यके प्रतीक थे, आवाहनके समय वे सर्वोत्कृष्ट कहे जाते थे। 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीयारण्यक'में विष्णुके स्वरूपमें कुछ हेर-फेर हुआ, पर उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमें तो 'महाभारत' और तत्कालीन पुराणादिमें विष्णुका जो स्वरूप था उसे व्यक्त करना है। विष्णु अपनी पत्नी लक्ष्मी सहित वैकुण्ठमें वास करते हैं। अज्ञात कालसे वे ब्रह्माका कार्य भी कर रहे हैं। वे हिरण्य-गर्भ और विशेषतः उन नारायणके प्रतीक हैं जिन्होंने प्रलयकालमें शेष अथवा अनन्त

नागको धारण किया था, उनकी निद्रा और जागतीकी अवस्थामें सृष्टिके उद्भव और प्रलय होते हैं। उन्हींके नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है। विष्णुके पालन-कर्तृत्व के कारण प्राणियोंमें उनकी प्रतिष्ठा है। लोक उनकी वन्दना करता है। केवल इतना ही नहीं, विष्णुने स्वयं जो विविध अवतार धारण किये और नाना प्रकारके प्राणियोंकी रक्षा की इससे वे प्रेम और प्रतिष्ठाके विशेष पात्र बने हैं। महाभारतकालमें विष्णुकी प्रतिष्ठा चरमोत्कर्षपर पहुँच चुकी थी। इसी कालमें यह निश्चय हो गया था कि वे अपने पूर्णाश्रमे श्रीकृष्ण-रूपमें प्रकट हुए हैं। इन्हीं श्रीकृष्णके प्रसादसे भागवत-धर्मका प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक देवोंमेंसे गोस्वामीजीने बहुतोंको अपनी रचनाओंमें गृहीत किया है। 'पृथ्वी'को इन्होंने देवकोटिमें माना है। वह भावस्थान नहीं है, उसे भी पीड़ा होती है—'परम समीत धरा अकुलानी', वह विह्वल होकर सुर-मुनि-गन्धर्व-सहित अपने परित्राणके लिए ब्रह्माके पास जाती है। ब्रह्मा उसका परमशोक और भय देखकर कहते हैं—

‘ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोरो कलु न बसाई ।
जाकर तैं दासी सो अबिनासी हमरउ तोर सहाई ।’

ब्रह्माका स्वरूप पौराणिक ढंगका है

ब्रह्माके इस सान्त्वना-दानसे उनके स्वरूपका भी पता लग जाता है। ब्रह्माका स्वरूप पौराणिक ढंगका है। देवोंका उनके पास जाना सिद्ध कर रहा है कि वे बृद्ध पितामह हैं। उनकी सम्मतिसे ही कल्याण होगा, और 'ब्रह्मा सब जाना' पदसे स्पष्ट है कि वे द्रष्टा भी हैं, पर उनकी शक्ति लोक-निर्माणतक ही सीमित है; उनके ऊपर जो है वही सर्वशक्तिमान् और अविनाशी है; उसीकी सहायतासे घोर निशाचरों का अन्त हो सकता है। ब्रह्माका यह वर्णन देखकर कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता न होगी कि तुलसीने भी ब्रह्माका वही स्वरूप दिखाया है जो पौराणिक कालमें मान्य था।

'यम' यद्यपि 'ऋग्वेद'में ही पूजित हो चुके थे, पर उनके अपार नरक-राज्यकी यातनाओंकी भावना 'अथर्ववेद'में स्पष्ट हुई। गोस्वामीजी 'यम'का देवत्व तो मानते ही थे, नरक आदिमें भी उनका विश्वास था। तभी तो यम और नरक दोनोंका संकेत उनकी रचनाओंमें मिलता है। देखिये—

‘अवनि जमहि जाँचति कैकेई । महि न बीचु जम मीचु न देई ॥’

लोकोहुँ वेद विदित कवि कहहीं । राम बिमुख थल नरक न लहहीं^१ ।’

सरस्वतीको भी तुलसीने देवकोटिमें रखा है। ये देवताओंकी बहुत बड़ी सहायिका हैं। जहाँ कहीं देवोंको किसीका मति-विभ्रम करना होता वहीं ये सरस्वतीके पैरों पड़कर उसे संकोचमें डालकर अपना कार्य सिद्ध करते। सरस्वती वाणी, विद्याकी देवी हैं, इसीसे इनकी आराधना आदि कालसे चली आ रही है। इनके देवत्व और महत्त्वको स्वीकार करते हुए गोस्वामीजीने अपनी कई रचनाओंमें इनकी वन्दना स्वयं की है। 'मानस'में इनके द्वारा कुम्भकर्ण तथा मन्थराकी बुद्धि फिरवाकर इनका बुद्धि पलटनेका कार्य भी दिखा दिया है।

सरस्वतीके अतिरिक्त अश्विनीकुमार, मरुद्गण, बृहस्पति, सूर्यादि वैदिक देवोंका उल्लेख भी गोस्वामीजीने किया है। वैदिक देवोंके राजा इन्द्रको तो 'मानस'के कई प्रसंगोंमें सन्निविष्ट किया है।

सारांश यह कि वैदिक कालके कतिपय देवोंका निर्देश करते हुए भी तुलसी उनकी वैदिककालीन प्रतिष्ठाके पुजारी नहीं, वे उन्हें पौराणिक कालमें प्राप्त प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे ही देखते थे। तभी तो उन्होंने

वैदिक देवोंके पौराणिक कालमें बताये गये कार्य दिखाये हैं अर्थात् देवता रामको युद्धोत्साह दिलानेके लिए उनके गुणानुवादके साथ ही समय-समयपर दुन्दुभी बजाते, पुष्प-वृष्टि करते और उनका जय-जयकार मनाते हैं। जब युद्धमें वे रामका अमित पराक्रम देखते थे तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहता था। वे रणक्रीड़ा देखते रहते और पुलकित होकर स्तुति भी करते; इसके विपरीत जहाँ रावणकी माया प्रबल पड़ती वहाँ—

‘डरे सकल सुर चले पराई। जयकै आस तजहु अब भाई ॥

सब सुर जिते एक दसकंधर। अब बहु भये तकहु गिरिकन्दर’ ॥

हम कह चुके हैं कि वैदिक देव भी सुखों और भोगोंमें परिलिप्त रहते थे। अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए वे भी सामान्य लोगोंकी भोति कूटनीति वर्तते थे। गोस्वामीजीने उनकी ऐसी प्रवृत्तिकी यथेष्ट भर्त्सना की है। स्वार्थी मनुष्योंके समान ही उन्हें भी देखा है। इसीसे देवोंके विषयमें कुछ ऐसी उक्तियोंका प्रयोग भी कर दिया है जो अवैदिक तथा अभव्य-सी लगती हैं।

गोस्वामीजीकी देवोंके प्रति कथित कटु उक्तियोंको देखकर ऐसा न समझ लेना चाहिये कि उन्होंने देवोंकी जो निन्दा की है वह उनका स्वेच्छाचार है। वस्तुतः ऐसी देवनिन्दा भी परम्परागत है, वह ऐतिह्य-विरुद्ध नहीं। कितनी ही ऐसी पौराणिक कथाएँ हैं जो देवोंकी स्वार्थलिप्सा, परोत्कर्ष-भीरता और मात्सर्य की ओर संकेत करती हैं।

जहाँ कहीं देवोंकी कुचाल अथवा स्वार्थपरायणताकी दुर्गन्ध नहीं है वहाँ गोस्वामीजीने उनके देवत्वकी महिमा भी गायी है। जैसे, इन्द्रके महत्त्वको दिखानेके लिए तुलसीने रामसे, अमृतवर्षा करके अपने बन्दर-भालुको जिलानेकी प्रार्थना करायी है। देखिये—

‘सुनु सुरपति कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे ॥

मम हित लागि तजे इन प्राना। सकल जियाउ सुरेस सुजाना’ ॥’

इन्द्रादि वैदिक देवोंकी गोस्वामीजीके द्वारा की गयी निन्दाका समर्थन यद्यपि प्रकारान्तरसे इतिहास अथवा पुराणकी कुछ कथाओंसे हो जाता है, पर गोस्वामीजीकी इन देवोंकी फटकारमें मर्यादाका अतिक्रमण किसी-न-किसी अंशमें तो मानना ही पड़ेगा। जिस देवराज इन्द्रकी यज्ञादिमें सर्वोपरि प्रतिष्ठा हो उसे ‘कपट कुचाल सीव’, ‘छली मलीन’ आदि कहना समुचित नहीं माना जा सकता, निम्नांकित अवतरणमें इन्द्रकी हेयता और भर्त्सनाकी हद हो जाती है—

‘सूख हाड़ लेइ भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।

छीन लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहिं न लाज’ ॥’

मर्त्यलोकसे कहीं श्रेयस्कर उच्च अमरलोकमें वास करनेवाले देवोंको ‘कुचाली’,^१ ‘जड़’^२ ‘स्वार्थी मलीन मन’^३ प्रभृति विशेषणोंसे तिरस्कृत करना भी गोस्वामीजीकी विशेषता है। प्राचीन परम्परामें देवोंको ऐसी गालियाँ नहीं दी गयी हैं। मालूम होता है, बाबाजी देवोंसे रुष्ट थे, क्योंकि इन्होंने उनके उपास्यके राज्याभिषेकमें विघ्न उपस्थित किया और उसके परिणाम-स्वरूप रामको जंगलकी खाक छानकर नाना

१. ‘मानस’ लं० ९५. ६, ७। २. देखिये ‘मानस’, अयो० ११. ६; ३००. १; ३००. २; ३००. ८।
३. देखिये ‘मानस’ लं० ११३. १२। ४. ‘मानस’ बाल० १२५. १। ५. ‘मानस’ अयो० १०. ६।
६. वही, अयो० २३९. ७। ७. वही अयो० २९४. १।

प्रकारके कष्ट सहने पड़े। नीतिविरुद्ध अनौचित्य कर्ता चाहे मनुष्य हो चाहे देव, वह निन्दनीय है। इसलिए भी गोस्वामीजीने देवोंको बिना उनकी बड़ाईका ध्यान रखे हुए फटकारा है। यह भी हो सकता है कि स्वयं परम विरक्त होनेके कारण तुलसीको देवोंकी भोगप्रियता खलती रही हो और इसीसे उन्होंने अन्यान्य विषयासक्तोंकी भाँति देवोंको भी लथेड़ा हो—

‘इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई’^१।

कुछ वैदिक देवोंके प्रति गोस्वामीजीके विचार कैसे थे इसका किञ्चित् आभास देकर अब हम शिवकी ओर बढ़ते हैं। दूल्हके रूपमें सजाये गये शिव-वेशकी एक झाँकी देखिये—

‘सिवहिं सम्भुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि-भौर सँवारा ॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन विभूति पट केहरि छाला ॥
ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा ॥
गरल कंठ उर नर-सिर माला। असिव वेष सिव धाम कृपाला ॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा’ ॥’

विवाहोपगन्त ‘दूल्ह’ किस घरकी ओर लौटता है—

‘जबहिं सम्भु कैलासहिं आये। सुर सब निज-निज लोक सिधाये ॥
जगत् मातु पितु सम्भु भवानी। तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी ॥’
करहिं विविध विधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा’^२ ॥

इससे स्पष्ट है कि शिवका निवास-स्थान कैलास है। शंकर सर्वोच्च कोटिके देव हैं। देखिये—

‘संकर जगत बंध जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा’^३ ॥’

वैदिक रुद्र और शिवमें कोई भेद नहीं, इसीसे गोस्वामीजीने शिवके लिए रुद्रका प्रयोग किया है—

‘रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना’^४ ॥’

शिव-वेशकी जैसी विचित्रता ‘मानस’में वर्णित है वैसी ही ‘कवितावली’^५ के कतिपय छन्दों और ‘विनयपत्रिका’^६ के कई पदोंमें भी। इन विविध रचनाओंमें अंकित शिवका स्वरूप विशुद्ध साम्प्रदायिक है। इनमेंसे विशेषतया ‘विनयपत्रिका’के पदोंमें शिवके कुछ अवतारोंका भी संकेत है। शंकरके ‘हनुमत्-अवतार’का संकेत ‘दोहावली’^७ में भी मिलता है ‘विनयपत्रिका’^८ में तो है ही।

साम्प्रदायिक दृष्टिसे शिवके साथ उनकी अर्द्धांगिनी उमा नाना रूपोंसे पूजित होती हैं यह पहले ही संकेत कर आये हैं, तुलसीने भी उमाके नाना रूपोंकी ओर लक्ष्य करते हुए उनकी स्तुति की है, उनके कालिका रूपका जयजयकार करते हुए कहते हैं—

जय महेस-भामिनी, अनेक रूप नामिनी,
समस्त लोक स्वामिनी हिमसैल-बालिका’^९ ॥’

१. ‘मानस’ उत्तर० ११७.१५। २. वही, बाल० ९१.१—५। ३. ‘मानस’ बाल० १०२.१-३।
४. वही, बाल० ४९.६। ५. वही, बाल०, ८५.४। ६. ‘कविता०’, उत्तर० छ० १४९-१५२।
७. ‘विनय०’ पद १०-१४। ८. ‘दोहावली’ दो० १४२, १४३। ९. ‘विनय०’, पद २५, २७।
१०. वही, पद १६।

रामके विष्णु स्वरूपकी व्यञ्जना भी तुलसीने साम्प्रदायिक ढंगसे की है। इस कथनकी पुष्टिके लिए प्रमाण देना व्यर्थ है। इसका विचार आगे किया जायगा।

गोस्वामीजीके देववादकी इति यही नहीं हो जाती। उन्होंने ग्रामदेव और कुलदेवतको भी अपनी च्च स्थान दिया है, इसीसे उनकी रचनामें—

‘पूजी ग्राम देवि सुर नागा । कहेउ बहोरि देन बलि भागा’ ॥’

भी दिखायी पड़ती है।

यों तो उन्होंने देव और पितर सभीको लिया है, तथापि विशेष रूपसे वैष्णव सम्प्रदाय और शैव के उपास्य देव विष्णु और शिव तथा इनके विविध अवतारोंकी चर्चा की है और इनसे भी बढ़कर प्रतिष्ठा की है अपने उपास्य देव रामकी।

इति

देववादपर सामान्य दृष्टि डालनेसे उक्त दोनों सम्प्रदायोंकी जो विशेष झलक मिलती है उसका दिग्दर्शन यहीं समाप्त करके देखना है कि पूजा-पद्धतिके विचारसे इनका साम्प्रदायिक स्वरूप तुलसीमें वर्तमान है। गोस्वामीजी शिव अथवा विष्णुकी साम्प्रदायिक पूजा-पद्धति नहीं लिख रहे थे जो वंशद विवेचना करते, फिर भी उन्होंने साम्प्रदायिक पूजा-पद्धतिकी कुछ बातोंका समावेश अपनी में किया है। ‘शिवपुराण’के नवम खण्डके कई अध्यायोंमें शिव-पूजा व्यापक रूपसे वर्णित है। न वस्तुओंके चढ़ानेसे शिव शीघ्रातिशीघ्र प्रसन्न होते हैं उनका विशेष रूपमें उल्लेख है। बाबाजी वैसे पदार्थोंका निर्देश करते हैं—

‘देत न अघात, रीझि जात पात आक ही के।

भोलानाथ जोगी जब औढर ढरत हैं’ ॥’

यदि कोई सुरेशका ऐश्वर्य भी सहजमें ही प्राप्त करना चाहता है तो उसे क्या करना चाहिये—

‘पात द्वै धतूरे के दै, भोरे के भवेस सो,

सुरेस हू की सम्पदा सुभाय सों न लेत रे’ ॥’

अज्ञात अथवा ज्ञात रूपसे भी यदि किसीने ब्रह्म-पत्र शिवको चढ़ाया तो उसे जो दुर्लभ पदार्थ हैं इसका गोस्वामीजीने बड़ी ही मार्मिकतासे वर्णन किया है। गंगा-जल चढ़ानेका माहात्म्य भी न्य बताया गया है, वह चारों फलोंका देनेवाला है। धतूरा और मदारके फल-फूल चढ़ाना भी तिको दिलाता है वह वर्णनातीत है।

शैव सम्प्रदायके अनुसार भस्मका माहात्म्य भी अत्यधिक है। उसके सहस्र पवित्र और कल्याणकारी सरी वस्तु नहीं। उसका धारण करना शिव-मत्तका परम कर्तव्य है। गोस्वामीजीके हृदयमें भस्मके सी ही श्रद्धा थी। इसीसे उन्होंने—

‘भव अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी’ ॥’ कहा है।

१. ‘मानस’, अयो० ७.५। २. ‘कविता०’, उत्तर० छ० १५९। ३. ‘कविता०’, उत्तर० ६२। ४. देखिये ‘कविता०’, उत्तर० छ० १६३। ५. देखिये ‘कविता०’, उत्तर० छ० १६१। ६. ‘मानस’, लं० २.२। ७. ‘कविता०’, उ० छ० १६४। ८. ‘मानस’ बा० ९.१४।

सभी शिव-भक्तोंको त्रिपुण्ड्र लगाना और रुद्राक्षकी माला आदि भी पहननी चाहिये, क्योंकि यही जैवोंका बाह्य चिह्न है। परशुराम—जैसे शिवके अनन्य भक्तको उपस्थित कर गोस्वामीजीने परम शैवका रूप खड़ा कर दिया है।

शैव सम्प्रदायमें शिव-नाम-जपका माहात्म्य भी असाधारण है। इसे गोस्वामीजी कितना महत्त्व देते हैं, यह इसीसे अनुमित हो सकता है कि उन्होंने विष्णु द्वारा परम भक्त महर्षि नारदको इस नाम-जपका ही उपदेश कराया है—

‘जपहु जाइ संकर सत नामा । होइहि हृदय तुरत विस्त्रामा’ ॥’

इस प्रकार शिव-नाम-जप हृदयके विश्रामका साधन है। गोस्वामीजीने कामधेनु काशीका प्राण पञ्चाक्षरी मन्त्र^१ (नमः शिवाय) माना है।

प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी उपासना-पद्धतिमें अपने इष्टदेवके नाम-जपका माहात्म्य सर्वोत्तम स्वीकार करता है। गोस्वामीजीने वैष्णव सम्प्रदायकी पूजा-पद्धतिकी अन्यान्य विधियोंकी ओर तो इंगितमात्र किया है, परन्तु नाम-जपकी बड़ी ही विशद महिमा गायी है।

वैष्णवोंकी वैधी भक्तिके अन्तर्गत उनकी साम्प्रदायिक पूजा-पद्धति भी आती है। उसका सन्निवेश भी गोस्वामीजीकी कृतियोंमें हुआ है। वैष्णव सम्प्रदायकी पूजा-पद्धतिमें सशक्ति और सपार्षद भगवान्की उपासना होती है। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें इसका पूर्ण रीतिसे निर्वाह है। यथा रामके व्यायतन ध्यानका संकेत देखिये—

‘राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।

ध्यान सकल कल्याणमय, सुर-तरु तुलसी तोर’ ॥’

वैष्णव प्रायः तिलक मुद्रा, चौतनी, तुलसीकी माला आदि धारण करते हैं। राम और लक्ष्मण दोनोंको गोस्वामीजीने इन साम्प्रदायिक वस्तुओंसे विभूषित किया है—

‘माल बिसाल तिलक झलकाहीं।’

‘पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई’ ॥’

...

...

...

‘कुंजर मनि कंठा कलित, उरन्ह तुलसिका माल’ ॥’

राम-लक्ष्मणको इन साम्प्रदायिक भूषणोंसे भूषित करनेके कारण गोस्वामीजीकी कृतिमें काल-दोष भी आ गया है।

धार्मिक प्रतीक

जैसे इन साम्प्रदायिक देवोंके स्वरूप और इनकी पूजा-पद्धतिके कुछ प्रकार गोस्वामीजीमें मिलते हैं वैसे ही इन दोनों सम्प्रदायोंके कुछ धार्मिक प्रतीक और चिह्न भी वर्तमान हैं। शैव सम्प्रदायमें शिव-स्वरूप को व्यञ्जित करनेके लिए उनके प्रतीक और चिह्न नदी, चन्द्रमा, गंगा, सर्पराज, त्रिशूल, डमरू, बाघम्बर आदि तो हैं ही, पर उनके भयावह रूपको प्रकट करनेके लिए मुण्ड-माला भी है। शिवजीका जहाँ कहीं

१. दे० ‘मानस’ बा०, २६७.४, ५, ७। २. वही, १३७.५। ३. दे० ‘विनय’, पृष्ठ २२।

४. ‘दोहावली’, दो० १। ५. ‘मानस’, बाल० २४२.६, ७। ६. ‘मानस’ बाल० २४३।

वर्णन है वहीं इन प्रतीकों या चिह्नोंका निर्देश है। शिवका पूर्ण प्रतीक है शिवलिंग। इसकी प्रतिष्ठा होती है। योनि देवीका प्रतीक है। शैव लिंगकी पूजा करते हैं। लिंग-पूजनमें तुलसीने अपनी पूर्ण दिखायी है, यही कारण है कि उन्होंने रामके द्वारा लिंग-स्थापन और पूजन कराया है—“लिंग विधिवत करि पूजा”, पर इस साम्प्रदायिक विचारको लिखते समय गोस्वामीजीका विचार इधर नहीं के यह बात उनकी कृतिमें काल-दोष मानी जायगी।

विष्णु-स्वरूपकी अभिव्यक्तिके विशेष प्रतीक या चिह्न शंख, चक्र, गदा, पद्म और गरुड़ आदि आये भी वैष्णव सम्प्रदायमें पूजित हैं। वैकुण्ठ एवं लक्ष्मी तो विष्णुके प्रसिद्ध परिग्रह हैं—प्रथम उनका और द्वितीय उनकी अर्द्धांगिनी। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें इन प्रतीकों या चिह्नोंकी भी कमी नहीं। और विष्णुके तादात्म्यकी चर्चामें इन सबका विशेष उल्लेख किया गया है^१।

वैष्णव सम्प्रदायके अनुसार तुलसीदल श्रीका प्रतीक है, तभी तो विष्णुके प्रतीक शालग्रामपर तुलसी जाती है। ‘पद्मपुराण’ में शिवने नारदसे तुलसीका बड़ा ही माहात्म्य बताया^२ है। भगवानको अपनी तुलसीसे बढ़कर प्रिय अन्य कोई नहीं। इस साम्प्रदायिक विचारकी अभिव्यक्ति गोस्वामीजीने है—

‘रामहिं प्रिय पावन तुलसी-सी’।^३

वनवासके दिनोंमें भी, चित्रकूटमें राम, सीता और लक्ष्मण तुलसीके महत्व और ममत्वको नहीं छोड़ते^४। निशाचरोंके मध्य रहते हुए भी भक्त विभीषणने अपने ‘हरि-मन्दिर’की शोभा ‘नव तुलसिका वृन्द’^५ बढ़ायी थी। इसी प्रकार अवधमें भी सरयूके घाट-घाटपर तुलसीकी शोभा बढ़ रही थी^६।

राम-माहात्म्य और साम्प्रदायिक उपनिषद्

गोस्वामीजीने रामनामको जो ‘महामन्त्र’^७ और ‘मन्त्रराज’^८ माना है वह भी कुछ अर्वाचीन दायिक उपनिषदोंकी देन है। ‘रामोत्तरतापिनी उपनिषद्’में स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि राममन्त्रके ती प्राप्ति गायत्री मन्त्रादिसे कई गुना बढ़कर होती है, यह मन्त्र गाणपत्य, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि को अभीष्ट फलदायक है, साथ ही गाणपत्यादि मन्त्रोंसे अधिक श्रेयस्कर है, यही नहीं, इस मन्त्रकी तिघोर पापोंको दग्ध करनेकी अमोघ शक्ति गाते हुए अन्तमें ‘मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वे प्राप्नुयुः मोक्षमः’^९ शोषणा की गयी है।

‘रामतापिनी’ ही नहीं, ‘रामरहस्योपनिषद्’में भी दिखाये गये नाम-माहात्म्यसे राममन्त्रका ‘महामन्त्रत्व’ होता है^{१०}। ‘रामोत्तरतापिनी’में एक प्रसंग^{११} आया है कि शिवने एक सहस्र मन्वन्तरपर्यन्त काशीमें रामका जप, होम, अर्चन आदि किया। श्रीराम प्रकट हुए। उन्होंने प्रसन्न होकर शिवसे मनोभिलषित वर नेको कहा। शिवने मणिकर्णिका-क्षेत्रमें गंगा-तटपर सभी देह त्यागनेवालोंकी मुक्ति माँगी। इसपर रामने दिया—‘हे महादेव ! आपकी पुरीमें कृमि, कीट आदि भी मुक्तिके भाजन होंगे, यही नहीं, आपकी मैं सबको मुक्ति प्रदान करनेके लिए मैं भी प्रतिमा आदिके रूपमें उपस्थित रहूँगा’—

१. ‘मानस’, लं० १.६। २. दे० ‘तुलसीकी उपाशनापद्धति परिच्छेद’। ३. दे० ‘पद्मपुराण’, रखण्ड, अध्या० २४। ४. ‘मानस’ बाल० ३०.१२। ५. वही, अयो० २२५.७। ६. वही [२५.। ७. वही उत्तर० २८.६। ८. वही बाल० १८.३। ९. वही अयो० १२७.६। १०. दे० ‘उत्तर०’, उ० ५:४६। ११. दे० ‘रामरहस्यो’, ५:१४-१५। १२. दे० ‘रामोत्तरतापिनी’, ४ : १, ५।

‘अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये । अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥’

ऐसे ही साम्प्रदायिक विचारोंके आधारपर गोस्वामीजीने भी शंकरपुरीके कीट-पतंगोंको परमगतिका अधिकारी बताया है । देखिये—

‘जो गति अगम महामुनि गावहिं, तुअ पुर कीट पतंगउ पावहिं’ ॥’

रामका स्वरूप और साम्प्रदायिक पुराणोंके ढंग

त्रिदेववादके साम्प्रदायिक उपयोगकी ओर ध्यान रखते हुए भी गोस्वामीजीकी साम्प्रदायिकता विचारणीय है । शुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म सन्त, रज और तमकी बहुलतासे क्रमशः युक्त होकर अपनी अभिव्यक्तिब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें करता है और उसीसे सृष्टिका उद्भव, पालन और लय होता है । त्रिदेवोंमेंसे प्रत्येक देव ‘ओम्’के प्रत्येक वर्णसे क्रमशः व्यञ्जित किया गया है । समस्त पद ‘ओम्’ उस पूर्ण ब्रह्मका वाचक माना जाता है । साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें त्रिदेववादका एक-दूसरे ढंगसे उपयोग मिलता है । वहाँ अपने इष्टदेवका विष्णु या शिवमें तादात्म्य करके शेषको उसके आश्रित बतानेकी रीति है । अथवा, उपास्यकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करनेके लिए उसे त्रिदेवोंसे परे एवं त्रिदेवोंका नियामक दिखाना भी साम्प्रदायिक पुराणोंकी विशेषता है । ‘भागवत’ वैष्णवोंका मान्य ग्रन्थ है, उसमें वर्णित कृष्णको देखें तो वे कभी विष्णुसे तादात्म्य करके दिखाये गये हैं तो कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनोंसे परे और तीनोंके नियामक भी माने गये हैं । कृष्ण और विष्णुका एकत्व तो सैकड़ों जगह प्रतिपादित है, अतः उसके उदाहरण प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता नहीं । कृष्ण त्रिदेवोंसे परे ब्रह्म ही हैं, ऐसे प्रसंगोंकी ओर संकेत करना आवश्यक है । शिवजीने कृष्णको परम ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म कहकर नाना विधिसे उनकी स्तुति की है^१ । अपने सहित ब्रह्मादि सभी देवोंको उनके आश्रित बताते हुए अन्तमें कहा है—‘हे देव ! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण, सर्वत्र समान, अत्यन्त शान्त, सबके सुहृद्, आत्मा एवं ईश्वर, अद्वितीय तथा जगत्के अधिष्ठानरूप जो आप हैं, उन्हें हम संसारसे मुक्त होनेके लिए भजते हैं ।’ इसी प्रकार ब्रह्माने कृष्णकी जो स्तुति की है उसमें भी कृष्णको त्रिदेवोंसे परे ब्रह्मस्वरूप ही दर्शाया गया है^२ । स्वयं वसुदेवने भी कृष्णके परब्रह्म-रूपकी महिमा गायी है^३ । ‘भागवत’के अतिरिक्त ‘देवीभागवत’, ‘ब्रह्मवैवर्तपुराण’, ‘नृसिंहपुराण’, ‘शिवपुराण’ प्रभृति अन्य साम्प्रदायिक पुराणोंकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो वहाँ भी पुराणका प्रतिपाद्य देव कभी त्रिदेवोंमेंसे शिव या विष्णुके साथ तादात्म्य करके अन्य दोनोंका आश्रय बताया गया है अथवा त्रिदेवोंका नियामक, आदि कारण सिद्ध किया गया है ।

गोस्वामीजीने रामको भी इन्हीं साम्प्रदायिक पुराणोंके ढंगपर वर्णित किया है । त्रिदेवोंमें रामका विष्णुसे अभेद माना गया है । राम और विष्णुके सभी अवतारोंमें भी अभेद दिखाया गया है^४ । रामका त्रिदेवोंसे परे, उनका नियामक होना भी तुलसीकी रचनाओंमें मिलता है । देखिये—

‘जग, पेखन तुम देखनिहारे । विधि हरि सम्भु नचावनिहारे’ ॥’

इतना ही नहीं, केवल एक राममें सृष्टि-रचनाका जो नैपुण्य, उसके पालनकी जो क्षमता अथवा उसके संहारकी जो शक्ति है वह करोड़ों सम्मिलित ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमें ही हो सकती है—

“... विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ।

१. ‘विनय०’, पद ७ । २. दे० ‘भागवत’, १०:६३:३४, ४४ । ३. वही, १०:१४:१-४० ।

४. वही, १०:८५:२-२० । ५. दे० ‘चतुर्थ परिच्छेद’ ‘तुलसीकी उपासना पद्धतिके अन्तर्गत शीर्षक ‘राम और विष्णुका तादात्म्य’ । ६. ‘मानस’ अयो० १२५.१ ।

विष्णु कोटि सम पालनकर्ता । रुद्र कोटि सत सम संहरता' ।'

वस्तुतः हरिको 'हरिता', विधिको 'विधिता' और शिवको 'शिवता' देनेवाले राम हैं—

'हरिहि हरिता, विधिहि विधिता, सिवहि सिवता, जेहि दर्ई ।

सोइ जानकीपति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई' ।'

जगद्वन्द्व जगदीश भगवान् रामके चरण-रजकी स्पृहा ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी रखते हैं, इसीसे ये भी रामकी उपासनामें लवलीन रहते हैं । 'विनयपत्रिका' और 'मानस'में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं रामका परमात्मत्व सिद्ध करनेके लिए इसी ढंगका अवलम्बन किया गया है ।

सूर आदि हिन्दीके अन्य भक्त कवियोंमें भी इस प्रकारकी साम्प्रदायिकताका अभाव नहीं । 'गर्'में ही त्रिदेववादके अनुसार कृष्णकी प्रभुता, उनका ईश्वरत्व अथवा नियामकत्व अनेकानेक पदों शिंत है ।

और शिवका सम्बन्ध पौराणिक परम्परानुसार

गोस्वामीजीने अपने समकालीन वैष्णवों और शैवोंकी संकीर्णता और काल-दोषके कारण उनमें वाले संघर्षको मिटाकर ऐक्यस्थापनाका जो उद्योग किया है उसकी चर्चा पहले ही कर चुके हैं । प्रस्तुत में यह दिखाना आवश्यक प्रतीत होता है कि तुलसीने राम और शिवका जो सम्बन्ध माना है वह भी णिक परम्परागत रीतिके अनुसार है । गोस्वामीजीने रामको विष्णु और उनके सभी अवतारोंसे अभिन्न है^१ । पौराणिक परम्परामें विष्णु एवं उनके सभी अवतारों और शिवके बीच जैसा सम्बन्ध गोस्वामीजी दिखाई पड़ा उसीको उन्होंने राम और शिवके बीच दिखाया है । 'महाभारत'के 'खिल' अर्थात् शेष 'हरिवंश'की प्राचीनता असन्दिग्ध है । इस ग्रन्थमें 'हरिहरात्मक' ऐसा स्तोत्र मिलता है जिसमें 'हरि' 'हर'में गूढ़ातिगूढ़ सम्बन्ध और दोनोंका अमेद बताया गया है । यह बात नीचेके उद्धरणसे स्पष्ट होगी—

'रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः ।

एक एव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यशः' ॥'

'हरिवंश'के अतिरिक्त 'भागवत', 'शिवपुराण' आदिमें भी विष्णु और शिवका पारस्परिक निकट बन्ध मिलता है । देखिये, 'शिवपुराण'में विष्णु किस प्रकार शिवको प्रभु आदि सम्बोधित कर रहे हैं—

देवदेव महादेव शरणागतवत्सल ।

कार्यकर्ता स्वभक्तानां विज्ञप्तिं शृणु मे प्रभो' ॥'

हिमाचलकी भार्या मेनाको समझाते हुए विष्णुने कहा है कि उन्हीं शिवसे हम और ब्रह्मा सभी तपन्न हैं ।

'भागवत'में शिवका क्या स्थान है, यह निम्नोद्धृत वाक्यसे समझा जा सकता है—

'वैष्णवानां यथा शम्भुः'

१. 'मानस', उ० ९१. ५-६ । २. 'विनय०', पद १३५, (३) । ३. दे० 'चतुर्थ परिच्छेद' ।
४. 'हरिवंश' विष्णुपर्व अ० १२५:४१ । ५. 'शिवपुराण', पार्वतीखण्ड ३९:४६ । ६. वही, पार्वती

समुद्र-मन्थनके अनन्तर महाविष-पानके लिए प्रजापतिने शिवकी जो स्तुति की है उससे प्रकट होता है कि शिव सम्पूर्ण जगत्के बन्धन और मोक्षके अधीश्वर हैं, अतः विचक्षण पुरुष उन शरणागत-भयहारी जगद्गुरुकी पूजा करते हैं^१; महादेव ही सर्वव्यापक प्रभु हैं, जब अपनी गुणमय शक्तिसे वे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करना चाहते हैं तो स्वयं ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव, इन नामोंको स्वीकार कर लेते हैं^२। कैलासपति जिसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं तथा जो सब प्रकारसे भेदरहित है उस ब्रह्मरूप महादेवके परम तेजको सकल लोकपाल तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि देवेन्द्रगण भी नहीं जानते^३; उस परम पुरुषके स्वरूपकी स्तुति करनेसे ब्रह्मादि भी पार नहीं पाते, अतएव भक्तगण उसके त्रिनयनादि विशिष्ट सगुण स्वरूपपर ही लुभाये रहते हैं^४।

‘भागवत’में ऐसे कई प्रसंग तो आये ही हैं जहाँ शिवने कृष्णको अपना उपास्य परब्रह्म-स्वरूप मानकर स्तुति की है। साथ ही ऐसे प्रसंगोंका भी अभाव नहीं है जिनमें परम भागवतों द्वारा शिव और पार्वतीकी नाना प्रकारसे पूजा और स्तुति की गयी है। भगवान् रुद्र वासुदेवको कैसे मनन करते हैं, यह देखिये—

‘सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते’ ॥^५

उधर प्रियतम कृष्णकी प्रातिके हेतु शिवकी आराधनामें परम भक्त गोपिकाएँ भी संलग्न दिखायी गयी हैं^६। इस शिवाराधनका वर्णन सूरदासने भी किया है—

‘गौरी पति पूजति ब्रज नारि ।
नेम धरम ते रहत क्रियाजुत बहुत करति मनुहारि ।
इहै कहति पति देहु उमापति गिरधर नंद कुमार ।
... ..

महादेव पूजति मन वच क्रम करि सूर स्यामकी आस ।’

सूरसागर १०:२१:३२

बंगालकी एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित ‘नारदपञ्चरात्र’में ‘ज्ञानामृतसार’ नामकी संहिता है। इसमें कृष्णकी महिमाका बड़ा गान है। नारदको भगवान्की पूजन-विधिका माहात्म्य और विस्तार जाननेकी प्रबल उत्कण्ठा हुई और भगवान्ने उन्हें आदेश दिया कि वे कैलास-निवासी शंकरके यहाँ जाकर अपनी जिज्ञासाका परितोष करें। नारदजी सप्त द्वार-युक्त कैलास-प्रासादकी ओर चल पड़े और वहाँ पहुँचने पर प्रत्येक द्वारपर कृष्ण-चरितकी लीलाओंको आद्योपान्त चित्रित देखा^७। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कृष्ण और शिवका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, शिव परम भागवत हैं।

‘पद्मपुराण’में शिवकी यह युक्ति भी ध्यान देने योग्य है—

‘धन्याऽसि कृतपुण्याऽसि विष्णुभक्ताऽसि पार्वति ।
दुर्लभा वैष्णवी भक्तिर्भागधेयं विनेश्वरी ॥

१. ‘भागवत’, ८:७:२२ । २. वही, ८:७:२३, २४ । ३. वही, ८:७:३१ । ४. वही, ८:७:३४ ३५ । ५. वही, ४:३:२३ । ६. वही, १०, २२, १, ४ । ७. भाण्डारकर : वैष्णविज्जम् खण्ड शैविज्जम् पृ० ५७ ।

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्र नाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने^१ ॥'

विष्णु या उनके अवतारों और शिवमें जिस घनिष्ठ सम्बन्धका ज्ञान प्राचीन पुराणादिकोंकी परम्परा ॥ है उसको अत्यन्त संक्षेपमें संकेत करनेके उपरान्त हम तुलसीकी ओर बढ़ते हैं ।

राम और शिवका उपास्योपासक सम्बन्ध स्वतः शिवके द्वारा इस प्रकार वर्णित है—

‘सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा^२ ॥’

भगवान् शिव भक्तोंके लिए अवतीर्ण होनेवाले, सुवनपति, मायाधीश, व्यापक, ब्रह्मरूप रामके रत चिन्तनमें तल्लीन रहते हैं । अपनी प्रियतमासे अपने इष्टदेवकी विविध लीलाओंका सतत निरूपण गान करके वे निरन्तर पुलकित होते हैं । इस दम्पतीका सर्वस्व है राम-नाम—

‘जासु नाम सर्वसु सदा सिव-पार्वतीको^३ ।’

गोस्वामीजीके अनुसार भक्तोंमें शंकरका प्रथम स्थान है । इसीसे उनका नाम प्रथम गिनाया है । देखिये—

‘जानि है संकर, हनुमान, लषन, भरत राम भगति ।

कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लगति^४ ।’

और भी—

‘राम रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ

जान्यो हर हनुमान लषन भरत^५ ।’

यों तो गोस्वामीजीने शंकरको रामके परम भक्तके रूपमें ही निरूपित किया है, तथापि शिव उन्हें द्रव्य, जगद्गुरु, जगदीश, अविनाशी, ज्ञान-गुण-राशि भगवान्के रूपमें भी मान्य हैं । उनका गुणगान भुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपम्’ कहकर भी किया गया है । ‘विनयपत्रिका’में शिवकी परब्रह्मत्व-प्रकाशक तियोंकी कमी नहीं । शिवके रुद्राभिन्न भैरव-रूपका वर्णन करते हुए तुलसीने रुद्र और रामका तादात्म्य कर दिया है—

‘पाहि भैरवरूप रामरूपी रुद्र बन्धु गुर जनक जननी विधाता^६ ।’

जैसे भगवान् शिव अपने सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपोंमें अभिन्न रूपसे पूजित हैं, वैसे ही पुरारि-पियारी भी । रामकी वल्लभा श्रीजानकी स्वयं गिरिजाकिशोरीके दोनों रूपोंका गुण-गान और जय-प्रकार करती हुई दिखाई पड़ती हैं ।

राम और शिवके सम्बन्धका परिचायक यह संक्षिप्त विवरण यह स्पष्ट कर देता है कि तुलसीने इस षयमें भी पौराणिक परम्पराका पालन किया है । इनके विरुद्ध पुराणोंमें कहीं-कहीं शाप या विशिष्ट रेस्थिति आदिके कारण दो-एक ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं—

‘भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः । पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥

१. ‘पद्म पु०’, चतुर्थ खण्ड अ० २६१:२०, २१ । २. ‘मानस’, बा० ५०.८ । ३. ‘गीतावली’, ॥० गीत १२ । ४. वही, अयो० ९२ [१] । ५. ‘विनय०’, पद २५१ । ६. वही, पद ११ ।

नष्टशोचा मूढधियो जटाभस्मास्थिभारिणः । विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥'

+

+

+

‘मुमुक्षुवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ । नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥’

ऐसी उक्तियोंके प्रसंगको यथातथ्य रूपमें न समझनेके कारण विल्सन सदृश विद्वान्ने इन्हीं उक्तियोंके आधारपर सिद्ध किया है कि शैवों और वैष्णवोंका परस्पर विद्वेपात्मक सम्बन्ध चलता रहा है^१। पर गोस्वामीजीकी कृतियोंमें इस प्रकारकी उक्तियोंका सर्वथा अभाव है। एक शब्द भी ऐसा न मिलेगा जो राम और शिवसे किसी प्रकारका संघर्ष प्रकट करता हो।

अन्य देवोंका दिग्दर्शन भी परम्परागत

विष्णु, राम, शिव प्रभृति देवोंके सम्बन्धमें गोस्वामीजी द्वारा पौराणिक रीतिका जैसा आश्रयण है उसका उल्लेख कर चुकनेपर अब कुछ अन्य देवों, यथा गणपति, सूर्य आदिके विषयमें कुछ विचार कर लेना चाहिये। गणपति और सूर्य, इन दोनों देवोंके उपासक दो सम्प्रदाय चले थे— गाणपत्य तथा सौर। सूर्योपासनाका आरम्भ यों तो वैदिक युगमें ही हुआ था, तथापि सौर-सम्प्रदायकी स्थापना चाहे जव हुई हो उसकी प्राचीनता असन्दिग्ध है। ‘महाभारत’के वनपर्वमें यह कथा आयी है कि अपने पुरोहित धौम्यके उपदेशसे युधिष्ठिरने वनवासके दिनोंमें सूर्योपासना की और वरदानमें उनसे वह ताम्र-पात्री प्राप्त की जिसके प्रभावसे उन्हें वनवासके बारह वर्षोंमें कभी अन्न-कष्ट नहीं सहना पड़ा। ‘भविष्य’, ‘वाराह’ और ‘शाम्ब’ पुराणमें आदित्य-पूजन-विधिका विशेष वर्णन मिलता है। इससे सौर-सम्प्रदायका प्राचीनत्व प्रमाणित होता है। इन ग्रन्थोंमें वर्णित है कि कुरुक्षेत्र-युद्धके उपरान्त श्रीकृष्णके पुत्र शाम्ब कुछ-रोग-ग्रस्त हुए, पीछे उन्होंने सूर्यदेवकी आराधना करके मुक्ति-लाभ किया^२। ‘दीधनिकाय’के ‘बम्भजालमुत्त’^३ से पता चलता है कि बुद्धदेव सूर्यपूजक ब्राह्मण ज्योतिषियोंको बड़ी अवज्ञाकी दृष्टिसे देखते थे। इससे भी सूर्योपासनाकी प्राचीनता सिद्ध होती है। पारसी धर्मशास्त्र अवस्ताका ‘मिहरयस्त’ भी सूर्योपासनाकी प्राचीनताका चोतक है। इस प्रकार कितने ही प्राचीन सिक्कोंपर सूर्यका चित्रांकन देखते हुए विद्वानोंने सौर-सम्प्रदायकी ख्याति और उसकी प्राचीनतापर गवेषणात्मक विचार प्रकट किये हैं^४। आज दिन भी हिन्दू धर्मानुयायियोंमें कितने ऐसे हैं जो आदित्याराधनमें तत्पर रहते हैं। साम्प्रदायिक सूर्यके उपासकोंका मत यही है कि सूर्य ही परमब्रह्म हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव-रूप होकर सृष्टिकी स्थिति, पालन और लय, सभी करते हैं। वे एकमात्र उपास्य देवता हैं। ‘भविष्योत्तरपुराण’का यह श्लोक देखने योग्य है—

‘उदये ब्रह्मरूपस्तु मध्याह्ने तु महेश्वरः ।

अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रयीमूर्तिर्दिवाकरः ॥’

अब देखिये, तुलसीने सूर्यको किस रूपमें अपनाया है—

‘दीन दयाल दिवाकर देवा । कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा ॥

हिम-तम-कर-केहरि कर-माली । दहन दोष दुख दुरिति रुजाली ॥

१. ‘भागवत’, ४:२:२८, २९। २. वही, १:२:२६। ३. ‘एसेज एण्ड लेक्चर्स आन रेलिजन्स आव् हिन्दूज’, पृ० ३, ४। ४. ‘हिन्दी विश्वकोश’, भाग २४, पृ० ४९७। ५. वही। ६. दे० डॉ० वार्थ : रेलिजन्स आव् इण्डिया, पृ० २५७-५८।

कोक-कोक-नद-लोक-प्रकासी । तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी ॥

सारथि पंगु दिव्य रथ गामी । हरि-शंकर-विधि-भूरति स्वामी' ॥'

इस स्तुतिसे सूर्यका जो स्वरूप परिलक्षित हो रहा है वह सौर-सम्प्रदायके प्रतिकूल नहीं हैं । सूर्य ही युक्त भगवान् हैं, वे ही ज्ञान-स्वरूप हैं, त्रिदेव-मूर्ति-स्वरूप भी वे ही हैं, इत्यादि । 'मानस'में कई ऐसे आयें हैं जो स्पष्टतया व्यञ्जित करते थे कि गोस्वामीजी सूर्यदेवकी आराधनापर भी पूर्ण आस्था रखते ।

गणपत्य-सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा भी शैव अथवा वैष्णव सम्प्रदायकी भाँति किसी समय रही । 'ऋग्वेद-
' [०:२३:१] और 'वाजसनेयिसंहिता' [१६:२२, २३] में गणपतिकी स्तुति मिलती है' । इससे होता है कि गणपतिकी उपासना भी बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है । तन्त्र-शास्त्रमें देवी उपासनाकी तरह गणपतिकी उपासना भी वर्णित है । यही नहीं, तन्त्रशास्त्रमें एक और विशेष दिखाई पड़ता है कि किसी देवताकी उपासना क्यों न की जाये, सर्वप्रथम, गणेशको पूजना पड़ेगा । न करनेवाला पूजक अपने पूजनके इष्टफलसे वञ्चित समझा जाता है । पुराणोंमें भी गणेश-पूजनका उल्लेख मिलता है । 'शिवपुराण'के चतुर्थ खण्डमें गणपतिकी कथाका विशेष रूपसे वर्णन है । इसी खण्ड में अर्ध्यायमें दिखाया गया है कि गिरिजाने भी स्वयं गणपतिका व्रत रखा था । प्राचीन ग्रन्थोंके भ्रमों हिन्दू लेखकोंकी सर्वप्रथम 'श्री गणेशाय नमः' करनेकी जो परिपाटी दिखाई पड़ती है, उससे भी यही मिलता है कि गणपति-वन्दनाने किसी न किसी रूपमें प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें स्थान पाया था । कालकी इस सम्प्रदायका हास होते-होते भी हिन्दुओंके हृदयमें गणेशके प्रति श्रद्धा और भक्ति वर्तमान है ।

'गणेशाथर्वशीर्ष' प्रभृति साम्प्रदायिक उपनिषद्के अनुसार गणपति ही अनादि ब्रह्म हैं । गणेश, विष्णु शिवादि सब देवताओंके अधिपति, गुणत्रयातीत, अवस्थाशून्य, देहत्रयरहित, त्रिकालके अधि-
हैं । वह सभी प्राणियोंके मूलाधारमें अवस्थिति करते हैं । अपनी त्रिविध शक्तियोंसे सृष्टिकी स्थिति, न, और लय करते हैं । वह सगुण और निर्गुणरूपसे दो प्रकारके हैं । योगी जन उनके सगुण रूपकी सना द्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल कर अन्तमें परमद प्राप्त करते हैं, इत्यादि' ।

तुलसीकी रचनाओंमें गणेशका जो प्रसंग मिलता है उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि गोस्वामी-
ने गणपतिका अनादि देवत्व मान्य है । गणेशका यह परमत्व ही है जो शम्भु और भवानी भी उनका न करते हुए दिखाये गये हैं—

'मुनि अनुसासन गनपतिहि, पूजेउ सम्भु भवानि ।

कोउ मुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि' ॥'

गणपति सभी देवताओंमें प्रथम पूज्य हैं, इस ओर संकेत करते हुए बाबाजी कहते हैं—

महिमा जासु जान गनराऊ । प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥

ज्ञान और शुभ गुणोंके आगार करि-वर-वदन गणनायक ही सभी मनोमिलषित आकांक्षाओंको सिद्ध
ते हैं, एतदर्थ उनके प्रसादकी आकांक्षा रखते हुए उनकी स्तुति 'मानस'के आरम्भमें इस प्रकार की गयी

'जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करि-वर-वदन ।

करहु अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ-गुन-सदन ॥'

‘विनयपत्रिका’ के पहले पदसे प्रकट होता है कि गणपति ही ‘सिद्धि-सदन’ हैं, ‘विद्यावारिधि’ और ‘बुद्धिविधाता’ तो हैं ही। ‘रामाज्ञाप्रश्न’, ‘पार्वतीमंगल’ ‘ज्ञानकीमंगल’ एवं ‘रामललानहछू’ आदिके आरम्भमें तुलसीने गणेशके अभिवादन द्वारा उनके प्रति पूज्यत्वबुद्धि और श्रद्धाका भाव व्यक्त किया है। इससे यह स्पष्ट है कि गोस्वामीजी गणेशके पूजक और तद्विषयक प्राचीन परिपाटीके समर्थक थे।

गोस्वामीजीकी रचनाओंमें पवित्र नदियों और पुण्यस्थलोंका जो वर्णन मिलता है, वह भी प्राचीन पौराणिक परम्परानुसार ही है। पहले गंगाको ही लीजिये। ‘ऋग्वेद’में जिन दो स्थलोंपर गंगाका नाम आया है उन्हें देखते हुए विद्वानोंने यही माना है कि गंगाका देवत्व और उनकी पतित-पावनता आदिकी भावना वैदिक युगमें नहीं थी^१। गंगा और उनके तटपर स्थित कुछ स्थानोंकी पवित्रता और दिव्य महिमाकी घोषणा वस्तुतः चौथी शताब्दी ईसा पूर्वके ग्रीक लेखकोंकी साक्ष्यसे प्रकट है, जो इस विषयपर प्राचीनतम साक्षी हैं। ‘महाभारत’ में गंगाका माहात्म्य-गान नाना प्रकारसे किया गया गया है^२। स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा भी कर दी गयी है कि गंगासे बढ़कर अन्य तीर्थ नहीं—

‘न गंगा सदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परः।

ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः॥’

‘महाभारत’ ही नहीं, अन्यान्य पुराणों और इतिहासोंमें भी गंगाका बड़ा भारी माहात्म्य बताया गया है। ‘बृहद्भर्मपुराण’के मध्यखण्डके १२ वें अध्यायसे २८वें तक गंगाके माहात्म्यकी बड़ी ही सुन्दर, उपदेशप्रद और विचित्र कथा मिलती है। ‘गीता’का ‘स्रोतसामसि जाह्नवी’^३ भी गंगाकी महत्ताका द्योतक है। ‘भागवत’के ‘निम्नगानां यथा गंगा’^४ के द्वारा भी भगवती भागीरथीकी महिमा ही व्यक्त होती है। महर्षि वाल्मीकिने भी अपनी रामायणके बालकाण्डमें गंगाकी कथाका यथेष्ट विस्तार करते हुए उनकी महिमा गायी है। भारतीय संस्कृतिके प्रतिनिधि कवि कालिदासने भी अपने काव्योंमें प्रसंगतः और ‘कुमार-सम्भव’के दशम सर्गमें विशेषतः^५ गंगाकी अमोघ तारणशक्ति, उनकी परमपावनता एवं उनकी उत्पत्ति आदिकी चर्चा करके अपनी वाणीको कृतार्थ किया है।

प्राचीन पौराणिक कथाओंके अनुसार गंगाकी उत्पत्ति, उनकी पावन कीर्ति तथा उनके माहात्म्य आदिमें गोस्वामीजीका अटल विश्वास था। वे गंगाको ‘देवापगा’के रूपमें शिवके मस्तकपर विराजमान मानते हैं—

‘वामांगे च विभाति भूधरसुता, देवापगा मस्तके।’

ईश-शीशपर शोभित होनेवाली ‘जह्नु-बालिका’ ‘सुर-नर-नाग-वन्दिता’ होकर तीन नामोंसे तीन लोकमें विचरती है, ‘पुण्यरासि’ ‘पापछालिका’ है, यह भी उन्हें मान्य है^६। उन्होंने विष्णु भगवान्के चरण-कमल और ब्रह्माके कमण्डलुसे सम्बद्ध गंगाकी कथा भी ग्रहण की है^७। सगर-सुततारिणी गंगाकी कथा भी गोस्वामीजीको मान्य है, इसका संकेत ‘पुन्य कृत सगर-सुत’ तथा ‘सगर-सुवन-सौख्य-समनि’^८ आदिमें मिलता है। गंगा साक्षात् ब्रह्मद्रव्य^९ रूप हैं, इसका आभास भी मिलता है।

१. ‘इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड ऐथिक्स’, भाग ६, पृ० १७८। २. ‘महाभारत’ वनपर्व, ८५, ८९, ९०, ९१, ९४, ९७। ३. वही, ८५-९७। ४. ‘गीता’ १०, ३१। ५. ‘भागवत’ १२, १३, १६। ६. ‘कुमारसम्भव’, दशमसर्ग, श्लोक० ०८-३१। ७. दे० ‘विनय०’, पद १७। ८. दे० ‘विनय०’ पद १८। ९. दे० ‘विनय०’ पद १८। १०. दे० ‘विनय०’ २०। ११. ‘कविता०’ उ० छ० १४६।

गंगा का पाप-निर्हरण-शक्तिके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। उसके स्मरणमात्रसे पाप एवं त्रिविध दूर हो जाते हैं; वे सभी अभीष्ट फलोंको देनेवाली हैं; वे स्वर्ग-सोपान और ज्ञान-विज्ञान प्रद भी हैं; द-मदननाशिनी तो है ही; जिस देशमें गंगा बहती हो वह धन्य हैं^१। कल्हके प्राणियोंके उद्धारके तो गंगा ही एकमात्र आश्रय हैं—

‘तो विनु जगदंब गंग, कलियुग का करित ।
घोर भव-अपार-सिंधु तुलसी कैसे तरित’ ।^२

गंगाके अतिरिक्त यमुना, सरस्वती, सोन, सरयू, गोदावरी, मन्दाकिनी प्रभृति नदियोंका भी मीजीने जो माहात्म्य दिखलाया है वह भी पौराणिक परम्परानुगत है।

अयोध्या, चित्रकूट, रामेश्वर, काशी, नैमिषारण्य एवं प्रयाग आदि तीर्थोंका गुणगान भी पौराणिक है। उदाहरणके लिए प्रयागको ही लीजिये। ‘महाभारत’के वनपर्वके ८५वें अध्यायमें श्लोक ७० से तक बड़े ही जोरदार शब्दोंमें प्रयाग-माहात्म्य वर्णित है। प्रयाग तीर्थराज कहा गया है, वहीं सब देवों रास बताया गया, यज्ञ और वेद भी मूर्ति धारण करके वहीं रहते हैं—

‘ततः पुण्यतमं नाम त्रिपु लोकेषु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रघटन्त्यधिकं विभो ॥’

‘महा०’ वन० ८५:८०

इस तीर्थराजकी यात्रा और नामस्मरणसे पुरुष मृत्यु-भय-रहित होकर पापोंसे मुक्त हो जाता है^३; अठ धरोड़ तीस हजार तीर्थ कहे गये हैं वे सबके सब प्रयागमें निवास करते हैं^४ इत्यादि। गोस्वामीजीने ‘म’में प्रयागका जो रूपक बोधा है उसमें प्रयागका अमित माहात्म्य व्यक्त है—

‘को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ ।
कलुष-पुंज-कुंजर मृगराऊ’ ॥^५

तीर्थराज प्रयाग ही ‘सकल कामप्रद’^६ है। इसके दर्शनमात्रसे ‘जनमकोटि अघ’ भागते हैं^७। राध अगाध’ मिटते हैं^८।

गणिक युग

अवतारवादका प्राचीन साम्प्रदायिक सिद्धान्त भी वैष्णव-धर्म और उसके धार्मिक वातावरणको नवीन सज्जीवनी शक्तिदायक सिद्ध हुआ है। इसीके आधारपर भक्तिका सतत स्यंदमान अमृतमय त प्रवाहित हुआ है। यह उसीका प्रताप है कि हमने निर्गुणके सगुण तथा विराट् रूपको अपनी गुरिन्द्रियका विषय बना लिया है। उसे सुन्दरतम व्यक्तिके रूपमें देखकर उसकी रूप-मधुरिमाको अपनी लोंमें भर लिया है। उससे अपना निकट सम्बन्ध जोड़ लिया है। अपनी बोधवृत्ति एवं रागात्मक वृत्ति लोको उसमें रमा दिया है।

१. ‘विनय०’, पद १९, ‘मानस’ अयो० ८६:४। २. वही, पद १८, ‘कविता०’ उ० छ० १५। ३. ‘मानस’ उ० १२६:५। ४. ‘विनय०’, पद १९। ५. ‘महाभारत’, वन० ८५-८१। वही, वन० ८५-८५। ६. ‘मानस’, अयो० १०५-१। ७. वही, अयो० २०२-६। ८. वही, अयो० १०५-१। ९. ‘विनय०’ उ० छ० ५४८।

भागवत धर्मका मूल स्रोत 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। वहींसे हमें अवतारवादका मङ्गुषोप सुनाई पड़ता है—

‘यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥’ ४:७, ८

अवतारवादके सिद्धान्तकी व्यञ्जना तुलसीकी रचनाओंमें प्रायः मिलती है। रामके अनेकानेक अवतारोंमें गोस्वामीजी पूर्ण आस्था रखते हैं। इसीसे—

‘नाना भौंति राम अवतारा । रामायन सत कोटि अपारा’ ॥’

जैसी उक्तियाँ मिलती हैं।

यदि कोई सन्देह करे कि इस नाना भौंतिके अवतारोंकी आवश्यकता क्यों हुई तो उसका समाधान यों है—

‘जब जब होइ धरमकी हानी । वाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहीं बरनी । सीदहिं बिप्र-धेनु-सुर-धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन-पीरा’ ॥’

अस्तु रामके अवतारके विषयमें गोस्वामीजी कहते हैं—

‘बिप्र-धेनु-सुर-सन्त-हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार’ ॥’

जब भगवान् निजेच्छया सुर-महि-गो-द्विजके हेतु अवतीर्ण होते हैं तो उनके सगुणोपासक भक्तगण मोक्षादि सुखोंको त्यागकर उनके सान्निध्यमें ही सुखका अनुभव करते हैं—

‘निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर-महि-गो-द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ-सुख त्यागि’ ॥’

निस्सन्देह पीड़ित भक्तों, गो, ब्राह्मण आदि वर्गोंकी विपत्ति हटानेके लिए भगवान् अवतार लेते हैं, पर साथ ही उनके अवतारका एक बड़ा रहस्यपूर्ण कारण उनकी भक्त-प्रेम-वशता भी है जिसमें उनके भक्तगण उनकी लीलाओंका गान कर संसारसागरसे सहजमें ही पार हो जायँ। अवतारके विषयमें गोस्वामी जी अपनी रचनाओं, विशेषतया ‘मानस’, ‘दोहावली’, ‘कवितावली’^५ और ‘विनयपत्रिका’^६ में संकेत करते गये हैं।

साम्प्रदायिक एवं पौराणिक कथाएँ और वर्णन

तुलसीकी रचनाओंमें बहुत-सी ऐसी कथाओंके प्रसंग और समावेश मिलते हैं जिनके आधारपर भी उनकी साम्प्रदायिकता और पौराणिकता अवगत होती है। गज, गणिका, अजामिल एवं प्रह्लाद आदिकी कथाको ही देखें तो ‘कवितावली’के उत्तरकाण्ड, ‘विनयपत्रिका’ तथा ‘मानस’ आदि रचनाओंमें इन कथाओंकी नजीरें सैकड़ों बार दुहरायी गयी हैं। बात यह है कि ‘भागवत’ सदृश साम्प्रदायिक वैष्णव

१. ‘मानस’, बाल० ३२. ६। २. वही, बाल० ११०. ६-८। ३. वही, बाल० १९२. १।
४. ‘मानस’, किष्कि० २६. १। ५. दो० ‘दोहावली’ दो० ११३, १२३। ६. ‘कविता०’ उ० छ० १२२।
७. ‘विनय०’, पद ५२, ९८, २४८।

पुराणोंमें इन कथाओंका बहुत महत्त्व है। एतदर्थ गोस्वामीजी जैसा परम भागवत भक्त इन दृष्टान्तोंको बार-बार तुलसीदासने क्यों हिचकता ?

भगवान्‌के नाम, धाम, गुण अथवा माहात्म्य व्यक्त करनेवाली गृध्रराज, काकभुशुण्डि, अहल्या, द्रौपदी, नारद, वाल्मीकि आदिकी कथाओंके अतिरिक्त अन्यान्य और भी कितनी ही पौराणिक कथाओंका संकेत बाबाजीने दिया है। वैष्णव साम्प्रदायिकी कथाओके अतिरिक्त शैवसम्प्रदायकी कतिपय शैव पुराणान्तर्गत कथाओं, यथा सती-चरित्र, कामदहन, तारकासुरवध, जलन्धर-वध, पार्वतीमंगल आदिका उल्लेख भी तुलसीने अपने 'मानस'में किया है। गुण-निधि द्विजकी साम्प्रदायिक कथाका, जो 'शिवपुराण' के कई अध्यायोंमें वर्णित है, संवेत भी 'विनय-पत्रिका'की एक स्तुतिमें है—

‘कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज।

होइ प्रसन्न दीन्हेहु सिव पद निज’।’

दुर्गाकी स्तुतिमें चण्ड, सुण्ड, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ आदि दैत्योंकी ओर इंगित करना भी गोस्वामीजी नहीं भूले हैं^३।

निष्कर्ष

साम्प्रदायिकताविषयक इस संक्षिप्त विवेचनको देखते हुए हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि तुलसीमें जिस साम्प्रदायिकताका दर्शन होता है वह ऐसी कट्टरता और संकीर्णतासे विनिर्मुक्त है जो हिन्दू समाजमें पारस्परिक संघर्ष, विद्वेष और पार्थक्यकी जड़ें जमाती है। प्राचीन पौराणिक संस्कृतिके अभ्युदय-कालमें जिन सम्प्रदायोंकी उद्भावनाएँ हुईं, तुलसी उन सबके सार्विक और तात्त्विक स्वरूपमें पूर्ण आस्था रखनेवाले थे। यही कारण है कि प्राचीन परम्पराके अनुरूप ही वैष्णव सम्प्रदायसे लेकर शैव, शाक्त, गाणपत्य तथा सौर प्रभृति सभी सम्प्रदायोंके इष्टदेवोंको उच्चसे उच्चतम स्थानोंपर उन्होंने बिठाया है। सभीके चरणोंमें अपना शीर्ष नवाकर उनकी वन्दनाएँ की हैं और उनसे यही याचना की है कि वे सब प्रसन्न होकर उन्हें (तुलसीको) रामका अनन्य भक्त बना दें। रामका अनन्य भक्त होनेकी स्पृहा और राम-भक्तिको सर्वोपरि माननेका आग्रह, यही एक ऐसी बात है जो तुलसीकी विशेष साम्प्रदायिकता कही जा सकती है। परन्तु उदार दृष्टिसे विचार करनेपर निखिल विश्वमें अनेक धर्मोंके धुरन्धरोंमें ऐसे बहुतेरे व्यक्ति न होंगे, जो इस प्रकारकी साम्प्रदायिकतासे आबद्ध न हों।

साम्प्रदायिकता अपने विकृत रूपमें ही एक प्रकारकी संकीर्णताका द्योतक है। तभी तो एक सम्प्रदाय दूसरेसे अपना पार्थक्य मानता है, यही नहीं, एक-दूसरेके प्रति तटस्थ न होकर विद्वेष और ईर्ष्या आदिका वात्साचक्र कभी-कभी चलाता है। फलतः साम्प्रदायिक संघर्षोंके अवसर आये दिन भी आते ही रहते हैं। तुलसीकी साम्प्रदायिकता ऐसे वातावरणको जन्म देनेवाली नहीं है। अपनी विश्व-संग्राहिका-बुद्धि तथा अपने महान् विचक्षण उदार हृदयके कारण उन्होंने अपनी साम्प्रदायिकताको वह व्यापक रूप दिया है जिसमें आर्य सनातनधर्मको किसी भी सार्विक रूपमें मानकर चलनेवाले सम्प्रदायोंकी अन्तरात्माका सुसम्बद्ध समन्वय है।

अष्टम परिच्छेद

तुलसीकी परम्परागत भक्ति

प्राचीन आचार्योंके द्वारा भक्तिका जो सांगोपांग स्वरूप कतिपय भक्ति-सूत्रों, पुराणों तथा अन्याय भक्ति-ग्रन्थोंमें निरूपित किया गया है वही तुलसीने भी सर्वांशमें ग्रहण किया है। जिस अनपायिनी प्रेम-भक्तिको शुक, सनकादि, नारद, शेष, ध्रुव, प्रह्लाद प्रभृति पौराणिक भक्तोंने अपना परम लक्ष्य माना है उसीको गोस्वामीजीने भी। यही कारण है कि इनकी भक्ति-भावना आचार्योंकी पारम्परिक भक्ति-भावनासे सर्वथा अभिन्न है।

भक्तिकी परिभाषा

शाण्डिल्यके कथनानुसार भक्ति है—‘परानुरक्तिरीश्वरे’^१। भक्त प्रह्लाद भी कहते हैं—

‘या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु’^२।

महर्षि नारदका भी ऐसा ही विचार है—‘सा त्वस्मिन् प्रेमस्वरूपा’^३। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि परमेश्वरमें अतिशय प्रेमका होना ही भक्ति है। कोई भक्ति-ग्रन्थ देखिये, सर्वत्र ही भक्तिकी आधारशिला भगवद्-विषयक अनन्य प्रेम ही मिलेगा। ‘गीता’में श्रीकृष्णने स्वीकार किया है कि जो भक्त मुझमें मन जमाकर और प्राणोंको लगाकर परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथा कहते हुए (उसीमें) सदा सन्तुष्ट और रममाण रहते हैं, समाधानसे रहकर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं उनको मैं ही ऐसी बुद्धिका योग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लें^४। हमारे भक्त कविने भी इन्हीं विचारोंका नाना प्रकारसे प्रतिपादन किया है। उसने चातकको प्रेमीका प्रतीक मानकर उसके सहज स्वभावकी मार्मिक एवं व्यापक अभिव्यक्तिके द्वारा अनन्य और एकांगी प्रेमका स्वरूप निर्दिष्ट करके साधकको परमात्माके प्रति स्वाभाविक प्रेम करनेका मार्ग प्रदर्शित किया है।

सामान्यतः प्रेमके दो स्वरूप होते हैं—सकाम प्रेम तथा निष्काम प्रेम। इन दोनोंमें महान् अन्तर है। भगवान्के प्रति निष्काम प्रेमकी जननी है—प्रेमाभक्ति। यदि भगवत्प्रेम सकाम हुआ तो भले ही भक्तिकी संज्ञा ग्रहण कर ले, पर वह अविरल, विशुद्ध प्रेम-भक्ति नहीं। इसे अनपायिनी भक्तिकी संज्ञा तभी प्राप्त होती है जब यह सर्वतोभावेन स्वार्थ-रहित ही नहीं, अपितु परमार्थसिद्धिकी भावनासे भी शून्य हो—

‘स्वारथ-परमारथ-रहित, सीताराम-सनेहु।

तुलसी सो फल-चारि को, फल हमार मत एहु’^५॥’

गोस्वामीजीने मीनका वारिसे अनन्य तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध^६ दिखाकर भी उपासकोंको सच्चे भगवत्प्रेमका स्वरूप सुझाया है। उन्होंने ‘चातकछत्तीसी’में प्रेमकी अनन्यता, अटलता और अमरताका साकार स्वरूप निर्दिष्ट करके भी यही चिताया है। चातकके ही प्रदंगमें जलदके द्वारा किये गये नाना

१. ‘शाण्डिल्यसूत्र’, १२। २. ‘विष्णुपुराण’, १ : २ : १७ ३. ‘नारदसूत्र’, १२। ४. ‘गीता’, १० : ९ : १० ५. ‘दोहावली’, दो० ६० । ६. ‘दोहावली’, दो० ५७ ।

उत्पातोंका उल्लेख करके उन्होंने यह भी लक्षित कर दिया है कि निष्काम प्रेम आपत्तियोंके पहाड़ोंसे टकरानेपर भी उससे मस नहीं होता ।

प्रियके प्रति अनन्य प्रेम होनेपर प्रिय ही सर्वस्व हो जाता है । उसके अतिरिक्त संसारमें दूसरा कोई स्वप्नमें भी नहीं दिखाई पड़ता । संसार क्या, स्वर्गापवर्गाकी श्रेष्ठतम विभूति भी तुच्छ लगती है । अनन्य प्रेमका लक्षण नारदने भी यही कहा है—

‘अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ।’

तुलसीने राममें अपनी ऐसी ही अनन्यता प्रकट की है । देखिये—

‘एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।

एक राम धनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥’

प्रेमकी अनन्यताके हेतु श्रद्धा और विश्वास परमावश्यक तत्त्व माने गये हैं । उपासक श्रद्धा और विश्वासके निगूढ़ समन्वय बिना भक्तिका रहस्य नहीं जान सकता । गोस्वामीजीने ‘मानस’, ‘विनयपत्रिका’ और ‘कवितावली’के उत्तरकाण्डमें रामभक्ति प्राप्तिके लिए श्रद्धा और प्रतीति-प्रीतिका होना अनिवार्य ठहराया है—

‘बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ।’

...

...

‘मानस’ पृ० ३२१

‘बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।’

...

...

‘मानस’ पृ० ४४९

‘तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो ।

राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो ॥’

...

...

‘विनय०’ पद १७३

‘प्रीति प्रतीति राम-पद-पंकज सकल सुमंगल खानी ।’

...

...

वही, पद १९४

प्रीति और प्रतीतिका चरमोत्कर्ष ही पत्थरकी भी पूजा कराने लगा—

‘प्रीति प्रतीति बड़ी तुलसी तब तैं सब पाहन पूजन लागे ।’

...

...

‘कविता०’ उ० १२८

‘प्रेम बढौं प्रह्लादको जिन पाहन ते परमेसुर काढ़े ।’

...

...

‘कविता०’ उ० १२७

भक्तिके भेद

भक्तिके हेतु सहायक तत्त्व तो होते ही हैं, क्रियाविधिके अनुसार उसके भेद भी होते हैं । नारदके मतसे भक्ति उभय प्रकारकी मानी गयी है—प्रेमरूपा भक्ति और गौणी या गुणाश्रिता । ‘भागवत’में नवधा भक्तिका विधान है । पहले अन्तिम दोनों प्रकारके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जायगा ।

गौणी भक्ति गुण-भेदसे अथवा आर्तादि-भेदसे तीन^१ प्रकारकी होती है। जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यसे कर्मफलको भगवान्‌में समर्पण करनेके रूपमें, अथवा जिसमें पूजन करना कर्तव्य है यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की जाती है, वह सात्त्विकी है^२। जो भक्ति विषय, यश और ऐश्वर्य-कामनासे भेद-दृष्टि-पूर्वक केवल प्रतिमा आदिके पूजनके रूपमें की जाती है वह राजसी^३ है। और जो भक्ति क्रोधसे हिंसा, दम्भ और मत्सर लेकर भेद-दृष्टिसे की जाती है वह तामसी है^४। इसी तरह आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुष त्रिविध उपासनासे तीन प्रकारकी भक्ति करते हैं, अर्थात् भक्तोंके भाव-भेदसे गौणी भक्तिके तीन भेद होते हैं।

गौणी भक्ति स्वयं साध्यरूप नहीं होती; इसके साधनोंसे यद्यपि साक्षात् भगवत्प्राप्ति नहीं होती, फिर भी इस भक्तिके साधक भी सुकृती ही होते हैं और उन्हें भी निरन्तर इसका अनुष्ठान करते-करते अन्तमें साक्षात् भगवत्स्वरूपा प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

गौणी भक्तिके भेदोंमें उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्वकी भक्ति श्रेयस्कर होती है^५। अर्थात् तामसीकी अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति उत्तम है। इसी प्रकार अर्थार्थीकी भक्तिकी अपेक्षा जिज्ञासुकी और इन दोनोंकी अपेक्षा आर्तकी भक्ति विशेष कल्याणकारिणी होती है। गौणी भक्तिके सम्बन्धमें यही दो-चार शब्द कहनेके अनन्तर, अन्तमें हमें यह संकेत करना है कि 'मानस'में इस भक्तिका स्वरूप भी इंगित किया गया है। भक्तोंके भेदानुसार आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थीका उल्लेख तो है ही, सात्त्विकी, राजसी और तामसी त्रिविध उपासकोंका निर्देश भी है।

नवधा भक्ति भी गौणी भक्तिकी भाँति साधन-रूप ही होती है। इसीसे यह वैधी भक्ति भी कही जाती है। इसका सतत अभ्यास करते-करते भक्त उत्तरोत्तर परमात्मोन्मुख होता जाता है और अन्तमें साध्य-स्वरूपा प्रेम-लक्षणा भक्ति प्राप्त करता है। नवधा भक्तिके नौ प्रकार ये हैं^६—भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभाव आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा उनका चरण-सेवन, पूजन, वन्दना करना, उनके प्रति दास्य भाव तथा सख्य भावकी निष्ठा रखना अथवा अपनेको समर्पण कर देना।

अब यदि हम नवधा भक्तिके नवों प्रकारोंके स्वरूप, विधि, हेतु और फलको दृष्टिमें रखते हुए उन सबका समावेश तुलसीकी रचनाओंमें दिखाना चाहें तो अनभीष्ट विस्तार होगा। एतदर्थ स्थालीपुलाकन्यायसे दो ही तीन प्रकारकी चर्चा करेंगे।

पहले श्रवण भक्तिका स्वरूप देखिये—

‘जिन्हके सवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।

भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रुरे।’^१

अवतरणसे स्पष्ट हो रहा है कि भगवत्कथा-रूप प्रेमामृतके निरन्तर प्रवाहसे कर्णोंको परिपूर्ण होने पर भी सदैव अपूर्ण मानना और पुनः-पुनः उस श्रवणामृत भगवत्कथाकी आकांक्षा करते रहना ही श्रवण भक्ति है।

इसकी विधिकी पालन भी पूर्ण रूपसे दिखाया गया है। भरद्वाज मुनि परम विवेकी याज्ञवल्क्यके मुखसे कथा श्रवण करना चाहते हैं, अतः वे क्या करते हैं, सर्वप्रथम यह देखिये—

१. ‘नारदसूत्र’, १५६। ‘गौणी त्रिधा गुणभेदादातादिभेदाद्वा।’ २. ‘भागवत’, ३:२९:१०।

३. वही, ३:२९:९। ४. वही, ३:२९:८। ५. ‘नारदसूत्र’, १५७। ‘उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वा श्रेयाय भवति।’ ६. ‘भागवत’, ७:५:२३ ‘श्रवणं कीर्तनं विष्णोः’ ‘सख्यमात्मनिवेदनम्।’ ७. ‘मानस’, अथो० १२६. ४, ५।

‘सादर चरन सरोज पखारे । अति पुनीत आसन बैठारे ॥
करि पूजा मुनि सुजस बखानी । बोले अति पुनीत मृदु बानी ॥
नाथ एक संसउ बड़ मोरे । करगत वेद तत्व सब तोरे ॥
कहत मोहिं लागत भय लाजा । जौ न कहउँ बड़ होइ अकाजा ॥’

इसी प्रकार राम-कथाकी श्रवणाभिलाषिणी पार्वतीने भी शिवके चरणोमें सिर झुकाकर परम विनीत शब्दोंमें अपनी जिज्ञासा प्रकट की है^१। गरुड़ने भुशुण्डिके पास जाकर जब राम-कथा सुननेकी अपनी प्रबल उत्कण्ठा प्रकट की तो पहले उन्होंने भी काककी नाना प्रकारसे विनय की और तदुपरान्त बड़े ही आर्तभावसे कथा सुनी। तात्पर्य यह कि इन भक्तोंका ऐसा आचरण दिखाकर श्रवण-भक्तिकी विधिकी व्यावहारिक निर्देश किया गया है।

श्रवण-भक्तिका प्रधान हेतु महापुरुषोंका सत्संग है^२। यही गोस्वामीजीको भी मान्य है—

‘बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥’

उद्धरणमें ‘हरिकथा’ श्रवण-भक्तिका और ‘दृढ़ अनुराग’ प्रेम-लक्षणा भक्तिका द्योतक है। इससे स्पष्ट है कि श्रवण-भक्ति प्रेमलक्षणा भक्तिकी ओर ले जानेका साधन भी है। यह मनको परम विश्राम-दायिनी, साथ ही कानोंको परमानन्द-प्रदायिनी है, संसार-सागरसे पार ले जानेका हेतु भी यही है^३। जहाँ कहीं अवसर मिला है, श्रवण-भक्तिका माहात्म्य गानेमें भी गोस्वामीजी नहीं पिछड़े हैं।

श्रवण-भक्तिके पश्चात् बीचके तीन-चार प्रकारोंको छोड़ अर्चन-भक्तिकी ओर आइये। भगवान्के किसी रमणीय स्वरूपका बाह्य सामग्रीसे, उनके किसी अपने अभिलषित स्वरूपकी मानसिक प्रतिमा बनाकर मानसिक सामग्रीसे, अथवा सर्वभूतोंमें परमात्माको स्थित जानकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथा-योग्य विविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका सेवन-पूजन करना और उनका तत्त्व रहस्य एवं प्रभाव आदि समझ-समझकर प्रेम-सुग्ध होना अर्चन-भक्ति है। इसके लिए बाह्य पूजनके उपकरण अनेक हैं, यथा, धूप, दीप, नैवेद्य आदि। इनका संकेत देखिये—

‘प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥

...

...

...

तरपन होम करहि विधि नाना । बिप्र जेवाइ देहिं बहु दाना^४ ॥’

मानसिक अर्चनका निर्देश भी किया गया है। विकारग्रस्त मनके द्वारा मानसिक अर्चन कदापि नहीं हो सकता। सत्य-तत्त्व-दर्शी, विकार-शून्य हृदयवाला ही भगवान्का सामीप्य प्राप्त करता है। देखिये—

‘काम क्रोध मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया । तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥
सबके प्रिय सबके हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥

१. ‘मानस’, बा० ४४. ५-८। २. दे० वही, बा० १०९. १-३। ३. ‘नारदसूत्र’, १३९; १४२। ४. ‘मानस’, उ० ६१. १। ५. ‘मानस’, उ० ५२. १-४। ६. ‘मानस’, अयो० १२७. १, २, ७।

कहहिं सत्य प्रिय बचन विचारी । ॥

..... । दुखित होहिं पर विपति विसेखी' ॥'

बाह्य एवं मानसिक दोनों प्रकारसे अर्चनभक्ति करनेवाले भक्तका भी एकमात्र यही लक्ष्य होता है—

‘सबु करि माँगहिं एक फल राम चरन रति होउ’ १’

गोस्वामीजीने शबरी और मुशुण्डिके द्वारा अर्चनभक्तिका बड़ा ही मनोज्ञ दृश्य उपस्थित किया है^२ । अर्चनार्थ यह आवश्यक नहीं है कि बहुमूल्य वस्तुएँ ही विविध विधि-विधानपूर्वक अर्पित की जायँ, वहाँ तो केवल सच्चे भावकी अपेक्षा होती है, सामान्यसे सामान्य वस्तु यदि परम श्रद्धा और प्रेमसे अर्पित की गयी है तो भगवान् उसे अनर्घ ही मानकर ग्रहण करते हैं । श्रीमुखकी उक्ति है—

‘पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे मक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः’ ॥’

तुलसीने इस आसवाक्यका बड़ा ही सुन्दर एवं व्यावहारिक दृष्टान्त भी दिखाया है । कोल-किरात जैसे असभ्य वनचारी लोग अर्चनकी कोई विधि नहीं जानते तो केवल दोना भर-भरकर कन्द-मूल फल ही भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करते हैं, पर उनके अर्पणमें श्रद्धा और प्रेम लबालब भरे हैं । देखिये—

‘कंद मूल फल भरि भरि दोना । चले रंक जनु लूटन सोना ॥

...

...

...

करहिं जोहार भेंट धरि आगे । प्रभुहि बिलोकहि अति अनुरागे ॥

चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े । पुलक सरार नयन जल बाढ़े ॥

राम सनेहमगन सब जाने । कहि प्रिय बचन सकल सनमाने’ ॥’

इन सब असभ्योंको और कोई सेवा-विधि नहीं मालूम थी तो वे यही सेवा करना चाहते थे—

‘हम सब भौंति करवि सेवकाई । करि केहरि अहि बाघ वराई ॥

बन बेहड़ गिरि कन्दर खोहा । सब हमार प्रभु पग पग जोहा ॥

जहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउव ।

सर निरझर सब ठाउ देखाउव’ ॥’

प्रेमके भूखे भगवान् किरातोंके इन्हीं वचनोंसे तुष्ट हो गये—

‘रामहिं केवल प्रेम पियारा । जानि लेहु जो जाननिहारा’ ॥’

अब अन्तिम प्रकार अर्थात् आत्मनिवेदन-भक्तिपर भी कुछ विचार कर लीजिये । परमात्माके तत्त्व, रहस्य, महिमा और प्रभावको समझकर ममता और अहंकारशून्य होकर तन-मन-धन-जन सहित अपने आपको और सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्म-समर्पण कर देना ही आत्मनिवेदन-भक्ति

१. ‘मानस’, अयो० १२८. १, ४, ६, ७ । २. ‘मानस’, अयो० १२८. १ । ३. दे० वही, अरण्य० ३३. १०. ३४; उ० ५६. ४, ६ । ४. ‘गीता’, ९ : २६ । ५. ‘मानस’, अयो० १३२. २, ५, ६, ७ । ६. ‘मानस’, अयो० १३४. ५-७ । ७. वही, अयो० १३५. १ ।

है। यह शरण-भक्ति भी कही जाती है। इसमें लीन भक्त सोते-जागते प्रत्येक दशामें भगवच्छरणकी आकांक्षा करता है। देखिये—

‘जागत सोवत सरन तुम्हारी। ॥

तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं’ ॥^१

भगवच्चरणोंमें अपने आपको सर्वभावेन समर्पित कर चुकनेपर भक्त सांसारिक वैभव, सामाजिक बन्धन तथा पारिवारिक मोह-माया आदिसे उपरत हो जाता है, उसके हृदयमें एकमात्र राम ही रमते हैं^२। ऐसे भक्तकी निःस्पृहता भी निःसीम होती है। वह ऐहिक विभवोंका परित्याग ही नहीं करता, अपितु आधुनिक मुखोंको भी ठीकरी मानता है। उसे सर्वत्र ही अपने हृदयवल्लभ राम दिखाई पड़ते हैं—

‘सरगु नरकु अपवरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु वाना’ ॥^३

भक्त जब अपने आपको ईश्वरार्पण कर देता है तो उसका अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। वह ईश्वरेच्छाका पूर्ण अनुगामी हो जाता है। भगवान् स्वयं गुण-ग्राही हैं, विप्र-धेनुकी रक्षाके लिए अवतीर्ण होते और संसारमें धर्म-नीतिकी प्रतिष्ठा करते हैं, अतः उनकी शरणमें स्थित भक्त भी उनकी ऐसी रुचिका पालन करते हैं। देखिये—

‘अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥

नीति निपुन जिन्ह कर जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका’ ॥^४

प्रपन्न भक्त भगवान्के गुणोंका निरन्तर स्मरण तो करता ही रहता है, साथ ही उनके अपार गुणोंके समक्ष स्वयंको गुणहीन, दीन, मलीन आदि समझकर बार-बार शरणागतिकी याचना करता है^५।

भगवत्प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो, इसके लिए आत्मनिवेदन भक्ति कैसे की जाय, इस विषयमें गोस्वामीजी श्रीमुखसे कहलाते हैं—

‘तजि मदमोह कपट छल नाना। ॥

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥

सब कइ ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि पट डोरी ॥

सम दरसी इच्छा कछु नाहीं। हरषु सोकु भय नहिं मन माहीं ॥

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे’ ॥^६

आत्मनिवेदन-भक्तिका फल भी जिज्ञास्य है। ‘विष्णुसहस्रनाम’में कहा गया है—‘जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींको परायण मानता है, उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है और वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है’; ‘गीताके कतिपय श्लोकोंमें आत्म-निवेदन (शरण भक्ति) का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए उसके परम फलकी प्रशंसा की गयी है’^७। भगवान्ने अपने परम भक्त अर्जुनको अपनी शरणमें ही आनेका आदेश भी किया है—

‘तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्’ ॥^८

शरणागति भक्तिका फल एवं महात्म्य गोस्वामीजीने भी बहुत प्रबल दिखाया है। उन्होंने अपने इष्टदेवके स्वरूप-चित्रणमें उनकी शरणागत-वत्सलताका जितना मार्मिक, व्यापक और सूक्ष्म निर्देश किया है

१. ‘मानस’, अयो० १२८. ४, ५। २. वही, अयो० १२९. ५, ६। ३. वही, अयो० १२९. ७।

४. ‘मानस’, अयो० १२९. १, २। ५. वही, अयो० १२९. ३। ६. ‘मानस’, सुन्दर० ४७. ३-७।

७. ‘विष्णुसहस्रनाम’, श्लोक १३०। ८. दे० ‘गीता’, ७:१४, ९:३२, ३४। ९. ‘गीता’, १८ : ६२।

उतना किसी अन्य विशेषताका नहीं। यह भी प्रकारान्तरसे सिद्ध करता है कि वे आत्मनिवेदन-भक्तिके उत्कट समर्थक थे। रामके मुखारविन्दसे शरणागतिकी ऐसी महिमा कहलाकर भी उन्होंने इसके विषयमें अपना व्यक्तिगत विचार प्रकट किया है—

‘कोटि विप्र अघ लागइ जाही। आये सरन तजउँ नहिं ताही’ ॥’

इतना ही नहीं, ‘जो नर होइ चराचर द्रोही, आवइ सभय सरन तक मोही’; कहकर जब भगवान् घोरतिघोर आततायीको भी प्रसन्न होकर उद्धार पानेका आश्वासन देते हैं तो आत्मनिवेदन करनेवाले अनन्य भक्तका क्या कहना है, उसे तो भगवान् अपनी सहज बानिके कारण अपनाते ही हैं—

‘एक बानि करुना-निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की’ ॥’

आत्मनिवेदन-भक्तिके प्रतापसे क्षणमात्रमें मनुष्यके हृदयके जन्म-जन्मान्तरके दुस्संस्कारोंका नितान्त अभाव और सुसंस्कारोंकी प्रतिष्ठा हो जाती है, अतः गोस्वामीजी विद्वास दिलाते हैं—

‘बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगै न आधु।

पाहि कृपानिधि ! प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु’ ॥’

प्रेम-भक्तिका स्वरूप

प्रेमकी गहराईकी दृष्टिसे सामान्यतः उसकी तीन अवस्थाएँ या संज्ञाएँ टहरती हैं—गौण प्रेम, मुख्य प्रेम एवं अनन्य प्रेम। इनका तारतम्य समझनेके लिए एक उदाहरण लीजिये। गाय नन्हें बछड़ेको छोड़ जब वनमें जाकर घास चरती है तो उसका घासमें प्रेम गौण, बछड़ेमें मुख्य और अपने लिए अनन्य होता है। वह बछड़ेके लिए घासका और अपने लिए बछड़ेका त्याग कर सकती है। गौण प्रेमवाला भक्त विषयोंकी ओर आकृष्ट हो जाता है। मुख्य प्रेमवाला भगवच्चिन्तन सांसारिक कर्तव्य कर्मोंके साथ बिना किसी अवरोधके करता है और अनन्य प्रेमीके समक्ष जागतिक विषय और सांसारिक कर्मोंका कोई महत्त्व नहीं होता। अनन्य प्रेमीकी चित्तवृत्ति ज्ञान, कर्म आदिके आश्रयसे रहित और चारों ओरसे स्पृहाशून्य होकर अनन्य भावसे एकमात्र भगवान्में ही रम जाती है, ऐसी चित्तवृत्तिवाला भक्त ऐहिकामुक्तिक सुख-सामग्री ही नहीं, अपितु मोक्ष आदि से भी विरत होकर एकमात्र अपने प्रेमास्पद भगवान्में लीन रहता है। उसकी सारी ममता और आसक्ति सर्वत्रसे सर्वथा हटकर केवल प्रियतम भगवान्में प्रतिष्ठित हो जाती है। ऐसा भक्त संसारके सबसे बड़े भय मरण-भयसे अपनेको मुक्त कर लेता है। उसे न मरनेकी चिन्ता रहती है और न आवागमनकी परम्पराका खटका। इसीसे अनन्य भक्तिको नारदजीने अमृतस्वरूपा कहा है—

‘अमृतस्वरूपा च’ ॥’

गोस्वामीजीने भी भक्तिको अमृतस्वरूपा ही माना है और बार-बार जन्म लेकर ऐसी ही भक्ति करनेकी वांछा की है—

‘पूरन राम सुप्रेम पियूषा। ॥

राम भगत अव अमिय अघाहू। कीन्हिहु सुलभ सुधा बसुधाहू’ ॥’

...

...

...

१. ‘मानस’, सुन्दर० ४३. १। २. वही, सुन्दर ४७. २। ३. वही, अरण्य० ९. ८। ४. ‘विनय०’, पद १९३। ५. ‘नारदसूत्र’, १३। ६. ‘मानस’, अयो० २०७. ५, ६; नोट : भक्तिके अमृतत्वके लिए और भी देखिये ‘विनय०’, पद १३२; ‘कृष्णगीतावली’, पद ५१।

‘जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस, तहँ रामपद अनुरागऊँ^१ ।’

मुक्तिकी उपेक्षाका हेतु है अपने उपास्यके चरित्रोंके अवलोकन, सान्निध्य आदिके अनेक अवसरोंकी उपलब्धि—

‘अस विचारि हरि भगत सयाने । मुकुति निरादरि भगति लुभाने^२ ॥’

...

...

...

‘जाके पद-कमल लुब्धमुनि-मधुकर बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहिं न^३ ।’

जगत्के अध्यासकी इस अनन्यताके कारण निवृत्ति हो जाती, अतः भक्ति आनन्ददायिनी कही गयी है । अनन्य प्रेमी केवल आनन्दकी अनुभूति करता है, दुःखसे उसका छुटकारा हो जाता है । तुलसीदासजीने इसीसे अनन्य भक्तिको स्थल-स्थलपर ‘अनुपम सुखभूला’, ‘सब सुखखानि’, ‘सुखदायिनी’ आदि बताया है^४ और उसे अन्तःकरणके नानाविकारोंका उन्मूलक ठहराया है—

‘प्रेम भगति जलु बिनु रघुराई । अभिअन्तर मल कबहु न जाई^५ ॥’

...

...

...

‘रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै^६ ।’

बासनाओंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जानेके कारण अनन्य भक्ति निहेंतुकी होती है और सच्चा भक्त निष्काम प्रेमका ही इच्छुक रहता है—

‘वहाँ न सुगति, सुमति, संपति कछुरिधि सिधि, बिपुल बड़ाई ।

हेतु रहित अनुराग नाथ पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई^७ ॥’

...

...

...

‘वचन करम मन मोरि गति भजन करहि निहकाम ।

तिन्हके हृदय-कमल महुँ करउँ सदा विश्राम^८ ॥’

इन्हीं बातोंको लक्ष्य करके नारदने अनन्य भक्तको सिद्ध, अमर और परितुष्ट कहा है—‘यल्लब्धा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।’ अनन्य भक्त न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषय-भोगोंकी प्राप्तिका उत्साह होता है^९ । भक्त अपने प्रेमकी पराकाष्ठामें स्थित प्रेम-भक्तिकी पूर्ण प्राप्ति हो जानेपर उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, आत्माराम बन जाता है^{१०} ।

अनन्य प्रेमीके इसी स्वरूपका अंकन तुलसीदासजीने सुतीक्ष्णके चरित्रमें किया है—

‘मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनसफल जैसा^{११} ॥’

गोस्वामीजीने ‘मानस’के उत्तरकाण्डमें भक्ति और ज्ञानका भेद निरूपित करते हुए इसीसे भक्तिको ‘चिन्तामणि’ कहा है—

‘परम प्रकास रूप दिन राती । नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ॥

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा । लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥

प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई । हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥

खल कामादि निकट नहिं जाहीं । बसइ भगति जाके उर माहीं^{१२} ॥’

...

...

...

१. ‘मानस’, किष्कि० ९. ११ । २. वही, उ० ११८, ७ । ३. ‘विनय’, पद २०७ । ४. ‘मानस’, अरण्य० १५. ४; सुन्दर० ३१. १; उ० ८४.३; ११८.१० । ५. वही, उ० ४७. ६ । ६. ‘विनय०’, पद ८२ । ७. वही, पद १०३ । ८. ‘मानस’, अरण्य० १६. १९. ‘नारदसूत्र’, १५। १०. वही, ६ । ११. ‘मानस’, अरण्य० ९. १५ । १२. वही, उ० ११९. ३—६

‘व्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्हके बस सब जीव दुखारी ॥
राम भगति मनि बस उर जाके । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके’ ॥’

प्रेम-भक्तिकी आसक्तियाँ

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावोंके भेदसे उद्रेकजः अनेक प्रकारकी आसक्तियाँ हो सकती हैं । नारदने ग्यारह प्रकारकी आसक्तियोंका उल्लेख किया है जिनमेंसे चार वे ही हैं जो भक्तिके चार प्रमुख सम्प्रदायोंमें गृहीत हैं । अन्योका मेल ‘भागवत’की नवधा भक्तिसे बहुत कुछ बैठ जाता है । ये आसक्तियाँ ये हैं—१. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति, ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति, ११. परमविरहासक्ति ।

प्रेम-भक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए भक्तोंमें सभी आसक्तियाँ स्वयमेव रहती हैं जैसा कि व्रजकी गोपिकाओंमें दिखाई पड़ता है । प्रेम-भक्तिमें सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण ही गोपिकाओंका उदाहरण शाण्डिल्य^१, नारद^२ आदि भक्तिके आचार्योंने प्रस्तुत किया है । हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भक्तमें उक्त विविध आसक्तियोंमेंसे सबका उदय आकस्मिक और एककालिक नहीं होता, प्रत्युत अपनी-अपनी चित्तवृत्ति, शक्ति और रुचिके अनुसार एक या एकाधिक आसक्तियाँ परमात्माके प्रति प्रेमका कारण होती हैं । ये आसक्तियाँ एक ही प्रेम-बीजसे प्ररुढ़ भिन्न-भिन्न बल्लरियाँ हैं, अतः इनमेंसे किसी एक आसक्तिको निम्न स्तरकी और किसीको उच्च स्तरकी कहना आसक्त भक्तोंके प्रति अनुदारता समझी जाती है ।

गोस्वामीजीने सब प्रकार की आसक्तियों के भक्तोंके दृष्टान्त उपस्थित किये हैं, यथा, गुणमाहात्म्यासक्त भक्तोंमें नारद, भुशुण्डि एवं शिव; रूपासक्त भक्तोंमें मिथिलाके नर नारी, राजा जनक तथा दण्डकारण्य के ऋषि, पूजासक्त भक्तोंमें भरत; स्मरणासक्त भक्तकी कोटिमें प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि; दास्यासक्त भक्तोंमें हनुमान् एवं लक्ष्मण; सख्यासक्त भक्तोंमें निषाद, सुग्रीव और विभीषण; कान्तासक्त भक्तोंमें जानकी; वात्सल्यासक्त भक्तोंमें मनु, शतरूपा, दशरथ तथा कौसल्यादि; आत्मनिवेदनासक्त भक्तकी कोटिमें विभीषण एवं हनुमान् ; तन्मयतासक्त भक्तोंमें सुतीक्ष्ण; परम विरहासक्त भक्तोंमें महाराज दशरथको समझना चाहिये ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि भक्ति इनमेंसे सबकी समष्टि है या इनमेंसे प्रत्येक भक्ति है अर्थात् भक्ति का स्वरूप-लक्षण क्या है । अनेक आचार्योंने अनेक प्रकारसे इसका निरूपण किया है । ‘नारदसूत्र’में कुछ मतोंका निर्देश किया गया है । व्यासका मत है कि ‘भगवान्की पूजा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है’^३ गंगाचार्यके अनुसार ‘भगवान्की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है’^४ । ‘शाण्डिल्य’के मतमें ‘आत्मरतिके अविरोधी आलम्बनमें अनुराग होना ही भक्ति है’^५ । स्वयं नारदने अपना मत यों दिया है—‘अपने सब कर्मोंको भगवान्को अर्पण करना और उनका थोड़ा-सा विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है’^६ ।

‘गीता’में सब प्रकारके योगियोंमें भक्तियोगीको परमोत्कृष्ट माना गया है—

‘योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः’^७ ॥’

१. वही, उ० ११९. ८, ९ । २. ‘शाण्डिल्यसूत्र’ ११४ । ३. ‘नारदसूत्र’ १२१ । ४. ‘नारदसूत्र’ ११६ । ‘पूजादिष्वनुराग इति पराशर्यः’ । ५. वही ११७ । ‘कथादिष्विति गंगः’ । ६. ‘नारदसूत्र’ ११८ । ‘आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः’ । ७. वही ११९ । ‘तद्वर्षिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति ।’ ८. ‘गीता’, ६:४७ ।

महाभीषण संग्राममें जहाँ तीक्ष्ण सरसन्धानके अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं रह जाता, भगवान् भक्तको यही उपदेश देते हैं—‘तू सर्वकाल—सदैव ही (बिना विराम) मेरा स्मरण कर और (स्मरण करता हुआ मेरे लिए ही) युद्ध कर । मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करनेसे तू निश्चय ही मुझमें आ मिलेगा ।’

प्रेम-भक्तिके लक्षण

भक्ति प्रेमका ही एक स्वरूप है । प्रेममें जिस प्रकार एकनिष्ठता होती है उसी प्रकार भक्तिमें भी । दोनोंमें अर्थात् प्रेम और भक्तिमें अन्तर यही है कि प्रेमी अपने प्रियपर एकाधिकार चाहता है, भक्त एकाधिकार नहीं चाहता । वह किसी दूसरेको भक्ति करनेसे रोकता नहीं । पर इतना अवश्य चाहता है कि मेरा आराध्य मेरे प्रति आकृष्ट हो । वस्तुतः भक्तिमें प्रेमके अतिरिक्त अन्य भावका भी मिश्रण होता है, इसीसे भक्तिको भावकी दृष्टिसे प्रेम और श्रद्धाका सम्मिलित रूप कहा गया है । निष्कर्ष यह कि जैसे प्रेमके अन्य स्वरूपोंसे रसावस्था उत्पन्न होती है उसी प्रकार भक्तिसे भी । भक्त अपने आलम्बन उपास्यके धर्ममें (उसके द्वारा किये जगत्-कल्याणके कर्ममें) लीन होता है । जैसे शृंगारादि रसोंमें चित्तकी द्रुति होती है उसी प्रकार भक्तिमें भी । इसीसे मधुसूदन सरस्वतीने स्पष्ट बोधित किया है कि—

‘द्रुतस्य भगवद्धर्माद्वारावाहिकतां गता ।

सर्वेशो मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥’

धारावाहिकता वैसी ही होती है जैसी मीनकी जलमें । भगवत्प्रेमके दृष्टान्तमें मीन-वृत्तिका उल्लेख गोस्वामीजीने बार-बार किया है—

‘मीन तें न लाभ-लेस पानी पुन्य-पीन को,
जल बिनु थल कहा मीचु बिनु मीन को^१ ॥’

... ..

‘राम भगति जल मम मन मीना ।
किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना^२ ॥’

... ..

सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन-उदधि अपारि ।
देख्यो सुन्यो न कबहुँ काहु कहुँ मीन-वियोगी बारि^३ ॥’

प्रेम-भक्तिके प्रमुख साधन

अब भक्ति-निष्पादक साधनोंको देखिये । भक्तिशास्त्रोंके अनुसार भक्तिके समस्त साधन दो प्रकारके दिखाई पड़ते हैं—अन्तरंग साधन और बहिरंग साधन । शाण्डिल्यने ज्ञानको अन्तरंग साधन और ज्ञानेतर विधान जिनमें गौणी भक्ति विशेष रूपसे आती है, बहिरंग साधन कहा है । भक्तिकी निष्पत्ति यद्यपि भगवद्विषयिणी बुद्धिसे होती है^४, तथापि श्रवण, मनन, निदिध्यासनके अंगोंके अनुष्ठान भी अपेक्षणीय माने गये हैं—‘तदंगानां च’ । सारांश यह कि श्रवण, मनन आदि तथा इनके उपांग गुर्वनुगमन, वेदनिष्ठा, शम, दम आदिके अनुष्ठानसे जो ज्ञानोदय होता है वह अविरल प्रेमाभक्तिका निष्पादक होता है । नारदने विषय-त्याग एवं संगत्याग दोनोंको भक्तिका साधन ठहराया है—

१. ‘गीता’, ८:७ । २. ‘भक्तिरसायन’, प्रेमोल्लास, श्लोक ३ । ३. ‘विनय०’, पद १७८ ।

४. मानस’, उ० ११०.९ । ५. ‘कृष्णगीतावली’, पद २७ । ६. ‘शाण्डिल्यसूत्र’ १२७। ७. वही १२८।

‘तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च’ ।’ त्यागके सम्बन्धमें स्मरण रखनेकी बात है कि विषय ही नहीं, विषयासक्तिका भी त्याग होना चाहिये ‘महाभारत’में भी कहा गया है—

‘त्यागः स्नेहस्य यस्यागो विषयाणां तथैव च’ ।’

विषयोंका त्याग तो सहज है पर विषयासक्तिका त्याग अत्यन्त दुष्कर । अतः जबतक विषयोंके साथ विषयासक्तिका त्याग नहीं होता तबतक भगवच्चरणोंमें आसक्ति नहीं हो सकती ।

यह तो त्यागकी बात हुई । अब संग्रहका विचार कीजिये । अखण्ड भजनकी वृत्ति भक्तिका उच्च साधन है । ‘नारदसूत्र’में कहा गया है—‘अव्यावृत्तभजनात्’^१ । भजनकी महत्ता पतञ्जलिने भी स्वीकार की है—‘स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्यं संकारसेवितो दृढभूमिः’^२ । ‘गीता’ भी कहती है—

‘अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः’^३ ॥’

अखण्ड भजनके अतिरिक्त भगवान्के नाम, गुण, लीला, कथा आदिके कथन, श्रवण और अनु-मोदन भी अनन्य भगवत्प्रेम-प्राप्तिके साधन हैं^४ । सत्संग, साधु-कृपा और विशेषतः भगवत्कृपा प्रेमाभक्तिके सर्वोत्कृष्ट साधन तो हैं ही^५ ।

इन परम्पराप्राप्त साधनोंकी गोस्वामीजीने पूर्ण प्रतिष्ठा की है । ‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’की यथार्थता स्वीकार करते हुए उन्होंने पहले पाञ्चभौतिक शरीरको ही अनिवार्य साधन कहा है^६ ; विविध देह-धारियोंमें भी मानव-देहकी महत्ता^७, उसकी दुर्लभता^८ और सर्वसाधन-परायणता^९ का निर्देश भी मार्मिकतासे किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने जैसे स्थूल शरीर सदृश उपयुक्त साधन कहा है, वैसे ही उपयुक्त सूक्ष्म में मन (भाव) भी नितान्त आवश्यक साधन माना है^{१०} और यह विचार पुनः-पुनः दुहराया है कि निष्काम प्रेम और अनन्य विश्वास ही जनको प्रेमाभक्तिका अधिकारी बनाता है ।^{११} इसी बातको यों भी कह सकते हैं कि उनकी दृष्टिमें भगवान्के प्रति निष्काम प्रेम और अटल विश्वास ही प्रेमाभक्तिके प्रमुख साधन हैं ।

ज्ञान-वैराग्य-सदृश अपूर्व साधन भी भगवत्प्रेमोन्मुख होनेके लिए परम आवश्यक हैं । इनके बिना हृदयगत विकारोंका उच्छेद नहीं होता । विकारोंका ध्वंस हुए बिना हृदय निर्मल नहीं होता । वासनाओं से पंकिल हृदयमें भगवच्चरणोंका अनुराग नहीं उदय होता । इस तथ्यका संकेत देखिये—

‘जानिय तबहिं ज़ीव जग जागा ।

जब सब विषय बिलास बिरागा ॥

होइ बिबेक मोह भ्रम भागा ।

तब रघुनाथ चरन अनुरागा’^{१२} ॥’

सारे विषयोंकी जड़ मद, मोह, लोभ आदि शत्रुओंका उन्मूलन जबतक नहीं होता तबतक भक्ति-स्वरूपा विजयश्रीकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः इसकी नितान्त आवश्यकता है कि हम वैराग्यरूप ढाल और ज्ञानरूप तलवारसे साधनसम्पन्न होकर इन शत्रुओंका शीर्षोच्छेद करके भक्तिरूप विजयश्री प्राप्त करें—

१. ‘नारदसूत्र’ ॥३५॥ २. ‘महाभारत’, शान्ति० १९२ : १७ । ३. ‘नारदसूत्र’ ॥३६॥
४. ‘योगदर्शन’, १ : १४ । ५. ‘गीता’, ८ : १४ । ६. ‘भागवत’, ११ : २६ २९ । ७. ‘नारदसूत्र’, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२. ‘भागवत’, १ : १८ : २३, ११ : १२ : १, २ । ८. ‘मानस’, उ० ९५.५ ‘तनु विनु बेद भजन नहि बरना’ । ९. दे० ‘विनय’, पद ८४, १९७, १९९, २००, २०२ । १०. ‘मानस’, उ० ४२. ७, ८; ‘विनय’, पद १०२, २०१ । ११. ‘मानस’, उ० १२०. १० । १२. दे० वही, बाल० २८.४, ‘दोहावली’, दो० ४५५ । १३. ‘मानस’, उ० ८८. ७, ८ । १४. ‘मानस’, अथो० ९९. ४, ५ ।

प्रेमाभक्तिकी सर्वश्रेष्ठता और सुलभता

भगवत्कृपा एवं उत्तमोत्तम साधनोंके सतत अनुष्ठान द्वारा प्राप्त भगवद्भक्ति यद्यपि साधारण वस्तु नहीं है, तथापि इसकी सुलभता असन्दिग्ध है। यही इसकी विलक्षणता है। इस ओर प्राचीनसे प्राचीन भक्तिके आचार्य संकेत करते चले आये हैं। फिर तुलसीदासजी ऐसा प्रबोधन क्यों न करते—

‘सुलभ सुखद मारग यह भाई ।’

...

...

... ‘मानस’ उ० ४४.२

‘रघुपति भगति सुलभ सुखकारी ।’

...

...

... ‘विनय०’ पद १३६ [१०]

भक्ति सबके लिए कितनी सुलभ है, इसका अनुमान करना हो तो यह देखिये—

‘अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माहँ ।’

...

...

...

‘भोजन करिय तृप्ति हित लागी ।

जिमि सो असन पचवई जठरागी ॥

असि हरि भगति सुगम सुखदाई ।

को अस मूढ़ न जाहि सुहाई३ ॥’

विचारणीय है कि भक्तिकी ऐसी सुलभता कहाँतक तर्क-प्रतिष्ठ है। चञ्चल एवं कुचेष्टित मन स्वप्नावस्थामें भी जाने कहाँ-कहाँ विग्रह करने चला जाया करता है, उसकी जाग्रदवस्थाकी दौड़-धूपके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। यदि मनके समक्ष उसे रिझाने या रमानेवाली वस्तु हो तो बहुत सम्भव है कि वह इधर-उधरकी चौकड़ी भरना छोड़ दे। ज्ञानादिकी साधनामें मनको रमानेवाला कोई आलम्बन नहीं रहता अतः निरवलम्ब मन अपनी चालसे बाज नहीं आता। यद्यपि साधक विवेकके कशाघातसे उसका नियन्त्रण करता रहता है, फिर भी वह कभी-न-कभी अवसर पाकर खन्दकमें डाल ही दिया करता है। इस प्रकार गिर-गिरकर उठना बड़ा कष्टकर होता है। इसी तथ्यका संकेत गोस्वामीजीने यों किया है—

‘ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहूँ टेका ॥’

पर भक्तिमार्गमें मनको निराश्रय नहीं रहना पड़ता, यहाँ तो उसे लुभानेवाले इष्टदेवका अनन्याधार प्राप्त ही रहता है। साथ ही कठिन साधनात्मक विधि-विधानोंकी अपेक्षा भी नहीं होती—

‘कहहु भगति पथ कवनु प्रयासा ।

जोग न मख जप तप उपवासा ॥’

ज्ञान-मार्ग दुरूहताके कारण दुर्लभ और भक्ति-मार्ग सरलताके कारण सुलभ है। ज्ञान-मार्गकी दुरूहता और असाध्यताका तथा भक्ति-मार्गकी सरलता एवं सुलभताका मार्मिक चित्रण क्रमशः ‘ज्ञान-दीपक’^१ और ‘भक्ति-चिन्तामणि’^२ के रूपकोंमें देखते ही बनता है।

१. देखिये ‘नारदसूत्र’ १५८। ‘अन्यरमात् सौलभ्यं भक्तौ’; ‘गीता’, ८:१४ ‘तस्याहं सुलभः पार्थ’

२. ‘दोहावली’, दो० ८०। ३. ‘मानस’, उ० ११८. ९, १०। ४. ‘मानस’, उ० ४४. ३।

५. वही, उ० ४५. १। ६. ‘मानस’, उ० ११६.-११८.। ७. ‘मानस’, उ० ११९. १-१५।

भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता भी शास्त्र-विरुद्ध नहीं। भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—‘जिस प्रकार मेरी दृढ़ भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग आदि वशमें नहीं कर सकते। सन्तोंका प्रिय आत्म-रूप मैं केवल श्रद्धायुक्त भक्तिके द्वारा वशमें हो सकता हूँ, मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्र बनानेमें समर्थ है।’ प्रेमाभक्तिको प्राप्त कर लेनेवाले भक्तकी दृष्टिमें ज्ञान, वैराग्य आदिसे प्राप्त फल कोई महत्त्व नहीं रखता। ‘गीता’, ‘शाण्डिल्यसूत्र’, ‘नारदसूत्र’ प्रभृति शास्त्रोंमें भी भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका उल्लेख मिलता है^१।

अब देखना यह है कि हमारे कविने भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताके सम्बन्धमें क्या विचार प्रकट किये हैं। सर्वप्रथम निम्नांकित दो अवतरण देखिये—

‘जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥’
... ..

‘भगति सुतंत्र सकल गुन खानी’।’

दोनों अवतरण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भगवान्‌को वशमें करनेका सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—भक्ति। ज्ञानादि इसके अधीन हैं। गोस्वामीजी भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करते हैं, यह उन उक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है जो विविध प्रसंगोंमें यही ध्वनि करती हैं कि भगवान्‌का परम प्रिय भक्त ही है।

एक दूसरे ढंगसे भी भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिष्ठित की गयी है। उसे ‘सकल सुकृत फल’^२ कहा गया है और दिखाया गया है कि—

‘जप तप नियम जोग निज धरमा।
स्रुति संभव नाना सुभ करमा ॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगी धर्म कहत स्रुति सज्जन ॥
आगम निगम पुरान अनेका।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तब पद-पंकज प्रीति निरन्तर।
सब साधन कर फल यह सुन्दर ॥’

भक्तिको समस्त साधनोंका मधुर फल बताकर उसकी सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित करनेवाले ऐसे प्रसंग तुलसीकी रचनाओंमें भरे पड़े हैं।

गोस्वामीजीने यह भी दिखाया है कि भक्ति-विमुख साधककी साधना उसके लिए वैसे ही व्यर्थ है जैसे रुग्णके लिए नाना प्रकारके भोग^३; ऐसा साधक स्वप्नमें भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता^४; वह अधोगतिका अधिकारी होता है^५; उसकी अमित प्रभुता, ऐश्वर्य आदिकी प्राप्ति व्यर्थ है^६; भक्ति-शून्य होने

१. ‘भागवत’, ११:१४:२०, २१। २. ‘भागवत’, ११:२०:३१-३४। ३. देखिये ‘गीता’, ११:५३, ५४, ६:४६, ४७, १७:२८, ‘शाण्डिल्यसूत्र’।२२। ‘नारदसूत्र’।२५। ४. ‘मानस’, अरण्य० १५. १, २। ५. वही उ० ४४.५। ६. ‘मानस’, बा० २६.२। ७. वही, उ० ४८.१-४। ८. वही, अयो० १७६.५। ९. वही, अयो० २५४. १। १०. वही, [अरण्य० १.५-७। ११. वही, अरण्य० २२.५।

पर अन्यान्य साधनोंसे प्राप्त सुख वैसे ही फीके होते हैं जैसे रामरम (लवण) विना विविध व्यञ्जनोंके स्वाद^१। वड़ीसे वड़ी साधना करके कोई साधक महत्तम हो जाय, पर यदि वह भक्तिरहित है तो उसकी सारी साधना और महत्ता किसी कामकी नहीं^२। प्रेमाभक्तिके अभावमें वे अन्यान्य साधनोंको क्या समझते हैं, यह भी देखिये—

‘वेद विदित साधन सबै, सुनियत दायक फल चारि।

राम प्रेम बिनु जानिए, जैसे सर-सरिता बिनु बारि^३॥’

प्रेमाभक्तिके फलके आधारपर भी उसकी सर्वश्रेष्ठता टहरा दी गयी है। ज्ञान, वैराग्य प्रभृति साधनोंसे जिस मुनिदुर्लभ फलकी प्राप्ति नहीं होती है वही फल अविरल प्रेमाभक्तिके द्वारा सहजमें ही मिल जाता है^४। इसी भक्तिकी प्राप्तिके अनन्तर भक्त अनायास ही भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदिका मर्म समझ जाता है^५; उसके हृदयकी दुर्वासनाएँ स्वयं ध्वस्त हो जाती हैं; दुर्लभ कैवल्य परमपद भी उसके चरणोंपर लोटने लगता है, पर वह मुक्तिका निरादर करके भक्तिमें लीन रहता है^६। उसका हृदय भगवान् की विहारस्थली बन जाता है, फलतः मनको परम विश्रामकी प्राप्ति होती है^७।

प्रेमाभक्तिकी स्वयंसाध्यता

भक्तिशास्त्रोंमें भगवत्प्रेमियोंकी ऐसी अनेकानेक उक्तियाँ सन्निविष्ट हैं जो स्पष्टतः प्रकट करती हैं कि भक्ति पुमर्थवादियोंके अर्थ, धर्म, काम, मोक्षसे पृथक् स्वतन्त्र पञ्चम पुरुषार्थ है। जैसे चतुर्वर्गकी सिद्धिके लिए कर्म, योग, ज्ञान आदिकी सरणि बतायी गयी है वैसे ही भक्तिके लिए भी विविध साधन अपेक्षित हैं। इन साधनोंकी चर्चा पहले ही हो चुकी है। यहाँ केवल यह दिखाना अभीष्ट है कि प्रेमाभक्तिमें लवलीन भक्तका लक्ष्य अर्थात् साध्य भी भक्ति ही है। भक्तिकी स्वयंसाध्यताका उल्लेख ‘नारदसूत्र’में यों मिलता है—‘फलरूपत्वात्’^८, ‘स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः’^९ वस्तुतः प्रेमाभक्ति फलरूप है, साधन नहीं। जो भक्ति ज्ञानादिकी साधन मानी जाती है वह गौणी भक्ति अथवा नवधा भक्ति है, प्रेमाभक्ति नहीं। प्रेमाभक्ति तो समस्त साधनोंका फल है, गोस्वामीजीको वही मान्य है—

‘तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई ॥

नाना करम धरम व्रत नाना। संजम नेम ग्यान विग्याना ॥

भूत दया गुरु द्विज सेवकाई। विद्या बिनय विवेक बड़ाई ॥

जहँ लगि साधन वेद बखानी। सबकर फल हरि भगति भवानी’^{१०}॥’

प्रेमाभक्तिमें लेन-देनका भाव नहीं रहता। भक्तिके बदले उत्तम गति मिलेगी, इस भावनाको लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्तके लिए भक्तिका आनन्द ही उसका फल है। वह भगवान् के अमित प्रेमके अतिरिक्त और कुछ चाहता ही नहीं। उसकी भक्तिका फल केवल भक्ति ही है, अन्य फलों को तो वह फूटी आँख भी नहीं देखता। इसीसे गोस्वामीजीने कहा है—

‘परहु नरक, फल चारि सिंसु मीच डाकिनी खाउ।

तुलसी राम सनेहको जो फल सो जरि जाउ’^{११}॥’

१. वही, उ० ८३. ५। २. ‘कविता०’, उ० छ० ४२। ३. ‘बिनय०’, पद १९२। ४. ‘मानस’, उ० ८३. १, २। ५. वही, उ० ८४. ३, ४। ६. वही, उ० ११८. ३-७। ७. वही, सुन्दर० ४६; ल० ७८. ८. ‘नारदसूत्र’। २६। ९. वही १३०। १०. ‘मानस’, उ० १२५. ४-७। ११. ‘दोहावली’, दो० ९२।

भगवच्चरणोंमें अनुरक्त भक्तको अपने आराध्यसे पृथक् रहकर परमपद भी प्राप्त हो तो वह उससे कदापि सुखी नहीं रह सकता। इसके विपरीत नरकमें भी रहकर यदि उसे अपने प्रेमास्पद भगवान्की प्रेमाराधना, सेवा और सान्निध्य आदि उपलब्ध रहें तो वह अपने अनन्य प्रेमके फलस्वरूप और कुछ नहीं चाहता। गोस्वामीजी स्वयं जैसी कामना करते हैं वह अवलोकनीय है—

‘मोकों अगम, सुगम तुम्हको प्रभु ! तउ फल चारि न चहिहौं ।
खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं ।
एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ।
इतनी जिय लालसा दासके कहत पानहौं गहिहौं ।
दीजै बचन कि हृदय आनिऐ तुलसीको पन निरबहिहौं ॥’

ऐसी लालसा देखकर कदाचित् यह फिर दुहरानेकी आवश्यकता नहीं कि भक्ति केवल भक्तिके लिए होती है। वह स्वयं साध्य है।

प्रेमाभक्तिकी विविध भूमिकाएँ

भक्तिके विविध अवयवोंमें भूमिकाओंका महत्वपूर्ण स्थान है। ये भूमिकाएँ उपासकको उपास्यके समीप पहुँचानेवाली सीढ़ियाँ हैं। एकके अनन्तर दूसरे सोपानपर अधिष्ठित होता हुआ भक्त भक्तिके चरमोत्कर्षको प्राप्त करता है। भक्तिशास्त्रोंमें सामान्यतया जिन सप्त भूमिकाओंका संकेत मिलता है वे ये हैं—

‘दैन्य’^१ च मानमर्षित्वं^२ भयस्य^३ दर्शनं तथा ।
भर्त्सना^४ श्वासनं^५ चैव मनोराज्यं^६ विचारणा^७ ॥
मुनिभिरुक्ता भक्तानां सप्तैता भूमिकाः स्मृताः ॥’

गोस्वामीजीके समकालीन आनन्द-काननके प्रतिष्ठित महात्मा और ‘गीता’के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मधुसूदन ‘सरस्वती’ने भक्तिकी ग्यारह भूमिकाओंका निर्देश किया है—

‘प्रथमं महतां सेवा तद्व्यापात्रतां ततः ।
श्रद्धा^१ऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः^२ ॥
ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः^३ स्वरूपाधिगतिस्ततः ।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे^४ तस्याथस्फुरणं^५ ततः ॥
भगवद्भर्मनिष्ठातः^६ स्वस्मिस्तद्^७ गुणशालिता ।
प्रेम्णोऽथ^८ परमाकाष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः ॥’

‘भक्तिरसायन’ प्रथम उल्लास, कारिका ३२, ३३, ३४

पहले सप्त भूमिकाओंके स्वरूपको दृष्टिमें रखते हुए यदि हम उन्हें गोस्वामीजीकी कृतियोंमें ढूँढ़ना चाहें तो विशेष रूपसे ‘विनयपत्रिका’^१ तथा ‘कवितावली’के उत्तरकाण्ड^२में एकसे एक मार्मिक उदाहरण दिखाई पड़ेंगे। उनका परस्पर मिलान करनेसे यह भी प्रकट होगा कि ‘दैन्य’ और ‘आश्वासन’ भूमिकाके

१. ‘विनय०’, पद २३१। २. देखिये ‘विनय’, पद १५८, १५९, १८६, २२, ११४, १२२, १४८, ९४, ९५, ९६, ६६, ६७, ८६, ९०, १९८, १९९, २०२, ६९, ९७, ९८, ९९, १००, १३०, १३७, २६०, १३८, १७२, २२४, २७०, १११, ११५, १३६, २२०, २२१। ३. देखिये ‘कविता०’, उ० छ० १३, ५६, ५७, ६१, ६२, ६४, ६५, ६८, ८२, १३७ आदि।

उदाहरणोंका प्राचुर्य है। विचारपूर्वक देखा जाय तो 'मानस'में भी यद्यपि सभी भूमिकाएँ हैं, पर विशिष्ट प्रतिष्ठा हुई है 'धैन्य' और 'आश्वासन'की। सिद्धान्ततः तो यह कहा ही गया है—'गुन तुम्हार समुझहि निज दोसा', दृष्टान्त रूपमें भी हनुमान, विभीषण, निपाद, सुग्रीव, भरत आदि सभी भक्तोंने अपने-अपनेको नाना प्रकारसे दीन-हीन ही कहकर अपनी पुनीत भक्तिका परिचय दिया है। आश्वासनके लिए तो रामका स्वरूप ही ऐसे ढंगसे चित्रित किया गया है कि उनके अपार गुणोंकी अभिव्यक्ति होती है और मनमें स्थिरता आती है। विश्वास और धैर्यकी पुष्टि होती है।

एकादश भूमिकाओंके दृष्टिकोणसे भी अत्यन्त संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि इन सबका समावेश भी तुलसीकी रचनाओंमें भलीभाँति हुआ है। प्रथम भूमिका 'महतां सेवा'में 'महता' पद साधु, सन्त, महात्माओंका ही द्योतक है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। इधर सन्तके प्रति तुलसीकी धारणा कैसी है, यह भी एक ही पंक्तिमें समझ लीजिये—

‘संत भगवंत अंतर नहीं किमपिमति मलिन कह दास तुलसी’।^१

फिर, वे साधु-सेवा-सदृश भूमिकाको परमावश्यक क्यों न मानते। उन्होंने कहा भी है—

‘सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुवीर-चरन लय-लागे’^२॥

सन्त और सत्संगकी जिस अमित महिमासे उनकी प्रधान रचनाएँ दीप्त हैं उससे अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि ये भी साधु-सेवा या सत्संगको भक्तिकी प्रथम भूमिका मानते हैं।

साधु-सेवाके उपरान्त दूसरी भूमिका साधुओंकी दयापात्रताको भी आवश्यक माननेके कारण उन्होंने ऐसे विचार प्रकट किये हैं—

‘संसय समन दमन दुख सुख-निधान हरि एक।

साधु-कृपा बिनु मिलहिं नहिं करिय उपाय अनेक’^३॥

...

...

...

‘भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होहि अनुकूला’^४।

महापुरुषोंकी कृपा-प्राप्तिके पश्चात् उनके धर्मोंमें श्रद्धाका प्रादुर्भाव होना तृतीय भूमिका है। गोस्वामीजीकी रचनाओंमें सत्पुरुषोंके लक्षणोंकी जो विशद व्याख्या पायी जाती है उसका अभिप्राय यही है कि इनमें उनकी अपार श्रद्धा थी। श्रद्धाको वे आवश्यक भूमिकाके रूपमें ग्रहण करते हैं, इसका समर्थन यह पंक्ति कर रही है—‘स्रद्धा बिना धरम नहिं होई’; श्रद्धा उनकी रचनाओंमें किस प्रकार आहत है इसपर बहुत-कुछ कहा जा सकता है, पर इस चर्चेके प्रसंगमें इतना ही कह देना अलं होगा कि उन्होंने श्रद्धाका जो महत्त्व स्वीकार किया है वह परम्परागत है। ‘ऋग्वेद’^५के ‘श्रद्धासूक्त’में श्रद्धाके महत्त्वका विशेष रूपसे वर्णन है। ‘यजुर्वेद’^६में कहा गया है—‘श्रद्धासे सत्यरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है’^६; ‘तैत्तिरीयोपनिषद्’^७के अनुसार—‘श्रद्धासे देवत्वप्राप्ति तथा सब लोगोंकी प्रतिष्ठा सिद्ध होती है’^८; योग और ज्ञानके हेतु भी श्रद्धाकी महान् आवश्यकता मानी गयी है। कहा गया है—‘वह कल्याणकारिणी श्रद्धा माताके सदृश योगीकी रक्षा करती है’^९। ज्ञानके लिए श्रद्धाकी कैसी अपेक्षा होती है वह इतनेसे ही समझिये कि—‘श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्’^{१०}। अस्तु।

१. ‘विनय०’, पद ५७। २. ‘विनय०’, पद १३६ [११]। ३. ‘विनय०’, पद २०३।

४. ‘मानस’, अरण्य० १५.४। ५. ‘ऋक्’, १०:१५१। ६. ‘यजुर्वेद’, १९:३०। ७. ‘तैत्तिरी०’,

३:१२:३। ८. ‘योगभाष्य’, १:२०। ९. ‘गीता’, ४:३९।

जब शुष्क ज्ञान और योगके क्षेत्रमें श्रद्धाका इतना महत्त्व स्वीकृत हुआ है तो रसमयी भक्तिके क्षेत्रमें उसका कितना उच्च स्थान होगा, इसका अनुमान हम स्वयं कर सकते हैं। भक्ति-ग्रन्थोंमें श्रद्धा भक्तिकी आधारशिला मानी गयी है। उसका सम्बन्ध हृदयके परमोज्ज्वल सात्त्विक भाव प्रेमसे होता है। अतएव भक्तिके सम्पादनमें जिस श्रद्धाकी अपेक्षा होती है वह सात्त्विक श्रद्धा है। हमारे जप, तप, यम, नियम, हमारी ईश्वरपरायणता, हमारी आस्तिकता, किं बहुना, हमारे शुभाचारोंका मूलधार है—सात्त्विक श्रद्धा। यह रहस्य गोस्वामीजीने यों दर्शाया है—

‘सात्त्विक स्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय वसि आई ॥

जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे स्तुति कह सुभ धरम अचारा ॥

तेइ तन हरित चरइ जब गाई। भाव बच्छ सिमु पाइ पेन्हाई ॥’

चतुर्थ भूमिका अर्थात् ‘हरिगुण-श्रवण’को भी गोस्वामीजीने अत्यावश्यक माना है। इसीसे उनकी प्रधान कृतियोंमें स्थान-स्थानपर रामके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यपूर्ण कथाओंको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुननेका संकेत मिलता है।

सामान्य संसारी मनुष्यके विशिष्ट सद्गुणोंको देख-सुनकर हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं तो जगन्नि यन्ताके अमित गुणोंका सतत श्रवण करते-करते उसके प्रति प्रेमाङ्कुरके उगनेमें सन्देह ही क्या। भगवत्प्रेमकी यह अङ्कुरोत्पत्ति प्रेमाभक्तिकी पाँचवीं भूमिका है। तुलसीकी रचनाओंमें इस भूमिकाका सन्निवेश भी पूर्ण रूपसे हुआ है। उदाहरणके लिए केवल एक ही पंक्ति लीजिये—

‘परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलन अति दूर ॥’

प्रेमोद्रेकके अनन्तर प्रेमका अङ्कुर स्वाभाविक गतिसे उत्तरोत्तर विकसित होता चलता और तत्परिणामस्वरूप भक्त परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति कर उसके परानन्दस्वरूपमें प्रेमवृद्धि करता हुआ उसके प्रतापसे अपनेमें परानन्दका स्फुरण देखता और बहूँ स्वयं भागवत-धर्मनिष्ठ होकर अपनेमें उन गुणोंका प्राकट्य करता हुआ प्रेमकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही प्रेमाभक्तिकी ग्यारहवीं भूमिका है। प्रेमोद्रेकसे लेकर इस अन्तिम भूमिकातक पहुँचनेमें प्रेमकी जो विविध सीढ़ियाँ ऊपरके वाक्य में इंगित हैं इन्हें हम गोस्वामीजीकी प्रधान रचनाओंमें व्यापक रूपसे देखते हैं। स्थानाभावसे विवश होकर हम ग्यारहवीं भूमिकापर ही एकाध वाक्यसे अधिक न कहेंगे। भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठाका आनन्द एवं उसका स्वरूप केवल भगवान्‌के अनन्य प्रेमी ही समझ सकते हैं—

‘पूनों प्रेम-भगति-रस हरि-रस जानहिं दास।

सम सीतल गत-मान ज्ञानरत बिषय उदास ॥’

प्रेमाभक्तिके कण्टक

भक्तिके राजमार्गपर भक्त निश्चिन्त भावसे चलता रहता है; ज्ञान, वैराग्य प्रभृति साधन-रूप राज-कर्मचारी राजमार्गकी देख-रेख बराबर करते रहते हैं; भक्त प्रेम-प्रवाहकी धुनमें साधनालीन रहता है; उसे क्या पता कि उसकी ताकमें बड़े-बड़े कुतर्क, संशय, अहंकार, काम, क्रोधादि सरीखे डाकू प्रत्येक क्षण छिपे बैठे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि इन्हीं तस्करोंके आक्रमणसे साधक ‘राजमार्ग’में भी लुट जाता है। वह क्षुब्ध होने लगता है और इस प्रकार उसके पतनका द्वार स्वयमेव उन्मुक्त हो जाता है। तात्पर्य

यह कि प्रेमाभक्तिके सबसे बड़े कण्टक हैं—अभिमान, कुतर्क, संशय, काम, क्रोध, लोभ आदि। भक्त इनसे सदैव सतर्क रहकर ही भक्तिका चरमोत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। प्राचीन आचार्योंकी भाँति तुलसीदासजीने भी इन कण्टकोंसे सर्वदा तथा सर्वथा दूर रहनेकी चेतावनी दी है।

अभिमान सर्वोपरि कण्टक है। यह महान् साधकको भी क्षणमात्रमें पटक देता है। जब तपस्या-मूर्ति नारद मुनिमें भी—‘जिता काम अहमिति मन माहीं’की स्थिति आ गयी तो सामान्य साधकोंका क्या कहना। तुलसीकी रचनाओंमें ऐसे अनेकानेक दृष्टान्त सन्निविष्ट हैं जिनसे प्रकट होता है कि महत्तम भक्त भी अभिमानके चपेटेमें आ गये हैं^१। वस्तुतः अभिमान तामस भाव है। इसके रहते सात्त्विक भाव भगवत्प्रेम प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

‘मोह मूल बहु मूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।

भजहु राम रघुनायक कृपा-सिन्धु भगवान्^२॥’

अभिमानकी भयावहताका अनुमान इस एक ही पंक्तिसे कर लीजिये—

‘संस्तुतिमूल मूल प्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना’^३॥

इसकी ऐसी भयंकरताके ही कारण भगवान् अपने भक्तको इसकी छायासे भी दूर रखना चाहते हैं। यदि दुर्भाग्यवश भक्तके हृदयमें यह काँटा गड़ ही जाता है तो भगवान् उसे निकालनेके लिए भक्तको कष्ट भुगताकर भी उसकी आँखें खोलते हैं^४।

भक्तिके दूसरे कण्टक कुतर्क और संशयके पाशमें आवद्ध होनेपर चित्तकी सहज चञ्चलता और भी बढ़ जाती है। तत्परिणामस्वरूप नाना प्रकारके मोहकी वृद्धि होती है। तर्क श्रद्धाका विरोधी है। तर्क की धारा प्रवाहित होनेपर श्रद्धाकी नींवका कटना और घसकना अनिवार्य है। श्रद्धाके अभावमें भक्तिका निष्पादन ही असम्भव है। कोई आग्रह करे कि तर्कसे उस परमपदकी उपलब्धि होती है, तो यह ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रकारने स्वयं माना है—‘तर्काप्रतिष्ठानात्’^५। ‘कठोपनिषद्’में भी कहा गया है—‘बुद्धिके तर्कसे उस तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती’^६। यदि किसीको संशय हो कि ‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’ क्यों कहा जाता है तो ऐसी शंका भी न होनी चाहिये, क्योंकि तत्त्वबोध करानेवाला ‘वाद’ दूसरे प्रकारका होता है। श्रद्धालु शिष्य जिज्ञासा-भावसे गुरुके सामने तर्क उपस्थित करता है और गुरु उसकी शंकाका निवारण कर और भी प्रबल तर्कसे उसे सिद्धान्त समझाते हैं। ऐसा ‘वाद’ स्पृहणीय है, निन्दनीय नहीं। किन्तु आग्रहपूर्वक अपने पक्ष-समर्थन एवं प्रतिपक्ष-मान-विमर्दनके लिए जो करामाती ‘वाद’ होता है उससे तो भक्तको अलग रहना ही चाहिये। ‘नारदसूत्र’में कहा गया है—‘वादो नावलम्ब्यः’^७।

इधर हमारे महात्मा तुलसीदासने भी स्पष्ट शब्दोंमें कुतर्क और संशयको त्याज्य बताया है—

‘अस विचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।

भजहु सदा रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद’^८॥’

काक मुशुण्डिके ब्राह्मण-जन्ममें उनका और लोमश ऋषिका जो वाद-विवाद ‘मानस’में प्रस्तुत किया गया है वह भी व्यञ्जित करता है कि भक्तको वाद-विवादके कुतर्क, संशय आदिमें नहीं पड़ना चाहिये। वाद-विवादसे संघर्ष होगा ही, उत्तर-प्रत्युत्तर बढ़ेगा ही और अन्तमें—

१. ‘मानस’, बा० १२६. ५। २. देखिये ‘दोहावली’, दो० ४४०, ४४१। ‘मानस’, लं० ५९. ७। ३. ‘मानस’, मुन्दर० २३. ४. वही, उ० ७३. ६। ५. वही, उ० ७४. ६. ‘ब्रह्मसूत्र’. २:१:११। ७. ‘कठो’, १:२:९। ८. ‘नारदसूत्र’ १७४। ९. ‘मानस’ उ० ९०. १।

‘सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किए । क्रोध उपज ग्यानिन्हके लिए ॥
अति संवर्षन जौ कर कोई । अतल प्रगट चंदन ते होई’ ॥

की स्थिति आ जाती है ।

भक्तिके अन्यान्य कण्टक—मोह, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादिसे भी निरन्तर सतर्क रहनेको चेतावनी गोस्वामीजी स्थल-स्थलपर देते गये हैं, साथ ही उन्होंने, इन सबकी प्रचण्डताको मूर्तिमान् करनेके लिए ‘मानस’के उत्तरकाण्डमें मायाके विकट कटकका विलक्षण दृश्य भी खड़ा कर दिया है । उक्त कटककी योजनामें जिन दुर्बृत्तियोंका उल्लेख है उन्हें भक्तिके कण्टकके अन्तर्गत समझना चाहिये ।

साधकके हृदयमें ही छिपे रहनेवाले इन सूक्ष्म कण्टकोंकी चर्चा यहीं छोड़ अब एक भयावह स्थूल कण्टकका निर्देश करना भी अनुपयुक्त न होगा । जैसे सत्संग भगवत्प्रीतिका प्रमुख साधन है, ठीक उसीके विपरीत कुसंग भक्तिका प्रधान बाधक है, यह स्थूल काँटा साधनाको अवश्य ही खण्डित कर डालता है । इसीसे आचार्योंने इसे भक्तिका भारी विघ्न माना है । ‘नारदसूत्र’में कहा गया है—‘दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः’ । गोस्वामीजीने भी कुसंगकी बड़ी कुत्सा की है^१ । उनकी रचनाओंमें खलों, असाधुओं और असज्जनोंकी प्रकृतिका जो व्यापक चित्रण मिलता है उसका अभिप्राय यही है कि इनकी विषाक्त प्रकृतिको जानकर भक्तिके प्रेमी इनसे दूर रहें । संसर्गका प्रभाव सभी स्वीकार करते हैं । दुष्टसंगतिसे आमुरी सम्पत्तिका विकास तथा दैवी सम्पत्तिका हास अवश्यम्भावी है । अतः कुसंगसे सदा ही वचना चाहिये । अन्यथा—

‘को न कुसंगति पाइ नसाई । रहइ न नीच मते चतुराई’^२

भक्तोंके लक्षण और उनकी श्रेणियाँ

भक्ति और उसके विविध अवयवोंके सम्बन्धमें पर्याप्त विवेचन हो चुका । अब भक्तोंके सम्बन्धमें भी कुछ विचार कर लेना चाहिये । पहले सच्चे भगवद्भक्तका लक्षण गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें देखिये—

‘भौंह-कमान-संधान सुठान जे नार-बिलोकनि-बान तें बाँचे,
कोप-कुसानु गुमान-अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे ।
लोभ सबै नटके बस है कपि ज्यों जगमें बहु नाँच न नाँचे,
नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीरके सेवक साँचे’^३ ।

अवतरणसे प्रकट है कि यथार्थतः भक्त वही है जिसने काम, क्रोध, अहंकार और लोभसे अपना पिण्ड छुड़ा लिया है । प्रकृतितः सबसे सरल और तटस्थ रहना^४, विश्वमात्रको एक दृष्टिसे देखना और परमात्माके अतिरिक्त और किसीमें भ्रमता न करना^५ भी भक्तके लक्षण हैं । भक्त परमात्म-प्रेमहृदमें निरन्तर निमग्न रहनेपर भी अपनेको प्रेमविहीन समझता है^६ । जैसे अविवेकी पुरुष अपने स्थूल शरीरमें आसक्त रहता है वैसे ही भक्त भगवान्में^७ । अपने प्रियतम भगवान्के ध्यानमें भक्त सदैव पुलकित होता रहता है,

१. ‘मानस’, उ० ११०. १५, १६. १. २. ‘नारदसूत्र’ १४३। ३. देखिये ‘मानस’, सुन्दर० ४५. ७; उ० ३८. २, १०५. १५, १०५. ९, १४। ४. वही, अयो० २३. ८। ५. ‘कविता०’, उ० छ० ११८। ६. दे० ‘दोहावली’, दो० ९३। ७. वही, दो० ९४। ८. ‘मानस’, अयो० ८५. ६, २३२. ३। ९. वही, अयो० १४०. २।

उसके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होते रहते हैं^१। भक्त अपने कर्मवश प्राप्त सभी योनियोंमें भी अपने प्रियतम भगवान्‌के प्रति अविरत आसक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता^२। भक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त भक्त अपने हृदय-वल्लभ भगवान्‌के प्रति वैसे ही आसक्त हो जाता है जैसे कामी नारीके प्रति अथवा लोभी धनके प्रति आसक्त होता है^३। भक्त त्यागकी भी प्रतिमूर्ति होता है; वह विषय-विमुख होता है^४। निःस्पृहताके कारण भक्त न मान-प्रतिष्ठाका भूखा रहता और न वह लोकको रिझानेकी ही आकांक्षा करता है^५, उसे अपना निरभिमान जीवन ही अच्छा लगता है, क्योंकि वह जानता है कि 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे^६।' हेतु-रहित परोपकार-व्रत भी भक्तका लक्षण है^७। अतः लोक-कल्याणके लिए भी भक्त को कुछ-न-कुछ अवश्य करते रहना चाहिये; और नहीं तो विश्वका शुभचिन्तन ही करता रहे। ऐसा करते-करते उसकी विशाल दृष्टिमें समस्त जगत् भगवान्‌मय दिखाई पड़ने लगता है, उसे कहीं वैर-भाव नहीं अवगत होता^८। अखण्ड भजनके प्रतापसे भक्त दिव्य-शक्ति, कान्ति और तेज-सम्पन्न हो जाता है, अतः इन गुणोंको भी उसका लक्षण कहनेमें कोई अनुचित न होगा। प्रसंगको और बढ़ानेका अवकाश नहीं। अत्यन्त संक्षेपमें, श्रीमुखकी इस वाणीसे भक्त-लक्षणका सार समझा जा सकता है—

‘बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई ॥
बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तूत सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥
सम गुन ग्राम नाम रत तजि ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ चिदानंद संदोह^९ ॥’

भक्ति-शास्त्रोंमें भगवद्भक्तोंकी श्रेणियाँ भी बतायी गयी हैं। यथा, ‘गीता’में कहा गया है—

‘चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतनोऽजुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ^{१०} ॥’

समस्त भगवद्भक्तोंका इन्हीं चार प्रकारोंमें विभाजन किया जा सकता है। इन चतुर्विध भक्तोंका निर्देश भी गोस्वामीजीने किया है—‘राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा^{११}। यही नहीं, उन्होंने चारों प्रकारके भक्तोंका स्वरूपाभिव्यञ्जन भी यों किया है—

‘नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बिजोगी ॥
ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
जाना चाहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लव लाये। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये ॥
जपहि नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी^{१२} ॥’

१. वही, अयो० ३२४. १; उ० १.; ‘दोहावली’, दो० ४२, ४४, ४५; ‘विनय०’, पद १००।

२. मानस, किष्कि०, ९.११; ‘कविता०’, उ० छ० ५.८; ‘विनय०’, पद ५७, १०३। ३. ‘मानस’, उ० १३०। ४. ‘मानस’, अयो० ८३. ८, १२९। ५. वही, बा० १६१. २। ६. वही, बा० १६०. ३।

७. वही, उ० ४६. ५। ८. वही, उ० ११२. १. ९. ‘मानस’, उ० ४५. ४-८। १०. वही, उ० ४६. ११. ‘गीता’, ७:१६। १२. ‘मानस’, बा० २१.६। १३. वही, बा० २१. १-५।

अवतरणकी प्रथम दो अर्द्धालियों 'ज्ञानी भक्त' अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान पाकर कृतार्थ हो जानेपर जिसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य शेष न हो, तो भी निष्काम-बुद्धिसे भक्ति करनेवालेका संकेत कर रही हैं; तीसरी अर्द्धाली 'जिज्ञासु' अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले भक्तका निर्देश कर रही है; चौथी अर्द्धाली 'अर्थार्थी' अर्थात् काम्य द्रव्यादिकी वासनाको मनमें रखनेवाले भक्तको बताने परी है और अन्तिम अर्द्धालीसे 'आर्त' भक्तकी घोषणा स्पष्ट ही है। 'मानस'में चारों प्रकारके भक्तोंके दृष्टान्त भी दिखाये गये हैं, कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता न होगी।

भक्तोंकी महिमा

प्राचीन भक्ति-ग्रन्थोंमें भक्त-महिमाकी भी अपूर्व प्रतिष्ठा की गयी है। 'भागवत'में श्रीमुखकी वाणीसे ऐसे वचन निकले हैं कि मेरा परम भक्त त्रिलोकको पवित्र कर देता है^१। 'नारदसूत्र'के अनुसार भक्तगण तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको राच्छास्त्र कर देते हैं^२। भक्तोंका आविर्भाव देखकर पितृगण आह्लादित होते हैं, देवगण नाचने लगते हैं और पृथ्वी सनाथ हो जाती है^३।

शास्त्रीय भक्ति-पद्धतिके समर्थक भक्ति-ग्रन्थोंको छोड़िये। उनमें तो भक्तोंका माहात्म्यगान है ही। उनके अतिरिक्त यदि परम्परागत भक्तिके विरोधी विविध पन्थोंको ही देखा जाय तो इनमें भी भक्त-महिमा-गानकी यथेष्ट उदारता मिलती है। तभी तो कबीर, दादू आदिकी रचनाओंमें 'साधु-महिमाको अंग'के अन्तर्गत साखियोंमें भक्तोंकी बड़ाई मुक्त-कण्ठसे की गयी है।

फिर, तुलसीदास क्योंकर पिछड़ते। उन्होंने भक्त-माहात्म्य-प्रदर्शनके भावावेशमें आकर ऐसा विश्वास भी प्रकट किया है—

‘मोरे मन प्रभु अस विस्वासा । राम तैं अधिक राम कर दासा ॥

राम सिंधु सज्जन बन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा’ ॥’

जो भी हो, 'राम ते अधिक राम कर दासा' युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता, पर दूसरी अर्द्धालीकी सार्थकता ठीक जँचती है। 'सिंधु' और चन्दन-तरु के अभावमें 'बन' और 'मलय समीर' न रहें, पर यावत् समुद्र एवं चन्दन विटपी हैं तावत् यह कौन अस्वीकार करेगा कि मेव और मलयानिल दोनों अपने-अपने कारणोंसे उत्कृष्ट नहीं ? भले ही भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य पयोधि और चन्दनपादपकी भौति वर्तमान है, पर उस अमित ऐश्वर्यका प्रसारण करनेवाले तो भक्तजन ही हैं।

गोस्वामीजी 'मानस'में 'राम ते अधिक राम कर दासा' कहकर ही नहीं सन्तुष्ट हुए। एतदर्थ 'दोहावली'में भी उन्होंने इसका एक दृष्टान्त और उपस्थित किया है—

‘तुलसी रामहुँ ते अधिक राम भक्त जिय जानु ।

रिनिया राजा रामसे धनिक भये हनुमानु’ ॥’

भक्तोंके प्रति उनकी कितनी श्रद्धा थी इसके अनुमानके लिए यह एक पंक्ति देखिये—

‘राम कहैं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास’ ॥’

उनकी दृष्टिमें एकमात्र भक्तों का जीवन ही सफल है^४। उनका विश्वास था कि भक्तकी सेवा करना सैकड़ों कामधेनुकी सेवा करनेके समान श्रेयस्कर है^५। भक्त-माहात्म्य-व्यञ्जक उनका यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

१. 'भागवत' ११:१४:२४। २. 'नारदसूत्र' ६९। ३. वही ७३। ४. 'मानस', उ० ११९. १६, १७। ५. 'दोहावली', दो० १११। ६. वही, दो० १४१। ७. वही, दो० ५८। ८. 'मानस', अयो० ६४. १।

‘आपु आपने ते अधिक जेहि प्रिय सीताराम ।
तेहिके पगकी पानहीं तुलसी तनको चाम’ ॥’

भक्तोंकी गुरु-परम्परा

भक्ति-क्षेत्रमें गुरुका स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। अतः इसपर भी कुछ विचार करना चाहिये। ‘अमरकोश’के अनुसार ‘गुरु’ बृहस्पति, मुराचार्य आदिका अभिधायक होनेके साथ उपाध्याय, अध्यापक तथा गर्भाधान आदि संस्कार करानेवाले याजककी संज्ञा भी है और बड़े-बुढ़े, श्रेष्ठजनोंका द्योतक भी। सामान्यतः गुरु दो प्रकारके दिखाई पड़ते हैं—शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। मनुने तीन प्रकारके गुरु बताये हैं—लौकिक, वैदिक एवं अध्यात्म-गुरु^१। ‘अद्वयतारकोपनिषद्’में कहा गया है—‘गुरुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते’ अर्थात् गुरु शब्दका अर्थ है अन्धकार और गुरु शब्दका अर्थ है निरोधक। अतएव अन्धकारका निरोध करनेवाला अर्थात् अज्ञानका नाश करनेवाला गुरु है। आदिकालमें स्वयं श्रुति देवी गुरुकी भाँति उपदेश करती हुई दिखाई पड़ती हैं। प्राचीन उपनिषदोंमें गुरु-शिष्यविषयक कुछ प्रसंग उपलब्ध होते हैं^२। उपनिषदोंकी वर्णन-शैलीसे ऐसी प्रतीति होती है जैसे कोई गुरु शिष्यको समझा रहा हो। कहीं-कहीं तो एक ऋषि किसी अन्य महाऋषिको गुरु सम्बोधन करके अपने भ्रम-निवारणका उपाय पृथक्ता हुआ दृष्टिगत होता है। यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि गुरु-परिपाटी भी नितान्त प्राचीन है। उसका सीमानिर्देश करना दुष्कर है। तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि वैदिक कालमें ही गुरु-परम्पराका जो बीज वर्तमान था वही ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें स्पष्टतया परिलक्षित हुआ और धीरे-धीरे स्मृतियों, पुराणों और भक्तिग्रन्थोंमें पल्लवित होता हुआ किसी समय अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। इस चरमोत्कर्षकी चर्चा आगे होगी, अभी भक्तोंकी प्राचीन गुरु-परम्पराका निर्देश करना अधिक समीचीन होगा।

जीवोंके उद्धारके लिए अनेकानेक ऋषियोंने अपनी-अपनी मतिके अनुसार सरलतम मार्ग दिखानेका प्रयास किया और इन सबके सिद्धान्तमें किञ्चित् अन्तर पड़नेके कारण इनमेंसे प्रत्येकके अनुयायियोंका मार्ग भी परस्पर पृथक् हो गया और तत्परिणामस्वरूप कतिपय सम्प्रदायोंकी उद्भावना हुई। इन विविध पद्धतियोंके अधिष्ठाताओंकी शृंखलाको गुरु-परम्परा समझना चाहिये। भक्ति-ग्रन्थोंमें प्राचीन गुरुपरम्पराका प्रकारान्तरसे संकेत रहता है। जैसे, ‘नारदसूत्र’में भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका समर्थन करनेके लिए कहा गया है—‘कुमार (सन्तकुमारादि), वेदव्यास, शुक्र, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, शेष, हनुमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न करके एक मतसे ऐसा ही कहते हैं’^३। उक्त आचार्योंमेंसे सबने भक्तिका प्रचार किसी-न-किसी रूपमें बढ़ाया है, ये सबके सब प्राचीन परम्परागत भक्ति-तत्त्वके पूर्ण ज्ञाता एवं आचार्य हैं, ये ही भक्तोंकी गुरु-परम्पराके आदि हैं। जो प्राचीन परम्परागत भक्तिका अनुयायी या प्रचारक होगा वह इन्हीं आचार्योंकी छत्रच्छायाका आश्रय ग्रहण करेगा।

भक्त तुलसीदासने इन्हीं महात्माओंकी छत्रच्छायाका आश्रय ग्रहण किया। यही कारण है कि ‘मानस’में ऐसे प्रसंगोंकी कमी नहीं है जहाँ भक्तिके सिद्धान्त-प्रतिपादनमें उक्त भक्तोंमेंसे किसीके सुखारविन्दसे कथन न कराया गया हो। ग्रन्थके अन्तमें अपनी भक्तिका प्राचीन परम्परागत भक्तिसे अभेद दिखानेके लिए ही उन्होंने प्राचीन भक्तोंकी गुरु-परम्पराका प्रमाण उपस्थित किया है—

१. ‘दोहावली’, दो० ५९। २. ‘मनु’ २:११७। ३. दो० ‘श्वेताश्वतरोपनिषद्’, ६:२३ तथा ‘तैत्तिरीयोपनिषद्’के शिक्षाबल्ली द्वितीय अनुवाक् भी। ४. ‘नारदसूत्र’ ८३।

‘सिव अज सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म विचार बिसारद ॥

सब कर मत खगनायक एहा । करिय राम-पद-पंकज नेहा’ ॥’

विनयपत्रिका’में भी यत्र-तत्र उक्त आचार्योंके ही प्रमाणसे भक्तिका माहात्म्य दर्शाया गया है^१ ।

भागवतोंकी प्राचीन गुरु-परम्पराको यथातथ्य रूपमें न समझनेवालोंका कहना है कि गोस्वामीजीने वैष्णवों और शैवोंके बीच ऐक्यस्थापनार्थ ही शिवका नाम बार-बार दुहराया है । निस्सन्देह दोनों सम्प्रदायों में परस्पर उदारताका भाव जगाना भी उन्हें अभीष्ट था, इसीसे उन्होंने शिवकी कथाको भी यथेष्ट प्रश्रय दिया है, परन्तु भक्तोंकी प्राचीन गुरुपरम्पराकी ओर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि शिवजी भक्तिके आद्याचार्योंमें हैं, वे परम भागवत हैं^२ । वस्तुतः इसीलिए तुलसीने उन्हें अत्यधिक महत्त्व दिया है ।

भक्ति और गुरुका सम्बन्ध

गुरु और भक्तिका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्राचीनतम भक्ति-सम्प्रदायोंसे लेकर अर्वाचीन सम्प्रदायोंतकका गम्भीर परिशीलन कर डालिये, गुरु सभीके साधना-क्षेत्रका प्रमुख अवयव दृष्टिगत होगा । भागवत धर्मके कतिपय आचार्योंने एक स्वरमें स्वीकृत करके घोषित किया है कि गुरुका आश्रय पाये बिना कोई व्यक्ति संसार-सागरको पार नहीं कर सकता । परम कल्याण-आकांक्षी साधक सर्वप्रथम गुरुकी शरण ढूँढ़े, तदुपरान्त अन्य साधनोंके उपयोगका अवसर आता है । योगीश्वर प्रबुद्धने राजा निमिसे प्रेम-भक्ति-प्राप्तिके साधनोंका निर्देश करते समय सबसे पहले गुरुकी खोज करनेका आदेश दिया है^३ । वैष्णव सम्प्रदायोंमें ही नहीं, विविध शैव सम्प्रदायों अथवा शाक्तों या नाना सुधारपन्थियोंकी उपासना-पद्धतियोंमें भी अध्यात्म-द्वारका उद्घाटक गुरु ही ठहराया गया है । इसलाम या ईसाई धर्मोंकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो उनके ‘पीर’ और ‘फादर पाल’ क्या हैं । तुल-तबालसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं, हमें तो देखना है कि गुरुके सम्बन्धमें हमारे बाबाजीके क्या विचार हैं ।

इस सम्बन्धमें सबसे पहले हम यही कह सकते हैं कि उनका दृढ़ विश्वास था कि निरभिमान भावसे गुरुकी शरणमें जानेसे सुख-निधान भगवान्की प्राप्ति अवश्य होती है^४ । व्यक्तिगत रूपसे भी उन्होंने भक्तिका राजमार्ग गुरुके प्रसादसे ही देखा^५ था । अपनी प्रगाढ़ गुरु-भक्तिवश उन्होंने ऐसा विचार भी प्रकट किया है कि अनन्य भगवत्प्रेमकी प्रतिष्ठाके लिए गुरु-सेवा और गुरुके द्वारा बताये गये सन्मार्गका अनुसरण करना साधकके लिए परमावश्यक है^६ । साधकके मोहान्धकार-भरित हृदयसे तमकी निवृत्ति गुरुके वचन-रूप रवि-किरणोंसे होती है—ऐसी उत्कट आस्था भी उन्होंने प्रकट की है^७ । इसकी भी घोषणा की गयी है कि विमल विवेककी प्रतिष्ठा^८ करनेवाला और संसारसे उद्धार^९ करनेवाला भी गुरु ही है ।

भक्तिपरायण होनेके लिए गुरुका आश्रय ढूँढ़ना अनिवार्य है, इसके दृष्टान्त भी प्रस्तुत किये गये हैं । उज्जैनीमें जब भुशुण्डिने अपने पूर्वजन्मकी शृङ्खलासे परम साधु, शिवभक्त ब्राह्मण गुरुकी सेवा की तो उन्होंने नाना प्रकारके शुभ उपदेश और शम्भुमन्त्रका लाभ किया । इसी प्रकार उनको काकरूपमें राममन्त्र, ध्यानादिकी प्राप्ति हुई ।

वस्तुतः नाम-जपका भक्तिक्षेत्रमें बहुत ही उच्च स्थान है । यह सब मर्म गुरु समझाता है । एतदर्थ गुरुकी सहायता बिना भक्ति सांगोपांग सम्पन्न नहीं हो सकती ।

१. ‘मानस’, ड० १२१.१२, १३ । २. दे० ‘विनय०’, पद ९९, २०९, २५१ । ३. दे० ‘भागवत’, ११:२:५३, ५४; ‘नारदसूत्र’ ८४ । ४. ‘भागवत’, ११:३:२१, २२ । ५. ‘विनय०’ पद २०१ । ६. ‘विनय०’ पद १७३ । ७. ‘दोहावली’ दो० १४० । ८. ‘मानस’, बालकाण्डके आरम्भमें गुरुवन्दनाका सौरठा । ९. ‘विनय०’, पद ११५ । १०. वही, पद १३६ [१२] ।

गुरुमहिमाका चरमोत्कर्ष

दूसरा प्रसंग छेड़नेके पूर्व अब गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष-सम्बन्धी विवेचन भी इसी सिलसिलेमें समाप्त कर देना चाहिये। साधक अपने सम्प्रदायके प्रवर्तक प्रबुद्ध आचार्योंको सम्मानपूर्ण दृष्टिसे देखे और अपने वैयक्तिक अध्यात्मगुरुके प्रति अपने अनिवार्य कर्तव्योंका पालन करे, इसका निर्देश प्राचीन ब्राह्मण-धर्मग्रन्थोंमें मिलता है। गुरु पितासे बढ़कर है, शिष्य जवतक उसके पास रहता है, उसका कर्तव्य है कि पूर्ण रीतिसे गुरुकी आज्ञाका पालन और उसकी शुश्रूषा करे, उसके प्रति जीवनपर्यन्त पवित्र सम्मानकी भावना रखे^१। इसके अतिरिक्त शिष्यके प्रति कोई गुरु-ऋण शेष नहीं रह जाता। गुरुके यहाँसे शिष्य जब अपनी शिक्षा समाप्त कर लेता था तब गुरु शिष्यसे किसी अन्य वस्तुकी कामना नहीं करता था^२। गुरु-शिष्यका ऐसा सम्बन्ध ब्राह्मणकालतक चलता रहा। अति प्राचीन सम्प्रदायोंको देखनेसे पता चलता है कि उनका नामकरण उनके प्रवर्तकोंके नामपर नहीं हुआ था। परन्तु इसके विपरीत बारहवें शतकसे कुछ नयी बातें अवगत होती हैं। बौद्धोंके 'बुद्ध' या जैनोंके 'जिन'ने जिस श्रेणीको प्राप्त किया अथवा मुसलमान धर्ममें 'पैगम्बर' या 'इमाम' को जो स्थान प्राप्त हुआ वही हिन्दू धर्ममें सम्प्रदायके प्रवर्तक 'गुरु'को मिला। वह रहस्योद्घाटक और अलौकिक परित्राणकर्ता माना जाने लगा। ईश्वरावतार भी घोषित किया गया। ईश्वरवत् उसकी भक्ति की जाने लगी। यदि सम्प्रदायने परम्परागत गुरुका विधिविधान स्वीकार किया तो गुरुके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी भी उक्त सभी विशेषाधिकारयुक्त माना जाने लगा।

रामानुज, रामानन्द, आनन्दतीर्थ आदिको उनके अनुयायी विष्णु या शिवका अवतार ही मानते हैं। बल्लभ, चैतन्य, नानक आदि जो अधिक आधुनिक धार्मिक सुधारक कहे जाते हैं वे अपने जीवनकालमें ही अवतार माने जाने लगे थे। यही नहीं, वेदान्तियोंसे भी शंकराचार्यको 'जगद्गुरु' कहे बिना न रहा गया।

प्राचीन ग्रन्थोंमें गुरुके प्रति पर्याप्त सम्मान रखनेका उल्लेख है, पर उसकी देववत् पूजा करनेका आदेश नहीं है। गुरुको पितासे बढ़ कर देखनेका निर्देश अवश्य है, किन्तु उसे ईश्वर-रूप माननेका कोई संकेत नहीं है। उसका यह ईश्वरत्व-सम्पन्न स्वरूप बहुत बादका है। पुरातत्त्ववेत्ता विल्सन साहबका विचार है कि गुरुके ऐसे माहात्म्यका बीज 'भागवत'से अंकुरित हुआ^३। गुरु-महिमाके चरमोत्कर्षका निश्चित काल बताना दुःसाध्य है, तथापि यह तो निश्चिन्त है कि पुराणों और अर्वाचीन उपनिषदोंके कालमें गुरु देवके समकक्ष हो चुके थे। 'भागवत'की उक्ति है कि अपना परम कल्याण-अभिलाषी व्यक्ति गुरु और ब्रह्मको एक समझकर भागवत धर्मका उपदेश ले^४। वहीं यह भी उल्लिखित है कि मृत्युसे भी परित्राण करनेवाला गुरु है^५। 'शाठ्यायनीयोपनिषद्'के अनुसार साधकको ब्रह्मविद् होनेके लिए वैसी ही गुरुभक्ति करनी चाहिये जैसी देवकी अनन्य भक्ति की जाती है^६। 'कुलार्णव'में भी गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है^७। 'गीता'में गुरु-पूजन शारीरिक तप माना गया है^८। 'गुरुगीता'में गुरुविषयक सभी जिज्ञासाओंका जैसा समाधान किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं। उसमें गुरुको साक्षात् भगवान्-स्वरूप सिद्ध करके कहा गया है—

१. 'आपस्त० स्मृ०', १:१, १३-१७; 'मनु०', २:१४६, १४८। २. वही, १:१८-२१। ३. 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजिअस आव् हिन्दूज', पृ० १६६। ४. 'भागवत', ११:३:२१। ५. 'भागवत', ५:५:१८। ६. 'शाठ्यायनी०', श्लोक ३७। ७. दे० 'कुलार्णव', उल्लास १३, १४। ८. 'गीता', १७, १४।

‘ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा^१ ॥’

इसी प्रकार ‘गुरुगीता’में गुरुकी अमोघ शक्ति-द्योतक एवं उसके पादोदबिन्दु तथा चरण-रजको अखिल ब्रह्माण्डगत तीर्थस्नानके फलसे सहस्र गुना श्रेयस्कर सिद्ध करनेवाले श्लोकोंकी भी कभी नहीं। स्वामी रामानन्दकृत ‘रामरक्षा’के अनुसार, जिसका उल्लेख आगेके परिच्छेदमें आया है, गुरु और परब्रह्मका ऐक्य है। रामानन्द ही नहीं, उनके शिष्य कबीरने भी गुरुकी बड़ी महिमा गायी है^२। दादूद्यालने भी गुरुको ब्रह्मका चोला पहनाया है, दिल खोलकर महिमा गायी है^३। चैतन्यसम्प्रदायमें तो गुरुका प्रभाव वेहद हो गया। गुरु भगवान्से भी बढ़ गया। उसका पादाश्रयण ही सर्वस्व माना गया। ‘उपासनामृत’ और ‘भजनमृत’में गुरुका महत्त्व दिखानेके लिए जो प्रसंग सन्निविष्ट हैं उनसे परिलक्षित होता है कि इस सम्प्रदायमें गुरु-महिमा चरमोत्कर्षको प्राप्त हुई। इसके अनुसार गुरु-सेवा ही सर्वस्व है, गुरु, मन्त्र और ईश्वर अभिन्न हैं। सोलहवें ही शतकमें वर्तमान कुछ अन्य सम्प्रदायों यथा वत्सभ-सम्प्रदाय या नानकपन्थ आदिको लिया जाय तो इनमें भी गुरुमहिमाका चरमोत्कर्ष अवगत होगा। नानकपन्थी गुरु-ग्रन्थको ही वेद मानते और गुरु-अज्ञाको वेदाज्ञा।

गोस्वामीजी जैसे शास्त्रपरायण श्रद्धालु महात्माके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे भी गुरु-महिमा-को असामान्य ही मानते। उन्होंने ‘मानस’के आरम्भमें गुरु-पद-पद्म-परागकी जो स्तुति की है वह गुरु-भक्तिका चरमोत्कर्ष प्रकट करती है। वे गुरुकी चरण-रजको शिवके अंगमें वेष्टित भस्मके समान पवित्र मानते हैं; उनका विश्वास है कि इस रजके प्रतापसे हृदय विकारशून्य होकर मंजु दर्पणके समान स्वच्छ हो जाता है; उन्हें इसकी अनुभूति हो चुकी थी कि गुरुके चरणोंका ध्यान करनेसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, ज्ञान-नेत्र उन्मीलित होते ही मोहजनित संसारके सभी दुःखोंसे निवृत्ति हो जाती है और भगवान्के चरितका मर्म सहजमें ही समझमें आ जाता है। इस प्रसंगके अतिरिक्त भी उनकी रचनाओंमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि उनकी रुचि गुरु-महिमागानकी ओर भी थी। वे उत्कलित होकर कहीं रामभक्ति और गुरुभक्तिका तारतम्य करते हैं^४ तो कहीं गुरुकी अमोघ शक्तिके प्रदर्शनके लिए—‘राखइ गुरु जो क्रोप विधाता। गुरु विरोध नहीं कोउ जग ज्ञाता’^५ की घोषणा करते हैं। इसकी पुष्टिके दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं। मुमुक्षुको अपने पूर्वजन्मकी शूद्र-देहमें महेशकी क्रोधाग्निसे किसने उबारा? दशरथके भाग्यमें पुत्र न रहते हुए भी उन्हें किसने सन्तानसम्पन्न बनाया? वस्तुतः कोई कितना बड़ा क्यों न हो, गुरुके अनुग्रह बिना वह इस अपार संसार-सागरका पार नहीं पा सकता, वे ऐसा उत्कट विश्वास भी प्रकट करते हैं—

‘गुरु बिनु भव-निधि तरइ न कोई ।
जो विरंचि संकर सम होई^६ ।’

‘जानकीमंगल’, ‘पार्वतीमंगल’, ‘रामाज्ञाप्रश्न’ आदि ग्रन्थोंके मंगलाचरणमें गौरी, गणपति, शारद, शेष प्रभृति देवोंके साथ गुरुका भी अभिवादन किया गया है। इससे प्रकट होता है कि तुलसीकी दृष्टिमें गुरु भी देवतुल्य ही है।

१. ‘गुरुगीता’, श्लोक ५०। २. दे० ‘कबीर ग्रन्थावली’, ‘गुरुदेवको अंग’। ३. दे० ‘दादूद्यालकी बानी’, प्रथम भाग ‘गुरुदेवको अंग’। ४. ‘दोहावली’, दो० २८। ५. ‘मानस’, बा० १६५. ६। ६. ‘मानस’, उ० ९२. ५।

गुरु-माहात्म्य-गानमें अभिनिविष्ट होनेके कारण एकाध प्रसंगमें उन्होंने ऐसे विचार भी व्यक्त किये हैं जो उनके जैसे महान् व्यक्तिकी कृतिमें शोभा नहीं पाते । देखिये—

‘जो सठ गुरु सन ईर्ष्या करहीं । रौरव नरक कोटि जुग परही ॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहि सरीरा । अयुत जन्म भरि पावहि पीरा’ ॥’

गोस्वामीजीकी रचनाओंमें गुरु-महिमाका चरमोत्कर्ष देखते हुए यही कहा जा सकता है कि गुरु-महिमा-प्रदर्शनके सम्बन्धमें उन्होंने प्राचीन और मध्यकालीन दोनों परम्पराओंकी लीक सुरक्षित रखी है । यह उनका अन्धविश्वास नहीं प्रत्युत आत्मविश्वास है । उनका दृढ़ विश्वास था कि तपोनिष्ठ, सच्चे गुरुकी महिमाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जाय, थोड़ा ही होगा । इसीलिए उन्होंने पूर्ण आस्तिक हृदयसे यत्र-तत्र गुरु-महिमा भी गायी है । हमें यह भी न भूलना चाहिये कि केवल पुजाने और दक्षिणा लेनेवाले कालनेमि गुरुकी तो उन्होंने भर्त्सना ही की है—

‘हरइ सिष्य-धन सोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महुँ परई’ ॥’

अन्तमें, एक वाक्य और कहना है । तुलसीदासजीने भी यद्यपि गुरुमहिमाका चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन किया है, पर मध्यकालीन कुछ सम्प्रदायोंकी भाँति उनके इस प्रदर्शन-तत्त्वसे यह कदापि नहीं प्रतिभासित होता कि शिष्य स्वयं निष्क्रिय होकर साधना-सम्पन्न होनेका कोई कष्ट न उठाये और गुरु उसे स्वर्गादि प्राप्त करनेका परवाना दे दे ।

भक्तिके अधिकारी

यद्यपि परम मुखदायिनी भक्ति चिन्तामणि अनर्घ रत्न है, तथापि इसपर किसी सम्राट्का एकाधिपत्य नहीं है । यह वह पैतृक-सम्पत्ति नहीं है जो किसी विशेष जातीय या देशीय क्षुद्र कानूनके अनुसार सुद्रीभर चुने उत्तराधिकारियोंके विलासका साधन बने । वस्तुतः भक्तिपर प्राणिमात्रका स्वत्व है^१ । भले ही मायाके प्रपञ्चमें पड़कर दुर्भाग्यवश लोग स्वयं इस अधिकारसे पराङ्मुख रहें । जौहरी अन्धा है तो रत्नका क्या दोष । अर्थात् यदि साधकरूप जौहरी कुतर्क, अश्रद्धा, कुरांग, काम, क्रोध, लोभ आदिके कारण अन्धा हुआ है तो भक्ति-रूप रत्नको क्योंकर पहचान पायेगा । ऐसा ही प्राणी भक्तिका अनधिकारी है । गोस्वामीजीने ‘मानस’ भक्तिरत्नागारको ऐसे ही अनधिकारीको सुपुर्द करनेसे रोका है—

‘यह न कहिय सठहीं हठसीलहिं । जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिं ॥
कहिय न लोभहिं क्रोधिहिं कामहिं । जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं ॥
द्विज द्रोहिहिं न सुनाइय कवहुँ । सुरपति सरिस होइ नृप जबहुँ’ ॥’

×

×

×

‘राम भगति जिन्हके उर नाहीं । कवहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं’ ॥’

अवतरणसे अनधिकारीके लक्षण प्रकट हैं । कहना नहीं होगा कि अधिकारीमें इनके प्रतिमुख लक्षण होंगे, अर्थात् अधिकारी शठ या हठी नहीं होता; वह दत्तचित्त होकर भगवान्की लीलाओंका श्रवण करता है; वह काम, क्रोध, लोभादिके वशीभूत नहीं होता; भगवद्भजनमें लीन रहता है, ब्राह्मणमें श्रद्धा रखता है । गोस्वामीजीके ही शब्दोंमें अधिकारी देखना चाहें तो यह देखिये—

१. ‘मानस’, उ० १०६. ५, ६ । २. वही, उ० ९८. ७ । ३. ‘गीता’, ९: ३२, ३३ । ४. ‘मानस’, उ० १२७. ३—५ । ५. ‘मानस’, उ० ११२. १३ ।

‘राम भगतिके तेइ अधिकारी । जिन्हके मत संगति अति प्यारी ॥
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई । द्विज सेवक अधिकारी तेई ॥
ता कहूँ यह विशेष सुखदाई । जाहि प्रान प्रिय सिय रघुराई ॥’

अधिकारी और अनधिकारीका निदेश भी प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थोंमें बराबर मिलता है । वेद स्वयं अनधिकारीके हाथमें जाते काँपता है । श्रीकृष्णने अर्जुनको आदेश किया है कि यह ‘गीतामृत’ किसी अनधिकारीको मत देना—

‘इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति’ ॥’

अनधिकारी ऐसे रत्नसे क्यों वञ्चित किया गया है ! बात यह है कि मोह-मदमें चूर व्यक्ति असली तत्त्वको तो समझता नहीं, उल्टे अहंकारवश अर्थका अनर्थ करके सच्चाछोंको भी रौंदता है ।

भक्तिके विकासमें कालक्रमकी हेतुता

विकासवादके हिमायती बननेके लिए हम भले ही कहा करे कि प्राचीन भक्तिका विकास भी कालक्रमके अनुरूप हुआ है, पर तथ्य कुछ और ही है । आदि कालमें अपनी असभ्यावस्थामें रहनेके कारण हम भयवश अनिष्टकारी देवोंका क्रोध शान्त करनेके लिए उनकी आराधनामें प्रवृत्त हुए और धीरे-धीरे सुख-समृद्धिकारक देवोंके यजनकी ओर अग्रसर होकर अन्तमें लोकधर्मके भावोद्भयके उपरान्त इष्टदेवोपासना अर्थात् भक्तिकी भूमिपर आये । ऐसा स्वीकार कर लेनेपर भक्ति क्रमिक विकासका परिणाम सिद्ध होती है पर यह मत सर्वांशमें सत्य नहीं माना जा सकता । आज दिन जब कि विकासवादियोंकी दृष्टिमें हम सभ्यताके उच्च शिखरपर आरूढ़ हैं तब भी हमारे बीच ऐसे प्राणियोंकी कमी नहीं है जो भयवश अनेक अनिष्टकारी देवों-दानवोंकी पूजा करते हैं । यही नहीं, अपने दिलका अरमान पूरा करनेके लिए विविध देवी-देवताओंकी मनौती माननेवालोंकी संख्या और भी अधिक है । क्या यही भक्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठाका चिह्न है ?

तत्त्वकी बात यह है कि सृष्टिका निर्माण त्रिगुणोंसे हुआ है । अतः आदि कालसे मनुष्यमात्र सात्त्विक, राजस और तामस होते आये हैं और रहेंगे । चाहे वैदिक कालको लीजिये चाहे वीसवें शतकको, चाहे अनन्त भविष्यको, सभी कालोंके त्रिगुणोंके आधारपर सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके प्राणी मिलेंगे । आदि कालमें तामसप्रकृतिवालोंकी आराधना भयमूलक अवश्य थी, पर इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि यह युग राजस या सात्त्विक गुण-सम्पन्न प्राणियोंसे शून्य था । अतएव यह कहना कि आदि कालमें केवल तामस उपासना होती थी—निराधार नहीं तो क्या ? उस कालमें तामस उपासनाका प्राधान्य भले ही रहा हो, पर सात्त्विक प्रकृतिवालोंके हेतु विशुद्ध भक्तिका बीज भी उसी कालमें वर्तमान था । भक्ति-मार्गाका सम्बन्ध कालक्रमके सिद्धांतसे जोड़ना हिन्दको विलायत कहना है । कालक्रम विकाससे भक्तिका कोई सम्बन्ध नहीं । यह तो शाश्वत है, वेद, पुराण सभी इसके गुण-गायक हैं; बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी, योगी और मुनि भी इसे खोजते रहते हैं और जिसपर भगवत्कृपा होती है वही इसे प्राप्त करता है—

‘प्रेम भगति अनपायिनी देहु हमहिं स्त्रीराम’^१ ।

...

...

...

अबिरल भगति त्रिसुद्ध तव स्तुति पुरान जो गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुति प्रभु प्रसाद कोउ पाव' ॥'

दोनों अवतरण प्रेमाभक्तिकी शाश्वता प्रकट कर रहे हैं ।

तुलसीकी भक्ति और नैराश्यकाल

विद्वज्जनोंकी धारणा है कि तुलसी, मरू अथवा अन्य मध्यकालीन महात्माओंके द्वारा भक्तिके जो विमल स्रोत प्रवर्तित हुए वे सब तत्कालीन हिन्दू-समाजके नैराश्यजनक वातावरणके परिणाम हैं । यद्यपि यह धारणा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सामान्यतः ठीक भी लगती है, पर भक्तिका इतिहास, उसका रहस्य आदि जानकर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि भक्तोंके वैयक्तिक अनन्य भगवत्प्रेम और सामाजिक नैराश्यसे कोई सम्बन्ध नहीं । नारद, शाण्डिल्य, व्यास, शुक, सनकादि ऋषियोंकी प्राचीनता सामान्य भी मान ली जाय तो भी यह निर्विवाद होगा कि इनकी भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ यवनोंके आनेके बहुत पहले हो चुकी थीं । तात्पर्य यह कि इन महात्माओंके समक्ष पराधीनता-जनित आशाभंग न था । इन सभी भक्तोंने प्ररमात्माके प्रति परम प्रेम करनेको ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वस्व ठहराया है । भक्ति स्वयं परम पुरुषार्थ है, जिस महात्माको इसकी प्राप्तिकी आकांक्षा हुई वही इस पथपर आरुढ़ होकर नाना प्रकारसे अपना प्रेम दृढ़ करने लगा । भगवत्प्रेमका किसी कालविशेषकी राजनीति आदिके पचड़ेसे कोई सरोकार नहीं । यदि नैराश्यके कारण ही भक्तिका उदय होता है तो वह विशुद्ध भक्ति नहीं कही जा सकती, अस्तु ।

भक्तिरस

प्रस्तुत पतिच्छेदमें प्राचीन परम्परागत भक्तिका सम्यक् प्रकारसे निर्देश करके उसके विविध अवयवोंके प्रतिमानसे तुलसीकी भक्तिकी परीक्षा करके उसका शत-प्रतिशत शास्त्रीय स्वरूप दिखानेका प्रयास यहीं समाप्त किया जाता है । गोस्वामीजीकी प्रधान रचनाएँ भक्तिरससे ओत-प्रोत हैं । भगवान् रसमय हैं ही । और उसी रसमें परमानन्द है । श्रुति कहती है—'रसो वै सः ।' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'; 'गीता' कहती है—'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।' हमारे भक्तशिरोमणि तुलसीदास स्वयं अनुभव करते हैं—'भाववस्य भगवान् सुखनिधान करुणाअयन ।'

नवम परिच्छेद

तुलसीकी उपासना-पद्धति

उपासना-विधानमें उपासक और उपास्यकी सत्ता पृथक्-पृथक् होती है। साधकसे भिन्न किसी महान् शक्तिको उपासनाका आलम्बन प्रतिष्ठित किये बिना उपासना बन ही नहीं सकती। उपासना शब्द ही उपासक और उपास्यकी पृथक्ताका द्योतक है। 'उप' अर्थात् सन्निकट, 'आसना'—वैठना भी प्रकट करता है कि उपासक और उपास्य दो पक्ष हैं। उपास्यकी सामीप्य-प्राप्ति ही उपासकका परम लक्ष्य है। इसके लिए अपेक्षित साधन क्या है। मनके द्वारा साधक अपना साध्य क्योंकर प्राप्त कर सकता है, इस ओर संकेत करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

‘तुलसी जप तप नेम व्रत सब सब ही ते होइ।

लहै बड़ाई देवता इष्टदेव जब होइ॥’

नाना प्रकारके व्रत, नियम, जप, तप आदिके अनुष्ठानके द्वारा उपासक किसी देवको अपना उपास्य बना सकता है, पर उपासक वास्तविक महत्त्व तभी पा सकता है जब अपने उपास्यको अपना इष्टदेव बना लेता है अर्थात् उपास्य जब उसके मनोनुकूल हो जाता है, उसका परम प्रिय हो जानेके कारण रक्षककी भाँति उसपर अपनी छत्रच्छाया रखता है।

इष्टदेवका स्वरूप

तुलसीने जिन रामको अपना उपास्य बनाया वे वस्तुतः इष्टदेव हैं। उनका स्वरूप कैसा है, सर्व-प्रथम, इस निर्देशकी अधिक आवश्यकता है। रामका स्वरूप हृदयंगम करानेके लिए तुलसीने अन्य बड़े-बड़े देवोंसे रामका अन्तर कई प्रसंगोंमें मार्मिकतासे दर्शाया है। अन्य देव प्रसन्न होनेपर वरदान तो अवश्य देते हैं, पर स्वीकृतिपर वे उपासकका घर उजाड़नेमें भी नहीं सकुचाते, क्योंकि वे अपने अनुग्रह की लाज नहीं रखते। इसके विपरीत राम एकरस हैं। सिद्ध, योगी, मुनीश अथवा वेद, पुराण आदिके द्वारा प्रतिष्ठित कितने ही देव पूजा लेते हैं और हानि-लाभका ध्यान रखते हुए आराधकको ऐश्वर्य आदि प्रदान करते हैं, पर रामकी निराली ही रीति है, वे केवल पूजा पाकर प्रत्युपकार करना ही नहीं जानते, अपितु एक बार धोखेसे भी स्मरण करनेवालेके घोरातिघोर अध-समूहका निर्दहन कर देते हैं, यही नहीं, स्मरणकर्ताकी अधराशिकी ओरसे तो आँख बन्द किये रहते हैं और उसके रेणुवत् गुणपर भी रीझते हैं^१। सेवासे प्रसन्न होकर ऐश्वर्य देना तो व्यावहारिक नीति है; रामकी रीति बड़ी ही विलक्षण है; उन्हें एकमात्र अति दीन-हीन ही प्रिय होता है। अन्य देवोंकी भाँति वे केवल स्वार्थके भिन्न नहीं, प्रत्युत वे अत्यन्त सन्तप्त और त्रस्तको ही अपनानेवाले हैं^२। राम शरणागतकी रक्षा करनेमें तो अतुलनीय हैं, उनके अतिरिक्त अन्य किसी देवकी ऐसी प्रकृति नहीं होती कि वह अकारण ही 'प्रणत'पर प्रीति करे—उसके रेणुतुल्य गुणको मेरु मान ले और मेरुसे बढ़कर अवगुण भूल जाय, राम 'परम कृपाल' हैं, 'भक्त-चिन्तामणि' हैं, 'पतित जनतारन' हैं^३। अन्य देव स्वार्थी होते हुए भी 'अनीस' 'अलायक' और 'निटुर' होते हैं, उनमें विपत्ति-

१. 'दोहावली', दो० ३२१। २. 'विनय', पद २४९। ३. 'विनय०', पद २३६। ४. 'विनय०', पद २१६। ५. वही, २०६।

विनाशन और भवतारणकी सामर्थ्य नहीं होती—राग इसके विलुप्त विपरीत है^१। अन्य देव 'वलि-पूजा' के भूये होते हैं; पर राम केवल प्रीति चाहते हैं; वे सुमिरनसे ही भला मानते हैं; उनकी 'रीति' पावन है; समस्त मुग्धोंको देना और दुःखोंका निवारण करना ही उनका वाना है; वे आरत-जन-बन्धु तो हैं ही, माध ही अवगुण त्यागकर गुणकी ही ओर देखनेवाले 'करुणामित्यु' भी हैं^२। रघुवीरके समान दीन-जनकी पीर समझनेवाला अन्य मुर, नर, मुनि कोई नहीं^३।

रामकी इन विशेषताओंको गोस्वामीजी भले प्रकार मनमें गुनते हैं—

‘आलसी-अभागी-अवी-आरत-अनाथपाल,
साहेब समर्थ एक नीके मन गुनी मैं।

दोष-दुःख-दरिद्र दलैया दीनबन्धु राम,
‘तुलसी’ न दूसरो दया-निधान दुनी मैं॥’

कोमलपाल राम अन्यान्य पालकोंसे क्या निरालापन रखते हैं, यह भी देखिये—

‘भूमिपाल, व्यालपाल, नाकपाल, लोकपाल,
कारन-कृपाल, मैं सबैके जी की थाह ली।

कादरको आदर काहूके नाहिं देखियत,
सबनि सोहात है सेवा-सुजानि टाहली।

‘तुलसी’ सुभाय कहै नाहीं कछु पच्छपाल,
कौन ईस किए कीस भालु खास माहली।

राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत;
मोसे दीन दूसरे कुपूत क्रूर काहली॥’

राममें अन्य देवोंकी-सी वह क्षुद्रता नहीं है जिसके कारण वे उपासककी बहुत बढ़ती देखकर क्षुब्ध हों^४। रामके समान ‘प्रेम कनौड़ा’ तो त्रिभुवन और तीन कालमें कोई नहीं^५। सेवककी सेवकाईके वशमें होकर वे स्वयं ऋणी बन जाते हैं और सेवकको धनी मानकर उसका ऋण चुकानेके लिए इकरारनामा लिखनेमें भी नहीं सकुचाते^६। सर्वस्व देकर भी भक्तका ‘रिनिया’ बना रहनेवाला^७, सच्चा ‘सनेही’ और प्रेम-कनौड़ा कोसलपालसे बढ़कर और कोई नहीं^८। हनुमान् सदृश सेवककी सच्ची सेवाके वशवर्ती हो राम स्वयं सेवकके हाथ विक जाते हैं^९।

रामकी सहज शरणागत-वत्सलता और उनकी दासप्रियता कैसी है, इसे गोस्वामीजी रामके श्रीमुख द्वारा यों दर्शाते हैं—

‘सब विधि हीन, दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाउँ।

आयो सरन भजौ, न तजौ तेहि, यह जानत ऋषि राउ॥

जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित, नाहिन और उपाउ।

तिन्हहि लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ॥

पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल लोक पतिआउ।

नाहिं कोउ प्रिय मोहि दास सम कपट-प्रीति बहि जाउ॥’

१. ‘वही’, १४६ २. ‘विनय०’, पद १०७ ३. ‘विनय०’, पद ७५ ४. ‘कविता०’, उत्तर छ० २१
५. ‘कविता’, उत्तर० छ० २३ ६. ‘कविता’ उत्तर० छ० ५४ ७. ‘विनय०’, पद १६४ ८. ‘विनय०’, पद १००
९. ‘दोहावली’, दो० १११। १०. ‘विनय०’, पद १२१। ‘मानस’, सुन्दर ३१.७। ११. ‘कविता०’,
उत्तर छ० १२। १२. ‘गीतावली’, सुन्दर पद ४५।

एकसे एक बढ़कर पातकी भी प्रपन्न होकर रामके सम्मुख आते ही अपने जन्म-जन्मांतरके पापोंसे मुक्त हो जाते हैं^१। यही नहीं, विश्वद्रोहकृत अघका भार भी सिरपर लादे हुए यदि कोई रामकी शरणमें आता है तो वह भी त्याज्य नहीं होता^२। परम भयानुर व्यक्ति भी रामकी शरणमें आते ही तुरन्त अभयदान पाता है^३।

रामकी यह अप्रतिम शरणागत-वत्सलता देखकर कोई पुण्यात्मा अथवा धनी आदि यह न समझे कि रामकी शरणागति केवल दीनोंके लिए ही हितकर है, दीनों और निराश्रितोंका तो वह अनन्य सम्बल है ही, साथ ही मोटे धनी-मानीकी भी राम सुनते हैं। उसका भी परम कल्याण करते हैं। इसीसे गोस्वामी जी कहते हैं—

‘गए राम सरन सबको भलो ।

गनी-गरीब, बड़ो-छोटो, बुध-मूढ़, हीन—बल अति—बलो

पंगु-अंध, निरगुनी-निसंबल, जो न लहै जाँचे जलो ।

.....^४

रामकी शरणागत-वत्सलताके प्रमाण स्वरूप ‘दोहावली’^५, ‘गीतावली’^६, ‘कवितावली’^७, ‘विनय-पत्रिका’^८, और ‘मानस’^९में अनेकानेक उदाहरण वर्तमान हैं।

राम अपने प्रणतपर गम्भीर प्रेम रखते हैं, इसकी घोषणा परम भक्त हर और हनुमान् दोनोंने की है^{१०} और स्वयं रामने भी इसे स्वीकार किया है—

‘सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम-प्रान-प्रिय’^{११} ।

सेवकपर ऐसी ही प्रीति रखनेके कारण राम अपने दासको अबोध शिशु जानकर माताकी भाँति स्वयं उसकी रक्षाके लिए साथ लगे रहते हैं^{१२}।

राम यद्यपि समदर्शी हैं, तथापि दासपर अनन्य प्रीति रखते हैं^{१३}। सेवक रामकी ममता एवं प्रीति उभयका पात्र होता है^{१४}। जनसे राम किसी प्रकारका दुराव भी नहीं रखते^{१५}। अपने अन्तःकरणकी असीम करुणा और क्षमाके कारण राम अपने व्यक्तिगत विरोधीको तो छोड़ देते हैं पर भक्त-विरोधीको वे अपनी क्रोधाग्निमें भस्म कर डालते हैं^{१६}। भक्तकी आर्त पुकारपर वे कहाँ नहीं पहुँचते^{१७}? महान्से महान् संकट या दुर्घटनाकी उपस्थितिमें, जहाँ कोई भी रक्षक नहीं रहता वहाँ भी राम भक्तकी रक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं^{१८}। रामका एकमात्र प्रण है—

‘प्रन हमार सेवक हितकारी’^{१९} ।

रामकी परमोदारता भी अकथनीय है। यह उसीका फल है कि वे बिना सेवाके द्रवीभूत हो जाते हैं; नाना प्रकारके योगादि साधनके सम्पादन द्वारा बड़े-बड़े मुनि और ज्ञानिजन जो पद नहीं पाते वह

१. ‘मानस’, सुन्दर० ४३. १, २। २. ‘मानस’, सुन्दर० ३८. ७। ३. वही, ४७. २। ४. ‘गीता०’, सुन्दर० पद ४२। ५. दो० ‘दोहावली’, दो० १५७, १६०। ६. ‘गीतावली’, सुन्दर० पद ३९, ४०, ४३। ७. ‘कविता०’, लं० छ० ५३; उत्तर० ५, ६, १३। ८. ‘विनय०’, पद २०६, १६६। ९. ‘मानस’ पृ० ३१६; ३५४, ३६३ आदि। १०. ‘मानस’, लं० २. ६, सुन्दर० ६. ६। ११. वही, उ० ८७। १२. वही, अरण्य० ४२. ५। १३. ‘मानस’, किष्कि० २. ८। १४. ‘मानस’, अरण्य० ४४. २। १५. वही, अरण्य० ४१. ३। १६. ‘मानस’, अयो० २१६. ५, ६; ‘कविता०’, उ० छ० ३। १७. ‘कविता०’ उ० छ० ८। १८. ‘कविता०’ उ० छ० ५३। १९. ‘मानस’, बाल० पृ० ६४।

परमोदार रामने शवरी और गृद्धको दिया; यही नहीं, जो विपुल वैभव रावणने घोरातिघोर तपका अनुष्ठान करके शिवकी कृपासे प्राप्त किया, वही अतुलनीय ऐश्वर्य सकुचाते हुए रामने विभीषणको दे डाला^१। रामकी यह परमोदारता नहीं तो क्या है कि उन्होंने अहल्याका भी उद्धार किया; नीच निषादको सखा बनाकर उसे लोक और परलोक दोनोंमें पुनीत कीर्ति दी; बन्दर-भालूको भी अपनाया; रावणसे त्रस्त विभीषणको शरणमें आया देखकर उसे भूप बनाकर अपना 'करुणानिधि', 'अनाथ-नाथ' नाम सार्थक किया^२। रामकी इस उदारताका संकेत प्रायः सभी पात्रोंके द्वारा कराया गया है।

परम औदार्यके कारण राम कोमलता, कारुण्य, कृपा, दया, दाक्षिण्य, क्षमा, परोपकार आदि विशिष्ट गुणोंके भी आकर हैं। वैरी निशाचरोंको भी परम पद देना रामके हृदयकी अनन्त विशालताका परिचायक है। परम भक्त शिव रामके हृदयकी यह विशेषता स्वयं बताते हैं—

‘खल मनुजाद द्विजामिष भोगी । पावहिं गति जो जाचत जोगी ॥

उमा राम चित मृदु करुनाकर ।’..... ॥

अस कृपालु को कहहु भवानी^३ ।’

‘राम-प्रेम-मूर्ति’ भरत भी यह बात बताते हैं—‘अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा^४ ।’ रामके हृदयकी विशालताकी यह पराकाष्ठा है कि उनके क्रोधका पात्र भी अनायास ही परमपद प्राप्त करता है^५। रामका चित्त फूलसे बढ़कर कोमल और वज्रसे बढ़कर कठोर भी है^६। रामकी दयालुतासे अवधवासी भी गूबू परिचित थे, इसीसे उनके लंकासे प्रत्यागमनका समाचार सुनते ही वे परस्पर ‘तुम्ह देखे दयालु रघुराई’ कहकर ही दौड़ते हैं^७। रामकी निकटतम चरणानुरागिनी सीताने भी हनुमान्जीसे अपना सन्देश भेजते समय रामको उनके कोमल चित्त और दयालुताकी ही याद दिलायी थी^८। गोस्वामीजी प्रायः अपनी सभी रचनाओंमें रामकी दयालुता एवं हृदयकी कोमलता आदिका बार-बार संकेत करते हैं। रामकी परोपकारिणी प्रकृति उन्हांतक सीमित नहीं है, अपने भक्तोंको भी वे परोपकारी बनाते हैं^९। रामका दाक्षिण्य भी लोकोत्तर है। इसीसे उनका स्वभाव उनके शत्रुके अनुकूल भी पड़नेवाला है, औरोंकी तो बात ही क्या। ऐसा कोई भी पात्र नहीं मिलेगा जिसका मन राममें न रखा हो।

‘दानि-शिरोमणि राम’की बेजोड़ दानशीलता भी वर्णनातीत है। रामसे जो एक बार भी याचना करता है वह सदैवके लिए अयाचक हो जाता है, उसे फिर याचकतावश कभी नाचना नहीं पड़ता। सुर, असुर, नर, मुनिमें ऐसा कोई नहीं जो बिना कुछ पाये ही देता हो, पर राम तो कल्पवृक्ष हैं^{१०}। सुर-असुर, नर-नागमें ऐसा कौन है जो ‘दशरथके दानिसिरोमनी राम’के पास जाकर अपना मनोवांछित फल न पा सका हो^{११}।

सीतापति रामका सरल शील भी अपरिमित है। ऊपर दिखाये गये विविध गुणोंके जैसे राम आगार हैं वैसे ही शील, संकोच आदिके भी पारावार हैं। रामके शीलपर मुग्ध होकर अत्रि कहते हैं—‘जेहि समान अतिशय नहिं कोई। ताकर शील कस न अस होई^{१२} ॥’ रामके समान शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला दूसरा कोई नहीं^{१३}। रामके शीलके विषयमें गोस्वामीजी कहते हैं—

१. ‘विनय’, पद १६२; ‘दोहावली’, दो० १६१, १६२। २. ‘कविता’० उत्तर० छ० १० ‘मानस’, सुन्दर० ४९। ३. ‘मानस’, लं० पृ० ३९४। ४. ‘मानस’, अयो० पृ० २४१। ५. वही, अरण्य० २५. ११। ६. ‘वही’, उत्तर० १९। ७. वही, उत्तर० २.८। ८. वही, सुन्दर १३.४। ९. वही, उ० ४६.५। १०. ‘विनय’०, पद १६३। ११. ‘कविता’०, उत्तर छ० ३८। १२. ‘मानस’, अरण्य० ५.८। १३. ‘मानस’, अयो० २३.४।

‘प्रभु तरु तरु कवि डार पर, ते किय आपु समान ।
तुलसी कहूँ न राम को साहिब सील-निधान’ ॥’

रामके शील-मंकोच आदिके निषयमे भरतजी क्या कहते हैं, यह देखिये—

‘सील सखुच सुठि सरल सुभाऊ । कृपा-सनेह-सदन-रघुराऊ’ ॥

×

×

×

‘सरल सुसाहिब सील निधानू । प्रनतपाल सर्वज्ञ सुजानू’ ॥’

मरणासन महागज दशरथ भी अपनी अन्तिम घड़ियोंमें रामके गुण, रूप और शीलका ही चिन्तन करते हैं। स्वभावसे ही मृदु होनेवाले परशुराम भी अन्तमें रामके शीलपर सुख होकर उन्हें ‘विनय-सील-करुणागुन-सागर, जयति वचन रचना अति नागर’ कहकर स्तुति करते हैं। वस्तुतः रामका शील-स्वभाव मनको उत्कृष्ट करनेवाला, तनको रोमाञ्चित करनेवाला और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित करनेवाला है। यदि कोई सीतापतिके ऐसे शील-स्वभावने अप्रभावित ही रहता है तो निश्चय ही वह धूल फाँकनेवाला है।

रामकी धर्मपरायणता और सत्यनिष्ठा भी मननीय है। यद्यपि रामकी ही आज्ञा ‘अहिंसा महिप जहँ लगि प्रभुताई’ सभीके गिराकर वर्तमान है, तथापि संसारके मंगलके हेतु वे स्वयं पक्के धर्मधुरंधर, ‘श्रुति-सेतु-पालक’ और ‘सत्य सन्ध’ हैं। नीति-प्रीति, परमार्थ, स्वार्थक यथार्थ मर्मको रामसे बढ़कर समझनेवाला और कोई नहीं। राम सर्वज्ञ, सुजान, धर्म-नीतिगुण-ज्ञान-निधान हैं। वे ‘वेद बोधित कर्म-धर्म-धरनी-धेनु विप्र सेवक-साधुमोदकारी’ हैं। अस्तु।

रामके सद्गुणों और उदात्त वृत्तियोंका जो प्रतिभास ऊपरके संक्षिप्त विवरणसे मिलता है उसके आधारपर हमें उनके आभ्यन्तरिक स्वरूपकी एक मनोहारिणी झलकी मिल जाती है। इसे पाते ही हमारा हृदय कचोटने लगता है कि जिन राममें इन दिव्य गुणोंकी अभिराम ज्योति प्रस्फुटित होती है उनका बाह्य रूप कैसा है। हमारी आँखें उनकी विग्रहमधुरिमाका पान करनेके लिए तरसने लगती हैं। आगे इसी अमृत तृप्ताको तृप्त करनेका प्रयासमात्र किया जाता है।

रामका सौन्दर्य कल्पनातीत है। यह वह अतीन्द्रिय जगत्की सुपमा है जिसपर सामान्य जीवधारी-मात्रका आसक्त होना तो साधारण बात है जब कि परम विरागी ब्रह्मज्ञानी अपने ब्रह्मचिन्तनके अपार आनन्दको ठुकराकर भी उस रूपकी स्तुति करते हैं। देखिये—

‘इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा ।

वरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा’ ॥’

प्रत्यक्ष क्या यदि स्वप्नमें भी किसीने वह रूप देखा है तो वह उसकी अनुभूति पा सकता है। रामके प्रत्येक अंगकी सुपमा अप्रतिम है, भक्तजन-सुखदायी है, उनके शरीरकी छविपर करोड़ों काम निखावर है। रामके उस मनोरम स्वरूपकी, जिसे शिव और काकभुशुण्डि सहस्र परम भक्त अपने हृदयमें प्रतिष्ठित किये रहते हैं और जिनके लिए मुनि यत्न किया करते हैं, एक झलक देखिये—

१. ‘मानस’, बाल० २९. ‘दोहावली’, दो० ५०। २. वही, अयो० १८१.५। ३. ‘वही अयो० २९६.२। ४. ‘मानस’, अयो० १४७.६। ५. वही, बाल० २८४.३। ६. ‘विनय०’, पद १००। ७. ‘मानस’, अयो० २५२.२.३। ८. ‘मानस’, अयो० २५२.५। ९. ‘मानस’, अयो० २५५.८। १०. ‘विनय०’, पद ४३। ११. ‘मानस’, बा० पृ० १०२। १२. ‘मानस’, बाल० १९८.१२। १३. वही, बाल० २८४.३।

नील सरोरुह नील रनि, नील-वीरधर स्याम ।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम ॥

सरद-चयंक-वदन-छवि सींवा । चारु कपोल बिबुध वर प्रीवा ॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा । बिधुकर-निकर-विनिंदक हासा ॥
नख-अंबुज अंबक-छवि नीकी । चितरनि ललित भावती जी की ॥
भृकुटि मनोज-चाप-छवि-हारी । तिलक ललाट पटल दुतिकारी ॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा । कुटिल केश जनु मधुप समाजा ॥
उर श्रीवत्स रुचिर बरमाला । पद्मि हार भूपनि मनिजाला ॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषण सुंदर तेऊ ॥
करि-कर-सरिस सुभग भुज दंडा । कटि निर्षंग कर सर कोदंडा ॥

तड़ित विनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन-भँवर-छवि छीनि ॥

पदराजीव वरनि नहिं जाहीं ।
मुनि-मन-मधुप वसहिं जिन्ह माहीं ॥'

रामके वर्णनार्थी सौन्दर्यपर प्रकृतितः सौन्दर्यप्रेमी नर-नारियोंका वश होना तो साधारण बात है, जब कि पशु-पक्षी भी उसे देखकर आनन्दित होते हैं। यही नहीं, जलचर भी प्रकट होकर रामको देखते हैं और दर्शनके आनन्दातिरेकमें वे निश्चलसे हो जाते हैं^१। रामके अपरिमित सौन्दर्यका प्रभाव उनके सेवक सुर, नर, मुनि, चर, अचरपर पड़ना तो स्वाभाविक ही है, इसके अतिरिक्त इस शोभाके समक्ष शत्रु निशा-चर भी आकर मोहित हो जाते हैं और अपना आयुध चलाना भी भूल जाते हैं^२।

रामने जो अपार सौन्दर्यमय शरीर धारण कर संसारको प्रकाशित किया है उसमें बालक राम, अरण्य-विहारी राम तथा सिंहासनस्थ राजा रामके मनमोहक रूपके सभी दृश्य अभेद रूपसे वर्तमान हैं। गोस्वामीजीने रामके इन सभी रूपोंकी कमनीयतापर करोड़ों कामदेवोंकी दृष्टिको लज्जित होते दिखाया है।

रामके बालकरूपकी परम आह्लाकारिणी शौकी जिनमें उनके नाना भक्त निरन्तर डूबे रहते हैं, भक्त भृगुण्डिके साथ देखिये—

इष्टदेव मम बालक रामा । सोभा बपुष कोटि-सत-कामा ॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी । लोचन सफल करउँ उरगारी ॥

...

...

...

बाल विनोद करत रघुराई । विचरत अजिर जननि-सुखदाई ॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा । अंग अंग प्रति छवि बहु कामा ॥
नव-राजीव-अरुन मृदु चरना । पद्म रुचिर नख ससि-दुति हरना ॥
ललित अंक कुलसादिक चारी । नूपुर चारु मधुर-रव कारी ॥
चारु पुरट-मनि रचित बनाई । कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई ॥

१. 'मानस', बाल० पृ० ७१ । २. 'मानस', अयो० १३६. २ । ३. वही, लं० ३३—५ । ४. वही, अरण्य० १८.१ ।

रेखा त्रय सुंदर उदर नाभि रुचिर गंभीर ।
 उर आयत भ्राजत विविध बाल बिभूषण चीर ।
 अरुन पानि नख करज मनोहर । बाहु बिसाल बिभूषण सुंदर ॥

पीत झीनि झिगुली तन सोही । किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
 रूप-रासि नृप-अजिर-विहारी । नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी ॥'

बालक रामके अनुपमेय सौन्दर्यके प्रकाशक ऐसे अनेक स्थल 'गीतावली', 'कवितावली' और 'मानस' में वर्तमान हैं, रघुपतिके अनेकानेक भक्तगण इसी बालकरूपपर तृण तोड़ते हैं, ध्यान-मग्न रहते शिवजी भी इसी बालकरूपर मुग्ध होकर इसीकी वन्दना करते हैं—

‘बंदउ बाल रूप सोइ रामू ।
 सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥’

विपिन-विहारी रामके अगाध लावण्यकी छहरान भी देखिये—

‘सुभग सरासन सायक जोरे ।
 खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मृदुमूरति मन मोरे ॥
 पीत बसन कटि चारु चारिसर, चलत कोटि नट सो तृन तोरे ॥
 स्यामल तनु स्रम-कन राजत, ज्यों नव घन सुधा-सरोवर खोरे ॥
 ललित कंध, बर भुज, बिसाल उर, लेहि कंठ-रेखैं चितचोरे ।
 अवलोकत मुख देत परम सुख, लेत सरद ससिकी छवि छोरे ॥
 जटा मुकुट सिर, सारस-नयननि गौहैं तक्त सुभौह सकोरे ।
 सोभा अमित समाति न कानन, उमगि चली चहुँदिसि मिति फोरे ॥
 चितवत चकित कुरंग-कुरंगिनि सब भए मगन मदनके भोरे ।
 तुलसीदास प्रभु बान न मोचत सहज सुभाय प्रेम बस थोरे ॥’

कहना न होगा कि गोस्वामीजीको ‘राघवकी विपिन बीथिन्हकी धावनि’ अतिशय प्रिय थीं। इसी हेतु इस स्वरूपकी अमित शोभाका एकसे एक बदकर वर्णन किया है। रामोपासकोंमें अधिकांश भक्तगण भगवान्‌के इस विपिन-विहारी कर-शरधारी रूपका ही ध्यान करते हैं। सिंहासनस्थ राजारामकी अपार छवि-की झलक देखिये—

भरतादि अनुज बिभीषणांगद हनुमदादि समेत ते ।
 गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति विराजते ॥
 श्रीसहित दिनकर-बंस-भूषण काम बहु छवि सोहई ।
 नव-अंबु-धर-बर-गात अंबर पीत सुर मन मोहई ॥

१. ‘मानस’, उत्तर० पृ० ४७६, ७७ । २. दे० ‘गीतावली’, बा० छ० २०, २२, २४, २५, २९, ३० । ३. ‘कविता०’, बा० छ० १-७ । ४. ‘कविता०’, बा० छ० १-७ । ५. ‘मानस’, बाल० पृ० ९४, ९६ । ६. ‘मानस’, बाल० पृ० ५७ । ७. ‘गीतावली’, अरण्य० छ० २ । ८. ‘गीतावली’ अरण्य० पद ५-८. दे० वही, अरण्य० पद १, ४; ‘कविता०’, अथो० छ० २१, २६, २७; ‘मानस’, अरण्य० १०, ८, ४, ३, ६; लंका० ११२. २. उत्तर० १३; ५. २९. ४; ‘विनय०’, पद ४५ इत्यादि ।

मुकुटांगदादि विचित्र भूषण अंग अंगनिह प्रति सजे ।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे ॥'

इस अपार शोभाका वर्णन शेष श्रुति शारदा भी नहीं कर सकते। इसका विशेष रसास्वादन करनेवाले हैं—भगवान् शंकर^१। 'भूपमौलिमणि', 'राजराजेन्द्र राजीवलोचन' रामकी इस शोभाका विशद प्रकाशन 'गीतावली'के उत्तरकाण्डके अनेकानेक पदोंमें हुआ है। उनमें राजा रामके अंगप्रत्यंगकी अमित सुषमा दर्शायी गयी है।^२ रामके इस स्वरूपकी ज्योतिसे भी उनके भक्तोंका हृदय निरन्तर ज्योतिष्मान् रहता है।

रामके अनेकानेक सद्गुणों और उनकी अपार छविकी ओर संकेत करनेके अनन्तर उनके लोकोत्तर महान् सामर्थ्यपर भी दृष्टिपात करना चाहिये। राम अपरिमेय सामर्थ्यवान् हैं तभी तो रजको मेरु मेरुको रज बनानेकी क्षमता रखते हैं। राम जैसे शील-चातुर्य आदिमें अनुपमेय हैं वैसे ही सामर्थ्यमें भी—

‘स्वामि सुशील समर्थ सुजान सो तोसों तुहीं दशरथ दुलारे ।’

राममें वह शक्ति है कि यदि वे अकेले ही रणभूमिमें अचल हो जायें तो सारे सुर और असुर एक होकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते^३। ओरोंकी तो बात ही क्या, ब्रह्मा और रुद्र भी रामके शत्रुको नहीं बचा सकते^४। राममें वह सामर्थ्य है कि उनके 'भृकुटी-विलास' मात्रसे संसारकी स्थिति और प्रलय दोनों होते हैं। राम तृणको वज्र और वज्रको तृणरूपमें परिणत करते हैं^५। रामके रोषसे सैकड़ों त्रिदेव (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) भी किसीका परित्राण नहीं कर सकते^६। रामकी क्रोधाग्निमें चौदहों भुवन शीघ्र ही भस्म हो सकते हैं। तभी तो शिवजी कहते हैं—

‘सुन गिरिजा क्रोधानल जासू । जारइ भुवन चारि दस आसू ॥

सक संग्राम जीतिको ताही । सेवहि सुर-नर-अग-जग जाही ॥’

रामके धनुष्-संधान मात्रसे समुद्र भी त्रस्त होकर कम्पायमान हो उठता है^७। अपने एक बाणसे सैकड़ों समुद्रोंके शोषणकी शक्ति राममें है^८। राम जिस समय बाण फेरने लगते हैं उस समय 'ब्रह्माण्ड-दिग्गज-कमठ-अहि-महि'का डोलना तो सामान्य बात है^९। ऐसा है अपरिमित रामका सामर्थ्य।

इस प्रकार रामकी चरितगत कुछ विशेषताओंका उद्घाटन किया गया; पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि राममें इतने गुण या इतनी ही चारित्रिक विशेषताएँ हैं। रामके गुण और उनके चरितके विषयमें शिवजी क्या कहते हैं—

‘राम चरित सत कोटि अपारा । सुति सारदा न बरनइ पारा ॥

राम अनंत अनंत गुनानी । जनम करम अनंत नामानी^{१०} ॥’

भक्त शिरोमणि भरतने भी रामके गुणोंके विषयमें अपना ऐसा ही विचार प्रकट किया है^{११}।

राम और रामकथा दोनों ही अनन्त हैं और उन्हें साधु-महात्मा अपनी मतिके अनुसार गाया करते

१. 'मानस', उत्तर० पृ० ४४८। २. 'मानस', उत्तर० १२। ३. दे० 'गीता०', उत्तर० पद ३, ४, ५, ६, ७, १६, १७, २१। ४. 'कविता०', उत्तर० छ० १२। ५. 'मानस', अयो० १८७.७। ६. 'मानस', लं० २६.२। ७. वही, लं० ३४.७, ८। ८. 'कविता०' लं० १२। ९. 'मानस', सुन्दर० ५७.६। १०. 'मानस', सुन्दर० ५५.२। ११. वही, लं० ८६। १२. वही उत्तर० पृ० ४६६। १३. वही अयो० पृ० २४७।



हैं: वस्तुतः रामकथाका सम्यक् गान तो कोटि कल्पपर्यन्त भी असम्भव है^१। राम और रामके गुणोंकी अनन्तताकी अनुभूति कर लेनेपर किसे मोह हो सकता है कि राम मनुज हैं। रामको मनुज कहने या समझनेवालोंकी तो जवान कटकर गिर जानी चाहिये। गोस्वामीजीका विचार है कि एकमात्र अधम, मोह-ग्रस्त, पाखण्डी, सत्यको न जाननेवाला, अज्ञानी, विपद्दी, पापी, साधु-सन्तके सत्संगसे पराङ्मुख ही रामको केवल मनुष्य मान सकता है^२। वस्तुतः राम एकमात्र नृपति ही नहीं, उन्हें तो 'अग-जग-नाथ अतुल बल'^३ जानना चाहिये। जिनकी सेवामें शिव, ब्रह्मा, सुर, रुनि आदि सभी तत्पर रहते हैं वे ही राम हैं। शारदा, शेष, महेश, विधि, आगम, निगम, पुराण आदि नेति-नेति कहकर जिनका निरन्तर गुणानुवाद करते हैं जो एक, अनीह, अनाम, अज, सच्चिदानन्द, परमधाम और संसारमें व्याप्त भगवान् हैं, वही रामरूप धारण कर नाना प्रकारके चरित करनेवाला भी है^४। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाशरथि राम और संसारमें व्याप्त, विभु, महाविष्णु या परात्पर ब्रह्मका तादात्म्य है। यही नहीं, गोस्वामीजीकी रचनाओंसे यह भी प्रमाणित होता है कि विष्णु और उनके विविध अवतार और साथ ही शिवका तादात्म्य भी रामसे है।

मनु-शतरूपाका अपार तप देखकर त्रिवेद (विधि-हरि-हर) उनके समीप बार-बार आये और नाना प्रकारके वरदान देनेको उत्सुक हुए, पर दम्पतीका मन चलायमान न हुआ, क्योंकि उन्हें त्रिदेवोंका वरदान अभीष्ट न था, उन्हें तो त्रिदेवोंके भी नियामक सर्वज्ञ प्रभुको प्रकट करनेकी अभिलाषा थी^५। यही सर्वज्ञ प्रभु महाविष्णु या परमात्मा ब्रह्म है। इसका ही परमार्थवादी अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि रूपसे चिन्तन करते हैं, वेद भी इसके ही निरूपाधि सच्चिदानन्द रूपका नेति नेति कहकर गान करते हैं। इसीके अंशसे नाना त्रिदेवोंकी उत्पत्ति होती है, यही प्रभु भक्तोंके हेतु विग्रह भी धारण करता है^६। संसाररूप प्रेक्षणका जो द्रष्टा और त्रिदेवोंका प्रेरक है वही राम है^७। रघुकुलमणि श्रीराम और सच्चिदानन्द, परावर-नाथ, परेश, पुराण, व्यापक ब्रह्ममें उसी प्रकार कोई भेद नहीं है जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपलमें कोई भेद नहीं^८। जिस अनादि अनन्त ब्रह्मकी महिमाके गानमें असमर्थ होकर वेद केवल अनुमानके सहारे सब भौतिक अलौकिक करनीवाला घोषित करता है वही भक्त-हितकारी कोसलपति राम है^९। रामके इसी रूपकी ओर संकेत करते हुए परम भक्त लक्ष्मण कहते हैं—

‘राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल विकार रहित गतभेदा । कहि नित नेति निरूपहि वेदा’ ॥’

परम ज्ञानी जनकका भी यही मत है^{१०}। गोस्वामीजी स्वयं भी ‘नित्य निर्मुक्त संयुक्तगुण निर्गुनानन्त भगवन्त नियामक नियन्ता । विश्व-पोषण-भरण विश्व-कारण-करण’^{११} रामकी शरण-याचना करते हैं। इन प्रसंगोंसे स्पष्ट है कि दाशरथि राम और परात्पर ब्रह्ममें कोई भेद नहीं। इस विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि राम ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी विश्व-कारण-करण और पोषण-भरणकर्ता ही हैं, संहार-कर्ता नहीं। यद्यपि संहार भी उन्हींकी इच्छाका परिणाम है, पर संहार उनकी विशेषता नहीं, तभी तो गोस्वामीजी-

१. वही, बाल० १३९. ५, ६ । २. ‘मानस’, लं० ३२. ८ । ३. ‘मानस’, बाल० ११४. १-८ । ४. वही, लं० पृ० ३९० । ५. वही, बाल० १२. ३, ४ । ६. वही, बाल० १४४. २, ५ । ७. वही, बाल० १४३. ४-७ । ८. वही, अयो० १२५. १ । ९. वही, बाल० ११६ । १०. ‘मानस’, बाल० ११८. ११. ‘मानस’, अयो० पृ० २०६ । १२. वही, बाल० ३४०. ६—८ । १३. ‘विनय०’, पद ५५ ।

ने ब्रह्म रामको संहार-कर्ता नहीं बताया है। ब्रह्माण्ड आदि उसी परम पुरुष रामके अंग हैं। वही रघुवंशमणि विश्वरूप भी है। भक्तपर प्रसन्न होकर वे उसे अपना विराट् स्वरूप भी दिग्वा देते हैं—

‘देखराश मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।

रोम रोम प्रति लागेउ कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ॥’

इसी प्रकार भक्त काक भुशुण्डीपरं परम प्रसन्न होकर रामने अपने विराट् स्वरूपका दर्शन कराया। ब्रह्मके वैराध्य (विराट्त्व)के अतिरिक्त उसका अमित ऐश्वर्य, अमित प्रकाश, अमित व्यापकता, अमित शक्ति आदि सभी राममें वर्तमान हैं। फिर राम और ब्रह्ममें भेद कैसा? रामको ब्रह्मसे अभिन्न प्रकट करनेवाली उक्तियाँ विशेषतया ‘मानस’, ‘विनयपत्रिका’, ‘दोहावली’में विद्यमान हैं। अन्य ग्रन्थोंमें भी कहीं कहीं इसका संकेत है।

राम और विष्णुका भी तादात्म्य है। अपार शोभा-मण्डित घनव्याम धनुषधारी लोचनाभिराम, चतुर्भुज श्रीकान्त (विष्णु)ने अपने आयुध तथा वनमाला धारण किये हुए ही सर्वप्रथम माता कौसल्याको दर्शन दिये और तदनन्तर वे ही सुरभूष राम बालक वनकर रुदन करने लगे। रामकी ‘सिन्धु-मुता प्रिय-कन्त’ एवं ‘सुकुन्द’ आदि अभिधानोंके द्वारा वन्दना की गयी है। यही नहीं, उन्हें ‘इन्दिरापति’ और ‘कमलारमण’^१ भी कहा गया है। रामके लिए ‘हरि’ शब्दका प्रयोग भी अत्यधिक हुआ है, इससे भी राम और विष्णु दोनोंका तादात्म्य प्रमाणित होता है। रामका धाम क्षीरसागर^२ और वैकुण्ठ^३ भी कहा गया है। इसी प्रकार ‘विहङ्ग-राज गामी’ या ‘गरुडगामी’ भी रामके विष्णुत्वके ही परिचायक हैं। रामके रूपसौन्दर्य-वर्णनमें उनके वक्षःस्थलपर वनमालाके अतिरिक्त ‘विप्रचरण-चिह्न’का वर्णन भी सूचित करता है कि राम और विष्णुके विग्रह अभिन्न हैं।

जब राम और विष्णुमें कोई भेद नहीं तो राम और विष्णुके विविध अवतारोंमें भेद कैसा! विष्णुके विविध अवतार भी रामके ही स्वरूप माने गये हैं—

‘दीनवन्धु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्हपर दाया।

...

...

...

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम वपु धरी ॥

जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायेउ।

नाना तनुधरि तुन्हहि नसायेउ ॥’

‘विनयपत्रिका’में भी विष्णुके दस अवतारोंको रामके ही अवतार मानकर उनकी वन्दना की गयी है^४। इसी ग्रन्थमें शम्भु, शिव, रुद्रादिको भी रामसे अभिन्न माना गया है^५।

अभीतक जो संक्षिप्त विवेचन किया गया उससे स्पष्ट है कि कौशलेन्द्र राम विष्णुके अवतार ही नहीं, अपितु अनवद्य, अखण्ड, अगोचर, सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, विश्वात्मा, परमात्मा, परात्पर ब्रह्म भी है।

-
१. ‘मानस’, बाल० पृ० ९५। २. ‘मानस’, उ० पृ० ४७८, ७९। ३. ‘मानस’, उ० पृ० ४८४। ४. ‘मानस’, उ० पृ० ३०५, ३०७, ३३३, ३४०, ३५४, ४३१, ४३२, ४४८। ५. ‘विनय०’, पद ४३, ५०, ५३, ५६। ६. ‘दोहावली’, दो० ११४, ११६, १९९। ७. ‘मानस’, बाल० १९१। ८. ‘मानस’, बाल० १८५। ९. वही, अरण्य० ३। ११। १०. ‘विनय०’ पद ५८। ११. ‘मानस’, बाल० मंगलाचरण सौरठा ३। १२. ‘मानस’, बाल० १८४। १३. ‘विनय०’ पद ५५। १४. वही, लं० १०९, ३, ७, ८। १५. ‘विनय०’, पद ५२। १६. ‘विनय०’ पद ४९।

इसी प्रसंगमें कदाचित् यह भी संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि रामका यह स्वरूप-चित्रण गोस्वामीजीके स्वेच्छाचारका फल नहीं है, प्रत्युत इस स्वरूपके निदर्शनमें भी उन्होंने अपनी प्राचीन परम्पराका अनुगमन नूतन ढंगसे किया है। अधिकांश विद्वज्जनोंकी धारणा है कि 'वाल्मीकीय रामायण'के मूल ग्रन्थमें, राम चरित-नायकके अतिरिक्त और कुछ नहीं माने गये हैं। परात्पर ब्रह्मकी बात तो दूर रही, विष्णुके अवतार भी नहीं स्वीकृत हुए हैं। निस्सन्देह 'वाल्मीकीय रामायण'के अधिकांश भागमें राम लोकोत्तर वीर नायकके ही रूपमें अंकित किये गये हैं, पर वहाँ ऐसे भी प्रसंग वर्तमान हैं जो स्पष्टतया प्रकट करते हैं कि राम विष्णुके अवतार ही नहीं, वरन् परात्पर ब्रह्म भी हैं, यथा महाकाव्यके षष्ठ खण्ड (युद्धकाण्ड)में ब्रह्मा रामसे कहते हैं—'आप ही' 'सत्चिदानन्द ब्रह्म' 'आप ही उद्भव प्रलयके कारण हैं' 'में आपका हृदय हूँ, सरस्वती आपकी जिह्वा है। मेरे निमित्त देवगण आपकी रोमावली हैं। आपकी पलकोंका बन्द होना ही रात्रि और उनका खुलना ही दिन कहलाता है। वेद आपके विचार हैं' 'आप ही परमात्मा कहलाते हैं' 'सीता लक्ष्मी और आप विष्णु हैं' ।'

यदि 'वाल्मीकीय रामायण'के ऐसे प्रसंग प्रक्षिप्त माने जायँ तो भी 'अध्यात्मरामायण' के प्रत्येक पृष्ठसे रामका विष्णुत्व और ब्रह्मत्व तो सिद्ध ही है।

अपने इष्टदेवके जिस स्वरूपपर अनुरक्त होकर उसकी भक्तिमें हमारे भक्त कविने अपनेको अर्पण कर दिया, उस स्वरूपका द्योतक यह पद प्रसंगकी समाप्तिके साथ उद्धरणीय हैं—

‘जानकी-जीवन, जगजीवन, जगतहित,
जगदीश, रघुनाथ, राजीव-लोचन राम ।
सरद-बिधु-बदन, सुख-सील, श्री-सदन,
सहज सुन्दर तनु, सोभा अगनित काम ।
जग सुपिता, सुमातु, सुगुर, सुहित सुमीत
सबको दाहिनो, दीनबंधु काहूको न वाम ।
आरति हरन, सरन सुखद, अतुलित दानि,
प्रनत पाल, कृपालु, पतित-पावन नाम ।
सकल-विश्व-बंदित, सकल-सुर-सेवित,
आगम-निगम कहैं रावरेई गुनग्राम ।
इहै जानिके तौ तुलसी तिहारो जन भयो,
न्यारोकै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम ॥’

‘विनय०’ पद ७७

उपासनाका स्वरूप

राम ऐसे अद्वितीय उपास्यकी उपासनामें प्रवृत्त होनेके लिए जैसी उपासनाकी अपेक्षा होती है वह भी जिज्ञास्य है। वस्तुतः उपासनाका मूल आधार है श्रद्धा। अतएव इसके भेदानुसार उपासनाके भेद भी किये जा सकते हैं। श्रद्धा तीन प्रकारसे कही गयी है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी^१। इसके आधारपर उपासनाके त्रिविध रूप स्पष्ट होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। इनका पारस्परिक भेद भी विचारणीय है।

१. जे० मूअर : ‘ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स’, भाग ४, पृ० १८१। २. ‘गीता’, १७:२
‘त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां...तां श्रुणु ।’

कहना न होगा कि तीनोंके उपास्यके स्वरूपमें तो अन्तर होता ही है, अर्थात् सात्त्विक उपासनाका आलम्बन महान् दैवी शक्ति-सम्पन्न उच्च देव होता है; राजस उपासनाका आलम्बन होता है—यक्षोंकी कोटिका देव; दानव और भूत-प्रेतगण आदि तामस उपासनाके आलम्बन होते हैं। सात्त्विक श्रद्धामयी होनेके कारण सात्त्विक उपासना अति उदात्त एवं स्वयं प्रकाशक होती है। उपास्यमें अनन्यासक्ति ही इसका सर्वस्व है। इस अनन्यताके अतिरिक्त उपासकको अन्य किसी प्रकारकी स्था नहीं रहती। जब उसकी आसक्ति अपनी पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तो वह समस्त विश्वको उपास्यमय देखने लगता है। फलतः वह परम शान्तिका अधिकारी हो जाता है, द्वन्द्वातीत हो जाता है। राजस उपासनामें प्रवृत्त साधकका मन कदापि विश्राम नहीं पाता। उसकी चञ्चलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उपासक नाना प्रकारकी इष्ट-सिद्धिके निमित्त उपासना करता है। उसमें आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा-प्राप्ति अथवा लोकैपणा आदि कामनाएँ बलवती रहती हैं। उसकी उपासनामें सक्रियता बड़ी तीव्र होती है। तभी तो रजोगुणका प्राबल्य इसमें अत्यधिक होता है। ऐसे साधक अमित शक्ति, वैभव, प्रभाव आदिके सञ्चयके लिए ही उपासनाक्षेत्रमें पदार्पण करते हैं। तामस उपासनाका लक्ष्य बहुत ही अधम कोटिका होता है, यह दूसरोंके मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदिके खोटे उद्देश्यसे की जाती है। 'देवी भागवत'के सप्तम स्कन्धके सैतीसवें अध्यायके कई श्लोकोंमें इन त्रिविध उपासनाओंका संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

तुलसीकी उपासना सात्त्विक उपासना है, क्योंकि इसका आलम्बन महान् दैवी शक्तियोंका आगार, देवोंका देव है। गोस्वामीजीकी उपासना इसलिए भी सात्त्विक कहलानेकी अधिकारिणी है कि इसका एकमात्र लक्ष्य है—निष्काम, अविचल, अटल, अनन्य प्रेम, इस उपासनामें किसी प्रकारके लेन-देनका अभाव है। भगवान् रामके अनन्य प्रेमकी प्रतिष्ठा ही गोस्वामीजीकी उपासना है। इस अनन्य प्रेमकी अभिव्यक्तिके लिए उन्होंने मीन और चातकको प्रेमीके प्रतीकके रूपमें ग्रहण किया है।

मीन जलके बिना कहीं नहीं रह सकता, चातक स्वातीकी बूँदके सिवा अन्य कोई जल ग्रहण नहीं कर सकता। यही टेक गोस्वामीजीकी भी है कि वे राम-प्रेमके बिना नहीं रह सकते। यही उनकी मीनता और चातकता है। उन्होंने स्वयं मीनकी मीनता और चातककी चातकताको क्या समझ रखा है, यह उन्हींके शब्दोंमें देखना चाहिये। वे मीनको प्रेमका सर्वोच्च प्रतीक माननेके ही कारण कहते हैं—

‘सुलभ प्रीति प्रीतम सबै, कहत करत सब कोइ।

तुलसी मीन पुनीत ते त्रिभुवन बड़ो न कोइ ॥’

मीनकी इस प्रशस्त कीर्तिको वे स्वयं धारण करना चाहते हैं, क्योंकि राम-प्रेम हृदयमें उनका मन-मीन सतत अवगाहन करता परमानन्दित होता रहता है। क्षणभर भी पृथक् नहीं होना चाहता। इसी हेतु वे एकमात्र इसके अभिलाषी हैं—‘सीतापति-भक्ति सुरसरि-मन-मीनता’। परम भक्त काकभुशुण्डिके द्वारा भी गोस्वामीजीने मीनताकी प्रतिष्ठा करायी है—‘राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रवीना’।^१

चातककी चातकताको व्यक्त करनेके लिए यों तो ‘दोहावली’में ‘चातकछत्तीसी’ ही दिखाई पड़ती है, पर उसमें भी तुलसीके प्रेममतको स्पष्ट करनेवाले दो दोहे उद्धरणीय हैं।

१. दे० ‘मानस’, अयो० २३२.३; ‘दोहावली’, दो० ५७, २७७। २. ‘दोहावली’, दो० ३२०।

३. ‘विनय०’, पद २६३। ४. ‘मानस’, उ० पृ० ४९६। ५. ‘दोहावली’, दो० २७९।

‘चातक तुलसीके मते, स्वातिहु पिये न पानि ।
प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी कानि’ ॥

×

×

×

तुलसीके मत चातकहिं केवल प्रेम पियास ।
पियत स्वाति जल जान जग, जाचक वारह मास’ ॥’

तुलसीका चातक बनना ही सिद्ध करता है कि उनकी उपासनाका मूल स्वरूप है रामके प्रति अनन्य, अखण्ड, अविचल प्रेम । इस अखण्ड प्रेममें उपासककी अनन्य टेक, उसका अनन्य मान^१, उसकी अनन्य एकनिष्ठा^२ तथा अपने उपास्यके प्रति अनन्य पूज्यता^३का भाव ओत-प्रोत रहता है । इस प्रेमके विषयमें यह भी ध्यान रहे कि यह प्रकृतितः उत्पन्न हो^४, इसमें किसी प्रकारकी स्वार्थसिद्धिकी भावना न रहे, शुद्ध अन्तःकरणकी प्रेरणा हो^५, यदि किसी प्रकारके छल-छद्मसे अभिप्रेरित होकर रामकी उपासना की जाती है तो राम उस निन्दनीय उपासनाको नहीं चाहते^६ । वे एकमात्र सीधे-सच्चे भावके भूये हैं^७ । अतः हृदयकी निर्मलता रामोपासनाका प्रधान अंग है ।

सांसारिक प्रेमको ही दृष्टिमें रखकर विचार किया जाय तो भी यह अवगत होगा कि प्रेमीके हृदय-पटलपर प्रियकी सभी मञ्जु चेष्टाएँ, उसके किये गये सभी कार्योंके नित्य ही नवीन चित्र निर्मित होते रहते हैं । प्रेमी प्रियकी की गयी लीलाओंको गुनता रहता है, वह स्वयं चाहता है कि लोग उसके प्रियकी वड़ाईका मधुर स्वर उसके कानोंमें डालते रहे । उसकी जिह्वा भी प्रियकी चर्चामें आनन्दित होती है । ये सभी बातें स्वाभाविक या अकृत्रिम हैं । गोस्वामीजी रामोपासनाके निमित्त इन स्वाभाविक मनोवृत्तियोंको उनके चरमोत्कर्षपर पहुँचाना परमावश्यक मानते हैं—

‘सुनु कान दिये नित नेम लिये रघुनाथहिंके गुन गाथहिं रे ।
सुख-मंदिर सुंदर रूप सदा उर आनि धरे धनु भाथहिं रे ॥
रसना निसि-बासर सादर सो, तुलसी ! जपु जानकीनाथहिं रे ।
करु संग सुसील सुसंतन सो, तजि कूर कुपंथ कुसाथहिं रे’ ॥’

हमारे नेत्र-मीन सियराम-स्वरूपके अगाध जलमें निमग्न रहें, हमारे कर्ण राम-कथाके श्रवणामृतको पान करते रहें, हमारी बुद्धि राममय हो जाय, हमारे कार्यकलाप रामोन्मुख हो जायें, रामके अतिरिक्त हमारे प्रेमका भाजन और कोई न रह जाय, राम ही हमारे एकमात्र सम्बल हो जायें तब समझना चाहिये कि हम रामोपासनामें लीन हुए, ऐसी लवलीनता ही जीवनका लक्ष्य है^८ । इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए रामके गुणोंका निरन्तर मनन अत्यावश्यक है—

‘समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग वढ़ाउ ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ’ ॥’

१. ‘दोहावली’, दो० २७९ । २. वही, दो० ३०८ । ३. वही, दो० २८८, २८९, २९० ।
४. वही, दो० ३०५, ३०७ । ५. वही, दो० २८१, २८४, २९८, २९९ । ६. वही, दो० १५२ ।
७. ‘मानस’। सुन्दर पृ० ३६३ । ८. ‘मानस’, उ० पृ० ४८२; ‘गीता०’, सुन्दर छ० ४५ । ९. ‘मानस’, पृ० २२३, ४८५ । १०. ‘कविता०’, उ० छ० २९ । ११. ‘कविता’, उ० छ० ३७ । १२. ‘विनय०’, पद १०० ।

उपासकोंको प्रायः यथातथ्य विधि-विधानोंके अनुसार यज्ञादि कर्मोका अनुष्ठान करना पड़ता है। गोस्वामीजी अपनी रामोपासनामें कैसे यज्ञका विधान बताते हैं, यह देखिये—

‘वेगि, विलंब न कीजिए, लीजिए, उपदेस।
बीज’ मंत्र जपिए सोई, जो जपत महेस ॥’
‘बंदउ राम नाम रघुबर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के ॥
महामंत्र जोइ जपत महेसु। कासी मुकुति हेतु उपदेसु ॥’
प्रेम-बारि तरपन भलो, घृत सहज सनेह ।’
संसय समधि, अग्नि छमा, ममता-बलि देहु ॥
अघ उचाटि मन बस करै, मारै मद मार।
आकरपै सुख संपदा संतोष विचार ॥
जे यहि भाँति भजन किए मिले रघुपति ताहि ॥
तुलसीदास प्रभु पथ चढ़यो, जो लेहु निवाहि ॥

गोस्वामीजीके ऐसे भजनका संकेत इस बातका द्योतक है कि रामोपासनाके हेतु जैसी सामग्रीकी अपेक्षा है उसे शीघ्र जुटाना दाल-भातका कौर नहीं है। इसमें यह नहीं है कि स्वर्णके प्रतापसे झट धी-साँकला उपस्थित करके जैसे भी हुआ स्वाहा कराया। रामोपासना दुष्कर भी है।

इस यज्ञके हेतु हृदयसे नाना विकारोंको निकालकर उसे निर्मल बनाना अत्यावश्यक है। हृदयकी निर्मलताके बाद ही रामके प्रेमकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और तब सर्वत्र ही राम दृष्टिगोचर होते हैं। साधक चराचरको राममय देखकर उसकी वन्दना करने लगता है। यही रामोपासनाका चरमोत्कर्ष है। यही रामभक्तकी अनन्यता है। इसीका भगवान् संकेत करते हैं—

‘सो अनन्य जाके असि भति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥’

कहना न होगा कि इष्टदेवके स्वरूप चित्रणमें जैसे गोस्वामीजीकी दृष्टि अधिक उदार और व्यापक होती हुई दिखाई पड़ती है वैसी ही उनकी उपासनाकी क्रमिक व्यापकताके चित्रणमें भी। यही कारण है कि उनके प्रेमके आलम्बन धनुर्धारी रामकी उपासना विश्व रूप (रघुवंशमणि) की उपासनामें परिणत हो जाती है।

प्रसंगकी इतिके साथ ही यह भी निश्चित कर लेना चाहिये कि तुलसीकी रामोपासनामें यह त्याग आदिकी अपेक्षा है अथवा नहीं। ‘मानस’के भक्त पात्रोंको देखते हुए तो कहना होगा कि राम-भक्तके लिए न तो यह त्याग ही अत्यावश्यक माना गया है और न गृहासक्ति ही। विषयोंसे विमुख होकर रामके प्रेममें निमग्न रहना ही सारकी बात है, रहनेके लिए साधक चाहे गृहमें रहे, चाहे जंगलमें, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं—

‘जो जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेह।

तुलसी ते प्रिय राम के कानन बसहिं कि गेह ॥’

तुलसीने इसी तथ्यका समर्थन ‘दोहावली’के कुछ अन्य दोहोंमें भी किया है^१।

१. इस बीज मन्त्रका संकेत ‘मानस’ में यों है—‘बंदउ राम नाम रघुबर, हेतु कृसानु भानु हिमकरके। महामंत्र जेहि जपत महेसु कासी मुकुति हेतु उपदेसु ॥ २. ‘विनय०’, पद १०८। ३. ‘विनय०’, पद १६७। ४. ‘मानस’, किष्कि० ३। ५. ‘दोहावली’, दो० २६१। ६. वही, दो० ६२, २५६।

तुलसीकी रामोपासना यही और त्यागी दोनोंकी निधि है। इस अक्षय भण्डारकी प्राप्तिके पश्चात् उसके फलस्वरूप उपासक परमसुखोत्पादक परम शान्ति या विश्रामका भाजन हो जाता है। उसका मन समस्त विकारोंसे रहित होकर स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। राम स्वयमेव उसके हृदय-कमलको अपनी विश्रामस्थली बनाकर उसे सानिध्यका परमानन्द देते हैं—

‘वचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निहकाम ।
तिन्ह के हृदय-कमल महँ, करउँ सदा बिस्राम ॥’

उपासना और आचार

मनकी निर्मलता रामोपासनाका प्रधान अंग है, इस ओर अभी कुछ संकेत किया जा चुका है। पर मनकी निर्मलता और आचारविचारका चोली-दामनका सम्बन्ध है। अतएव रामोपासना और आचार-के पारस्परिक सम्बन्धपर भी कुछ प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों और आचार्योंकी दृष्टिमें आचारका उपासनासे सम्बन्ध भले ही अकिञ्चित्कर हो, इसी प्रकार सूफी साधककी हाला और प्यालाकी नजरोंमें आचार बाहरी ढकोसला ही क्यों न हो, पर प्राचीनतम भारतीय उपासना और आचारमें आदिकालसे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध चला आ रहा है। आचारका निर्देश ‘ऋग्वेद’में मिलता है, उपनिषदों और सूत्रोंमें भी। स्मृतियोंके अनुसार तो आचार समस्त उपासनाका परम ग्राहक मूल तत्त्व ही है^१। मनुने तो यहाँतक कह दिया है कि आचारके बिना कोई द्विज वेदफल नहीं प्राप्त कर सकता, आचारान्वित होकर ही वह सम्पूर्ण फलोंका अधिकारी हो सकता है^२। वेद और स्मृतिमें वर्णित आचार ही परम धर्म है, द्विजातियोंके लिए वही करणीय है^३। आचारकी आधारशिला श्रद्धा है।

वेदकी उक्ति है कि श्रद्धाहीन कोई कर्म अथवा उपासना निष्फल होती है^४। ‘ऋग्वेद’में मनुष्यका देवोंके प्रति क्या कर्तव्य है, इसके अनेक उल्लेख हैं, इसी प्रकार मनुष्यके परस्पर कर्तव्यके सांकेतिक विवरण भी मिलते हैं। एक प्रसंगमें निर्बल और संकटापन्नपर दया करनेवालेकी प्रशंसा की गयी है^५। दूसरेमें मारण, वशीकरण, परदारगमन आदिके हेतु किये गये अभिचार दण्डनीय दुराचार कहे गये हैं^६। कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदमें ही सदाचारके बीज निहित हैं। ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी आचारकी उपेक्षा नहीं की गयी है और न उपनिषदोंमें ही। इसी प्रकार सूत्रों और स्मृतियोंमें भी आचार-विषयक उक्तियोंकी भरमार है।

आचारके विषयमें अभीतक जो दो-चार वाक्य कहे गये उनसे इस बातका संकेत मिलता है कि हमारी प्राचीनतम धर्म-भावना या उपासना आचारने विछिन्न नहीं उद्भूत हुई, प्रत्युत इन दोनोंका परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा। आचार और उपासनाविषयक गोस्वामीजीके विचारोंका दिग्दर्शन कराने के पहले अत्यन्त संक्षेपमें आचारके स्वरूपका निर्देश करना आवश्यक होगा। सामान्यतः आचारके दो भाग हैं—एक साधारण आचार और दूसरा शिष्टाचार। आचार और शिष्टाचारमें कोई नैसर्गिक भेद नहीं है, केवल सम्पादन-विधिकी सरलता अथवा दुष्करताके आधारपर यह वर्गीकरण किया गया है। आचार हमारे दैनिक कर्म, व्यावहारिक नियम एवं आश्रमिक कर्तव्योंको सुव्यवस्थित रखनेवाला आचरण ही कहा जा सकता है। शिष्टाचार इसके आगेकी वस्तु है। इसके अनुष्ठानका अधिकार हमें अपनी दुर्जेय वृत्तियोंके दमनके उपरान्त ही प्राप्त होता है। अतः शिष्टाचार सन्तोंका कर्तव्य है।

१. ‘मनु०’, १:१० ‘सर्वस्य तपसो मूलमाचारे जगृहुः परम् ।’ २. वही, १:१०९। ३. वही, १:१०६. ‘आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।’ ४. ‘ऋग्वे०’, १:१०४, ६, १०८, ६. २:२६, ३ १०:१५१। ५. वही, १०:११७। ६. वही, ७:१०४, ८।

‘महाभारत’में वर्णित शिष्टाचारके कुछ लक्षण ये हैं—यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और सत्य ये पाँचो शाश्वत शिष्टाचार हैं^१। शिष्ट लोग श्रुति-परायण और त्याग-परायण होते हैं। वे धर्म-मार्गपर आरुढ़ होकर सत्य और धर्म-व्रतमें लीन रहते हैं^२। काम-क्रोधको वशमें करके दम्भ, लोभ और अनार्जवका परित्याग कर धर्मव्रती होना भी शिष्ट पुरुषकी विशेषता है^३। शिष्टाचारी निर्वृत्त भावसे यज्ञ और वेदाध्ययनादि करता ही है, आचार-पालन भी उसका दूसरा लक्षण है^४। गुरु-शुश्रूषा; सत्य, अक्रोध और दान भी नित्य शिष्टाचार हैं^५। अहिंसा, सत्य और भूतोंका परम कल्याण करना शिष्टाचारके परम अवयव हैं, अहिंसा परम धर्म है और उसकी प्रतिष्ठा सत्यपर होती है अतः सत्य ही परम श्रेष्ठ है, उसीपर अटल रहना शिष्टाचारका सेवन है^६। क्षमा, सत्य, आर्जव, शौच, प्राणिमात्रपर दया और अहिंसा शिष्ट पुरुषकी प्रधान चारित्रिक विशेषताएँ हैं^७। शिष्ट पुरुषके तीन उत्तम कर्तव्य हैं—किसीका द्रोह न करना, दान देना और सदा ही सत्य भाषण करना^८। शिष्टाचारसेवी, धर्मव्रती भूदिव वेदानुकूल मार्गका अनुसरण करता है^९। ऐसे ही और बहुतसे आचरण शिष्टाचारके अन्तर्गत बताये गये हैं।

गोस्वामीजीके आचार और उपासना सम्बन्धी विचारोंके परिशीलनसे प्रकट होता है कि उनकी दृष्टिमें राम-प्रेमका साधक है—आचार। इसके विपरीत अनाचार या पाप उसका बाधक है—‘तुलसी राम-प्रेम कर बाधक पाप’^{१०}। उनका विचार है कि आचारस्थपर चलते हुए रामोपासनामें संलग्न रहना श्रेयष्कर है^{११}। विवेकशील आचार-पथावलम्बीकी साधनाका ही आदि, मध्य और परिणाम सभी भला होता है^{१२}। राम-भक्तिकी रीतिको गोस्वामीजी यों संकेत करते हैं—

‘प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति ।

तुलसी संतनके मते इहै भगतिकी रीति’^{१३} ॥’

कहना नहीं होगा कि दोहेकी प्रथम पंक्ति आचारका ही समर्थन कर रही है।

वस्तुतः आचार और उपासना दोनों समकक्ष हैं। साधक अपनी अनन्य उपासनाके द्वारा भगवान् का प्रिय बन जाता है। अथवा यदि वह आचारनिष्ठ है तो भी उसे भगवान् का प्रेम-पात्र बननेमें कोई सन्देह नहीं रहता। देखिये—

‘कैं तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि ।

दुहुँ महुँ रुचै जो सुगम सो, कीबै तुलसी तोहि’^{१४} ॥’

गोस्वामीजी उपासना और आचारको केवल एक कोटिमें रखकर ही आचारका महत्त्व नहीं प्रदर्शित करते, अपितु वे दोनोंका अविच्छिन्न एवं अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी परिलक्षित करते हैं। तभी तो उन्होंने रामके अनन्य भक्तोंकी चारित्रिक विशेषताओंमें आचारकी पूर्ण प्रतिष्ठा दिखायी है। राम-प्रेमका प्रतिपालक दशरथसे बढ़कर कौन होगा। उनकी चारित्रिक विशेषता है—

‘धरम धुरंधर गुन निधि ग्यानी । हृदय भगति मति सारँग पानी’^{१५} ॥’

...

...

...

कौसल्यादि माताएँ भी पुनीत आचरणवाली हैं—

१. ‘महाभा०’, वन० २०६:६१। २. वही, २०६:६८। ३. वही, २०६:६२। ४. वही, २०६:६३। ५. वही, २०६:६४। ६. वही, २०६:७३, ७४। ७. ‘महाभा०’, वन० २०६:८४। ८. वही, २०६:९३। ९. वही, २०६:९७। १०. ‘बरवै रामा’ उ० ६४। ११. ‘दोहावली’, दो० ४६९। १२. वही, ३६७। १३. वही, ८६। १४. वही, ७८। १५. ‘मानस’, बाल० १०७.८।

‘कौमल्यादि नारि सब प्रिय, आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पदकमल विनीत’ ॥’

भक्त-शिरोमणि भरतका तो कुछ कहना ही नहीं । वे परम पुनीत आचारवान् और शिष्टाचारकी प्रतिमूर्ति अंकित किये गये हैं । वे परहितनिरत, परदुःख-दुःखी और दयालु हैं^१ । धर्मधुरीण तो हैं ही^२ । शम, दम, संयम, नियम; व्रत आदि नक्षत्रोंसे उनका हृदयाकाश जगमगाता रहता है^३ । उनके व्रत आदिकी नृनमामें अच्छे-अच्छे साधु भी सकुचाते हैं—

‘सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं । देखि दन्ता मुनिराज लजाहीं ॥
परम पुनीत भरत आचरन् । मधुर मंजु सुद मंगल करन् ॥’

इनके चरित्रका अनुशीलनमात्र राम-भक्तिकी ओर प्रवृत्त करनेवाला है ।

रामके निकटस्थ सेवक हनुमान् भी शुभ गुणागार हैं । रामभक्तिके अश्रुण्ण भण्डार तो हैं ही । जानकीजी स्वयं उन्हें आशीर्वाद देती है—

‘अजर अमर गुननिधि सुत होइ । करहिं सदा रघुनायक छोहूँ ॥’

...

...

...

सुन सुत सदगुन सकल तव, हृदय वसहु हनुमंत ।
सातुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनंत ॥

हनुमान्के अतिरिक्त रामके प्रिय दास काकभुशुण्डि कैसे आचारनिष्ठ हैं, इसका संकेत देखिये—

‘तुम्ह सर्वग्य तग्य तम पारा । सुमति सुसील सरल आचारा ॥
ग्यान बिरति बिग्यान निवासा । रघुनायकके तुम्ह प्रिय दासा ॥’

इन भक्त पात्रोंमें उनकी आचार-निष्ठाका विशेष संकेत पाकर कदाचित् यह कहना असंभव न होगा कि तुलसीको उपासना और आचारका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादन अभीष्ट था । इसीसे उन्होंने भक्तोंको आचारयुक्त दिखाया है—

रामकी अविरल भक्तिके पथमें प्रवेश करनेवाले साधकका कैसा आचार होना चाहिये इसका संकेत गोस्वामीजी स्वयं देते हैं—

‘कतहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो ।

श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत-स्वभाव गहौंगो ॥
जथा लाभ संतोष सदा, काहूँ सौं कलु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेमु निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिंता, दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो ।
तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अविरल हरि भगति लहौंगो ॥’

१. वही १०६ । २. ‘मानस’, अयो० २१८ । ३. वही, २३१.१ । ४. वही, ३२३.४ ।
५. वही ३२४.४, ५ । ६. ‘मानस’, सुन्दर० १६.३ । ७. ‘मानस’, लं० १०७ । ८. ‘मानस’, उ०
१३. १, २ । ९. ‘बिन्धु’, पद १७२ ।

इसी आचारमय मार्गपर चलनेसे रामकी अद्विरल भक्ति मिलती है। इस पथमें इंगित तत्त्व शिष्टाचारके अतिरिक्त क्या है। हम पहले ही कह आये हैं कि शिष्टाचार सन्त-चरित्रका लक्षण है। 'सन्त-स्वभाव गर्हंगो' से यही व्यञ्जित होता है कि साधकका आचार शिष्ट रहे।

अन्तमें दो शब्द और कहना हैं। गोस्वामीजी आगम, निगम पुराणके साथ ही परम्पराके भी पक्के अनुयायी हैं, आचारका स्वरूप वे वही मानते हैं जो वेद, पुराण और परम्परामें अनर्घ तत्त्वकी भाँति रक्षित है। स्वेच्छाचारयुक्त आचरण उनकी दृष्टिमें आचार नहीं। स्वेच्छाचारमय आचरण तो अनाचार है और अनाचारमें की गयी उपासना उपेक्षणीय तथा निन्दनीय है।

अनाचारसे पंकिल उपासनाकी हेयता

गोस्वामीजीने आचारमय उपासनाको सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है, पर इसके विपरीत अनाचारसे पंकिल उपासना हेय और निन्दनीय ठहराया है। अनाचारके स्वरूपके विषयमें सूत्ररूपसे कहा जा सकता है कि आचार या शिष्टाचारके सभी विपरीत आचरण अनाचारकी कोटिमें आते हैं। यथा, वेदाध्ययन आचार है, इसका प्रतिकूल वेद-निन्दा आदि अनाचार हुआ। ऐसे ही यदि शास्त्रानुगमन आचार है तो स्वेच्छाचरण अनाचार इत्यादि। यदि दैवी^१ और आसुरी^२ सम्पत्तिको दृष्टिमें रखते हुए विचार किया जाय तो कह सकते हैं कि दैवी प्रवृत्ति आचारकी जननी है और आसुरी प्रवृत्ति अनाचारकी। अनाचारकी छाया छूनेवाली उपासना निन्दनीय है, उससे उपासक कभी विश्राम नहीं पा सकता। वस्तुतः दैवी सम्पदा मोक्षके लिए और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिए ही निश्चित की गयी है^३। फिर बन्धनमें डालनेवाले अनाचारसे पंकिल होकर उपासना कल्याणकारी कैसे हो सकती है? अनाचारसे विकृत साधनामें स्वेच्छाचरणके प्राधान्य के कारण शास्त्र-सम्मतिकी अवहेलना करती है। शास्त्र-विधिका परित्याग कर स्वेच्छाप्रमाण क्रिया करने-वाले न सिद्धि ही प्राप्त कर सकते हैं, न सुख ही और न मोक्ष ही^४।

वेद-शास्त्र-सम्पत्ति-परायण तुलसीकी दृष्टिमें भी यदि उपासक आचार-को ठुकराकर चलता है तो वह निन्दनीय है—

‘श्रुति-सम्मत हरि भक्ति-पथ, संजुत विरति विवेक।

तेहि न चलहि नर मोह बस, कलपहि पंथ अनेक^५॥’

गोस्वामीजी जिस उपासकको श्रेष्ठ मानते हैं वह वेद, पुराण, आचार-विचार संयुक्त है, परन्तु जो लोग मोहवश निजेच्छया नाना प्रकारके कल्पित पन्थोंकी उद्भावना कर उसपर चलते हैं वे तुलसी की प्रशंसाके भाजन नहीं हैं।

‘अतुलित महिमा वेदकी तुलसी किए विचार।

जो निदित निदित भयो विदित बुद्ध अवतार^६॥’

वेद-निन्दक उपासक चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसकी उपासना हेय ही है, ऐसे महान्से महान् उपासकको भी गोस्वामीजी निन्दाका पात्र बनानेमें तनिक भी नहीं सकुचाते। देखिये—

सामान्य वेदनिन्दक तो—

‘कलप कलप भरि एक एक नरका।

परहिं जे दूषहिं सुति करि तरका^७॥’

१. दे० ‘गीता’, १६:१,३। २. वही, १६:४। ३. वही, १६:५। ४. वही, १६:२३।

५. ‘मानस’, उ० १००। ६. ‘दोहावली’, दो० ४६४। ७. ‘मानस’, उ० ९९.४।

अनाचारमूलक उपासनाका कर्ता अधोगतिका अधिकारी होता है, दण्डभागी होता है। काक-मुशुण्डि जन्मान्तरमें जब कि अवधमें उत्पन्न हुए थे तो वे शिवके अनन्य भक्त थे, पर उनकी उपासना अनाचारसे पंकिल थी, तभी तो वे अभिमान और दम्भसे अन्य देवोंकी निन्दा करते थे, इतना ही नहीं वे अहंकारकी उस सीमातक पहुँच गये थे कि किसी समय गुरु-आगमनके अवसरपर उठकर प्रणाम करना भी उन्हें खला। ऐसे अनाचारका फल उन्हें तुरन्त भोगना पड़ा। अपने उपास्यका ही कोप-भाजन बनकर सर्प-योनिमें सहस्र जन्म धारण करनेका शाप शिरोधार्य करना पड़ा। काकके इस कथांशसे भी यही लक्षित किया गया है कि अनाचारयुक्त उपासना निन्दनीय है।

उपासकको अपने मन, वाणी और कर्म—तीनोंको अनाचारके पंक्से पृथक् रखना चाहिये, अन्यथा उसकी साधना सफल नहीं होगी—

‘वेष विसद बोलनि मधुर, मन कटु करम मलीन ।
तुलसी राम न पाइए, भए त्रिषय-जल मीन’ ॥
‘माखी, काक, उलूक, बक, दादुरसे भये लोग ।
भले ते सुक, पिक मोरसे कोउ न प्रेम-पथ जोग’ ॥

यदि उपासकका केवल बाह्य वेश हंसवत् और उसकी आभ्यन्तरिक वृत्तियाँ निम्न कोटिकी हैं तो उसकी साधना अनाचारमय ही होगी। इसीसे बाबाजी समझाते हैं—

‘करि हंस को वेष बड़ो सब सों, तजि दे बक वायसकी करनी’ १।

कहना नहीं होगा कि अवतरणमें ‘बक वायसकी करनी’ अनाचार ही का द्योतक है।

हरि-गुरु-निन्दा, वेद-निन्दा, सन्त-निन्दा, सर्वभूत-निन्दा, काम, क्रोध, मद, लोभ, ममता, हर्ष-विपाद, मन-कौटिल्य, तृष्णा, मत्सर, अविवेक आदि अनाचारके सुभटोंका जो भयावह स्वरूप गोस्वामीजीने दर्शाया है^१ उसके अवलोकनसे स्पष्टतया प्रकट होता है कि जिस उपासनाका इन सुभटोंमेंसे कोई भी बाधक रहेगा वह कभी सात्त्विक उपासना न होगी। ऐसी उपासना सदैव हेय ही कहलायेगी। विकार-ग्रस्त उपासकमें आचार-विचार टिक ही नहीं सकता—

‘जे मद-मार-विकार भरे, ते अचार-विचार समीप न जाहीं’ १।

रामोपासना और नामोपासनाका तारतम्य

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिमें नामोपासनाका समर्थन और महत्त्व-प्रतिपादन अत्यधिक दिखाई पड़ता है। एतद्दर्श नामोपासनापर कुछ विशेष विवेचन अपेक्षित है। देखना चाहिये कि प्राचीन परम्परामें नामोपासनाका क्या स्थान रहा। सच्छास्त्र-साधु-सम्मतियोंसे कलिकष्टोद्धारका सर्वोपरि उपाय नाम ही माना गया है।

‘हरेर्नाम्, हरेर्नाम्, हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा’ ॥^२

...

...

...

१. ‘दोहावली’, दो० १५३। २. ‘वही०’, दो० ३३१। ३. ‘कविता०’, उ० छ० ३२।
४. ‘मानस’, उ० १२०. २३-३७। ५. ‘कविता०’, उ० छ० ९४। ६. ‘नारदपुराण’, १:४१:११५।

‘रामनाम्नेय मुक्तिः स्यान् कलौ नान्येन केनचिन् ।’

अन्य युगोंमें पूजा-ध्यान और यज्ञादि कर्मोंके कठिन विधि-विधानोंके सम्पादन द्वारा जो फल उपलब्ध होता था वही कलियुगमें एकमात्र हरिनाम-कीर्तनसे होता है—

‘कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखे ।
द्रापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥’

उत्पत्तगामी मनकी आत्यन्तिक शुद्धि एकमात्र नाम जपसे ही होती है, अन्यान्य श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त माधन तथा प्रायश्चित्त आदि तो केवल ऐकान्तिक शुद्धिके कारण हैं । ‘स्कन्दपुराण’में वर्णित है कि तप, यज्ञ आदिकी क्रियाएँ स्वयं अपूर्ण हैं और भगवन्नामसे संयुक्त होनेपर ही वे पूर्णताको प्राप्त होती हैं^१ । पातकी तप, यज्ञ आदि क्रियाओंके सम्पादन द्वारा उस प्रकार शुद्ध नहीं होता यथा भगवान्के नाम-कीर्तनसे^२ । ‘श्रीमद्भागवत’ इसका प्रमाण है कि यदि कर्ता अवोष है तो कर्मका कर्मसे आत्यन्तिक परिहार कदापि नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित्त कर्मरूप नहीं, विचाररूप है, भगवन्नामस्मरणका सम्बन्ध मनसे है, कर्मसे नहीं^३ । यथार्थतः हरिनामकीर्तन समस्त कित्त्वियोंका वैसे ही संहरण करता है जैसे भास्कर तुहिन-चिन्दुओंका^४ । जाने या अनजाने कैसे ही किया गया हरिकीर्तन सभी पापरूप ईधनको अनल होकर दग्ध करता है^५ । पापात्माके अधकी निष्कृति भगवान्के कीर्तनमात्रसे हो जाती है, अतः पापोन्मूलनार्थ नारायणका नाम ही सर्वसुलभ है । पुत्रके वहाने ही भगवान्के नामोच्चारणसे अजामिल मृत्युबन्धनसे मुक्त हो गया^६ । इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञादिकर्मोंसे पापनाश तो होता है, पर यम-त्रास-मर्दन और मनोदोष-शोधन नामने ही होता है । इसके अतिरिक्त नाम-जप और किस गतिका दायक है, इस विषयमें उपनिषद्का यह कथन भी स्मणीय है—‘यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इस ओंकार अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है, उसको वही मिलती है’, कहना नहीं होगा कि ओंकार और भगवान्के किसी सगुण नाममें कोई भेद नहीं ।

भगवद्भजन-कल्पवृक्षसे यद्यपि मनुष्य मनोभिलषित सभी पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है, पर सच्चे आत्मोद्धारक प्रेमी भक्त निष्काम भावने ही भजन करते हैं । शास्त्रमें ऐसे ही निष्काम प्रेमी भक्तकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की गयी है^७ । ऐसे ही निष्काम भक्तके लिए भगवान्ने कहा है—‘तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति’^८ ।

नामोपासनाके हेतु निष्काम प्रेमके अतिरिक्त और किस वस्तुकी अपेक्षा होती है, इस सम्बन्धमें ‘नारदपुराण’में कहा गया है कि जिसका जैसा विश्वास होता है उसे वैसी ही सिद्धि भी मिलती है^९ । ‘गीता’के प्रमाणसे भी—

‘अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः’^{१०} ॥’

श्रुति कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंमें ही श्रद्धावान्को अधिकारी बताती है । कर्मकाण्डमें श्रद्धासे ही अग्निको प्रज्वलित करने तथा श्रद्धासे ही द्रव्य आदिका होम करनेका आदेश है । इसी प्रकार

१. ‘अध्या० रामा०’, अधो० ५:२७ । २. ‘भागवत’, १२:३:५२ । ३. ‘श्रीभगवन्नाम कौमुदी’, पृ० ३४ । ४. वही, पृ० ३४ । ५. वही, पृ० ३५:३६ । ६. वही, पृ० ३५ । ७. वही, पृ० १०७ । ८. वही, पृ० ३६ । ९. ‘कठोपनिषद्’ २:१६ । १०. दे० ‘गीता’, ७:१६, १७, ६:३० । ११. वही, ६:३० । १२. ‘श्रीभगवन्नामकौमुदी’ पृ० ७१ । १३. ‘गीता’, ४:४० ।

‘कलिकाल कराल में राम कृपालु, यहै अवलंब बढ़ो मन को ।
तुलसी सब संजमहीन सर्वे, इक नाम अधार सदा जनको’ ॥’

भगवन्नामकी पाप-निर्हरण-शक्तिके विषयमें गोस्वामीजीका कहना है कि ‘नाम सकल कलि कल्प निकन्दन’^१, कलिके नाना प्रकारके कपट, दम्भ, पाखण्ड, कुतर्क, कुचालरूप इंधनको भस्म करनेके निमित्त नाम प्रचण्ड अग्नि है^२ । पाप-रूप खगोंका नाश करनेवाला वधिक भगवान्का नाम है^३ । ‘कलि-युग वर विपुल वनिज नाम नगर खपत’^४ से प्रकट है कि सभी पाप नामके प्रतापसे नष्ट हो जाते हैं । काल^५, कर्म, गुण, स्वभावके अमिट दोष भी नाम-जपके प्रभावसे मिट जाते हैं । मनको निर्मल बनाने और विश्राम देनेका साधन भी नाम-जप है^६ । नाम-जप भव-बन्धनसे मुक्त होने तथा संसार-सागरसे सन्तरण करनेका सेतु है ।^७ ‘घोर त्रयशूल’की औषध भी नाम-जप ही है^८ । नाम-कल्पवृक्ष कलियुगमें किस प्रकार अभिमत मनोरथोंको सिद्ध करता है, इसे गोस्वामीजी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिसे यों प्रतिपादित करते हैं—

‘नाम रामको कलपतरु कलिकल्यान निवास ।
जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास ।’^९ ॥’

नाम-कल्पवृक्षके द्वारा ही गोस्वामीजी स्वयं गौरवान्वित हुए । उन्होंने अपनी रचनाओंमें इस कल्पवृक्षका प्रसंग बार-बार दुहराया है । इस कल्पवृक्षके स्मरणमात्रसे चारों पदार्थ भी सुलभ होते हैं^{१०} । शपथपूर्वक कही गयी उक्तिकी गम्भीरता प्रायः अत्यधिक हो जाती है । विशेषतः किसी महान् व्यक्तिकी शपथपर तो लोगोंको उसमें रश्मिमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता । नाम कल्पतरु है, इसे लोग कवि-कल्पना ही न समझें, कदाचित् इसी हेतु गोस्वामीजीने अपने इष्टदेवकी शपथके साथ नामका अभिमत फलदायकत्व लक्षित किया है—

‘रामकी शपथ सरबस मेरे रामनाम,
कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को’^{११} ।’

नाम-जप विधिकी ओर ध्यान दीजिये । निष्काम भाव, अनन्य प्रेम, श्रद्धा और विश्वाससे ही नाम-जप अपना प्रभाव दिखाता है । वस्तुतः गोस्वामीजी भी इस तथ्यको माननेवाले थे । देखिये—

‘प्रीति प्रतीति सुरीति सौं, राम नाम जपु राम ।
तुलसी तेरो है भलो, आदि मध्य परिनाम’^{१२} ॥’

नाम-जप यदि किसी कामना-सिद्धिके निमित्त किया जाता है तो वह ईप्सित मनोरथकी पूर्ति तो अवश्य करता है, पर उसकी निष्कामतापर बड़ा लग जाता है । इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

‘स्वारथ-परमारथ रहित सीता-राम-सनेहु ।
तुलसी सो फल चारिको फल हमार मत पहु’^{१३} ॥’

‘सीता-राम स्नेह’ नाम-प्रेमसे कोई भिन्न वस्तु नहीं, जो फल सीताराम-स्नेहका है वही नाम-प्रेमका भी । देखिये—

१. ‘कविता०’, उत्तर० छ० ८७ । २. ‘मानस’, बाल० २३.८ । ३. वही, बाल० ३२.१ । ४. वही, अरण्य० ४१.७,८; किष्कि० ३०.१ । ५. ‘विनय०’, पद १३० । ६. वही, पद १३० । ७. ‘विनय’, पद १८४ । ८. ‘मानस’, उ० ५८; सुन्दर० १९.३; अरण्य० ३०.६ । ९. वही, उ० १२४; ‘कविता०’ उ० ७९ । १०. ‘मानस’, बा० २६.१ । ११. ‘वरवैरामा०’, उ० छ० ६२; ‘विनय०’, पद ६७ । १२. ‘कविता०’, उ० छ० १७८; १३. ‘दोहावली’, दो० २३ । १४. ‘दोहावली’, दो० ६० ।

‘बेदहू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
 नाम-प्रेम चारि फलहू को फरु हैं ।
 ऐसे राम नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
 मेरे जान जानिबो सोइ नर खरु है’ ॥’

अस्तु, राम और नाम दोनोंका प्रेम निष्काम होना चाहिये । साथ ही दोनोंमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वासकी परम आवश्यकता है । इसका निरूपण तुलसीदासने कई प्रसंगोंमें किया है^१ ।

नाम-जपके साथ नामीका स्वरूप-चिन्तन गोस्वामीजी भी परमावश्यक मानते हैं । तभी तो जहाँ उन्होंने नामोपासनाका निर्देश किया है वहीं नामीके स्वरूपका संकेत भी है । नाम-जपके साथ जापक अपने मनोभिलषित भगवान्का स्वरूप-चिन्तन करे, वह चाहे बालक राम, चाहे विपिन-विहारी धनुर्धारी राम, चाहे सुकुटधारी राजा राम, चाहे विश्वरूप रघुवंशमणि किसी भी स्वरूपका ध्यान करे, पर राम-नाम ब्रह्म राम, विष्णु राम, दाशरथि राम सभीका द्योतक है । इन तीनोंका समावेश इस एक ही नाममें हो जाता है । राम-नाम नामीसे भी अधिक महत्वपूर्ण है । एकमात्र नाम-जपसे निर्गुण और सगुण दोनों भावनाके प्राणी अपनी भावनाके अनुसार नामीके अधिकाधिक निकट होते जाते हैं ।

वस्तुतः नाम और नामीमें बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध तो होता ही है, साथ ही नाम नामीके प्रति प्रेमोत्कर्ष बढ़ानेमें उत्तरोत्तर सहायक भी होता है । तभी तो—

‘देखिअहि रूप नामआधीना । रूपग्यान नहि नाम विहीना ॥
 रूप बिसेष नाम बिनु जाने । करतलगत न परहि पहिचाने ॥
 सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे । आवत हृदय सनह बिसेखे’ ॥’

नाम-जप भगवत्प्रीतिके प्रादुर्भाव, उसके विकास तथा भगवत्प्राप्तिका प्रचल साधन है । गोस्वामीजी भी अपनी ओरसे नामको सर्वोपरि महत्व देते हैं—

‘मति रामनाम ही सों, रति रामनाम ही सों
 गति रामनाम ही की बिपति हरनि ।
 रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक
 तुलसी ढरैंगे राम अपनी ढरनि’ ॥’

नाम ही भगवान्को हमारा प्रिय बनाता है और प्रियको प्रसन्न रखनेके लिए हमें स्वयमेव ऐसे कार्योंका सम्पादन करना चाहिये जो प्रियको रुचे । जब वे सद्गुण-सिन्धु हैं तो सदाचार ही उनको प्रिय होगा । यदि हमारी प्रवृत्ति भी प्रकृतितः सदाचारोन्मुख हो जाय तो अनायास ही हम भगवान्को अपने वशमें कर सकते हैं^२ ।

नाम-जप वह रसायन है जिसके सेवनसे भगवत्प्रीति, विराग और सदाचारमूलक वृत्तियाँ सजग हो जाती हैं और कलिकी दुर्बृत्तियोंकी सेना डरकर भाग जाती है^३ ।

१. ‘विनय०’, पद २५५ । २. देखिये ‘विनय०’, पद ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, १५१, १९४; ‘वरवै०’, उ० ६८, ६९; ‘कविता०’, उ० ३७, ५८, ६९, ७६, ९०, १२७, १२८, १७८ । ३. ‘मानस’, बाल० २०. ४, ६ । ४. ‘विनय’, पद १८४ । ५. ‘दोहावली’, दो० ७८ । ६. ‘विनय०’, पद ७० ।

गोस्वामीजी भगवान्‌के किस नाम-जपकी ओर विशेष जोर देते हैं ? उनकी रचनाओंमें भगवान्‌के प्रायः सभी नामोंको देवते हुए हम कह सकते हैं कि निस्सन्देह वे भगवान्‌के सभी नामोंमें आस्था और अनुराग रखते थे, पर राम-नामका अत्यधिक प्रयोग देखकर यह भी कहना होगा कि उन्हें राम-नाम ही परम प्रिय था । उन्होंने भक्तोंके हृदयाकाशमें राम-नामको तारकापति और अन्य नामोंको तारकाके ही रूपमें देखा है^१ । राम-नामको ही अन्यान्य नामोंसे बढ़कर पापरूप पक्षियोंका निहन्ता अर्थात् बड़ा अधिक बताया है—‘राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अव-खग-गन बधिका^२ ।’ इतना ही क्यों. वे राम-नाम-माहात्म्यगानमें अपनी ही नहीं, स्वयं रामकी भी असमर्थता बताते हैं—

‘कहउँ कहाँ लगि नाम बढ़ाई । राम न सकहिँ नाम गुन गाई^३ ॥’

‘मानस’में नाम-महिमाके प्रकरणमें राम और नामके तारतम्यकी चर्चा बहुत ही तर्कयुक्त और मनोरम है । एक विचारशील और तार्किक प्राड्विवाककी भौति बाबाजीने राम-पक्ष और नाम-पक्ष दोनोंकी उक्तियाँ दिखाते हुए अन्तमें जो नाम-पक्षका प्रबल समर्थन किया है उससे उनका यह फैसला अवश्य ही मानना पड़ता है—

‘निरगुन ते एहि भौति बड़ नाम प्रभाउ अपार ।
कहउँ नाम बड़ राम ते निज बिचार अनुसार’ ॥’

× × ×

‘ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि ।
रामचरित सतकोटि महीं, लिय महेस जिय जानि’ ॥’

नामोपासना भगवत्प्रेमका साधन है । पर नामका उपर्युक्त महत्त्व देखते हुए कहना होगा—भले ही तुलसीने नामोपासना साधनरूपमें दिखायी है, किन्तु उन्हें इसका दर्जा साध्यसे भी बढ़कर मान्य है । जो साधन साध्यसे उत्कृष्ट है उसके सामने अन्य साधन तो अपकृष्ट अथवा निगन होंगे ही, इसीसे बाबाजीने खोलकर कह भी दिया है कि यज्ञ, योग, व्रत, वेदाध्ययन, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त साधनोंसे सरल एवं श्रेष्ठ रामनामोपासना है^४ ।

तुलसीने अवैध नामजपका संकेत भी दिया है—

‘भाव कुभाव अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू’ ॥’

× × ×

‘आरत, अधम, कुटिल, खल, पतित, सभीत कहूँ जो समाहिँ न ।
सुमिरत नाम बिबसहूँ बारक पावत सो पड़ जहाँ सुर जाहिँ न^५ ॥’

नामोपासनाके इस संक्षिप्त विवेचनसे स्पष्ट है कि प्राचीन परम्परागत शास्त्रीय पद्धतिमें नामोपासनाकी जो दिव्य ज्योति जगमगाती है, उसका जो विशद माहात्म्य उपलब्ध होता है वही गोस्वामीजीकी रचनाओंमें भी वर्तमान है । अस्तु, तुलसीकी कृतियोंमें सच्चे हृदयसे निरन्तर अवगाहन करनेवाले किसी आस्तिक, श्रद्धालु, सुकृतीका अनुभव भी महात्मा गौधीके इस अनुभवसे भिन्न न होगा—‘नामकी महिमाके बारेंमें

१. ‘मानस’, अरण्य० ४२. । २. वही, अरण्य० ४१.८ । ३. वही, बाल० २५.८ । ४. वही, बाल० २३. । ५. वही, बाल० २५. । ६. ‘विनय०’, पद १५५, १७३, १२९; ‘कविता०’, उ० ल० ७१. ७७, ८६, ८७; ‘बरवै०’, उ० ल० ४८, ५२ । ७. ‘मानस’, बा० २७.१ । ८. ‘विनय०’, पद० २०७ ।

तुलसीने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षर, अष्टाक्षर इत्यादि सब मन्त्र इस मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यके लिए शान्तिप्रद हैं। जिसको जिसमें शान्ति मिले वह उस मन्त्रपर निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्तिका अनुभव ही नहीं और जो शान्तिकी खोजमें है, उसको तो अवश्य रामनाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्र नाम कहे हैं, उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु, देहधारीके लिए नामका सहारा अत्यावश्यक है और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी रामनामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारणमें एकाक्षर ही है और ओंकार और राममें कोई फर्क नहीं। परन्तु नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती, श्रद्धासे अनुभव-साध्य है।^१

स्वामी रामानन्द और तुलसीदास

स्वामी रामानन्द और तुलसीका सम्बन्ध भी विचारणीय है। स्वामी रामानन्दने मन् १२९९ ई० (सं० १३५६)में, प्रयागके पुण्यक्षेत्रमें, अपनी सद्धर्मा माता 'मुशीला'के कोपसे जन्म ग्रहण किया^२। इनके पिता 'पुण्यसदन' कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। माता-पिताने इनका नाम 'रामदत्त' रखा था। वाल्यकालसे ही ये बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। बारह वर्षकी अवस्था में प्रवेश करते ही ये चूड़ान्त पण्डित हो गये। तदुपरान्त वेदान्त-अध्ययनके लिए काशी आये और वहीं किसी स्मार्त शांकर अद्वैत वेदान्त मतानुयायी गुरुके पास अध्ययन करने लगे। कुछ समयोपरान्त काशीमें ही ये श्रीवैष्णव सम्प्रदायके आचार्य राघवानन्द द्वारा दीक्षित हुए। गुरुने इनका नाम रामानन्द रखा। रामानन्दजी बहुत दिनोंतक वृद्ध गुरुकी सेवा करते रहे और कालान्तरमें भारतीय तीर्थोंका पर्यटन करनेके पश्चात् इन्होंने काशीके पञ्चगंगा घाटपर स्थायी रूपसे निवास किया। इनके देहावसानके बाद इनके शिष्योंने वहीं एक मठकी स्थापना की थी, पर वह किसी यवनशासक द्वारा विनष्ट कर दिया गया। इस समय भी वहाँ रामानन्दकी चरण-पादुका एक पापाण-वेदीपर अंकित मिलती है^३। इस चरणपादुकाके पार्श्ववर्ती मठमें कुछ रामानन्दी रहते भी हैं। इस मठके महन्तसे रामानन्दजीके विषयमें मैंने जो जानकारी प्राप्त की है उसका संकेत भी करूँगा। अभी राघवानन्दकी शिष्य-परम्पराके विषयमें किञ्चित् विचार कर लेनेकी विशेष आवश्यकता है।

'भक्तमाल'से ज्ञात होता है कि रामानुज द्वारा प्रवर्तित श्रीसम्प्रदायकी शिष्य-परम्परामें राघवानन्दका स्थान चतुर्थ है, अर्थात् रामानुज—देवाचार्य—हर्यानन्द—राघवानन्द। जब राघवानन्दके बाद रामानन्द आते हैं तो उनका स्थान पञ्चम होता है^४। जिज्ञास्य है कि क्या रामानन्दका रामानुजकी शिष्य-परम्परामें पाँचवाँ स्थान ठीक है? उत्तर सन्दिग्ध होगा। रामानुजका सर्वमान्य समय है ग्यारहवें शतकका उत्तरार्द्ध तथा बारहवें शतकका पूर्वार्द्ध, इधर रामानन्दको सभी चौदहवें शतकका मानते हैं। इस प्रकार रामानुज और रामानन्दके बीच जो लम्बा अन्तराल है उससे विश्वास नहीं होता कि रामानन्द रामानुजकी शिष्य-परम्परामें रहे होंगे। यदि उन्हें उक्त शिष्य-परम्परामें बिठानेका आग्रह ही किया जाय तो कमसे कम वे आठवीं या दसवीं पीढ़ीमें ठहरेंगे। सम्भव है कि भक्तमाल-रचयिताकी भूल या अज्ञानसे देवाचार्यके बादवाली कुछ पीढ़ियाँ छूट गयी हों और उसके बाद हर्यानन्द, राघवानन्द तथा रामानन्दका क्रम ठीक दिया गया हो। पञ्चगंगा

१. 'कल्याण', भाग २, सं० १, पृ० ९९। २. 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स', भाग १० पृ० ५६९; 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजिजस सेक्ट्स', पृ० ९४। ३. 'इन्सा० रे० ए०', भाग १०, पृ० ५७० 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजिजस आव् हिन्दूज', [भाग १, पृ० ४८; 'माडर्न हिन्दूइज्म', पृ० ६२। ४. 'भक्तमाल', छप्पय ३५।

बाटमें मटके महन्तसे तो मुझे यही ज्ञात हुआ कि रामानन्दी अपनेको रामानुजी शिष्य-परम्परामें नहीं मानते। भले ही वे न मानें, पर वे अपनी जो गुरु-परम्परा बताते हैं वह प्रकारान्तरसे प्रकट करती है कि ये रामानुजकी परम्परासे सम्बद्ध थे। हो सकता है कि पारस्परिक मतभेदके कारण इन दोनोंमें पीछेसे पार्थक्य हो गया हो, पर मूलतः दोनों श्रीसम्प्रदायके थे। उक्त महन्तने मुझे 'श्रीमठ और चरणपादुका' नामकी एक पुस्तिका देनेकी कृपा की। पुस्तिकाके अन्तमें श्रीरामानन्द-सम्प्रदायकी गुरु परम्परा यों दी गयी है— १. सर्वेश्वर श्री रामचन्द्रजी आचार्य; २. श्री जगज्जननी जानकी; ४. श्रीहनुमान्जी; ४. श्रीब्रह्माजी; ४. श्रीवसिष्ठजी; ६. श्रीपराशरजी; ७. श्री व्यासजी; ८. श्रीशुकदेवजी; ९. श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी; १०. श्रीगंगाधराचार्यजी; ११. श्रीसदाचार्यजी; १२. श्रीरामेश्वराचार्यजी; १३. श्रीद्वारानन्दाचार्यजी; १४. श्रीदेवानन्दाचार्यजी; १५. श्रीश्यामानन्दाचार्यजी; १६. श्रीश्रुतानन्दाचार्यजी; १७. श्रीचिदानन्दाचार्यजी; १८. श्रीपूर्णानन्दाचार्यजी; १९. श्रीश्रियानन्दाचार्यजी; २०. श्रीहर्यानन्दाचार्यजी; २१. श्रीराघवानन्दाचार्यजी; २२. श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ! इस गुरु-परम्परामें देवानन्द, हर्यानन्द, राघवानन्द और रामानन्दके नाम उनी क्रमसे मिलते हैं जो 'भक्तमाल'में दिखाया गया है, इससे मेरी सम्भावनाको यह प्रश्रय मिलता है कि कदाचिद् नामावलीमें देवानन्द और हर्यानन्दके बीचके नाम छूट गये हैं। यदि रामानुजको देवानन्दका गुरु मान लिया जाय तो रामानन्द रामानुजकी शिष्य-परम्परामें दसवें ठहरेगे। यह सम्भावना नितान्त निर्मूल नहीं जान पड़ती।

प्रश्न उठता है कि यदि रामानन्द रामानुजकी शिष्य-परम्परामें थे तो उन्हें अलग सम्प्रदाय चलाने की क्यों सूझी ? इसका आंशिक उत्तर 'अवधूत'के आधारपर यह दिया जा सकता है। 'अवधूत'का अर्थ है तिरस्कृत, अर्थात् जो व्यक्ति किसी संस्था या सम्प्रदाय द्वारा बहिष्कृत हो। रामानन्दके अनुयायी 'अवधूत' ही कहे जाते हैं। 'अवधूत' पदवीके आधारपर रामानन्दके विषयमें प्रसिद्ध प्रवाद सत्य-भा ही प्रतीत होता है। श्री सम्प्रदायकी कट्टरता मशहूर है। मजाल नहीं कि इसका कट्टर अनुयायी अपने ही सम्प्रदायके किसी अन्य अनुयायीका स्पर्श किया हुआ भोजन कर ले। कुछ लोग तो इतने नियमनिष्ठ होते हैं कि पूर्ण एकान्तमें, जहाँ किसीकी परछाई भी न पड़े वहाँ भोजन करते हैं। कहा जाता है कि एक बार रामानन्दजी भारतके विविध भागोंमें अपनी लम्बी यात्रा समाप्त करके जब गुरुके पास काशी आये तो इनके गुरुभाइयोंने इनपर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने अपनी लम्बी यात्रामें खान-पानके नियमका उल्लंघन अवश्य किया होगा, अतः वे पतित हो गये। फलतः उनकी शुद्धिके लिए गुरुभाइयोंने उन्हें गुरुमें प्रायश्चित्त-रूपमें दण्ड दिलाना चाहा। इसपर गुरु-शिष्यमें वाद-विवाद छिड़ गया। राघवानन्दने रामानन्द को आशा दी कि तुम मेरे सम्प्रदायसे बहिष्कृत हो, चाहो तो अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित करो। गुरु शिष्यके इसी झगड़ेने रामानन्दी सम्प्रदायको जन्म दिया। इस सम्प्रदायका प्रभाव रामानन्द और उनके समकालीन शिष्योंतक ही सीमित न रहा, अपितु उत्तरोत्तर विकसित होता गया और भारतीय धर्म-अध्वरामें इसने एक नूतन क्रान्ति पैदा कर दी।

'अवधूत'का एक दूसरा भी अर्थ होता है; अर्थात् जिस व्यक्तिने सभी सासारिक बन्धनोंका त्याग कर पूर्ण रूपसे वैराग्यवृत्ति ग्रहण कर ली हो, उसे 'अवधूत' कहते हैं—

‘यो विलंघ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान्।

अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूत स उच्यते॥’

इस अर्थमें भी रामानन्दजी 'अवधूत' ही ठहरते हैं।

रामानन्दी सम्प्रदायका सामान्य वैशिष्ट्य भी जिज्ञास्य है खान-पान-की संकीर्णता, जिसके कारण रामानन्दको 'अवधूत होना पड़ा, सर्वप्रथम, उन्होंने उसके वन्धनको शिथिल किया। अपने अनुयायियोंको परस्पर कन्धेसे कन्धा मिलाकर बिना किसी भेद-भावके खाने-पीनेका आदेश किया। श्रीसम्प्रदायके अनुयायी सदस्य द्विजातिके सभी लोग हो सकते थे, पर गुरु होनेका टीका केवल ब्राह्मणोंको ही सौंपा गया था, इधर रामानन्दजीने गुरु और अनुयायी सदस्य दोनोंका मार्ग सभी वर्णोंके लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने निम्नकुलोत्पन्नोंको भी अपना शिष्य बनाया जैसा कि उनके प्रधान द्वादश शिष्योंकी इस नामावलीको देखनेमात्रसे पता चल जाता है—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, पीपा, कवीर, भावानन्द, सेना, धाना, रैदास, पद्मावती, सुरसरी^१। यद्यपि इन द्वादश शिष्योंकी यह नामावली सभी विद्वानोंके अनुसार एक-सी नहीं है^२, तथापि कवीरका जुलाहा, रैदासका चमार, धानाका जाट और सेनाका नाई होना तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं।

उक्त नामावलीमें स्त्रियोंका नाम देखते हुए हमें यह भी मानना पड़ेगा कि स्वामीजीके सम्प्रदायमें स्त्रियाँ भी दीक्षा पानेकी अधिकारिणी थीं। इस सम्प्रदायमें भक्ति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्थामें कोई सम्बन्ध न था। यह बात रामानन्दजीके सभी शिष्योंकी रचनाओंसे स्पष्ट लक्षित होती है। उनके शिष्योंमें ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जिसने वर्णाश्रम-व्यवस्थापर जोर दिया हो। उन सबकी रचनाएँ प्रायः हिन्दी भाषामें मिलती हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रामानन्दजीके उपदेश भी हिन्दीमें ही हुए थे, इसीसे उनके शिष्योंने भी उसी मार्गका अनुगमन किया। रामानुजकी भाँति रामानन्द केवल ब्राह्मणोंके लिए संस्कृतमें रचना करनेवाले न थे। इधर रामानन्दजीके नामपर भले ही उनके प्रशिष्योंने 'आनन्द-भाष्य', 'रामानन्द-दिग्विजय', वैष्णवमताञ्जभाष्य' और 'रामार्चन-भक्ति-पद्धति' आदि संस्कृत ग्रन्थोंकी रचनाएँ कर दी हैं पर इससे स्वामीजीका क्या महत्त्व बढ़ा इसे उक्त ग्रन्थोंके प्रणेता ही जानें। वस्तुतः स्वामीजीकी कीर्ति-ध्वजा उनके उदार-भक्ति-पथ-प्रवर्तनके कारण फहरा रही है, न कि उनके नामपर इन संस्कृत ग्रन्थोंकी रचनाके कारण।

रामानन्दी सम्प्रदायका दार्शनिक दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैत है। इसके अनुयायी विष्णुके समस्त अवतारों का देवत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु श्रीरामको अपना इष्टदेव मानते हैं। रामानुजी वैष्णवकी भाँति वे उनकी पृथक् किंवा युगल मूर्तिकी आराधना करते हैं और शालिग्राम तथा तुलसीपर भी श्रद्धा रखते हैं। विष्णुके अन्यान्य विग्रहोंको भी पूजते हैं और केवल नामस्मरणसे मोक्ष मानते हैं। रामनाम ही इन लोगोंका गुरु-मन्त्र है। जयश्रीराम, जयराम, सीताराम इत्यादि परस्पर अभिवादनके शब्द हैं। तुलसीकी माला और विशेष प्रकारका तिलक धारण करना इसके बाह्य साम्प्रदायिक चिह्न है।

रामानन्दके अवधूत कहलानेकी चर्चा यद्यपि हो चुकी है, तथापि किञ्चित् संकेत और करना है। निस्सन्देह रामानन्दजीने त्याग-वृत्तिकी प्रधानता और उदारताके कारण अपने मतानुयायियोंको अवधूतकी कोटिमें पहुँचाया था, किन्तु आये दिन कुछ ऐसी प्रतीति होती है कि रामानन्दके बाद रागियोंकी संज्ञा भी वैरागी हो गयी, यही कारण है कि रामानन्दी आज दो भागोंमें विभक्त पाये जाते हैं। एक श्रेणी गार्हस्थ्य

१. वही पृ० ५७०; 'भक्तमाल' छप्पय ३६। २. दे० क्षितिमोहन सेन : 'मि० मि० आ० ई०', पृष्ठ ७२; विल्सन : 'ए० ए० ले० आ० रे० आ० हि०', पृ० ५५-५६; इन दोनोंने द्वादश शिष्योंकी जो नामावली दी है वह ऊपरकी नामावलीसे भिन्न है। फर्ग्युहरकी नामावली इन दोनोंसे भिन्न है। दे० 'ए० आ० ला० आ० रे० लिट० आ० ई०' पृ० ३२५।

धर्मका पालन करती है और दूसरी सांसारिक झगलोंसे दूर रहती है। इन न्यायियोंके दो प्रधान कर्म हैं—तीर्थाटन और भिक्षाटन। वे तीर्थाटन करते हुए स्थान-स्थानपर निर्मित मठों या अखाड़ोंमें कुछ दिन निवास करते हैं। जब वृद्ध किंवा जराग्रस्त होते हैं तब किसी अखाड़ेका आश्रय ग्रहण कर वहीं काल-यापन करते हैं, अथवा स्वयं किसी नये मठकी स्थापना कर उसमें अपने जीवनका शेषांश व्यतीत करते हैं।

मठों या अखाड़ोंमें प्रायः एक विग्रह-मन्दिर अथवा मठ-स्थापक या किसी धर्माचार्यकी समाधि और महन्त तथा उनके शिष्योंके रहने योग्य स्थानकी व्यवस्था रहती है। जो उदामीन या तीर्थयात्री मठ देखने आते हैं उनके ठहरनेके लिए वहीं एक धर्मशाला भी होती है। मठाधीश महन्तके न्यूनातिन्यून तीन या चार और अधिकसे अधिक तीस या चालीस सहवासी शिष्य होते हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य शिष्य होते हैं वे सहवासी नहीं गिने जाते। वे यत्र-तत्र भ्रमण किया करते हैं।

सहवासी शिष्योंमें कुछ प्रधान शिष्य होते हैं। इन प्रधान शिष्योंके भी शिष्य होते हैं। महन्तके स्वर्गप्रयाणके अनन्तर यदि वह गृहस्थाश्रमी हुआ और उसके लड़के हुए तो वे ही महन्तपदके अधिकारी होते हैं; अन्यथा अनेक मठोंके महन्त मिलकर सभा करते और प्रधान शिष्योंमेंसे किसी सुविज्ञको महन्त-पदपर प्रतिष्ठित करते हैं। यदि भविष्यमें वह अयोग्य सिद्ध हुआ तो पञ्चायत करके उसे पदच्युत करते और किसी अन्य प्रधान शिष्यको महन्त बनाते हैं।

किसी-किसी प्रदेशमें अनेक मठ होते हैं, उनमें प्रधान धर्माचार्यका मठ सर्वोपरि माना जाता है। यदि इसका महन्त गोलोकवासी हुआ और उसका कोई उत्तराधिकारी न रहा तो प्रधान मठोंमेंसे किसी एक का महन्त उसका उत्तराधिकारी बनाया जाता है। उसके अभिषेकमें दस-बारह दिनका समय लग जाता। साधुओंका भारी भण्डारा होता है।

गुरु-परम्परा-सहित रामानन्दी सम्प्रदायकी जो विशेषताएँ अभीतक इंगित की गयीं उन्हें दृष्टिमें रखते हुए देखना है कि इनमें तुलसीके मतमें कहाँतक साम्य अथवा वैषम्य है। परन्तु इसकी विवेचना करनेके पूर्व हम एक प्राचीन—लगभग पौने दो सौ वर्ष पुराने—हस्तलिखित ग्रन्थ^१के सहारे, जिसमें रामानन्दी की 'रामरक्षा' भी सन्निविष्ट है रामानन्दके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ नयी बातें प्रकट करना चाहते हैं। 'रामरक्षा'के स्वरूपका आभास अधोलिखित अवतरणोंसे मिल जायगा।

‘ॐ अषंड मंडलं निराकार व्यापते सचराचरं।

ॐ त्मई गुरुभ्यो नमः। आत्मा गुरुभ्यो नमः।

परमात्मा गुरुभ्यो नमः। आदे गुरुदेव अंति गुरुदेव।

स्मरणि गुरुदेवके चरणारं। विद्या दि कान्म सतते।

हरते सरब व्याधि। सकल संताप दुइ दालिडू रोग पीड़ा।

कलह कलपानां। सकल विधन षंड षंडा ॐ त्मई श्रीराम ॥

रष्यार रकार बानी।

१. विल्सन—‘एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजन्स आब हिन्दूज’, भाग १, पृ० ४९।

२. वही, भाग १, पृ० ५०। ३. इस ग्रन्थका नाम है—‘बाबा सेवादासकी बानी, चेलादामकी निरंजनि’। लिपि-निर्माण काल है सं० १८५५-५६; यह लिपि ‘का० ना० प्र० सं०’ में है।

अनन्तै निरभै मुक्ति जानी । बंधिया मूल देषिया अस्थूल ।
गिगन गरजंत धुनि-ध्यान लागा रहै । रहत तीन गुण सील
संतोष मैं ।

राम रक्ष्या दीया आकार जाग्या । पाँच तत्व पंचीस प्रकृति ।
पंच भू आत्मा पंच वाई । सम दिष्टि स्वधरि आँणी' ।'

.....

ये 'गमरक्षा' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं । मध्यकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

'गंग उल्टी चलै भौनि पश्चिम मिलै । निकसीया बिंव प्रकास कीया ।
आत्मा माँहि दीदार देखत रहै । यूँ अजरा अमरकै आप जीया
पुण पुणी रुण झुणी नाउरी नाद नादं । सुख मनां काछके
स्वाद स्वादं ।

चाचरी भूचिरी पेचरी अगोचरी उनमनी ।
पाँच मूड़ा साध तैं सीधा जोगिंडा ।
डरेड़ गरे जले थले घाटे औघटे ।
त्समई श्रीराम रक्ष्या कर । बाघ बाघनी कारुकाला ।
नवग्रह हतया षंड टारुँ । दुहाई फिरती रहै अलख निरंजन
निराकार केचक्रे फिरे बारबारं ।'

.....

रामरक्षाका अंतिम अंश इस प्रकार है—

'कवल दल कवल दल जोति ज्वाला जगै ।
भूर गुंजार तैं आकास लागा ॥
रमत सार सोषंत रुडू बिंद रोम नाडी ।
गरजंत गगन बाजंत बैन ॥
सब सबद धुनि त्रिकुटी दास रामानंद ।
ब्रह्म चीन्ह तत्ते ब्रह्म ग्यानी ।
राम रक्ष्या मणते उधरे प्राणी ।
लागीया विचार पारंगता ।
पंथे घोरे राज दरबारे । संग्रामे संकटे ।
संझया काले । प्राति काले । मध्याने ।
श्री राम रक्ष्या उचरते उधरे प्राणी ।
पुनेन हारेते । ते जप जे जदारदनं ।
मोष मुक्ति फल पावते ।'

‘इति श्री गोसाईं रामानन्द विचरंचरते ‘राम रथ्या’ पठत ते सुणते ते मोप मुक्ति फल पावते ।’

‘रामरक्षा’की भाषाकी प्राचीनता उसे रामानन्द-कृत होनेमें तनिक भी सन्देह नहीं उत्पन्न करती । उसमें समाविष्ट सिद्धान्त स्पष्टतः लक्षित करते हैं कि रामानन्दका उपास्य राम एकमात्र अलख, निरञ्जन, निराकार ब्रह्म है । ‘रामरक्षा’में इंगित यह अलख निरञ्जनकी उपासना योगियोंकी उपासनासे मिलती है । इसमें सगुणोपासनाका कोई स्थान नहीं । इसके आधारपर तो यही कहा जा सकता है कि ‘रामरक्षा’ के रचयिता गोसाईं रामानन्दजी योग-मार्गी ब्रह्मोपासक थे ।

जिस प्राचीन हस्तलिखित-ग्रन्थ—‘बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि’में ‘रामरक्षा’ संगृहीत है उसीमें वर्णित पीपाकी कथासे किसीको ऐसा सन्देह करनेका अवकाश नहीं रह जाता कि ‘रामरक्षा’के रचयिता गोसाईं रामानन्दजी कोई और रहे हों । उक्त ग्रन्थमें इसका विस्तृत वर्णन है कि रामानन्दजीके पास पीपा क्योंकर काशी आये । पीपाके काशी आनेपर ही रामानन्दने उन्हें तत्क्षण शिष्य नहीं बना लिया, प्रत्युत लौटकर घर जाने और घरमें रहकर वैराग्य सम्पादन करनेका आदेश किया । साथ ही अवसर आनेपर दीक्षा देनेका वचन भी दिया । पीपा स्वामीजीकी आज्ञा मानकर लौट आये । घर आकर उन्हें राजकाजसे घोर अरुचि हो गयी । निर्दिष्ट अवधि बीतते देख उन्होंने स्वामीजीको दम आशय का पत्र भेजा—

‘हमकुँ आवत बनत नाहीं । हरिजन बहुत बिमुखकै जाहीं ॥
और जौ बचन तुम्हारौ पाऊँ । सेवा छाँड़ि लैन हूँ आऊँ ॥
जब रामानन्द बाँची पाती । लीयौ रैदास कबीर संगती ॥
और भगत चालीस बुलाए..... ।
रामानन्दको दरसन करीया । कनक दंड लूँ पीपा परीया ॥
स्वामी भेंटे कंठ लगाई । फिरि पीपा लेत बुलाई ॥
मिले कबीर और वैरागी । जिनकी प्रीति राम सूँ लागी ॥
कंठ लागि भेंटे रैदासू । ढारें प्रेमके निरमल आँसू ॥
बैठि प्रसन्न बूझी सारा । बहुत कथा को करे पसारा ॥’

अवतरणसे स्पष्ट है कि इसमें उन्हीं रामानन्दका उल्लेख है जिनके शिष्य कबीर, रैदास, पीपा आदि थे ।

पीपाकी कथाके प्रसंगमें यह भी वर्णित है कि पीपाकी अनन्य पति-भक्ता छोटी रानीकी अपूर्ण निष्ठा देखकर स्वामीजीने उसे ‘धर्मकी बेटी’ कहते हुए गले लगाकर उसका सम्मान किया और उसे वैराग्य-पथमें आनेकी आज्ञा भी दे दी । देखिये—

‘करि दंडवत चरन लै परीयाँ । रामानन्द साथे कर धरीया ॥
हिये लगाइ प्रीति करि भेंटी । स्वामी कह्यो धरम कै बेटी ॥
कह्यो हमारो मानहु पीपा । सीतहि तुम करि लेहु समीपा ॥’

प्रसंगसे अवगत है कि नारी भी स्वामीजीके पन्थमें समादृत हुई ।

पीपाके वृत्तान्तकी इति करते हुए जो प्रचर्च-माहात्म्य दिया गया है उससे दो बातें स्पष्टतया प्रकट

होती हैं, अर्थात् रामानन्दकी शिष्य-परम्परा अनन्तानन्दसे चली और उनकी उपासना पागब्रह्मसे सम्बन्ध रखती है। देखिये—

‘रामानंदको अनन्तानंदू। सदा प्रगट ज्युँ पूरण चंदू ॥
ताको अगर आगरै नेमूँ। ले निबह्यो सुभिरन कौ नेमूँ ॥
अगरकी सीष बिनौ दीयाई। ताको दास अनंत ही आई ॥
ता परसाद प्रचई भाखी। सुनहु संत जन साची साखी ॥
यह प्रचई सुने जो कोई। सहजै सब सुख पावइ सोई ॥

जोग जग्य जप तप जेते। हरिकी कथा हि न पूजै तेते ॥
सुर नर मुनि ब्रह्मादिक गावहीं। पारब्रह्म को अन्त न पावहीं ॥’

‘सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि’के आधारपर रामानन्द और उनके शिष्योंकी जो चर्चा ऊपर की गयी उससे यही कहा जा सकता है कि रामानन्द और तुलसीदासकी उपासनमें कोई सम्बन्ध नहीं। दोनोंके सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। जहाँ रामानन्द योग-पद्धतिसे पारब्रह्मकी उपासनाको प्रश्रय देनेवाले हैं, वहाँ तुलसीदास सगुण भक्ति-पद्धतिसे रामोपासना करनेवाले हैं।

उक्त ‘सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि’में लगभग दार्द सौ पृष्ठोंकी किसी ‘तुलसीदास’की ‘वाणीसंग्रह’ भी है। इस ‘तुलसीदासकी वाणीसंग्रह’में निर्गुण पन्थकी बृहद् व्यंजना हुई है। उसमें कबीर की रचनाओंमें मिलनेवाले सभी सिद्धान्त समाविष्ट हैं। इस वाणीके रचयिता ये ‘तुलसीदास’ रामानन्दजीके पक्के अनुयायी दिखाई पड़ते हैं। सम्भवतः ये ही रामानन्दकी शिष्य-परम्परासे सम्बद्ध रहे हों। नामके भ्रममें पड़कर लोग हमारे गोस्वामी तुलसीदासको रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें घसीट लाये हों।

‘बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि’के आधारपर रामानन्दके विषयमें हमें जो कहना था, कह चुके। अब पीछे स्थगित किये प्रसंगकी ओर आइये। सर्वप्रथम, हमें रामानन्दकी शिष्य-परम्परा को ध्यानमें रखकर विचार करना चाहिये कि उसमें गोस्वामीजीको सम्मिलित करना कहाँतक समीचीन होगा। रामानन्दके प्रधान द्वादश शिष्योंका नामोल्लेख हो चुका है। उन्हींमें नरहर्यानन्दका नाम भी आया है। यदि भ्रमवश हम उन्हीं नरहर्यानन्दका शिष्य मानकर तुलसीको रामानन्दकी शिष्य-परम्पराका ठहरावें तो यह संगत कैसे होगा? कहाँ चौदहवाँ शतक और कहाँ सोलहवाँ और सत्रहवाँ शतक? यदि कोई नरहर्यानन्दकी लगभग तीन-चार सौ वर्षकी आयु सम्भाव्य माने तो उसे नरहर्यानन्दके शिष्य किसी ‘तुलसीयानन्द’ आदिकी कल्पना भी कर लेनी चाहिये।

कुछ विशेष विचारशीलोंने तुलसीदासको रामानन्दकी शिष्य-परम्पराकी आठवीं पीढ़ीमें बताया है। प्रियर्सन साहबको प्राप्त किन्हीं दो सूचियोंकी ओर संकेत करते हुए गुरु-परम्पराका निर्देश यों किया है—१. रामानन्द—२. सुरसुरानन्द,—३. माधवानन्द,—४. गरीबानन्द,—५. लक्ष्मीदास,—६. गोपाल-दास,—७. नरहरिदास,—८. तुलसीदास^१।

१. दे० ‘बाबा सेवादासकी बानी, चेलादासकी निरञ्जनि’ पृ० ६५१। २. वही, पृ० ३९५, ५३५। ३. दे० डा० श्यामसुन्दरदास, डा० बद्धवाला : ‘गोस्वामी तुलसीदास’, पृ० ३८।

रामानन्द और तुलसीदासके बीच लगभग तीन सौ वर्षोंका अन्तर पड़ता है। फलतः इन आठ पीढ़ियोंका क्रम खींचा-तानी करके उसमें खपाया जा सकता है। हाँ, गोस्वामीजीके पूर्वकी तीन पीढ़ियोंके गुरुओंके नामके साथ 'दास' देखकर उक्त परम्परासे उन्हें जोड़ना कुछ कम कृत्रिम लगता है। जो भी हो, रामानन्दी सम्प्रदायकी जितनी भी शिष्य-परम्पराएँ मानी जाती हैं उनमेंसे किसीमें तुलसीदासका नाम अभी-तक कहीं न देखनेके कारण मैं नहीं कह सकता कि वे रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें थे।

अस्सी घाटपर स्थित जिस मठका सम्बन्ध गोस्वामीजीसे बताया जाता है उससे सम्बद्ध कोई लिखित या परम्पराश्रुत प्रमाण नहीं मिलता कि उक्त मठ किसी रामानन्दी महन्त या उसके शिष्य-प्रशिष्यके अधिकारमें रहा हो और तुलसीने उन्हींसे अधिकार पाया हो। तात्पर्य यह कि मठ आदिके आधारपर भी तुलसीदास रामानन्दकी शिष्य-परम्परामें नहीं ढकेले जा सकते।

रामानन्दी सम्प्रदाय तथा तुलसीदास दोनोंकी उपासना-सम्बन्धी कुछ विशेषताओंका तारतम्य करते हुए भी देखना चाहिये कि क्या ये रामानन्दकी सम्प्रदायके वैष्णव प्रतीति होते हैं। इष्टदेवके विचार से ऐसी प्रतीति होती है कि बाबाजी रामानन्दी सम्प्रदायके थे, क्योंकि रामको रामानन्दी वैष्णव अपना इष्टदेव मानते हैं और सीताराम एवं लक्ष्मणकी त्रिमूर्तिका ध्यान करते हैं। इधर गोस्वामीजीको भी यही विधि अभीष्ट है। तुलसीकी माला और तिलकका बाह्य विधान रामानन्दी सम्प्रदाय ग्रहण करता है और तुलसीको भी यह मान्य है। जाति-पाँति-भेद भगवद्भक्तिके मार्गमें नगण्य है, सभी भगवत्प्रेमके अधिकारी हैं, ऐसा रामानन्दी सम्प्रदाय और तुलसीदास दोनों ही मानते हैं। यही अथवा त्यागी किसी रूपमें रहकर उपासना की जा सकती है—यह रामानन्दी सम्प्रदाय स्वीकार करता है। तुलसीदासजी भी इसके प्रतिकूल नहीं। इस साम्यसे ऐसा आभास मिलता है कि गोस्वामीजी रामानन्दी वैष्णव थे। परन्तु जब हमारा ध्यान उनकी पञ्चदेवोपासना आदिके व्यापक विचारकी ओर जाता है तो मालूम पड़ता है कि वे स्मार्त वैष्णव थे। अस्तु, उनके सम्बन्धमें हमें ये वाक्य यथातथ्य ज्ञेयते हैं—'तुलसीदास रामानन्द-सम्प्रदायकी वैरागी परम्परामें नहीं जान पड़ते। उक्त सम्प्रदायके अन्तर्गत जितनी शिष्य-परम्पराएँ मानी जाती हैं उनमें तुलसी दासका नाम कहीं नहीं है। रामानन्दकी परम्परामें सम्मिलित करनेके लिए उन्हें नरहरिदासका शिष्य बताकर जो परम्परा मिलायी गयी है वह कल्पित प्रतीति होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे, पर स्मार्त वैष्णव थे'।

वैरागी सम्प्रदाय और तुलसीदास

वैरागी सम्प्रदायके बीच गोस्वामीजीकी वाणी आत्मवाक्यवत् पूजित है। इसके अनुयायी 'राग-चरितमानस'को अपना धर्म-ग्रन्थ मानते और उसका पारायण करते हैं। उनकी प्रबल आस्था देखते हुए विचार उठता है, हो न हो वैरागी सम्प्रदायके प्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास ही हों। परन्तु यह कोई कल्पना है। हमें अनेकानेक प्रमाण मिलते हैं कि वैरागी सम्प्रदाय तुलसीके बहुत पहलेमें चला आ रहा है।

वैरागिन् (सं० ति०) 'विरागस्य भावः वैराग्यं तदस्यास्तीति' वैरागी—उदासीन वैष्णव सम्प्रदाय-भेद। इन लोगोंने विषय-वासनाको तिलाञ्जलि देकर संसार-धर्मका त्याग किया है। इस सम्प्रदायके अनुयायी रामानुजी या रामानन्दी मतका अनुसरण करते हैं। ये लोग श्रीकृष्ण या श्रीरामको अपना उपास्य

देव मानते हैं तथा उदासीन संन्यासीकी भाँति राह-राह भीख माँगते हैं। 'ओं रामाय नमः' इनका मूल मन्त्र है। ये श्रीकृष्णका भजन तो करते हैं, पर राधाको उनकी शक्तिके रूपमें न ग्रहण कर अनुगत भाभिनीके रूपमें मानते हैं। इनके मतमें भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिरूपिणी हैं—कृष्णिणी देवी। जो लोग अयोध्यापति रामके उपासक हैं वे सीताको लक्ष्मी-स्वरूपिणी मानकर उपासना करते हैं^१। यह संक्षिप्त विवरण वैरागियोंके दो भेदोंका द्योतक है, अर्थात् रामानुज सम्प्रदाय या श्रीमम्प्रदायके वैष्णव तथा रामानन्दी वैरागी।

वैरागी सम्प्रदायका जो सर्व-जन-प्रसिद्ध या रूढ़ अर्थ लिया जाता है उसके अन्तर्गत प्रायः रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदायोंके अन्तर्भुक्त साधु अथवा उसी सम्प्रदायकी अन्य शाखाओंके प्रवर्तक कबीर, दादू आदिके द्वारा प्रवर्तित पन्थोंके अनुयायी आते हैं^२। इस संकुचित अर्थके विचारसे भी वैरागियोंका कोई सामान्य स्वरूप नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता। उनके दीक्षा-मन्त्रमें एकता अवश्य है, पर उनके सिद्धान्त और व्यवहारके भेद तो असंख्य दिखाई पड़ते हैं। प्रायः जो मटोंमें रहते हैं उनके सिद्धान्त तो बहुत कुछ स्थिर रहते हैं, परन्तु जो विचरते ही रहते हैं और जिनका सम्पर्क नये-नये देवोपासकों अथवा विविध आचार-विचारवालोंसे होता ही रहता है उनके सिद्धान्त और व्यवहारमें स्थिरता कैसे टिक सकती है ?

सन् १९०१ ई० की 'सेन्सस रिपोर्ट'से प्रकट होता है कि उस समय वैरागियोंकी संख्या ७,६५,२५३ थी, इनमें अधिकांश बंगाल और राजपूतानामें रहते थे। यद्यपि 'वैरागी' शब्द प्रायः विष्णु-भक्तका द्योतक है तथापि यह साक्षात् विष्णु और उनके अन्य अवतारोंके उपासकोंका बोधक न होकर प्रधानतः राम अथवा कृष्णके उपासकोंका ही व्यञ्जक है। कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उत्तरी भारतमें दिखाई देनेवाले वैरागी सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा बौद्ध शासकोंके हासकालके पश्चात् राजपूतोंके अभ्युदय-कालमें हुई^३। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताकी पुष्टि कतिपय विद्वज्जनोंकी सम्मतियोंके आधारपर डब्लू. क्रूकेने अपने अनुसन्धानमें यों की है—'वैरागी लोग कदाचित् भारतीय धर्मका बहुत प्राचीन तत्त्व प्रकट करते हैं, इस सम्प्रदायके वाघम्वरधारी अनुयायी निस्सन्देह नृसिंह अवतारका प्रतीक वैसे ही व्यक्त करते हैं जैसे भागवत लोग अपने वस्त्र या नृत्यादिके द्वारा कृष्णका अनुकरण करते हैं। उपास्यकी स्वरूपाभिव्यक्तिके लिए पुजारीका अपने इष्टदेवका प्रतीक धारण करना तो प्रायः सभी प्राचीन धर्मोंकी आदिम अवस्थामें मिलता है। विकासके पश्चात् भी पुरानी धार्मिक प्रथा जीवित रहती है, किसी विशिष्ट पशुचर्मके धारण आदिका यही अभिप्राय है। तिब्बतमें ऐसी प्रथा आज भी वर्तमान है'^४।

पहले कहा जा चुका है कि रामानुजी सम्प्रदाय और रामानन्दी सम्प्रदाय दोनोंमें ही वैरागी वैष्णव होते हैं। हमें यह स्वीकार करनेमें आपत्ति न होनी चाहिये कि वैरागी सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा रामानन्दके बहुत पहले हुई, क्योंकि रामानुजका समय रामानन्दके बहुत पूर्वका है। यदि रामानन्द वैरागी सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जायें तो भारी ऐतिहासिक भूल होगी। अतएव यह कहना अधिक संगत होगा कि वैरागी सम्प्रदायका प्रवर्तन कदाचित् दक्षिणसे रामानुजके सिद्धान्तोंके साथ हुआ। चाहे यह सम्प्रदाय दक्षिणमें रामानुजके समय उद्भूत हुआ हो, चाहे और भी प्राचीन अज्ञात कालमें, पर इतना तो निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि इसकी जो व्यापकता और प्रधानता इस समय उत्तरी भारतमें वर्तमान है

१. वही 'विश्वकोश'। २. विल्सन : 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन् दी रेलिजिअस आन् हिन्दूज';

१८४-८५। ३. 'इन्साइक्लोपीडिया आन् रेलिजन एण्ड एथिक्स', भाग २, पृ० ३३७। ४. वही।

वह रामानन्दके प्रयासका फल है। यही कारण है कि लोगोंकी दृष्टि सामान्यतः रामानन्दके अनुयायियों को ही वैरागी रूपमें देखती है। रामानुज-कालीन वैरागी सम्प्रदाय अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णताके कारण द्विजातियोंको ही अपनेमें सम्मिलित करता था, किन्तु रामानन्दजीने उस संकीर्ण कटघराको तोड़ उसमें सभी जातियोंके स्वागतके लिए व्यापक और विस्तृत दूसरा द्वार बनाया, फलतः लोगोंने यही समझना शुरू कर दिया कि वैरागी सम्प्रदाय रामानन्दका ही प्रवर्तित सम्प्रदाय है।

निस्सन्देह रामानन्दजीने वैरागी सम्प्रदायका उत्कर्ष बढ़ाया और कुछ कालतक वह विकसित होता रहा, पर कालान्तरमें वह पुनः विकारग्रस्त हो गया। उसकी कट्टरता यहाँतक बढ़ी कि विष्णुके एक अवतार कृष्ण अथवा रामकी उपासना करनेवाले ही आपसमें पार्थक्य समझने लगे। यही नहीं, कदाचित् उन्हें राम और सीतामें भी भेद दिखाई पड़ा और कुछ लोग स्त्रीवत् वेशमें रहकर वैदेहीकी उपासनामें दत्तचित्त हुए और बाबा वैदेहीशरण आदि बने। इसी प्रकार रामोपासनाको प्राधान्य देनेवाले रामके अनुरूप वेश बनाते हुए बाबा रामदाम आदि कहलाये। कट्टर वैरागियोंमें कुछ ऐसे भी होते हैं कि यदि उनसे शिवलिंगका स्पर्श हो जाय तो अपनी अपवित्रता दूर करनेके लिए वे स्नान अवश्य करेंगे।

इस समय पंजाबमें वैरागियोंके दो सम्प्रदायों अर्थात् रामानन्दी और नीमानन्दीके सिद्धान्तों और विचारोंमें महान् अन्तर दृष्टिगत होता है, दोनोंने अपनी-अपनी कट्टरताकी हद्द कर दी है।^१ इधर उत्तर प्रदेशके रामानुजी और रामानन्दी वैरागियोंमें भी कम कट्टरता नहीं।

वैरागियोंकी ऐसी कट्टरता आजकी वस्तु नहीं कही जा सकती। साथ ही यह भी अमान्य नहीं हो सकता कि कट्टरताके विरोधी रामानन्दके प्रभावसे उनके बहुत दिनों बादतक भी ऐसी कट्टरता नहीं रही होगी। ऐसी स्थितिमें तुलसीके युगमें वैष्णवों और शैवोंकी कट्टरताके साथ वैरागियोंकी इस आन्तरिक कट्टरताकी उत्पत्तिकी सम्भावना करना निराधार नहीं कहा जा सकता। अतएव हम यही अनुमान करते हैं कि जैसे रामानन्दने रामानुजी वैरागी सम्प्रदायका परिवर्द्धित स्वरूप स्थिर करनेका प्रयास किया और उदार वैरागी सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की वैसे ही तुलसीदासने भी स्वकालीन विवृत वैरागी-सम्प्रदायकी कट्टरता भंग करनेका प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप अब अधिकांश वैरागियोंमें यथेष्ट उदारता आ गयी है। एक ही मन्दिरमें राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान आदिकी मूर्तियोंके अतिरिक्त राधा-कृष्ण अथवा शिवलिंग आदि भी प्रतिष्ठित रहते हैं। उनकी पूजा भी होती है। कालसे प्रभावित, रामानन्दके बाद जो वैरागी सम्प्रदाय अपनी संकीर्णतावश द्रोहकी ज्वालामें दग्ध होनेपर उतारू था उसे तुलसीने ऐसा प्रशस्त नवजीवन-दान दिया कि वह सजग होकर विस्तृत हो उठा। 'मानस' जैसा अपना धर्म-ग्रन्थ पाकर वैरागी सम्प्रदायने मानों उदारताकी ओर नया डग रखा। मैंने कितनोंको यह कहते सुना है कि वैरागी सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं—बाबा तुलसीदास। गोस्वामीजीने वैरागी सम्प्रदायका प्रवर्तन किया है, भले ही हम ऐसा न कह सकें, परन्तु यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि प्रायः सभी वैरागी सम्प्रदायोंको गोस्वामीजीमें ऐसी विशिष्ट चेतना मिली है जो उनकी संकीर्णताका किसी न-किसी अंशमें उच्छेद करती है। अतएव गोस्वामीजीको वैरागी सम्प्रदायका महान् सन्निपत्योपकारक कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं।

अन्य उपासना-पद्धतियाँ और तुलसीकी उपासना-पद्धति

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिकी व्यापकता, विशदता और महत्त्वकी सूक्ष्म अनुभूति करते हुए उन्हें हृदयंगम कराने के लिए यह अप्रासंगिक न होगा कि प्रस्तुत परिच्छेदके अन्तमें अब कुछ ऐसी अन्य उपा-

१. 'इन्साइक्लोपीडिया आबू रेलिजन एण्ड एथिक्स', भाग २, पृ० ३३७।

सना-पद्धतियोंसे, जिनके असत्यरूपपर तुलसी ने अपना सात्त्विक क्षोभ प्रकट किया है, उनकी उपासना-पद्धतिकी तुलना भी कर दी जाय। सर्वप्रथम शाक्त-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति लीजिये। निम्नांकित अवतरण भली भाँति प्रकट करते हैं कि उक्त सम्प्रदायकी वाममार्गी उपासना-पद्धति के प्रति तुलसीके कैसे विचार थे —

‘तजि सुति पंथ वाम पथ चलहीं । वंचक विरचि वेपु जगु छलहीं ॥’

...

...

...

‘कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा । अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥

..... ‘जीवत सच सम चौदह प्राणी ॥’

ये वाममार्गी तुलसीकी दृष्टिमें हेय क्यों टहरते हैं, इसका मर्म समझनेके लिए उनकी उपासना-पद्धतिका संक्षिप्त परिचय वांछनीय है।

शाक्त-सम्प्रदायकी प्राचीनता और उसकी स्थापना विवादास्पद है, तथापि उसकी प्राचीनतापर सन्देह न होना चाहिये। ऐसी कोई जाति और धर्म नहीं है जिसमें शक्ति की उपासना न हो। प्रायः समस्त संसार में स्त्री-तत्वकी उपासना प्रचलित है। वेदोंके आधारपर स्त्री-तत्वको ईश्वरसे भिन्न माननेके कारण इसकी सृष्टि हुई है। वेदोंमें ईश्वरकी ‘एकोऽहं बहुस्याम्’की इच्छाको ही विश्वोत्पत्तिका कारण माना है। ‘ऋग्वेद’ने इसी इच्छाको संसार-सृष्टिका बीज माना है। ‘सामवेद’का कहना है कि ईश्वरको अकेला रहना अप्रिय लगा और उसे किसी दूसरेकी इच्छा हुई। इच्छाके साथ ही उसने अपने आपको दो भागोंमें विभक्त कर दिया। एक स्त्री-तत्त्व हुआ, दूसरा पुरुष-तत्त्व। उन्हीं दोके संयोगसे सृष्टि उत्पन्न हुई। ‘ब्रह्मवैवर्तपुराण’के अनुसार सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा कर ईश्वरने द्विधा रूप धारण किया। दक्षिण अर्धभाग पुरुष और वाम अर्धभाग स्त्री-रूपमें परिणत हो गया। फिर उससे सृष्टि-विस्तार हुआ।

इस प्रकार ईश्वरोत्पन्न वही स्त्री-तत्त्व प्रकृति नामसे सम्बोधित हुआ। अनेक धर्मावलम्बियोंने उसे माया, महामाया किंवा शक्ति नामसे पुकारा है। उसका और ब्रह्मका स्वभाव एक-सा मोना गया है। अर्थात् ब्रह्मकी भाँति प्रकृति भी अनादि और अनन्त है। ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण वह ब्रह्मके सभी विशेषणोंसे विशिष्ट है।

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत ‘दुर्गासप्तशती’में बहुत ही विशद रूपसे उस आद्या शक्तिके अनेकानेक कारक, और संहारक स्वरूपोंका वर्णन है। उक्त प्रसंगमें ही कहा गया है—

‘विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।

त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः ॥’^१

कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारमें जितने स्त्रियोंके स्वरूप हैं वे सब उसी अनादि अनन्त प्रकृतिके स्वरूप माने गये हैं। जिस सम्प्रदायमें आद्या शक्तिकी उपासनाका प्रचार है उसे शाक्त सम्प्रदाय कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत पहलेसे प्रकृति-पूजा प्रचलित है। बौद्धोंने भी विघ्ननाशिनी तारादेवीका अस्तित्व स्वीकार किया है।

शाक्त सम्प्रदायकी प्राचीनता और उसका मूल तत्त्व देखनेसे स्पष्टतया प्रतीति होती है कि वेदमन्त्रोंके आधारपर प्राचीनकालमें ही इसकी सृष्टि हुई थी। सम्भव है, ऋषि-मुनियोंने इसका प्रचार किया हो,

किन्तु कालान्तर में अन्य धर्मोंकी भोंति इसमें भी अनेक परिवर्तन हुए। उनसे सम्प्रदायका महत्त्व नष्ट हो गया। यह लोगोंकी घृणा और तिरस्कारका लक्ष्य बन गया। इन परिवर्तनों के बाद सम्प्रदाय का जो स्वरूप संगठित हुआ उसका निर्देश अपेक्षणीय है।

शाक्त सम्प्रदायके तन्त्र-ग्रन्थोंके गम्भीर अध्ययनसे यह साफ प्रकट होता है कि ये ग्रन्थ दो प्रकारके हैं—वेदानुक्कल तथा वेदबाह्य। कितने ही तन्त्र-ग्रन्थोंमें वेद और योगशास्त्रकी बातें पायी जाती हैं। सम्भव है कि प्राचीन कालमें उन तन्त्रों की रचना वेदोंके आधारपर हुई हो और बादको उनसे तथा वेद-शास्त्रोंसे मैदान्तिक सम्बन्ध न रहा हो।

तान्त्रिक आचार एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरुके द्वारा दीक्षा ग्रहण करनेके समय शिष्यको इसका रहस्य समझाया जाता है। तान्त्रिकी पूजा करने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियोंके लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है। इसी दुरुह एवं गोप्य प्रकृतिके कारण उसे समझने और समझानेके लिए साधक तथा सिद्धमे बहुतसे लक्षण और गुण परमावश्यक माने गये हैं। इस पद्धतिके 'ह्रीं' 'स्त्रीं' आदि बीजमन्त्र भी बड़े ही विचित्र और रहस्यपूर्ण होते हैं।

शाक्त-सम्प्रदायमें तीन भाव और सात आचार माने गये हैं^१। इन्हींके आधारपर शाक्त साधकोंकी सात श्रेणियाँ^२ ठहरायी गयी हैं। इनमें सर्वोपरि सातवीं श्रेणीमें आनेवाले साधक 'कौलाचारी' है। 'नित्यतन्त्र'के तृतीय पटलमें कहा गया है कि महामन्त्र-साधक कौल दिवकालतिथ्यादि-नियमरहित, शिष्ट, भ्रष्ट, भूत-पिशाचवत् नाना रूपधारी होते हैं।^३

यद्यपि तन्त्रोंके अनुसार शाक्तोंके सप्त प्रकार ही निरूपित हुए हैं, पर संसारी दृष्टि से ये दो प्रकारके दिखाई पड़ते हैं—दक्षिणाचारी तथा वामाचारी।

दक्षिणाचारियोंकी उपासना वामाचारियोंकी उपासनासे भिन्न एवं पवित्र है, किन्तु भगवतीको प्रसन्न करनेके लिए पशु-बलि वे भी अनुचित नहीं मानते। यही ऐसी बात है जो खटकती है। काशिराज-प्रणीत दक्षिणाचार 'तन्त्रराज' में उनके कर्तव्याकर्तव्यका विस्तृत विवरण अंकित है। उसका कथन है—

‘दक्षिणाचारतन्त्रोक्तं कर्म तच्छुद्धवैदिकम्।’

शाक्त-सम्प्रदायोंमें अत्यधिक उग्र और भयंकर सम्प्रदाय है वाममार्गी। वाममार्गियोंके पञ्च मकरादि-सेवन, अभिचारदि-समर्थन एवं प्रवञ्चना प्रभृति घृणास्पद कर्मोंका अनुमान निम्नांकित उद्धरणोंमें किया जा सकता है—

‘पञ्चतत्त्वखोपुष्पं च पूजयेत् कुलयोषितम्।

वामाचारो भवेत्तत्र वामो भूत्वा यजेत् पराम् ॥’ (आचारभेदतन्त्र)

... ..

१. 'भाव' साधककी मानसिक अवस्था है और 'आचार' बाह्य आचरण। तीनों भाव ये हैं—पशुभाव, वीरभाव, दिव्यभाव। सप्ताचार ये हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार। विशेष विवरणके लिए देखिये पं० बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन' पृ० ५३२-३३। २. 'नित्यतन्त्र'में इन सातों श्रेणियोंके साधकोंके आचार पृथक्-पृथक् विस्तार-पूर्वक वर्णित है। ३. वामाचारियोंका एक सांकेतिक शब्द है। रजस्बलाके रजको 'ख' किंवा 'स्वयम्भूपुष्प', सधवाके रजको 'कुण्डपुष्प', विधवाके रजको 'गोलकपुष्प' और चाण्डालिनके रजको 'पुष्प' कहते हैं। 'भारतीय धर्मोंका इतिहास' पृ० १९९।

‘मद्यं मांसं च मत्स्यश्च मुद्रा मेथुनमेव च ।
मकारपञ्चकं चैव महापातकनाशनम् ॥’

(श्यामारहस्य)

‘पीत्वा मद्यं पठेत् स्तोत्रं साधकः कुलभैरवः ।
कुलस्त्रीसङ्गनिरतः कुलकार्यं समाचरेत् ॥’

(कुलार्णव)

रात्रौ कुलक्रियां कुर्यात् दिवा कुर्याच्च वैदिकीम् ।
दिवा रात्रौ यगेद् देवीं योगी योगप्रभेदतः ॥’

(निरुत्तरतन्त्र)

‘शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोद्घाटनं तथा ।
मारणं परमेशानि षष्ठं कर्म प्रकीर्तिमम् ॥

(योगिनीतन्त्र)

अन्तः कौला वहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवः ।
नाना रूपधराः शाक्ता विचरन्ति कलौ युगे ॥’

(कुलार्णव)

शाक्तों का यही नाटक देखकर कदाचित् गोस्वामीजीको कहना पड़ा—

‘तजि स्तुति पंथ वामपथ चलहीं । वंचक विरचि वेषजग छलहीं ।’

और ‘कौल’की शवसे तुलना करनी पड़ी ।

तुलसीकी उपासना और शाक्त-सम्प्रदायकी उपासनाका स्वरूप ध्यानमें रखते हुए अब दोनोंकी संक्षिप्त तुलना कीजिए । सर्वप्रथम दोनोंके इष्टदेवोंके स्वरूपमें अन्तर है । जहाँ बाबाजीकी उपासना परम पुरुष परमात्मा-तत्त्व लेकर चलती है वहीं शाक्तोंकी उपासना प्रकृतिस्वरूपा अनन्त स्त्री-तत्त्वपर अवलम्बित है । शाक्तसम्प्रदायी अन्ततोगत्वा अद्वैत ज्ञानकी प्राप्तिको ही परम लक्ष्य मानता है, किन्तु तुलसीकी उपासनामें आद्योपान्त एकमात्र अविरल प्रेम-भक्तिकी सिद्धि ही सब-कुछ है ।

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिमें इष्टदेवके वाचक राम-नामको ही महामन्त्र या बीजमन्त्र माना गया गया है, उसे आवाल-वृद्ध सभी बिना किसी आयास-प्रयासके कह-सुन सकते हैं, पर शाक्त बीज-मन्त्रोंमें ऐसी सुगमता कहाँ ?

गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धति यदि दिव्यालोकसे आलोकित राजमार्ग है तो शाक्तोंकी उपासना-पद्धति सूची-भेद्य अन्धकारसे घिरी हृदय कँपा देनेवाली भयानक गली । जहाँ तुलसीकी उपासनामें ‘सूखे मन, सूखे वचन सूधी सब करतूति’की अपेक्षा होती है वहाँ शाक्त-सम्प्रदायमें ‘टेढ़े मन टेढ़े वचन टेढ़ी सब

कर्मन्ति समझनी चाहिये । तुलसीकी उपासनामें किसी प्रकारका गोपन अवाञ्छनीय है, पर शाक्त-सम्प्रदायों-में गोपन, रहस्य, छिपाव या दुराव ही प्रधान वस्तु है ।

तुलसीकी उपासना-पद्धति वेद, पुराण तथा अन्यान्य सच्चास्त्रोंमें वर्णित सदाचार, शिष्टाचार और सूक्ष्म-तिसूक्ष्म धर्म-तत्त्वोंको अपनाती हुई चलती है, यह सर्व प्रकारेण सदाचारमूलक होनेसे विशुद्ध सात्त्विक परम्परागत भारतीय सनातन धर्मसे रज्जुमात्र भी पराङ्मुख नहीं, इसकी दृष्टिमें अनाचारसे पंकिल उपासना नितान्त हेय है । इसके आलम्बन राम ऐसे नहीं हैं कि उनकी परितुष्टिके लिए निरीह पशुओंकी बलि या पूजाकी आवश्यकता हो । उन्हें भक्त का एकमात्र सात्त्विक प्रेम एवं सदाचार ही प्रिय लगता है । इसके विपरीत शाक्तोंकी उपासना-पद्धति वेद, पुराण तथा अन्य सच्चास्त्रोंकी अवहेलना कर अनाचारमूलक कतिपय साधनोंको ग्रहण करती है । इसकी आलम्बन देवी जीव-हत्या करनेसे, निष्ठुर धर्मके अनुष्ठानसे प्रसन्न होती है, यह शाक्तोंका विश्वास है । इनकी दृष्टिमें अनाचार, कदाचार और व्यभिचार ही इनकी उपासनाके अंग नहीं अपितु मारण, मोहन प्रभृति अभिचार-कर्म भी सिद्धिके वैभव अतएव श्रेयस्कर हैं ।

शाक्त-सम्प्रदायके अतिरिक्त कुछ निर्गुण पंथोंसे भी तुलसीकी उपासना-पद्धतिका मिलान करना चाहिये । इन पंथोंसे ध्रुव होकर तुलसीने जो संकेत किया है उसे देखिये—

‘साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान ।

भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान’ ॥

कहना नहीं होगा कि ‘साखी सबदी दोहरा’ निर्गुण सम्प्रदायी उन्हीं उपासकोंकी ओर संकेत कर रहा है जो गोस्वामीजीके समयमें अपने-अपने मतकी साखी, सबद आदि रचनाओंके द्वारा प्रस्थापना कर रहे थे । तत्कालीन निर्गुणोपासकोंकी सभी रचनाएँ ‘साखी’, ‘सबद’ आदिके ही रूपमें मिलती हैं । अतएव उनके द्वारा भक्तिका निरूपण करनेवालोंमें कवीरपन्थी, दादूपन्थी, मलूकपन्थी आदि निर्गुण उपासकोंको समझना अनुचित न होगा । ‘किहनी उपखान’ सूफी साधक और प्रचारकोंकी ओर लक्ष्य करता है, क्योंकि सूफियोंकी रचनाएँ—कहानी और उपाख्यान—उनकी उपासनाका प्रचार करते हैं । उल्लिखित होनेसे जिन विशिष्ट सम्प्रदायोंका आभास मिलता है उनमेंसे प्रत्येकके स्वरूपपर अत्यन्त संश्रेषमें विचार करने हुए उससे तुलसीकी उपासनाका निरालापन दिखाना अभीष्ट है ।

कवीर-पन्थके संस्थापक हैं—महात्मा कबीरदास । एतदर्थ इस पंथकी उपासना-पद्धतिके सिद्धान्त-निरूपणमें कबीरकी रचनाओंका सहारा लेना अत्युत्तम होगा । कबीर-पन्थियोंकी उपासना का आलम्बन है—निर्गुण ब्रह्म । अपने इस इष्टदेवके स्वरूपके विषयमें कबीरने स्वयं कहा है—

‘जामै मरे न संकुटि आवै, नाँव निरंजन जाकौ रे ।

अबिनासी उपजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहै ताकौ रे’ ॥’

...

...

...

...

‘निर्गुण रामं निर्गुण रामं जपहु रे भाई ।

अविगत की गति लखी न जाई’ ॥’

जिसकी सर्वव्यापकतासे ब्रह्माण्ड अधिष्ठित है और जो ब्रह्माण्डसे परे भी है कबीर उसी परात्पर ब्रह्म को अपना उपास्य मानते हैं—

‘रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता माँहि ।
कबीर सेवै तास कूँ, दूजा कोई नाहि ।’

कबीर जिस पारब्रह्मकी बन्दगी करते हैं वह ज्योतिस्वरूप है, उस अनन्तके तेजके सामने सूर्य-श्रेणियों का भी प्रकाश क्या है, उस अखण्ड पारब्रह्मका तेज अनुमान और वर्णनसे परे है, वह एकमात्र ज्ञानदृष्टिसे अवगत हो सकता है^१ । अस्तु ।

इसी प्रसंगमें यह भी न भूलना चाहिये कि कबीरकी रचनाओंमें अवतारी भगवान्‌के अनेकानेक नामोंका बार-बार जो प्रयोग हुआ है वह इस बातका प्रकाशक नहीं है कि वे ईश्वरके अवतारी स्वरूपको मानते थे । वस्तुतः कबीरने उन सभी नामोंको अपने परात्पर ब्रह्मका ही वाचक माना है । इनकी दृष्टिमें तो सगुणोपासना द्वारा परम पदकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती—

‘गुण गाये गुण ना कटै, रटै न राम बिबेक ।
अह निसि हरि ध्यावे नहीं, क्यूँ पावै दुर्लभ जोग^२ ॥’

उद्धरणमें प्रथम ‘गुण’ सगुणोपासनाका ही द्योतक है और द्वितीय ‘गुण’ त्रिगुणोंका, ‘दुर्लभ योग’ परमपद-प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मलीनताका व्यञ्जक है ।

कबीर-पन्थमें अन्तर्मुख उपासना ही श्रेयस्कर मानी जाती है । कबीर स्वयं कहते हैं—

‘देवल माँहै देहुरी, तिल जेहै बिस्तार ।
माँहै पाती माँहि जल, माँहै पूजनहार^३ ॥’

योगाभ्यास आदि अन्तर्मुख उपासना इस पन्थवालोंको विशेष रूपसे मान्य है । कदाचित् इसीलिए कबीरकी रचनाओंमें योगके अनेकानेक पारिभाषिक शब्द, यथा ‘उन्मनि’, ‘सुरति’, ‘निरति’, ‘इला’, ‘पिंगला’, ‘सुषुम्ना’, ‘शून्य’, ‘सहस्रदल कमल’, ‘सूक्ष्म जन्म’ आदि यौगिक क्रियाओंके द्योतक प्रयुक्त हुए हैं ।

अद्वैत ज्ञानका समर्थन भी कबीर-पन्थकी उपासनाका एक अंग है । देखिये, कबीरदासजी क्या समझा रहे हैं—

‘कबीर इस संसारको समझाऊँ कै बार ।
पूँछ ज पकड़ै भेड़की उतरा चाहै पार^४ ॥’

निवृत्ति-मार्ग इस पन्थको विशेष मान्य है । कबीरने स्वयं कहा है—

‘कबीर मन फूल्या फिरे, करता हूँ मैं भ्रम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम^५ ॥’

उदात्त मानसिक भावोंकी अभिवृद्धि, क्षमा, दया, अहिंसा सत्यादिकी आवश्यकता इस पन्थवाले भी मानते हैं । स्वयं कबीरने इन गुणोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । इन्हें साधु-सन्तोंका आभूषण माना है । नाम-स्मरणकी महिमा भी यह पन्थ स्वीकार करता है ।

१. ‘कबीर-ग्रन्थावली’, १ साखी ३६ ‘पीव पिछांणनको अंग’, दो० ३ । २. वही, ५ दो० ‘परचाको अंग’ । ३. वही ‘सुमिरणको अंग’, दो० २८ । ४. वही ‘परचाको अंक’ दो० ४२ । ५. ‘कबीर-ग्रन्थावली’ १ साखी १७ ‘चांणककौ अंग’ दो० १० । ६. वही २१ ।

परमात्माका निर्गुणत्व, निरञ्जनत्व, सर्वव्यापकत्व आदि मानते हुए भी उसे अन्तःकरणमें ढूँढ़नेकी प्रवृत्ति, योगानुष्ठानके द्वारा उसका साक्षात्कार, उससे पति, माता, पिता आदिके रूपमें सांसारिक सम्बन्धकी स्थापना प्रभृतिको प्रश्रय देनेवाली भावुकताके चरमोत्कर्षपर पहुँचानेकी प्रवृत्तिसे ओत-प्रोत कबीरकी रचनाएँ सिद्ध करती हैं कि कबीर-पन्थियोंकी उपासना-पद्धति भी रहस्यवादसे अनावृत नहीं।

कबीर-पन्थको मुसलमानोंका एकेश्वरवाद, कयामत, आदि मान्य तथा भारतीय बहुदेववाद अमान्य है। कबीरने बहुदेवोपासककी जगह-जगह गणिकाके पुत्रसे तुलना की है। बहुदेवोपासनाको व्यभिचारसदृश वृणित वस्तु माना है—

‘भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरु बताइया, पुरिबला भरतार’ ॥’

‘कयामत’की ओरका इशारा देखिये—

‘कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घटा बाती बुझी तब सोवेगा दिन राति’ ॥’

कबीरने शाक्त-मतको वृणास्पद समझनेके कारण शाक्त ब्राह्मणतकको त्याज्य और इसके विपरीत वैष्णवके प्रति उदारताकी भावना होनेसे चाण्डाल वैष्णवको भी आलिंगनीय माना है—‘अंकमाल दे भेटिये मानो मिले गुपाल’। इन्होंने शाक्तोंकी ‘लहसुनकी खानि’ और कालिखका भाण्ड’ भी घोषित किया है। मद्य-मांस भक्षी शाक्त उनकी दृष्टिमें घोर नरकयातनाओंके ही भागी ठहराये गये हैं*।

कबीर-पन्थ वर्णाश्रम-व्यवस्थापर कुठाराघात करता है। इसकी समझमें ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू, तुर्क सभी एक हैं। देखिये—

‘एक ज्योति थैं सब उतपना, कौन वाभन कौन सूदा।’

... ..

‘कहै कबीर राम जपहु रे हिन्दू तुर्क न कोई’ ॥’

कबीर-पन्थ भारतीय संस्कृतिके स्तम्भ वेदशास्त्रकी उपेक्षा करता है। कबीरकी रचनाओंमें इनकी निन्दा की गयी है*। कबीरकी वर्णाश्रमधर्म और वेदशास्त्रकी कानि भंग करनेकी प्रवृत्तिका संकेत नाभादाग ने यों दिया है—

‘कबीर कानि राखी नहीं वर्णास्त्रम षट दर्सनी’ ॥’

तीर्थ-सेवन, प्रतिमा-पूजन तथा ऐसे ही अन्यान्य आचार-विचार-सम्बन्धी बाह्य साधनोंकी भी कबीर-पन्थ अवहेलना करता है। इसकी दृष्टिमें संसार शृंखलासे निर्मुक्त होकर लौकिक व्यवहारोंका परित्याग कर ध्यानमग्न रहना ही परम कर्तव्य है। यह पन्थ कण्ठी, जप-माला, तिलक आदिको बाह्याडम्बर घोषित करता है, भले ही इसके अनुयायी भी जपमाला, कण्ठी, तिलक आदि धारण करते हों।

१. ‘कबीर-ग्रन्थावली’, १ साखी ३६ ‘पीवपिछांणन काँ अंग’ दो० ३। २. वही १ साखी २ ‘सुमिरणकौ अंग’ दो० १०। ३. वही, परिशिष्ट पृ० १६०, दो० १५१-५२। ४. वही, १ साखी २० ‘साँचकौ अंग’ दो० १४-१५। ५. वही, २ पदावली पद ५७। ६. वही, २ पदावली पद ३९, १२२ तथा परिशिष्ट २ पदावली पद १३२। ७. ‘भक्तमाल’, छप्पय ६०।

अब दादू-पन्थके स्वरूपपर भी कुछ विचार हो जाना चाहिये। वस्तुतः यह पन्थ कबीर-पन्थसे अधिकतर मिलता-जुलता है। स्वयं दादूने कबीरके सिद्धान्तोंका पोषक होनेके नाते कदाचित् ये वाक्य कहे हैं—

‘साचा सबद कबीर का मीठा लागै मोहिं।

दादू सुनताँ परम सुख केता आनंद होइ’ ॥’

जो उपास्य कबीरका था वही दादूका भी। इसका उल्लेख दादूने यों किया है—

‘जो था कंत कबीरका सोई बरिहौं।

मनसा बाचा कर्मना और न करिहौं’ ॥’

इस उपास्यका स्वरूप कैसा है, यह देखिये—

‘परब्रह्म परापरं सो मम देव निरंजन।

निराकार निर्मल, तस्य दादू बंदन’ ॥’

कुछ विद्वज्जनोंके मतानुसार दादू कबीरके परम्परागत शिष्य इस प्रकार बताये गये हैं—

कबीर → कमाल → जमाल → बिमाल → बुद्धन → दादू

‘दादूदयालकी बानी’में जो साखी, सबद संग्रहीत हैं उनसे स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि दादूकी उपासना-पद्धति कबीरकी उपासना-पद्धतिका रूपान्तरमात्र है। दादूकी हमारे वेद-पुराण अथवा मुसलमानोंके कुरानहदीसपर कोई आस्था न थी और न वे वेदान्त-दर्शन आदिको ही मानते थे; वे बाह्य-पूजाके विधिविधान, जाति-पाँति-भेद, प्रतिमोपासना एवं तीर्थ-श्राद्ध आदि सभी कर्म व्यर्थ समझते थे; उनका विश्वास था कि अपने इसी जन्मके कर्मानुसार मनुष्य जन्म-बन्धनसे मुक्त या आवद्ध होता है, वे त्रिदेवोंकी कर्तृत्व-शक्तिमें विश्वास नहीं रखते थे; उनकी दृष्टिमें माया और संसार स्वयं बुरे नहीं, किन्तु बुरे मनुष्यने अपना मन ईश्वरसे हटाकर उन्हें बुरा बना दिया है। दादूकी परमात्म-विषयक तथा साधना विषयक अन्यान्य सभी बातें कबीर-पन्थसे भिन्न नहीं, एतदर्थ उनका विस्तार अनपेक्षित है।

नानक-पन्थियों और मल्लकदासके अनुयायियोंकी उपासना-पद्धतियाँ भी निर्गुणपन्थकी ही श्रेणीमें आती हैं। इनके विषयमें स्थानभाववश इतना ही कहना अलम् होगा कि इन पंथोंकी साधना, इनके साधन और सिद्धान्तकी प्रायः सभी बातें कबीर-पन्थसे गृहीत होनेके कारण उससे मिलती-जुलती हैं।

निर्गुण-संप्रदायी कुछ उपासना-पद्धतियोंका स्वरूप निरूपण कर चुकनेके पश्चात् अब उन्हें ध्यानमें रखते हुए तुलसीकी उपासना-पद्धतिसे उनका तारतम्य बहुत थोड़ेमें निर्दिष्ट होगा। निर्गुण-पन्थियोंका उपास्य एक संकुचित सीमामें घिरकर निर्गुण ही रह जाता है। इसके विपरीत तुलसीका उपास्य परमपुरुष साकार मानव, सगुण और निर्गुण सभी रूपोंमें अवगत होता है, स्थूलसे स्थूल बुद्धिवाला प्राणी भी उसे अपनी भावनाके अनुकूल देख सकता है। परन्तु निर्गुण उपासकोंके उपास्य ब्रह्मका साक्षात्कार कोई बिरला ही कर सकता है। निर्गुण-पन्थकी उपासना-पद्धतिमें निर्गुण ब्रह्म ही सर्वस्व है, उसीकी प्राप्तिके हेतु योगादिकी नाना उक्तियोंका सम्पादन कर मुक्ति-लाभ किया जाता है। पर तुलसीकी उपासनामें भगवान्की सगुणोपासनाके सामने सब-कुछ, यहाँतक कि मुक्ति भी, तुच्छ है। देखिये—

१. ‘दादूदयालकी बानी’, १ साखी २२ ‘सबदकौ अंग’ दो० ३४। २. वही २० ‘पीव पिछाणकौ अंग’ दो० ११। ३. वही, दो० ४। ४. दे० विल्सनकृत ‘एसेज एण्ड लेक्चर्स’ आन् दी रेलिजन्स आव हिन्दूज’, पृ० १०३।

‘वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौ ।
जोग जुगुति अरु मुकुति बिबिध विधि वा मुरलीपर बारौ ॥
जेहि उर बसत स्याम-सुन्दर-धन तेहि निरगुन कस आवै ।
तुलसिदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै ॥’

निर्गुण-पन्थ रहस्यवादी है, इधर तुलसीकी उपासना-पद्धतिको रहस्यवादकी छाया भी नहीं ऋती, यहाँ तो भगवान् ‘अन्तर्यामिहुते बड़ बाहिर्यामी’ घोषित किये गये हैं । तुलसीकी उपासना-पद्धति अन्त-मुख योगादि साधनोंके चक्करमें पड़कर निर्गुण-पन्थकी भाँति शास्त्र-विहित बाह्य साधनोंकी भर्त्सना नहीं करती, वरन् उसमें तीर्थाटन, पूजा-पाठ, सन्ध्या-वन्दन आदिकी पूर्ण प्रतिष्ठा है ।

शास्त्रोंके प्रति अनौदार्य, अहिंसाकी प्रतिष्ठा, ब्रह्मचर्य, शान्ति, सत्य, क्षमा, दया आदि उदात्त मनोवृत्तियोंको साधनके अंगोंके रूपमें ग्रहण करना—यह कुछ ऐसी बात है जो तुलसीकी उपासना-पद्धति और निर्गुण-पन्थ दोनोंमें समाहत है । उपासना-पथपर आरुढ़ होनेके लिए गृह-त्यागकी नितान्त आवश्यकता न तुलसी ही मानते हैं और न निर्गुण-पन्थके साधक ही ।

अब ‘किहनी उपखान’ के द्वारा अपना मतप्रचार करनेवाले सूफी साधकोंकी उपासना-पद्धतिका स्वरूप-निर्देश भी हो जाना चाहिये । हिन्दी साहित्यमें सूफी साधकोंकी जितनी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनके अन्तस्तलमें प्रविष्ट होनेपर सूफी उपासनाका जो सन्निहित बीज मिलता है वह है—ईश्वर-विषयक विरह । साधकके हृदयमें जब यह विरह अपनी चरमावस्थाको पहुँच जाता है तो उसकी दृष्टिमें सारा भसार दर्शन हो उठता है और इसपर परमात्माके आभास विविध रूपोंमें पड़ते हैं । वह देखता है कि इस सृष्टिके सारे रूप, सारे व्यापार उसीका विरह प्रकट कर रहे हैं । उसके चतुर्दिक्—

‘दरियाए इश्क वह रहा लहरोंमें वेशुमार ।’

ही नजर आता है ।

सौन्दर्य और सदाचारकी मदिरा पीकर प्रेमानन्दमें मग्न रहना ही सूफियोंकी परमोपासना है । एक पाश्चात्य विद्वान्ने सूफी मतकी विशेषता यों दी है—ईश्वर शाश्वत सौन्दर्य है, उसका स्वाभाविक धर्म है कि उससे प्रेम किया जाय, उसने अपनेको प्रेमका आलम्बन बनानेके लिए ही प्रेम और प्रेमके प्रतीकोंमें व्यक्त किया है । यहाँतक कि लौकिक प्रेम भी एक प्रकारका आध्यात्मिक प्रेम है । यह उग सत्यतक ले जानेका सोपान है । आत्मा तत्त्वतः दिव्य है, यह अपने जीवत्वके कारण परमात्मासे पृथक् हो गया है और उससे मिलनेके लिए परमाकुल रहता है, यही आकुलता उसे अपने मूल स्रोततक ले जा सकती है । प्रेम ही जीवात्मासे सम्मिश्रित कुधातुओंको भस्म कर उसे काञ्चन बना सकता है, उसका प्रियतममें मिलन करा सकता है ।^१

बाह्य साधन, नमाज-रोजा आदिको सूफी महत्त्व नहीं देते प्रत्युत अन्तःशुद्धिसे ही वे अपनी उपामना करते हैं । तृष्णा और मोहका दमन वे नितान्त आवश्यक मानते हैं । वही उनके ‘तरिकत’ मोक्षका साधन है । यद्यपि जगतको वे मिथ्या, मृगतृष्णा समझते हैं, ईश्वरको निराकार मानते हैं, पर हमारे यहाँ निर्गुणवादियोंसे भिन्न वे ईश्वरका मनमोहक रूप जगतके सभी मनोज्ञ पदार्थोंमें देखते हैं । सूफी मत भारतीय अद्वैतवादसे बहुत-कुछ मिलता-जुलता है । फलतः कुछ विद्वानोंने इसे अद्वैतवादी माना है ।^२

१. ‘श्रीकृष्णगीतावली’, पद ३३ । २. ‘इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन्स एण्ड एथिक्स’, भाग १२, पृ० १६ । ३. दे० ‘हिन्दी विश्वकोश’, भाग २४, पृ० ३९६ ।

यदि सूफी उपासना-पद्धतिके स्वरूपपर दृष्टि रखकर तुलसीकी उपासना-पद्धतिसे उसकी तुलना करना चाहें तो कह सकते हैं कि सूफियोंकी उपासना-पद्धति रहस्यवाद-मूलक एक इसलामी उपासना-पद्धति है, इसके विपरीत हमारे आर्य तुलसीकी उपासना-पद्धति रहस्यवाद-शून्य प्राचीन भारतीय सगुणोपासनाकी भक्ति-पद्धति है। वस्तुतः दोनों पद्धतियोंकी साधना, उनके साधन एवं सिद्धान्तमें कोई साम्य नहीं। दोनोंके बाह्य आचार-विचार भी सर्वथा भिन्न हैं।

‘साखी सबदी दोहरा उपखान’से लक्षित होनेवाली कुछ उपासना-पद्धतियोंकी तुलना तो हो गयी। अब अलख-पन्थी या अलखिया-सम्प्रदायकी ओर आइये। इस सम्प्रदायके प्रति गोस्वामीजीके क्या विचार थे, इसका आभास निम्नांकित दोहा दे रहा है—

‘हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमारके बीच।

तुलसी अलखहिं का लखहिं, राम नाम जपु नीच ।।’

अलख-पन्थियोंकी शैव-सम्प्रदायके विशेष साधकोंमें परिगणना की जाती है^१। ये प्रायः ‘अलख’को जगानेवाले नामसे भी प्रचलित हैं। ये गोरख-पन्थी योगियोंसे भिन्न हैं। गोरख-पन्थी योगियोंकी भाँति ये कनफटे नहीं होते। जातिके चमार लालगीर इस पन्थके प्रवर्तक माने गये हैं। उनका समय अनिश्चित है। इस पन्थके सिद्धान्त आदिका उल्लेख डा० ग्रियर्सनने इस प्रकार किया है—‘अलख-पन्थी मूर्ति-उपासना नहीं मानते, एकमात्र निर्गुण, निरंजन, अचिन्त्य, अलक्ष्यमें आस्था रखते हैं। संसार त्यागकर भिक्षावृत्ति धारण करनेका समर्थन करते हैं। पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं रखते। शरीरके नष्ट होनेपर सब-कुछ उसके साथ ही नष्ट हो जाता है, सभी तत्त्व तत्त्वोंमें मिल जाते हैं। जीवका अन्तिम लक्ष्य पवित्रताकी प्राप्ति और स्थिर ध्यान करना ही है। पुनर्जन्म कोई वस्तु नहीं। स्वर्ग-नरक कल्पनामात्र हैं.....’। अलख-पन्थी मूलतः परमात्माके सगुण स्वरूपका सिद्धान्त अर्थात् भक्ति-मार्गका खण्डन करके चलता है और इसके विपरीत अद्वैत ज्ञानके द्वारा अचिन्त्यकी प्रतिष्ठा करता है। साक्षात् चिन्तनीयकी उपासना उसे अमान्य है^२।

ऐसे अलख-पन्थकी गोस्वामीजीकी उपासना-पद्धतिसे तुलना करनेपर यही कहा जा सकता है कि तुलसीकी उपासना-पद्धति अलख-पन्थसे भी निराली है। उनका इष्टदेव ‘सर्व-सर्व-गत-सर्व-उराख्य’ होते हुए भी सारे संसारमें प्रत्यक्ष रूपसे भी दृष्टिगोचर होता है, पर ‘अलख’को अलख-पन्थी ही जगाते हैं। तुलसीकी उपासना-पद्धति वेद-शास्त्रके प्रतिकूल कुछ भी ग्रहण करनेको तैयार नहीं, परन्तु अलख-पन्थके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, तभी तो वह विग्रह-पूजन, वर्णाश्रम-धर्म, आवागमन आदिके सिद्धान्तोंको भ्रम घोषित करता है। दोनोंमें भारी अन्तर यह भी है कि अलख-पन्थ ज्ञानाश्रयी है और तुलसीकी उपासना-पद्धतिका परम लक्ष्य है परमात्माकी सगुण-भक्ति।

गोस्वामीजी गोरख या नाथ-पन्थकी ओर भी उँगली उठाना नहीं भूले हैं, देखिये—

‘गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते, सो कलि ही छरो सो है”

विचारणीय है कि इस पन्थकी उपासनाका स्वरूप कैसा है। चौरासी सिद्धोंमें गोरखनाथकी भी गणना की जाती है। इससे मालूम पड़ता है कि उनकी उपासनाका मूल बौद्धोंकी वज्रयान शाखा थी,

१. ‘दोहावली’ दो०, १९। २. ‘इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स’, भाग १, पृ० २१६। ३. ‘इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स’, भाग १ पृ० २१६। ४. ‘कवितावली’, उ० छ० ८४।

परन्तु गोरखनाथके सिद्धान्तोंमें वज्रयानियोंकी उपासनाके अश्लील एवं वीभत्स विधानोंका नितान्त अभाव देखकर यही मानना पड़ेगा कि गोरखनाथने अपनी उपासना-पद्धतिको वज्रयानी सिद्धोंकी पद्धतिसे बिल्कुल पृथक् कर लिया और उन्होंने पतञ्जलिके उच्च लक्ष्य, ईश्वर-प्राप्तिको लेकर सहयोगका प्रवर्तन किया। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' तथा अन्यान्य नाथ-सम्प्रदायी ग्रन्थोंके आधारपर आचार्य रामचन्द्र शुक्लने नाथ-पन्थियोंकी उपासना-पद्धतिका जो स्वरूप दिखाया है उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—'गोरखनाथकी हठयोग साधना ईश्वरवादको लेकर चली थी, अतः उसमें मुसलमानोंके लिए भी आकर्षण था। ईश्वरको मिलानेवाला योग हिन्दू और मुसलमान दोनोंके लिए एक सामान्य साधनाके रूपमें आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथको दिखाई पड़ी थी। उसमें मुसलमानोंको अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासनाकी आवश्यकता नहीं थी' 'नाथ-सम्प्रदायके सिद्धान्तग्रन्थोंमें ईश्वरोपासनाके बाह्य विधानोंके प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी है, घटके भीतर ही ईश्वरको प्राप्त करनेपर जोर दिया गया है, वेद-शास्त्रका अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानोंके प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है। तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गये हैं... अन्तःसाधनाके वर्णनमें हृदय दर्पन कहा गया है जिसमें आत्माके स्वरूपका प्रतिबिम्ब पड़ता है... परमात्माकी अनिर्वचनीयता मिट्ट की गयी है। 'नाद' और 'विन्दु' संज्ञाएँ वज्रयानी सिद्धोंमें बराबर चलती रहीं। गोरख-सिद्धान्तमें उनको ग्रहण किया है...।' नाथ-पन्थमें वर्णाश्रम-व्यवस्था-पालनका कोई महत्त्व नहीं है। 'नाथ-सम्प्रदाय जब पैला तब उसमें भी जनताकी नीची और अशिक्षित श्रेणियोंके बहुत-से लोग आये जो शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न न थे, जिनकी बुद्धिका विकास सामान्य कोटिका था, पर अपनेको रहस्यदर्शी प्रदर्शित करनेके लिए शास्त्र पण्डितों और विद्वानोंका फटकारना वे जरूरी समझते थे।'।

तुलसी और नाथ-पन्थी दोनोंकी उपासना-पद्धतिका स्वरूप दृष्टिमें रखते हुए एक वाक्यमें हम केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि योगियोंकी रहस्यमयी पद्धतिसे गोस्वामीजीकी पद्धति प्रायः उसी प्रकार भिन्न है जैसे कि निर्गुण-पन्थसे।

विषयका विस्तार बढ़ गया, परन्तु 'श्रावक' और 'सेवज्ञ'की उपासना-पद्धतिपर अभी कुछ नहीं कहा गया। अब इन्हींपर किञ्चित् प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत परिच्छेदकी समाप्ति की जायगी। किस प्रकार बाबाजी 'श्रावक'को श्रान घोषित कर रहे हैं, पहले यह देखिये—

‘ईस सीस बिलसत बिमल, तुलसी तरल तरंग।

स्वान सरावगके कहे, लघुता लहे न गंग’ ॥

कहना नहीं होगा कि उद्धरणका 'सरावग' संस्कृत श्रावकका ही तद्भव है। 'सरावग'पर श्रानरूप आरोप स्पष्ट रूपसे इंगित कर रहा है कि श्रावकोंकी उपासना-पद्धति अवश्य ही हेय थी, अन्यथा गोस्वामी जैसा विवेकी महात्मा उनके अनुयायियोंके लिए ऐसे निन्दात्मक विशेषणका प्रयोग कदापि न करता।

विचारणीय है कि कि ये 'सरावग' हैं कौन। कबीरकी रचनामें भी श्रावक शृणास्पद दृष्टिसे देखा गया है। देखिये—

‘पड़ोसी सँ रुषणा तिल सुखकी हाँणि।

पण्डित भए सरावगी, पाँणी पीयें छाँणि’ ॥

१. हिन्दी साहित्यका इतिहास, परिवर्धित और संशोधित संस्करण पृ० १८, १९। २. वही पृ० २०। ३. 'दोहावली', दो० ३८३। ४. 'कबीर-ग्रन्थावली', ३७।

अवतरणमें 'पाणी पीवं छॉणि' की प्रक्रियासे ज्ञात होता है कि 'सरावग' या 'सरावगी' जैन सम्प्रदायवालोंका ही व्यञ्जक है, आज भी जैनोंमें छानकर पानी पीनेका रिवाज चलता है।

हिन्दी विश्वकोशकारने 'सरावग'का परिचय यों दिया है—'जैन, सरावगी, श्रावक धर्मावलम्बी, जैन धर्म माननेवाला, इस धर्मके अनुयायी आजकल वैश्य ही अधिक पाये जाते हैं'।

मेजर डेलामणि^१ तथा डा० हैमिल्टन^२ ने 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल'के प्रथम भागमें श्रावक अथवा जैनपर निबन्ध लिखे हैं। विल्सन महोदयने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है—'सामान्यतया सभी जैन मतावलम्बियोंके सिद्धान्त एक-से हैं, परन्तु उनके 'यति' तथा 'श्रावक'के विभाजनके आधारपर दोनोंके कुछ कर्तव्योंमें थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। तीर्थंकरोंके सिद्धान्तों और उनके कर्मोंमें पूर्ण आस्थाकी स्थापना दोनों वर्गोंके लिए अनिवार्य है। पर प्रथम वर्गवालोंके लिए तप-सम्पादन, मौनावलम्बन एवं ब्रह्मचर्यका पालन विशेष रूपसे बांछनीय है और दूसरे वर्गवालोंको अपने नैतिक कर्तव्य तथा धार्मिक नियम-पालनके अतिरिक्त तीर्थंकरकी व्यावहारिक पूजा तथा प्रथम वर्गके अपने पवित्र भाइयोंके प्रति अत्यधिक सम्मानका अनुष्ठान करना चाहिये।'

'श्रावक'के विषयमें पं० बलदेव उपाध्यायने और ही कुछ लिखा है। आपने प्रदर्शित किया है कि बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार त्रिविध 'यान' हैं तथा प्रत्येक 'यान'में जीवन्मुक्ति या 'बोधि'की कल्पना एक-दूसरेसे नितान्त विलक्षण हैं—'श्रावक बोधि', 'प्रत्येक बुद्ध बोधि' तथा 'सम्यक् बोधि'। 'श्रावक बोधि'का आदर्श हीनयानको मान्य है। बुद्धके पास धर्म सीखनेवाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। जीवको परमुखापेक्षी होनेकी आवश्यकता नहीं है, यदि वह स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्गका यथावत् अनुसरण करे तो संसारकी राग-द्वेषमयी विषयवागुरासे मुक्ति पा सकता है। श्रावकके लिए चार अवस्थाओंका विधान किया गया है^४।

'श्रावक' चाहे जैनी हों चाहे बौद्ध, इतना स्थान नहीं कि हम स्वतन्त्र रूपसे इनपर विचार करें और न इतना अवकाश ही है कि हम इन दोनोंकी उपासना-पद्धतिका स्वरूप ही प्रस्तुत कर तुलसीकी उपासना-पद्धतिसे तुलना करें। प्रस्तुत प्रसंगमें इतना ही कहकर काम चलाया जाता है कि जैन और बौद्ध दोनों ही पद्धतियाँ निरीश्वरवादी हैं, दोनों ही वेद-शास्त्रको पाखण्ड घोषित करनेवाली हैं। इनकी दृष्टिमें तीर्थादिकोंका कोई महत्त्व नहीं, गंगा एक नदीके अतिरिक्त और कुछ नहीं। ऐसी ही नास्तिकतासे ओत-प्रोत इनकी विचारधारा देखकर, हो न हो, गोस्वामीजीने 'श्रावक'को 'श्वान' कहा हो।

'सेवरा' और 'सेवड़ा'की उपासना-पद्धतिपर गोस्वामीजीने जो छोट्टा मारा है वह देखिये—

'सुरा सेवरा आदरहि निदहि सुरसरि बारि'।'

कुछ ऐसी प्रतीति होती है कि 'सेवड़ा' किसी ऐसी अनाचारमूलक पद्धतिके उपासक थे जिसमें शास्त्र-सम्मत तीर्थादिकी भी निन्दा थी। यद्यपि सुराकी प्रतिष्ठा पूर्णतया शाक्तोंमें ही है, पर शाक्तोंका 'सेवड़ा' जैसा कोई भेद नहीं मिलता। तान्त्रिक बौद्धोंमें वाममार्गियोंकी भाँति, मद्यादि गृहीत था, सम्भवतः उन्हींके कुछ विशेष उपासक 'सेवड़ा' कहलाते रहे हों। 'हिन्दी विश्वकोश'में 'सेवड़ा' जैन साधुओंका एक भेद बताया गया है।^५ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयागसे प्रकाशित 'भारतीय अनुशीलन' (सं० १९९०)के चतुर्थ

१. 'हिन्दी विश्वकोश', भाग २३, पृ० ६५६। २. 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', प्रथम भाग, पृ० ४१८। ३. वही, पृ० ५३१। ४. 'एसेज एण्ड लेक्चर्स आन दी रेलिजन्स आव हिन्दूज', पृ० ३१७। ५. 'भारतीय दर्शन' पृ० १९४-९५। ५. 'दीहावली', दो० ३२६। ६. 'हिन्दी विश्वकोश', भाग २४, पृ० ४४९।

खण्ड (अर्वाचीन काल)में एक लेख है—‘हरि विजय सूरि और अकबर’ इसी लेखमें एक जगह लेखक मुनिविद्याविजयने लिखा है—‘यति’ और ‘सेवड़ा’ शब्द मूल फारसी ग्रन्थोंमें लिखे गये हैं। ये शब्द बौद्ध साधुओंके लिए नहीं, परन्तु जैनी साधुओंके लिए ही हैं। आज भी मुसलमान लोग अकसर जैन साधुओंको ‘सेवड़ा’ कहते हैं। पञ्जाबमें तो आम तौरसे ‘सेवड़ा’ नामसे पुकारे जाते हैं। जैन साधुओंको प्राचीन समय में ‘श्रमण’ कहते थे। सम्भव है, यही ‘श्रमण’ ‘सेवड़ा’के रूपमें आ गया हो’।

जो कुछ भी हो, ‘सेवड़ा’ जैन साधु ही हों, पर हमें तो केवल इतना ही कहना है कि इनकी उपासना-पद्धति विकृत थी, ये सुरा-सेवी थे, साथ ही तीर्थादिके निन्दक भी। तभी गोस्वामीजीने एक दृष्टान्तके ही दहाने उन्हें निन्दनीय ठहराया है।

— — —

दशम् परिच्छेद

तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण

समीक्षकोंकी विभिन्न धारणाएँ

गोस्वामीजीके दार्शनिक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें अभीतक जो कुछ विचार-विमर्श हुआ है उसके परिशीलनसे अवगत होता है कि अधिकांश लोगोंने अपनी मान्यता और विचार-सरणिके अनुरोधसे ही उन्हें किसी-न-किसी विशेष दार्शनिक पद्धतिका समर्थक ठहराया है। ऐसे विचारशील तो एक ही दो व्यक्ति हैं जिन्होंने तटस्थ पाण्डुलिपिका भाँति पक्ष और प्रतिपक्ष दोनोंपर संतुलित दृष्टि डालते हुए सन्निविष्ट वस्तु-तत्त्वके आधारपर अपना निष्पक्ष निर्णय दिया है। इन दोनों वर्गोंके निर्णायकोंके मतका संकेतमात्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। महामहोपाध्याय गिरधर शर्माका जोरदार दावा देखिये—“दावेके साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैतके विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायणमें हैं ही नहीं।” प्राच्य विद्यापीठ नगेन्द्र वसु कहते हैं—“रामायणमें कई जगह शंकराचार्यका मत ग्रहण किया गया है।” भावुक भक्त जयरामदासजीको सारे रामायणमें विशिष्टाद्वैत ही देख पड़ा है। प्रसिद्ध रामायणी पं० विजयानन्द त्रिपाठीको ‘मानस’की अंतरंग और बहिरंग परीक्षा करनेका यही फल मिला है कि गोस्वामीजीका दार्शनिक विचार विशुद्ध अद्वैतवाद ही है। बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० पीताम्बरदत्त बड़वालके अनुसार गोस्वामीजीका दर्शन अद्वैतसे मिलता है और उससे कई बातोंमें भेद भी रखता है, यथा, ‘गोस्वामीजीके मायावाद और शंकराचार्यके मायावादमें भेद दिखाई देता है। शंकराचार्य मायाका अस्तित्व ही नहीं मानते, किन्तु तुलसी रामके बलपर उसका अस्तित्व मानते हैं’। आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी सम्मति है—‘परमार्थदृष्टिसे, शुद्ध ज्ञानदृष्टिसे, तो अद्वैत मत गोस्वामीजीको मान्य है, परन्तु भक्तिके व्यावहारिक सिद्धान्तके अनुसार भेद करके चलना ये अच्छा समझते हैं’। डा० बलदेवप्रसाद मिश्रको भी शुक्लजीका कथन अक्षरशः मान्य है। पर पं० केशवप्रसाद मिश्रका मत कुछ और ही है, देखिये—‘यों तो गोस्वामीजीकी समन्वयबुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तोंमें अवरोध देखती है, सभीको यथास्थान महत्त्व देती है और सभी पक्षोंका समर्थन करती है; पर उनके प्रस्थानके अनुरोध तथा ग्रन्थके उपक्रम और उपसंहारके विचारसे द्वैत सिद्धान्त और भक्तिपक्षमें ही उसका (दार्शनिक दृष्टिकोणका) पर्यवसान प्रतीत होता है’।

उक्त सभी महानुभावोंके लेखोंसे पता चलता है कि इन लेखकोंने मानसकी कुछ उक्तियोंके ही आधारपर अपने विचार व्यक्त किये हैं। समस्त ग्रन्थोंके दार्शनिक प्रसंगोंकी छान-बीन नहीं की है। वस्तुतः जब हमें तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण निश्चित करना है तो उनकी सभी कृतियोंमें प्राप्त दार्शनिक विचारों की सर्वेक्षण गवेषणा करके ही कोई निष्पक्ष निष्कर्ष निकालना चाहिये।

-
१. ‘तुलसी-ग्रन्थावली’, तृतीय खण्ड, पृ० १२७। २. ‘हिन्दी विश्वकोश’, भाग ९, पृ० ६८६।
 ३. दे० ‘कल्याण’ वेदांक, पृ० ६०१ लेख : ‘गोस्वामी श्री तुलसीदासजी और अद्वैतवाद’।
 ४. दे० ‘कल्याण’, जुलाई १९३७, लेख : ‘गोस्वामी श्री तुलसीदासके दार्शनिक तत्त्व’। ५. दे० ‘गोस्वामी तुलसीदास’, अध्याय १३। ६. दे० ‘तुलसी-ग्रन्थावली’ तृतीय खण्ड, पृ० १४५। ७. दे० ‘तुलसी-दर्शन’, पृ० २१३। ८. ‘कल्याण’, मानसांक, खण्ड २, पृ० ९७७।

गोस्वामीजीकी किसी सम्प्रदाय-विशेषसे बंधे साम्प्रदायिक प्रवृत्ता नहीं थे जिन्होंने वेदान्तके किसी खास सम्प्रदायका प्रतिपादन या संस्थापन किया हो, तथापि ईश्वर और जीवके स्वरूप, उनके परस्पर सम्बन्ध तथा माया और ब्रह्म आदिके विषयमें उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं वे प्रशस्त, स्पष्ट, निश्चित, प्रमाण-प्रतिपन्न और सर्वथा असन्दिग्ध हैं। बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि ऐसे-ऐसे गहन और दुरूह विषय जिनके निरूपणमें बड़े-बड़े धुरन्धर तार्किकोंके छक्के छूट गये और उनके ग्रन्थ अन्ततोगत्वा नीरस ही होकर पड़े रहे, तुलसीके दोहों, चौपाइयों या पदोंमें ऐसी सुन्दर, सरल, संक्षिप्त और सहज सूक्तियोंके रूपमें आ गये हैं कि कोई भी साधारण मनुष्य उन्हें समझ सकता और उनका सुगम उपयोग कर सकता है। 'विनयपत्रिका' के कितने ही रूपकादि अलंकारोंसे अलंकृत मनोहारी पदोंमें दर्शनके मूल सिद्धान्तोंको हृदयंगम करानेकी रीति तो और भी न्यायी है। रघुकुलमणिके स्वरूप और लीलामें इन सब तत्त्वोंके गुम्फित रहनेसे इन्हें कुल ऐसी विलक्षण शोभा प्राप्त हुई है कि देखने-सुननेवाले उनके वर्णनसे अनुप्राणित और आप्यायित होते, उनका भावोद्दीपन होता और वे पुलकायमान हो उठते हैं।

गोस्वामीजीके माया-सम्बन्धी विचार

सर्वप्रथम, देखिये, माया सदृश विलक्षण और दुर्बोध तत्त्वको तुलसीने किस प्रकार समझाया है। अपने अनन्य भक्त लक्ष्मणकी माया-विषयक जिज्ञासाकी परितुष्टिके लिए भगवान्ने उन्हें जो उपदेश दिया, वह इस प्रकार है—

‘मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥
... ..

‘तेहि ईसकी हौं सरन जाकी बिषम माया गुनमई ।’

अहंकार ही मायाका मूल है ‘मैं’ और ‘मेरा’ ‘तैं’ और ‘तेरा’ यही इस गोचर जगत्में रहनेवाले सब जीवोंके अज्ञान और परस्पर पार्थक्यका कारण है। माया विद्या और अविद्याके भेदसे द्विविध है। विद्या अर्थात् मायाका सद्रूप मूल प्रकृति, जो विश्वकी सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी आदि शक्ति है वही सीता हैं—

‘उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करां सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥’
... ..

‘स्रति-सेतु-पालक राम तुम्ह, जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जग पालती हरति, रुख पाइ कृपानिधानकी ॥’
... ..

‘सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । रचइ जासु अनुसासन माया ॥’

इसी जगन्मूल आदि शक्ति सीताके ही अंशसे त्रिदेवोंकी अगणित शक्तियाँ भी प्रादुर्भूत होती हैं—

१. ‘मानस’, अरण्य०, १४. २-६। २. ‘विनय०’, पद १३६ [४]। ३. ‘मानस०’, बा० मंगलाचरण-इलोक, ५। ४. ‘मानस’, अयो० १२५। ५. ‘मानस’, सुन्दर० २०. ४।

‘जासु अंस उपजहि गुन खानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि बिलास जासु लय होई । राम बाम दिसि सीता सोई’ ॥

विद्या माया ही भगवान्की इच्छासे भगवान्के चरणारविन्दमें अनुसक्त भक्तपर अपनी शीतल छाया प्रदान करती है और भक्तमें उत्तरोत्तर सेवक-सेव्यभावकी अनन्यता बढ़ती जाती है । देखिये—

‘हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या । प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ॥
ताते नास न होइ दास कर । भेद भगति बाढ़इ बिहंग वर’ ॥’

गोस्वामीजी स्वयं जब भगवान्के समीप पहुँचना चाहते हैं तो भगवान्के पास ले जानेवाली साक्षात् मीता-स्वरूपा माया विद्यासे कैसी सहायताकी आकांक्षा करते हैं, यह देखिये—

‘कबहुँक अंव अवसर पाइ ।

मेरिऔ सुधि बाइवो कछु करुन-कथा चलाइ ॥
दीन सब अंगहीन खीन मलीन अधी अघाइ ।
नामु लै भरै उदरु एक प्रभु दासि दासु कहाइ ॥
बूझि हैं ‘सो है कौन’ कहियो नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी विगरियो बनि जाइ ॥
जानकी जगजननी जनकी किये बचन-सहाइ ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ’ ॥’

अब अविद्या शक्तिके प्रचण्ड कटकको भी समझ लीजिये—

‘व्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटक प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाखंड’ ॥’

अविद्याके इन विकट शरोंके शरोंसे कौन बच सका है । चतुर्दिक् इन्हींका तो बोलबाला है । ये मनुष्यको अधःपतनके गर्तमें झट झोंकते हैं । इस विषोपम माया-तत्त्वका आसुरी प्रभाव इतना व्यापक और इतना अन्तर्भेदक है कि नारद और सनकादि ऋषि तथा शिव-ब्रह्मादि महान् देव भी विमोहित होकर इसके विकट चंगुलमें आ जाते हैं—

‘नारद भव विरंचि सनकादी । जे मुनि नायक आतमवादी ॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही । को जग काम नचाव न जेही ॥
तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा । केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा’ ॥’

‘स्त्री मद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि ।

मृगलोचनिके नयन सर, को अस लग न जाहि’ ॥’

‘गुन कृत सन्निपात नहिं केही । कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥’

...

...

...

‘यह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमित को बरनइ पारा’ ॥’

यही माया नाना प्रकारके छल-छद्म और मोहादिके रूपमें सामने आकर सबको अन्धा बनाये रखती है; यही नाना प्रकारके नशेमें चूर रखती है, लोभ और लोछपतासे उन्मत्त बनाती है, क्रोधकी आग

१. ‘मानस’, बा० १४७. ३, ४ । २. ‘मानस’, उ० ७८. २, ३ । ३. ‘विनय०’, पद ४१ ।

४. ‘मानस’, उ० ७१ । ५. ‘मानस’, उ० ६९. ६—८ । ६. ‘मानस’, उ० ७०. ७. वही. उ० ७०. १, ७ ।

मुलगाकर आध्यात्मिक शांतिको जला डालती है; लक्ष्मीके लालोंको ऐश्वर्य-मदसे वक्र कर देती है; इसके प्रभावसे अधिकारियोंके कान बहरे हो जाते हैं। यही हमें यौवन-सुलभ उत्तेजना-ज्वरसे पीड़ित करती है। यही मिथ्या अभिमानसे हमारा सिर फेर देती है। यही ईर्ष्या और द्वेषको उभारकर हमारी आत्मोन्नतिमें बाधा डालती है। दुःख और उद्वेगकी लहरोंसे यही हमें विचलित कर देती है। नाना प्रकारकी चिन्ताओं और त्रिविध एपणाओंके प्रपञ्च-विस्तारसे विलासिताके वातावरण सृजन कर अनिष्ट-कीटाणुके रूपमें यही हमारा क्षय-साधन करती रहती है।

अविद्या मायाके वशवर्ती प्राणीके कृत्योंका सारांश समझना हो तो 'विनयपत्रिका'की यह एक पंक्ति स्मरणीय है—

‘परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो’ ।’

गोस्वामीजीने अनेकानेक प्रसंगोंमें देवों, मनुष्यों अथवा राक्षसोंके अभिचारिक कृत्यों अथवा अतिचारों या छल-छद्मोंको भी माया ही संज्ञासे सम्बोधित किया है, यथा निम्नांकित अवतरणोंमें देखिये—

‘सही न जाइ कपिन्ह कै मारी । तब रावन माया विस्तारी ॥
सो माया रघुबीरहि बाँची । लछिमनु कपिन्ह सो मानी साँची ॥
देखी कपिन्ह निसाचर अनी । अनुज सहित बहु कोसल धनी ॥’

...

...

...

‘लोग सोग स्रम बस गये सोई । कछुक देव माया मति मोई ॥’

...

...

...

‘मानस’ अयो० ८४. ६

‘प्रथम कुमति करि कपटु सँकेला । सो उचाट सबके सिर मेला ॥
सुर-माया सब लोग विमोहे । राम प्रेम अतिसय न बिछोहे ॥’

...

...

...

‘मानस’ अयो० ३००. ३, ४

‘माया मय तेहि कीन्ह रसोई । विंजन बहु गनि सकइ न कोई ॥
बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा । तेहि महुँ बिप्रमासु खल साँधा ॥’

...

...

...

‘मानस’ वा० १७२. २, ३

इस प्रकारकी धोखेकी टट्टी खड़ी करनेके निमित्त ऐन्द्रजालिकोंके व्यापार कुकर्मोंकी सिद्धिके लिए ही किये जाते हैं, फलतः इन्हें भी अविद्या मायाका अंग समझना चाहिये।

अविद्या मायाके घोर पाशमें जकड़े हुए लोगोंकी तो बात ही छोड़िये, इसके प्रपञ्चमें लेशमात्र भी पड़े हुए प्राणी जगत्को पूर्णतया भगवद्रूप में नहीं देख सकते। वस्तुतः जगत् और भगवान्में अभेद-दृष्टि रखने वाले ही अविद्या मायाके द्वारा उत्पन्न होनेवाले समस्त भ्रमोंसे उन्मुक्त होकर भगवान्के निर्गुण और गुणाकार स्वरूपमें भी कोई अन्तर नहीं देखते। उक्त सिद्धान्तकी पुष्टि इस दोहेसे होती है—

‘माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहिं ।

जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहिं ॥’

‘मानस’ उ० ८५.

माया माया ही है, चाहे वह अविद्या माया हो, चाहे विद्या माया। दोनों ही हमें परमात्माके सामीप्यमें ले जाकर हमारे मनको-परम विश्राम नहीं दे सकतीं। महामलिन अविद्या माया तो सीधे ही

पतन-कुण्डमे झोंकती है और विद्या माया भगवच्छक्ति स्वरूप होनेसे भगवान्से अभिन्न भी होकर (गिरा अर्थ जल बीच सम कहियत भिन्न न भिन्न) वह स्वयं जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारमें दत्तचित्त है; फिर हमें भवसागरमें निमग्नोन्मग्न होते देख हमारा परित्राण क्यों करेगी। हमें सच्चे सुख और शांतिका अनुभव क्यों करने देगी। वस्तुतः भगवान्के परम सामीप्यकी उपलब्धि तो एकमात्र अनन्य भक्तिसे ही होती है। यही गोस्वामीजीका दृढ़ विश्वास है। इसीसे उन्होंने माया और भक्तिका यह पक्षपातरहित तारतम्य भी कर दिया है—

‘इहाँ न पच्छपात कछु राखऊँ । बेदे पुरान संत मत भाखऊँ ॥’

...

...

...

माया भगति सुनहु तुम दोऊ । नारि वर्ग जानहिं सब कोऊ ॥
पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी । माया खलु नर्तकी बिचारी ॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ॥’

‘इहाँ न पच्छपात कछु राखऊँ’ का मर्म यही है कि गोस्वामीजीने मूल प्रकृति-स्वरूप विद्या मायाको ही नाना ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण ठहराकर भगवती सीतासे इसका तादात्म्य अवश्य कर दिया है; पर, यहाँ भक्तिके सामने उसकी लघुता स्वीकार करनेमें वे तनिक भी नहीं हिचकते।

गोस्वामीजीके परमात्मा-सम्बन्धी विचार

मायाके उपरान्त मायाधिपति परमात्मा या ईश्वर-तत्त्व विचारणीय है। गोस्वामीजीके मतमें समस्त कारणोंसे परे ईशकी ही राम आख्या है^१। राम ही एक, अनीह, अनाम, अज, सच्चिदानन्द परधाम विश्व रूप भगवान् हैं^२। ‘व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी’ हैं^३। वेद जिस ब्रह्मका नेति-नेति कहकर वर्णन करता है, जो विरज, अकल और अभेद है वही राम हैं^४। रघुकुलमणि श्रीराम सहज प्रकाश सच्चिदानन्द प्रसिद्ध पुरुष प्रकट परावरनाथ परेशपुराण व्यापक ब्रह्म हैं^५। जो सबका प्रकाशक अनादि मायाधीश है उसमें और अवधपति राममें उसी प्रकार कोई भेद नहीं जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपलमें कोई भेद नहीं^६। अपनी ऐसी ही अभेद-दृष्टिके कारण स्वयं बाबाजी रामके जैसे स्वरूप-का स्मरण करते हैं उसे देखिये—

‘अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूप रूपं ।’

अम्भोदनादघ्न-बन्धु प्रनतपालक, परम करुणाधाम राम और ब्रह्म राममें अभेद-दृष्टि रखते हुए गोस्वामीजी किस प्रकार भगवान्से शरणयाचना करते हैं, इसे दो-चार पंक्तियोंमें और देखिये—

‘अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज
अमित अविकार आनंद सिंधो !

अचल अनिकेत अविरल अनामय अनारंभ अम्भोदनादघ्न-बंधो !

दास तुलसी खेदखिन्न, आपन्न,

इह सोक सम्पन्न अतिसय समीतं ।

१. ‘मानस’, उ० ११५. १—५। २. ‘मानस’, बा० मंगलाचरण श्लोक ६। ३. वही, बा० १२. ३, ४। ४. वही, बा० २२. ६। ५. वही, बा० ५०. १। ६. वही०, बा० ११५. ५, ६। ७. वही, बा० ११५. ३।

प्रनतपालक राम परम करुणाधाम
पाहि मामुर्वीपति दुर्बिनीत' ।'

माया, जीव, प्रकृति, गुण, काल, कर्म, महत्तत्त्वादि सभीका अधिष्ठाता ईश्वर है—

‘माया, जीव, सुभाव, गुण, काल करम महदादि ।
ईस-अंक ते बंदत सव, ईस अंक बिनु वादि' ॥’
... ..

‘माया जीव काल के, करम के, सुभाव के, करैया राम वेद कहैं, साँची मन गुनिए' ।’

‘विनयपत्रिका’में कहा गया है—

‘प्रकृति, महत्त्व, सव्दादि, गुण, देवता, व्योम, मरुदग्नि अमलांबु, उर्वी ।
बुद्धि मन इंद्रिय प्राण चित्तातमा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी ।
सर्वमेवात्र-त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद, बिष्णो ।
भुव भवदंस कामारि - बंदित पदद्वंद - मंदाकिनी - जनक-जिष्णो' ।’

‘मानस’ भी संकेत करता है—

‘अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।

मनुज बास चर अचर मय रूप राम भगवान' ॥’

सारे जगत्का नचानेवाली माया जिस सच्चिदानन्दधन, बलधामके भ्रूविलासके संकेतपर अपना प्रचण्ड व्यापार, रचती है वही राम हैं, अखिल अमोघ शक्तिसम्पन्न, व्यापक, व्याप्य, अखण्ड, अनन्त भगवान् राम हैं, सबके हृदयस्थ, प्रकृतिपार, अविनाशी, निरीह, विरज, अगुन, अदभ्र, गिरागोतीत, सर्वज्ञ, अनवद्य, अजित, निर्मय, निराकार, निर्मोह, नित्य, निरञ्जन, सुख-सन्दोह ब्रह्म राम हैं ।

श्रीरघुनाथके नाम, रूप, गुण और महिमा सभी अमित और अनन्त हैं । यह दूसरी बात है कि मुनिगण अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भगवान्का गुणानुवाद करते रहते हैं, पर यथार्थतः ‘निगम सेप सिव पार न पावहिं ।’ तात्पर्य यह कि रामकी महिमा अपरम्पार है, उसका पार कोई नहीं पा सकता । निरवाधि निरुपम प्रभु जगदीश रामकी महिमाका किञ्चित् संकेत भक्त-शिरोमणि काकके मुखारविन्दसे गोस्वामीजीने यों कराया है—

‘राम काम-सत-कोटि सुभग तन । दुर्गा-कोटि-अमित अरिमर्दन ॥

सक्र-कोटि-सत-सरिस बिलासा । नभ सत कोटि अमित अवकासा ॥

मरुत-कोटि-सत बिपुल बल रबि-सत-कोटि प्रकास ।

सत-कोटि सत सुसीतल समन सकल-भव-त्रास ॥

काल कोटि-सत-सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत ।

धूम-कोटि-सत-कोटि-सम दुराधरष भगवंत ॥

प्रभु अगाध सत-कोटि-पताला । समन-कोटि-सत-सरिस कराला ॥

तीरथ-अमित-कोटि-सत पावन । नाम अखिल अघ पूरा नसावन ॥

१. ‘विनय’, पद ५६ । २. ‘दोहावली’, दो० २०० । ३. ‘बाहुक’, छन्द ४४ ४. ‘विनय०’ पद ५४ ५. ‘मानस’, ल० १५०. ६. ‘मानस’, उ० ७१. १-७ ।

हिमगिरि-कोटि अचल रघुवीरा । सिंधु-कोटि-सत-सम गंभीरा ॥
 कामधेनु-सत-कोटि सयाना । कल-काम-दायक भगवाना ॥
 सारद-कोटि-अमित चतुराई । विधि-सत-कोटि-सृष्टि निपुनाई ॥
 विष्णु-कोटि-सम पाछन करता । रुद्र-कोटि-सत-सम संहारता ॥
 धनद कोटि-सत-सम धनवाना । माया कोटि प्रपंच निधाना ॥
 भार धरन सत-कोटि-अहीसा । निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥
 निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै ।
 जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै ॥
 एहि भाँति निज-निज मति बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं ।
 प्रभु भावगाहक अतिकृपालु सप्रेम सुनि सुख मानहीं ॥'

‘मानस’ पृ० ४८४

पिछले परिच्छेदमें रघुवंशमणि रामका ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व, विष्णुत्व तथा नाना अवतार आदि यथेष्ट विस्तारपूर्वक दिखाया जा चुका है । एतदर्थ उपर्युक्त ईश्वर-सम्बन्धी संक्षिप्त विचार ही प्रस्तुत प्रसंगके लिए पर्याप्त है । इसके आधारपर यही कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी सगुण भगवान् और निर्गुण ब्रह्म राम दोनोंको पूर्णतया अभेद दृष्टिसे देखते हैं । उनके मतमें अवतीर्ण राम और ब्रह्म राम दोनों एक है । इन दोनोंकी एकता केवल व्यावहारिक कामचलाऊ नहीं, पारमार्थिक सच्ची है । इनमें भेदबुद्धि रखनेवालों या ऐसा कहने-सुननेवालोंको वे कितना बड़ा पतित समझते हैं, इसका अनुमान अधोलिखित पंक्तियोंसे कीजिये—

‘कहहिं सुनिहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच ।
 पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच ॥
 अग्य अकोविद मंद अभागी । काई विषय मुकुर मन लागी ॥
 लंपट ढपटी कुटिल बिसेखी । सपनेहु संत सभा नहिं देखी ॥
 कहहिं ते बेद असंमत बानी । जिन्हहिं न सूझ लाभ नहिं हानी ॥

जिन्ह कृत महामोह मद पाना । तिन्हकर कहा करिय नहिं काना’ ॥’

गोस्वामीजीने ‘मानस’में कई ऐसे प्रत्यक्ष दृष्टान्त भी उपस्थित किये हैं जिनसे अवगत होता है कि रामके मनुजत्वको देख अनेक देवादि भी विमोहित हुए हैं । स्वयं सती मोह-ग्रस्त हो उठीं कि ब्रह्म मनुज कैसे हो सकता है; मूढ़ जयन्तने भ्रममें पड़कर रामका बल देखना चाहा; महाज्ञानी गरुड़ भी रामको नाग-पाशसे मुक्त करके भ्रममें पड़ गया कि परब्रह्म बन्धनमें क्योंकर आ सकता; भक्त भुशुण्डिपर भी रामकी प्राकृत शिशुलीलाने विचित्र मोह डाला । ये दृष्टान्त भी गोस्वामीजीके इस अभिमत लक्ष्यका प्रतिपादन करते हैं कि अवतीर्ण राम और परब्रह्म राममें कोई भेद नहीं । यदि किसीको मोहवश भेद दिखाई ही पड़े तो ऐसा व्यक्ति जगत्में अविराम रूपसे न जाने कौन-कौन-सा नाच नाचेगा । उसके मनको कदापि विश्राम नहीं मिलेगा । वास्तविक विश्राम तो तभी सम्भव है जब वह भगवान्‌के इस उपदेशामृतकी अनुभूत करेगा—

‘जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि ।’

अस्तु, भगवान् और भगवान्‌के अवतारोंमें भेददृष्टि रखना निन्तात अनुचित है ।

गोस्वामीजीके जीव-सम्बन्धी विचार

अब जीव-विषयक विचारोंकी ओर दृष्टिपात कीजिये । विलपती हुई ताराको श्रीरामके द्वारा उपदेश दिलाकर यह तथ्य व्यक्त किया गया है कि जीव देहेन्द्रिय-मन-प्राण-बुद्धिसे विलक्षण, चैतन्य और नित्य है—

‘छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम समीरा ॥

प्रगट सो तनु तब आगे सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा’ ॥

नीचे ‘विनयपत्रिका’के कुछ पदोंकी दो-चार ऐसी पंक्तियाँ उद्धृतकी जाती हैं जो जीव के विशुद्ध स्वरूपका चोतन कर रही हैं—

‘निज सहज अनुभव रूप तब खल भूलि चलि आयो तहाँ ।

निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यौ ।

निःकाज राज बिहाय नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यौ’ ।

... ..

‘निर्मम निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न व्यापई’ ।

... ..

‘चौथि चारि परिहरहु बुधि मन चित अहंकार ।

विमल विचार परमपद निज सुख सहज उदार’ ।

जीवके निर्विकार विशुद्ध स्वरूपमें गड़बड़ी क्योंकर पहुँच जाती है, गोस्वामीजी इसका समाधान एक अलंकृत वाक्यमें यों करते हैं—

‘भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहि माया लपटानी’ ।

निस्सन्देह जीव अपनी विशुद्ध अवस्थामें शानी और निर्विकार सुखस्वरूप है अवश्य, पर इसके ज्ञानादि सत्प्रतिपक्ष हैं, स्वतन्त्र और निर्विकार नहीं—

‘हरप विषाद ग्यान अग्याना । जीव धरम अहमिति अभिमाना’ ॥’

जीवकी अणुरूपता और अनेकता भी गोस्वामीजीको सर्वथा मान्य है^१ । उन्हें जीवके तीन मुख्य भेद ग्राह्य हैं—

‘विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग वेद बखाने’ ॥’

ये त्रिविध भेद जीवोंके—बद्ध, सुमुख और मुक्त जीवोंके ही रूपान्तर हैं । ‘मानस’ और ‘विनय-पत्रिका’ दोनोंमें इन तीनों श्रेणियोंके जीवोंके प्रकृत स्वरूपके संकेत बराबर मिलते हैं । ‘मानस’ में तो इन तीनों प्रकारके दृष्टान्त भी हैं ।

जीव अपने कर्मानुसार सुख-दुःखका भागी होता है—‘जीव करम वस सुख-दुख-भागी’^२ जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है—‘जो जस करइ सो तस फल’^३ चाखा’, ‘निज कृत कर्म भोग सब’^४ ‘भ्राता’, ‘निज कृत कर्म-जनित फल’^५ पायउँ’ । ऐसा होते हुए भी जीवका नियमन किसी औरके हाथ है । देखिये—

१. ‘मानस’ किष्कि० १०. ४, ५ २. ‘विनय०’, पद १३६ [२] ३. ‘विनय०’, पद १३६ [११], ४. वही, ‘विनय०’, पद २०३ ५. ‘मानस’, किष्कि० १३. ६ ६. ‘मानस’, बा० ११५. ७ ७. दे० ‘मानस’ : अरण्य० ‘जीव चराचर जन्तु समाना’ : उ० ‘जीव अनेक एक श्रीकृन्ता’ ८. वही, अयो० २७५. ३ ९. वही, अयो० ११. ४ १०. वही, अयो० २१७. ४ ११. वही, अयो० ९१. ४ १२. वही, अरण्य० १. १३ ।

‘काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे’^१ ।
... ..

‘उमा दारुजोषित की नाई’ । सबहिं नचावत राम गोसाई’^२ ॥
... ..

‘अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई । वेद सिद्ध निगमागम गाई ॥
करि बिचार देखेऊँ जिय नीके । राम रजाइ सीस सबहीके’^३ ॥
... ..

‘जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होई’^४ ।
... ..

‘नट मरकट इव सबहिं नचावत । राम खगेश वेद अस गावत’^५ ॥
‘तात जाय जिय करहु गलानी । ईस अधीन जीव गति जानी’^६ ॥

‘दोहावली’ के एक दोहेमें भी देखिये कि ‘जीवके नाह’ ने जीवकी कैसी विचित्र दशा बनायी है जो समझमें नहीं आती—

‘केहि मग प्रधिसत जात कहँ, ज्यों दरपनमें छाँह ।

तुलसी त्यों जग जीवगति करी जीवके नाह’^७ ॥’

जीव और ईश्वरके पारस्परिक सम्बन्धपर दृष्टि रखते हुए जीवकी कुछ अन्य विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं । जीव परतन्त्र है, ईश्वर स्वतन्त्र हैं । जहाँ विषम माया ईश्वरके अधीन रहती है वहाँ जीव मायाके हाथोंकी कठपुतली बना रहता है । देखिये—

‘ग्यान अखंड एक सीताबर । माया बस्य जीव सचराचर ॥

माया बस्य जीव अभिमानी । ईस बस्य माया गुन खानी ॥

परबस जीव स्वबस भगवंता । जीव अनेक एक स्त्रीकंता’^८ ॥’
... ..

‘हौं जड़ जीव, ईस रघुराया । तुम मायापति हौं बस माया’^९ ॥
‘पराधीन देव, दीन हौं, स्वाधीन गुसाई । बोलनिहारे सों करै, बलि विनय कि झाई’^{१०} ॥’

जीव और ईश्वरका बहुत ही सन्निकृष्ट सम्बन्ध है । जीव ईश्वरका साथी है—

‘ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती’^{११} ।’
... ..

‘ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू’^{१२} ।’

जीव ईश्वरका सखा ही नहीं सेवक भी है । इसीलिए गोस्वामीजीने सेवक-सेव्यभाव-प्रतिष्ठापर बराबर बड़ा जोर दिया है । उनकी सभी कृतियोंमें इसी भावकी गूँज है—

‘भैं सेवक रघुपति पति मोरे ।’

१. ‘विनय’, पद० ११२ २. वही, किष्कि० १०.७ ३. ‘मानस’, अयो० २५२. ७, ८ । ४. वही, बा० १२४ । ५. वही, किष्कि० ६.२४ । ६. ‘मानस’, अयो० २६१.५ । ७. ‘दोहावली’, दो० २४४ । ८. ‘मानस’, उ० ७७. ४-६ । ९. ‘विनय०’, पद १७७ । १०. ‘विनय०’, पद १४९ । ११. ‘मानस’, बा० १९.४ । १२. ‘मानस’, बा० २१६.४ ।

मायात् रामके श्रीमुख द्वारा गोस्वामीजीने और ईश्वरका भेद यों स्पष्ट कराया है—

‘माया ईस न आपु कहँ जानि कहिय सो जीव ।

बंध मोक्षप्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव’ ॥’

अवतरणसे प्रकट है कि जीव मायाधीश नहीं है, पर ईश्वर मायाधीश है, ईश बंध-मोक्ष-दाता है, सबसे परे है, सबकी मर्यादा है, पर जीवमें यह सामर्थ्य नहीं है ।

मायासे प्रेरित अविनाशी जीव तो काल, कर्म स्वभाव और गुणोंके चक्करमें पड़कर चौरासी लक्ष योनियोंमें निरन्तर भ्रमता रहता है—

‘आकर चारि लक्ष चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिय अविनासी ।

फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल करम सुभाउ गुन घेरा’ ॥’

मैं समझता हूँ कि गोस्वामीजीके मतानुसार अपनेको ब्रह्म घोषित करनेवाला व्यक्ति घोर अपराधी है, जब कि ईश्वरकी समतामात्र करनेवाले ज्ञानाभिमानीको जड़ और कल्पपर्यन्त नरकगामी होना बतलाया गया है—

‘जौँ अस हिसिषा करहि नर जड़ विवेक अभिमान ।

परहि कल्प भरि नरक महँ जीव कि ईस समान’ ॥’

गोस्वामीजी के जगत्-सम्बन्धी विचार

देखना चाहिये कि जगत्के प्रति गोस्वामीजीके क्या विचार हैं । उन्होंने ‘मानस’के उत्तरकाण्डमें प्रकृष्ट वेद-स्तुतिकी जो उद्भावना की है उस प्रसंगके एक विशिष्ट छन्दसे उनके जगद्विषयक विचारका स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार लक्षित होता है—

‘अव्यक्त-मूल-मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भनं ।

षट् कंध साखा पंच बीस अनेक परन सुमन घने ।

फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आसित रहे ।

पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमामहे ॥’

छन्दकी अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है कि वेद संसार-बिटपको सतत फलने-फूलनेवाला नित्य नूतन घोषित करता है । वेदोंके द्वाराकी गयी इस स्तुतिमें स्पष्ट वर्णित जगद्विषयक वेदोंका जो भर्म प्रदर्शित किया गया है उसपर किसकी अनास्था होगी ?

जगत्को झूठा और अनित्य माननेवाले ज्ञानाभिमानियोंके प्रति तुलसीका क्या विचार है, यह देखिये—

‘झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है ।

ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है ।

जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके विचार गँवार महा है ।

.....,

‘कविता०’, उ० ल० ३९

पुनः

‘जौँ जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होत कहहु केहि लेखें’ ।’

‘विनयपत्रिका’के ‘केसव कहि न जाइ का कहिये’से प्रारम्भ होनेवाले पद [१११]में भी इस विलक्षण

१. ‘मानस’, अरण्य० १५. । २. ‘मानस’, उ० ४३. ५ । ३. वही, बा० ६९. । ४. ‘विनय०’, पद १२१ ।

संसार-सम्बन्धी सत्यका द्योतक बड़ी मार्मिकतासे किया गया है। उक्त पदकी अन्तिम दो पंक्तियोंमें गोस्वामीजीने अपना जो अभीष्ट व्यक्त किया है, उसे देखिये—

‘कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरइ तीन भ्रम सो आपुन पहिचानै ॥’

परिणामवादी सांख्य-मतानुयायी कुछ मनीषियोंका यह विचार है कि गोचर जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है। विवर्तवादी अद्वैत-सिद्धान्ती इसे मिथ्या ठहराते हैं। आरम्भवादी नैयायिक महानुभावोंकी दृष्टिमें यह सत्यासत्य दोनों है। गोस्वामीजी इन तीनों वादोंको अंशतः भ्रमपूर्ण समझते हुए अपनी सच्ची अनुभूति प्रकट करते हैं कि जो व्यक्ति इन शुष्क वादोंसे ऊपर उठ जाते हैं वस्तुतः वे ही इसके वास्तविक स्वरूपकी अनुभूति करते हैं।

गोस्वामीजी उन दार्शनिकोंमेंसे नहीं हैं जिन्होंने इस जगत्को मिथ्या कहकर इस जीवनको बन्धन, क्लेश अथवा अनिष्टका भाजन बताकर निन्द्य घोषित किया है; प्रत्युत उनका विचार है कि यह जीवन क्लेश और अनिष्टरूप उन्हीं लोगोके लिए है जिन्होंने न परमात्माको स्वतन्त्र और जगत्को उनका आश्रित जाना और न इन सत्यके अनुकूल अपने जीवनको ही ढाला। वस्तुतः जो यह तथ्य जानता है और जानकर उसके अनुसार अपना जीवन भी बना लेता है उसे सारे जगत्के भीतर परमात्माकी दिव्य ज्योति दिखाई पड़ती है, यहाँतक कि वह तुच्छातितुच्छ वस्तुओंमें भी परमात्माकी विभूतिका अनुभव करता और आनन्दित होता है। उसे ऐसी अनुभूतिसे सारा जगत् ईश्वरमय दिखाई पड़ने लगता है, क्लेश और अनिष्टमय नहीं। जगत्के इसी रूपको देखकर गोस्वामीजी उसे नमन करते हैं—

‘सियाराम मय सब जगु जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥’

रामके अनन्य भक्त शंकरके मुखारविन्दसे भी इस तथ्यका समर्थन यों कराया गया है—

‘उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध^१ ॥’

जो मनुष्य जगत्को भगवद्रूप देखता है उसका यह स्वभाव हो जाता है कि वह हृदयके उच्चाति-उच्च भावों से उल्लसित होकर अपनेको उस विराट्की सेवामें सतत निमग्न रखकर जगत्की सत्यता और सुखका प्रत्यक्ष अनुभव करता है; इसके विपरीत जो व्यक्ति भ्रमाधिक्यके वशीभूत होकर जगत्के वास्तविक स्वरूपको नहीं समझ पाता उसके लिए यह रमणीय संसार परिणाममे भयावह ही सिद्ध होता है। इस तथ्यकी पुष्टि गोस्वामीजीकी स्वानुभूतिकी इन दो पंक्तियोंमें किस प्रकार हुई है यह देखिये—

अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी ।
सम संतोष दया विवेकते न्यवहारी सुखकारी^२ ॥’

अन्तमें, इस तथ्यको पुनः दुहरा देना चाहते हैं, कि गोस्वामीजीको जगत् रामरूपमें ही वन्दनीय और यथार्थमान्य है न कि ‘मैं’-‘मोर’वाले रूपमें। ‘मैं’ और ‘मोर’ वाले रूपमें लीन जीव स्वप्नमें भी विश्राम-लाभ नहीं कर सकता—‘तुलसिदास, ‘मैं’ ‘मोर’ गये बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै^३ ।’ इस मायिक रूपको तो उन्होंने भयंकर और गह्वं ही माना है जैसा कि ‘विनयपत्रिका’ के अनेकानेक पदोंसे प्रकट होता है। उदाहरणके लिए अधिक नहीं, एक ही पद उद्धृत कर दिया जाता है—

१. ‘मानस’, उ० ११२. । २. ‘विनय०’, पद १२१ । ३. वही, १२० ।

जागु जागु जागु जीव जोहै जग-जामिनी । देह गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी ।
सुते सपने ही सहै संसृत-संताप रे । बूड़ों मृगबारि, खायो जेवरी को साँप रे !
कहैं वेद बुध तू तो बूझि मन माहिं रे ! दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे !
तुलसी जागे तें जात तात तिहूँ ताइ, रे ! राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाइ, रे !^१

वस्तुतः जगत्को रामके अतिरिक्त नाना रूपोंमें देखना तो भ्रम है। ऐसे ही भ्रममें पड़े हुए प्राणी जगत्का यथार्थ भ्रम नहीं समझ पाते, वे ही निरन्तर भवव्यालस्रित होते हैं, उन्हें ही राम और जगत्में भेद दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत जो चराचरको जगन्निवासमय ही मानते हैं वे उसे रामसे पृथक् कैसे देख सकते हैं—‘यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया’^१।

गोस्वामीजीके साधन-मार्ग-सम्बन्धी विचार

गोस्वामीजीने जिस प्रशस्त साधन-मार्गका निरूपण किया है वह व्यापक और विश्वजनीन है। इसके अन्तर्गत सदगुणों और आचार-विचारोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। इसमें वर्णाश्रम धर्मावलम्बन, वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह, विलासिताका त्याग, आशा और भयका निराकरण, भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण, सत्, हित और प्रियवचनोंका प्रयोग, स्वाध्यायाभ्यसन, दान, विपन्न-रक्षण, दारणागत-परिचाण, सर्वभूतानुभूया, हरि, गुरु तथा शास्त्रमें सतत श्रद्धा—सभी भगवत्प्रेम-प्राप्तिके लिए नितान्त आवश्यक टहराये गये हैं। इस प्रशस्त मार्गमें वैधी भक्ति तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंसे पोषित ज्ञानादि भी सगाहृत हुए हैं। समाधिस्थ योगियोंकी अखण्ड साधनासे प्राप्त होनेवाले परम तत्त्वकी भी अपूर्व प्रतिष्ठा की गयी है। इनके अतिरिक्त भगवद्गुण तो इस मार्गका सर्वस्व बताया गया है। इसीसे इस बातपर बराबर जोर दिया गया है कि जबतक भगवान् श्रीरामकी कृपा नहीं होती तबतक केवल विविध साधनोंसे ही उनकी दिशुद्ध अविरल प्रेम-भक्ति नहीं प्राप्त होती। गोस्वामीजीके मतानुसार भगवान्का अनन्य प्रेमाधिकारी भक्त भगवान्की अनपायिनी प्रेम-भक्तिको प्राप्त करके भी अपनी दास्यभावनाको निरन्तर बनाये रखता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने प्रेमकी परकाष्ठापर पहुँच जानेपर ऐसा अनन्य भक्त चराचरको भगवद्रूप देखने लगता है, पर अपनेको वह सेवक-रूपमें ही रखता है। देखिये, श्रीमुखके द्वारा इसी तथ्यका समर्थन यों कराया गया है—

‘सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि शगवंत’^२ ॥’

और भी देखिये, निम्नांकित अवतरणोंमें उपासक और उपास्य दोनोंकी पृथक् सत्ताघोतक सेवक-सेव्यभावका सिद्धान्त कितनी दृढ़तासे कहा है—

‘बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल ।

बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल’^३ ॥’

...

...

...

‘सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।

भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि’^४ ॥’

इसी प्रकार उन्होंने और भी कितने ही सिद्धान्त वाक्योंमें स्पष्टतया सेवक-सेव्यभावको सर्वांगपरि टहराया है। प्रकृष्ट दृष्टान्तोंके द्वारा भी अपने इसी अभिमत सिद्धान्तकी पुष्टि की है। गोस्वामीजी भेदभक्ति

१. ‘विनय’, पद ७३ । २. ‘विनय’, पद ६७ [५] ३. ‘मानस’, किष्कि० ३. । ४. ‘मानस’, उ० १२२. । ५. वही, उ० ११९. ।

सम्पन्न अनन्य भक्तोंके अद्वितीय दृष्टान्तस्वरूप स्वयं हैं। उनकी समस्त कृतियोंके अक्षर-प्रत्यक्षर छानकर देखिये कि उन्होंने कहीं भी अपनेको राम या ब्रह्मस्वरूप घोषित किया है? कदापि नहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने जितने भी अनन्य भक्त पात्रोंका शील चित्रित किया है उनमेंसे ऐसा कोई नहीं मिलेगा जो 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे'। मैं सेवक रघुपति पति मोरे'की उच्चतम भावान्से शून्य हो। महाराज दशरथ सामान्य कोटिके भक्त नहीं थे। मुक्ति तो उनके चरणोंपर लोटकर स्वतः कृतकृत्य हो जाती, पर उन्होंने मुक्तिको टुकराकर 'भेद भगति'को अपनाया। देखिये—

‘ताते उमा मोच्छ नहिं पावा । दसरथ भेद भगति मन लावा ॥॥

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहैं राम भगति निज देहीं’ ॥’

तपः पुञ्ज परम भगवद्भक्त शरभंग शृपि जिन्होंने योगाग्निमें अपने नश्वर शरीरको डाल दिया और जो साक्षात् ब्रह्मपदमें लीन होनेके अधिकारी थे—भगवान्ने उन्हें कैसी गति दी उसे भी देखिये—

‘अस कहि जोग अग्नि तनु जारा । राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा ॥

ताते मुनि हरिलीन न भयऊ । प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ’ ॥’

एक-दो ब्रह्मज्ञानी भक्तोंके प्रकाशमें भी गोस्वामीजीके साधन-मार्गको समझ लेना समीचीन होगा। ब्रह्मानन्दमें निरन्तर लीन रहनेवाले महाराज जनक सदृश ब्रह्मज्ञानीके मनको रामकी अलौकिक रूपमधुरिमापर मुग्ध हो जानेपर उनके मुखसे निम्नांकित उक्ति—

‘इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा’ ॥’

कहलाकर गोस्वामीजीने अपने साधन-मार्गमें भक्तिकी ही सर्वश्रेष्ठता दिखायी है। इसके द्वारा व्यञ्जित किया है कि ज्ञानीको भी गगत्प्रेमोन्मुख होनेमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह ब्रह्मानन्दसे बढ़कर है। फलतः ज्ञानी भी भक्ति-निरत होकर ही आश्वस्त हो सकता है। गोस्वामीजीने बात्मीकि मुनिको भी ‘ज्ञानी मुनि’ कहा है—‘साधु साधु बोले मुनि ग्यानी’”, पर, इस ‘ज्ञानी मुनि’से भी भक्तिका ही पूर्ण समर्थन कराया है। तभी तो मुनिने ज्ञानियोंकी परमानुभूति ‘अहं ब्रह्मास्मि’ आदिको भी भक्तिके अधीन बताया है, देखिये—

‘सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई’ ॥’

इससे स्पष्ट है कि ‘ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति’की चरितार्थता भी भगवदनुग्रहपर ही अवलम्बित है। अर्थात् यावत् भगवान्की कृपा नहीं होती तावत् अभेदज्ञान भी नहीं प्राप्त होता। अवतरणमें ‘देहु जनाई’ पद भगवत्कृपाकी प्रेरणाका ही द्योतक है।

उपर्युक्त उक्तिके अतिरिक्त बात्मीकि मुनिने रामके लिए जो विभिन्न पुनीत भवन इंगित किये हैं उन सबके द्वारा भी भक्तिकी प्रतिष्ठा की गयी है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ अगस्त्य अपनी ब्रह्मज्ञतासे बढ़कर भक्तिको प्रश्रय देते हैं। देखिये—

‘जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता । अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ॥

अस तव रूप बखानउँ जानउँ । फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ’ ॥’

प्रस्तुत प्रसंगमें तुलसीके साधनमार्गकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं, अष्टम और नव म परिच्छेदोंमें एतद्विषयक प्रायः सभी विचार अन्तर्भूत हो चुके हैं।

१. ‘मानस’, लं० १११. ६, ७, । २. ‘मानस’, अरण्य० ८. १, २ । ३. वही, बा० २१५. ५ । ४. ‘मानस’, अयो० १२४. ७ । ५. वही, अयो० १२५. ३ । ६. वही, अरण्य० १२. १२, १३ ।

उक्त सभी प्रतिपाद्योंके प्रकाशमें उपलब्ध निष्कर्ष

गोस्वामीजीके गाय, ब्रह्म जीव, जगत् और साधन-मार्ग-सम्बन्धी विचारोंको दृष्टिमें रखते हुए अब देखना है कि उनकी विचार-पद्धति किसी 'वाद'से पूर्णतया मेल खाती है कि नहीं। सर्वप्रथम शांकर अद्वैतवादसे इनकी विचार-पद्धतिकी तुलना करके देखना चाहिये कि क्या उक्त पद्धति इन्हे मान्य है। यदि हम अद्वैतवादियोंकी 'सदसद्विलक्षण', 'अनिर्वचनीय' मायाको तुलसीकी मायासे मिलाते हैं तो दोनोंमें एकता नहीं दिखाई पड़ती। जहाँ अद्वैतवादी जीव-ब्रह्म अथवा आत्मानात्मकी अभिमत एकतापर आवरण डालकर भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाली अविद्याको माया बताते हैं वहाँ गोस्वामीजी 'सियाराम' और सब जगमें भेद डालकर उपासकको भ्रान्त करनेवाली अविद्याको माया समझते हैं। यही नहीं, उन्होंने जगद्धात्री विद्या मायाका स्वरूप-निर्देश करते हुए उसका सीतासे जो तादात्म्य किया है वह भी अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

गोस्वामीजीकी विचार-पद्धतिके अनुसार 'निर्गुन नाम न रूप' वाला ब्रह्म और साक्षात् लोचन-गोचर होनेवाले सगुण स्वरूपमें परमार्थतः कोई भेद नहीं। तभी तो दशरथापत्य, कौसल्यागर्भज श्री रघुवंशमणि राम और ब्रह्म रामकी एकता डंकेकी चोट बार-बार कही गयी है। उधर सगुण-निर्गुणकी यह एकता शांकर अद्वैतके अनुसार अधिक संवादी भ्रमके आधारपर ही मानी जा सकती है, क्योंकि उनके मतमें एक ब्रह्म सत्ताके अतिरिक्त और किसीकी सत्ता भ्रममूलक ही समझी जायगी। यह भ्रम दो प्रकारका होता है। एक संवादी भ्रम और दूसरा विसंवादी भ्रम। ब्रह्म और जीव सजातीय हैं। अतः जीवको ब्रह्म समझनेमें जो भ्रम है वह संवादी भ्रम ही कहा जायगा, 'प्रमा' नहीं। बाबाजी जिसे प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञानके रूपमें ग्रहण करते हैं, शांकर अद्वैतवादी उसे संवादी भ्रम स्वीकार करता है। उसके मतमें ब्रह्म और जीवमें तत्त्वतः कोई भेद न रहनेसे अर्थात् दोनोंके एक ही होनेसे दोकी सत्ता अमान्य है। इस अमान्य सत्ताको स्वीकार करके दोनोंकी एकता स्वीकार करना भ्रम ही है दाशरथि राम और ब्रह्म इन दोकी सत्ता अमान्य मत्ता हुई और दोनोंकी एकता भ्रममूलक।

शांकर अद्वैत मतानुयायी 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' आदि श्रुतियोंके आधारपर ब्रह्मको एक, अखण्ड और अद्वितीय स्वीकार करनेके कारण सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदशून्य मानते हैं। उनकी दृष्टिमें ब्रह्मके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है। पर, गोस्वामीजीके रामका स्वरूप देखते हुए तो यही कहना होगा कि वे ब्रह्मको सजातीय, विजातीय भेद-शून्य तो स्वीकार करते हैं, किन्तु स्वगत भेद-शून्य नहीं।

अद्वैतवादियोंके 'जीवो ब्रह्मैव नापरः'का विचार भी गोस्वामीजीको सर्वथा मान्य था, यह भी कैसे कहा जाये जब कि उन्होंने जीवको ब्रह्मका अंश माना है, क्षुद्र तथा क्षुद्रशक्तिसम्पन्न बताया है। उनके मतमें जीवका ब्रह्मके साथ एकीभावापन्न होना कभी सम्भव नहीं है। जीव अब भी जैसे पृथक् है वैसे ही निरन्तर पृथक् रहेगा, मुक्ति-दशामें केवल ब्रह्मानन्दका अनुभव ही उसका विशेष लाभ है।

अद्वैतवादियोंका 'जगन्मिथ्या'का सिद्धान्त भी गोस्वामीजीको अग्राह्य है। उनका दृढ़ विश्वास है—'बिस्व रूप रघुवंस मनि करहु बचन विस्वास।' फिर, वे इस विश्वरूप भगवान्को मिथ्या कैसे मान सकते हैं? हाँ, जगत्को साक्षात् भगवान् रामकी अभिव्यक्ति न समझना घोरतिथोर भ्रम है—यह वे अवश्य मानते हैं।

अद्वैतवादी अपने महत्त्वपूर्ण 'दिवर्तवाद'के सिद्धान्तके अनुसार मानते हैं कि एकमात्र स्वप्रकाश अखण्ड पारमार्थिक चैतन्य सत्ताके अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य

है और कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् मायाका तो परिणाम है, पर ब्रह्मका विवर्त है। कार्यके अनिर्वचनीयतावादकी पारिभाषिक संज्ञा 'विवर्त' है। गोस्वामीजीको विवर्तवादका सिद्धान्त कदापि ग्राह्य नहीं। तभी तो उन्होंने उक्त सिद्धान्तका निर्देश करके भी उसपर अपने निजी सिद्धान्तका रंग चढ़ाया है। देखिये—
 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा, यत्सत्त्वादसृष्टैव भाति सकलं रजौ यथाऽहेर्भ्रमः।
 यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तिनीर्षावतां, वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥'

इस अवतरणकी प्रथम दो पंक्तियोंमें शांकर अद्वैतके 'विवर्तवाद'की झलकने तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण खोजनेवाले महानुभावोंमेंसे अनेकोंके मनमें यही भावना जगा दी है कि तुलसीदास शांकर अद्वैतके अनुयायी अवश्य थे, तभी तो उन्होंने विवर्तवादका वह प्रसिद्ध दृष्टान्त अपनाया है। परन्तु हमें उस दृष्टान्तसे भ्रान्त नहीं होना चाहिये। जरा विचारपूर्वक देखिये, अन्तिम पंक्ति क्या घोषणा कर रही है। उससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी अद्वैतवादियोंके औपनिषदिक ब्रह्मका रामनामधारी दाशरथि रामसे अभेद मानते हैं। तभी तो वे कहते हैं कि मैं उस ईशका अभिपादन करता हूँ कि जो रामनामसे विश्रुत है, जिसकी राम आख्या अर्थात् नाम है। भला 'निर्गुन नाम न रूप' उक्तिसे स्पष्ट सूचित किया गया अनाम ब्रह्म कैसे रामाख्या हो सकता है?

विवर्तवादके उक्त दृष्टान्तसे ही नहीं, अपितु 'मानस' और 'विनयपत्रिका'के कुछ प्रसंगोंमें प्रयुक्त 'हरिपद' और 'रामपद' प्रभृति पदोंसे भी कुछ लोगोंकी धारणा बद्धमूल हो गयी है कि पद शांकर अद्वैतवादियोंके ब्रह्मपदके ही सूचक हैं। परन्तु ऐसे महानुभावोंसे यही निवेदन करना है कि जरा आग्रह छोड़कर देखिये कि ये पद भगवान्‌के चरणारविन्दके अर्थमें ही सर्वत्र व्यवहृत हुए हैं कि नहीं।

अद्वैतवादियोंका मत है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी उपासना और ज्ञानका फल वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ निर्विशेष ब्रह्म आत्मरूप बताया गया है, वहाँ उसके ज्ञानका फल एकरूप मोक्ष ही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासनाका प्रसंग आता है, अर्थात् ब्रह्मका सम्बन्ध किसी प्रतीक राम, कृष्ण, सूर्य आदि देवताविशेषसे बताया गया है, वहाँ संसारगोचर ही फल भिन्न-भिन्न होता है। उपासनाकी भेद दृष्टिसे ही यह कल्पना है। अतः जीव और ईश्वरकी कल्पना व्यावहारिक होनेसे दोनों मायिक हैं—उपाधिके काल्पनिक विलासके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस सिद्धान्तसे भी गोस्वामीजीकी विमति है, कदाचित् इसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं।

तुलसीका साधनमार्ग भी अद्वैत मतानुयायियोंके साधनमार्गसे भिन्न है। अद्वैतवादियोंके साधनमार्गकी ये चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। सर्वप्रथम साधको 'नित्यानित्य वस्तुविवेक'-सम्पन्न होना पड़ता है और तत्परिणामस्वरूप दूसरी अवस्था आती है जिसमें उत्तरोत्तर विरतिकी प्रतिष्ठा होती जाती है। जब साधक पूर्णतया वैराग्य-सम्पन्न हो जाता है तो उसकी साधनाकी तीसरी अवस्था आती है जिसके अनुसार वह अपने निर्विकारत्वकी अनुभूति करने लगता है और अन्ततोगत्वा चौथी अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर उसमें मुमुक्षा जग पड़ती है और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका निरन्तर मनन एवं निदिध्यासन करते-करते उसे 'अहं ब्रह्मास्मि'का बोध हो जाता है। यही ब्रह्मभाव ज्ञानियोंका परमपद है। यही उनके ज्ञानका परम फल है। गोस्वामीजीके साधन-मार्गमें ज्ञानियोंकी इस मुक्तिको कोई विशेष प्रश्रय नहीं दिया गया है, प्रत्युत उसमें भक्ति ही सर्वोपरि ठहरायी गयी है। ज्ञानादि विविध साधनोंको भी भक्तिके ही अधीन बतलाया गया है—

‘सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥’

इस प्रसंगका विस्तृत विवेचन अन्यत्र हो चुका है।

तुलसी और शांकर अद्वैतवादकी विचार-पद्धतिकी उपर्युक्त संक्षिप्त तुलनाके आधारपर किसी विचारशील व्यक्तिका यही निर्णय होगा कि गोस्वामीजीका दार्शनिक दृष्टिकोण शांकर अद्वैतवाद नहीं है।

गोस्वामीजी शांकर अद्वैतवादके पूर्ण अनुयायी नहीं हैं, इस निष्कर्षके उपरान्त यदि रामानुजके विशिष्टाद्वैत अथवा माध्वके द्वैत मतके प्रकाशमें भी अपने कविका दार्शनिक दृष्टिकोण निर्णय करना चाहें तो हम दृढ़ता-पूर्वक यह नहीं सिद्ध कर सकते कि गोस्वामीजी इन दोनों पद्धतियोंमेंसे किसी एकके पक्षके अनुयायी हैं। यह दूसरी बात है कि इन दोनों पद्धतियोंके अनेकानेक सिद्धान्त और साधन-सम्बन्धी बातें तुलसीकी रचनाओंमें मिलती हैं। पर इन दोनों पद्धतियोंके कुछ प्रमुख सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजीकी पूर्ण विमति भी है। यथा, मायाका अस्तित्व न विशिष्टाद्वैतवादी ही स्वीकार करते हैं, न माध्व मतानुयायी ही, पर तुलसीको मायाकी विशेष सत्ता मान्य है। इसके अतिरिक्त इन दोनों पद्धतियोंके कुछ अन्याय प्रमुख सिद्धान्त भी गोस्वामीजीको अमान्य हैं। जैसे, विशिष्टाद्वैतवादी जगत्को ब्रह्मका अंश मानते हैं, परन्तु माध्वजीके विचारसे जगत् साक्षात् 'रघुवंशमणि-स्वरूप' ही है। माध्व मतानुयायियोंके अनुसार परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्त गुण-परिपूर्ण है अर्थात् भगवान्के गुण अनन्त हैं तथा उनका प्रत्येक गुण निरवधि और निरतिशय है। इधर गोस्वामीजीके मतमें राम परमात्मा हैं, वे ही अनन्त गुण-परिपूर्ण हैं। माध्व सम्प्रदायियोंका मत है कि अचिन्त्य शक्ति विष्णु भगवान्में निवास करती है, पर तुलसीके मतमें अधटित-घटना-पटीयसीवी परम सामर्थ्य राममें है। तात्पर्य यह है कि अचिन्त्य शक्ति राममें निवास करती है। राममें ही विचित्र कार्य-सम्पादनकी अलौकिक सामर्थ्य रहती है। द्वैतवादी माध्वोंका यह सिद्धान्त कि इस जगत्के जन्मादि व्यापारमें परमात्मा केवल निमित्त कारण है और जड़ प्रकृति उपादान कारण, यह भी गोस्वामीजीको अमान्य ही कहा जा सकता है। माध्वोंके साधन-मार्गमें श्रद्धा, रत्नन, ध्यानके साथ तारतम्य परिज्ञान तथा पञ्चभेदः ज्ञान नितान्त आवश्यक ठहराये गये हैं, क्योंकि ये साधन हैं, किन्तु गोस्वामीजीके साधन-मार्गमें 'तारतम्य ज्ञान' और 'पञ्चभेद-ज्ञान'का कोई विशेष स्थान नहीं है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत अथवा माध्व द्वैतवादकी और भी कितनी ही बातें हैं जो तुलसीके मतमें नहीं हैं।

अभीतक जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट है कि तुलसीका दार्शनिक दृष्टिकोण न पूर्णतया शंकराचार्य का अद्वैतवाद ही है और न रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद ही। वर्तुस्थिति कुछ और ही है। 'प्रस्थान-भेदादर्शनभेदः'के अनुसार गोस्वामीजीकी दार्शनिक विचार-पद्धतिका सच्चा अनुयायी और मर्मज्ञ यही अनुभव करेगा कि सर्वशक्तिमान् कौस्तुभानन्दन राम और ब्रह्म राममें कोई भेद नहीं। जगत् रामरूपमें ही बन्ध और सत्य है। जगत्को रामसे या रामको ब्रह्मसे पृथक् देखना ही द्वैतबुद्धि है। उपासककी अद्वैतबुद्धि तभी कही जा सकती है जब वह सारे जगत्को भगवद्रूप समझता है और सगुण और निर्गुणमें कोई भेद नहीं देखता, दोनोंको ही परमार्थतः सत्य मानता है। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि गोस्वामीजीके मतमें ऐसी अद्वैतबुद्धिकी प्राप्तिके अनन्तर भी उपासक अपनी सत्ताको उपास्यकी सत्तामें विलीन कर स्वयं उपास्यरूप ही नहीं बन जाता, प्रत्युत वह अपनी भेद-भक्तिको शाश्वत बनाये रहता है अर्थात् 'सत्त्वाचर रूप स्वामि

१. जगत्के समस्त पदार्थ एक-दूसरेसे बढ़कर हैं। ज्ञान, सुखादिका अवसान भगवान्में ही होता है। यही 'तारतम्य-ज्ञान' है। २. भेद पाँच प्रकारका होता है : १. ईश्वरका जीवसे भेद, २. ईश्वरका जड़से भेद, ३. जीवका जड़से भेद, ४. जीवका दूसरे जीवसे भेद, ५. एक जड़ पदार्थसे भेद।

भगवन्त'को तो वह समझने ही लगता है, साथ ही अपनेको 'मैं सेवक'के ही रूपमें देखते हुए अन्य भगव-
द्योमका उच्चतम आनन्द-लाभ करता है।

हम देखते हैं कि तुलसीकी विचार-पद्धतिमें उपासक और उपास्य दोनोंकी पृथक् सत्ता पूर्णतया प्रतिष्ठित
है। फलतः हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि उनका अभिमत सिद्धान्त द्वैत है। उनके मार्मिक व्याख्याता
देवस्वामी काष्ठजिह्वा स्वामी पुकार-पुकार कहते हैं—'द्वैत सदा अद्वैत कबहुं नहिं यह सुतिको निर्घोष।'।

एकादश परिच्छेद

तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य

हमारे प्राचीनतम वाङ्मयका प्रस्थान वेदोंसे ही प्रारम्भ होता है। जिज्ञासा होती है कि क्या प्राचीन राम-साहित्यकी उत्थानिका भी वेदोंमें अनिहित है? रामका कोई उल्लेख जब वेद अथवा वेदके अंग प्राचीन उपनिषदोंमें भी नहीं तो कैसे कहा जाय कि राम-साहित्यका प्रादुर्भाव वेदसे हुआ। पर तुलसीकी इस वेद-वन्दनाका आशय क्या—

‘बंदउ चारिउ वेद, भव-बारिधि बोहित सरिस।

जिन्हहि न सपनेहु खेद, वरनत रघुबर बिसद जस ॥’

प्रस्तुत प्रबन्धके चतुर्थ परिच्छेदमें इष्टदेवका स्वरूप दिखानेके प्रसंगमें कहा जा चुका है कि तुलसीकी दृष्टिमें दाशरथि राम विभुरूपसे व्यास विष्णु तथा उस अखण्ड, परिपूर्ण, परब्रह्मसे सर्वथा अभिन्न हैं। वेद जब विष्णु और परब्रह्म दोनोंका विशद गुणानुवाद करता है तो गोस्वामीजी उसे रामका गुणगायक क्यों न कहते। इसके अतिरिक्त ‘रामतापिनी’ या ‘राम-रहस्योपनिषद्’ सदृश अर्वाचीन उपनिषदोंमें राम और रामनामका परमोत्कर्ष तो वर्णित ही है।

प्राचीन राम-साहित्यकी व्यापकता

वस्तुतः प्राचीन राम-साहित्यका निर्विवाद स्रोत वाल्मीकीय रामायण है। प्राचीनतम राम-साहित्यके स्रष्टा वाल्मीकि ही ठहरते हैं। इनके भव्य-निर्माण के प्रति गोस्वामीजी प्रणत होते हैं—

‘बंदउ मुनि पद कंज, रामायन जेहि निरमयउ।’

‘रामायण’के अतिरिक्त ‘महाभारत’-सदृश पुराकल्प ग्रन्थमें भी ‘वाल्मीकीय ‘रामायण’की व्यापक कथाको संक्षेपमें वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानमें गाकर प्राचीन राम-साहित्यकी महिमा बढ़ाती है। अष्टादश मुख्य पुराणोंमें भी जो प्राचीन और प्रामाणिक माने जाते हैं उनमेंसे ‘पद्मपुराण’, ‘ब्रह्माण्डपुराण’, ‘श्रीमद्भागवत’, ‘ऋसिहपुराण’, ‘विष्णुपुराण’, ‘अग्निपुराण’, प्रभृति पुराणोंमें प्राचीन राम-साहित्य सुरक्षित है। इसीलिए कितने ही कलाकारोंको अपना राम-साहित्य प्रस्तुत करनेमें उक्त पुराणोंमें वर्णित राम कथासे पर्याप्त प्रेरणा मिली है। तुलसीने भी इस पौराणिक राम-साहित्यसे यथेष्ट सामग्री प्राप्त की है। उन्होंने ‘मानस’ का नाना पुराणसम्मत होना स्वीकार भी किया है। कुछ पौराणिक रामायणोंमें ‘अध्यात्मरामायण’ विशेष महत्वपूर्ण है। यह ‘ब्रह्माण्डपुराण’के अन्तर्गत है। ‘महारामायण’, ‘आनन्दरामायण’, ‘भृगुण्डिरामायण’, ‘अद्भुतरामायण’ आदि भी पौराणिक ढंगके प्राचीन रामायण हैं। इन सबमें भी प्राचीन राम-साहित्य सञ्चित है।

इतिहास-पुराण आदिके द्वारा जिस राम-साहित्यकी प्रतिष्ठा हुई उसका प्रवाह संस्कृतके कतिपय महाकाव्यों और नाटकोंमें भी स्पन्दमान् हुआ और कालान्तरमें इनके द्वारा भी राम-साहित्यका क्षेत्र व्यापक तथा मनोश्चर होकर जगमगाया। कविकण्ठाभरण कालिदासकृत ‘रघुवंश’ महाकाव्य प्राचीन राम-साहित्यकी उत्तम निधि है। अभिनन्दकृत ‘राम-चरित’ भी प्रकाशित हो गया है। यह भी वेदोंमें रीतिमें लिखा

गया उत्तम महाकाव्य है। बलभीके राजा श्रीधरसेनके राजाश्रित कवि भट्टिकृत 'रावण-वध' जो 'भट्टिकाव्य' के नामसे भी विश्रुत है, एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसी प्रकार भौमक भट्टकृत 'रावणार्जुनीय' वा 'अर्जुन-रावणीय' भी प्रसिद्ध महाकाव्य है। कुमारदासका 'जानकीहरण' अथवा क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण मञ्जरी' भी उच्च कोटिके काव्य हैं। चौदहवें शतकमें वर्तमान मल्लिनाथकृत 'रघुवीरचरित' भी उल्लेखनीय है। नाटकों में भवभूतिकृत 'उत्तररामचरित', मुरारिकृत 'अनर्घराघव', राजशेखरकृत 'बालरामायण' मधुसूदन और दामोदर मिश्र-कृत 'हनुमन्नाटक' अथवा जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' आदि उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि प्राचीन राम-साहित्यके विपुल भण्डारपर संस्कृतका ही विशेषाधिकार है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि प्राकृत, अपभ्रंश अथवा अवहट्ठने राम-साहित्य-निर्माणके प्रति उदासीनता दिखायी है। प्राकृतमें राम-साहित्यकी श्रेष्ठ विभूति प्रदर्शित करनेके लिए प्रवरसेन-विरचित 'सेतु-वन्ध' उत्तम महाकाव्य है। इसी प्रकार अपभ्रंशकी देनके फलस्वरूप पुष्पदन्तके 'महापुराण' में अनोखे ढंगसे वर्णित राम कथाका महत्व कम नहीं। इसके अतिरिक्त जैन मतवाल्मीकी कविराज स्वयम्भूकृत 'रामायण' भी अपभ्रंशके द्वारा समर्पित प्राचीन राम-साहित्यका अंग है। स्वयम्भूके रामायणका संकेत और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनेवाले हैं—राहुल सांकृत्यायनजी। आपने अपने एक लेखमें^१ उक्त रामायणके कुछ अवतरण देकर उनके स्वरूपका किञ्चित् आभास तो दिया ही है, साथ ही स्वयम्भूके विषयमें भी कुछ प्रकाश डाला है। हेमचन्द्रने अपने अपभ्रंशके व्याकरणमें जो उदाहरण दिये हैं उनमें कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें किसी-न-किसी रूपमें राम-चर्चा भी है। इन रचनाओंके आधारपर ऐसा अनुमान असंगत न होगा कि अपभ्रंशकी फुटकल रचनाओंके द्वारा भी प्राचीन राम साहित्यकी वृद्धि हुई। तुलसीके पूर्ववर्ती हिन्दीके कुछ कवियोंने भी राम-चरितकी चर्चा करके अपनी वाणीको पवित्र किया। रामानन्द और उनके प्रधान शिष्योंकी रचनाओंमें ब्रह्म रामका जो गान हुआ वह भी प्रकारान्तरसे राम-साहित्यके ही अन्तर्गत कहा जा सकता है। 'सूरसागर' में सन्निहित राम-सम्बन्धी पदोंकी भी नहीं भुलाया जा सकता है। डॉ० रामकुमार वर्माने तुलसीके पूर्वकी राम-काव्यकी परम्परासे भगवतदास और कविचन्द नामक दो कवियोंका सम्बन्ध जोड़ा है^२।

गोस्वामीजी जिस समय अपने भव्य 'मानस'का प्रणयन कर रहे थे उस समय उनकी सात्त्विक अन्तर्दृष्टिके समक्ष प्राचीन राम-साहित्यके विस्तृत और रम्य उद्यानका दृश्य अवश्य था। इसीसे उसके लक्ष्योंकी वन्दना की गयी है।

‘व्यास आदिकवि पुंगव नाना । जिन्ह सादर हरिचरित बखाना ॥
चरन कमल बन्दउँ तिन्ह केरे । पुरबहु सकल मनोरथ मेरे ॥
कलिके कबिन्ह करउँ परनामा । जिन्ह बरने रघुपति गुन प्रामा ॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने । भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने ॥’

“वाल्मीकीय रामायण” और मानस

प्राचीन राम-साहित्यके व्यापक क्षेत्रको पूर्णतया सम्पन्न करनेवाले इन विविध ग्रन्थोंमेंसे, जिनके द्वारा तुलसीको अपने साहित्यके निर्माणमें प्रेरणा मिली, सर्वप्रथम 'वाल्मीकीय रामायण' है। यह उत्तम 'परिक्रिया'^३ रूप ऐतिहासिक आदि काव्य है। इसीसे इसके रचयिता 'आदिकवि' कहे जाते हैं। संस्कृतके

१. दे० 'हंस', वर्ष १५, नवम्बर १९४४, अंक २, पृ० ६३—७३। २. दे० 'हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ३४५—४६ ३. 'परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्दिधा। स्वादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।—'काव्यमीमांसा'।

रामाश्रित महाकाव्योंकी रचना प्रायः इसी ग्रन्थके आधारपर हुई है। साहित्य-विद्याके ग्रन्थोंमें महाकाव्यके निर्दिष्ट लक्षण इसी ग्रन्थको सामने रखकर निर्मित हुए हैं। 'रामायण'के सर्ग, सर्गोंके अन्तमें भिन्न-भिन्न छन्द, नदी, पर्वत, ऋतु आदिका वर्णन इत्यादि जो कुछ है वह मानों महाकाव्यका निदर्शन है। यह रामायणी कथाकी उदात्तता है जो उसने नानाविध कृतिकारोंको अपने प्रसाधन और परिष्कारके लिए आकर्षित किया है।

महामुनि वाल्मीकि रामका गुणगान करनेके लिए भले ही तुलसीके रूपमें अवतीर्ण होकर इस धराधामपर क्यों न आये हों पर यह तो निर्विवाद है कि वे अपने नये तुलसी-अवतारमें रामके प्रति अपनी नवीन, अपूर्व भावनाएँ लेकर उतरे। नाना रूपोंमें अपनी नवीन ज्योति बिखेरी। आदि कविने अपने विकासोन्मुख युगकी आवश्यकताओंको देख आर्य-संस्कृतिका परमोत्कर्ष दिखानेके लिए रामको मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें ग्रहण किया। इसके विपरीत तुलसीने अपने हृदय-वल्लभ रामका ऐसा स्वरूप लिया कि वे केवल मर्यादापुरुषोत्तम ही न रहें अपितु भक्तिके विविध अधिकारियोंकी स्थूल या सूक्ष्म भावनाके अनुसार उनकी भक्तिके दिव्यालम्बन भी रहे। 'वाल्मीकीय रामायण'का अंग-प्रत्यंग आर्योंकी सामाजिक रीति-नीतिके विस्तृत विवरणसे शोभित है। इसके समान नीतिका दूसरा ग्रन्थ विश्व-साहित्यमें नहीं है। इधर भासनकारने रामायणकालीन रीति-नीतिका सामान्य प्रदर्शन किया है। वाल्मीकि को वीरत्वका विशाल वातावरणचित्रण अभीष्ट था। अतः उनके ग्रन्थभरमें वीररसका अथवा कुछ आलंकारिकोंके मतसे शान्त-रसका परिपाक हुआ है। तुलसीका 'मानस'-हृद तो प्रधानतः भक्ति रससे परिपूर्ण है। वन-प्रान्तों, निर्झरा, गिरि-सरित्तटोंसे मण्डित तपोभूमिके अनन्य सहचर महर्षि वाल्मीकिका हृदय प्रकृति-नटीकी कमनीय कलाओं में रमा तो था ही, फलतः उन्हें उसके प्रत्येक हाव भावका सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था; अपनी इस प्रकृति-पर्यवेक्षणकी अमित विभूतिको अत्यधिक विस्तार देकर उन्होंने अपने ग्रन्थको प्रकृतिकी विस्तृत लीला-स्थली बना दिया है। इधर गोस्वामीजीने प्रकृतिका आनुपंगिक वर्णन किया है। अतः उसमें किसी प्रकार निरसता नहीं आने पायी है। सभ्य समाज व्यवहार-शिष्टताके हेतु, श्रीलताकी रक्षाके लिए कितनी ही बातोंको अर्थापदेशके रूपमें मर्यादित ढंगसे प्रकट करता है। रामायणकालके महाकवि अपनी उस आदिकालीन संस्कृतिमें इस नियमका कठोर पालन कैसे करते। पर, गोस्वामीजीने उच्च सामाजिक शिष्टता और मर्यादा की अपूर्व रक्षा करते हुए अपना वर्णन कहीं भी अमर्यादित नहीं होने दिया है। आदिकविके सामने आर्य-संस्कृतिका एकनिष्ठ वैदिक युग था जिसमें सांस्कृतिक संघर्षोंको जन्म देनेवाले विविध मत-मतान्तरोंका प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। इधर तुलसीके समक्ष विलक्षण साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक संघर्षमय युग चौकड़ी भर रहा था। कहनेका तात्पर्य यह कि दोनों कवियोंके अपने-अपने युग-प्रदर्शनकी रीतिमें भी अन्तर है। यदि प्रथमके ऊपर संस्कृतिके एक सीधे मार्ग-निरूपणका दायित्व था तो द्वितीयपर कितने ही टेढ़े-मेढ़े मार्गोंके समन्वयका गुरुतर भार था। पात्रोंके चरित्रांकनके सम्बन्धमें भी दोनोंके दृष्टिकोणमें एकरूपता नहीं। जहाँ वाल्मीकिके सभी पात्रोंकी चारित्रिक विशेषताएँ अनावृत्ति और यथार्थरूपमें अवगत होती हैं, वहाँ तुलसीके सभी पात्रोंपर, उनके वैयक्तिक चरित्रांकनपर, भक्तिकी छाप भी लगी रहती है। गोस्वामीजीने अपने पात्रोंका चित्रण केवल चरित्रांकनकी दृष्टिसे नहीं किया है, प्रत्युत इनके द्वारा आदर्श-प्रतिष्ठा और विशेषतः भक्ति-प्रचारका ध्यान रखा है। ऐसा करके भी उन्होंने चरित्र-चित्रण-कलाकी पूर्ण रक्षा की है—यह बड़ी आश्चर्य-जनक बात है।

'मानस'की कलापूर्ण वस्तु-विन्यास-योजना 'वाल्मीकीय रामायण'के इतिवृत्तसे कितने ही अंशोंमें निराली है। उसके उपक्रम और उपसंहार 'वाल्मीय रामायण'के उपक्रम और उपसंहारसे सर्वथा भिन्न हैं।

स्मरण रहे कि यह भेद सामिप्राय है। सर्वगुण-सम्पन्न परम कारुणिक रामको यह कदापि शोभा नहीं देता कि वे साध्वी सीताका त्याग करे। भक्तकी दृष्टिमें राम और सीता अभिन्न हैं—“गिरा अर्थ जल बीच सम... खिन्न।” इसीलिए तुलसीने वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्डकी कथा सीता-त्याग आदिको अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने ‘वाल्मीकीय रामायण’की प्रारम्भिक कथा (वाल्मीकिका नारद से मिलन, क्रौंच पक्षीके जोड़ेपर व्याधका क्रूरान्तर अवलोकन कर उसे शाप देना, ब्रह्माकी आज्ञासे रामायणकी रचना करना और उसे लव-कुशको सिखाकर अयोध्या भेजना) को भी ‘मानस’के उपक्रममें सन्निविष्ट करना व्यर्थ समझा।

इतिवृत्तका जिज्ञासु ‘वाल्मीकीय रामायण’में पढ़नेवाली आनुषंगिक कथाओं और घटनाओंके लम्बे विस्तारको भले ही पसन्द करे, पर कला पारखी तो उपकथाओं और अप्रधान घटनाओंका वैसा ही संकेत चाहेगा जैसा कि तुलसीने अपने ‘मानस’में किया है। लक्ष्य-भेदके कारण दोनों रामायणोंकी मुख्य कथा-वस्तुकी उभयनिष्ठ घटनाओंके निरूपणमें भी अन्तर है। उदाहरणार्थ राम-जन्मकी अपूर्व घटना ही लीजिये। शुभ मुहूर्त आदिके उपस्थित होनेपर मानसकारने ‘भये प्रकट कृपाला परम दयाला...’ आदिका स्वरूप दिखाया है; पर आदिकविने ऐसे प्रकट होनेकी कोई चर्चा नहीं की है। अन्यथा राम-जन्मकी घटना दोनों रामायणोंमें है। बालचरित, बन्धुओंका परस्पर प्रेम-कथन भी दोनों ग्रन्थोंमें है अवश्य, किन्तु इसमें भी रामके चरितकी अलौकिकता दिखानेके लिए—“इहाँ-उहाँ दुइ बालक देखी। मति भइ भ्रमित कि आन विसेखी।” अथवा ‘देखरावा मातहिं तब अद्भुत रूप अखंड। रोम-रोम प्रति लागेउ कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड’ आदिका उल्लेख गोस्वामीजीने कर दिया है; वाल्मीकिकी दृष्टि इस अलौकिकता-प्रदर्शनकी ओर नहीं थी। अहल्या-उद्धारकी घटना यद्यपि है दोनों रामायणोंमें, पर वाल्मीकिके वर्णनसे प्रकट होता है कि वह उस शापित घोर निर्जन स्थानमें सर्वजीवोंको अदृश्य रहकर निराहार, वायुमक्षण करती हुई कठोर तप करती थी, वहाँ राम-लक्ष्मणके आनेपर पवित्र होनेके पश्चात् उसे अपना पूर्व कान्तिमय स्वरूप मिल गया, तदनन्तर दोनों भाइयोंने उसके चरण छूए और वह भी गौतमका पूर्वकथित वचन याद करती हुई उनका संस्कार करने लगी; रामने उसका आतिथ्य स्वीकार किया; गौतम भी वहीं आ गये और उनसे भी सत्कृत होकर वे जनकपुरकी ओर बढ़े। तुलसीने शापित अहल्याको शिला-रूपमें दिखाया है और भगवान्की परम पुनीत चरण-रजके स्पर्शमात्रसे उसके शापमोचन और सद्गति-प्राप्तिका निर्देश किया है।

राम-विवाहकी घटनाकी सिद्धि और उसे परम रमणीय एवं हृदयग्राही बनानेके लिए तुलसीने फुलवारीमें सीता और रामका परस्पर सम्प्रेक्षण और उनके पूर्वरागकी जो चारुभूमिका प्रस्तुत की है उसका ‘वाल्मीकीय रामायण’में कोई संकेत नहीं। रंगभूमिमें एकत्र हुए मिथिलाके नर-नारियों, बड़े-बड़े पराक्रमी राजाओं-महाराजाओं और विविध वेशधारी देवों और दानवोंके बीच पहले अपूर्व, नाटकीय, धुकधुकी बढ़ानेवाला वातावरण उपस्थित करके भरी सभामें रामके द्वारा धनुष तुड़वाकर उनका उत्कर्ष दिखाते हुए एक ओर हर्ष और दूसरी ओर कोलाहलका जो विचित्र समन्वय तुलसीने मूर्तिमान् किया है वह वाल्मीकिमें कहाँ। यही नहीं आदिकविने रामके विवाहादि संस्कारको भी तुलसीकी-सी सहृदयता और मार्मिकताके साथ नहीं दिखाया है।

अपनी वृद्धावस्था-सूचक चिह्नोंको देख महाराज दशरथने मन्त्रियोंके सत्परामर्शसे रामको युवराज-पदपर अभिषिक्त करना चाहा और उसकी तैयारियाँ होने लगीं—यह प्रसंग दोनों रामायणोंमें है अवश्य,

पर वाल्मीकिने इसके अन्तर्गत यह भी दिखाया है कि अन्तःपुरमें दशरथने एकान्तमें रामसे कहा है कि हम तुम्हें कल ही युवराज बना देनेकी इच्छा करते हैं, भरतके आनेके पूर्व ही यह कार्य सम्पन्न हो जाये, अन्यथा उनके यहाँ आनेपर कदाचित् कोई विघ्न खड़ा हो जाये। मन्थराकी कुचालकी बात भी दोनों ग्रन्थोंमें एक होकर भी कुछ अन्तर रखती है। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार दासीकी बुद्धि सरस्वतीके द्वारा भ्रष्ट नहीं करायी गयी है, वरन् उसने स्वयं अपने कौटिल्यसे रानीकी मति फेरकर उसे दोनों वर माँगनेके लिए सन्नद्ध किया है^१। वाल्मीकिने इसका भी उल्लेख किया है कि कैकेयीके दोनों वरदान सुनकर राजाने उसे बहुत समझाया, पर वह उससे मस न हुई, इसपर क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा कि मेरे मरनेपर न तो तू मेरा शरीर छूए और न भरत मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करे^२। तुलसीने ऐसा नहीं कहलाया। वाल्मीकिने यह भी वर्णन किया है कि सुमन्त्रके साथ जब राम कैकेयीके भवनमें गये तो छिपे-छिपे लक्ष्मण भी वहीं पहुँचे^३। राजाने रामसे कहा कि मुझ स्त्रैण्को कारागारमें डालकर तुम राज्य करो, पर राम इसपर सहमत न हुए^४। जब राम कौसल्यासे बिदा माँगने गये तब माता तथा लक्ष्मण दोनोंने उन्हें वन जानेसे रोकनेकी बड़ी चेष्टा की, यही नहीं, रामको सिंहासनारुढ़ करनेके लिए लक्ष्मणने उनसे कहा कि आप भाग्यकी प्रचलता बखान रहे हैं और मैं स्त्रैण, कामुक राजाको वन्दी करके तथा भरत, शत्रुघ्न और उनके पक्षपातियोंको, चाहे वे देवराज ही क्यों न हों, रणक्षेत्रमें भूशायी बनाकर संसारको आज ही दिखा देना चाहता हूँ कि पौरुषके सामने भाग्य कुछ नहीं है^५। सीताने अपना भावी वियोग-दुःख प्रकट करते हुए कहा कि आप हमें वन दिखानेके लिए बहुत दिनसे कह रहे थे; हमने अपने पीढ़रमें ज्योतिषियोंसे भी सुना है कि हमें वनमें रहना होगा, अतः हमें अपने साथ ले चलिये^६। इसी सिलसिलेमें उन्होंने यह भी कहा कि आप हमें साथ ले जानेसे भयभीत होते हैं, आप आकारमें ही पुरुष हैं, आपके तेज-प्रतापकी प्रशंसा व्यर्थ है। यदि हमारे पिता ऐसा जानते तो आपको अपना जामाता न बनाते^७। मानस-रचयिताने न तो सुमन्त्रके साथ कैकेयी-भवन की ओर जाते हुए रामके पीछे लक्ष्मणके छिपे-छिपे जानेका प्रसंग छेड़ा है और न ऊपर दिखाये गये लक्ष्मण और सीताके कथोपकथनको ही स्थान दिया है।

राम-वन-गमनके अवसरपर अयोध्याके व्याकुल नर-नारा रामके पीछे-पीछे तमसाके किनारेतक चले आये, रात्रिमें जब श्रान्त पुरवासी सो गये तो रामकी आज्ञासे सुमन्त्र ने रास्ता बदलकर रथ हाँका। प्रातः काल जगनेपर प्रजा निराश होकर अयोध्या लौटी। उधर राम शृंगवेरपुर पहुँचे और वहाँ निपादसे उनकी भेंट हुई। यह प्रसंग दोनों रामायणोंमें है। पर, रात्रिमें सीता और रामके सो जानेपर निषाद और लक्ष्मणमें जो वार्ता हुई है वह दोनों ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न है 'वाल्मीकीय रामायण'में लक्ष्मण रामके राजधानीमें व्यतीत होनेवाले सुखमय जीवन और तत्कालीन वनवासके सम्भाव्य दुःखोंका अन्तर निपादको समझाकर स्वयं बहुत बिलखाये, निषादका हृदय भी बहुत संतप्त हुआ^८। इधर 'मानस'में उन्होंने उसे रामका परमार्थ स्वरूप बताया है, ज्ञानका उपदेश दिया है^९। 'मानस'में वर्णित केवट द्वारा रामका पाद-प्रक्षालन, रामका पार्थिव-पूजन, सीताको गंगाका आशीर्वाचन, भरद्वाजके शिष्योंका मार्ग-प्रदर्शन, निषादके साथ गमन और यमुना पार होनेके पश्चात् एक तापसका आकस्मिक आगमन आदि घटनाएँ 'वाल्मीकीय रामायण'में कहीं

१. 'वाल्मी० रामा०' अयो० सर्ग ४:२४, २५। २. वही, अयो० सर्ग ८; ९। ३. वही, अयो० सर्ग १४:१६, १७। ४. 'वाल्मी० रामा०', अयो० सर्ग १६-२६। ५. वही, अयो० सर्ग ३४:३६। ६. वही, अयो० सर्ग २३। ७. वही, अयो० सर्ग २९:७-९। ८. वही, अयो० सर्ग ३०:१-४। ९. 'वाल्मी० रामा०', अयो० सर्ग ५१। १०. 'मानस', अयो० ९१. १-८; ९२. १-८, ९३. १।

नहीं हैं और न वाल्मीकिने रामके रहनेके विविध ठाँव ही दिये हैं। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार शृंगवेरपुरके समीप भरतको ससैन्य देख करके निषाद पाँच सौ नावोंपर सौ-सौ वीरोंको बिठा घाटको रुकवाकर तब मांस, मछली, शहद आदि लेकर भरतसे मिलने गया है^१। स्पष्ट शब्दोंमें पृष्टा है कि आप सेना लेकर रामके पास किस विचारसे जा रहे हैं^२। 'मानस'में निषादने ऐसा प्रश्न नहीं किया है, यह अवश्य है कि इसमें निषादकी टोलीका जो सजीव चित्रण हुआ है वह 'वाल्मीकीय रामायण'में नहीं है। इसी प्रसंगमें तुलसीने वसिष्ठ-निषाद तथा भरत-निषादका आलिंगन कराकर जो भक्ति-महिमा दिखायी है उसका वाल्मीकिने संकेत भी नहीं किया है। चित्रकूटमें ससमाज जनकके आगमनकी घटनाका जिसके विस्तारमें तुलसीकी अलौकिक काव्यानुभूतिका परिचय मिलता है और जो 'मानस'का उत्कृष्ट अंश है, 'वाल्मीकीय रामायण'में उसका कोई उल्लेख नहीं।

काक-वेश-धारी जयन्तकी नीचताके सम्बन्धमें वाल्मीकिने लिखा है कि उसने सीताकी छातीमें चोंच और चंगुल मारकर उन्हें व्यग्र किया^३। इधर गोस्वामीजी केवल 'सीताचरन चोंच हति भागा' कहकर रह गये हैं। अत्रि-मिलन, विराध-वध, शरभंग-दर्शन और उनका शरीर-त्याग, मुनियोंका एकत्र होकर राक्षसोंके वधके लिए विनय करना तथा सुतीक्ष्ण और अगस्त्यसे मिलनेकी घटनाएँ यद्यपि दोनों रामायणोंमें हैं, तथापि 'मानस'में इन ऋषियोंने रामको साक्षात् भगवान् मानकर उनकी स्तुति की है, वाल्मीकिमें ऐसा नहीं है। वाल्मीकिने विराधका जो विस्तृत वृत्तान्त दिया है तथा मुनि आश्रमों और वन्य प्रातोंकी सुषमाका सजीव चित्रण किया है उसका 'मानस'में संकेतमात्र है। वाल्मीकिने दिखाया है कि शूर्पणखा अपने स्वाभाविक भयानक, कुरूप, दारुण वृद्धा-वेशमें ही रामके सम्मुख आयी^४। पर तुलसीदासका कहना है कि वह 'रुचिर रूप धरि प्रभु पहुँ गई'। रामने कञ्चन-मृगपर जब अपना बाण मारा तो प्राणोंको छोड़ते समय मारीचने जोरसे कातर स्वरमें 'हा लक्ष्मण !' कहा, जिसे सुनकर सीता परम सभित और विह्वल हुई—यह प्रसंग दोनों रामायणोंमें एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे अंकित हुआ है। वाल्मीकिने सीताके मुखसे साधु लक्ष्मणको दुःशील, कठोर-हृदय, कुल-कलंक, दुष्ट, भरतका गुप्तचर तथा उन्हें हथियानेकी स्पृहा रखनेवाला आदि भर्त्सनात्मक वचन कहला दिये हैं^५ और उन्हें सुनकर अन्तमे लक्ष्मणने भी धिक्कारा है—'धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे।' गोस्वामीजीने इस प्रसंगका ऐसा अनभिलषित रूप नहीं होने दिया है। सुमूर्षुदशाको प्राप्त जटायुसे रामकी भेंट और उसके द्वारा यह समाचार पाना कि रावण सीताको हर ले गया, जटायु-मरण और रामके द्वारा उसके और्ध्वदेहिक कर्म किये जानेकी बातें भी दोनों रामायणोंमें हैं अवश्य, पर वाल्मीकिने तुलसीकी भाँति यह नहीं दिखाया है कि गृध्र चतुर्भुज रूप धारण करके 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही' आदि स्तुति करते हुए राम धामको गया। रामके शबरीके आश्रममें जानेके प्रसंगमें वाल्मीकिने दर्शाया है कि उसने पहले दोनों भाइयों का बड़ी उमंगके साथ आतिथ्य किया, तदनन्तर रामसे अपना सारा वृत्तान्त बताया और अन्तमें उनकी अनुमति लेकर वह जलती हुई आगमें कूद पड़ी, फिर भी उसमेंसे प्रवर्तित अग्निका-सा चमचमाता रूप धारण कर वह निकली और स्वर्ग चली गयी^६। इधर 'मानस'के अनुसार उसने पहले राम लक्ष्मणका सत्कार किया, फिर हाथ जोड़कर स्तुति करने लगी, तब उसकी भक्तिसे परितुष्ट होकर रामने उसे नवधा भक्ति का उपदेश दिया है। अन्तमें

१. 'वाल्मी० रामा०', अयो० सर्ग ८४:८, ९। २. वही, ८५:७। ३. 'वाल्मी० रामा०', सुन्दर० सर्ग ३८:२३। ४. वही, अरण्य०, सर्ग १७:१०-१२। ५. वही, अरण्य०, सर्ग ४५। ६. दे० 'वाल्मी० राम०', अरण्य०, सर्ग ७४:३३।

रामके पृष्ठनेपर उसने उन्हें पंपासरकी ओर जाने और सुग्रीवसे मैत्री करनेकी बातें बताकर 'तजि जोग पावक देइ हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे' की गति प्राप्त की। दण्डकारण्यमें रामका लक्ष्मणके प्रति दिया गया भक्ति और ज्ञानका उपदेश, सीताको पावकमें निवास करनेका आदेश तथा पंपासरके तीरपर बिरही राम और नारद-मिलनके जो प्रसंग 'मानस'में समाविष्ट हैं वे 'वाल्मीकीय रामायण'में नहीं हैं।

ऋष्यमूक पर्वतके समीप दोनों वीरोंको आते हुए देखकर सुग्रीव शंकित और त्रस्त हुए। उन्होंने हनुमान्को भेद लेनेके लिए भेजा। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार हनुमान् भिक्षुरूप में गये हैं, पर 'मानस'के अनुसार बटुरूपमें। यही नहीं, इसी प्रसंगमें दोनों रामायणोंके हनुमान्के द्वारा किये गये वार्ता-लापमें बड़ा अन्तर है। 'मानस'में तो थोड़ी वार्ताके उपरान्त 'प्रभु पहिचान परेउ गहि चरना' अथवा 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही। हरप हृदय निज नाथहि चीन्ही॥' की स्थिति दिखायी गयी है; उधर 'वाल्मीकीय रामायण'में ऐसा नहीं दिखाया गया है। वहाँ तो हनुमान् लगातार लच्छेदार संस्कृत बोलते हुए दिखाई पड़ते हैं और अन्तमें रामने लक्ष्मणसे उनके भाषाकी शुद्धता और मधुरताकी सराहना भी की है। 'वाल्मीकीय रामायण'में राम-वाण से विद्ध होकर बालिने अति कटु और व्यंग-पूर्ण बातें कही हैं^१, वे 'मानस'में नहीं। यहाँ तो निरुत्तर हो जानेपर बालिने रामकी स्तुति की है और अंगदको उन्हें ही सौंपा है। 'वाल्मीकीय रामायण'में बालिने रामकी स्तुति नहीं की है, अंगदको सुग्रीवकी शरणमें छोड़ा है^२। तारा-विलाप दोनों रामायणोंमें है, पर आदि कविने 'तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥' या 'उपजा ग्यान चरन तव लागी। लीन्हेसि परम भगति वर माँगी॥' आदिका उल्लेख नहीं किया है। रामके प्रवर्षण-गिरि-प्रवासके प्रसंगमें मानसकारने दिखाया है कि रामके निवास करनेके लिए देवोंने स्वयं आकर वहाँ रमणीय गुफा बना रखी थी^३। 'वाल्मीकीय रामायण'में रमणीय गुफाका वर्णन है, पर इसका कोई उल्लेख नहीं कि देवोंने उसे रामके लिए बनाया। प्रवर्षण-प्रवासके ही सिलसिले वाल्मीकिने वर्षा और शरद् ऋतुका जो विस्तृत और रुचिर वर्णन किया है उसके समक्ष तुलसीका वर्णन बच्चा-सा लगता है। इसके अतिरिक्त जहाँ आदिकविका वर्णन प्रकृतिके विविध विलासोंको मूर्तिमान् करता है^४, वहाँ बावाजीका वर्णन उसके विविध अवयवोंसे कुछ-न-कुछ उपदेश ग्रहण करनेमें भी सहायक होता है। सुग्रीवकी असावधानीपर रामका स्वयं रुष्ट होना, फिर लक्ष्मणका उग्र क्रोध देखकर उन्हें समझा-बुझाकर किष्किन्धामें वानरराजको भयभीत करनेके लिए भेजना तथा लक्ष्मणका अन्तःपुरमें प्रवेश करनेपर सुग्रीवकी घोर मद्यपता और विलासिता देखना और उसपर आग-बबूला हो उठना, साथ ही बुद्धिमती ताराका नाना प्रकारके अनुनय-विनयोंसे उनका प्रशमन आदि प्रसंगोंको वाल्मीकिने स्वच्छ आईनेकी भाँति कई सगोंमें चमकाया है, पर गोस्वामीजीने प्रच्छन्न रूपसे इन सबका संकेतमात्र दिया है। विभिन्न प्रान्तोंके असंख्य वानरों के एकत्र होने और भिन्न-भिन्न दिशाओंमें भेजे जानेका विस्तार भी वाल्मीकिने अत्यधिक किया है; गोस्वामीजीने इस प्रसंगको भी संक्षेपमें चलाता कर दिया है। इसी प्रकार वानरोंके बिल प्रवेश और तपस्विनीदर्शनकी कथा भी बहुत थोड़ेमें कही है इसी प्रसंगमें यह भी दिखाया है कि तपस्विनी बन्दरोंको विवरसे बाहर समुद्रके किनारे लाकर स्वयं रामके पास पहुँची और वहाँ स्तुति करनेके उपरान्त प्रभुकी आज्ञासे बदरिकाश्रम गयी^५। 'वाल्मीकीय रामायण'में ये दोनों बातें नहीं हैं।

१. दे० वही, किष्कि०, सर्ग ३:२। २. 'वाल्मीकि रामा०', किष्कि० सर्ग ३:२७-३२। ३. वही, ३:१७। ४. वही, ३:२२। ५. 'मानस', किष्कि० १२। ६. दे० 'वाल्मी० रामा०', किष्कि० सर्ग २८, ३०। ७. 'मानस', किष्कि० २४. ६-८; २५।

जाम्बवान् के उत्साह-वर्धन वचनों को सुनकर हनुमान् तटपरके पर्वतपर उछलकर चढ़ गये और वहाँसे छल्लांग मार समुद्र पार जानेके लिए हुमके। उस समय पर्वतकी जो दशा हुई उसका वाल्मीकिने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है^१, तुलसी ने केवल संकेत करके छोड़ दिया है। लंकाके सौन्दर्य वर्णनमें वाल्मीकिका मन खूब रमा है^२, फलतः उन्होंने उसका बड़ा ही व्यापक वर्णन किया है, पर तुलसीने इस विवरणको भी संक्षेपमें चलता किया है^३। हनुमान् के मुद्रिका-प्रहारसे लंकिनी विनम्र हुई—यह वाल्मीकिने भी दिखाया है^४, परन्तु उन्होंने तुलसीकी भाँति लंकिनीके मुखसे 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख'.....'लव सतसंग।' आदि बातें नहीं कहलायी हैं। लंकामें प्रवेश करनेके अनन्तर सूक्ष्म रूपधारी हनुमान् ने कैसे वहाँ का प्रत्येक भवन ढूँढ़ा, इसका वृहत् विवरण तो वाल्मीकिने अनेकानेक सर्गोंमें दिया ही है, साथ ही रावणके शयनागारमें जो-जो 'अद्भुत दृश्य दिखाई पड़े उनके वर्णनमें भी कमाल कर दिया है^५। हनुमान् जब एक छोड़ दो-दो बार रावणके मन्दिर तथा अन्य भवनोंको भली-भाँति ढूँढ़कर भी सीताको न देख पाये तो उनके हृदयमें संकल्प विकल्पकी आँधी-सी चल पड़ी; इसी बीच अशोक-वाटिकाकी ओर दृष्टि गयी और विचार आया कि उधर तो ढूँढ़ा ही नहीं, अतः उधर बढ़नेके पूर्व ब्रह्मादि देवोंकी प्रार्थना की^६। तदनन्तर अशोक-वाटिकामें जाकर शिशुपाके वृक्षपर चढ़े और वहाँसे जानकीको देखा^७। इधर गोस्वामीजीने दिखाया है कि जब हनुमान् रावणका भवन ढूँढ़ चुके तब—'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा ॥' फिर क्या था। इसी मन्दिर-निवासी सन्तके साथ उनका समागम हुआ। विभीषणने ही उन्हें सीताका सारा वृत्तान्त बताया। सीताको रामकी मुद्रिका-प्राप्तिका प्रसंग है तो दोनों रामायणोंमें, किन्तु उसकी प्राप्तिके ढंगमें अन्तर है। 'वाल्मीकीय रामायण'में वर्णित है कि पहले हनुमान् ने सीताके समीप आकर रामके शारीरिक चिह्नोंका पूर्ण परिचय दिया, तदुपरान्त वानरोंके साथ रामने कैसे मैत्री जोड़ी, इसका वर्णन किया और अभिज्ञानके रूपमें रामकी मुद्रिका दी^८। इधर 'मानस'में सीताकी अंगार-याचनाके परिणामस्वरूप मानों अशोकने अंगार-सदृश दमकती हुई मुद्रिका ही गिरा दी। 'वाल्मीकीय रामायण'के अनुसार वाटिका-विध्वंस करनेका समाचार सुनकर रावणने बन्दरको पकड़ लानेके लिए पहले जम्बुमाली, सात मन्त्रिपुत्रों तथा विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर आदि पञ्च सेनानायकोंको क्रमशः भेजा^९ और उन सबके ध्वस्त होनेके बाद अक्षयकुमार आया^{१०}। मानसकारने केवल अक्षयकुमारके आनेका उल्लेख किया है, अन्य वीरोंका नहीं। 'मानस'में हनुमान् ने सीतासे फल खानेकी आज्ञा लेकर वाटिका-विध्वंस आदिका कौतुक शुरू किया है। 'वाल्मीकीय रामायण'में इसका उल्लेख नहीं है कि सीताकी अनुमति लेकर हनुमान् फल खाने गये। वहाँ तो स्पष्टतया कहा गया है कि हनुमान् ने रावणका विशेष रहस्य जानने और उससे वार्तालाप करनेके ध्येयसे वाटिका-ध्वंस करनेकी युक्ति निकाली^{११}। दोनों रामायणोंके हनुमान्-रावण-संवादमें भी अन्तर है। 'मानस'के हनुमान् ने रावणको राम-भक्तिका उपदेश दिया है, पर 'वाल्मीकीय रामायण'में उन्होंने नीतिका मर्म समझाया है^{१२}। लंकाको दग्ध कर चुकनेपर हनुमान् बहुत आकुल हुए कि कहीं सीता भी तो नहीं जल गयी^{१३}। 'मानस'में इसका कोई उल्लेख नहीं है, यहाँ तो विभीषणका यह भी सुरक्षित ही बताया गया है।

१. 'वाल्मी० रामा०', सुन्दर० सर्ग १। २. वही, सुन्दर० सर्ग २, ३, ४। ३. 'मानस', सुन्दर० २. ३। ४. 'वाल्मी० रामा०' सुन्दर० सर्ग ३:५१। ५. दे० 'वाल्मी० रामा०', सुन्दर सर्ग ३:५१। ६. 'वाल्मी०', सुन्दर० सर्ग १३। ७. वही, सुन्दर०, सर्ग १४, १५। ८. वही, ३६। ९. वही, ४४-४६। १०. वही, ४७। ११. दे० 'वाल्मी० रामा०', सुन्दर० सर्ग ४१। १२. दे० वही, सुन्दर० सर्ग ५१। १३. वही, सुन्दर० सर्ग ५५।

तुलसीकी भाँति वाल्मीकिने यह नहीं दिखाया है कि रावणने विभीषणको समझानेके पुरस्कारमें चरण-प्रहार किया, प्रत्युत उन्होंने इतना ही वर्णन किया है कि रावणने उन्हे अनेकानेक दुर्वचन कहे^१। शरणागत विभीषण और रामका जो परस्पर वार्तालाप 'मानस'में दिखाया गया है वह 'वाल्मीकीय रामायण'में अंकित राम-विभीषणकी वार्तासे भिन्न है^२। गोस्वामीजीने सेतुबन्धके प्रसंगमें लिखा है कि रुचिर सेतु-निर्माण देखकर रामने पहले उस रम्य धरणीपर रामेश्वर-लिंग-स्थापन और पूजन किया साथ ही उसका माहात्म्य भी गाया, तदनन्तर सेनाने प्रस्थान किया^३। वाल्मीकिने शिव-लिंग-स्थापन और पूजनका कोई संकेत नहीं किया है। अंगदका दूत बनकर रावणकी सभामें जाना 'वाल्मीकीय रामायण'में आया है^४, पर यह प्रसंग 'मानस'में और ही ढंगसे वर्णित है। इसमें अंगदके चरण रोपनेकी प्रतिज्ञा, रावणके किरिट फेंकने और राम-भक्तिका उपदेश करनेकी बातें तुलसीने बढ़ा दी है। निशाचरों और वानरोंके युद्धका जो बृहत् सजीव वर्णन आदिकविने किया है वह तुलसीने नहीं।

दोनों रामायणोंके प्रायः सभी काण्डोंके प्रमुख प्रसंगोंको दृष्टिमें रखकर उनका परस्पर मिलान करके हमने देखा कि तुलसीने कितना अधिक फेरफार किया है। इन सभी प्रसंगोंके फेरफारके मूलमें सावधानी-पूर्वक देखनेसे यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि गोस्वामीजीने कहीं रामका भगवदवतार प्रतिपादित करनेके लिए, कहीं शीलवैचित्र्य और उपास्यताके विप्रतिपेधमें व्यक्तित्वके यथार्थ चित्रणको बुद्धिपूर्वक दबाकर भक्तिके आदर्शका प्राबल्य स्थापित करनेके लिए, कहीं उदात्त पात्रोंके शीलनिरूपणके लिए, कहीं काव्य-सौष्ठव दिखाकर सर्व-सामान्य हृदयपर प्रभाव डालनेके लिए, कहीं उच्च कोटिकी शिष्टता और मर्यादाकी रक्षाके लिए, कहीं सैद्धान्तिक समन्वय या साधुताकी प्रतिष्ठाके लिए, कहीं प्रतिपक्षका अपकर्ष-प्रदर्शनके लिए तो कहीं विरसता और अनावश्यक विस्तार रोकनेके लिए 'वाल्मीकीय रामायण'की कथा-वस्तुसे मानसकी कथावस्तुमें अनल्प भेद कर दिया है।

'महारामायण' और तुलसीका राम-साहित्य

'महारामायण'के 'योगवासिष्ठ महारामायण', 'आर्प रामायण', 'वासिष्ठरामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ', 'वासिष्ठ' आदि नाम भी प्रचलित हैं। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक विचारोंका अक्षय भण्डार है। जटिल, गूढ़ और शुष्क दार्शनिक विचारोंको काव्य और आख्यायिकाओंके सुन्दर आवरणमें छिपाकर हृदयंगम कराने की इसकी शैली रोचक है। इस ग्रन्थके किसी कथांश या इसकी दृष्टान्त-प्रदर्शनकी शैलीका अनुकरण तुलसीके रामाहित्यमें नहीं हुआ है। अतएव इसकी रूप-रेखा या इसके समस्त सिद्धान्तोंका विश्लेषण करनेकी अपेक्षा नहीं। हमें तो केवल इतना ही संकेत करना है कि 'महारामायण'के कुछ विचारोंका प्रतिभास 'मानस'के कुछ विशेष प्रसंगोंपर अवगत होता है। यथा, अरण्य-काण्डमें नारीको 'मोह विपिनका वसन्त' आदि कहकर अन्तमें उसे 'अवगुण मूल सूलप्रद' और 'दुखखानि' सिद्ध करनेवाला प्रसंग 'योग-वासिष्ठ'के कतिपय श्लोकोंकी प्रतिच्छाया-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार जगत्की असारता और अनित्यताका संकेत करनेवाली गोस्वामीजीकी उक्तियोंमें 'योगवासिष्ठ'की एतद्विषयक कुछ उक्तियोंकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

१. वही, युद्ध० सर्ग १६। २. 'मानस', सुन्दर० ४५-४८। ३. दे० 'वाल्मी० रामा०', युद्ध० सर्ग १९। ४. 'मानस', लं० पृ० ३७४। ५. 'वाल्मी० रामा०', युद्ध सर्ग ४१ : ५९-९०। ६. दे० 'योगवासिष्ठ', १:२१:१, २, ८, १२, १६, २३। ७. दे० 'मानस', बाल० १११. १, २, ११७. १, २, अयो० ९१. ६, ८, ९२., उ० ७२, ३, ५। ८. दे० 'योगवासिष्ठ', ४:४५:२९, ३:४१:५३; ३:५७:५४; ३:१००:३५; ४:४५:१८; ३:६६:९।

वैराग्य-प्रधान ग्रन्थ होनेके कारण 'योगवासिष्ठ' जगत्के प्रति मनको अनासक्त करने हेतु उसकी निस्सारताका अनेक प्रकारसे उपस्थापन करता है और मनकी साधनाके निमित्त उसके विषयगामी स्वरूपका विविध विधिसे निर्देश करता है। 'विनयपत्रिका'में संसार और मनकी बहुत-कुछ वैसी ही अवस्थाओंका उल्लेख है; यद्यपि उतने उग्र रूपमें नहीं। ऐसा होते हुए भी हमें यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि 'योग-वासिष्ठ' ज्ञानात्मक अद्वैत-मार्गको ग्रहण करता है, फलतः उसमें निर्दिष्ट साधनाकी प्रक्रिया ज्ञान तथा योग-सिद्धान्तोंके अधिक निकट है। गोस्वामीजीका साध्य और साधन दोनों इससे भिन्न हैं।

‘अध्यात्मरामायण’ और तुलसीका राम-साहित्य

‘अध्यात्मरामायण’ने गोस्वामीजीपर जितना गहरा प्रभाव डाला है उतना अन्यान्य पौराणिक रामायणोंने नहीं। गोस्वामीजीने ‘मानस’के निर्माणमें जैसी व्यापक प्रेरणा ‘अध्यात्मरामायण’से प्राप्त की वैसी किसी अन्य ग्रन्थसे नहीं। अत्यन्त संक्षेपमें पहले दोनोंकी कथावस्तुमें साम्य देखिये, आर्त देवोंकी स्तुति सुनकर भगवान्का अवतार ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा करना, दशरथका पुत्रेष्टियज्ञ करना, रामका जन्म ग्रहण करना, बाललीला करना, विश्वामित्रका आना और राम-लक्ष्मणको अपने साथ ले जाना, रामका ताड़काका वध करना, यज्ञकी रक्षा करना, धनुर्भंग करना और विवाहित होना आदि बालकाण्डकी कथाएँ ‘अध्यात्म-रामायण’ और ‘मानस’में एक-सी हैं। इसी प्रकार राम-वनगमन, निषाद-मिलन, लक्ष्मणका निषादको प्रबोधन, सुमन्त्रका प्रत्यागमन, दशरथका प्राण-विसर्जन, भरतका ननिहालसे लौटना, वशिष्ठके आदेशसे पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करना, चित्रकूटको प्रस्थान करना, मार्गमें गुह और भरद्वाजसे भेंट करना तथा चित्रकूट-दर्शनके उपरान्त रामसे मिलना और संवाद आदि करना दोनों रामायणोंके अन्तर्गत एक से हैं। विराध-वध, शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य-संवाद, लक्ष्मणको ज्ञान-दान, शूर्पणखाका नासिकाकर्णपहरण, खर-युद्ध, सीता-हरण, जटायु-संवाद, कबन्ध-वध, शबरी-मिलन आदिका वर्णन भी दोनों रामायणोंके अरण्यकाण्डमें अभिन्न-सा है। यहीं नहीं, दोनों ग्रन्थोंके किष्किन्धकाण्डकी राम-सुग्रीवकी मैत्री, वालिवध, तारा-विज्ञाप, सुग्रीवको राजपदकी प्राप्ति, रामका प्रवर्षण-प्रवास, रामका शोक और लक्ष्मणका किष्किन्धा-पुरीमें प्रवेश, सीताकी खोजके लिए वानरोंका प्रस्थान, योगिनी-भेंट, सम्पाती-परिचय और समुद्रोत्खननकी मन्त्रणा आदिमें भी एकता है। हनुमान्का समुद्र लङ्घनकर लंकामें प्रवेश करना और वाटिकामें जाना, रावण और राक्षसियोंका सीताको भय दिखाना, त्रिजटाका स्वप्न देखना, हनुमान्का जानकीसे मिलना, वाटिका ध्वंस करना, ब्रह्मपाशमें बँध जाना, रावणसे संवाद करना, फिर लंका-दहन करना, अन्तमें सीतासे त्रिदा माँगना और लौटकर रामको सीताका सन्देश सुनाना आदि कथाओंके सन्निवेशमें भी दोनों रामायणोंमें सादृश्य है। सेतु-निर्माण, रामेश्वर-प्रतिष्ठा, समुद्र-तरण, वानर-राक्षस-संग्राम, लक्ष्मण-मूर्छा, हनुमान्का द्रोणाचल-गमन, रावण-कालनेमि-संवाद, कालनेमिका स्वाँग और उसका वध, लक्ष्मणकी मूर्छाका निवारण, रावणकी विकट युक्तियोंसे कुम्भकरणका जागरण, उसका युद्ध-प्रयास और वध, मेघनाद-वध, राम रावण-संग्राम, रावण-वध, विभीषण-राज्याभिषेक, सीताकी अग्नि-परीक्षा, सीता-सहित अग्निका प्रादुर्भाव, देवताओंका आगमन और उनकी राम-स्तुति तथा रामकी अयोध्या-यात्रा आदिके प्रसंग भी दोनों रामायणोंमें मिलते-जुलते हैं।

अस्तु, ‘मानस’ और ‘अध्यात्मरामायण’की कथावस्तुओंमें इस प्रकारकी तुलना देखते हुए यही हृद प्रतीति होती है कि इन दोनोंके कथाओंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी जो कुछ अन्तर हो उसे समझ लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना हम गोस्वामीजीके अर्थाहरणका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकेंगे।

‘अध्यात्मरामायण’की कथा आद्योपान्त उमा-महेश्वर-संवादके रूपमें चली है। इधर ‘मानस’की कथाका विस्तार चार प्रधान संवादोंके रूपमें हुआ है जिनमें उमा-महेश्वर-संवाद भी एक है। ‘मानस’के बालकाण्डमें वर्णित सती-चरित्र, काम दहन, पार्वती-मंगल, भानुप्रतापकी कथा तथा जनक-वाटिकामें राम और सीताका परस्पर सम्प्रेक्षण आदिका ‘अध्यात्म-रामायण’में नामग्रहणतक नहीं है। इसी प्रकार ‘मानस’के अयोध्याकाण्डका अपूर्व श्रीवृद्धिकारक निम्नांकित प्रसंग भी ‘अध्यात्मरामायण’में नहीं है—‘लघुवयस’ तापसका सहसा आना, रामके दर्शनाभिलाषी कोलकिरातोंका फल फूल लेकर एकत्र होना और अपना परम प्रेम प्रकट करना, चित्रकूट-महिमा-वर्णन, चित्रकूटमें राम-भरतका मिलन होनेके पूर्व सीताका दुःस्वप्न देखना, ससैन्य भरतका आगमन सुनकर लक्ष्मणका क्रुद्ध होना, ससमाज जनकका आगमन और दोनों समाजकी वर्णनातीत व्याकुलता और उसके पारस्परिक आर्त संलापका विवरण, जनक-भरत-संवाद, शंकित इन्द्रादि देवोंका शोकातुर होना, भरतका रागवनमें परिभ्रमण करना, अत्रिसे मिलना और भरत-कूपकी प्रतिष्ठा करना आदि। ‘मानस’में वर्णित जयन्तका वायसरूपमें आकर सीताके चरणमें चोच मारना, खर-दूषणका अपने दूतोंसे रामको यह सन्देश भेजना कि वे अपनी स्त्री छोड़कर सबुशल लौट जायें, नारदका रामको नाना प्रकारकी विपत्ति श्लेते देख उनके पास आना और उनके द्वारा समादृत होकर स्तुति करना आदि प्रसंग भी ‘अध्यात्मरामायण’में नहीं हैं। ‘मानस’में इसका मार्मिक वर्णन है कि वाल्मीकी अन्तिम कोमल बाणीने रामके हृदयको पानी-पानी कर दिया और वे उसके सिरपर हाथ फेरते हुए बोल उठे—‘अचल करहुँ तन राखहुँ प्राना।’ ‘अध्यात्मरामायण’में यह प्राण-दान देनेका प्रसंग नहीं है। ‘मानस’के सुन्दरकाण्डमें अंकित हनुमद्विभीषणमिलापका प्रसंग भी ‘अध्यात्मरामायण’में नहीं है। रामाज्ञासे अंगदका रावणकी सभामें प्रवेश करके रावणसे संवाद करना, दोनोंका परस्पर दुर्वाक्य कहना और अन्तमें क्रुद्ध होकर अंगदका तड़पना और रावणके किरीटोंको रामके पास फेंकना, भरी सभामें अपना पाँव रोपकर मेघनाद आदि वीरोंका मान-मर्दन करना, मेघनादका रामको नागपाशमें बाँधना और नारदके द्वारा भेजे जानेपर गरुडका नागपाश काटनेके लिए आना, रामका विभीषणको धर्म-रथका स्वरूप बताना, रामके बाणोंसे खण्डित होनेपर भी रावणके सिरों और भुजाओंके पुनः नूतन होनेका समाचार त्रिजटाके द्वारा सुनकर सीताका परम विषण्ण होना—ये सभी प्रसंग ऐसे हैं जो ‘मानस’में अत्यन्त सहृदयतापूर्वक चित्रित किये गये हैं, पर ‘अध्यात्मरामायण’में इन सबका कोई उल्लेख नहीं है। ‘अध्यात्मरामायण’ ‘मानस’के उत्तरकाण्डकी भुशुण्डि-गरुडकी रुचिर कथासे भी शून्य है।

यहाँतक तो ‘मानस’के उन प्रसंगोंका उल्लेख किया गया जिनका ‘अध्यात्मरामायण’में सर्वथा अभाव है। अब कुछ ऐसे प्रसंगोंको देखना चाहिये जो मूल रूपमें तो ‘अध्यात्मरामायण’से गृहीत अवश्य हुए हैं, पर गोस्वामीजीने स्वतन्त्रतापूर्वक उनके विस्तारमें हेर-फेर कर लिया है। यथा, रामजन्मके हेतु देवों की स्तुति करना यद्यपि दोनों रामायणोंमें है, पर ‘मानस’के अनुसार भार-पीडिता पृथ्वी देवोंके सहित विरञ्चि-लोक गयी और वहीं ‘हरिव्यापक सर्वत्र समाना’ जानकर देवोंने स्तुति की। तदनन्तर आकाशवाणीके द्वारा उन्हें आश्वासन मिला। उधर ‘अध्यात्मरामायण’में ब्रह्मा देवोंको साथ लिये क्षीरसागरके तटपर गये और वहीं सबने स्तुति की। विष्णु स्वयं प्रकट हुए और अपने अवतार ग्रहण करनेकी बात कही। रामके धनुष तोड़ने और परशुरामके आगमन एवं संवादके प्रसंगोंको भी गोस्वामीजीने ‘अध्यात्मरामायण’के इन प्रसंगोंसे अधिक प्रभविष्णु एवं मार्मिक बनानेके लिए इनके विस्तार तथा पूर्वापर स्थान देनेमें अभीष्ट फेरफार कर

लिया है। 'मानस' के अनुसार दशरथ रामको युवराज पदपर बिठानेके निमित्त गुरुकी अनुमति लेनेके लिए स्वयं गुरुके पास गये और उन्हें अपना मन्तव्य सुनाया^१। 'अध्यात्मरामायण'में राजाने गुरुको एकान्तमें अपने पास बुलाकर अपनी अभिलाषा प्रकट की^२। गोस्वामीजीने दिखाया है कि वनवासका समाचार सुनते ही सीता भी कौसल्याके पास आ गयी^३। माताने रामसे प्रस्ताव किया कि वे सीताको उनके समीप ही छोड़ते जायें, रामने माताके सामने ही सीताको नाना प्रकारसे समझाया। 'अध्यात्मरामायण'में सीता कौसल्याके पास नहीं आयीं, प्रत्युत उन्हें समझानेके लिए राम स्वयं अपने महलमें गये^४। 'मानस' के वर्णनसे अवगत होता है कि सीताको समझा-बुझाकर हार जानेपर रामने उन्हें साथ चलनेकी अनुमति दे दी, तदनन्तर वनवासका समाचार सुनकर लक्ष्मण भी अति व्याकुल होकर दौड़े आये^५। उधर 'अध्यात्मरामायण'में दिखाया गया है कि जब राम कौसल्याके पास बिदा लेनेके लिए गये तो उनके साथ लक्ष्मण भी थे^६। रामने पहले लक्ष्मणको समझाया तत्पश्चात् वे सीताके महलमें गये^७। 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार विवर-प्रदेशके उपरान्त वानरोंके आँख मूँदनेपर स्वयम्प्रभाने उन्हें उसी वनमें लाकर छोड़ा जहाँसे वे आये थे^८, पर 'मानस'में दिखाया गया है कि स्वयम्प्रभाने उन्हें समुद्र-तटपर छोड़ा^९। 'अध्यात्मरामायण'में विस्तारपूर्वक वर्णित दुन्दुभी दैत्य, सप्तताल, स्वयम्प्रभा, सम्पाती आदिकी कथाओंका गोस्वामीजीने केवल संकेतमात्र किया है। सीताको रामकी मुद्रिका-प्राप्तिका प्रसंग भी 'मानस'में भिन्न प्रकारसे दिखाया गया है। इसी प्रकार और भी अनेकानेक प्रसंग हैं जिन्हें तुलसीने यथारुचि परिवर्तित करके अपनाया है। यहाँ अवकाश नहीं कि और अधिक प्रसंगोंका संकेतमात्र भी दिया जा सके।

गोस्वामीजीने 'मानस'में अध्यात्मरामायणकी अनेकानेक कथाओं और प्रसंगोंको अनावश्यक समझकर उनका उल्लेख नहीं किया। उन्होंने 'अध्यात्मरामायण'के उत्तरकाण्डका समस्त कथांश छोड़ ही दिया है, साथ ही उनके अन्य काण्डोंके थोड़े-बहुत प्रसंग भी नहीं लिये। यहाँ उन अनुग्रहीत प्रसंगोंकी चर्चा व्यर्थ है।

'अध्यात्मरामायण'की कथावस्तुसे निकट सम्बन्ध होनेके कारण यह भी स्वाभाविक था कि उसके कुछ भावों और उक्तियोंकी प्रतिच्छाया भी 'मानस'में आ जाती। नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(क) 'यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्ययाज्ञानविप्लवे । तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि ॥

भरणाद्भरतो नाम लक्ष्मणं लक्ष्णान्वितम् । शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत ॥'

'अध्या० रामा०' बाल० ३:४०, ४१

'जो आनन्द सिन्धु सुखरासी । सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी ॥

सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक विस्वामा ॥

विश्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥

जाके सुमिरत ते रिपु नासा । नाम सत्रुहन वेद प्रकासा ॥

लच्छन धाम राम प्रिय सकल-जगत-आधार । गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ॥'

...

...

...

'मानस' पृ० ९३

(ख) 'मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रतीयसी ।'

'अध्या० रामा०' बाल० ६:३

१. 'मानस', अयो० २. १-८ । २. 'अध्या० रामा०', अयो० २:१-४ । ३. 'मानस', अयो० ५७ । ४. 'अध्या० रामा०', अयो० ४:५३ । ५. 'मानस', अयो० ६९.१ । ६. 'अध्या० रामा०', अयो० ४:१४ । ७. 'अध्या० रामा०', अयो० ४:१९-५१ । ८. वही, किष्कि० ६:५८ । ९. 'मानस', किष्कि० २४. ६ ।

चरन, कमल रज कहूँ सबु कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥'

'मानस' पृ० २०८

(ग) 'ब्रूहिं कं घनिनं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियङ्करम् । धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम् ॥'

'अध्या० रामा०' अयो० ३:१२

'कहु केहि रंकहुँ करहुँ नरेसू । कहु केहि नृपहिं निकासउँ देसू ॥'

...

...

...

'मानस' पृ० १८०

(ख) अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियौ कृती । जगत्स्थितिलयौ सर्ग लीलया कर्तुमुद्यतौ ॥
स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ । नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः ॥'

'अध्या० रामा०' किष्कि० १:१५, १६

'की तुम तीनि देव महुँ कोऊ । नर नारायन की तुम तुम्ह दोऊ ॥

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार । की तुम्ह अखिल भुवन-पति लीन्ह मनुज अवतार ॥'

'मानस' पृ० ३२८

'अध्यात्मरामायण'के अध्यामिक विचारों और सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजी कहाँतक प्रभावित हुए, यह भी विचारणीय है । सर्वप्रथम रामका ईश्वरत्व लीजिये । 'अध्यात्मरामायण'के अनुसार रामने लक्ष्मणको अपना यथार्थ स्वरूप यों बताया है—'मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, अच्छेद्य, भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप हूँ । मैं सदा ही मुक्त अचिन्त्य शक्ति, अतीन्द्रिय, अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ । वेदवादी पण्डितजन अहर्निश हृदयमें मेरा चिन्तन करते हैं^१ ।' रामके इसी शुद्ध परिपूर्ण सच्चिदानन्दत्व, ब्रह्मत्व, सर्वव्यापकत्व, निर्विकारत्व, निरञ्जनत्व आदिकी प्रतिष्ठाका प्रयास आद्योपान्त दिखाई पड़ता है । ग्रन्थभरमें ऐसे प्रसंगोंकी भरमार है^२ । इधर 'मानस'में भी रामका परमात्मत्व और ब्रह्मत्व प्रतिपादित करनेवाले प्रसंगोंकी कमी नहीं है^३ ।

रामके सगुण ब्रह्मत्वका समर्थन भी 'अध्यात्मरामायण' और 'मानस' दोनोंमें एक-सा पाया जाता है । जिज्ञास्य है कि इन दोनों रामायणोंके अनुसार निर्गुण और सगुण स्वरूपमें भेद क्या है । 'अध्यात्म-रामायण'में कहा गया है कि वही पुराण-पुरुष परमात्मा राम संसारपर अनुग्रह करनेके लिए एक, स्वयम्प्रकाश, अनन्त और सबके आदिकारण होते हुए भी जगन्मोहन मायामय रूप धारण करते हैं^४ । 'मानस'में दोनों रूप क्यों कर अभिन्न बताये गये हैं ।

'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ।

अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥'

१. 'अध्या० रामा०', उ० ५:४३, ४४ । २. दे० वही, बा० १:१, २, ३२, ३३; ५:५३-५६; अयो० १:२६-२८; ९:८२; अरण्य० ३:२०-२९; ९:३०-३३; सुन्दर ४:४३; युद्ध १:५४; ३:२८; ८:४०; १४:२१, २४; उ० १:६२, १:७७ । ३. देखिये 'मानस', बा० १२. ३४, दो० ५१ के ऊपरका छन्द; ११७. ४-८; १४३. १. ४, ५, ६, १९८; २०५; ३४०. ४-८; अयो० ९२. ७, ८, १२५. ५; किष्कि० २५. १२; सुन्दर ३८. १, २; लं० १०९. ५; ६; उ० ७१. ३-७ । ४. दे० 'अध्या० रामा०', बा० १:१८; २:१५; १:४१, ४२ अयो० २:२५; अरण्य० ३:३१; युद्ध १५:५२ । ५. 'मानस', बा० ११६. ७; ३४०. ६; अरण्य० १०. ११; ३१. ३ उ० १२. १ । ६. 'अध्या० रामा०', बा० ५:४९ । ७. 'मानस', बा० ११५. १-३ ।

मुट्ठीमें हैं ही^१; वह स्वतः निर्बल है, पर रामका बल पाकर विश्व-निर्माण करती हैं^२; वह स्वयं जड़ भी है, पर रामका आश्रय पाकर चेतनवत् भासती हैं^३; वह रामके अधीन है। यद्यपि वह विश्वविमोहिनी है, परन्तु रामसे डरती रहती हैं^४; रामके भूमिलासके अनुसार वह नटीकी तरह नाचा करती है, निश्चय ही भक्ति-राज-महिषीके सामने वह नर्तकीमात्र हैं^५। उसके 'विद्या' और 'अविद्या' दो भेद हैं^६। अविद्या संस्तिका हेतु है और विद्या जीवको संस्तितसे मुक्त करनेवाली है, प्रवृत्ति-मार्गी प्रथमके वशीभूत होते हैं और निवृत्तिमार्गी भक्तगण दूसरेके^७।

अब रामोन्मुख होनेके लिए अपेक्षित साधनोंको लीजिये। 'अध्यात्मरामायण'के कुछ प्रसंगोंमें स्पष्टतः कहा गया है कि रामकी प्राप्ति एवं संसारसे छुटकारा पानेका प्रमुख तथा सर्वोत्कृष्ट मार्ग है रामकी भक्ति। 'मानस'में राम-भक्ति क्योंकि सर्वश्रेष्ठ और परमावश्यक ठहरा दी गयी है इसे यहाँ दिखानेकी कोई आवश्यकता नहीं। सन्तवृत्ति और सत्संग भी भगवद्भक्तिके लिए नितान्त आवश्यक है। 'अध्यात्मरामायण'में इन्हे मोक्षके प्रमुख साधनोंमें बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति इन साधनोंसे सम्पन्न रहता है उसमें राम-भक्तिके अन्यान्य साधन स्वतः चले आते हैं^८। इधर 'मानस'में सन्तवृत्ति और सत्संगको जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है उसका तो कुछ कहना ही नहीं। प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्रतिष्ठाके हेतु जिन नवों साधनोंका उपदेश रामने शबरीको दिया है वे सब 'अध्यात्मरामायण' और 'मानस' दोनोंसे एक-से हैं^९।

परम पद-प्राप्तिके आकांक्षी एवं परम कल्याणार्थीको चाहिये कि वह शिवाराधनमें भी दत्तचित्त रहे। इस विचारकी पुष्टि 'अध्यात्मरामायण' और मानस दोनोंमें की गयी है^{१०}। ज्ञान-विज्ञान और वैराग्यकी महत्ता, उपयोगिता और उपादेयता दोनोंमें स्वीकृत की गयी है^{११}। जीव और ब्रह्मका अभेद भी दोनोंमें माना गया है^{१२}। भौतिक शरीरकी नश्वरता और उसमें रहनेवाले जीवकी नित्यता भी दोनोंमें निश्चित की गयी है^{१३}। सकाम कर्म ही बन्धनका कारण है, इस मतपर भी दोनोंमें साम्य है^{१४}। दोनोंमें चित्त-शुद्धिके अनेकानेक उपाय, बुद्धि, अहंकार आदिके सम्बन्धमें जिन तथ्योंका निरूपण हुआ है वे सब भी परस्पर मिलते-जुलते हैं^{१५}, विविध मुक्तिका सन्निवेश भी दोनोंमें है^{१६}।

१. वही, बा० मंगलाचरण श्लोक ६। २. वही, अरण्य० १४. ६, सुन्दर० २०. ४। ३. वही, बा० ११६; ७, ८; ११७. १। ४. वही, बा० १९९. ४, २०१. ३। ५. 'मानस' उ० ७१, १, २, ११५, ४, ५। ६. वही, अरण्य० १४.४। ७. वही, उ० ७७. २, ३; ७८, २। ८. 'अध्या० रामा०', बा० १:११, अयो० २:२९, युद्ध० ३:३१, ३६। ९. 'अध्या० रामा०', अरण्य० ३:३ ६-३९ १०:३३, ३१। १०. दे० 'आध्या० रामा०', अरण्य० १०:२२-२८ 'मानस' अरण्य० ३४, ८, ३५, १-६। ११. दे० 'आध्या० रामा०', युद्ध० ४:३, ४, 'मानस' लं० २. १-४.४, उ० ४५। १२. 'अध्या० रामा०', अयो० १:२८, ४:२०-३१, ७:९७-१०७, अरण्य० ४:३८-४१, मानस' उ० ९४. ५, ८३. १, ५४. १-४. ११४. १३, ११८, ३। १३. 'अध्या० रामा०', अयो० ७:१०७; अरण्य ४:३०, 'मानस', अयो० १२५. ३; उ० ७७. ४, ५; ११०.६। १४. 'अध्या० रामा०', किष्कि० ३:१३, १४; युद्ध० १२:२७ मानस' किष्कि० १०. ४, ५। १५. अध्या० रामा०', किष्कि० १:१८, 'मानस', उ० ४०. ४-७; ४४.४, ५, किष्कि० १६। १६. 'अध्या० रामा०', अरण्य० ३:२३, २६, ३८; युद्ध० ३१:११, १२, १४, २७, 'मानस' लं० १५; उ० ११७। १७. 'अध्या० रामा०', अरण्य० २:३०; ८:४०, ५४; युद्ध० ११:८१, ८६; १६:१५, १९ 'मानस' अरण्य० ३१. १, २; ३६, किष्कि० १०. १; लं० ७०. ८; १०२. ९; ११६. उ० ११४. ४, १२९. १४।

यह तो हुई दोनों ग्रन्थोंके विविध मतों और विचारोंके परस्पर साम्यकी चर्चा। अब ऐसे सैद्धान्तिक वैषम्यकी ओर भी दृष्टिपात करना चाहिये जिसे तुलसीने अपनी मौलवृत्तिके बलपर 'अध्यात्मरामायण'से कहीं भिन्न रूपमें प्रस्तुत किया है।

रामका सगुण-निर्गुण ब्रह्मत्व और विष्णुत्व यद्यपि दोनों रामायणोंमें है, तथापि गोस्वामीजीने रामको विष्णु आदिसे उत्कृष्ट टहराया है। जहाँ 'अध्यात्मरामायण'में रामका विष्णुसे तादात्म्य करके भी अन्ततो-गत्वा विष्णुको सर्वोसर्वा मान लिया गया है, वहाँ 'मानस'में रामका विष्णुसे तादात्म्य करनेके उपरान्त राम को विष्णुसे बढ़कर माना गया है। अनेकानेक त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) को भी रामका आराधक बताया गया है^१; रामके अंशसे नाना त्रिदेवोंकी उत्पत्ति होती है^२, राम त्रिदेवोंसे परे हैं, उन्हें नचानेवाले हैं^३; रामके अनन्य भक्तोंपर त्रिदेवोंकी मायाका कोई वश नहीं चलता^४; त्रिदेव, शशि, सूर्य, माया, जीव, काल सभी रामकी आज्ञाके अनुवर्ती हैं^५; रामके ही तेजसे त्रिदेव अपना-अपना उद्भव, स्थिति और संहारका कार्य करते हैं^६, लोक-प्रति-लोकके अनुसार विष्णु एवं ब्रह्मा आदि भी परिवर्तनशील होते हैं, पर राम सदैव अनेकानेक भवनोंमें अद्वितीय ही हैं^७, करोड़ों त्रिदेवोंकी शक्ति रामकी शक्तिके समक्ष तुच्छ है^८, इत्यादि।

तुलसीने जैसे रामको त्रिदेवोंसे बढ़कर अनन्त शक्ति-सम्पन्न दिखाया है वैसे ही सीताको भी त्रिदेवोंकी शक्तियों (पार्वती, सरस्वती, लक्ष्मी) से कहीं बृहत् बताया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'अध्यात्म-रामायण'में भी सीता मूल प्रकृति, माया एवं लक्ष्मीके ही रूपमें मानी गयी हैं, पर वहाँ उनका लक्ष्मीसे तादात्म्य करनेपर भी लक्ष्मीको ही सर्वोपरि कहा गया है। परन्तु तुलसीने सीताका लक्ष्मीसे तादात्म्य किया है अवश्य, पर उन्होंने सीताको सर्वोपरि टहराया है^९। जगदम्बा सीता, उमा, रमा तथा ब्रह्माणीके द्वारा पूजित होती हैं^{१०}। विविध लोकोंके अनुसार जैसे त्रिदेवोंमें अनेकत्व और परिवर्तनशीलत्व है, वैसे ही सती, विधात्री और इन्दिरामे भी; इसके विपरीत सीता अद्वितीय और अपरिवर्तनशील मानी गयी हैं^{११}।

'मानस' में गोस्वामीजीने जिस प्रकार राम और सीताको परम तत्त्व परमात्मरूपमें देखा और उस दृष्टिसे विष्णुका हीनब्रह्मत्व तथा लक्ष्मीका हीनशक्तित्व प्रतिपादित किया ठीक उसी प्रकार उन्होंने रामभक्ति-को चरम साध्यरूपमें देखा और ज्ञानादिको उसके अधीन टहराते हुए सारे ग्रन्थको भक्तिके सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तों और अमृतमय भक्ति रससे भर दिया है; 'भगवदनुग्रह'के सिद्धान्तका वर्णन भी व्यापकतासे किया है। 'अध्यात्मरामायण' इन तत्त्वोंसे एक प्रकार शून्य-सा है। सन्त एवं सत्संगका जो विशद प्रकाशन 'मानस'में हुआ है वह 'अध्यात्मरामायण'में नहीं। वर्णाश्रम-धर्म, धर्मका व्यापक स्वरूप, सदाचार और लोकसंग्रहकी भावना आदि जिस कौशलके साथ 'मानस'में नगोंकी भौंति जड़ी गयी हैं वह 'अध्यात्मरामायण'में कहाँ ?

'अध्यात्मरामायण'में ज्ञान चरम-साध्य माना गया है। भक्ति ज्ञानका प्रथमसाधन मानी गयी है^{१२}, उसे ज्ञानयोग राज-भवनके शिखरपर पहुँचनेका सोपान कहा गया है^{१३}। ज्ञानयोगको दृढ़ करनेवाले विविध अभीष्ट उपादानों और साधनोंका जैसा विवरण उसमें है वैसा 'मानस'में नहीं। 'अध्यात्मरामायण'में निर्गुण

१. 'मानस', बा० १४३.६। २. वही, अयो० १२५.१। ३. वही, अयो० २३०। ४. वही, अयो० २५२. ६, ८। ५. वही, सुन्दर० २०.५, २१। ६. वही, उ० ८०. ८१ ७. वही, उ० ९१. ५, ६। ८. वही, बा० १४७. ३। ९. 'मानस', बा० १४७.३। १०. वही, उ० २३.९। ११. वही, बा० ५४.४। १२. 'अध्या० रामा०', युद्ध० ७:६७। १३. 'अध्या० रामा०', युद्ध० ३:३१।

ब्रह्मचिन्तनको अत्यधिक प्रश्रय दिया गया है। इधर 'मानस'में निर्गुणोपासनाकी पूर्णतया अवहेलना तो नहीं की गयी है, पर सगुणोपासनाको ही प्राधान्य दिया गया है।

'अध्यात्मरामायण'में विष्णुका ही परमात्मत्व प्रतिपादित हुआ है। फलतः बीच-बीचमें विष्णु-भक्तिकी महिमा आदि बराबर प्रकट की गयी है। कहा है—'भगवान् विष्णुकी भक्ति बुद्धिको निर्मल करने वाली है, उसीसे अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है और उससे दृढ़ बोध हो जानेपर मनुष्य परमपद पाता है'। 'मानस'में विष्णु-भक्तिकी स्वतन्त्र रूपसे कोई विवेचना नहीं, यहाँ तो सर्वत्र ही राम-भक्तिका स्रोत स्पन्दमान् होता।

'अध्यात्मरामायण'में यद्यपि निर्गुणोपासनाका ही सर्वत्र समर्थन है, तथापि एक स्थलपर उसमें क्रिया-मार्ग (पूजा-पद्धति) का स्थूल स्वरूप भी विस्तारपूर्वक वर्णित है^१। मानसमें ऐसी पूजा पद्धतिकी व्याख्या नहीं है।

दोनों ग्रन्थोंकी कथावस्तु उनकी कुछ उक्तियों और उनके कुछ विचारों और प्रमुख सिद्धान्तोंका जो परस्पर मिलान किया गया है उसके आधारपर हम कह सकते हैं कि गोस्वामीजीके 'मानस' पर 'अध्यात्म-रामायण'का गहरा प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु प्रभावित होते हुए भी अपनी प्रचण्ड प्रतिभाके कारण उन्होंने अपनी मौलिकताके फलस्वरूप 'अध्यात्मरामायण'से गृहीत कथावस्तुमें नूतन कथाशोंका संयोजन, एकसे एक बढ़कर परिवर्तन, परिवर्धन तथा संकोचन कलापूर्ण ढंगसे कर लिया है उससे गृहीत उक्तियोंको अधिकाधिक उत्कर्षमय बना लिया है। इसी प्रकार उससे प्राप्त सिद्धान्तों और विचारोंको और भी व्यापक, सार्वभौमिक तथा सार्वजनिक, सरल और सुलभ बनाकर उसपर अपनी मौलिकताकी छाप लगा दी है, साथ ही अपने ग्रन्थको सर्वशास्त्र-सम्मत बनानेके ध्येयसे उसमें सर्वसिद्धान्त समन्वयका मार्ग प्रतिष्ठित किया है। काव्यका वह अप्रतिम चमत्कार भी दिखाया है जो 'अध्यात्मरामायण'में स्वप्नमें भी न मिलेगा।

संस्कृतके नाटकोंका प्रभाव

संस्कृतके प्राचीन पौराणिक रामायणों तथा अन्य जिन-जिन रामायणोंसे गोस्वामीजीको थोड़ी-बहुत प्रेरणा मिली अब उनपर प्रकाश डालनेका अवकाश नहीं। आगे संस्कृतके कुछ प्राचीन नाटकोंका प्रभाव दिखानेका प्रयास किया जाता है। हमारे कविको जिन नाटकोंने सीधे ही प्रभावित किया और जिनका प्रतिभास उसकी रचनाओंमें अवगत होता है उनमें 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक' तथा 'उत्तररामचरित' उल्लेखनीय हैं।

गोस्वामीजीके हृदय-पटलपर 'प्रसन्नराघव'की 'कोमल-काव्य-कौशल-कला-लीलावती-भारती'की मनोज्ञ मूर्ति प्रतिविम्बित हुई और वे उस रमणीय दृश्यको न भुला सके। यही कारण है कि 'मानस'में वर्णित जनक-वाटिका में राम-सीताका परस्परवलोकन, धनुर्भंगके उपरान्त रंगभूमिमें परशुरामका आगमन तथा उनका और लक्ष्मणका संवाद आदिके प्रसंगोंका सर्जन 'प्रसन्नराघव'के ही ढंगपर किया गया है। यह अवश्य है कि उक्त गृहीत कथाशोंमें भी जो विस्तार गोस्वामीजीको ईप्सित नहीं था उसे उन्होंने त्याग दिया है। यथा, 'प्रसन्नराघव'के अनुसार रावण और बाणासुर दोनों स्वयंवरमें आये और उनमें परस्पर ओजपूर्ण संवाद भी हुआ। गोस्वामीजीने इस विस्तारको नगण्य-सा कर दिया है। केवल एक पंक्तिमें इस कथाका संकेत करके चलता किया है—

'रावन बान महाभट हारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे ॥'

१. 'अध्या० रामा०', सुन्दर० ४:२२। २. वही, किष्कि० ४:१२-३७।

परशुराम-आगमनकी कथा भी 'प्रसन्नराघव'में विस्तृत रूपमें है। इसके अनुसार परशुरामने अपने शिष्यके द्वारा जनकको यह सन्देश भेजा कि वे (जनक) धनुषके आधारपर सीताका स्वयंवर न रचें, प्रत्युत सामान्य रूपसे स्वयंवर करके किसी प्रतापशाली राजासे जानकीका विवाह कर दें। अपनी प्रतिज्ञाके भंगके भयसे जनकने परशुरामके सन्देशपर ध्यान नहीं दिया। गोस्वामीजीने इस कथांशको बिल्कुल छोड़ दिया है। इसकी ओर संकेत करनेका तात्पर्य यह है कि उन्होंने 'प्रसन्नराघव'से गृहीत कथांशकी भी अन्धी नकल नहीं की है।

'प्रसन्नराघव'की कुछ सरस उक्तियोंको गोस्वामीजीने ग्रहण करके उनका भी सम्मान बढ़ाया। पितामह ब्रह्माके भवनसे अपनी लम्बी यात्रा समाप्त करके जब सरस्वती इस लोकमें आती है तो उनका श्रम किस प्रकार दूर होता है, इसपर 'प्रसन्नराघव'की यह उक्ति देखिये—

‘अगिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामहविष्टपान्-महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत ।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनां न चेदवगाहते रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिधाम्॥’

इसी भावको गोस्वामीजीने इस प्रकार व्यक्त किया है—

‘भगत हेतु विधि सदन बिसाई। सुमिरत सारद आवत धाई ॥
राम चरितसर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाये॥’

अपने वाग्विलासपर सभी उल्लसित होते हैं, पर पर-भणितसे तोष सन्त जनोंको ही होता है, यह बात 'प्रसन्नराघव'में यों कही गयी है—

‘अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः^१।’

यह भाव गोस्वामीके द्वारा किस प्रकार गृहीत हुआ, यह देखिये—

‘निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ॥

जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥’

जामदग्न्यसे राम-लक्ष्मणका जो संवाद 'प्रसन्नराघव'में दिखाया गया है^२ उसकी प्रतिच्छाया 'मानस'के परशुराम-संवादमें मिलती है। इसीसे दोनों ग्रन्थोंके उक्त प्रसंगकी अनेक उक्तियाँ एक-सी हैं, 'मानस'के अनुसार अशोकवाटिकामें स्थित कृशतन्वी, सन्तप्ता वैदेहीने रावणको जो उत्तर दिया^३ वह 'प्रसन्नराघव'में रावणके प्रति सीताके द्वारा दिये गये उत्तरसे मिलता-जुलता है^४। इस प्रसंगकी केवल दो पंक्तियाँ बतौर उदाहरणके देखिये। 'मानस'की सीताकी उक्ति है—

चन्द्रहास हर मम परितापं। रघुपति-विरह-अनल-संजातं ॥

सीतल निसित बहसि बरधारा। कह सीता हरु मम दुख भारा ॥

उधर प्रसन्नराघव में सीता की उक्ति है—

चंद्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम्।

त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णधारया वहसि शीतलमम्भः ॥

'मानस'में हनुमान्ने सीतासे रामकी हृदय-विद्राविणी दशाका वर्णन करते हुए उनका जो सन्देश^५ सुनाया है वह 'प्रसन्नराघव'के कुछ श्लोकों^६का प्रतिभास-सा प्रकट होता है। रावणके प्रबोधनार्थ विभीषणकी यह उक्ति—

१. 'प्रसन्नराघव', प्रथम अंक पृ० ५। २. 'मानस', बा० १०१. ४। ३. 'प्रसन्नराघव' प्रथम अंक पृ० ७। ४. 'मानस' बा० ७. ११, १२। ५. 'प्रसन्नराघव', प्रथम अंक। ६. 'मानस', सुन्दर० ८. ३, ५; ९. १-६। ७. 'प्रसन्नराघव', षष्ठ अंक, पृ० ११७, ११८। ८. दे० 'मानस', सुन्दर० १४, २-७। ९. दे० 'प्रसन्नराघव', षष्ठ अंक, पृ० १२३।

‘जो आपन चाहइ कल्याना । सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना ।
सो पर नारि लिलारु गोसाईं । तजइ चौथि के चंद की नाईं ॥’
भी ‘प्रसन्नराघव’के निम्नांकित श्लोकका रूपान्तर है—

‘उदकभूतिभिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थीवन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ॥’

अन्तमें ‘मानस’की एक मार्मिक उक्तिमें ‘प्रसन्नराघव’की उक्तिकी मंजु दीप्ति और देखिये । पूर्व-दिशाकी कन्दरासे निकलनेवाले शशि-केशरीका शौर्य-प्रदर्शन है—

‘भक्त-नाग-तम-कुंभ बिदारी । ससि केशरी गगन बन चारी ॥

बिधुरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥’

अवतारित चौपाईकी रचना करते समय गोस्वामीजीकी दृष्टि ‘प्रसन्नराघव’के इस श्लोकपर अवश्य थी—

‘मयूखनखरत्रुत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलोच्छलत्तरलतारकाकपटकीर्णमुक्तागणः ।

पुरन्दरहरिदरिद्रिकुहरगर्भसुप्तोत्थितगुषारककेशरी गगनकाननं गाहते ॥’

गोस्वामीजीपर ‘हनुमन्नाटक’की उक्तियोंका प्रभाव ‘प्रसन्नराघव’की उक्तियोंकी अपेक्षा अधिक पड़ा है, यही कारण है कि उसकी अनेकानेक उक्तियाँ ‘मानस’के प्रत्येक काण्डमें ही नहीं अपितु ‘गीतावली’ और ‘कवितावली’में भी कहीं-कहीं सन्निविष्ट हुई हैं । पहले ‘मानस’के विभिन्न काण्डोंकी कुछ उक्तियोंको देखिये । लंकाकाण्डके रावण-अंगद-संवादके प्रसंगमें ‘हनुमन्नाटक’के अष्टम अंकके कतिपय श्लोकोंका प्रतिबिम्ब स्पष्टतया परिलक्षित होता है । इस प्रसंगसे अधिक नहीं तो दो ही पंक्तियोंका उदाहरण लीजिये—

‘कह कपि धरमसीलता तोरी । हमहुँ सुनी कृत पर तिय चोरी ॥

धरमसीलता तव जग जागी । पावा दरस हमहु बड़ भागी ॥’

उधर ‘हनुमन्नाटक’की उक्ति यों है—

‘परदारापहरणे न श्रुता या दशानने ।

दृष्टा दूतपरित्राणे साधोस्ते धर्मशीलता ॥’

सुन्दरकाण्डमें हनुमानकी उक्ति हैं—

‘साखामृग कै बड़ि मनुसाई । साखा तें साखा पर जाई ॥

नाँधि सिन्धु हाटकपुर जारा । निसिचर गन बधि विपिन उजारा ॥

सो सब तब प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि मनुसाई ॥’

‘हनुमन्नाटक’में हनुमानने रामका उत्तर इस प्रकार दिया है—

‘शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः

यत्पुनर्लघितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव ॥’

अरण्यकाण्डमें राम मरणासन्न जटायुसे कह रहे हैं—

‘जल भरि नयन कहत रघुराई । तात करम निज तें गति पाई ॥

तनु तजि तात जाहु मम धामा । देउँ काह तुम पूरन कामा ॥

१. ‘मानस’, सुन्दर० ३७.५, ६ । २. ‘प्रसन्नराघव’, सप्तम अंक, पृ० १२८ । ३. ‘मानस’, लं० ११. २, ३ । ४. ‘प्रसन्नराघव’, सप्तम अंक, पृ० १४८ । ५. ‘मानस’, सुन्दर० ३२.७-९ । ६. ‘हनुमन्नाटक’, अंक ६:४४ ।

सीता हरन पिता सन तात कहेउ जनि जाइ ॥
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन जाइ^१ ॥

इस युक्तिको 'हनुमन्नाटक' की निम्नांकित उक्तिसे मिलाइये—

‘तात त्वं निज तेजसैव गमितः स्वर्गं ब्रज स्वस्ति ते ।
ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः ।
रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्ब्रीडानमत्कन्धरः
सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः^२ ॥’

एक उदाहरण अयोध्याकाण्ड से भी लीजिये—

‘सीय समीप ग्राम तिय जाहीं । पृछत अति सनेह सकुचाहीं^३ ॥’
कोटि मनोज लजावनि हारे । सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ॥
सुनि सनेह मय मंजुल बानी । सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी ॥
बहुरि बदन-विधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निजपति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि^४ ॥’

उधर ‘हनुमन्नाटक’ की उक्ति इस प्रकार है—

‘पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छयमाना कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ।
स्मितविकसितगण्डं ब्रीडविभ्रान्त नेत्रं मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता^५ ॥

बालकाण्डमें धनुर्भंगके अवसरपर लक्ष्मणके द्वारा पृथ्वी तथा दिक्पालोंको दी गयी चेतावनी और धनुर्भंगके विश्व-व्यापी घोर घोष आदिका वर्णन ‘हनुमन्नाटक’ के प्रथम अंकके कुछ श्लोकोंका रूपान्तर-सा प्रतीत होता है । परशुरामके तेजस्वी स्वरूपके वर्णन तथा राम एवं परशुराम संवादके प्रसंगपर भी ‘हनुमन्नाटक’ की कुछ उक्तियोंका प्रभाव प्रकट होता है ।

‘गीतावली’ के जिन प्रसंगोंमें ‘हनुमन्नाटक’ की कुछ उक्तियोंकी झलक मिलती है, अब उनमेंसे भी एकाधपर दृष्टिपात कीजिये । जटायुकी यह आत्मग्लानि—

‘दसरथ सों न प्रेम प्रतिपात्यो हुतो जो सकल जग साखी ।
बरबस रहत निसाचर पति सों हठि न जानकी राखी ।
मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस वेष बनाए ।
चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाए^६ ॥’

‘हनुमन्नाटक’ में निम्नांकित जटायु-कृत पश्चात्तापसे क्या अन्तर रखती है—

‘न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः ।
न रामस्यास्येन्दुरनयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम्^७ ॥’

अन्तमें ‘कवितावली’ के दो-एक सरस छन्दोंपर भी ‘हनुमन्नाटक’ के श्लोकोंकी छाप देखनी चाहिये । ‘कवितावली’ का एक छन्द है—

१. ‘मानस’, अरण्य० ३०.८, १०; ३१.४ । २. ‘हनुमन्नाटक’, अंक ५:१६ । ३. ‘मानस’, अयो० ११४.४ । ४. ‘मानस’, अयो० ११५.१, २, ६, ७ । ५. ‘हनुमन्नाटक’, अंक ३:१५ । ६. ‘गीतावली’, अरण्य० गीत १२ । ७. ‘हनुमन्नाटक’, अंक ४:१३ ।

‘बिन्ध के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे ॥
हैं हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ।
कौन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगुधारे’ ॥’

अवतारित सवैयेकी रचनाके मूलमें ‘हनुमन्नाटक’के निम्नांकित श्लोककी प्रेरणा स्पष्टतः प्रकट होती है।

पदकमलरजोभिमुक्तपाषाणदेहामलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम् ।
त्वयि चरति विशीर्णपावबिन्ध्याद्रिपादे कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः ॥’

‘हनुमन्नाटक’में अंकित एक हृदयस्पर्शी दृश्य और देखिये—

‘सद्यः पुरीपरेरिषु शिरीषमृद्धी गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्य सकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्’ ॥’

इस दृश्यका अंकुर तुलसीके हृदयमें अवश्य जम गया था और वह ‘कवितावली’के निम्नांकित मार्मिक छन्दके रूपमें फलित हुआ—

‘पुर ते निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दिए मग में डगट्टै ।
झलकी भरि भाल कनी जलकी, पुट सूखि गए मधुराधर वै ।
फिरि बूझति है ‘चलनो अब केतिक, पर्न कुटी करिहौ कितहैं ?’
तियकी लखि आतुरता पियकी अखियाँ अति चारु चलीं जल चवै’ ॥’

‘प्रसन्नराघव’ और ‘हनुमन्नाटक’की अनेकानेक सुन्दर और सरस उक्तियोंने तुलसीके रसीले हृदय में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, यह बात तो ऊपरके अनेक उदाहरणोंको देखते हुए कही ही जा सकती है, साथ ही उन्हींके आधारपर यह और भी दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि ये उक्तियाँ तुलसीके अलौकिक कवि-हृदयमें स्थान पा चुकनेके अनन्तर मूलकी अपेक्षा अधिक रमणीय, सजीव और उत्कर्षपूर्ण होकर प्रकाशित हुई हैं।

‘उत्तररामचरित’का कोई विशेष प्रभाव गोस्वामीजीपर नहीं पड़ा है। ‘मानस’के उत्तरकाण्डका यह दोहा—

‘चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ ।
राम चरित जे निरख मुनि ते मन लेहि चुराइ’ ॥’

हो न हो, ‘उत्तररामचरित’के चित्र दर्शनोंनाम प्रथमोऽङ्कका ही प्रसाद हो। भवभूतिने जिस चित्र-शालामें राम-चरितका एक-एक करके उल्लेख किया है उसीको बाबाजीने उद्धृत दोहेमें इंगित किया है।

‘उत्तररामचरित’की एक उक्ति भी उद्धरणीय है—

‘लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति’ ॥’

‘सम्भव है इसी उक्तिकी प्रेरणासे ‘मानस’का यह दोहा रचा गया हो—

‘राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार ॥’

१. ‘कविता’, अयो० छन्द २८ । २. ‘हनुमन्नाटक’, अंक ३:१९ । ३. ‘हनुमन्नाटक’, अंक ३:१९ । ४. ‘कवितावली’, अयो० छ० ११ । ५. ‘मानस’, उ० २७ । ६. ‘उत्तररामचरित’, प्रथम अंक, श्लोक १० ।

‘रघुवंश’की झलक

अब ‘रघुवंश’ सदृश एक महाकाव्यका प्रसंग छेड़कर हम संकेतमात्र करना चाहते हैं कि तुलसीकी दृष्टि इधर भी पड़ी थी। ‘रघुवंश’के प्रारम्भमें कालिदासने अपनी विनम्रतावश जिस प्रकार अपनेको अयोग्य, असमर्थ और अज्ञ आदि कहा है, उससे कहीं बढ़कर गोस्वामीजीने ‘मानस’के उपक्रममें अपना दैन्य दर्शाया है। ‘रघुवंश’की कुछ उक्तियाँ भी ‘मानस’में समाहत हैं। एक उदाहरण लीजिये—

‘वशीनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः’^१

अर्थात् रघुवंशियोंका चित्त पराई स्त्रीकी ओर नहीं जाता। इधर गोस्वामीजीने रामके मुखारविन्दसे कहलाया है—

‘नहि लावहिं पर तीय मन दीठी’^२

इस गृहीत भावमें ‘दीठी’ जोड़कर गोस्वामीजीने और गाम्भीर्य ला दिया है। केवल स्थूल दृष्टिसे देखनेका ही निषेध नहीं किया है, पर मानसिक दृष्टि डालना भी निषिद्ध ठहराया है।

‘गीतावली’के जिन करुणात्मक पदोंमें सीता-निर्वासन तथा उन्हें छोड़नेके लिए साथ गये लक्ष्मणके प्रति उनके आर्त कथनका निरूपण हुआ है^३ उन अपूर्व पदोंकी सृष्टि करते समय तुलसीके हृदयमें ‘रघुवंश’में वर्णित सीता-निर्वासनके प्रसंगका^४ प्रकाश अवश्य था। उसीसे दोनों ग्रन्थोंके उक्त प्रसंगमें साम्य है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत परिच्छेदके निष्कर्षके रूपमें एक वाक्यसे अधिक नहीं कहना है। प्राचीन राम-साहित्यके विधान संस्कृतके प्राचीन रामायणों, नाटकों और महाकाव्योंमेंसे कुछको सामने रखकर हमने देखा कि तुलसीने अपनी भक्तिको उत्तरोत्तर दृढ़ करने तथा रामचरितका मर्म समझनेके लिए अधिकसे अधिक प्राचीन राम-साहित्य-रूप रत्नाकरका भावपूर्वक शोध किया और अपनी सद्ग्राहिताके अनुसार मनोवाञ्छित सारभूत रचनोपकरण-रत्नोंको ग्रहण किया और उन्हें अपने दिव्य प्रकाश और मौलिकताकी सानपर चढ़ाकर विशेष सुसंस्कृत रूप देकर अपने नूतन राम-साहित्यमें सन्निविष्ट किया।

१. ‘रघुवंश’, १६:८ । २. ‘मानस’, बाल० २३०.७ । ३. दे० ‘गीतावली’, उ० गीत २८-३२ । ४. दे० ‘रघुवंश’, सर्ग १४ ।

द्वादश परिच्छेद

तुलसीकी सन्दर्भण-कला और रामचरितमानस

सन्दर्भणका प्रयोग यहाँ संग्रन्थन अथवा गुम्फनके अर्थमें किया गया है। इस कलाका एक स्थूल उदाहरण देखनेके लिए उस पटु इलाकेबन्द (पटहार) की ओर दृष्टि दौड़ाइये जो अपनी अनोखी कारीगरीसे बिखरे और बेजोड़ मोतियोंको रेशमके मसृण पाटमें इस प्रकार संग्रन्थित करता है कि विशिष्ट सुषमामय हार बन जाता है। उस हारमें पिरोये मोतियोंमें प्रत्येकका ऐसा उपयुक्त स्थान रहता है कि हर एककी कान्ति दूसरेपर यों पड़ती है कि समस्त जलजहारसे एक अविच्छिन्न ज्योति स्फुटित होती दिखाई पड़ती है। जलजहारके इसी रूपक द्वारा यदि गोस्वामीजीकी सन्दर्भण-कला हृदयंगम करानी हो तो कहना चाहिये कि वे ऐसे सिरमौर कवि-रूप पटहार हैं जिन्होंने अपने कौशलसे विविध कथांशरूप मौक्तिकोंका ऐसा अनूठा संग्रन्थन किया है कि उनके अपूर्व संयोगसे अनर्घ 'मानस' रूप हार निर्मित हो गया। इस हारकी सन्दर्भण-कलाकी उत्कृष्टताका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि सती-चरित्रका कथांश, कामदहनका कथांश, पार्वतीमंगल, नारदमोह, मनु-उपाख्यान, भानुप्रतापकी कथा, मुशुण्डि-गरुण-संवाद आदि सभी कथांशोंको भी कविने संयत और सुकुमार कलाके सहारे ऐसा संयोजित किया है कि वे 'मानस'के सारभूत अंग प्रतीत होते हैं, उसे सागोपांग बनाते हैं।

उपक्रमकी नवीनता और प्रौढ़ि

'मानस'के उपक्रमकी ओर दृष्टि डालते ही सन्दर्भण-कलाकी प्रथम बाँकी-झाँकी होती है। यद्यपि प्राचीन रामायणोंका प्रभाव 'मानस'पर किसी-न-किसी प्रकार अवश्य पड़ा है^१, तथापि 'मानस'के उपक्रमकी विशेषता किसी रामायण या अन्य आर्ष ग्रन्थमें नहीं मिलती। इसकी प्रमुख नवीनता इस बातमें है कि इसमें महाकाव्योचित उपक्रमके विधानके साथ ही भक्ति-तत्त्वोंका ऐसा कलात्मक संग्रन्थन किया गया है कि उपक्रमकी समाप्तिके पश्चात् पाठक अनायास ही अपने समक्ष महाकाव्य एवं भक्ति दोनोंका एक ही द्वार उद्घाटित देखता है। काव्य-प्रेमी उसे महाकाव्यका द्वार समक्ष काव्यके रसास्वादनके हेतु, और भक्ति-लुब्ध अपनी श्रद्धा और विश्वासको अटल बनाकर भगवच्चरणोंके अनन्य प्रेमकी प्राप्तिके लिए पुलकित होता हुआ 'मानस'के भव्य प्रासादमें प्रविष्ट होता है। उपक्रमके मंगलाचरणके श्लोक एवं खल, साधु आदिकी वन्दनाओंको देखते हुए, यही आभास होता है कि कवि महाकाव्यकी परम्पराका पालन कर रहा है, पर इसी परम्परा-निर्वाहके साथ वह झट कुसंग और सत्संगका प्रसंग सरस और स्वाभाविक ढंगसे छेड़कर भक्तिका श्रेष्ठ साधन भी प्रस्तुत कर देता है।

गोस्वामीजीने काव्य और भक्तिके जिस अपूर्व ताने-बानेसे उपक्रमका विकास दिखाया है वह अद्वितीय है। उसमें काव्यकी उत्कृष्ट कसौटी प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने किसी प्रकारकी अप्रासंगिकताकी अनुभूतिका अवकाश नहीं छोड़ा है। काव्य-परम्पराके अनुसार—

‘आखर अरथ अलंकृत नाना । छंद प्रबंध अनेक विधाना ॥

भाव भेद रसभेद अपारा । कवित दोस गुन विविध प्रकारा ॥’

१. यह पिछले परिच्छेदमें दिखाया जा चुका है। २. 'मानस', बा० ८. ८, ९।

का ध्यान रखते हुए भी वे यह परमावश्यक मानते हैं कि काव्य भगवद्-भक्तिसे संपृक्त होना चाहिये, अन्यथा वह श्रीविहीन होगा—

‘भनिति बिचित्र सुकवि कृत जोऊ । रामनाम बिनु सोह न सोऊ ॥

विधु-वदनी सब भौंति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी^१ ॥’

रचना भगवद्भक्ति-विषयिणी तो रहें ही, साथ ही उसके अर्थ और प्रभावकी प्रेषणीयता भी ऐसी हो कि पाठकके हृदयमें कविके द्वारा अनुभूति किये गये तत्त्वोंकी आनन्दानुभूति अत्यधिक बढ़ाये—

‘मनि-मानिक-मुकुता छवि जैसी । अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी ॥

नृपकिरीट तरुनी-तन पाई । लहहि सकल सोभा अधिकाई ॥

तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं । उपजहि अनत अनत छवि लहहीं^२ ॥’

काव्यका जो प्रतिमान गोस्वामीजीको अभीष्ट था उसे इंगित करके वे उपक्रमका प्रवाह बड़े रोचक ढंगसे बढ़ाते हैं । वे विविध वन्दनाओंकी जो शृंखला प्रस्तुत करते हैं वह भी कलायुक्त है । उसमें उन्होंने एक ओर धर्मके अनुसार प्रचलित कुछ देवों, मनुष्यों तथा भक्तोंके प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था प्रकट की है तो दूसरी ओर अपनी रचनाके निर्माणमें व्यास, वाल्मीकि आदिकी काव्य-परम्पराका ऋणी होनेके कारण उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता भी व्यक्त की है । यही नहीं, उन्होंने रामकी कथासे सम्बद्ध अनन्य भक्त पात्रोंका परिचय देनेका कार्य भी उक्त शृंखलासे लिया है । पात्रोंकी मूल चारित्रिक विशेषताओंका जो संकेत उपक्रममें मिलता है वही ग्रन्थमें आद्योपान्त जगमगाता है । यथा—

‘प्रनवउ^३ प्रथम भरतके चरना । जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ॥

राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥’

सारे मानसका मन्थन कर डालिये, भरत-चरितकी यही प्रमुख विशेषता मिलेगी । इसी प्रकार अन्यन्य पात्रोंकी वन्दनामें उनकी सर्वप्रधान चारित्रिक विशेषताका संकेत है ।

उपक्रममें विविध वन्दनाओंकी शृंखलाके अनन्तर राम-नाम-महिमा, सगुण-निर्गुण-विवेचन और कथा-माहात्म्यका जो उत्कृष्ट वर्णन है वह भक्ति-निरूपण और प्रस्थापनके लिए ही सन्निविष्ट किया गया है; न कि किसी काव्य-परम्परा-निर्वाहके लिए । इन प्रसंगोंको पूर्वके प्रसंगोंसे संश्रित करनेमें कविकी जो कला है वह तो है ही, सबसे बड़ी बात यह है कि निर्गुण और सगुणके बीचकी क्लिष्ट उलझन केवल नाम-जपके माहात्म्यसे सुलझा दी गयी है । कोरे अन्ध-विश्वासकी पद्धतिसे नहीं, प्रत्युत बुद्धि और श्रद्धा दोनोंकी पुष्टि और तुष्टि करनेवाली उक्तियोंसे ।

मानसके रूपककी अपूर्वता

‘मानस’को जो रूपकका स्वरूप दिया गया है उसमें भी उपक्रमकी नवीनता और प्रौढ़ी, साथ ही सन्दर्भ-कलाका अन्ठा निर्देश छोटे-बड़े सभी कृतिकार रूपकके बड़े प्रेमी होते हैं । अलंकार रूपमें इसका प्रयोग तो सभी करते हैं, इसके अतिरिक्त कृतियोंके नामकरणमें भी वे इसे प्रायः ग्रहण करते हैं । इसमें बहुधा होता यह है कि यदि उनकी किसी रचना-विशेषमें कोई विशिष्ट अंश हुआ तो वे उसीके अनुरूप कोई रूपक चुन लेते हैं । वस्तुतः वह रूपक ऐसा नहीं रहता कि उससे ग्रन्थके समस्त अंगोंका संकेत हो जाय । गोस्वामीजी ऐसे रूपककार नहीं थे । उन्होंने अपनी अनोखी प्रतिभाके बलपर जो ‘मानस-रूपक’ रचा है उसका जोड़ अन्यत्र कहाँ ? यदि उनके इस रूपकके विविध अवयवों^३की ओर दृष्टि रखकर विचार

१. वही, बा० ९. ३, ४ । २. वही, बा० १०. १-३ । ३. दे० ‘मानस’, बा० दो० ३५ से ३७ तक ।

किया जाय तो प्रकट होगा कि समस्त 'रामचरितमानस'के स्वरूपका आभास मानसके रूपकमें मार्मिकतासे दिया गया है। कवि अपनी आस्तिक बुद्धि और श्रद्धालु हृदयकी प्रेरणासे, सच्छास्त्रोंके विशिष्ट स्वाध्यायसे रामभक्तिकी ओर अनन्य भावसे प्रवृत्त हुआ। इसी प्रवृत्तिके कारण उसने 'मानस'का प्रणयन किया। उसमें उसने काव्यके जिन उपादानोंका प्रयोग किया, मानसके रूपकमें उनका स्पष्ट रूपसे संकेत मिल जाता है। यही नहीं, ग्रन्थमें जिन आध्यात्मिक, तात्त्विक एवं साधनामूलक विषयोंका निरूपण हुआ है उनकी चर्चा भी इसी रूपकमें है। कविको इतनेसे ही सन्तोष नहीं हुआ। मानसरोवरकी स्थितिकी भौगोलिक जानकारी रखनेके कारण, वहाँ जानेके मार्गकी दुरुहताका परिचय देना भी उसने आवश्यक समझा, प्रकारान्तरसे राम-चरित मानसका स्वरूप यथातथ्य रूपमें न जाननेके जो कारण उपस्थित होते हैं उनका प्रत्यक्षीकरण करानेके लिए मानसके रूपकको और बढ़ाया—

‘गृह कारज नाना जंजाला । तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥

बन बहु विषम मोह मद नाना । नदी कुतर्क भयंकर नाना’ ॥’

राम-चरित-रूप मानसके मार्गमें पड़नेवाले विघ्नोंको दिखाकर ही रूपककी इति नहीं की गयी, अपितु मानसमें अवगाहन और उसका फल आदि भी इस रूपक में सन्निहित है। इसी मानस-रूपकके प्रवाहमें कविने सरिता-रूपकको भी संग्रथित कर उसके भीतर 'रामचरितमानस'के कथांशोंका माहात्म्ययुक्त निर्देश करते हुए कथा-प्रवाहको उत्तम ढंगसे और बढ़ाया है। मानस-सर-सरि-रूपकमें उसकी श्रेष्ठ सन्दर्भ-कला है। क्या मानसरोवर, क्या 'मानस', इन दोनोंके सामान्य तथा अधिकसे अधिक हृदय-स्पर्शी अंगोंको कविने अपनी अलौकिक प्रतिभाके प्रसादसे एक ही रूपकमें लाकर अधिष्ठित किया है।

मानसरोवरके रूपकके अतिरिक्त 'मानस'का एक दूसरा अर्थ होता है—अर्थात् मानस = हृदय = मार = रहस्य। इस अर्थमें भी तुलसीने मानसके रहस्यका आद्योपान्त निर्वाह किया है। उन्होंने आरम्भमें राम-चरित्रकी अनन्तता स्वीकार की है^१। फलतः हमें यह माननेमें तनिक भी आपत्ति न होनी चाहिये कि उन्होंने रामके अनन्त चरित्रका रहस्य ही गाया है। 'मानस'के उपसंहारसे भी मानसका रहस्य अर्थ प्रकट है। शिव पार्वतीसे 'राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी^२ ॥' का संकेत करते हुए अन्तमें यही स्वीकार करते हैं—कछुक राम गुन कहेउँ बखानी^३।' और तदुपरान्त उसी गुणको सुनकर पार्वती कहती हैं—

‘हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा । सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा’ ॥’

इस प्रकार 'हरि चरित्र मानस'से रामके चरित्रका रहस्य ही उद्घाटित हुआ है। इस अर्थमें भी 'राम-चरित-मानस' मानस ही कहलायेगा। गोस्वामीजीने दोनों अर्थोंका ग्रन्थभरमें सांगोपांग निर्वाह किया है।

षड्विध संगति-योजना

'मानस'में षड्विध संगति-योजना भी उसकी अपूर्व सन्दर्भ-कलाकी परिचायिका है। संगति-योजनाके प्रत्यक्ष उदाहरण देनेके पूर्व उसके लक्षण और भेदपर किञ्चित् प्रकाश डालना उपेक्षणीय न होगा।

१. 'मानस', बा० ३७.८, ९। २. वही, बा० ३२.५, ३३। ३. वही, उ० ५१.३। ४. वही, उ० ५१.७। ५. वही, उ० ५१.८।

‘अनन्तर कथनको प्रेरित करनेवाला जिज्ञासाके जनक ज्ञानका जो पदार्थ विषय हो वह संगति है।’ जैसे किसी पदार्थके ज्ञानको जब हम अपना इष्ट साधन समझते हैं तो पहले हमें उसकी जिज्ञासा होती है। तदुपरान्त ज्ञानके साधनीभूत वाक्यकी इच्छा होती है। तब वाक्यके साधनीभूत शब्दोच्चारणकी इच्छासे शब्दोच्चारणकी प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्तिके कारण शब्दोच्चारण करनेपर निरूपणीय विषयका अनन्तर कथन होता है। इस संगतिके छह भेद हैं—प्रसंग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकत्व और एककार्यत्व। इसके लक्षण ये हैं—‘किसी वस्तुके स्मृतिकालमें उपस्थित उपेक्षणीयताकी परिधिमें न आ सकना प्रसंग है।’ ‘प्रस्तुतकी सिद्धिके लिए उपयोगी विचारके समय जो प्रस्तुतके अनुकूल होनेकी भावना है वह उपोद्घात कहलाता है।’ ‘हेतुता कार्य-कारण-संबंध है।’ किसी विषयके ज्ञानमें जिज्ञासुकी जो जिज्ञासा प्रतिबन्ध डाल रही हो उसकी निवृत्ति करनेके समय जो अवश्य वक्तव्यताकी कोटिमें आये उसे अवसर कहते हैं। ‘कारणके एव-कार्य-जनकत्वकी दशाको निर्वाहकत्व कहते हैं।’ कार्यके एक-कारण-जन्यत्वकी दशाको एककार्यत्व कहते हैं।’

किसी विवेकी और किसी बातुलके भाषणकी ओर ध्यान देनेपर यह स्वयमेव प्रकट होगा कि पागलके प्रलापमें किसी प्रकारकी संगति नहीं होती, उसकी बातें परस्पर सम्बद्ध नहीं रहतीं। इसके विपरीत विदग्धके अभिलापमें प्रायः सभी बातें अपने अर्थ और सम्बन्धको अन्ततः वहन करनेवाली होती हैं। प्रबन्धको हम एक प्रकारका लिखित सुष्ठु अभिलाप भी कह सकते हैं। अतः उसमें सम्बन्ध एवं अर्थ-निर्वाह आद्योपान्त होना चाहिये। इसके अभावमें वह असंगत कहलायेगा, दोषपूर्ण माना जायगा।

‘मानस’से संगति-योजनाके कुछ उदाहरण लीजिये। नारद-मोहके प्रसंगमें ऋषि विष्णुसे सौन्दर्य माँगने जाते हैं और भगवान् ने उन्हें व्यंग्यके द्वारा बतल दिया कि हम तुम्हारा हित करेंगे। ऐसी चेतावनी देनेके बाद उन्होंने वैसा ही किया भी—

‘मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना’ ॥

स्वयंवरमें मुनि इसी रूपपर फूले हुये राजकुमारीको प्राप्त करनेके लिए गये। अन्तमें जब सब भण्डाफोड़ हो गया तो नारदके क्रोधका ठिकाना न रहा और उन्होंने भगवान् को शाप दिया—

‘कपि आकृति तुम्ह कीन्ह हमारी। करिहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि विरह तुम्ह होव दुखारी’ ॥

यह सब हो चुकनेपर भी नारदके साथ पाठक भी ‘दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना’ का रहस्य समझनेके लिए उत्सुक रहता है। मुनिको कुरूप देनेका कार्य किस कारणसे हुआ, इस जिज्ञासाका परितोष अरण्य-काण्डमें कराया गया है। गोस्वामीजी वहाँ रामके सम्मुख नारदको उपस्थित कर उन्हींके मुखसे कहलाते हैं—

‘राम जबहिं प्रेरेउ निज माया। मोहेउ मोहि सुनहु रघुराया ॥

तब बिवाह मैं चाहेउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा’ ॥

रामने माया-रूपी नारीका प्राबल्य समझाकर ऋषिकी जिज्ञासाकी पूर्ण निवृत्ति की। मुनि रमणी-रूपी रत्नसे क्यों वंचित किये गये इसका कारण जानकर पाठक भी तृप्त हो जाता है। इस प्रकार यह

-
१. ‘वैयाकरणभूषणसार-दर्पण’, धात्वर्थनिर्णय, पृ० २१। २. वही, २१। ३. वही, २२। ४. वही, २२। ५. ‘वैयाकरणभूषणसार-दर्पण’, धात्वर्थनिर्णय, पृ० २२। ६. वही पृ० २२। ७. वही पृ० २२। ८. ‘मानस’, बा० १३२. ७। ९. ‘मानस’, बा० १३६. ७, ८। १०. ‘मानस’, अरण्य० २४. २, ३।

समाधान अवसर-संगतिके भीतर आता है। निर्वाहकत्व संगति-योजनाका भी यह उदाहरण है, क्योंकि मुनि-रक्षा-रूप एक कार्यका जनक कुरूप-दान-रूप कारण है।

प्रसंग-संगतिका यह दृश्य देखिये—

‘कपि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।
जनु अशोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ’ ॥’

पाठक या पात्र किसीकी दृष्टिसे देखिये। जिस अवसरपर मुद्रिका गिरायी जाती है सर्वप्रकार अपेक्षणीय है। सीताकी वेदना पराकाष्ठापर पहुँच चुकी, अतः वे उन्मादवश तारोंको अंगार समझकर उन्हें पानेके लिए उन्मुख थीं, उधर हनुमान् भी उनकी दशा देखकर कातर हो रहे थे, पाठकका हृदय भी दबा जा रहा था। ऐसी स्थितिमें मुद्रिका गिरानेका प्रसंग भी उपस्थित किया गया है। इस नये-नये प्रसंगसे पूर्व वस्तुकी स्मृतिपर रज्जुमात्र भी धक्का नहीं लगता और यह पूर्वका सहकारी होनेके कारण किसी प्रकार अपेक्षणीय नहीं होता।

अन्य प्रकारकी संगतिके उदाहरण और उनके लक्षण-समन्वयके द्वारा लेखका कलेस्वर बढ़ाना हमें अभीष्ट नहीं। अतएव इस सम्बन्धमें हम यही कहना चाहते हैं कि ‘मानस’में संगतिके सभी प्रकारोंकी उत्तमोत्तम योजनाका पूरा ध्यान रखा गया है। कविने संगति-निर्वाह अधिकांश रूपमें वर्णनके साथ ही रखा है, पर ऐसे प्रसंगोंकी भी कमी नहीं है जहाँ संगति-योजनाका रहस्य बहुत दूर आगे चलकर खुलता है, उपक्रममें जगी जिज्ञासाका परितोष उपसंहारमें होता है।

तुलसीकी मधुकरी वृत्ति और उनके सञ्चित मधुकरकोषसे भी सन्दर्भण-कलापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसे समझनेके लिए पहले सामान्य मधुकरके मधुकोषकी एक झाँकी कर लेनेकी आवश्यकता है। मधु-व्रतका मण्डलाकार मधुकोष उसकी विवेकशीलता, न्यायप्रियता और कला-कुशलताका परिचायक है। निस्सन्देह मधुप नाना प्रकारकी कलियों और पुष्पोंपर अपनी आसक्ति होनेके कारण उनके सम्पर्कमें कुछ लेने ही जाता है। पर उसके ग्रहण करनेकी प्रक्रिया इतनी संयत है कि वह किसी कोमल कलिका या किसी सुकुमार सुमनके सौन्दर्य, सौरभ अथवा रसमें रज्जुमात्र क्षति पहुँचाये बिना ही मकरन्द ग्रहण करता है। अकौवा जैसे निर्गन्ध और रूक्ष फूलसे लेकर चमेली जैसे सुरभित मृदु कोरकतकसे वह पूर्ण विदग्धतापूर्वक मकरन्द संग्रह करता है। उसके मधुकोषमें विविध कुसुमोंके रसका संग्रहमात्र नहीं रहता, प्रत्युत उनका ऐसा अपूर्व संयोग किया रहता है कि उनसे मधु संज्ञाकी वह नवीन वस्तु बन जाती है जिसमें पुष्पोंके मूल मकरन्दकी तनिक भी गन्ध नहीं रहती। इस सुधामय मधुको चखनेके लिए सभी लालायित रहते हैं। यह नाना प्रकारके रोगोंकी औषध भी होती है।

यह तो हुई साधारण मधुकरकी बात। अब हमारे प्रौढ़ विवेकी तुलसी-मधुकरकी ओर आइये। इस विलक्षण मधुकरके समक्ष विविध शास्त्र-रूप पुष्पोंका नन्दनवन अपना अलौकिक सौरभ-विखेर रहा था और इस चञ्चरीकने वहाँसे सार मकरन्द ला-लाकर अपने ‘मानस’-मधुकोषमें बड़े ही विवेकके साथ सन्निविष्ट करके अपनी सन्दर्भण-कलाका अनूठा उदाहरण छोड़ा है। सामान्य मधुकोषसे प्राप्त मधुकी जो उपादेयता और उपयोगिता होती है उससे कहीं अधिक ‘मानस’-मधुकोषसे प्राप्त भक्ति और काव्यरूप मधुकी ग्राह्यता और उपकारकता ठहरती है।

माधुकरी वृत्ति और मानस-मधुकोष

‘मानस’ मधुकोषमें अनेकानेक शास्त्र-सुमनोंके विविध भाव-मकरन्द किस वैदग्ध्यके साथ संगृहीत हुए हैं, यह समझनेके लिए हमें अपने भ्रमरकी इस गुञ्जारको ध्यानमें रखना चाहिये—‘नानापुराणनिगमा-गम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं कचिदग्यतोऽपि ।’ यह गूँज प्रकट करती है कि हमारा मधुकर किन पुष्पोंके सम्पर्कमें रहा और उसकी माधुकरी वृत्तिका निर्देश करनेके लिए हम किस ओर दृष्टिपात करें।

पुराणोंमें सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमान्य पुराण है—‘भागवत ।’ तुलसी जैसे भक्त-भ्रमर ‘भागवत’का अमृत-मय रस कैसे छोड़ते। उन्होंने ‘मानस’को भक्ति-सुधासे परिपूर्ण करनेके लिए ‘भागवत’की अगाध पीयूष-धारासे पर्याप्त पीयूष ग्रहण किया है। ‘भागवत’के जो-जो भाव और सिद्धान्त प्रचुर परिमाणमें गृहीत हुए हैं, उन सबका निदर्शन करनेके लिए बड़े विस्तारकी अपेक्षा है। प्रस्तुत प्रसंगमें इतना अवकाश नहीं। अतः बहुत संक्षेपमें विचार किया जाता है।

भगवान्की उपलब्धिका सुगम उपाय बताना ‘भागवत’की विशेषता है। उसकी रचनाका प्रयोजन भी भक्ति-तत्त्वका निरूपण है। वेदार्थोपवृंहित विपुलकाय ‘महाभारत’की रचना करनेपर भी अतृप्त वेदव्यास-का हृदय भक्ति-प्रधान ‘भागवत’की रचनासे ही तृप्त हुआ। ‘भागवत’के श्रवण करनेसे भक्तिके निष्प्राण पुत्र ज्ञान-वैराग्यमें प्राण-संस्कार ही नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवनको प्राप्त हो गये। अतः भगवान्की प्राप्ति-का एकमात्र उपाय भक्ति ही है—

‘न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता’ ॥’

साधन-रूप भक्ति एवं साध्य-रूप भक्तिका सांगोपांग मनोहर विवरण, सत्संग-महिमा, ज्ञान-भक्ति-समन्वय आदिके सिद्धान्त ‘भागवत’में भरे हैं। जब ‘भागवत’की सार-स्वरूप उक्त किञ्चित् विशेषताओंको ध्यानमें रखकर हम ‘मानस’में प्रवेश करते हैं तो इसमें ‘भागवत’की जगद्गता अन्तरात्मा ही दृष्टिगत होती है। स्थूल उदाहरणके लिए कुछ प्रसंगोंकी ओर आइये—

‘जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना । स्रवन-रंध अहि भवन समाना ॥

...

...

...

जो नहि करइ राम-गुन-गाना । जीह सो दादुरजीह समाना’ ॥

उधर ‘भागवत’की इस उक्तिको देखिये—

‘बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।

जिह्वासती दार्दुरिकेव सृत न चोपगायत्युरुगायगाथाः’ ॥’

दोनों उक्तियोंके मिलानसे इतना तो स्पष्ट ही है कि गोस्वामीजीने ‘भागवत’के श्लोकका अनुवाद कर लिया है। इसमें अनुवादककी कुशलताके अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं है। ‘मानस’की जो अर्द्धाली ऊपर उद्धृत की गयी है उसी मालावाली अन्य चौपाइयोंमें भगवद्भक्तिमें न लगनेवाले अंगोंकी असारताके जो भाव दिखाये गये हैं वे भी ‘भागवत’के उद्धृत श्लोकके आगेवाले कई श्लोकोंके आधार-पर हैं।

१. ‘भागवत’, ११:१४:२० । २. ‘मानस’, बा० ११२:२, ६ । ३. ‘भागवत’, २:३:२० । ४. दे० ‘मानस’, बा० ११२:३, ४, ५, ७ । ५. दे० ‘भागवत’, २:३:२१, २२, २४ ।

दूसरा प्रसंग लीजिये । रंगभूमिमें विराजमान राम-लक्ष्मणको लोग किस रूपमें देख रहे हैं—

‘देखहिं रूप महा रनधीरा । मनहु बीर रस धरे सरीरा ॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी । मनहु भयानक मूरति भारी ॥
रहे असुर छल छोनिप बेखा । तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा ॥
पुरवासिन्ह देखे दोउ भाई । नर-भूषन लोचन-सुखदाई ॥

नारि विलोकहि हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप ।

जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥

बिदुसन प्रभु विराटमय दीसा । बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा ॥
जनक जाति अवलोकहि कैसे । सजन सगे प्रिय लागहि जैसे ॥
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा । सांत-सुद्ध-समसहज प्रकासा ॥
हरि भगन्तह देखेउ दोउ भ्राता । इष्टदेव इव सब सुख दाता ॥
‘रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ ॥’

उधर कृष्ण-बलरामके पदार्पण करनेपर कंसकी रंगभूमिमें कैसा प्रभाव पड़ा यह देखिये—

‘मल्लानाशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽससतांक्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदिता रङ्गं गतः साम्रजः ॥’

दोनों उल्लेखोंपर दृष्टि डालते ही यह स्पष्टतया लक्षित होता है कि गोस्वामीजीने ‘भागवत’का भाव ग्रहण किया है । ऐसा होनेपर भी उनका वर्णन ‘भागवत’के वर्णनसे कहीं व्यापक और रमणीय है । ‘मानस’के अवतरणकी प्रथम तीन पंक्तियोंमें वीरत्व और भयानकत्वकी जैसी साकार व्यञ्जना होती है वैसी ‘मल्लोंने वज्रके समान देखा’के कथनसे नहीं होती । श्लोकके अनुसार श्रीहरि लोगोंको ‘नरवर’के रूपमें दिखाई पड़े, पर चौपाईमें ‘नर-भूषन’के साथ ‘लोचन-सुखदाई’ जोड़कर भावमें और उत्कर्ष दिखाया गया है । दोहेमें सौन्दर्यकी गूढ़ व्यञ्जना और तज्जन्य प्रभावका जो संकेत है वह ‘स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्’से नहीं हो पाता । श्लोक विराट्का संवेतमात्र करता है, पर अर्द्धाली इसके स्वरूपको भी व्यक्त करती है । इसी प्रकार अर्द्धाली परम तत्त्वके स्वरूपका भी आभास देती है और श्लोक ‘तत्त्वं परं योगिनां’ कहकर रह जाता है । उधर श्रीकृष्ण वृष्णिवंशी मादवोंको ही इष्टदेवके रूपमें दिखाई पड़े, इधर राम हरिभक्तोंको ।

‘मानस’में वर्षा और शरत् ऋतुका जो वर्णन^१ मिलता है वह ‘भागवत’के वर्षा और शरद्-वर्णन^२की प्रतिच्छायामात्र है । ‘भगवान्के विराट् स्वरूप-व्यञ्जक ‘भागवत’के कुछ श्लोकों’का प्रतिबिम्ब भी ‘मानस’में झलकता^३ है । ‘मानस’के कलियुग-वर्णनकी कितनी ही चौपाईयों^४के भाव ही नहीं, अपितु पदावली भी

१. ‘मानस’, बा० २४०.५-८, २४१.१-७ । २. ‘भागवत’, १०:४३:१७ । ३. दे० ‘मानस’, किष्कि० १३. १-८; १४. १-१२; १५. १-१०; १६. १-८; १७. । ४. दे० ‘भागवत’, १० : २० : ८, ९, १५, १७, २०, २३, ३८, ३९, ४९ । ५. दे० वही, २ : १ : २६, २८-३४ । ६. दे० ‘मानस’, लं० १४.१-८; १५ । ७. दे० वही, उ० ९७. ४-८; ९९.१०; १००, १-३ ।

‘भागवत’के कलियुग-वर्णनसे गृहीत है^१। उक्त प्रतिरूप प्रसंगोंके निर्माणमें भी तुलसीकी प्रतिभा सजग थी, हमें यह नहीं भूलना चाहिये।

मानसमें वर्णित चार प्रकारकी पतिव्रताओंके लक्षण देखिये—

‘उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम पर पति देखहि कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धरम विचारि समुझि कुल रहई । सो निकृष्ट तिय स्तुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई । जान्हेहु अधम नारि जग सोई ॥’

ये लक्षण ‘शिवपुराण’के निम्नांकित श्लोकोंसे प्राप्त हुए हैं—

‘स्वप्नेपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम् ।
नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्त्तिता ॥
या पितृ-भ्रातृ सुतवत् परम्पश्यति सद्विया ॥
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ।
बुद्ध्वा स्वधर्म मनसा व्यभिचारं करोति न ॥
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति ॥
पत्युः कुलस्य च भयाद् व्यभिचारं करोति न ।
पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वसूरिभिः^२ ॥’

यद्यपि चौपाइयाँ श्लोकोंकी रूपान्तरमात्र हैं, तथापि इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि अन्तिम चौपाईका ‘बिनु अवसर भय ते रह जोई’ चरण अन्तिम श्लोकके ‘पत्युः कुलस्य भयाद् व्यभिचारं करोति न’की अपेक्षा अधिक व्यञ्जक और रमणीय है।

विष्णुपुराण, पद्मपुराण, नृसिंहपुराण प्रभृति पुराणोंकी जो उक्तियाँ ‘मानस’-कोषमें सन्निविष्ट हैं, स्थानाभावके कारण उन्हें छोड़ हम ‘गीता’से गृहीत एकाध उक्ति उद्धृत करते हैं—

‘संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥’

‘गीता’के जिस श्लोकार्द्धका यह रूपान्तर है, उसे भी देखिये—

‘संभावितस्य चाऽर्कीर्तिर्मरणादतिरिच्यते’^३।

कहना नहीं होगा कि अर्द्धाली श्लोकार्द्धकी रूपान्तर होकर भी उससे अधिक प्रभावक और मार्मिक है।

‘मानस’में कुछ ऐसी उक्तियाँ^४ और भी हैं जो ‘गीता’से गृहीत हैं^५ अवश्य, पर उन सबमें भी तुलसीने अपनी प्रतिभाके कारण कुछ-न-कुछ भावोत्कर्ष ही दिखाया है।

औपनिषदिक उक्तियोंका सन्निवेश भी ‘मानस’-कोषमें है—

‘बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ।

आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥

तनु बिनु परस नयन बिनु देखा । गहइ घान बिनु बास असेखा ॥’

१. दे० ‘भागवत’, १२ : १ : ४५; १२ : ३ : ३२, ३३, ४३. ३७-४१ । २. ‘मानस’, अरण्य० ४. १२-१५ । ३. ‘शिवपुराण’, पार्वतीखण्ड ५४ : ७४-७७ । ४. ‘मानस’, अयो० ९७.७ । ५. ‘गीता’, २ : ३४ । ६. दे० ‘मानस’, बा० १२०.६-८; अयो० ९२.३; किरिक० १०.७; ड० ३८; ३५. १-५ । ७. दे० ‘गीता’, ४:७, ८, २:६९, १८:६१, १२:९, ७: ३ । ८. ‘मानस’, ‘बा० ११७, ५. ६, ७ ।

ये अर्द्धालियाँ 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' की निम्नांकित उक्तिका प्रतिबिम्ब-भाव प्रकट करती हैं—

‘अपाणिपादो, जवनों ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुर्मयं पुरुषं महान्तम्’ ॥

‘मानस’ की ‘सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा’ १, ‘सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा’ १, ‘जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई’ १ जैसी उक्तियाँ भी श्रुतिके ‘तत्त्वमसि’, ‘अहं ब्रह्मास्मि’, ‘ब्रह्माविद् ब्रह्मैव भवति’ आदि महावाक्यों की रूपान्तरमात्र हैं ।

पञ्चतन्त्र, चाणक्यनीति, भर्तृहरिशतक, हितोपदेश आदि उत्तम कोटिके प्रचलित नीति-ग्रन्थों के नीतिमय वचनों के रुचिर सञ्चयसे भी ‘मानस’-कोषकी शोभा बढ़ती है । पहले ‘हितोपदेश’ के कुछ नमूने लीजिये—

‘वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा ।

शरीर-धर्म-कोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते’ ॥

इस नीतिको गोस्वामीजीने यों ग्रहण किया है—

‘सचिव वैद गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस ।

राज धरम तन तीनि कर होइ बेगिही नास ॥

‘मानस’ सुन्दर० ३७.

श्लोकमें वर्णित नीति ग्रहण अवश्य की गयी है, परन्तु उसमें मूलकी अपेक्षा अधिक व्यापकता और रमणीयता लायी गयी है । ‘भय आस’ जोड़कर कविने अर्थमें कितनी तीव्रता ला दी है । श्लोक केवल इतना ही संकेत करता है कि ये तीनों जिस राजा की हाँमें हाँ मिलानेवाले होते हैं वह शीघ्रातिशीघ्र शरीर, धर्म और कोषरहित हो जाता है । गोस्वामीजीके दोहेसे यह बात तो निकलती ही है, साथ ही सर्वसाधारणके लिए भी सिद्धान्त निरूपित है ।

एक दूसरा उदाहरण देखिये—

‘सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं जनकं सुतम् ।

योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद’ ॥

इसके भावको बाबाजीने कैसे दर्शाया है, यह नीचेकी पंक्तियाँ प्रकट करती हैं—

‘भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥’

होइ विकल सक मनहिं न रोकी । जिमि रवि मनि द्रव रबिहि बिलोकी’ ॥

इसे कौन नहीं मानेगा कि श्लोकका भाव ग्रहण करके भी तुलसीने उसके अश्लील दंगको तिरस्कृत कर दिया है ।

‘चाणक्यनीति’ की भवितव्यताकी विशेषता प्रकट करनेवाली निम्नांकित एक उक्ति देखिये—

‘तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः । सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता’ ॥

इस भावको गोस्वामीजीने यों लिया है—

‘तुलसी जस भवितव्यता तैसइ मिलइ सहाइ ।

आपु न आवइ ताहि पढ़िं ताहि तहाँ लेइ जाइ’ ॥’

१. ‘श्वेता’, ३:१९ । २. ‘मानस’, उ० ११०. ६ । ३. ‘मानस’, उ० ११७. १ । ४. वही, अयो० १२५. ३ । ५. ‘हितोपदेश’, विग्रह कथा ८, श्लोक १०४ । ६. ‘हितोपदेश’, मित्रलाभ कथा ५, श्लोक १६५ । ७. ‘मानस’, अरण्य० १६. ५, ६ । ८. ‘चाणक्यनीति’, ६:६ । ९. ‘मानस’, बा० १५९. ।

दोहेमें श्लोककी केवल दूसरी पंक्तिका भाव गृहीत है, पर उसमें उत्कर्ष लानेके लिए कुछ और बढ़ा दिया गया है। 'आपु न आवइ ताहि पहिं ताहिं तहाँ लेइ जाइ' जोड़कर कविने भवितव्यताका अमित प्रभाव भी दिखा दिया है। 'जस भवितव्यता तैसइ मिलइ सहाइ' कह देनेसे तो कोरा सिद्धान्त-वाक्य ही रह जाता।

'अन्तमें, देखना चाहिये कि तुलसीने भर्तृहरिके नीतिमय वचनोंको किस रूपमें अपनाया है। भर्तृहरिका कथन कथन है—

‘पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुहां निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलणमिदं प्रवदन्ति सन्तः’^१ ॥
इधर गोस्वामीजी कहते हैं—

‘कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपति काल कर सत गुन नेहा। सुति कह संत मित्र गुन एहा’ ॥

कहना नहीं होगा कि गोस्वामीजीकी उत्तिमें अधिक मार्मिकता है। श्लोकमें 'आपद्गतं न जहाति' की कोई मार्मिक व्यञ्जना नहीं, पर 'विपति काल कर सतगुन नेहा'में गम्भीर व्यञ्जना है। इसी प्रकार 'देत लेत मन संक न धरई' जिस गूढ़ भावका द्योतक है उसका 'ददाति काले' कदापि नहीं। अस्तु, हम देखते हैं कि तुलसीने भर्तृहरिका भाव लिया है अवश्य, पर उसे अधिक रमणीय बना लिया है।

भर्तृहरिका एक उदाहरण और देखिये—

‘कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशौ लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः’^२ ॥
यह भाव 'मानस'में इस रूपमें गृहीत हुआ है—

‘नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥
लोभपास जेहि गर न बधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया’^३ ॥

दोनों अवतरणोंको जाँचते हुए यह बात फिर दुहरानी पड़ती है कि हमारे कविने भर्तृहरिका भाव तो अवश्य ग्रहण किया, पर उसे अपनी कलासे औरका और मनोश रूप दे दिया है। भर्तृहरिके 'यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः'से केवल यही भाव निकलता है कि जिसका हृदय क्रोध-रूप अग्निकी ज्वालासे दग्ध नहीं होता, किन्तु तुलसीके 'घोर क्रोध तम निसि जो जागा'से और गूढ़ व्यञ्जना होती है, अर्थात् क्रोध आनेपर भी जिसका विवेक कुण्ठित नहीं होता। 'लोकत्रयं जयति कृत्स्नं स धीरः'से 'सो नर तुम्ह समान रघुराया' न जाने कितनी गम्भीर शक्ति, पराक्रम आदिका व्यञ्जक है।

पाणिनिके सूत्रकी एक शुष्क कणिका भी देख लीजिये—

‘इवयुवमघोनामतद्धिते’^४ !

इसीके आधारपर गोस्वामीजीने इन्द्रकी खबर ली है—

‘सरिस स्वान मधवान जुबानू’^५

१. 'नीतिशतक', श्लोक ७३। २. 'मानस', विक्रि० ६. ३, ४, ५। ३. 'नीतिशतक', श्लोक १०८। ४. 'मानस', विक्रि० २०. ४, ५। ५. 'सिद्धान्तकौमुदी', ६:४:१३३। ६. 'मानस' अयो० ३००.८।

विविध प्राचीन आर्ष-ग्रन्थ-पुष्पोंसे हमारे तुलसी मिलिन्दने विशिष्ट भव्य भावोंके मकरन्द ग्रहण कर उसे अपनी नवनवोन्मेषकारिणी प्रज्ञाके सहारे भव्यतर भावोंमें परिणत कर अपने 'मानस' मधुकोषमें जिस प्रकार सन्निहित किया है, उसकी अनेकानेक झलक दिखानेके लिए लेखको अब अधिक बढ़ानेका अवकाश नहीं, तुलसी-जैसा सर्वग्राही मधुप ही उनके मधुकोषके संचित मधुकणोंका समस्त उद्गम दिखा सकता है।

भावानुरूप शैली

'मानस'में प्रयुक्त भावानुरूप शैलीके अन्तर्गत आनेवाली रसानुरूप, पात्रानुरूप, स्थिति, स्थान और अवसरानुरूप विविध शैलियों अथवा स्तुतिशैली, दार्शनिक शैली एवं उपदेशात्मक शैलीके जो नमूने मिलते हैं उनसे भी तुलसीकी अनोखी सन्दर्भण-कला प्रकट होती है। सारे ग्रन्थमें इन्हीं मनोहर शैलियोंके स्वरूप स्पष्टतया लक्षित होते हैं और उनमें प्रसंगानुवृत्त तदाकारता दृढ़ित होती है। अवकाश नहीं कि हम इन सभी प्रकारकी शैलियोंके मार्मिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन सबकी विशेषताओंको उद्धाटित करें, तो भी चलते दंगसे इनके स्वरूपका संकेत तो करना ही होगा।

पहले अन्तिम तीनों प्रकारोंकी शैलियोंका वैशिष्ट्य सूत्ररूपमें समझ लीजिये। स्तुतिशैलीके तत्सम संस्कृत शब्दोंके प्रचुर प्रयोग और सामाजिक पदलालित्यके मंजु प्रवाहमें प्रेमोद्रेकके कारण प्रेम-लक्षणा भक्तिका रसास्वादन होता है। विचार-प्रधान या दार्शनिक शैलीमें ब्रह्मपरक तार्किक शब्दोंकी योजनाके बाहुल्यके साथ नीरसताका संयोग है। उसमें हृदयके रमनेका स्थान संकुचित है। उपदेशात्मक शैलीमें, यद्यपि नीतिमय वचनोंका ही आधिक्य है, तथापि उपदेशकके कोमल भावोंसे आवृत रहनेके कारण सामान्यतः उनकी रमणीयता बनी हुई है।

अवसर और हृदयका घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यापक रूपसे अवसर दो प्रकारका होता है—सुखात्मक और दुःखात्मक। इन्हीं दोनोंसे प्रभावित होकर हृदय नाच उठता है या बैठ जाता है। यद्यपि सभी अवसरोंकी संख्या बताना कठिन है, तथापि एक मोटे हिसाबसे कहा जा सकता है कि प्रिय-मिलन, प्रिय-सान्निध्य, इष्ट-सिद्धि, सन्तान-प्राप्ति, विवाहोत्सव, पुत्राभ्युदय, यज्ञ-प्राप्ति आदि सुअवसर हैं। इनके विपरीत प्रसंग कुअवसर कहे जा सकते हैं। 'मानस'में दोनों प्रकारके अवसरोंके प्रसंगपर मानव-हृदयकी सूक्ष्माति-सूक्ष्म दशाका अंकन है। ग्रन्थमें राम-जन्मोत्सव, उनका विवाहोत्सव तथा उनका वनसे प्रत्यागमन आदिसे बढ़कर सुअवसर क्या होंगे? अतः इन्हीं प्रसंगोंको सुअवसर परिचायक शैलीके उदाहरणके रूपमें देखा जा सकता है। उक्त प्रसंगोंकी शैलीका मर्म समझनेके उपरान्त हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि इन सबमें एकरूपता है। इनकी पदयोजना चहल-पहलका दृश्य उपस्थित करनेमें समर्थ होते हुए हमारी सुखात्मक वृत्तिको सजग करती है। फलतः हमारा मन सुअवसरकी आनन्दानुभूतिमें रम कर उसका मानसिक चित्र देखने लगता है। सुअवसरके सभी प्रसंगोंमें कविने ऐसे ही कोमल आकर्षक और सरस पदोंकी योजना की है जिससे उत्कल्ल वातावरणकी सृष्टि हो उठे।

कुअवसरोंके प्रसंगोंकी शैलीका भी अपना एक विशेष रूप है जो दुःखात्मक वृत्तियोंके प्रकाशनमें अद्वितीय है। राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, सीता-हरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदिसे बढ़कर कुअवसर क्या होंगे? इन सभी प्रसंगोंकी शैलीका परस्पर मिलान किया जाय तो इन सबमें साम्य मिलेगा। उनमें ऐसे अप्रस्तुत और पदोंकी योजना है कि वे सब हृदयमें दुःखानुभूति कराकर एक उत्साहहीन वातावरणका दुर्मनस्क मानसिक दृश्य भी उपस्थित करते हैं।

स्थिति और स्थानका महत्त्व सामान्य नहीं। इनके समक्ष छोटे-बड़े सभी किसी-न-किसी अंशतक नत-मस्तक होते हैं। इसके अनुसार मानव-हृदयके भाव-चित्र चित्रित होते हैं। अतः इनके अनुरूप भी

परे', 'कबालू' आदि शब्दोंका निकलना उसके कथनको और भी स्वाभाविक बना देता है। कथनमें उसके हृदय और व्यक्तित्वकी नैसर्गिक अभिव्यञ्जना है।

रसोंके स्वरूपपर ध्यान देनेसे इसकी स्वयंसिद्ध-सी प्रतीति होती है कि सभी रसोंकी अभिव्यञ्जना एक ही शैलीमें नहीं हो सकती। कवीश्वरोंको भी अपनी कविता रसानुरूप बनानेके लिए शैलीके त्रिविध गुणोंकी मर्यादाका अतिक्रमण करनेपर कटाक्षका लक्ष्य होना पड़ा है। कालिदासका युद्ध-वर्णन सफल नहीं माना जाता, क्योंकि उसमें ओजकी जगह माधुर्य गुण ही व्यक्त होता है। भवभूतिकी (जिनकी शैली, संस्कृत-साहित्यमें भावानुरूप होनेके कारण उत्तम मानी गयी है) सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने रसानुरूप ही माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणोंका प्रयोग किया है। हिन्दी-साहित्यमें भवभूतिके समान ही रसानुरूप शैलीका व्यवहार करनेवाला यदि कोई महाकवि है तो वे हैं—गोस्वामी तुलसीदास। समस्त 'मानस'के किसी स्थलमें किसी रस विशेषके सभी उपकरणोंके साथ तद्रसानुरूप गुण भी उस रसके प्रमुख उपस्कारक-की भाँति वर्तमान है और वह रसके उत्कर्षको और भी श्रीसम्पन्न करता है। यदि रस कोमल भावपर टिकनेवाला है तो उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण सोनेमें सुगन्धकी कहावतको चरितार्थ करते दिखाई पड़ते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

‘कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लपन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्ही ॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा । सिय-मुख-ससि भए नयन चकोरा ॥
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहु सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥
देखि सीय सोभा सुख पावा । हृदय सराहत बचन न आवा ॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई । बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥’

कहना न होगा कि शृंगाररस कोमल भावोंसे ही परिपुष्ट होता है। ऐसे भावोंकी व्यञ्जनाके हेतु कविने जिस शैलीको चुना है उसमें माधुर्य गुण तो ओतप्रोत है ही, साथ ही नाद-सौष्टवका गुञ्जार भी कितना मधुर लगता है। यहाँ चाहे किसी अभिव्यञ्जनावादीकी रंगत देखिये, चाहे पोपके 'साउण्ड मस्ट इको दी सेन्स'की बहार। अवतरणमें एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसमें माधुर्य गुण न हो। प्रसाद गुणका तो कुछ कहना ही नहीं वह तो स्वच्छ दर्पणकी भाँति झलक ही रहा है।

रसानुरूप शैलीके अन्यान्य उदाहरण न देकर उसके सम्बन्धमें हम इतना ही कहना चाहते हैं कि सारे ग्रन्थमें जहाँ कहीं रसका पूर्ण परिपाक दिखाया गया है वहींकी शैली उस रसविशेषके भावोंको व्यञ्जित करती हुई उपर्युक्त प्रसाद, माधुर्य अथवा ओज गुणका पल्ला पकड़े चलती है।

प्रबन्धानुरूप छन्द-योजना

‘मानस’की प्रबन्धानुरूप छन्द-योजनासे भी अपूर्ण सन्दर्भ-कलाका परिचय मिलता है। गोस्वामीजीने अपने प्रबन्धका प्रणयन करनेके पूर्व भली भाँति विचार कर लिया था कि उनके पूर्ववर्ती कवियोंके द्वारा प्रबन्ध-रचनाके लिए अवधीमें दोहा-चौपाईका जो प्रयोग हुआ वह बहुत ही उपयुक्त था। उनका दृढ़ विश्वास था कि दोहा-चौपाईके लिए अवधीसे बढ़कर दली भाषा और प्रबन्ध कथा प्रवाहित करनेके लिए दोहा-चौपाईसे बढ़कर दूसरा छन्द न होगा। उन्हें यह भी मालूम था कि हिन्दीके दोहा-चौपाई छन्द

अपभ्रंशके 'चुप्पई', 'दुवई' और 'दूहा' छन्दोंके विकसित रूप हैं, न कि फारसी मसनवियोंमें प्रयुक्त तत्सदृश छन्दोंके ।

यद्यपि गोस्वामीजीने दोहा-चौपाईको प्रबन्ध-रचनाका मेरुदण्ड समझा, तथापि उन्होंने यह नहीं माना कि प्रबन्धका कलेवर केवल इन्हीं दो छन्दोंसे पूर्णतया सुगठित और आकर्षक होगा । फलतः उन्होंने प्रबन्धसौष्ठवके लिए दोहा-चौपाईके अतिरिक्त कुछ चुने हुए अन्य प्रकारके छन्दोंका उचित प्रयोग भी किया है । उनके ऐसे प्रयोगका परिणाम ऐसा नहीं हुआ है कि 'मानस' भी केशवकी 'रामचन्द्रचन्द्रिका' की भाँति छन्दोंका 'अजायबघर' हो गया हो, प्रत्युत उससे उनके प्रबन्धकी एकरूपता, सुषमता और आदर्श छन्दःप्रयोगकी प्रतिष्ठा होती है ।

प्रबन्ध-द्वारपर सर्वप्रथम जिन छन्दोंके दर्शन होते हैं वे हैं—संस्कृतके श्लोक । प्रत्येक काण्डका मंगलाचरण संस्कृत छन्दोंसे प्रारम्भ होता है । मानों कवि प्रबन्ध-कथाके छन्दःप्रवाहका उद्भव इन्हींसे सूचित करना चाहता है । उद्भव-स्थानके इन छन्दोंका देववाणीमें होनेका उद्देश्य क्या हो सकता है ? प्राचीन संस्कृतके प्रबन्ध-काव्योंकी सरणिसे 'मानस' भी सम्बद्ध रहे, सम्भवतः इसी लक्ष्यकी पूर्तिके लिए ऐसा किया गया है । गोस्वामीजी यह भली-भाँति जानते थे कि जिस भाषामें मैं अपना प्रबन्ध लिख रहा हूँ वह संस्कृत-परिवारकी है । संस्कृतके विद्वज्जनोंमें यह भाव न आने पाये कि संस्कृतकी उपेक्षा करके प्रबन्ध 'भाषा' में लिखा गया है । संस्कृतके प्रति अपनी आस्था प्रकट करनेके लिए भी आरम्भ संस्कृतश्लोकोंसे किया गया है । प्रबन्धकी समाप्तिपर संस्कृतके दो छन्द लिखकर मानों ग्रन्थकी इति भी संस्कृतमें की गयी है^१ ।

प्रबन्धमें प्रयुक्त संस्कृतके छन्द हैं—अनुष्टुप^२, शार्दूलविक्रीडित^३, वसन्ततिलका^४, इन्द्रवज्रा^५, मालिनी^६, वंशस्थविल^७, रथोद्धता^८, नगस्वरूपिणी^९, एवं स्रग्धरा ।^{१०} ये महाकाव्यके प्रत्येक सर्गके आरम्भमें छन्दपरिवर्तनका नियम भी पूरा करते गये हैं । क्षेमेन्द्र-कृत 'सुवृत्त-तिलक' में संस्कृतके उद्भट कवियोंकी छन्द रचनापर विचार रखकर दिखाया गया है कि अमुक वर्ण्य विषय अमुक छन्दमें होनेपर अधिक फबता है । उक्त ग्रन्थके अनुसार अनुष्टुपका प्रयोग ग्रन्थारम्भ, कथाविस्तार, शान्ति-उपदेश, सर्वसाधारण वृत्तान्त आदिके कथनमें अत्युत्तम माना गया है^{११} । हमारे कविने विचार कर ही अनुष्टुपका प्रयोग कथारम्भमें किया है । 'मानस' में प्रयुक्त सभी शार्दूलविक्रीडित छन्दोंके भीतर झाँकनेसे पता चलता है कि इनमें राम और शिवके शौर्य, तेज, कान्ति, कीर्तिकी दीप्ति दीपित है । शौर्यादिके वर्णनके लिए यह छन्द बहुत ही उपयुक्त माना भी गया है^{१२} ।

संस्कृत वृत्तोंकी इस संक्षिप्त चर्चाके उपरान्त अब 'मानस' के दोहा, सोरठा, चौपाई, हरिगीतिका, चौपथ्या, त्रिभंगी, प्रमाणिका, तोमर, तोटक और भुजंगप्रयातकी कुछ विशेषताओंको भी समझ लेना चाहिये ।

प्रबन्ध-प्रवाहमें दोहा और सोरठाका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये छन्द प्रबन्धका धारा-प्रवाह संयत रखनेके लिए कहीं विश्रामदायकका कार्य करते हैं तो कहीं प्रबन्ध-कथा प्रवाहित रखनेके हेतु नूतन वस्तु

१. 'मानस', उत्तरकाण्डकी समाप्तिपर दिये हुए दो श्लोक । २. दे० 'मानस', बा० मं० श्लोक १, ५; लं० मं० श्लोक ३ । ३. दे० वही, ६; अयो० १; अरण्य० मं० १, २; किष्कि० मं० १, २; सुन्दर० मं० १; लं० मं० २ । ४. दे० वही, बा० मं० श्लोक ७; सुन्दर मं० श्लोक २ । ५. दे० वही, अयो० मं० श्लोक ३ । ६. वही, सुन्दर० मं० श्लोक ३ । ७. दे० 'मानस', अयो० मं० श्लोक २ । ८. दे० वही, उ० मं० श्लोक २, ३ । ९. दे० वही, उ० दो० १२२ के बाद । १०. दे० वही, लं० मं० श्लोक १ । ११. दे० 'सुवृत्ततिलक', ३:१६ । १२. वही, ३:२२ ।

उपस्थित करनेका अवसर प्रदान करते हैं, कहीं विस्तृत कथाका सार एकत्र कर उसकी झलक देते हैं तो कहीं अद्भुत सांसारिक व्यवहार-पटुताका नियम अथवा आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं तात्त्विक सिद्धान्त फैलाते हैं; यही नहीं, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आभ्यन्तरिक एवं बाह्य दृश्योंका चित्र भी इन्हीं छोटेसे छन्दोंमें यत्र-तत्र नर्तन करता हुआ दृष्टिगत होता है। सारांश यह कि वावाजी इन छोटे छन्दोंमें भी विविध विषय जड़ना जानते थे। सारे प्रबन्धमें ऐसा एक भी दोहा या सोरठा न मिलेगा जो अपने धरेमें रखी हुई वस्तुकी उत्तम व्यञ्जना न करता हो। यों तो महाकवि वर्ण्य-विषयको किसी छन्दमें ढाल सकता है, पर दोहा और सोरठा-को प्रबन्धानुरूप माननेका कारण है उनकी विश्रामदायिनी प्रकृति।

चौपाइयां तथा कुछ अन्य छन्दोंके प्रवाहमें कथानकके साथ बहते हुए पाठकको कुछ विश्रामकी अपेक्षा होती है। इसकी पूर्ति दोहा या सोरठासे की गयी है। विश्रामके बाद कथाप्रवाह फिर नवीन गतिसे उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है और उसमें विराम एकाकारता नहीं आने पाती। गंगानाचरणके संस्कृत छन्दोंके पश्चात् विश्रामके लिए दोहा या सोरठा आता है। तदनन्तर चौपाइयोंकी धारा बहती है, और आठ अर्द्धालियोंकी लड़ी बन जानेपर एक दोहा या सोरठा आ जाता है। यद्यपि इसी क्रमका विशेष रूपसे निर्वाह हुआ है, फिर भी कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ सात, नौ, दस या इनसे भी अधिक अर्द्धालियोंके बाद विश्राम आया है। उत्तरकाण्डमें तो प्रायः सोलह अर्द्धालियोंके उपरान्त दो या तीन दोहे अथवा दो दोहे और एक सोरठका विश्राम पड़ता है। गरुड़के सप्त प्रश्नके प्रसंगमें तो लगभग चालीस अर्द्धालियोंके अनन्तर ही विश्राम है। जिन प्रसंगोंमें चौपाइयोंकी अधिक संख्याके बाद विश्राम है उन्हें विचारपूर्वक देखनेसे पता चलता है कि यदि उतना अधिक विस्तार न करके बीचमें ही विश्राम कर दिया जाता तो वर्णन अपूर्णताके कारण खटकने लगता। ऐसी ही उपयुक्तताके लिए कहीं-कहीं चौपाइयोंमें कथाप्रवाहकी गति तबतक बढ़ायी ही गयी जबतक वह पूर्णताको नहीं पहुँची। प्रवाहकी पूर्णताके लिए ही आठ अर्द्धालियोंके बाद विश्राम उपस्थित करनेका सामान्य नियम कई प्रसंगोंमें छोड़ दिया गया है।

गोस्वामीजीने अपनी चौपाइयोंके मालाके द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि इसमें प्रबन्धके अंग-प्रत्यंगकी जितनी सजीव और स्वच्छ मूर्ति दृष्टिगोचर हो सकती है उतनी अन्य किसी छन्दमें नहीं। प्रबन्धान्तर्गत ऐसी कोई वस्तु या व्यापार नहीं है जो चौपाइयोंकी मालामें संग्रथित न हो। यह दूसरी बात है कि इस मालाको विशेष मनोज्ञ बनानेके लिए अन्यान्य छन्द-रत्न भी पिरोये हों। चौपाइयोंकी सभी मालाएँ एक-सी नहीं हैं। विषयके स्वरूप, उसकी गम्भीरता, विशेषता और प्रभविष्णुताके अनुसार ये मालाएँ भी तदाकार दिखाई पड़ती हैं। एक ही छन्द चौपाई में श्रुति-नाद और शैलीकी विशेषताओंके आश्रयण द्वारा कविने नाना प्रकारके वातावरणका सफल अंकन किया है। अनेकानेक मालाओंकी चौपाइयोंमें प्रयुक्त स्वरों और व्यञ्जनोंकी नाद-श्रुतिमें ऐसा उत्तम आरोह या अवरोह है कि वे गायकोंके लिए भी उपकारक सिद्ध होती हैं। फलतः हारमोनियम, सितार, ढोल, झाँझ आदि वाद्योंके साथ प्रायः लोग इन्हें उल्लासपूर्वक गाते भी हैं। इनका संगीतत्व स्वीकार करनेमें हमें कोई आपत्ति न करनी चाहिये, क्योंकि गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंपर अपनेको रामचरितका गायक ही कहा है।

हरिगीतिका प्रयोग भी प्रबन्धके सभी काण्डोंमें किया गया है। संख्याकी दृष्टिसे यदि सर्वप्रथम

१. केवल सुन्दरकाण्डके मंगलाचरणके श्लोकोंके बाद दोहा या सोरठाका विश्राम नहीं आया है। मालूम पड़ता है कि गोस्वामीजी हनुमान्की 'रामकाज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ विस्राम' की पक्की धुन दिखाकर ही विश्राम लाना चाहते थे।

स्थान है चौपाईका तो द्वितीय स्थान है दोहा-मोरटाका, और इसके बाद तृतीय स्थान है हरिगीतिकाका । गोस्वामीजीकी चौपाइयोंकी मुख्य विशेषताके सम्बन्धमें ऊपर संकेत किया जा चुका है कि वे श्रुति-नाद और शैलीके सहारे नाना प्रकारके वातावरणकी सफल सृष्टि करती हैं, यही बात उनके हरिगीतिका छन्दोंके विषयमें भी कही जा सकती है । उनके हरिगीतिका छन्दःप्रयोगकी एक विशेषता यह भी है कि जहाँ वे किसी भाव, व्यापार, दृश्य या परिस्थितिका चित्र पूर्णतया साकार और प्रभावोत्पादक बनाना चाहते हैं वहीं चौपाइयोंकी धारा उमंगित कर उसे प्रत्यक्ष करानेके लिए झट हरिगीतिका छन्द उपस्थित कर देते हैं । प्रसंगकी शृंखला अभंग रखनेके हेतु हरिगीतिकाके प्रथमचरणमें उसके ऊपरकी अन्तिम अर्द्धालीका जो अन्तिम अंश गृहीत रहता है वह छन्द द्वारा प्रस्तुत किये गये चित्रको पूर्व प्रवाहके साथ दृढ़ता किन्तु रोचकताके साथ मिलाये रहता है । एक उदाहरण देखिये—

‘हाहाकार करत सुर भागे । खलहु जाहु कहं मोरे आगे ॥
विकल देखि सुर अंगद धाये । कूदि चरन गहि भूमि गिराये ॥
गहि भूमि पारेउ तात मारेउ बालिसुत प्रभु पहुँ गयेउ ।
संभारि उठि दस कंठ घोर कठोर रब गरजत भयेउ ॥
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधान सर बहु वरषई ।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई ॥’

छन्दके पूर्वकी अन्तिम चौपाईका अन्तिम अंश है ‘गहि भूमि गिराये’; इसी पदावलीसे आरम्भ होकर छन्द प्रवाहित होता और कविका अभीष्ट चित्र उपस्थित करता है । छन्दके इस ढंगसे प्रयोग करनेका परिणाम यह नहीं हुआ कि छन्द बीचकी जोड़ी चकती-सा लगता हो, प्रत्युत वह ऊपरकी चौपाइयोंके प्रवाहका ही अविच्छिन्न रूप-सा प्रतीत होता है । वह भावावेशके प्रवाहकी तीव्रताके कारण जल-वीचियोंकी भाँति धाराके ऊपर उठकर विचित्र चित्रकी झलक देता है । प्रत्येक काण्डकी समाप्तिके उपरान्त जब कि विशेष विश्रामकी अपेक्षा होती है तो हरिगीतिका और दोहाका मनोहर जोड़ा देखते ही बनता है ।

यद्यपि यह बताना कठिन है कि अमुक वर्ण-विषयके प्रकाशनार्थ हरिगीतिका विशेष उपयुक्त है, तथापि बालकाण्डमें पार्वती एवं जानकीके विवाहके प्रसंगोंमें इस छन्दकी मालाओंकी छटा निराली ही दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार स्तुतियोंके प्रसंगोंमें भी । इस आधारपर कहा जा सकता है कि विशेष उल्लासमय वातावरणके प्रसंगमें गोस्वामीजीको इस छन्दका प्रयोग विशेष प्रिय था ।

चौपय्या, त्रिभंगी और प्रमाणिका छन्दोंका प्रयोग अनेक स्थलोंमें नहीं है । इनके प्रयुक्त स्थलोंके आधारपर यही कहा जा सकता है कि अपने प्रयोग-स्थलपर ये वैसे ही रमणीय लगते हैं जैसे गगन-पटलपर आखण्डल-चाप । इन त्रिविध छन्दोंके प्रत्येक चरणमें जो कई विराम-पर्व पड़ते हैं उनके कारण इनमें प्रकृतिः भावावेश चेतनकी असीम क्षमता है । इसीसे इन छन्दोंका प्रयोग कविने ऐसे ही प्रसंगोंमें किया है जहाँ बिना किसी अपवादके हमारी वाणी आनन्दातिरेकमें प्रेमविभोर होकर विलम्बी हुई ही निकलेगी । इन छन्दोंमें आनन्दोल्लासकी साकार प्रतिमा दिखाई पड़ती है । जैसे आनन्दातिरेकसे हृदय उछलने लगता है वैसे ही ये छन्द भी अपने वातावरणके अपार आनन्द अथवा भावाधिक्यके भारसे मचलते और

१. दो० ‘मानस’, बा० दो० १९१ के आगे ‘भये प्रकट कृपाला-दीन-दयाला’ ‘ते न परहि भव कृपा’ । वही, बा० दो० २१० के आगे ‘परसत पद पावन, लोक नसावन,’ ‘गह पति लोक अनंदभरी’ । वही, अरण्य० दो० ३ के आगे ‘नमामि भक्त वत्सल’ ‘त्यदीयभक्ति संयुता ।

अठखेलियाँ करते चलते हैं। उनकी गतिके साथ हमारे हृदयका तादात्म्य हो जाता है और भावावेशमें हमें आत्म-विस्मृति-सी हो जाती है।

तोटक और भुजंगप्रयातकी उपयुक्तता, उनकी सजीवता और सौन्दर्य उनमें की गयी स्तुतियोंमें देखते ही बनता है। ग्रन्थभरमें पहलेका प्रयोग केवल तीन^१ स्थलोंपर किया गया है और दूसरेका सिर्फ एक^२ स्थानपर। तोमर छन्दका प्रयोग युद्ध-वर्णनमें प्रायः बहुत उपयुक्त माना गया है। जहाँ युद्धका संकुल वातावरण, उसकी भयोत्पादकता, विह्वलता, वीभत्सता और इसी प्रकारके अन्यान्य ध्यापारोंसे हृदयकी धुकधुकी बढ़ानेवाला, आँखोंको झपानेवाला युद्ध-वर्णन नितान्त आवश्यक था वहीं हमारे कविने तोमर छन्दका प्रयोग किया है। नीचे, दो प्रसंगोंसे तोमर छन्दके केवल दो-दो चरण उद्धृत किये जाते हैं—

‘तब चले बान कराळ, फुंकरत जनु व्याल ।
कोपेउ समर श्रीराम, चल बिसिख निसित निकाम ।
... .. कटकटहिं कठिन कराळ^३ ।’
... ..

‘जब कीन्ह तेहि पाखंड, भये प्रगट जंतु प्रचंड ।
बैताल भूत पिसाच, कर धरे धनु नाराच ।
... .. तेहि मध्य कोशल राज^४ ।’

छन्दके ये अर्द्धचरण ही फूत्कारकी दबी ध्वनि उत्पन्न करते हुए कविके अभिप्रेत वातावरणकी जैसी अभिव्यक्तिकर रहे हैं उसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। जिन दो प्रसंगोंसे ऊपरके अवतरण दिये गये हैं, ग्रन्थभरमें वे ही दो प्रसंग हैं जहाँ गोस्वामीजीने इस छन्दका प्रयोग युद्धवर्णनमें किया है। एक तीसरा प्रसंग भी है^५ जहाँ उन्होंने तोमरमें ही स्तुतिकी मधुर श्रुति भरकर यह भी दिखा दिया है कि कुशल कलाकार विपरीत छन्दोंको भी अपने विषयानुरूप बना सकता है।

‘मानस’ की प्रबन्धानुरूप छन्द-योजनाके सम्बन्धमें एक वाक्य और कहकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है। गोस्वामीजीकी प्रबन्ध-धारा मानों उनके संस्कृत वर्णिकोंके शुभ्र हिम-शिला-खण्डसे प्रसूत होकर चौपाइयोंकी सम भूमिमें सहज स्वाभाविक गतिसे चलती है, मार्गमें दोहों-खोरटोंके मोड़पर विश्राम करती हुई, समय-समयपर प्रसंग एवं भावावेशरूप वायुके झकोरोंसे विलोडित होकर अपनी मनमोहक लहरोंमें सजीव चित्र दिखानेके लिए हरिगीतिका, चौपय्या, त्रिभंगी, प्रमाणिका, तोटक, तोमर आदिके क्षेत्रमें अपनी इटलाहट दिखाती कल-कल नाद करती हुई उत्तरोत्तर राम-सागरमें लीन हो जाती है।

संवाद-योजना का कौशल

रामचरित मानसमें संवाद-योजनाके एकसे एक बढ़कर जो कलात्मक रूप दिखाई देते हैं वे सभी कवि की अनूठी संदर्भण कलाके बेजोड़ उदाहरण हैं। विश्वके प्राचीनतम साहित्यकी किसी भी विधा को देखिए उसमें संवादतत्त्वका अत्यन्तभाव नहीं मिलेगा। संवादतत्त्व किसी-किसी विधा का मेरुदंड होता है और किसीका आनुषंगिक अंग। प्रकृष्ट प्रबन्ध काव्यों और उत्कृष्ट नाटकोंमें संवाद-योजनाकी अद्भुत कला जगमगाती है। गद्यकी कहानी और उपन्यास—जैसी विधाओंमें भी संवादीकी धज निराली होती है। साहित्य

१. ‘मानस’, लं० दो० ११० और ११४ के आगेका छन्द तथा उ० दो० १३ के आगेका छन्द।

२. दे० ‘मानस’, उ० दो० १०७ के आगेका छन्द। ३. ‘मानस’, अरण्य० १९, १-१३ ४. वही, लं० १००, १-१६। ५. वही, लं० ११२, १-१६।

की कतिपय विद्याओंमें सुनियोजित संवादको आजकी नयी प्रचलित शब्दावलीमें वार्तालाप या कथोपकथन का पर्याय समझना चाहिए। 'संवाद' शब्दकी उत्पत्ति (सम + वद + धज) के योगसे हुई है। इसका अर्थ होता है—मिलकर बोलना, बातचीत, वार्तालाप, कथोपकथन, चर्चा, वाद, विवाद, सूचना, समाचार, स्वीकृति, मेल-जोल, समानता आदि।^१

प्राचीनतम भारतीय वाङ्मयके अनुशीलनसे अवगत होता है कि यहाँ संवाद योजनाकी परम्परागत पद्धति-सी चली आ रही थी। तभी तो वेदों, उपनिषदों, संहिताओं तथा पुराणोंमें अनेकानेक संवाद-योजनाएँ उपलब्ध होती हैं। आदि कवि कृत रामायण अथवा महाभारत सटश महाकाव्योंमें भी विविध संवादोंकी अवतारणाएँ हैं। ऋग्वेदमें प्राप्त यम-यमी-संवाद अथवा पुरुखा-उर्वशी-संवाद लोक-विश्रुत हैं। उसी प्रकार उपनिषदोंमें नचिकेता-यमराज-संवाद या याज्ञवल्क्य, गागी, जनक आदिके संवाद पाये जाते हैं। अनेक उपनिषदोंमें गुरु-शिष्यके संवाद मिलते हैं। संहिताओंमें विशेष मान्य शिव-संहिताके शिव-पार्वती-संवाद बड़े ही रोचक और महत्वपूर्ण हैं। तन्त्र ग्रन्थ भी प्रायः शिव-पार्वती-संवादके रूपमें नजर आते हैं। पुराणोंका तो कुछ कहना ही नहीं, उनमें तो संवाद ही संवाद दिखाई पड़ते हैं। सर्वोत्कृष्ट महापुराण भागवतमें समाविष्ट कुछ संवाद ये हैं—नारद-व्यास, संवाद^२; कर्दम—कपिल-संवाद^३; देवहूति-कपिल-संवाद^४; दिति-कश्यप-संवाद^५; अजामिलके आख्यानमें विष्णु-दूत-यमदूत-संवाद^६; नारद-युधिष्ठिर-संवाद^७; बलि-बामन-संवाद^८; नन्द-उद्धव-संवाद^९; उद्धव-गोपी-संवाद^{१०}; श्रीकृष्णोद्धव-संवाद^{११} आदि। महाभारतमें भी संवादोंकी कमी नहीं। उसके प्रसंगोंके उदाहरण बढ़ानेसे कोई लाभ नहीं। रहा आदि कविका रामायण। उसमें भी संवादोंकी रुचता देखते ही बनती है। हनुमानकी वार्तालाप-कुशलता सर्वत्र देखनेको मिलती है। दशरथकी सम्भाषण शैली भी बड़ी आकर्षक है^{१२}। कहीं-कहीं रावणके कथन भी बड़े सुन्दर हैं^{१३}। वाल्मीकि-ने अपने रामायणके अयोध्याकाण्डमें वन-गमनके सिलसिलेमें राम-लक्ष्मण-संवाद^{१४}; चित्रकूट प्रस्थानके अवसरपर गुह-भरत-संवाद^{१५}; भरत-भरद्वाज-संवाद^{१६} की योजनामें कमाल किया है। आगे चलकर संस्कृत साहित्यके महाकाव्यों और नाटकोंमें संवाद योजनाकी गतिविधिमें प्राचीन संवाद योजनाकी अपेक्षा अधिक विकास हुआ। उसके स्वरूप और उद्देश्य दोनोंमें अनेक रूपता आयी। फलतः संवाद अधिकाधिक संवेद्य, संतुलित, सारगर्भित और नाटकीय होने लगे। उनमें चमत्कारके साथ हृदय स्पर्शिता एवं प्रभविष्णुता भी बढ़ी। इस प्रकार संवाद-योजना प्राचीन संस्कृत वाङ्मयकी परम्परागत वस्तु रही, जो उत्तरोत्तर विकसित और परिष्कृत होकर आज भी हमारे साहित्यके अनेक रूपोंको सुषमा और शक्ति प्रदान करती है।

प्राचीन परम्परागत संवादोंकी रचना प्रायः ज्ञान, योग, किंवा भक्तिके साधना-मार्गसे सम्बन्धित सिद्धान्तोंके विषयमें उठनेवाले संशयोका निवारण करनेकी दृष्टिसे, किसी सम्प्रदाय विशेषके मतको उपदेश के द्वारा हृदयंगम करानेकी दृष्टिसे, अथवा समाजमें वर्णाश्रम धर्म एवं सदाचारकी स्थापना तथा स्वेच्छा-चारिता और दुराचारका निवारण करनेकी दृष्टिसे की गयी है। ये संवाद भारतीय संस्कृतिके अनुरूप नैतिक तथा अध्यात्मिक विचारोंके द्युतिमान रत्न हैं। जो व्यष्टि और समष्टि दोनोंको अपनी ओर आकर्षित करते

१. वा० शि० आष्टि : 'संस्कृत शब्द कोश' पृ० १०४८। २. दे० 'भागवत' अ० ५। सर्ग ५।८-४०।
३. दे० वही अ० ३। सर्ग २४। ४. दे० वही अ० ३। सर्ग २५। ५. दे० वही अ० ३। सर्ग १४। ६. दे० वही अ० ६। सर्ग ३। ७. दे० वही अ० ७। सर्ग १। ८. दे० वही अ० ८। सर्ग १९। ९. दे० वही अ० १०। सर्ग ४६। १०. दे० वही अ० १०। सर्ग ४७। ११. दे० वही अ० ११। सर्ग ६। १२. दे० 'वाल्मीकि रामायण' अयो० सर्ग २। १३. दे० वही युद्धकाण्ड सर्ग १६। १४. दे० 'वाल्मीकि रामायण' अयो० सर्ग ३१। १५. दे० वही अयो० सर्ग ८५। १६. दे० वही अयो० सर्ग ९०।

हैं, लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा देते हैं। इनकी शैली सामान्यतः वर्णनात्मक एवं बोधपर है। इनके विस्तारका एक विशेष दंग है। प्रत्येक पुराणमें किसी अध्याय विशेषके 'अथ'के पश्चात् शौनक, सूत, नारद या तत्पुराणान्तर्गत प्राप्त अमुक पात्र 'उवाच'से संवादोंका क्रमिक प्रवाह चलता है। कहीं-कहीं ये स्तुतियोंके रूपमें मुखरित होकर हृदयको छूते और भक्तिरसके अमृतमय घूट-से प्रिय लगते हैं। अनेकानेक ऐसे संवाद भी मिलते हैं जिनमें दार्शनिक पारिभाषिक शब्दोंका बाहुल्य होनेके साथ ही साम्प्रदायिक विचारोंके कोरे उपदेश ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। फलतः वहाँ विरसता ही हाथ लगती है। इन पौराणिक संवादोंके द्वारा कथा विशेषके वर्णन भी मिलते हैं, पर उनमें कथानक या वस्तुकी कला नहीं है। इसी प्रकार वे चरित्रांकनकी कलामें भी योग देनेवाले नहीं हैं।

वस्तुतः संवाद-योजनाका सांगोपांग रूप संस्कृतके महाकाव्यों और नाटकोंमें निखरा है। वहींसे हम संवाद-योजनाकी महत्ताका अनुमान कर सकते हैं; उसकी उत्कृष्टता, सफलता, विफलता आदि सभी बातोंकी परख भी कर सकते हैं। सफल संवाद-योजना कलाकारकी बहुत बड़ी सफलता है। संगत और सुझौल संवाद कथानकको गतिशील बनाते हैं, पात्रोंके हृदयस्थ गूढ़ातिगूढ़ भावोंकी अभिव्यक्ति करने और उनके शील निरूपणमें सहायक होते हैं। वे वस्तु-व्यंजक, चमत्कारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक और सरस होते हैं। उनके द्वारा शिष्टाचार और लोकव्यवहारकी बहुत-सी बातें प्रकट की जाती हैं, साथ ही काव्यमें समाविष्ट जीवनके महत् उद्देश्यकी अनुभूति भी मूर्तिमान रहती है।

संवाद-योजना-संबंधी उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चाके उपरान्त अब मानसमें अपनायी गयी योजनाकी ओर आइए। कहना नहीं होगा कि संवाद-योजनामें भी तुलसीदास समन्वय मार्गी हैं। उनकी संवाद-योजनामें पौराणिक संवाद-योजना और विशुद्ध काव्यमयी संवाद योजना दोनोंके अपेक्षित तत्त्वोंका मणिकान्चन योग है।

तुलसीदासने 'मानस'की मुख्य रामकथा तथा उसका सारभूत अंग बनकर आनेवाली अन्य गौण कथाओंको मूर्तिमान करनेके लिए बहुत सोच-समझ कर जिन संवाद चतुष्टयकी अवतारणाकी उनका संकेत वे स्वयं देते हैं—

‘सुठि सुन्दर संवाद बर विरचे बुद्धि विचारि ।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥’

‘मानस’ बाल दोहा ३६

मानसकी कथा सुनानेके लिए मानसकारने जिन संवादोंकी योजनाका संकेत दिया है, वे परम्परागत हैं, उनकी योजनामें कविकी मौलिकता है। कथाकी परम्पराका निदर्शन देखिए—

‘संभु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥
सोइ सिव कागमुसुंढिहि दीन्हा । राम भगत अधिकारी चीन्हा ॥
तेहि सन जाग बलिक पुनि पावा । तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥’

भगवान्की लीलाके मर्मज्ञ याज्ञवल्क्य और भरद्वाज-सदृश वक्ता और श्रोताओंके बीच रामकथा आगे चलती ही रही और उसी रामकथाको तुलसीदासने अपने बाल्यकालमें गुरुके मुखसे बार-बार सुनी—

‘मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सुकर खेत ।
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ।’

आगे चलकर जब उनमें कहनेकी क्षमता आयी तो—

‘संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । राम चरित मानस कवि तुलसी ।’

बनकर सज्जनोंको अपना संवाद सुनाया । इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसकी कथा शिव-पार्वती-संवाद, काकभुशुंडि-गरुड-संवाद, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद तथा तुलसी और साधु-संत-संवादके माध्यमसे कही गयी है । स्पष्ट है कि इन संवाद चतुष्टयकी उद्भावना पौराणिक परम्पराकी देन है, पर इन चारों संवादोंका कलात्मक संव्यूहन कविकी अलौकिक प्रतिभाका परिचय देता है । ‘मानस’में पुराणोंकी भाँति इन विभिन्न संवादोंका अलग-अलग बेमेल विस्तार करके उन्हें एक साथ रख दिया गया हो ऐसी बात नहीं । यहाँ तो इन संवादोंको एक ही रामकथाकी कथनाक-शृंग्वलाकी ऐसी सुषम कड़ियोंके रूपमें उपस्थित किया गया कि वे । परस्पर मिलकर शृंग्वलाको पूर्ण बनाती हैं और कविकी संवाद-योजनाका कौशल भी प्रकट करती हैं ।

विचारणीय है कि उक्त संवादोंकी योजना कथानकको मौलिक बनाने और उसमें चमत्कार लानेके विचारसे की गयी है अथवा उसका कोई अन्य उद्देश्य भी रहा । यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास समन्ववादी, भक्ति मार्गी तथा रामके अनन्य भक्त थे । उन्हें भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता मान्य थी । अतः उन्होंने परमयोगी, भक्तिके अद्याचार्य, प्राचीन और प्रतिष्ठित शैव-सम्प्रदायके उपास्य देवता शिव तथा तांत्रिकोंकी उपस्था परमेश्वरी देवी पार्वतीके संवादका विषय रामकथाको बनाकर उसके द्वारा भक्तिकी सर्वश्रेष्ठ साधन मार्ग ठहराया । इसी प्रकार ऋषियोंमें अग्रगण्य ज्ञानी याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, अथवा काकभुशुंडि-गरुड-संवाद की योजना करनेका लक्ष्य भी शिव-पार्वती-संवादके लक्ष्यसे अभिन्न समझना चाहिये । इसी बातको यों भी कह सकते हैं कि कवि ने जिस उद्देश्यसे मानसकी रचना करनी चाही उसी उद्देश्यकी पुष्टि और समर्थन करानेके लिए उसने अन्य तीनों संवादोंको भी ‘मानस’ का अभिन्न अङ्ग बनाया । व्यावहारिक रूपसे यदि कोई सामान्य नागरिक देशकी किसी समस्या विशेषका कितना ही सुंदर सुझाव क्यों न दे, लोगोंका ध्यान उधर कम जाता है, पर उसी सुझावपर यदि प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपतिकी स्वीकृतिकी सुहर लग जाए तो कहना ही क्या । तुलसीदासकी लोकनिपुण बुद्धिने अपनी मानसी कथामें अन्य तीनों संवादोंको स्थान देकर भक्ति परम्पराके महान् आचार्य और अनन्य भक्तोंकी स्वीकृतिकी सुहर लगाकर अपने अभीष्ट उद्देश्यको अकाट्य और सर्वमान्य बना दिया है । अवतीर्ण दाशरथि राम, द्रष्टा राम, रामनाम, रामभक्ति और रामकथाके स्वरूप, महिमा और प्रभावके विषयमें तुलसीदासके जो आस्थापूर्ण गूढ़ विचार थे उन सबकी पुष्टि और समर्थनके लिए उपर्युक्त चारों संवादोंका अद्भुत संयोजन और समिश्रण किया गया है । ये चारों संवाद एक-दूसरेसे सम्बद्ध तथा एक-दूसरेके पूरक हैं । इन चारोंका कथ्य संदेश एक और अभिन्न है । तुलसी-संवादका मुख्य अङ्ग है—मानसका उपक्रम । इसकी योजना और इसके चमत्कारकी चर्चा प्रस्तुत परिच्छेद के आरम्भमेंकी जा चुकी है । यहाँ उसमें सन्निविष्ट गोस्वामीजीके आस्थापूर्ण इन विचारोंको देखिए—

‘एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द पर धामा ॥

व्यापक विस्व रूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥

सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥

इसी भक्तवत्सल भगवान् रामकी कथाकी फलश्रुति तुलसीदास स्वयं ही अपने संवादमें यों व्यक्त करते हैं—

‘जो एहि कथहि सनेह ससेता । कहिहहि सुनिहहि समुझि सचेता ॥
होइहहि रामचरन अनुरागी । कलिमल रहित सुमंगल भागी’ ॥’

उधर शिव-पार्वती-संवादके ये कथन देखिए—

‘अगुन अरूप अलख अज सोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसैं । जल हिम उपल बिलग नहि जैसे ॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ विमोह प्रसंगा ॥
राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहुँ मोह निसा लब लेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहुँ पुनि विग्यान विहाना’ ॥

शिवके द्वारा कथित रामकथाकी फल श्रुति भी द्रष्टव्य है—

‘राम कथा गिरिजा मैं बरनी । कलि मल समनि मनोमल हरनी ॥
संसृति रोग सजीवन मूरी । राम कथा गावहि श्रुति सूरी ॥
मन कामना सिद्धि नर पावा । जे यह कथा कपट तजि गावा ॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहिं । ते गोपद इव भव निधि तरही’ ॥’

उपर्युक्त ढंगकी फल श्रुतियाँ तथा रामके स्वरूप बोधक अनेक अवतरण याज्ञवल्क्य-भरद्वाज एवं काकभुशुंडि-गरुडके संवादोंमें भी देखे जा सकते हैं । अवकाश नहीं कि उन्हें यहाँ उद्धृत किया जाए ।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि उक्त चारों संवाद कहींसे गृहीत हैं अथवा कविने उनकी योजना स्वतन्त्र रूपसे की है ? मेरे विचारमें तो इन चारोंकी योजना कविकी मौलवृत्तिकी देन है । यद्यपि इन चारों के स्वरूपमें पौराणिक संवाद शैलीकी कुछ रंगत दिखाई पड़ती है, फिर भी इनमें पौराणिक संवादोंकी-सी विरमता नहीं है; ये कथानकके ढाँचेमें सोद्देश्य नियन्त्रित हैं; राम और रामकथाका मर्म समझने-समझानेमें इनकी बड़ी उपयोगिता है; ये पौराणिक संवादोंकी भाँति पूर्णतया उपदेशात्मक शैलीमें न होकर उपदेश मिश्रित भाव-व्यञ्जक शैलीमें हैं । इन चारों संवादोंमें कहीं-कहीं उनके श्रोता-वक्ता दोनोंकी भाव मग्नताकी विलक्षण दशाको देखकर आत्मविस्मृति-सी होने लगती है । इन्हें रामकथाकी परिमिति भी कहा जा सकता है, अर्थात् इन्हींके भीतर रामकथाका अमृतमय सरोवर अपनी पूर्ण छटा और वैभवके साथ शोभित है ।

आगे अन्य ऐसे संवाद भी विचारणीय हैं, जो मानसकी कथामें स्थान-स्थानपर विभिन्न पात्रोंके बीच हुए हैं । ऐसे संवादोंकी निश्चित संख्या बताना और उनकी सारी विशेषताओंको दिखाना दाल-भात का कौर नहीं है । अतः स्थानाभाववश संक्षिप्त विवेचन ही सम्भव है ।

मानस भक्तिरससे परिपूर्ण महाकाव्य है । उसमें देवी, देवता, मानव, दानव, पशु, पक्षी सभीको स्थान मिला है । फलतः पात्रोंकी बहुलताके कारण उसमें समाविष्ट संवादोंकी अधिकता और अनेक रूपता भी खूब दिखाई पड़ती है । प्रस्तुत प्रसंगमें प्रत्येक काण्डके छोटे-मोटे संवादोंको छोड़ केवल मुख्य-मुख्य संवादोंकी विवेचनाका प्रयास किया जाता है ।

प्रबन्धमें बालकांड के प्रमुख संवादोंमें उल्लेखनीय हैं—सप्तर्षि-पार्वती-संवाद, नारद-विष्णु-संवाद, भानुप्रताप-कपटमुनि-संवाद, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद आदि । अयोध्याकांड में जितने अधिक और सुन्दर संवाद मिलते हैं, उतने अन्य काण्डोंमें नहीं । इस काण्डके मुख्य संवादोंमें परिगणनीय हैं—कैकेयी-मन्थरा-

संवाद, दशरथ-कैकेयी-संवाद, राम-कैकेयी-संवाद, राम-दशरथ-संवाद, राम-कौसल्या-संवाद, सीता-राम-संवाद, लक्ष्मण-निपाद-संवाद, राम-सीतासे सुमंत्रका संवाद, राम-भरद्वाज-संवाद, राम-वाल्मीकि-संवाद, भरत-कौसल्या-संवाद, भरत-भरद्वाज-संवाद, इन्द्र बृहस्पति-संवाद, चित्रकूटमें राम-भरतादिका संवाद, कौसल्या-सुनयना-संवाद, जनक-सुनयना-संवाद, जनक-वसिष्ठादि-संवाद तथा राम-भरत-संवाद। **अरण्यकांड** में राम-अगस्त्य-संवाद, पञ्चवटीके बीच राम-लक्ष्मण-संवाद एवं नारद-राम-संवाद महत्वपूर्ण हैं। **किर्किधाकांड** का सुग्रीव-राम-संवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। **सुंदरकांड** में सुनियोजित विशिष्ट संवाद ये हैं—हनुमान-विभीषण-संवाद, सीता-त्रिजटा-संवाद, सीता-हनुमान-संवाद, हनुमान-रावण-संवाद, राम-हनुमान-संवाद, मंदोदरी-रावण-संवाद तथा विभीषण-राम-संवाद। **लंकाकांड** को सुशोभित करनेवाले मुख्य संवादोंमें मंदोदरी-रावण संवाद, रावण-प्रहस्त-संवाद, अंगद-रावण-संवाद, अंगद-राम संवाद, काल-नेमि-रावण-संवाद, भरत-हनुमान-संवाद, विभीषण-कुम्भकर्ण-संवाद तथा सीता-त्रिजटा-संवादकी गणनाकी जा सकती है। **उत्तरकांड-पूर्वार्द्ध** के अन्तिम भागमें सनकादि-राम-संवाद तथा राम-वसिष्ठ-संवाद मुख्य रूपसे नियोजित है। कांडका उत्तरार्द्ध उपक्रममें इंगित संवाद चतुष्टयका चित्ताकर्षक संगम-स्थल बना है, साथ ही काकमुशुंडि-गरुड़-संवादका विस्तृत क्षेत्र भी।

संवाद कलाकी कसौटीको ध्यानमें रखकर यदि उपर्युक्त सभी संवादोंको देखा जाए तो वे खरे उतरते हैं। उनमें पात्रोंके चरित्रांकन एवं शीलनिरूपणकी अद्भुत क्षमता है; वे परिस्थिति विशेषमें पात्रोंके हृदयकी यथेष्ट पहचान कराते हैं; उनसे पात्रोंके व्यक्तित्व का आभास मिलता है, कथानक गतिशील होता है; वे चमत्कार पूर्ण, वस्तु-व्यञ्जक तथा भाव-व्यञ्जक हैं, साथ ही अक्सरके अनुसार स्वाभाविक तथा पात्रानुकूल तो हैं ही। उनके द्वारा पात्रोंके हृदयस्थ गूढ़ विचारों तथा आदर्शोंकी अभिव्यक्ति भी की गई है। उनकी योजना-शैली सचि और नाटकीय है। वे मित, सरस और सारगर्भित हैं, हृदयको छूते हैं। उदाहरणके लिए ऊपर गिनाए प्रमुख संवादोंमेंसे कोई भी देखा जा सकता है। यहाँ स्थानाभावके कारण केवल एक उदाहरणके रूपमें माता कौसल्याकी वार्ता उद्धृतकी जाती है—

सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका ॥

राज देन कहि दीन्ह बन मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहिं भूपतिहिं प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥

जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौ पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥
पितु बन देव मातु बन देवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी ॥
अंतहु उचित नृपहिं बन वासू। बय बिलोकि हियँ होत हरौसू ॥
बड़भागी बन अवध अभागी। जो रघुवंस तिलक तुम्ह त्यागी ॥
जौ सुत कहौ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू ॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्राण प्राण के जीवन जी के ॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मै सुनि बचन बैठि पछिताऊँ ॥

अस बिचारी नहिं करउँ ठ झूठ सनेहु बड़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ ॥

देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं । राखहुँ पलक नयन की नाई ॥
 अवधि अंवु प्रिय परिजन मीना । तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना ॥
 अस बिचारि सोइ करहु उपाई । सबहि जिअत जेहिं भेंटहु आई ॥
 जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ । करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥
 सब कर आज सुकृत फल वीता । भयउ कराल काल विपरीता ॥
 बहु विधि विलाप चरन लपटानी । परम अभागिनि आपुहि जानी ॥'

संवादके बहुविध रूपोंमें से एक स्वगत रूप भी होता है। इसमें पात्र किसी अप्रत्यासित, आकस्मिक, दुःखद या सुखद परिस्थिति विशेषमें पड़नेपर मन ही मन गुनता है, सोचता है। प्रकट रूपमें कुछ कहता नहीं। इससे हृदयकी द्वन्द्वात्मक दशाकी झलक मिलती है। अतलस्पर्शी भावुक कविकी दृष्टिसे पात्र के हृदयकी द्वन्द्वात्मक दशा भी नहीं छिपने पाती। उसे वह स्वगत-कथनके रूपमें मूर्तिमानकर देता है जो पात्रके हृदयकी पहचान करानेमें बड़ा सहायक होता है। मानसके प्रायः सभी सोपानोंमें स्वगतके भी एक से एक बढ़िया उदाहरण मिलते हैं। यहाँ राजा दशरथके मनकी हलचल देखिए—

‘रामहि चितइ रहेउ नर नाहू । चला विलोचन बारि प्रबाहू ॥
 सोक बिबस कछु कहै न पारा । हृदयँ लगावत वारहि बारा ॥
 विधिहि मनाव राउ मन माहीं । जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं ॥
 सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी । विनती सुनहु सदासिव मोरी ॥
 आसुतोष तुम्ह अवढर दानी । आरति हरहु दीन जनु जानी ॥
 तुम्ह प्रेरक सबके हृदयँ सोमति रामहि देहु ।
 बचन मोर तजि रहहि घर परिहरि सीलु सनेहु ॥
 अजस होउ जग सुजसु नसाऊ । नरक परौं वरु सुरपर जाऊ ॥
 सब दुख दुसह सहावहु मोही । लोचन ओट रामु जनि होही ॥’

सीताके स्वगतकी यह झोंकी भी द्रष्टव्य है—

‘देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर ।
 भरे विलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर ॥
 नीकें निरखि नयन भरि सोभा । पितु मनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा ॥
 अहह तात दारुन हठ ठानी । समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥
 सचिव सभय सिख देइ न कोई । बुध समाज बड़ अनुचित होई ॥
 कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा । कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ॥
 विधि केहि भौंति धरौं उर धीरा । सिरस सुमन कनबेधिअ हीरा ॥
 सकल सभा कै मति भै भोरी । अब मोहि संभु चाप गति तोरी ॥
 निज जड़ता लोगन्ह पर डारी । होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥’

‘मानस’ में संवाद योजना विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस पर स्वतन्त्र रूपसे शोध-कार्य करनेकी आवश्यकता है। इस प्रसंगमें इतना ही कहना चाहता हूँ—‘तुलसीदासके समान संवाद योजनाकी कलामें पारङ्गत महाकवि हिन्दी साहित्यमें दूसरा कोई नहीं दिखाई पड़ता ।’

ग्रंथका उपसंहार

‘मानस’ के उपसंहारमें सन्दर्भ-कलाकी प्रतिष्ठा भी विचारणीय है। उपसंहारके सम्बन्धमें कृतिकार की सम्यसिद्धि इसीमें है कि वह अपने प्रबन्धविस्तारको ऐसे कलात्मक ढंगसे केन्द्रित करे कि उसकी एक ही झौंकीमें यथासम्भव ग्रंथका सांगोपांग स्वरूप नहीं तो उसका समस्त सार अध्येताके हृदय-पटलपर प्रति-विम्बित हो जाय और वह उसमें संवाहित सन्देश भी प्रकृतितः स्पष्ट समझ ले। सफल उपसंहारकी यह विशेषता ‘मानस’ के उपसंहारमें सर्वांशमें सत्य उतरती है। पहले देखिये कि इतना बड़ा ग्रन्थ कैसे केन्द्रित किया गया है। स्मरण रहे, यदि पाठक केन्द्रित करनेकी प्रक्रियाको पढ़ते समय पिष्टपेपणकी अनुभूति करने लगे तो उसमें कलाकारकी असफलता सिद्ध होगी। एतदर्थ कलाकारको ऐसी युक्तिसे काम लेना चाहिये कि पाठकके समक्ष समस्त कथाका स्मृति-चिन्ह चित्रित हों उठे, पर उसे वह पिष्टपेपण न कह सके। जिस अनन्त रामकथाका पूर्ण गान करना शेष और शारदाकी शक्तिसे भी परे है उस कथाका जो अंश गोस्वामी जी वर्णन करना चाहते थे उसे पूराकर उन्होंने प्रबन्धकी समाप्तिकी सूचना देना आवश्यक समझा—

‘गिरिजा सुनहु विसद यह कथा । मैं सब कही भोरि मति जथा ॥
रामचरित सत कोटि अपारा । मृति सारदा न धरनइ पारा ॥
राम अनंत अनंत गुनानी । जगम करम अनंत नामानी ॥
विमल कथा हरिपददायिनी । भगति होइ सुनि अनपायिनी ॥
उमा कहेऊँ सब कथा सुहाई । जो भुसुंड़ि खग पतिहि सुनाई ॥
कछुकर रामगुन कहेउँ बखानी । अब का कहउँ सो कहहु भवानी’ ॥’

भगवान्की विमल कथाका श्रवण करनेके उपरान्त उमाको जैसा सन्तोष^१ मिला उसे व्यक्त करते हुए वे अमित सुख-प्राप्ति स्वीकार करती हैं—

‘हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा । सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा ॥’

अब ऊपर उद्धृत अर्द्धालियोंपर ध्यान दीजिये। अन्तिम अर्द्धालीसे स्पष्ट है कि शिवने आज्ञा दे दी है कि समस्त कथा सुन चुकनेपर भी यदि तुम्हें कोई अन्य जिज्ञासा हो तो उसका भी समाधानकर लो। जिज्ञासु श्रोता ऐसी मनोनुकूल आज्ञा पाकर कब चुप रहता। गिरिजाने अपनी जिज्ञासा प्रकटकी—

‘तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई । कागभुसुंड़ि गरुड़ प्रति गाई ॥’

‘विरति ग्यान विज्ञान दृढ़ रामचरित अति नेह ।

बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह’ ॥’

भुसुंड़िके काक-कलेवरकी प्राप्तिका हेतु ही नहीं, अपितु इस देहमें उसे राम-चरित् क्योंकर सुलभ हुआ, कैसे स्वयं शंकरने उससे कथा सुनी, कैसे गरुड़ भी उसके पारा कथा श्रवण करनेके लिए गये—इन सभी जिज्ञासाओंका परितोष करनेके लिए उमाने शंकरसे प्रार्थनाकी। फलतः उपसंहार एक नये रूपमें विकसित होने लगा और बड़े ही स्वाभाविक ढंगसे उसमें काक भुसुंड़ि और गरुड़का प्रकरण प्रतिष्ठित हो गया।

शिवने गरुड़का वह महामोह जिसके निवारणार्थ वे चारों ओर फटफटाकर अन्तमें उनकी (शिवकी)

१. ‘मानस’, उ० ५१. १—६। २. दे० वही, उ० ५२., ५२. १—८। ३. दे० ‘मानस’, उ० ५२. ८। ४. दे० वही, उ० ५३.।

सम्मतिसे काकके पास गये इसका वृत्तान्त बताया। भुशुण्डिके रुचिराश्रममें जाते ही गरुड़का चित्त शान्त हो गया और परमानन्द-प्राप्तिके लिए उन्हें काकके मुखसे रामचरित सुननेकी प्रबल लालसा हुई—

‘सुनहु तात जेहि कारन आयउँ । सो सब भयउ दरस तव पायउँ ॥

देखि परम पावन तब आस्रम । गयउ मोह संसय नाना भ्रम ॥

अब श्रीराम कथा अति पावनि । सदा सुखद दुख पुंज नसावनि ॥

सादर तात सुनावहु मोहीं । बार बार बिनवउँ प्रभु तोहीं ॥’

उत्तम अधिकारी देव भुशुण्डिने बड़े ही उत्साहपूर्वक रामचरितका कथन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम, उन्होंने राम-चरित-सरका बखान किया, तदुपरान्त नारद-मोह और रावणावतारकी कथाका वर्णन किया, फिर रामावतार, शिशु-लीला, ऋषि-आगमन तथा विवाह आदिके प्रसंगोंको कहा, इसी प्रसंगप्रवाहकी थोड़ी-सी चौपाइयोंमें अन्यान्य सभी कथाओं और घटनाओंको भी यहीं समाविष्टकर दिया है और इसी प्रसंगकी झाँकीसे सारे ग्रन्थका स्मृति-चिन्ह हमारे मानसमें तुरन्त दीप्त हो उठता है^१। एक या डेढ़ पृष्ठमें ‘मानस’ के समस्त कथा-विस्तारको प्रसंगकी मनोहर युक्तिके केन्द्रितकर देना सामान्य सन्दर्भण-कला नहीं।

ऊपर कहा गया है कि उमाके संशयोच्छेदके वहाने काक-भुशुण्डि और गरुड़का प्रसंग बढ़ता है। मोह-ग्रस्त गरुड़ने काकके पास जाकर कथा सुनी। इस प्रसंगसे गोस्वामीजीने उभयकार्यकी सिद्धिकी है? एक तो उमाके इस सन्देहका कि किस प्रकार गरुड़ने काकसे कथा सुनी, निराकरण किया है दूसरे ‘मानस’ के समस्त कथा-विस्तारको युक्तिके केन्द्रितकर मूल रामायण प्रस्तुत किया है।

इतनेपर भी बाबाजीने कथा-प्रवाह बढ़ानेके लिए अभी महत्त्वपूर्ण युक्ति तो रख छोड़ी ही है। तभी तो उमाके मुख्य प्रश्न ‘केहि कारन पायउ काग सरीर’ का समाधान यहाँतक नहीं किया। आगे उसी समाधानके लिए गरुड़-भुशुण्डि-संवादकी सरिताका प्रवाहित होना भी विलकुल स्वाभाविक है। उक्त सन्देह मिटानेके लिए गोस्वामीजीने कथानकका जो स्वरूप खड़ा किया है वह प्रमुखरूपसे उनके आध्यात्मिक संदेशकी अन्तिम निर्णयात्मक पृष्ठ-भूमि है। इसमें प्रविष्ट होकर अध्येता यही अनुभूति करने लगता है कि मलागार कलिकालमें भक्तिके बढ़कर श्रेयस्कर और कुछ नहीं है। एकमात्र परम विश्रामदायक, जीवनका परम लक्ष्य भक्ति ही है। गोस्वामीजी यही संदेश देना चाहते थे। अस्तु, सफल उपसंहारका जो वैशिष्ट्य संकेत किया गया था उसकी कसौटीपर ‘मानस’ का उपसंहार पूर्ण सफल है।

संदेश—स्पंदन

मानसके शुचि संदेश जो क्षीरमें परिव्याप्त नवनीतके समान मानसके सारभूत अंग हैं उन्हें दृष्टिगत या हस्तगत करने-करानेकी नितात आवश्यकता है। मनुष्यका समस्त वाग्विसर्ग उसके किसी न किसी मन्तव्य विशेषका द्योतक होता है। यदि ऐसा न होता तो अभिलाप और प्रलाप दोनों ही भेद-शून्य माने जाते। कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे सामान्य दैनिक जीवनकी बातचीत भी किंचित् उद्देश्यसे हुआ करती है। इसके अतिरिक्त, यदि हम विशेष अवसरोंपर किए गए अलंकृत सम्भाषणोंको देखते हैं तो उनमें भी किसी मन्तव्य विशेषका प्रतिपादन रहता है। भारतीके प्रसादसे वाग्मी प्रवक्ता अपनी वक्तृताका मधुर स्रोत भले ही व्यापकतासे प्रवाहित करता रहे और श्रोतागण उसके प्रत्येक शब्दपर मुग्ध होते रहें पर वक्ताके कथनका सार या संदेश इतना सूक्ष्म होता है कि वह उसे कुल ही शब्दोंमें व्यक्तकर सकता है। वस्तुतः

१. दे० ‘मानस’, उ० दो ५८—६१। २. दे० वही, उ० ६३, १—४। ३. दे० वही, उ०

वह वेग करता नहीं। क्योंकि उसे श्रोताओं पर अपना स्थायी प्रभाव जमाने के लिए उत्तमोत्तम उक्तियों और तर्कों का आश्रय लेकर चलना पड़ता है, ऐसा करते हुए भी वह अपनी वक्तृता को अपने उद्देश्य की दीप्ति से इस प्रकार अनुप्राणित रखता है कि श्रोतागण सहजमें ही उसे हृदयंगम कर लें। वक्ता की मनोहर वक्तृता की भाँति कलाकार की मनोः कृतियाँ भी उसके उद्देश्य से अनुप्राणित रहती हैं। कोई महान् कृतिकार ऐसा नहीं होगा जिसकी कृति निरुद्देश्य कही जा सके। यह दूसरी बात है कि कलाकारों के व्यक्तित्व-वैभिन्न्य के कारण उनके उद्देश्यमें अन्तर हो, पर इतना तो निर्विवाद है कि प्रत्येक कलाकार किसी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाना प्रकार की सरस योजनाएँ करता है। फलतः उद्देश्य की पूर्ति के साफल्य या वैफल्य के आधार पर भी वह सफल या विफल कहा जा सकता है। अस्तु, कृतिकार के यथार्थ मूल्यांकन में उसके संदेश का विश्लेषण और उसका प्रभाव-निर्दर्शन भी नवीन समीक्षा-प्रणाली का मुख्य अंग है। अतएव उसका उद्घाटन भी भावक का प्रधान कर्त्तव्य है।

कृतिकार का संदेश जितना ही व्यापक एवं उदात्त रहता उसकी सार्वभौमिकता उतनी ही अधिक होती है। जिस संदेश में माननीय विभूतियों की भव्य ज्योति प्रस्फुटित होती है और सहज प्रकाश हृदय के अन्तराल में स्वमेव प्रवेश करता है, निस्संदेह, वह संदेश कृतिकार को उच्चासन पर प्रतिष्ठित करेगा। इस सम्बन्ध में तुलसीदास की यह उक्ति सर्वथा स्मरणीय है—

‘किरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई’^१।

तुलसीदास ने ‘मानस’ के कण-कण में आदर्श की योजना की है, अतः उसका मर्मोद्घाटन पहले होना चाहिए। जब हमारी दृष्टि तुलसीदास की आदर्श-प्रतिष्ठा की ओर जाती है तो सर्वप्रथम हमें डंके की चोट कहना पड़ता है कि उनके आदर्श का पाश्चात्य आदर्शवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। यूनानी पंडित प्लेटों तथा जर्मनी के कांत, शीलर, हेगल प्रभृति विद्वानों का ‘आदर्श’ केवल भावना-लोक की वस्तु है। इसके विपरीत संसार में जिसकी वास्तविक सत्ता है उसे ‘यथार्थ’ कहते हैं। उनकी दृष्टि में राम का आदर्श चरित वह चरित समझा जायगा जो व्यावहारिक रूप में कभी राम में विद्यमान नहीं था पर राम के भक्तों और उपासकों ने राम में उसकी सत्ता की आशंसा मात्र की है। आचार-प्रधान भारतीय जीवन ऐसा कुछ जगद् विलक्षण रहा है कि उसकी व्यावहारिकता से संदेह हो जाना अस्वाभाविक नहीं। गोस्वामीजी ने अपने चरितनायक का जो चित्रण किया है उसे भारतीय दृष्टि से यथार्थ ही मानना चाहिए। तभी हम उसका अनुकरण करके उद्धार पाते हैं। अतः राम का जीवन हम सामान्य जीवों के लिए भले ही आदर्श हो, पर है वह यथार्थ ही।

तुलसीदास ने जो निदर्शन, नमूना या आदर्श दिखाया है वह प्रत्यक्ष रूप में कार्यान्वित होनेवाला पदार्थ है न कि कल्पना-लोक में टिकी हुई अचरितार्थ वस्तु। वह कालकी गतिविधियों के साथ परिवर्तित होने वाला नहीं प्रत्युत सर्वकाल के लिए सत्य, शाश्वत और पूर्ण है। अनुकरण और अनुवर्तन का अनन्य लक्ष्य है। श्रीकृष्ण ने कहा है—

‘यद्यदा चरति श्रेष्ठ स्तत्तादेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते’^२।

उद्धरण प्रमाणित करता है कि आदर्श कोई खयाली पोलाव नहीं है। वह सर्वदेश और सर्वकाल के लिए अनुवर्तन की वस्तु है। आदर्श-पथारूढ़ अभ्युदयोन्मुख होता है और आदर्श-पथ-भ्रष्टका पतनोन्मुख होना अनिवार्य है।

तुलसीदासने अपने सामयिक समाजकी विष्टृखलताओं, उच्छृंखलताओं और गहिरे आचार-विचारां की खर बाहिनी बरसाती नदीकी गति पलट देने, पतनोन्मुख भारतीय मर्यादाकी पुनर्स्थापना करने तथा पूर्ण मानवताका शाश्वत-स्वरूप दृष्टिगत करानेके हेतु रामको ही सर्वोत्कृष्ट आदर्श समझा। उगकी दूर-दक्षिताने उन्हें सम्यक् प्रकारसे सुझा दिया था कि अन्यान्य सुधारकोंकी भाँति समाजके छिद्रान्वेषण करने मात्रसे सुधार नहीं होगा प्रत्युत समाजके सभी अंगोपागोंको रमणीयसे रमणीय नमूना दृष्टिगोचर करानेकी नितात आवश्यकता थी। फलतः उन्होंने सामाजिक पतन देख अपने हृदयोद्गारोंकी अभिव्यक्ति करते हुए लोगोंके समक्ष अपनी अनोखी काव्य-प्रणालीके द्वारा सर्वसामान्यकी भाषामें कृतिसाध्य आदर्श उपस्थित किए।

राज-राज-मौलि रामचन्द्रके चरित्रसे जिन राजकीय चारित्रिक विभूतियोंकी प्रतिष्ठा हुई, वे आदर्श हैं। वे किसी विशेष देश-काल या जातिके राजाओंके अनुकरणकी वस्तु न होकर सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वजातिके भूपाल-मणियोंकी कार्यरूपमें परिणत होनेवाली विशेषताएँ हैं। यह दूसरी बात है कि कर्त्तव्य विमुक्त राजकीय सत्ताएँ उन्हें कार्यान्वित न करें। वह प्रजावत्सल, लोक-संग्राही, सदाचारी राजा जो प्रजाकी सर्वांगीण उन्नतिके उपायोंकी योजनामें अहर्निश दत्तचित्त रहता है, उसे अपने प्राणोंसे बढ़कर मानता है और उसकी सुख-शांतिके लिए अपने भारीसे भारी सुखोंका उत्सर्ग करता है—धन्य है। नृपति रूपमें राम ऐसे ही नृपति हैं। रामका अनुकरण करनेवाले सभी राजाओंका राज्य राम-राज्य है। यों भी कहा जा सकता है कि जिस शासन व्यवस्थाके बीच सभी लोगोंको सुख-सुविधा और विकासका पूर्ण अवसर प्राप्त हो वही राम-राज्य है^१।

राम राजा हैं फलतः उनका अनुकरण केवल राजाओंके लिए श्रेयस्कर हो ऐसी बात नहीं। वस्तुतः तुलसीदासने राम तथा राम-पक्षके अन्य सभी उन्नायक पात्रोंके जो आदर्श उपस्थित किए हैं वे राजा, रंक, फकीर सबके लिए अनुवर्तनीय हैं। वे आदर्श ऐसे नहीं हैं जिन्हें उन्होंने सामान्य जीवन और सामान्य जन के स्तरसे पृथक् दिखाया हो। मानव जीवन सुख-दुख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सुअवसर-कुअवसर, मिलन-वियोग प्रभृति अनेकानेक सम-विषम परिस्थितियोंसे घिरा हुआ है। ऐसे द्वंद्वमय जीवनमें भी मनुष्य की जीवन-भारा कैसी हो, उसका लक्ष्य कैसा हो, उसका जागतिक सम्बन्ध निर्वाह क्योंकर चले, वह किन चारित्रिक विशेषताओंके द्वारा उत्तरोत्तर अभ्युदयोन्मुख होता रहे और किस प्रकार संकुचित स्वार्थपरताका पाश तोड़कर जीवन के संघर्षोंसे ऊपर उठकर अन्तमें विश्राम पाए—इन सभीके आदर्श तुलसीदासने उपस्थित किए हैं। यह भी स्मरण रहे कि 'मानस' में उपस्थित किए गए आदर्श व्यक्ति और समष्टि दोनोंसे सम्बन्धित होनेके कारण व्यक्ति और समाज दोनों ही को अनुप्राणित करनेवाले हैं; दोनोंको सुन्दर आचार-विचार एवं व्यवहारमें रमाकर, सहज प्रेरणा देकर उठानेवाले हैं।

तुलसीदासका 'मानस' केवल आदर्शकी लोकरंजिनी ज्योतिसे जगमगा रहा हो ऐसी बात नहीं। उसमें भक्तिके सार्वभौमिक स्वरूपकी छटा भी छापी हुई है। किसी तथ्यकी सार्वभौमिकताकी पहचान यह है कि वह एक देशीयताकी क्षुद्रशृंखलामें आवद्ध न हो सके। अर्थात् सार्वभौमिक कहलानेका महत्त्व उसी सिद्धान्तको प्राप्त हो सकता है जो स्वयं किसी देश, काल या जाति विशेषकी बपौती न होकर सर्वदा और सर्वथा सारे संसारको अपनी परिधिमें अर्न्तभुक्त किए रहता है। जिस वस्तुपर प्राणिमात्रका अधिकार हो वह

१. देखिए प्रस्तुत ग्रंथके 'तुलसीका सामाजिक मत' परिच्छेदके अन्तर्गत 'आदर्श राज्यकी भावना' शीर्षककी विवेचना।

सार्व-भौमिक, सार्व-लौकिक या सार्व-वर्णिक नहीं तो क्या ? भक्तिके विषयमें तुलसीकी धारणा है कि वह (भक्ति) भूतमात्रकी निधि है और उसपर सभीका स्वत्व है ।

यों तो गोस्वामीजी उद्भट मर्यादावादी और वर्णाश्रम धर्मके पक्के समर्थक थे, पर वे उस सिद्धांत को माननेवाले नहीं थे जिसके अनुसार भक्तिके अधिकारी केवल द्विजाति वर्णके ही हों; उनके मतमें तो स्ववर्णाश्रित कर्ममें निरत सभी वर्णोंके लोग भक्तिमें संलग्न हो सकते हैं । अपनी इसी विचार-धाराके अनुसार उन्होंने निम्नतम तथा उच्चतम दोनों वर्णवालोंको भक्तोंकी एक ही श्रेणीमें विठाया है । उनकी रचनाओंमें ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता कि ब्राह्मण वंशीय ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अथवा उन्हींके समकक्ष कोई ब्रह्मर्षि या राजर्षि ही भक्तिके अधिकारी हैं और निम्नवर्णोत्पन्न निषाद, शवरी, कोल, किरात अथवा अन्यान्य असभ्य वनचारी भक्तिके अधिकारी नहीं हैं । यदि ऐसा होता तो उनकी भक्तिकी सार्वभौमिकतापर अंगुलि-निर्देश किया जा सकता था ।

यदि कोई शंका करे कि तुलसीदासकी दृष्टिमें चारों वर्णके सभी प्राणीके भक्ति अधिकारी हैं, पर इसके आधारपर यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्होंने भक्तिका अधिकारी उन लोगोंको भी ठहराया है जो हमारी वर्ण-व्यवस्थाके अन्तर्गत नहीं आते । ऐसे संदेहकी भी गुंजाइश नहीं । देखिए यवनादि भी भक्तिके प्रतापसे तर गए—

‘आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे ।

कहि नाम वारक तेऽपि पावन होहि’.....‘नमामिते’ ॥’

×

×

×

×

‘स्वपच, खल, भिल्ल, जमनादि हरिलोक गत ।

नाम बल बिपुल मति मल न परसी’ ॥’

भक्तिकी सार्व-भौमिकताका प्रमाण इससे बढ़कर क्या होगा । वस्तुतः यह वह राजमार्ग है जिसपर पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या कोई भी चले किसीके लिए प्रतिषेध नहीं । जो कोई इस मार्गपर चलेगा वही पावन गति पाएगा । मानसके मंजुषोषमें यह दिव्य संदेश भी कर्णगोचर होता है ।

एक बात और ध्यान देने योग्य है । तुलसीदास भारतको परम पवित्र भूमि मानते थे, साथ ही वर्णाश्रम धर्मके पूर्ण पोषक होनेके कारण ब्राह्मण कुलको भी धन्य समझते थे, पर इसके साथ उनका ऐसा कोई विचार नहीं प्रकट होता कि अन्यान्य देश या अन्यान्य कुल अपकृष्ट हैं । लंकामें रहनेवाला निशाचर कुलोत्पन्न विभीषण भी उन्हें परमभक्तके रूपमें आदरणीय था । इससे भी उनको भक्तिकी सार्वभौमिकता प्रकट होती है । शंकर सदृश परम भक्तके सुखारविंदसे कथित यह उक्ति भी स्मरणीय है—

‘सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत ।

श्री रघुबीर परायन जेहि नर उपज विनीत’ ॥’

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी कुल विशेषका भक्तिपर एकाधिपत्य नहीं । किसी भी कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भक्तिपरायण हो सकता है और जिस किसी कुलमें भक्ति-सम्पन्न भक्तका जन्म हो वही बंदनीय है ।

भक्तिकी सार्वभौमिकता एक दूसरी दृष्टिसे भी विचारणीय है । श्रीकृष्ण भगवानका कथन है कि कोई कितना बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, परन्तु अन्तकालमें यदि वह भी अनन्य भावसे मेरी शरणमें जाता

है तो मैं उसे नहीं भूलता^१। महात्मा बुद्धका भी ऐसा मत है—(दे० मिलिन्द प्रश्न ३, ७, २)। बौद्धधर्म ग्रंथोंमें ऐसी कथाएँ हैं कि तथागतने आम्रपाली नामक वेश्या और अगुलीमाल नामक चोरको दीक्षा दी थी। ईसाइयोंके धर्म-ग्रंथमें भी वर्णित है कि क्राइस्टके साथ जो दो चोर शूलीपर चढ़ाये गये थे उनमेंसे एक चोर मृत्युके समय क्राइस्टकी शरणमें गया और क्राइस्टने उसे सद्गति दी^२। क्राइस्टने स्वयं भी कहा है कि हमारे धर्ममें श्रद्धा रखनेवाली वेश्याएँ भी मुक्त हो जाती हैं^३, अस्तु।

इधर हमारे संत तुलसीदासने गणिका और अजामिलकी नजीरोंको बार-बार इसीलिए पेश किया है कि बड़ेसे बड़ा पातकी भी निराश न हो, प्रत्युत उसमें भी आशाका संचार हो कि वह भी अपने इसी जीवन में अनन्य भक्तिके द्वारा परम विश्राम पा सकता है। इसी तथ्यका निरूपण करनेके लिए तुलसीदासने श्रीमुख से कहलाया है—

‘कोटि बिप्रवध लागहि जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं’ ॥’
× × × ×

अन्यत्र तुलसीने स्वयं भी कहा है—

‘कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लही नाम की ओट।
गाँठी बाध्यो राम सो परिख्यो न फेरि खर-खोट’ ॥’

इससे स्पष्ट है कि बड़े से बड़ा पातकी भी भक्तिसे वंचित नहीं किया गया है; घोर पापाचारी भी यदि अनन्य भावसे परमात्माकी शरण ढूँढ़ेगा तो उसका भी निस्तार अवश्य होगा, क्योंकि—

‘सरन गए प्रभु काहु न त्यागा।
विश्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा’ ॥’

उपर्युक्त सिद्धान्त शास्त्रः निर्विवाद है, अतः इस पर तुलसीके समान परम भागवत रंज मात्र भी भ्रम नहीं उत्पन्न करा सकता था, पर हम स्वयं कह सकते हैं कि जिसका सारा जीवन दुराचरणमें ही बीता होगा उसके अन्तःकरणमें भगवान्की शरणमें जानेका विचार ही क्यों आयेगा। अपवाद रूपसे किसी अज्ञात विलक्षण कारणसे आ भी सकता है। जो कुछ भी हो, भक्तिका नितान्त सार्वभौमिक रूप यही कहना चाहिए कि अपने कर्मोंमें प्रवृत्त कोई प्राणी भगवत्प्रेमका नियमपूर्वक पालन करे। भरत-सदृश प्रिय सखा निषादको रामने यही रहस्य समझाकर बिदा किया था—

‘जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन-क्रम-वचन धरम अनुसरेहू’ ॥’

अपने परम प्रिय मर्कट सेवकोंकी बिदाईके अवसरपर भगवान्ने उन्हें भी यही-सार्वभौमिक तत्त्व बताया था—

‘अब गृह जाहु सखा सब, भजहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित जानि, करेहु अति प्रेम’ ॥

तुलसीदासके ‘मानस’ में जिस प्रकार सार्वकालिक आदर्श और सार्वभौमिक भक्तिकी प्रतिष्ठा है उसी प्रकार मानवताकी भी। भक्त-कविने भगवत्प्रेमका सार्वभौमिक स्वरूप दिखाकर जैसे प्रत्येक प्राणीके

१. दे० ‘गीता’ ९।३०; ८।५-८। २. ल्यूक २३. ४२ और ४३। ३. मेथ्यू, २१. ३१; ल्यूक ७. ५०। ४. ‘मानस’ सुंदर० ४३. १, २। ५. ‘विनय०’ पद १९१। ६. ‘मानस’ सुंदर० ३८-७। ७. वही उत्तर० १९. २। ८. ‘मानस’ उ० १६. १।

लिए आध्यात्मिक उन्नतिका राजमार्ग दिखाया वैसे ही उसने मानवताका प्रशस्त पथ भी सुझाया है। आज भौतिकवादी पाश्चात्य जगत् भी मानवताका पल्ला पकड़कर विश्व-शांतिकी स्थापना करनेके लिए कितना उत्सुक है इसका अनुमान उसके 'युनिवर्सल ब्रदर हुड' और 'युमेनिटेरियनिज्म' आदि सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए किए गए प्रयत्नोंसे किया जा सकता है। संसार भरमें विग्रह, संघर्ष और संग्रामका भीषण चीत्कार देखते हुए आज विवश होकर बड़े-बड़े समाज सुधारकों, नागरिक-शास्त्र वेत्ताओं, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों तककी प्रवृत्ति इस ओर झुकी है कि विश्वमें शान्ति हो, सदाचार प्रतिपत्ति हो, लोकनिष्ठाके साथ सारा संसार एक सूत्रमें संग्रथित होकर सच्चे सुख-शांतिका अनुभव करे। ऐसी सुख-शांतिके मार्ग वताने और मानवताकी प्रतिष्ठा करानेके लिए पूर्व और पश्चिम दोनों ओरसे न जाने कितने 'लेक्चर्स', 'आर्टिकल्स' और 'वर्क्स' निकले, निकल रहे हैं और निकलते जाएंगे। इन प्रयासोंके फलस्वरूप मानवताकी जो कुछ रक्षा हुई, हो रही अथवा होगी, वह स्तुत्य है।

मानवताकी रक्षाका दायित्व कलाकारोंपर भी सदासे रहा और निरन्तर रहेगा। कुछ अपवादोंको छोड़कर प्रायः सभी कलाकारोंने मानवधर्मके प्राकट्यकी ही प्रबल चेष्टा दिखाई है। मानवताकी अभिव्यक्ति में कलाने जैसा साफल्य प्राप्त किया और मानवताको प्रकट करनेकी उसमें जो प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है, वह आश्चर्यजनक है। इसका कारण यही समझ पड़ता है कि मनुष्यतर जगतमें रजोगुण एवं तमोगुणके प्राबल्यके कारण आत्म-प्रकाश स्फुट नहीं है। मनुष्यसे नीचेकी श्रेणियोंमें मायाका पर्दा बहुत ही घना है, फलतः कलाविशारदोंको उनके द्वारा सत्यको, आत्म-ज्योतिको प्रकट करनेमें बड़ा प्रयास करना पड़ता है, पर मनुष्यमें सत्त्वगुणका विकास होनेके परिणाम-स्वरूप यहाँ आत्म-ज्योति स्वतः फूट पड़ती है। मानव-हृदय में आत्म-प्रतिबिम्ब कुछ अधिक स्फुट होता है। अतः उसके प्राकट्यमें कलाकारको विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। स्वयं मनुष्य होनेके नाते भी उसे स्वभावतः मानवताके प्रकट करनेमें विशेष आनन्द आता है और वह अपनी सारी शक्ति लगाकर मानव-धर्म एवं मानव-कार्यका चित्रण करता है।

मानवताके आधारपर ही मानवकी परख होती है। मनुष्य समाजमें रहता है। और समाज मनुष्योंसे मिलकर बना है। दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं कि यदि समाजके सभी लोग सरल, सौन्दर्यमय जीवन बिताना जान लें तो समाज सुखी रहेगा। पक्षान्तरमें यदि समाजका संघटन ऐसे आध्यात्मिक और मानवीय नियमोंके आधारपर किया जाए जिनपर सौन्दर्य-बोध और आनन्द निर्भर करता है तो समाजमें रहनेवालोंका जीवन सौन्दर्यमय अतएव आनन्दमय हो सकता है।

गोस्वामीजीने व्यष्टि और समष्टि दोनोंके कल्याण-प्रद मार्गमें मानवताकी स्थापनाकी है। उसे भली-भाँति पहचानने और ग्रहण करनेकी आवश्यकता है। मानवताकी पहचानके लिए उसके प्रतिपक्ष दानवता का विगर्ह्य स्वरूप भी जान लेना चाहिए। रावण और उसके समर्थक असुरोंके अत्याचारोंके चित्रण द्वारा दानवताका जो स्वरूप उपस्थित किया गया है वह इस प्रकार था—

‘करहिं उपद्रव असुर निकाया । नाना रूप धरहिं करि माया ॥
जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला । सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥
जेहि-जेहि देस थेनु द्विज पावहिं । नगर गाँव पुर आगि लगावहीं ॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई । देव विप्र गुरु मान न कोई ॥
नहिं हरि भगति जग्य जप दाना । सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥
जप जोग बिरागा तप मख भागा खवन सुनइ दस सीसा ।
आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा ॥

अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहि काना ।
तेहि बहु विधि त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना ॥
वरनि न जाइ भनीति घोर निसाचर जे करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्हके पापहिं कवन मिति ॥'

'मानस' बा० १८२. ४-८, १८२. १

यह तो निशाचर कुलमें जन्म लेकर निशाचरी लीला करने वालोंकी बात हुई। इसके अतिरिक्त निशाचरके समान आचरण करनेवाले लोग भी निशाचरकी ही श्रेणीमें रखे गए हैं। देखिए—

'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लंपट पर धन पर दारा ॥
मानहिं मातु-पिता नहिं देवा । साधुन्ह ते करवावहिं सेवा ॥
जिन्हके अस आचरण भवानी । ते जानहु निसिचर सम प्रानी' ॥

और भी—

'पर-द्रोही पर-दाररत, पर धन पर अपवाद ।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरे मनुजाद' ॥'

विविध दानवीय कृत्योंके कितने ही विस्तृत जघन्य और भयावह रूप क्यों न हो पर उन सबके मूल उपर्युक्त अवतरणके थोड़ेसे शब्दोंमें निहित हैं। चाहे राक्षसोंके द्वारा किए गए युगान्तरके अत्याचारों को लीजिए चाहे आजके अमानुषीय कृत्योंको, पर उन सबके घटित होनेमें खलता, चोरी, जूआ, परद्रोहा-सक्ति, परदारासक्ति, परधनासक्ति, परनिन्दासक्ति एवं सत्यपरामर्शदायक गुरुजनोंका अपमान करनेकी आसक्ति प्रवृत्तियाँ ही काम करती दृष्टिगत होंगी। इन दानवीय प्रवृत्तियोंके स्तम्भोंपर कितने दुष्कृत्योंके महल बनाए जा सकते हैं इसका बताना कठिन है।

विचारणीय है कि तुलसीदासने नर रूपमें राक्षसका जो उल्लेख किया है क्या वह भी शास्त्रीय और ऐतिह्य है? उत्तर है—'हाँ'। उनके ये विचार भी शास्त्रानुमोदित और प्रमाण प्रतिपन्न हैं। नर-रूप राक्षसों का निर्देश 'श्रीमद् भगवद्गीता' में है^१। दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पाखण्ड और अज्ञान आसुरी यानी राक्षसी सम्पत्तिमें जन्म ग्रहण करनेवाले प्राणियोंको प्राप्त होते हैं^२। ऐसे प्राणी प्रवृत्ति और निवृत्तिका मर्म नहीं समझते और ये सत्य, शौच एवं आचार-शून्य होते हैं^३। इनकी दृष्टिमें सारे जगतका हेतु विषय-वासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं^४। ये तुच्छ विचारवाले भ्रष्ट, दुष्ट लोग अपने क्रूर कर्मोंके द्वारा जगत्का क्षय करनेके लिए उत्पन्न होते हैं^५। ऐसे लोग विषयोपभोगकी इच्छाका आश्रय ग्रहणकर दंभ, मान, मदसे आक्रांत मनमानी कल्पना करके मोहवश हेय कर्मोंमें रंलग्न रहते हैं^६। आमरणान्त (सुख भोगनेकी) अगणित चिंताओंसे ग्रस्त, कामोपभोगमें परिलिप्त और निश्चयपूर्वक उसीको सत्य माननेवाले सैकड़ों आशापाशमें जकड़े हुए, काम-क्रोध परायण (ये आसुरी सम्पत्तिवाले) सुख लट्टनेके लिए अन्यायसे विपुल वैभव-संचय करनेकी तृष्णा करते हैं^७। इनके अपरिमित व्यलीक मनोरथों, इनकी अहमहमिका, इनके अहंकार दंभ, द्वेष, पाखंड आदिका संकेत^८, साथ ही इन्हें प्राप्त होनेवाली अधोगतिका उल्लेख भी है।^९

जब हम दानवताके उपर्युक्त संक्षिप्त स्वरूपको पहचानकर 'मानस' में प्रवेश करते हैं तो यहाँ स्थान-

१. 'मानस' बा० १८३. १-३। २. वही उ० ३९. ३. 'गीता' ९।११, १२। ४. वही १६।४। ५. वही १६।७। ६. वही १६।८। ७. वही ८. वही १६।१०। ८. वही १६।११, १२। ९. वही १६।१३-१८। ११. वही १६।१९, २०।

स्थानपर यही घोषणा मिलती है कि दानवताका दमन हो, उसका निर्वासन हो। कविने जहाँ कहीं आसुरी वृत्तियोंके उल्लेखका अवसर पाया वहीं उनकी घोर विगर्हणा तथा सत्प्रवृत्तियोंकी भूरि-भूरि प्रशंसाकी है। उसने मानवताके अप्रतिम प्रतीक रामके द्वारा दुर्नीति और दुर्गुणोंके दुर्जेय प्रतीक राक्षस राज रावण तथा अन्यान्य निशाचरोंका पूर्ण पराभव दिखाकर भी यही संदेश दिया है कि मानवताकी स्थापनाके लिए दानवताका दमन और निर्वासन अनिवार्य है। भूतकालके अपार उदर-विबरमें समाये हुए युगोंमें मानवताकी जो उज्ज्वल कीर्ति प्रस्फुटित हुई उसे आच्छादित करनेके लिए दानवता अनादिकालसे अपनी दुर्भेद्य माया फैलाती रही है। वेदोंमें असुरों और देवोंके संघर्षका यही रहस्य है। मानवताके अद्वितीय व्यवस्थापक महर्षि वाल्मीकिकी यह उक्ति देखिए—

‘सुराणामसुराणां च धर्माधर्मौ तदाश्रयौ ।
धर्मोहि श्रूयते पक्षो ह्यमराणां महात्मनाम्’ ॥’

यह तो हुई मानवताके स्थापनके लिए दानवताके निर्वासनकी चर्चा। अब मानवताका नियत स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। मनुष्य उच्चसे उच्च ऐहिक और आसुप्तिक दोनों प्रकारकी उन्नतिकी परकाष्ठा तक जिन गुणोंसे सम्पन्न होकर पहुँच सकता है उन्हें ही यथार्थतः मानव-धर्म या मानवता कहना समीचीन होगा। ‘गीता’ में दैवी-सम्पत्तिको प्राप्त मनुष्योंके जो लक्षण बताए गए हैं, यदि उन्हें ही मानवता से अभिन्न कहा जाए तो कोई अनौचित्य न होगा। अर्थात् निर्भीकता, दानशीलता, क्षमाशीलता, ही-शीलता, (लज्जा), अचपलता, तेजस्विता, सुचिता, यज्ञपरायणता, सत्यपरायणता, धैर्यपरायणता, क्रोध-शमन, लोभविगलन, अभिमान-विगलन, इन्द्रियनिग्रह, अद्रोह, स्वाध्याय, तपस्या, प्राणिमात्रपर दया, अपैशुन्य, अहिंसा, सच्च-संशुद्धि (शुद्ध मात्त्विक वृत्ति), शांति, त्याग, ज्ञान योगव्यवस्थिति (ज्ञान मार्ग, कर्मयोगका तारतम्यसे व्यवस्था), आर्जव (सरलता) तथा मार्दव (मृदुता) ही मानवताके शाश्वत लक्षण हैं। इन लक्षणोंको देखते हुए कहा जा सकता है कि मानवताका प्रतीक सच्चा मानव इन गुणोंसे शून्य कदापि नहीं होगा। जिस समाजमें ऐसे मानवोंकी संख्या जितनी ही अधिक होगी वह समाज मानवताके उतने ही उच्च शिखरपर आरुढ़ माना जाएगा। इसके विपरीत जिस समाजमें आसुरी वृत्तिवालोंका प्राधान्य होगा उसमें दानवताका अट्टहास अवश्यंभावी है।

मानवताकी आधारशिला इन दैवी विभूतियोंको ‘मानस’ में अत्युच्च स्थान मिला है। तुलसीदासने इन्हें बड़े ही कौशलके साथ कहीं मानवताके प्रतीक पात्रोंके चरित्रांकनमें, कहीं साधु-संतके लक्षण-निर्देशमें, कहीं उपासनाको सफल बनानेवाले साधनोंकी परिगणनामें, कहीं वर्णाश्रमधर्मके आचरणमें तो कहीं सर्व-सामान्यके लिए धर्म-व्यवस्थाके स्थापनमें अनेकानेक प्रकारसे ग्रहण किया है। इसका अभिप्राय यही है कि वे समाजमें इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा चाहते हैं। लोक-मंगलके अभिलाषी हैं। उन्होंने रामके गुण-ग्रामका विश्लेषण इसीलिए किया है कि लोग उसे ग्रहण करके स्वयं पाप, संताप-शोक आदिसे मुक्त हों और अपने उभय लोक सुधारें—

‘जग मंगल गुन ग्राम राम के । दानि मुकुति धन परम धाम के ॥

समन पाप संताप सोक के । प्रिय पालक परलोक लोक के ॥’

मानवताकी स्थापनाके लिए प्रत्येक सामाजिकका व्यक्तिगत चारित्रिक उत्कर्ष तो अपेक्षित ही है, साथ ही उत्कृष्ट श्रेणीकी लोक-व्यवस्था भी परमावश्यक है। ऐसी लोक-व्यवस्था जिसमें उच्छृंखलताओंका

१. ‘वाल्मी०’ युद्ध० ३५।१३। २. देखिए ‘गीता’ १६ वें अध्यायके प्रथम तीन श्लोक।

३. ‘मानस’ बा० ३१. २. ५।

प्रचारक व्यक्तिवाद तथा भौतिकताके पोषक हेतुवादका ही बोलवाला हो, जिसमें स्वेच्छाचारी खल्लोंकी वृद्धि के कारण अमानुषीय कृत्योंका ही प्रचार हो जिसमें कल्याणकारी वर्णाश्रम-धर्म और आस्तिकता लुप्तप्राय हो रही हो—ऐसे गए बीते समाजको सुधारने और उसकी रक्षा करनेके हेतु तुलसीदास अपने इष्टदेवसे प्रार्थना करके ही नहीं रह जाते, अपितु अपनी यह मंगलशा भी प्रकट कर देते हैं कि रामने उनकी सुन ली और रामराज्यकी लोक व्यवस्था प्रस्थापित हो गई—

‘दीजै दादि देखि नातो बलि, मही मोद-मंगल-रितई है ।

भरै भाग अनुराग लोग कहँ, रामकृपा चितवनि चितई है ॥

बिनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुना बारि भूमि भिजई है ।

रामराजु भयो काजु सगुन सुभ, राजा रामु जगत-विजई है ॥

मानव-जाति और मानवताके लिए राम-राज्यकी लोक-व्यवस्थासे बढ़कर दूसरा अनुकरणीय आधार और क्या हो सकता है ? तुलसीदासके ‘मानस’ने उस सुदृढ़ आधारको दिखाकर डूबती हुई मानवताको उबार लिया है । बंदनीय हैं माता कौमल्या जिन्होंने मानवताके ऐसे महान् संस्थापक तथा दानवताके दाहक श्रीरामको प्रकट किया—

‘बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची । कीरति जासु सकल जग माँची ॥

प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू । विस्व-सुखद खल-कमल-तुषारू ॥’

मानवता की शुभ्र ज्योतिसे जगत्को उजागर करनेवाले रामका निम्नोद्धृत व्यवहारी रूप भी सभीके लिए विना किसी भेद-भावके अनुकरणीय है—

‘राम जनमि जग कीन्ह उजागर । रूप सील सुख सब गुन सागर ॥

पुरजन परिजन गुरु पितु माता । राम सुभाउ सबहि सुख दाता ॥

बैरिउ राम बड़ाई करहीं । बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं ॥’

जीव-लोकके बीच जीवन-यापन करनेवालोंमें से शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति मिले जिसे ऐसी सहज मानवता स्पृहणीय न हो । वस्तुतः संसारको स्वर्ग बनानेका अचूक साधन मानवता ही है । जिनका जीवन मानवता से परिपूर्ण है वे धन्य हैं । ऐसे ही लोगोंको लोकोद्धारक कहना चाहिए, आत्मोद्धारक तो हैं ही ।

‘मानस’ के प्रमुख संदेशके सम्बन्धमें अब अधिक कहनेका अवकाश नहीं । अतः निष्कर्ष रूपमें कथ्य इतना ही है कि जिस प्रकार मनुष्यके पूर्ण स्वस्थ शरीरमें तीनों नाड़ीका संतुलित स्पंदन ही उसकी चेतनता का द्योतक होता है, उसी प्रकार मानसकी भव्य काव्य-कायाके भीतर तुलसीदासके तीनों मुख्य संदेश विस्तृत आदर्श, सार्वभौमिक भगवत्प्रेम (भक्ति) तथा सहज मानवताका स्पंदन ही उसके जीवन, प्राण या शक्तिका परिचायक है ।

त्रयोदश परिच्छेद

‘तुलसीका साहित्यिक उपहार’

विस्तृत नवीन क्षेत्रकी स्थापना

तुलसीने हिन्दी-साहित्यको जो अनर्घ उपहार प्रदान किया उसकी विशालता और नूतनताका निर्देश करनेके लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनके इर्द-गिर्दके सम-सामयिक संस्कृत साहित्यकी विभिन्न दिशाओंकी क्षीण प्रगतिका संकेत भी कर दिया जाय। इससे स्पष्ट हो जायगा कि उनकी साहित्यिक देन उनके सामयिक संस्कृत-साहित्यकी प्रेरणाका परिणाम नहीं है, प्रत्युत वह उनकी नवीनताका ही परिचायक है। उनके युगका संस्कृत-साहित्य संकुचित हो गया था और वह जीवनोन्नायक व्यापक प्रवृत्तियोंसे अनुप्राणित न था। उसमें रीति-ग्रन्थोंके निर्माणकी विशेष चेतना थी। इस युगमें अप्पय दीक्षित (सं० १५७०-१६५०)-कृत ‘वृत्तिवार्तिक’, ‘चित्रमीमांसा’ और ‘कुवलयानन्द’, कवि कर्णपूरविरचित ‘अलंकारकौस्तुभ’, रूपगोस्वामीका ‘उज्ज्वलनीलमणि’ प्रभृति अलंकार ग्रन्थोंका सर्जन हुआ। कुछ नाटक और नाट्यग्रन्थ भी निर्मित होते रहे। कवि कर्णपूरका ‘चैतन्यचन्द्रोदय’, रूपगोस्वामीकी ‘नाटकचन्द्रिका’, शेषकृष्ण (सं० १६४७) का ‘कंसवध’ नाटक तथा कुछ और छोटे-मोटे नाटक एवं नाट्यग्रन्थ बने। जिन महाकाव्योंकी रचनाएँ हुईं उनमें सभी प्रायः रचयिताके आश्रयदाता राजाओंसे सम्बद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। उदाहरणके लिए रुद्र कविका (सं० १६५३) जो राष्ट्रौदवंशके मयूरगिरिके राजा नारायणशाह और उसके पुत्र प्रतापशाहका आश्रित था, ‘राष्ट्रौदवंशमहाकाव्य’ प्रसिद्ध है। इसी प्रकार श्रीराजनाथ (सं० १५९७) विरचित ‘अच्युतरायाम्युदय’ महाकाव्य भी विजयनगरके राजाओंके प्रशस्तिगानके रूपमें ही है। स्तोत्र-काव्य और सुभाषित-काव्यकी प्राचीन परम्परा भी लुप्तप्राय नहीं हो गई थी। इसलिए चैतन्य महाप्रभुके अनुयायी रूपगोस्वामी-कृत ‘पद्यावलि’ जैसे स्तोत्र-काव्य भी दृष्टिगत होते हैं। संस्कृत-साहित्यकी उक्त विविध रचनाओंके परिशीलनसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उनमें संस्कृति-समन्वयकी भावनाका अभाव, एकदेशीयता और साम्प्रदायिकताकी प्रस्थापनाका प्रयास है, उनमें न तत्कालीन हिन्दू-मुसलिम संस्कृतिका संघर्ष मिटानेवाली युक्ति ही अवगत होती है और न काव्य, धर्म अथवा भक्तिकी अनुपम संसृष्टि ही।

उपर्युक्त विवरणको दृष्टिमें रखकर हमें यही स्वीकार करना होगा कि तुलसीका साहित्यिक उपहार उनके सामाजिक संस्कृत-साहित्यसे पूर्णतया नवीन और सर्वांगीण है।

गोस्वामीजीका साहित्यिक उपहार ऐसा भी नहीं है कि हम उसे उनकी पूर्ववर्ती या सामयिक विभिन्न प्रचलित काव्य-पद्धतियोंका अनुकरणमात्र कह दें। हिन्दी-साहित्यका आदिकाल जो लगभग चार-पाँच सौ वर्षोंके लम्बे अन्तरालके भीतर विविध सम-विषम परिस्थितियोंमें फूला-फला, पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। यह क्षेत्र अव्यवस्थित और दो-रंगी था। उसका परिचय इसीसे होता है कि इस कालकी रचनाएँ अपभ्रंश तथा देशभाषा दोनोंमें उपलब्ध होती हैं। अपभ्रंशकालकी कृतियोंके नमूनेवाली हिन्दी बौद्धोंकी वज्रयान शाखाके सिद्धोंके गीतों, वाममार्गोपदेशों, अन्तर्मुख साधनों तथा घटके भीतर विहार-निरूपिणी अटपटी बानियोंमें देखी जा सकती है। (ये रचनाएँ पुरानी हिन्दीके सप्तम शतकसे नवम शतक-

तकके स्वरूपकी शायक हैं) देवसेन नामक जैन ग्रन्थकार (सं० ९९०) कृत 'श्रावकाचार', 'द्रव्य सहाय पयास' आदि ग्रन्थ दोहेमें इसी कालमें बने। इनके अतिरिक्त जैन कवियोंकी अन्यान्य कृतियाँ, यथा, 'सुयपंचमी कहा', 'योगसार', 'जसहर चरित', 'णाय कुमार चरित' आदि भी पायी जाती हैं। इनमें चरित्र-काव्य या आख्यान-काव्यके लिए चौपाई-दोहेकी पद्धति ग्रहण की गयी है। गोरख-पन्थके योगियोंने भी आदिकालके हिन्दी-साहित्यमें अपनी अनेकानेक कृतियाँ छोड़ी हैं। पर सिद्धों और योगियोंकी रचनाओंके विषयमें यह न भूलना चाहिये कि वे तान्त्रिक विधान, योग-साधना, आत्म-निग्रह, स्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियोंकी स्थिति, अन्तर्मुख-साधनाके महत्व आदिकी साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं, जीवनकी स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्यके अन्तर्गत नहीं आतीं। फलतः इनकी चर्चा यहाँ छोड़ हम सामान्य साहित्यके अन्तर्गत रचनाओंमें हेमचन्द्र-कृत उनके अपभ्रंशके उदाहरणोंको कह सकते हैं। साथ ही सोमप्रभ सूरिके 'कुमारपालप्रतिबोध'में व्यवहृत अपभ्रंशके पद्योंको भी। जैनाचार्य मेरुतुंगके 'प्रबन्धचिन्तामणि'में मुञ्जके कहे हुए दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दीके बहुत पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। शार्ङ्गधर-कृत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' मुभाषित-संग्रहके बीच-बीचमें भी देश-भाषाके वाक्य आये हैं। परम्परासे प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधरने 'हम्मीररासो' नामक वीर-गाथा काव्यकी भी रचना भाषामें की थी।

अब दूसरे रङ्ग अर्थात् देश-भाषावाले आदिकालके काव्योंकी लीजिये। सामान्यतः यह चारणों या भाटोंका गान था, जिसे वे अपने आश्रयदाताके पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदिके समय अलापते थे या रण-क्षेत्रोंमें जाकर वीरोंके हृदयमें उत्साहकी उमंगें जगानेके लिए रचते थे। इस दशामें काव्य या साहित्यके विभिन्न अंगोंकी पूर्ति और समृद्धिका सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। अतः वीर-गाथाओंकी उन्नति हुई। ऐसी रचनाओंमें 'वीसलदेवरासो' और 'पृथ्वीराजरासो' प्रभृति ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। भले ही ये सन्दिग्ध हैं, पर प्राकृतकी रूढ़ियोंसे मुक्त भाषाके पुराने काव्यकी परम्पराका हम जो संक्षिप्त विवेचन करते हैं वह इन्हींके आधारपर करनेके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं। वीरगाथा-काव्य यद्यपि सुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपोंमें उपलब्ध होता है, पर विशेष महत्वपूर्ण प्रबन्धात्मक स्वरूप ही है। साहित्यिक प्रबन्धके रूपमें जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त है वह है—'पृथ्वीराजरासो'। यद्यपि यह हमारे साहित्यमें आजतकके जितने ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें सबसे बृहत्काय है तथापि यह आमूलचूल उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्यकी कसौटीपर नहीं कसा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इसके इतने विस्तृत उनहत्तर समयों (सगों या अध्यायों) में अनेकानेक सुन्दर काव्य-सौष्ठव-पूर्ण प्रसंगोंका सन्निवेश भी है, प्राचीन समयमें प्रायः सभी छन्दों, विशेषतया कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, चोटक, गाहा, आर्या आदिका व्यवहार हुआ है, किन्तु छन्दोंकी विविधता, अध्यायोंकी विपुलता और रमणीय काव्यात्मक वर्णनोंका होना ही तो उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्यकी आधारशिला नहीं है। वस्तुतः प्रबन्धका मेरुदण्ड है—उसके कथानककी धारावाहिकता, उसमें प्रतिष्ठित राष्ट्रीयता, उसमें संयुक्त सार्वदेशीयता मानवता और इन सबके मूलमें प्रबन्धकारकी सर्वभूत-व्यापिनी दृष्टिका गम्भीर प्रकाश। 'रासो'में ये बातें कहाँ? वह तो कविके आश्रयदाताका प्रशस्ति-गानमात्र है जिसमें जीवनके एकांगी स्वरूप-का कृत्रिम प्रदर्शन है। अशान्तिकालका साहित्य होनेके कारण यह सांस्कृतिक दृष्टिसे भी अधूरा है, केवल क्षत्रिय जातिके वीरोत्साहका वर्णन करता है। हम इसे अव्यवस्थित प्रबन्ध-काव्यके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? ऐसे अव्यवस्थित प्रबन्धमें हमें सुव्यवस्थित परिधानकी आशा भी नहीं करनी चाहिये, अर्थात्

‘रासो’की भाषा भी अव्यवस्थित है। व्याकरणच्युत इसकी तिरंगी भाषा (अर्थात् कहीं अनुस्वारान्त संस्कृत और प्राकृतकी अन्धी नकल, कहीं अपभ्रंश या पुरानी हिन्दीके प्रयोग तो कहीं अर्वाचीन हिन्दीके स्वरूप) की लपेटमें पड़कर हम प्राचीन हिन्दी भाषा या साहित्यकी इतिहास-शृंखला नहीं बाँध सकते और न आगे कोई विशेष लाभ ही उठा सकते हैं।

वीरगाथा कालके अन्य छोटे-मोटे काव्य-ग्रन्थोंके विषयमें और कुछ न कहकर जब हम इस कालके अनन्तर प्रवाहित होनेवाले निर्गुण-मत-प्रचारक सन्त-साहित्यकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि इसमें भी काव्यके अविकसित स्वरूपका ही समावेश हुआ है। इसकी रचनाएँ केवल मुक्तकोंके रूपमें पायी जाती हैं। नामदेव, कबीर तथा अन्यान्य निर्गुणियोंके दोहे या पद मुक्तकके ही रूपमें हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर ऊटपटांग है। उनमें उपदेशात्मक और प्रचारार्थक वचनोंका प्राधान्य है। वे साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावात्मक रहस्यवाद पूर्ण भी हैं। उनमें सच्छास्त्रोंके प्रति अनास्था और प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म एवं उसके विधानोंकी निन्दा भी है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पद्धतिकी रचनाएँ साम्प्रदायिकतासे शून्य थी या मतवादका विषम विष नहीं वमन करती थीं। उनमें जीवनके प्रति उपेक्षा थी, वे वैराग्य प्रधान थीं। वैयक्तिक साधनाको प्रश्रय देनेवाली थीं।

इस सिलसिलेमें सूफी साहित्य-पद्धति भी अवलोकनीय है। इस पद्धतिके शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियोंकी प्रेम-गाथाएँ वास्तवमें साहित्य-कोटिके भीतर आती हैं। इनमें प्रायः सभी कवियोंने कहानियोंके द्वारा प्रेम-मार्गका महत्त्व दिखाया है। मार्मिक ढंगसे लौकिक प्रेमके बहाने उस प्रेम-तत्त्वका आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वरकी प्राप्ति करनेवाला है। इनकी सभी कहानियोंमें सामान्यतः यही वर्णित है कोई राजकुमार किसी राजकुमारीके अप्रतिम सौन्दर्यकी चर्चा सुनकर प्रेमोन्मत्त हो गया, उसकी प्राप्तिके लिए अपना सर्वस्व त्यागकर भारीसे भारी संकटों और आपत्तियोंको झेला और अन्तमें उसे प्राप्त किया। पर प्रेमकी पीरकी जो व्यञ्जना होती है वह ऐसे विश्व-व्यापक रूपमें होती है कि वह प्रेम इस लोकसे परेका दिखाई पड़ता है। प्रेम-कल्पना, उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्यञ्जना, बीच-बीचमें रहस्यमय परोक्षकी ओर हृदय-ग्राही मधुर संकेत आदि भी सूफी कवियोंकी निजी विशेषताएँ हैं। कुछकी रचनाओंमें साधनात्मक रहस्यवाद, हठयोग आदिकी जो झलक मिलती है वह भारतीय योगियों, रसायनियों और तान्त्रिकोंका प्रभाव है। अपनी प्रेम-कल्पनाकी अभिव्यक्तिके लिए सूफी कवियोंने जिन प्रतीकात्मक कथाओंको चुना वे हिन्दुओंके घरमें प्राचीन कालसे प्रचलित कहानियाँ हैं। ‘कहानियोंका मार्मिक आधार हिन्दू हैं’। सूफियोंके प्रबन्ध-काव्यों की रचना संस्कृत महाकाव्यकी सर्गबद्ध-पद्धतिपर नहीं है, फारसीकी मसनवी शैलीपर है, पर शृंगार, वीर आदिके वर्णन कुछ अंशोंमें चली आती हुई भारतीय काव्य परम्पराके अनुसार है। इस पद्धतिके सभी प्रबन्ध काव्योंके छन्द एवं भाषामें एकरूपता है, अर्थात् भाषा ठेट अवधी है और प्रयुक्त छन्द हैं—चौपाई-दोहा। आख्यान-काव्योंके लिए चौपाई-दोहेकी परम्परा बहुत पुराने (विक्रमके ग्यारहवें शतकके) जैन चरित काव्योंमें मिलती है, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। सूफी साहित्य-पद्धतिमें यों तो अनेक कवि आते हैं, पर उन सबमें जायसी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनका ‘पद्मावत’ हिन्दी-काव्य-क्षेत्रमें एक अद्भुत रत्न है।

अब हमें साहित्यकी उस पद-पद्धतिकी ओर देखना है जिसके द्वारा कृष्णोपासनाका मंजु स्वरूप युतिमान् हुआ। इस पद्धतिके विपुल भण्डारको सम्पन्न करानेवाले अगणित पदोंके सम्बन्धमें कदाचित् यह

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये ब्रजभाषा मुक्तकमें प्रगीतोंके रूपमें हैं। जिज्ञास्य है कि हिन्दी-साहित्यमें ऐसे मुक्तक पदोंका चलन कबसे आया। अमीर खुसरोंके गीतों, विद्यापतिकी पदावली तथा कबीरकी पदावलीका ध्यानमें रखते हुए यह कथन समीचीन होगा कि मुक्तक पदोंकी रचनाएँ भी हिन्दी-साहित्यके आदि कालसे ही होती रही। पर उनका चरमोत्कर्ष सोलहवें शतकमें प्रस्फुटित हुआ, जैसा कि कृष्णोपासक अष्टछाप तथा अन्यान्य कृष्णभक्त कवियोंकी रचनाओंसे अवगत होता है। सूरदासके अत्यन्त मधुर और मनोहर पदोंको हम पद-पद्धति-साहित्यका सर्वोत्कृष्ट आदर्श कह सकते हैं। इनमें जो रचना-प्रगटभता और काव्यरंगोंकी परिपूर्णता है उसके आधारपर 'सूरसागर' किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है। इस पद्धतिके वर्ण्य-विषयकी ओर देखनेसे प्रकट होता है कि इसमें कृष्णकी बाल-लीला तथा विशेष रूपसे राधा-कृष्णकी प्रेम-लीला ही सबने गायी है। किसीने उनका सर्वांगीण चरित्र नहीं ग्रहण किया है। फलतः पद-रचनाओंमें न तो जीवनके अनेक गम्भीर पक्षोंका मार्मिक पोषण हुआ और न अनेकरूपता ही आयी है। हाँ, इस पद्धतिने वास्तव्य और शृंगाररसका अपार सागर भर दिया, इसमें सन्देह नहीं।

गोस्वामीजीके पूर्वकी पद्धतियोंके संक्षिप्त परिचयके साथ उनकी एकागिकता और अपूर्णताका आभास दिया जा चुका। अब, जब हम तुलसीकी रचनाओंकी ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें उनके साहित्यिक उपहारकी नवीनता और व्यापकता ही चतुर्दिक् दृष्टिगत होती है। उन्होंने चन्दबरदाईकी भोंति ऐसा प्रबन्ध-महाकाव्य नहीं लिखा जो किसी प्रकार एकदेशीय, अव्यवस्थित, अविकसित हो, या उत्कृष्ट प्रबन्धगत विभूतियोंसे शून्य हो, प्रत्युत उन्होंने ऐसा महाकाव्य प्रस्तुत किया जिसमें प्रबन्ध-पटुताकी सर्वांगीण कलाका पूर्ण परिपाक हुआ और जो हिन्दीके प्रबन्धकाव्योंका आदर्श तथा शिरोमणि बना। आश्रयदाता राजाकी प्रशस्ति गानेके लिए चारणों या भाटोंकी जो कवित्त, छप्पय सवैया आदिकी मुक्तक पद्धति आदिकालमें चली थी उसमें भी तुलसीने क्या भाषा, क्या भाव, सभी दृष्टिसे पूर्णता ला दी। उन्होंने 'कवितावली'के मुक्तक छन्दोंमें अपने उपास्यका ऐसा मार्मिक प्रशस्ति-गान किया कि उसकी समता कोई प्राकृत-जन-गुण गायक कवि क्या करेगा। जिन कवित्त सवैया आदिको चारणोंकी संकुचित दृष्टिने वीर या शृंगारकी अभिव्यक्तिका एकमात्र छन्द समझा था उन्हींको बाबाजीने ऐसे सुडौल रूपसे ढाला कि उनमें सभी रसोंकी सुपमा देखते ही बनती है। कबीर और जायसीके मन्तव्योंको यथोचित सामञ्जस्य और परिष्कार तथा शैलीका संस्कार करके अपना लिया। इसलामी प्रभावके कारण इन दोनोंमें भारतीयता और सांस्कृतिक चेतनाका अभाव तो था ही, साथ ही वे हिन्दुओंके धार्मिक और सामाजिक ऐतिह्य तथ्योंसे पराङ्मुख भी थे। रहस्यवादी तो थे ही। गोस्वामीजीने इनकी उक्त त्रुटियोंको त्यागकर उनकी बातोंमें पूर्ण भारतीयता और संस्कृतिका योग करके उन्हें सांगोपांग काव्यके रूपमें प्रकट किया। उन्होंने पदपद्धतिको भी अपनाया। एक ओर उपासना और साधना-प्रधान एकसे एक बढ़कर 'विनयपत्रिका'के पद रचे और दूसरी ओर लीला-प्रधान 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली'के पद। उपासना-प्रधान पदोंकी जैसी व्यापक रचना तुलसीने की है वैसी इस पद्धतिके अद्वितीय कवि सूरदासने भी नहीं की। पदोंकी भाषामें प्रान्तीयता और तोड़-मरोड़की जो भरी गाँठें थीं उन्हें सुलाकर सार्वदेशीय सुसंस्कृत ब्रजभाषाका बेजोड़ प्रयोग करना भी तुलसीने सिखाया। उन्होंने कुछ लोकगीतोंको साहित्यिक रूप देनेका कार्य किया जैसा कि 'नहछू', दोनों 'मंगल' और 'बरवै'की रचनाओंसे प्रकट होता है।

गोस्वामीजीने कवि-कर्मकी महिमा तथा उसकी दुरुहताके व्यञ्जनार्थ अपनी प्रभूत विनम्रतावश अपने विषयमें कहा है—

‘कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू । सकल कला सब विद्या हीनू ॥
कवित विवेक एक नहि मोरे । सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥’

...

...

...

‘कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ । मति अनुरूप रामगुन गावउँ ॥’

काव्यके विविध रूपोंपर अधिकार

इस कथनको देख उनकी अलौकिक कवित्व-शक्तिपर किसी प्रकारका आवरण नहीं डाला जा सकता । यह बात अवश्य है कि मुख्य रूपसे वे भक्त थे, पर आनुवंशिक रूपसे कवि भी । उनकी कृतियों प्रमाणित करती हैं कि काव्यके विविध रूपोंपर उनका अनन्य अधिकार था । कविताके मुख्य दो विभाग किये जा सकते हैं, प्रथम भावात्मक, व्यक्तित्व-प्रधान अथवा आत्माभिव्यञ्जक कविता तथा द्वितीय विषय-प्रधान अथवा लोकाभिव्यञ्जक कविता । इन दोनों विभागोंके लिए कर्तृ-प्रधान कविता (सवजेकितव पोएट्री) तथा कर्म-प्रधान कविता (आवजेकितव पोएट्री) का प्रयोग भी अनुपयुक्त न होगा । कर्तृप्रधान कवितामें कविका हृदय उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जैसे एक उत्तम, सुप्रभ दर्पणमें किसी व्यक्तिका प्रतिबिम्ब । यद्यपि इस प्रकारकी कविता कविके वैयक्तिक विचारों और भावोंकी व्यञ्जक होती है पर इसके साथ ही यह भी स्मरण रहे कि ये व्यञ्जित भाव मानव-जातिके भावोंके प्रतिनिधि होते हैं । तभी तो वे पाठकोंको भी आत्मीय उद्गार-से प्रतीत होते हैं । शृंगार, नीति, स्तुति, निन्दा आदिकी मुक्तक रचनाओंका अन्तर्भाव इसी कोटिमें किया जाता है । कर्मप्रधान कविताका कविके विचारों और मनोभावोंसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता । उसके विषय सांसारिक भाव और कार्य होते हैं । कवि बाह्य जगत्में जा मिलता है और उसीसे प्रेरित होकर अपनी कविताका विषय ढूँढ़ता है, फिर उसे अपनी कलाका उपादान बनाता है और अपनी अन्तरात्माको जहाँतक हो सकता है, प्रच्छन्न रखता है । उसकी दृष्टि जगत्के वास्तविक दृश्यों और जीवनकी वास्तविक दशाओंके निरूपणकी ओर रहती है, न कि आत्माभिव्यञ्जनाकी ओर । कर्म-प्रधान कविताके मुख्य भेद खण्डकाव्य और महाकाव्य हैं । कर्तृ-प्रधान और कर्म-प्रधान दोनोंमें उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, तथापि कर्म-प्रधान कविता यथातथ्यपर विशेषतया आधारित होनेसे विषयके यथार्थ निरूपणके कारण श्रेष्ठ समझी जाती है ।

विचारणीय है कि काव्यके उक्त स्वरूपों अर्थात् मुक्तक, खण्डकाव्य तथा महाकाव्यपर गोस्वामीजीने अपना कैसा अधिकार दिखाया है । मुक्तक काव्यके स्वरूपकी ओर ध्यान आकृष्ट होते ही, सर्वप्रथम, हम देखते हैं कि उसमें प्रत्येक पद्य अपनी अलग सत्ता बनाये रहता है । ऐसा नहीं होता कि एक पद्य अपना अस्तित्व रखनेके लिए दूसरे पद्योंपर किसी प्रकार अवलम्बित रहता हो । यद्यपि अभिनवगुप्ताचार्यने कहा है—‘पूर्वापर-निरपेक्षापि हि येन रसचर्चणा क्रियते तदेव मुक्तकम्’ अर्थात् जिसका रसास्वाद पूर्वापर प्रसंगोंकी अतेक्षा नहीं रखता उसे मुक्तक कहते हैं, ऐसा होनेपर यह आवश्यक नहीं है कि मुक्तक पद्यमें किसी रसकी ही निष्पत्ति हो । उसमें वाग्वैदग्ध्य और सुभाषित अर्थात् नीति-धर्म-उपदेश-समन्वित सूक्ति भी हो सकती है । मुक्तकका उपयोग वस्तुतः नीति-सुभाषितमें ही अधिक फवता है, क्योंकि इसमें पूर्वापर प्रसंगकी इतनी आवश्यकता नहीं रहती । मुक्तककी परिधिमें रसके विविध अवयवोंको जुटाकर रसकी निष्पत्तिका सांगोपांग

निर्वाह करना वड़े ही कुशल कविका कर्म है, फलतः ऐसे प्रसंगोंमें मुक्तककारको अधिकांशमें व्यञ्जनाशक्तिका प्रयोग करना पड़ता है। इसमें बहुधा पूर्वापर प्रसंगकी कल्पनाका कार्य सहृदय पाठक या श्रोतापर छोड़ दिया जाता है। वे मुक्तकका आनन्द उठानेके लिए एक पूरे प्रसंगका स्वतः मानसिक अध्याहार कर लेते हैं। मुक्तकका प्रभावामिव्यञ्जन इस बातका द्योतक है कि जहाँ खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि प्रबन्धोंमें भावकी पुनः-पुनः दीप्ति होनेके कारण कुछ कालतक प्रसरणशीलता देखी जाती है, वहाँ मुक्तक रचनाओंमें यह भावदशा कुछ क्षणोंतक ही टिकती है, पर वह इतनी तीव्र और मार्मिक होती है कि उसका प्रभाव भी किसी प्रकार हीन नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रबन्धमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटितपूर्ण जीवनका दर्शन करते हुए कथाप्रसंगकी पारिस्थितिमें अपनेको भुला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदयमें एक स्थायी भाव ग्रहण करता है, किन्तु मुक्तकमें रसके ऐसे रिनग्ध छीटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देरके लिए खिल उठती है। उसमें अधिकसे अधिक एक मर्मस्पर्शी खण्डदृश्यके सहसा सामने लाये जानेके कारण पाठक या श्रोता मग्न-मुग्ध-सा हो जाता है अवश्य, किन्तु कुछ क्षणोंके लिए ही। यह स्मरण रहे कि मुक्तककी इस कुछ क्षणोंकी ही मुग्धकारिणी प्रकृतिमें भी कभी-कभी जीवनपर्यन्त टिकी रहनेवाली विशेष मनःस्थितिकी अनूठी व्यञ्जना भी रहती है। प्रबन्धकार प्रबन्धको काल-व्यतिक्रम दांसे बचाने, चरित्रांकन और वर्णनकी दृष्टिसे पूर्णता लाने तथा उसके अन्यान्य नियमोंका निर्वाह करनेके नियन्त्रणमें पड़कर स्वच्छन्दतासे अपना हृदय खोलकर नहीं दिखा पाता; इसके विपरीत मुक्तकार पूर्ण स्वातन्त्र्यके साथ अपने हृदयका अणु-अणु बिना किसी प्रतिरोधके दिखा सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्तककी संक्षिप्तताकी उपयोगिता भी निर्विवाद है। जीवनके झमेलोंमें व्यस्त प्राणियोंको प्रबन्धका आनन्द उठानेके लिए इतना अनिव्यर्थ अवकाश कहाँ है। जहाँ उनका समय परस्पर आनन्द-विनोदमें व्यय हो रहा है वहाँ प्रबन्धके लिए स्थान नहीं है। सभा-समाजोंके लिए मुक्तककी संक्षिप्त रचना ही उपयुक्त है। मुक्तककी इन विशेषताओंको अनावृत्त करनेका अभिप्राय प्रबन्धकी गरिमापर आक्षेप करना नहीं है। प्रबन्ध-काव्य तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु मुक्तक भी आरोचनयुक्त होनेसे निन्द्य नहीं कहा जा सकता।

मुक्तककी इस सामान्य चर्चाके अनन्तर हम 'दोहावली', 'बरवै रामायण', 'कवितावली', 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'विनयपत्रिका'का नामोल्लेख इसलिए करते हैं कि ये गोस्वामीजीकी उत्कृष्ट मुक्तक रचनाएँ हैं। इन्हें मुक्तककी किसी तुलापर तौलिये, इनके सभी पद्य सन्तुलित मिलेंगे। ऐसे सन्तुलनके समय हमें यह भी स्मरण रहे कि पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं। अर्थात् तुलसीके सभी मुक्तक पद्य उत्तम कोटिके व्यंग्य-प्रधान काव्य ही नहीं हैं, उनमें मध्यम कोटिके गुणीभूत काव्यके नमूने भी हैं और अधम कोटिके अव्यंग्य-काव्यके भी। अन्तिम श्रेणीके काव्यमें बाबाजीके उन सभी पद्योंकी परिगणना करनी चाहिये जिनमें शब्दचित्र और वाच्यचित्रकी रमणीयताके साथ उन्होंने सामान्य अनुभूतिके क्षेत्रके सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और पारमार्थिक तथ्योंको ही ऐसे नये और विशेष ढंगसे कहा है कि वे अपनी प्रभविष्णुता और प्रसाद गुणके कारण जनसाधारणके हृदयमें घर कर लेते हैं। 'दोहावली'में ऐसे कथनोंका आधिक्य है।

गोस्वामीजीकी मुक्तक श्रेणीमें आनेवाली रचनाओंके विषयमें यह भी ध्यान देनेकी बात है कि मुक्तक होनेपर भी उनमें सभी कर्तृ-प्रधान नहीं हैं, प्रत्युत अधिकांश कर्म-प्रधान ही हैं। 'गीतावली' यद्यपि गीतकाव्य है, फिर भी वह आद्योपान्त कथाको लेकर चली है। इसी प्रकार 'कवितावली'के लंकाकाण्डपर्यन्त जिन पद्योंका निर्माण हुआ है वे सब भी कथाप्रसंग लेकर चले हैं। केवल उसके उत्तरकाण्डमें कविका आत्माभिव्यञ्जन परिलक्षित होता है। इसी प्रकार 'विनयपत्रिका'के पदोंमें भी उन्होंने अपना वैयक्तिक हृदय खोल-

गालकर दिखाया है। अस्तु, 'विनयपत्रिका' के अधिकांश पदों और 'कवितावली' के उत्तरकाण्डकी रचनाओं-को कर्तृप्रधान काव्य कहा जा सकता है, अन्यथा उनकी अन्य मुक्तक रचनाएँ भी कर्म-प्रधान काव्य हैं।

विचारणीय है कि गोस्वामीजीकी अक्षय कीर्तिके मूल आधार 'मानस' के प्रणयनमें शास्त्रीय महाकाव्योचित लक्षणोंका अनुधावन कैसे किया गया है। संस्कृतके प्राचीन आलंकारिकोंमें भामह और दण्डी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मध्यकालीन आलंकारिकोंमें विश्वनाथ कविराज भी। इन्हीं तीनोंके ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट महाकाव्यके लक्षणोंको ध्यानमें रखकर उनके प्रकाशमें 'मानस'का महाकाव्यत्व दिखानेका प्रयास किया जाता है।

'मानस'में सर्गबन्धके स्थानपर जो आख्यान-योजनाकी रीति अवगत होती है वह ऋषि-प्रणीत महाकाव्यके अनुसार है। ग्रन्थारम्भमें देवोंका अभिवादन तो महाकाव्यकी रीतिका पालन है पर विशिष्ट रूप में। एक ओर तो वह सामान्य परम्परागत है दूसरी ओर मौलिकता-जन्य वैशिष्ट्य युक्त भी है। वन्दनाओंका यह द्विधा रूप-सगमिश्रण तुलसीकी अलौकिक प्रतिभाकी अपूर्व देन है। ऐसी वन्दनाको देखते हुए न भूतो न भविष्यति ही कहना पड़ता है। वन्दनाओंके प्रथम अंशके अन्तर्गत मंगलाचरणमें गणेश, सरस्वती आदि देवों तथा गुरुकी वन्दना आती है, और दूसरा अंश अपने भव्य और विशाल रूप में पहले अंशके पश्चात् आरम्भ हुआ है। इसके अन्तर्गत आनेवाली सभी वन्दनाओंकी चार सुनिश्चित श्रेणियाँ अवगत होती हैं, जो पूर्ण स्वतन्त्र न होकर परस्पर सम्बद्ध भी हैं; अभिप्रायप्रेरित, प्रयोजन तथा हेतुनियोजक तो हैं ही; सोद्देश्य और उसकी पूर्तिके साधन भी हैं। कविकी मौलिकताजन्य दूसरे अंशकी वन्दनाओंकी चतुश्रेणियाँ ये हैं —

(क) सज्जन, साधु, संत तथा खल असाधु, असंतकी वन्दना ।

(ख) चराचर विश्वकी वन्दना ।

(ग) रामकथाके प्रणेता अन्य कवियोंकी वन्दना ।

(घ) कथाके राम पक्षीय पात्रोंकी वन्दना ।

इन श्रेणियोंमें उपलब्ध वन्दनाओंकी विशेष विवेचना करनेका अवकाश नहीं।

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम इस महाकाव्यके धीरोदात्त नायक हैं ही। उसमें चतुर्वर्गकी सिद्धिका उदात्त लक्ष्य भी है, उपक्रममें गोस्वामीजीने स्वयं कहा है—'अर्थ धरम कामादिक चारी। कहव ग्यान विग्यान विचारी'। नगर-वर्णन महाकाव्यका अंग है, इसे देखना हो तो जनकपुरी, लंका तथा अयोध्याकी रम्यता एवं वैभव के द्योतक वर्णनोंका अवलोकन कीजिये। ग्रन्थमें समुद्र और सासुद्रिक जलचरोंका दृश्य भी अंकित है। पर्वतीय प्रान्तों और वनखण्डोंकी सुषमा चित्रकूट-वर्णनमें देखी जा सकती है। ऋतुओंका वर्णन ढूँढ़ना हो तो सीता-हरणके पश्चात् रामके प्रवर्षण-वासके प्रसंगमें वर्षा और शरद् ऋतुके रुचिर चित्रणको देखिये। ऋतुराज वसन्त तो अनेकानेक प्रसंगोंमें चित्रित है, विशेषतः जनककी वाटिकामें तो उसका अवतार ही बताया गया है। चन्द्रोदय और सूर्योदयके मनोहर वर्णनका अभाव भी नहीं है। उद्दीपनके रूपमें वर्णित जनकके उद्यानमें सीता-रामके पूर्वानुरागका चरमोत्कर्ष-प्रदर्शन भी अप्रतिम है। महाकाव्यके अन्याय

१. महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणोंका निर्देश भामहने 'काव्यालंकार'के प्रथम परिच्छेदके श्लोक १९ से लेकर आगेके कई श्लोकोंमें किया है।

महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणोंका निर्देश दण्डीने 'काव्यादर्श'के प्रथम परिच्छेदके श्लोक १५ से लेकर आगेके कई श्लोकोंमें किया है।

महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणोंका निर्देश विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'के श्लोक ३१५-२७ में किया है।

लक्षण, यथा—संयत संयोग-शृंगार, विप्रलम्भ-शृंगार, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मन्त्र, दूतकर्म, अभियान, युद्ध और नायकके अभ्युदय आदिके उत्तमोत्तम वर्णनोंकी छटा भी 'मानस'में है। इसके यथोचित विस्तृत, अलंकृत और सरस एवं भाव परिपूर्ण होनेमें कोई सन्देह नहीं है। इसकी प्रत्येक कथा अपनी उचित परिधिमें वर्तमान है। इसमें श्रुतिमधुर प्रसंगानुकूल छन्दों और उपयुक्त नाट्य-सन्धियोंका भी पूर्ण समावेश है। यह महाकाव्योपयोगी तीनों प्रधान रसों (शृंगार, वीर, शान्त)से पूर्णतया अभिषिक्त है, पर यह अवश्य है कि इसमें शान्त (भक्ति) रस ही सर्वोपरि विराजमान है, अन्य सभी रस इसीके (भक्ति रसके) अंगभूत हैं। इसमें आरम्भमें खलंकी निन्दा और सज्जनोंकी प्रशंसाका प्रसंग भी सन्निविष्ट है। महाकाव्यके अन्य छोटे-मोटे लक्षण भी इसी भाँति 'मानस'पर घटित हो सकते हैं।

इस प्रकार 'मानस' महाकाव्यके प्रायः सभी लक्षणोंसे सम्पन्न है। गोस्वामीजीने इस महाकाव्यमें ऐसी विशेषताएँ भी सन्निविष्टकी है जो उनके जीवनोन्नायक व्यक्तित्व, अलौकिक प्रतिभा एवं मानवीय उच्च आदर्शोंमें अखण्ड आस्थाके रुचिर परिणामस्वरूप हैं। अधिकांश संस्कृत-महाकाव्य-प्रणेताओंकी रुचि जहाँ पाण्डित्य प्रदर्शनोंमुख होनेके कारण शब्दाडम्बर-स्फीत अलोकसामान्य वाक्यसरणि ग्रहण करने और जन-सामान्यके जीवन-यात्रा-चित्रणसे दूर रही वहाँ लोकोपकारक तुलसीकी रुचि सर्वसाधारणके जीवनकी व्यापक भूमिपर स्थिर होकर सामान्य वाक्य-शैलीके द्वारा भी उत्कृष्ट चरित अथवा भावकी अभिव्यक्तिमें रमी। अपने उद्वेग-जनक युगको प्रतिबिम्बित करते हुए तत्कालीन संघर्षोंके प्रशमनकी युक्ति निकालने तथा साम्प्रदायिक समन्वय करनेका जैसा कुशल प्रयत्न तुलसीने अपने महाकाव्यमें किया है वैसा केवल आकार-प्रकार और वर्ण्य-वर्णन आदिका अनुपालन करनेवाले संस्कृतके अधिकांश महाकाव्य-रचयिताओंसे नहीं हो पाया। पात्रोंके चरित्रांकनमें भी गोस्वामीजीने अपनी मौलिक दृष्टि रखी है। यह नहीं किया है कि लक्षण-ग्रन्थोंमें गिनाये हुए गुणोंका रंग भरकर नायकका ढाँचा खड़ाकर दिया हो या किसी प्रमुख पात्रका चरित्र अविकसित, कृत्रिम अथवा असुन्दर बना दिया हो। मनोवैज्ञानिक रीतिसे चरित्रगत विशेषताओंका उद्घाटन करते हुए पात्रोंका जैसा सहज स्वभाव तुलसीने दर्शाया है वैसा संस्कृतके कुछ ही महाकाव्योंमें मिल सकता है। रामके चरित्रमें नरत्व और नारायणत्वके अपूर्व सामञ्जस्यकी प्रतिष्ठाके द्वारा तुलसीने भक्तिका जो अनन्य आलम्बन खड़ा किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति और भातृत्वका जैसा मणि-काञ्चन-संयोग भरतके चरित्रसे प्रतिष्ठित किया है वैसा सर्वत्र सुलभ नहीं। वर्णनों, घटनाओं और भावोंका जब सुषम अनुपातमें समन्वय रहता है तो महाकाव्यकी श्री और ही प्रकारकी होती है। आदिकाव्योंको छोड़कर जय हम संस्कृतके अन्य महाकाव्योंकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे एक प्रकार विकलांग-से प्रतीत होते हैं। उनमें घटनात्मकताका हास और वर्णनात्मकताका प्राधान्य स्पष्टतः प्रकट होता है। बृहत्त्रयीमें प्रधान 'नैषधीय-चरित' में वर्णनोंका बाहुल्य ही तो है। घटनाएँ तो नाममात्रकी ही हैं। तुलसीने संस्कृत-महाकाव्योंकी रुढ़िगत परिपाटीकी नकल नहींकी, प्रत्युत उन्होंने अपने महाकाव्यमें घटनाओं, वर्णनों और भावोंकी बड़ी ही अनुगुण योजनाकी है।

गोस्वामीजीके महाकाव्यको पाश्चात्य 'एपिक' के चक्षुसे देखकर भी श्लाघ्य ही कहना होगा। 'एपिक' के दोनों भेदों—अर्थात् 'आथेण्टिक एपिक' तथा 'लिटरेरी एपिक' की विशेषताएँ 'मानस' में

१. 'आथेण्टिक एपिक' में संगीतत्वका प्राधान्य होता है, उसकी रचना श्रोताओंके समक्ष गानेके लिए होती है, इसके विपरीत 'लिटरेरी एपिक' का निर्माण अध्ययनार्थ होता है। दे० अबरक्राम्बी : 'दि एपिक' पृ० ३१।

वर्तमान हैं। तभी तो इसमें श्रोताओंको संगीत-लहरीका अमित आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही सहृदयोंको साहित्यम् । 'एपिक' की आधारशिला कोई आख्यान होता है जिसका कथन तो अपूर्व और उदात्त रूपमें रहता ही है, साथ ही स्वयं उस आख्यान अथवा उसकी कथन प्रणालीमें विलक्षण सारगमिता भी अवश्य रहती है^१। इस दृष्टिसे भी 'मानस' पूर्ण है, क्योंकि भक्त कविकी यह अपूर्व कला है जो उसने इस चरित्र-काव्यमें भी अपने प्रधान प्रतिपाद्य भक्तिको इस प्रकार सन्निविष्ट किया है कि वह चरित-प्रवाहके साथ-साथ सरस्वतीकी लुप्त धाराके समान अप्रतिहतगति चलती है और अन्तमें वह पीयूष-निष्यन्द प्रसूत करती है जो सहसा सत्पुण्य भक्त हृदयको परम आप्यायित तथा तृप्तकर देता है। 'एपिक' की अंगभूत और छोटी-मोटी बातोंके अतिरिक्त उसमें निरययातना और कुछ अतिप्राकृत उपादानोंका सन्निवेश भी रहता है, क्योंकि ये दोनों तत्त्व महाकाव्यकी कार्यगतिमें व्यापकता लाते हैं^२। 'एपिक' में अमृत्यांकी अवतारणा भी होती है। वे अपनी वाणी और कार्यसे प्रबन्धमें वर्णित कार्यधाराका महत्त्व संसारको दिखाते रहते हैं^३। वस्तुतः महाकवि मनुष्य और मनुष्यके सांसारिक प्रयोजन अथवा लक्ष्यका गान करता है, देवोंके लक्ष्यका नहीं। देवगण मनुष्यके नियत-पथको प्रकाशित करते हैं अवश्य, पर उनके इस सुन्दर प्रकाशनको परिधिके भीतर ही रखना चाहिये^४। प्रबन्ध-काव्य किसी विशेष प्रकारकी जीवन धाराकी अभिव्यक्ति भी प्रतीकात्मक ढंगसे करता है^५। इन विशेषताओंको भी यदि हम 'मानस' में देखना चाहें तो हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। यही नहीं, हम सिर उठाकर यह भी कह सकते हैं कि तुलसीके महाकाव्यमें जैसी आदर्श और उन्नायक चरित-कल्पना है वैसी न मिल्टनके 'पैराडाइज लॉस्ट' में है, न स्पेन्सरकी 'केयरी क्वीन' में और न दाँतेकी 'डिवाइना कमेडिया' में। साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक समन्वयकी जो जटिल समस्या तुलसीके सामने थी वह इन पाश्चात्य 'सैक्रेड एपिक्स' के रचयिताओंके समक्ष नहीं थी। लोक-संग्रहकी तीव्र भावनासे ओत-प्रोत होनेके कारण तुलसीका महाकाव्य लोक-जीवनको पूर्णतया ग्रहण किये हुए है, पर दाँते या मिल्टन आदिके महाकाव्यकी रंगस्थली तो इतर लोकमें है 'मानस' और भी कितनी ही विशेषताओंसे युक्त है, पर उन सबको छोड़कर अब हम दो-चार शब्दोंमें यह संकेत करना चाहते हैं कि गोस्वामीजीका खण्ड-काव्य-रचनापर भी विशेष अधिकार था।

खण्डकाव्य महाकाव्यकी भाँति प्रबन्धकाव्य ही है। इसीलिए खण्डकाव्यमें महाकाव्यके वर्णनीयोंमेंसे कुछ ही सन्निविष्ट किये जाते हैं। खण्डकाव्यमें किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथानक-खण्डको वर्णनीय बना सकते हैं। खण्डकाव्यका आधार काल्पनिक घटना भी हो सकती है और उसका उद्देश्य भी साधारण हो सकता है, पर महाकाव्यमें महत् उद्देश्यका होना आवश्यक है। खण्डकाव्यान्तर्गत गोस्वामीजीकी ये कृतियाँ परिगणनीय हैं—'रामलला नहछू', 'पार्वतीमंगल' और 'जानकीमंगल'। 'नहछू' उपवीतके अवसर पर गाया जानेवाला गार्हस्थ्य-जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी गीत है। इसमें अयोध्यामें होनेवाला रामके पैरके नखोंके कर्तनका पूर्वांग-भूत कृत्य बड़े ही रञ्जक ढंगसे वर्णित है। 'पार्वतीमंगल' में पार्वतीके विवाह का वर्णनमात्र है, जिसमें महाकवि कालिदासके 'कुमारसंभव' से भी सहायता ली गयी है, कुछ छंद तो छायानुवादके रूपमें ही रखे गये हैं। 'जानकीमंगल' में सीताके विवाहका वैसा ही वर्णन है जैसे 'पार्वती-मंगल' में पार्वतीके विवाहका। इन तीनोंमें कविने तत्कालीन गार्हस्थ्य-जीवनकी बड़ी ही सटीक और सुन्दर झाँकी करा दी है। ये तीनों ही पूरबी अवधीमें लिखे गये हैं, भाषा बड़ी ही मधुर और ठेठ रूपमें प्रयुक्त है।

१. 'दी एपिक' पृ० ४२। २. वही, पृ० ५२। ३. वही, पृ० ५३। ४. वही, पृ० ५५। ५. वही, पृ० ६९।

श्रव्यकाव्यके त्रिविध स्वरूपों अर्थात् मुक्तक, खण्डकाव्य और महाकाव्यपर विशेषाधिकार रखनेके परिणामस्वरूप गोस्वामीजीने अपने जिस साहित्यका सर्जन किया उसमें प्रयुक्त भाषापर उनका आधिपत्य भी विचारणीय है। अवधीमें निर्मित 'रामचरितमानस' तथा ब्रजभाषामें रचित 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली', 'विनयपत्रिका' प्रभृति कृतियोंकी भाषाका मर्म भली-भाँति समझ लेनेपर यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि इनके द्वारा उन्हें मध्यकालीन भारतकी एक ऐसी भाषाका प्रस्थापन अभीष्ट था जो समस्त उत्तरापथकी राष्ट्रभाषा हो सके। यदि उनका यह व्यापक उद्देश्य न होता तो जायसीकी भाँति वे भी अपने महाग्रन्थको कोरी प्रान्तीय ठेठ अवधीके संकीर्ण कठघरेमें बन्द करके रखते, ब्रजभाषावाली कृतियोंको एकमात्र ऐसी विशुद्ध, चलती और टकसाली ब्रजभाषामें ढालते कि रसखान और घनानन्द भी चौंधिया जाते। वस्तुतः गोस्वामीजीने अवधी और ब्रज दोनोंके बाह्य रूप और उनकी सूक्ष्म अपरिहार्य प्रवृत्तियोंकी यथासम्भव रक्षा करते हुए उन्हें राष्ट्रभाषाके उपकरणोंसे सम्पन्न करनेका सफल प्रयास किया है। उन्होंने दोनों भाषाओंको प्रशस्त करने और स्थायित्व देनेके लिए उनका सम्बन्ध मूल प्राचीन आर्य-भाषाओंसे अविच्छिन्न रखकर हिन्दी भाषाकी परम्पराका पालन एक ओर किया और दूसरी ओर अपने समकालीन समाजके अन्तर्गत विकसित और प्रचलित जन-सामान्यकी विभाषाएँ और बोलियों तकके ही नहीं, अपितु अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओंके अनेकानेक पदजात भी ग्रहण करके दोनों भाषाओंको अधिकसे अधिक व्यापक और सर्वजनमान्य स्वरूप देनेका प्रयत्न किया।

भाषापर आधिपत्य

प्राचीन आर्य-भाषाओंमेंसे संस्कृतको वे कैसा महत्व देते थे इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि 'मानस' के श्लोक, स्तुतियोंके छन्द और कहीं-कहीं चौपाइयोंकी मालाएँ भी संस्कृतके तत्सम शब्दों और विशेषतः संस्कृतमय श्रुतिसे शोभित और स्वरित होती हैं। 'विनयपत्रिका' में शिव और राम-स्तुति-सम्बन्धी अनेकानेक पदोंमें भी संस्कृत पदावलीका प्राचुर्य है। सामान्यतः भी उनकी ऐसी कोई कृति नहीं है जिसमें संस्कृतके तत्सम शब्दोंका अभाव कहा जा सके। गोस्वामीजीकी संस्कृत पदावली ऐसी नहीं है कि उसमें रञ्चमात्र भी कृत्रिमताकी गन्ध हो या पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिए पदजात भरती किये गये हों, प्रत्युत ऐसा प्रकट होता है कि संस्कृतके शब्द प्रकृतितः अपने उचित स्थानपर स्वयं आकर जम गये हैं, अपरिबृत्तिसह हो गये हैं। यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामीजीके समयकी हिन्दी भाषा, विभाषाएँ और बोलियों तकमें संस्कृतके अनेकानेक शब्द प्रतिष्ठित हो गये थे, अतः यह अनिवार्य था कि वे (तुलसीदास) प्रचलित संस्कृत शब्दोंका प्रयोग बराबर करते जैसा कि उन्होंने यथेष्ट परिमाण में किया भी है, इसके अतिरिक्त वे केवल संस्कृतमें ही चलनेवाली पदावलीसे भी अपनी दोनों भाषाओंके अङ्गोंको विभूषित करनेमें नहीं हिचके हैं। 'नव-रसाल-वन विहरन सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला' ॥ सटश तत्सम पदावली तो प्रयुक्त ही की गयी है, कितने ही सविभक्तिक पद भी गृहीत हुए हैं, यथा निम्नांकित अवतरणोंमें काले टाइपमें—
'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ' १। 'मृग लोग कुभोग सरेन हिये' १। 'मुकुट सुन्दर सिरसि', 'उरसि गजमनि माल' २। 'विपुल भूपति सदसि महुँ नरनारि कह्यो प्रभुपाहि' ३। इत्यादि शब्द। कहीं-कहीं 'मम', 'तव', 'ते', 'अहम्' आदि सर्वनाम भी अपने विशुद्ध रूपमें व्यवहृत हुए हैं, इसी प्रकार 'अस्मि', 'अस्ति', 'पश्य', 'वद' आदि क्रियाएँ भी कुछ स्थलोंपर बड़ी ही स्वाभाविकताके साथ जड़ी गयी हैं। 'इदं', 'अयं',

१. 'मानस', अयो० ६२. ७। २. वही, अयो० ५६. ४। ३. 'मानस', उ० १३. ७।
४. 'गीतावली', उ० गीत ६ की ८ वीं और १४ वीं पंक्ति। ५. 'विनय०', पद २१७।

‘किसपि’, ‘तेऽपि’, ‘अपि’, ‘कोऽपि’, ‘मोऽपि’ आदिके प्रयोग भी ‘मानस’ और ‘विनय’ में देखे जा सकते हैं। यही नहीं ‘मानस’ के श्लोकों और स्तुतियोंकी भाषामें यत्र-तत्र ‘नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा’, ‘तव नाम जपामि नमामि हर्ष’ या ‘पश्यामि राममनामय’ के समान विशुद्ध संस्कृत वाक्यापली भी उत्तम रीतिसे प्रयुक्त हुई है।

इस प्रकार गोस्वामीजीकी हिन्दीमें संस्कृत भाषाका समन्वय देखकर हम कह सकते हैं कि वे संस्कृत भाषा-कोविद भी थे। पर मेरा यह कथन उन व्याकरण-शास्त्रियोंको खलेगा जिन्होंने अपने इधर-उधरके लेखोंमें यह दिखानेका प्रयास किया है कि तुलसीने संस्कृत भाषाकी अल्पज्ञताके कारण ही व्याकरण की दृष्टिसे अशुद्ध प्रयोग किये हैं, जैसा कि ‘अतुलित बलधामं स्वर्णशैलाभदेहं’ ‘नमामि’ में ‘मम्ले’ अथवा ‘न्द्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेणहरतोपये’ में ‘तोपये’ आदिके प्रयोगोंसे प्रकट होता है। तुलसीदासजीकी संस्कृत ‘अष्टाध्यायी’ की नहीं, ‘सारस्वतचन्द्रिका’ की अनुगामीनी है। हिन्दीमें संस्कृत-शब्दोंका प्रचुर प्रयोग उन्होंने साभिप्राय किया है। इनके द्वारा एक ओर तो उन्होंने अपनी भाषाको शिष्ट स्वरूप दिया और उसे महत्तम और उन्नततम भाषाका बाहक और प्रकाशक बनाया और दूसरी ओर उन्हें देशभाषाके संयत और मनोरम सार्चमें ढालकर चलनसार और टकसाली रूप दे दिया। उनकी यह (भाषा-निर्माणकी) कला अपूर्व है। जिस कारीगरीसे उन्होंने संस्कृत-शब्दोंको देशी रूप दिया, संस्कृतकी जमीनपर पहले प्रान्तीय भाषाका रङ्ग चढ़ाया और फिर हिन्दी प्रत्ययों और विभक्तियोंके बूटे जड़कर हिन्दी धातुओंकी गोट लगायी वह सारी मोहक और प्राञ्जल छटा उन्हींका निर्माण है। हमारी मातृभाषाने उनमें अर्पण किया यह परिधान बड़े गौरवके साथ धारण किया है।

संस्कृतके अनन्तर अब प्राचीन आर्य-भाषाओंमें शौरसेनी और अर्द्धमागधी प्राकृतोंके नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि प्रथमसे ब्रजभाषा तथा उसकी बुन्देलखण्डी आदि विभाषाएँ और द्वितीयसे अवधी, वधेली, छत्तीसगढ़ी आदि उद्भूत हुई हैं। गोस्वामीजी उक्त दोनों प्राकृतों और अपनी दोनों भाषाओंके सन्निकृष्ट सम्बन्धसे पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्होंने दोनों प्राकृतोंकी कुछ विशेषताओंका समावेश अपनी दोनों भाषाओंमें किया है। उनकी अवधी और ब्रजभाषा दोनोंकी रचनाओंमें क्रियाके जो कर्मणि प्रयोग मिलते हैं उनमें प्राकृतसे गृहीत रूपोंका ही विकास अवगत होता है। यथा—

‘अब मुनिवर विलम्ब नहिं कीजइ । महाराज कहँ तिलक करीजइ ॥’

‘मानस’ उ० १.७

‘अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजइ । मज्जन करिय समर स्रम छीजइ ॥’

‘मानस’ लं० ११५. ५

‘देसकाल उपदेस मँदेसों सादर सब सुनि लीजै ।’

‘कृष्णगीतावली’ पद ४५

कहना नहीं होगा कि प्रथम अवतरणमें ‘कीजइ’ और ‘करीजइ’ पद प्राकृतके ‘किजइ और करिजइ’ के ही रूपान्तरमात्र हैं, इस प्रकार द्वितीय और तृतीय अवतरणके ‘लीजइ’ और ‘लीजै’ प्राकृतके ‘लिजइ’ एवं ‘लिजै’ से पृथक् नहीं हैं।

संस्कृतके अनुसार यदि कहना हो कि ‘वह जायगा’ तो इसे कर्तृवाच्य या कर्म-वाच्यके अनुरूप क्रमशः ‘चलिष्यति’ और ‘चलितव्यम्’के द्वारा व्यक्त करेंगे। शौरसेनी प्राकृतमें प्रथमका रूप ‘चलिस्सइ’ हुआ और अन्तमें विकसित होकर ‘चलिहै’ बना। आये दिन भी शौरसेनी प्राकृतसे प्रादुर्भूत ब्रजभाषा तथा उसकी अन्य विभाषाओंमें ‘चलिहै’का अभिप्राय ‘वह जायगा’ ही प्रचलित है। इसीके आधारपर पुरुष-वचन

आदिके अनुसार और रूप बने। उधर मागधीके वर्गवाली विभाषाओंमें संस्कृतके कर्मवाच्यमें 'चलितव्यम्'-का विकास पुरबी हिन्दीके 'चलव' रूपमें हुआ, पर यह लिंग, वचन आदिसे अप्रभावित होते हुए भविष्यत्-का द्योतक बना रहा, जैसे 'हउं चलव', 'तुम्ह चलव', 'सोइ चलव' आदि। 'मानस'में इन दोनों रूपोंके प्रयोग बराबर किये गये हैं। निम्नांकित दोनों अर्द्धालियोंमें देखिये—

‘हौ मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सनमुख फौज रेंगाई ॥’

‘मानस’ लं० ७८. १२

‘सुनि सुख लहव राम वैदेही। अनुचित कहव न पंडित तेही ॥’

‘मानस’ अयो० १७३. ५

गोस्वामीजीने पूर्वकालिक क्रियाका स्वरूप प्रकट करनेके लिए जो 'इ' जोड़ा है—जैसे बोलि', 'सुनि', 'देखि', आदि—वह भी प्राकृतमें पूर्वकालिक क्रिया-निर्माण करनेके नियमके अनुरूप है। अपभ्रंशमें भी यद्यपि 'इ' जोड़कर पूर्वकालिक क्रिया बनती थी, पर उसमें 'अवि' 'एप्पि' 'एप्पिणु' आदि प्रत्ययोंके संयोगसे भी वही कार्य होता था। शौरसेनी अपभ्रंशके अनुसार क्रियाका आज्ञासूचक स्वरूप भी इकारान्त होता था, तुलसीने इस प्रकारके प्रयोग भी किये हैं। अपभ्रंशमें ह्रस्वटित—'हैं', 'हूँ', 'ह', 'हं', 'हि', 'हि', 'हो' आदि विभक्तियाँ बहुत-से कारकोंका काम देती थीं। तुलसीकी भाषामें इनमेंसे केवल 'हि' का प्रायः सभी कारकोंमें प्रयोग हुआ है। अपभ्रंशमें प्रयुक्त सम्बन्ध-वाचक परसर्ग 'कर' और उससे निष्पन्न 'कर', 'क', 'का', 'के', 'कै', आदिके प्रयोग भी 'मानस'में हुए हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा संहितावस्थामें थी। धीरे-धीरे व्यवहितावस्थाकी ओर बढ़ी जिसका आभास प्राकृतों और विशेषतया अपभ्रंशोंमें अवगत होता है। वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाएँ प्रकट करती हैं कि वे पूर्णतया व्यवहितावस्थामें हैं। यदि हम इनकी इस व्यवहितावस्थाका ऐतिहासिक सूत्र मिलाना चाहें तो हमें तुलसीकी भाषासे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भाषा-विज्ञानके विद्वद्भर इस विषयपर स्वतन्त्र रूपसे प्रबन्ध ही प्रस्तुत कर सकते हैं। डा० बाबूराम सक्सेनाने 'मानस'में प्रयुक्त कुछ अवधी क्रियाओंके रूप साधकर इस दिशामें कुछ कार्य किया भी है^१।

तुलसीने जैसे संस्कृतके अक्षय भण्डारसे तत्सम शब्दोंकी बृहद् विभूति ग्रहण करके अपने काव्यमें विशिष्ट चारुताकी स्थापना की वैसे ही उन्होंने प्राकृतके क्षेत्रसे होकर आनेवाले तद्भव शब्दोंके अपरिमित ऐश्वर्यके द्वारा भी अपनी रचनाओंमें अपूर्वता और स्वाभाविकताकी अनुपमेय संसृष्टि की है। उनके तद्भव शब्दोंके प्रयोगके सम्बन्धमें इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि उन्होंने संस्कृतके तत्सम शब्दोंको प्राकृतके व्याकरणके अनुसार गढ़कर उनका प्रयोग किया है, प्रत्युत उन्होंने उन्हीं तद्भव शब्दोंका प्रयोग किया है जो प्राकृतसे होकर आये और प्रकृतितः जन-सामान्यकी बोलियोंमें प्रचलित रहे। यथा, संस्कृतका 'सूपकार' प्राकृतमें 'सूअर' हुआ। तुलसीकी कुछ कृतियोंमें प्रयुक्त 'सूआर' देखकर हमें भ्रम हो सकता है कि बाबाजीने इस तद्भव शब्दको प्राकृतके अनुसार गढ़कर रख दिया है, पर नहीं, जब बघेलीमें हम आये दिन भी लोगोंके बीच 'सूआर' महाशयको देखते हैं तो हमें तुरन्त अपनी भूल मान लेनी पड़ती है। हमारे कवि द्वारा प्रयुक्त 'पनच' संस्कृत 'प्रत्यञ्चा'का तद्भव है और 'सूआर'की भाँति यह भी प्रचलित है। इसी प्रकार 'बाति' (वर्तिका), 'अहेर' (आखेट), 'अहिवात' (अविधवाय), 'रहट' (अरघट), 'कौड़ी'

१. दे० 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज', भाग २, १९२६, लेख 'दी वर्ब इन दी रामायन आव् तुलसीदास'। २. 'मानस', बा० ९८. ७, ३२८. ३ 'पार्वतीमंगल' छ० ८४।

(कपर्दिका), 'कनी' (कणिका), 'शूनि' (स्थूणा), 'उलीचा' (उदंचन), 'वीछी' (वृक्षिक), 'समुझइ' (समुध्यते), 'बूझैउ' (बुद्ध), 'भीतर' (अभ्यन्तर), 'बौझ' (वन्ध्या), 'सौझ' (सन्ध्या), 'मौझ' (मध्य), 'भूख' (बुभुक्षा), 'बाघ' (व्याघ्र), 'भीख' (भिक्षा), 'फुर' (स्फुट), 'डोली' (दोलिका), 'गौठ' (ग्रन्थि), 'पठइ' (प्रस्थाप्य), 'वाम' (धर्म), 'सवति' (सपत्नी), 'करसी' (करीप), 'पवार' (पलाल), 'छरुभार' (त्रसरुभार), 'औधी' (अन्धिका), 'कैवट' (कैवर्त), 'कौट' (कण्टक), 'सास' (श्वश्रू), 'ससुर' (श्वशुर), 'जनेऊ' (यज्ञोपवीत), 'सँजोइल' (संयुक्त), 'डेरा' (वैदिक सं० दुर्या), 'बेहू' (वेध), 'निरावहिं' (निवार), 'लीलहिं' (निगिलन्ति), 'सइसी' (सन्दंश), 'तूक' (उत्का), 'सौघाई' (सौहित्य), 'डवरुआ' (डमरुक), 'हेठ' (अधस्तात), 'छौना' (शावक), 'दुलार' (दुर्लालयति), 'पेन्हाई' (प्रस्व), 'पटैरे' (पत्रोर्ण), 'जैवन' (जैमन), 'उवटि' (उदवर्त्य), 'पाइक' (पदिक), 'लावे' (लब्ध), 'ओधे' (अवरुद्ध), 'वायन' (उपायन), 'सकिलि' (संकलय्य), 'विहान' (विमान), 'रौंथा' (रन्धन), 'वरिआता', 'वरात' (वरयात्रा), 'उवरा' (उर्वर), 'कोहाब' (क्रुद्ध), 'बूछे' (तुच्छ), 'मिअरे' (शीतल), 'साउज' (माध्य), 'काड़े' (कर्ष), 'वेहड़' (भीषण), 'रूख' (वृक्ष), 'लोयन' (लोचन), 'गाच' (नृत्य), 'नाह' (नाथ), 'लाह' (लाभ), 'कान्ह' (कुष्ण), 'गय' (गज), 'जुआ' (द्यूत), 'मीचु' (मृत्यु), 'वैन' (वचन), 'मयन' (मदन), 'काम' (कर्म), 'काज' (कार्य), 'हाथ' (हस्त), 'हाइ' (अस्थि), 'घर' (गृह), 'पनही' (उपानह), 'अकनिं' (आकर्ष्य), 'नैहर' (ज्ञातिगृह), 'समुरारि' (श्वशुरालय), 'विनती' (विशन्तिका), 'उत्तारी' (उत्प्लात), 'चवइ' (च्यु), 'निहोरा' (अनुरोध), 'महगो' (महार्घ), 'विरिया' (वेला), 'पखारन' (प्रक्षालन), 'बूढ़' (वृद्ध), 'चोखा' (चोक्ष) तथा इन्हींके समान और भी अनेकानेक तद्भव शब्दोंके प्रयोग किये गये हैं जिनका प्रचलन बोलचालमें आज भी है, तुलसीके समयमें तो था ही ।

प्राकृतसे होकर आनेवाले प्रचलित तद्भावोंको छोड़िये । एकाध शब्द पालीका देखिये । 'मारेसि गाइ नहारू लागी', इस अवतरणमें प्रयुक्त 'नहारू' शब्दसे उसका 'ताँत' अर्थ स्पष्ट है । पालीमें यह इसी अर्थमें आता है, यथा—'पुमे नहारू च मिरा धमन्यथ सरगसा' ।

गोस्वामीजीकी भाषाके विशाल कोशमें कुछ देशज शब्दोंकी उपनिधि भी सम्मानपूर्वक रक्षित है । इसीसे उनकी रचनाओंमें 'डोंगर', 'डोंग', 'गोड़', 'पेट', 'खोरी', 'टाट', 'हिसिपा', 'डँहकि', 'बिसूरना', 'लवाई', 'दँदोरी', 'मोट', 'अवदर', 'दावर', 'काँकर', 'जोहहि', 'गुडी', 'डसाई', 'हेरी', 'लुकाई', 'झारि', 'टट्टा', 'टग', 'टहल', 'घमोई', झोपड़ी' आदि अनेक देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं । ये शब्द भी बोल-चालमें बराबर चलते हैं ।

गोस्वामीजीने ठेठ और तद्भव शब्दोंको प्रचलनशीलताके अतिरिक्त इस कारणसे भी प्रयुक्त किया है कि उनके द्वारा कहीं-कहीं किसी वस्तु स्थिति, अवसर या व्यक्तिकी बड़ी ही नैसर्गिक अभिव्यक्ति होती है । कथनकी सत्यता निम्नलिखित रेखांकित शब्दोंसे हो जायगी—

'पानि कठौता भरि लेइ आवा ।'

... ..

‘कन्द मूल फल भरि भरि दोना ।’

‘आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी ।’

निपादके पास कठौता आदिके सिवाय सोने-चाँदीके थाल तो रहे न होंगे, इसी प्रकार वनजीवी कोल-किरातोंके पास अपनी फल-फूलकी भेंट ले जानेके लिए दोनाके अतिरिक्त दूसरा क्या रहा होगा ? ‘कठौता’ और ‘दोना’के स्थानपर हम थाल आदिके प्रयोगमें कृत्रिमता ही आती है। हाँ, राजधानीमें जहाँ सभ्यता चरमोत्कर्षपर थी और जहाँ कुवेरका खजाना था वहाँ कविने रामकी आरती करनेके लिए गज-गामिनियोंके करमें कञ्चन-थाल ही दिखाया है। तीसरे अवतरणमें ‘वनि’का प्रयोग भी बड़ा ही उपयुक्त है। दिहातमें मजदूर अपनी मजदूरीके बदले जो अन्न पाते हैं उसे आज भी ‘वनी’ कहते हैं। निषाद सदृश पात्र के मुखसे ऐसे ही प्रान्तिक शब्दका निकलना स्वाभाविक था। इस ‘वनि’के सामने पारिश्रमिक आदिके प्रयोग कृत्रिम ही तो लगते ?

विभाषाएँ और बोलियोंके शब्दोंकी ओर आइये ! व्रजभाषा अपनी विभाषा बुन्देलखण्डीसे पूर्णतया अछूती क्योंकर रह सकती थी। यही कारण है कि व्रजभाषाके चूड़ान्त कवियोंमें भी बुन्देलखण्डीके एकाध प्रचलित शब्द मिलते ही हैं। गोस्वामीजीकी दृष्टि तो और भी व्यापक एवं सद्ग्राही थी, अतः उनकी व्रज ही नहीं अपितु अवधीमें भी बुन्देलखण्डीके कुछ प्रचलित शब्द हैं। उदाहरणके लिए उनकी व्रजभाषाकी रचनाओंमें प्रयुक्त बुन्देलखण्डीके दो-चार शब्द ये हैं—‘पनवार’ (पत्तल), ‘चारितु’ (चारा), ‘खेरा’ (गाँव), ‘गेड्डा’ ‘मोड़िगो’ ‘क्रीवी’ (करना), ‘पालवी’, ‘डारिवी’, ‘रेंगाए’ आदि। इसी प्रकार ‘मानस’में भी ‘सुपेती’ (हलकी दुलाई), ‘रेगाई’^१, ‘जानिवी’^२ प्रभृति शब्दोंके प्रयोग किये गये हैं।

गोस्वामीजीने अपनी रचनामें कुछ राजस्थानी शब्दोंको भी सत्कृत किया है। यथा ‘नारि’ [नाड़] (गरदन), ‘दार’^३ (बारूद), ‘म्हाको’^४ बारिकेरि^५ (निछावर), ‘माठ’^६ (घड़ा), ‘मनु-हारि’^७ (मनाना), ‘सारा’^८ (लगाया) आदि। राजस्थानी शब्दोंके ही सिलसिलेमें दो-एक पञ्जाबी शब्दोंका संकेत भी समीचीन होगा। ‘मानस’में प्रयुक्त ‘धुवौ’^९ पञ्जाबी शब्द है जिसका अर्थ ‘लाश’ होता है। ‘दूसरा शब्द ‘सिखर’ लीजिये। पञ्जाबीमें ‘सिखरा’ जूठनको कहते हैं। ‘मानस’में ‘सिखर’ इसी अर्थमें आया भी है। देखिये—

‘खाँहि मधुर फल विटप हलावहिं ।

लंका सनमुख सिखर चलावहिं’^{१०} ॥’

तुलसीकी रचना में मराठीके ‘फोकट’^{११}, गुजरातीके ‘मूकिये’^{१२} (छोड़िये) ‘मोँगी’^{१३} (चुप) आदि का प्रयोग देखनेसे पता चलता है कि वे मराठी और गुजरातीके प्रति भी दो-चार-शब्दोंके ऋणी हैं।

१. ‘विनय०’, पद ९४। २. वही, पद २२; ‘दोहावली’ दो० ५१२। ३. वही, पद ३१०। ४. ‘दोहावली’, दो० ४१२। ५. ‘कविता०’, लं० छ० २६। ६. ‘गीतावली’, अयो० गीत ७८ [१] ७. वही, उ० गीत २९। ८. वही, बा० गीत २९। ९. ‘मानस’, बा० ३५५.२। १०. वही, लं० ७८.१२। ११. वही, बा० ३३६। १२. ‘दोहावली’, दो० ३०५। १३. वही, दो० ५१५। १४. ‘कविता०’, लं० छ० २१। १५. ‘गीतावली’, बा० गीत १३७। १६. वही, किष्कि० गीत १। १७. वही, उ० गीत० १९। १८. ‘मानस’, सुन्दर० ४८. १०। १९. ‘मानस’ अरण्य २०. ५। २०. वही, लं० ४.६। २१. ‘कविता०’, उ० छ० ४१, ‘विनय०’ पद १७६। २२. ‘बाहुक’, छ० ३४। २३. ‘गीतावली’, अयो० गीत ६६ [५]।

पूर्वी हिन्दीकी वधेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियोंके कुछ शब्द भी गोस्वामीजीने प्रयुक्त किये हैं। वधेलीके 'सुआर'का संकेत पहले ही आ गया है। एक दूसरा शब्द 'बागत' लीजिये। वधेलीमें इसका अर्थ होता है—'घूमते हुए'। गोस्वामीजीने इसी अर्थमें इसका प्रयोग कई प्रसंगों में किया है। 'मानस'में प्रयुक्त 'कुराई' (गड्ढा) इस समय भी मध्यप्रदेशमें प्रचलित है।

भोजपुरीके प्रति भी गोस्वामीजी तटस्थ नहीं थे, फलतः उन्होंने इसे भी सम्मानित किया है। 'मानस' हृदमें डुबकी लगाकर यह भी कृतकृत्य हो गयी है। देखिये—'सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पथ धायल'। 'रौरे' और 'राउर' (आप, आपका)का प्रयोग तो बराबर हुआ है। रामके दरबारमें जानेवाली 'पत्रिका'में भी भोजपुरीके 'सरल' (सड़ा हुआ), तथा 'दिहल'के प्रयोग हुए हैं।

बैंगलाके कुछ शब्दों—यथा, 'सकाल' (सबेरा), और 'थाको' (टहरना) का प्रयोग भी बाबाजीने किया है। देखिये—'अवधेसके द्वारे सकारे गई', 'रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होई'।

वर्तमान खड़ीबोलीका प्रादुर्भाव गोस्वामीजीके बहुत पहले हो चुका था, जैसा कि अमीर खुसरोकी पहलियोंसे अनुमान किया जा सकता है। खुसरौने 'खालिकवारी'में 'हिन्दी' और 'हिन्दीवी' दोनों नामोंका उल्लेख किया भी है। तुलसीके समयतक इस हिन्दीका प्रचलन भी जन-सामान्यतक किसी-न किसी अंश-तक अवश्य पहुँच गया था, अन्यथा गोस्वामीजी अपनी रचनाओंमें खड़ीबोलीके ऐसे प्रयोग न करते—

'नष्टमति, दुष्ट अति, कष्ट रत, खेद गत,
दान तुलसी संभु सरन आया"
... ..
'करि आई, करिहै, करती है, तुलसिदास दासनि पर छाहैं"
... ..
'कृपा सिन्धु तब मंदिर गए"
... ..
'एक बार रघुनाथ बुलाये। गुरु द्विज पुरवासी सब आये"॥'
... ..
'जब ते रघुनाथक अपनाया"
... ..
'एहि तन राम भगति मैं पाई"

तुलसी-युगके कई शतक पूर्वसे ही मुसलमानोंने देशपर अपना सिक्का जमा लिया था। उसके परिणामस्वरूप विविध प्रतिक्रियाओंमेंसे एक यह भी थी कि सभी मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँतक भी अरबी, फारसीसे अछूती न रह सकीं। दरबारसे सम्पर्क रखनेवालोंका तो कहना ही क्या, जनताने भी न जाने कितने अरबी, फारसीके शब्द अपना लिये और वे सब जनसामान्यकी भाषामें घुल-मिल गये। उनका अरबीपन और फारसीपन उड़ गया। अपने युगकी सार्वजनिक भाषाके मर्मज्ञ तुलसी

१. दे० 'कविता०', उ० छ० ७६, 'विनय०', पद ६८, 'बाहुक', छन्द १२। २. 'मानस' अयो०, ३०९.५। ३. 'मानस', लं० ९६.६। ४. 'विनय०', पद १८९। ५. 'कविता०', अयो० छ० १। ६. 'मानस', बा० १९५.१। ७. 'विनय०', पद १०। ८. 'गीतावली' उ० गीत १३। ९. 'मानस', उ० ९.३। १०. वही, उ० ४२.१। ११. वही, उ० ८८.३। १२. वही, उ० ९४.७।

भला जनसामान्यमें प्रचलित अरबी, फारसीके शब्दोंकी उपेक्षा कब कर सकते थे। उन्होंने अपनी रचनाओंमें उक्त भाषाओंके प्रचलित शब्दोंका प्रचुर प्रयोग पूर्ण स्वातन्त्र्यके साथ किया। यह अवश्य है कि इनमें अधिकांश ऐसे ही पदजात हैं जिन्हें एक भाषा दूसरी भाषासे स्वभावतः ग्रहण करती है। उत्सर्ग यह है कि एक भाषा किसी अन्य भाषाके नाम तथा विशेषण आदिको ही अपनाती है, अव्यय, सर्वनाम अथवा क्रियापद तो अपवादरूपमें ही ग्रहीत होते हैं। गोस्वामीजीकी प्रधान कृतियोंसे कुछ अरबी शब्दोंको हम उसी रूपमें देते हैं जिस रूपमें उन्होंने उनका प्रयोग किया है। पहले 'मानस'में प्रयुक्त कुछ शब्दोंको देखिये—'साहिव' (बा० २७.५), 'गनी', 'गरीब' (बा० २७.६), 'जिनिस', 'जमात' (बा० छ० १२), 'मनसा' (बा० २२९.२), 'वाग' (बा० २२८.१), 'जहाज' (बा० २६१.), 'ढोल' (बा० २६१.१), 'नेव' (अयो० १९.), 'बिदा' (अयो० ७२.१), 'लायक' (अयो० २.१), 'रजाई' (रयो० २५२.८), 'खबरि' (अयो० २०२.३), 'सही' (अयो० २९४.८), 'फौज' (लं० ६६.७), 'हाल' (लं० २६.३), 'बजाज', 'सराफ' (उ० २८.), 'फराक' (उ० २८.१), 'हुनर' (उ० ३०.६), 'मसखरी' (उ० ९७.६), 'बदले' (उ० १२०.१२) आदि। 'कवितावली'में आये हुए कुछ और शब्द देखिये—'बाजे बाजे' (बा० छ० २०) 'असवाव' (सुन्दर० छ० २२) 'पाइमाल' (सुन्दर० छ० १६), 'कुलि' (लं० छ० ३), 'फहम', 'रहम' (लं० छ० ८), 'हलक' (लं० छ० २५), 'कहरी', 'बहरी' (लं० छ० २९), 'सवील' (लं० छ० ५२), 'हद' (उ० छ० १), 'गुलाम' (उ० छ० १४), 'माहली', 'काहली', 'खास' (उ० छ० २३), 'ज्वारू' (उ० छ० ६७), 'किसब' (उ० छ० ६७), 'हराम' (उ० ७६), 'जाहिर', 'उमरि' (उ० छ० ७९), 'नैरख' (उ० छ० ९२), 'दगाई' (उ० छ० ९३), 'खलल' (उ० छ० ९८), 'मसीत' (उ० छ० १०६), 'हबूव' (उ० छ० १०८), 'हलाकी' (उ० छ० १३४), 'कसाई' (उ० छ० १८१) आदि। 'गीतावली'से भी दो-चार शब्द लीजिये—'अबीर' (बा० गीत १ [८]), 'सहन' (बा० २ [२१]), 'सूरति' (बा० ४२), 'खसम' (बा० ६५ [३]), 'अकस' (बा० ८२ [७]), 'सई' (सुन्दर० ३७), 'मनि', 'कसम' (सुन्दर० ३९) इत्यादि। 'दोहावली'में भी 'फजीहत' (दो० ६५), 'इताति' (दो० १४८), 'गरज', 'अरज' (दो० ३००), 'कुमाच' (दो० ५७२) आदि अरबीके शब्द आये हैं। इसी प्रकार 'विनय-पत्रिका'में 'वसीले' (पद ३२), 'दिरमानी' (पद १२२), 'सुकाम' (पद १५६), 'दिवान' (पद० १९१), 'सतरंज' (पद० २४६), 'सौदा' (पद २६४) आदि। गोस्वामीजीकी छोटी कृतियोंमें भी अरबीके दो-चार शब्द आये ही हैं। अस्तु।

गोस्वामीजीके प्रमुख ग्रंथोंके फारसी शब्द-समूहको देखिये। 'मानस' में प्राप्त फारसीके कुछ शब्द ये हैं—'जहाना' (बा० २.४), 'कागद' (बा० ८.११), 'अदेसा' (बा० १३.९), 'करतूति' (बा० २८.७), 'अबरेब' (बा० ३६.८), 'नेवाजे' (बा० २४.२), 'बर' (बा० १९.५), 'तीर' (बा० १५६.३), 'सक' (बा० २४४.२), 'कूर' (बा० २६५.१), 'पिरोजा' (बा० २८७.४), 'निसाना' (बा० २९३.८), 'जीन' (बा० २९७.४), 'बाजार' (बा० २९५.८), 'बकसीस' (बा० ३०५.३), 'साज' (बा० ३००.६, ८), 'चारा' (बा० ३०२.२), 'लगाम' (बा० ३१५.), 'सिरताज' (बा० ३२९.), 'सहनाई' (बा० ३४३.२), 'पोच', 'पोची' (बा० ५.३), (अयो० ११.५), 'रख' (अयो० १.३), 'सजाई' (अयो० १८.५), 'दरबार' (अयो० २३.), 'कबूली' (अयो० २१.१), 'कूलह' (अयो० २७.८), 'कमान' (अयो० ४०.२), 'कबारू' (अयो० ९९.५), 'मजूरी' (अयो० १.१.६), 'पलक' (अयो० १०४.१) 'सोरू' (अयो० १५२.), 'नीकै' (अयो० १८३.२), 'गरदनि' (अयो० १८३.६), 'तरकस'

भाषाकी क्रिया 'निवाजियो' (विनय० पद ४) रूपमें भी चला दिया । उन्होंने ऐसे ही और भी कितने द्विज शब्दोंका सर्जन किया है ।

उन्होंने कृत् और तद्धित प्रत्ययोंके संयोगसे बने कितने ही हिन्दीके शब्दोंका प्रयोग किया है जो आज भी बोलियोंमें बराबर पाये जाते हैं । यथा, 'रोटिहा' (गीता० सुन्दर० गीत ३०), 'ररिहा' (विनय० पद २१०), 'कुंअरौटा' (गीता० गीत ६० [१]), 'बटैया', 'डटैया', 'देवैया', 'लेवैया', 'नवैया' (कविता० उ० छ० ५१, ५२), 'मोटरी' (कविता० उ० छ० १८३), 'सहेली' (गीता० बा० गीत २ [१]) इत्यादि ।

अनेकानेक प्रचलित आनुकरणिक शब्दोंके प्रयोग भी, उनके भाषाधिकारके प्रमाण हैं । उनकी रचनामें प्रयुक्त कुछ आनुकरणिक शब्द ये हैं—'रुन-रुन' (गीता० बा० गीत २० [१]), 'हिहिनाही' (मानस अयो० १४०. ८), 'चरफराहि', 'हिकरि हिकरि' (अयो० १४१. ५, ७), 'चपेटा' (सुन्दर० ६३. १), 'किलकिला' (सुन्दर० २७. २), 'टुटुकि' (सुन्दर० ४४. ३), 'सुटुकि' (बा० १५६.) 'अटपटि' (बा० १३३. ६), 'फुंकरत' (अरण्य० १०. १), 'बहरात' (लं० ४०.), 'कसमसाति' (लं० ८६. १), 'घुरघुरात' (बा० १५५. ८) आदि ।

नाम और विशेषण जय क्रियावाचक बना दिये जाते हैं तब उन्हें नामधातु कहते हैं । नाधातु-निर्माणकी शक्ति चलती भाषाका व्यापक जीवन है । इसकी कमीके कारण ही वर्तमान खड़ीबोली बहुत-से व्यापारोंके अभिव्यञ्जनमें ऐसा द्राविड़ प्राणायाम करती है जो बहुत ही अस्वाभाविक जान पड़ता है । गोस्वामीजीकी रचनाओंमें नामधातुके प्रयोग भी मिलते हैं । विस्तार न करके हम दो ही तीन उदाहरणोंमें उनकी झलक दिखा देना पर्याप्त समझते हैं । जैसे, नीचेके अवतरणोंमें काले अक्षरोंमें—

‘हथवासहु वोरहु तरनि कीजिय घाटारोहु ।’

‘मानस’ अयो० १८८

...

...

...

...

‘कोपकसानु गुमान अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आचै ।’

‘कविता०’ उ० छ० ११८

...

...

...

...

‘हौ सनाथ हैहौ सही, तुम्हहू अनाथपति, जौ लघुतहि न भितैहौ ।’

‘विनय०’ पद २७०

...

...

...

...

किसी कविके अपरिमित शब्द-भण्डारमें केवल भाषा, विभाषा और बोलियोंके नाना शब्दोंको देखकर ही उसे सफल भाषा-नायक नहीं कहा जा सकता । वस्तुतः शब्दोंपर विशेषाधिकार तभी प्रकट होता है जब वे वाक्यमें प्रयुक्त होकर अपरिवृत्तिसह रूपसे जगमगाते हैं, कविके अभिप्रेत अर्थको यथावत् व्योक्त करते हैं और स्वतः पाठकको चिर-परिचित-से जान पड़ते हैं । गोस्वामीजीकी रचिर वाक्य-रचना ऐसी ही प्रभूत शब्दावलीसे हुई है । उदाहरणके लिए न स्थान है और न आवश्यकता । उनकी सारी कृतियाँ यही प्रमाणित करती हैं । उनके अद्वितीय सुव्यवस्थित वाक्य-रचना-कौशलपर मुग्ध होकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लने बहुत ही ठीक कहा है—‘और कवियोंके साथ तो तुलसीका मिलान ही क्या । वाक्य-दोष हिन्दीमें भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगोंको रहा । सरदास भी इस बातमें तुलसीसे बहुत दूर हैं ।’

यदि कोई किसी बोलचालकी भाषाका माधुर्य देखना चाहे तो उसे उसके मुहावरोंकी रत्नपिटारीका भी सावधानीसे निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि बोलचालकी भाषाका सम्पूर्ण माधुर्य और सजीवता मुहावरोंमें ही आती है। मुहावरोंका सान्दर्भ्य चलती और स्वाभाविक भाषामें ही खिलता है। कृत्रिम भाषाके मेलमें तो वह विरूप-सा हो जाता है। तुलसीकी भाषा और मुहावरोंमें मणि-काञ्चनका संयोग है। एक नहीं, सैकड़ों मुहावरोंके प्रयोग हुए हैं, पर मजाल नहीं कि कहीं वे रज्जमात्र भी विरूप लगते हों। उनके मुहावरोंके प्रयोगसे उनके कथनमें सुषमा ही नहीं आयी है, अपितु उनका व्यवहार-कौशल, उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति एवं प्रयोग-नैपुण्य भी दीप्त हो उठा है। उनकी सभी रचनाओंमें प्रयुक्त समस्त मुहावरोंकी सूची देकर उनकी व्याख्या करते हुए, प्रयोगकी मनोहरता दिखानेके लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंगमें तो निम्नांकित दो-चार मुहावरोंके उदाहरण देनेके अतिरिक्त और कुछ कहनेका अवकाश ही नहीं—

‘जो पै हरि जनके अवगुन गहते ।

तौ सुरपति कुरुराज वालि सों कति हठि बैर बिसहते ।’

‘विनय०’ पद ९७

‘महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे ।’

‘विनय०’ पद १४७

‘गोपद् वृद्धिबे जोग करम करो बातनि जलधि थहावौ ।’

‘विनय०’ पद २३२

‘रख खँचाइ कहउँ बलु भाखी । भामिनि भइहु दूध कइ माखी ॥’

‘मानस’ अयो० १८.७

‘दूधकी मक्खी होना’ ही नहीं, ‘घीकी मक्खी होना’ मुहावरा भी चलता है। गोस्वामीजीने उसका भी प्रयोग किया है। देखिये—

‘राखि कहि है तो ह्वै है माखी घिय की ।’

‘विनय०’ पद २६३

समाज अपने चिरन्तन व्यवहारों और अनुभवोंमेंसे कितनोंको ही विशेष आवश्यक और मार्मिक समझकर अपनी चलती भाषामें लोकोक्तियोंके रूपमें सुरक्षित रखता है। जिस कविका सामाजिक, व्यावहारिक ज्ञान बढ़ा-चढ़ा रहता है और जो जन-सामान्यकी बोलचालकी भाषामें पारंगत रहता है वह समाजमें प्रचलित लोकोक्तियोंकी भी पूरी जानकारी रखता है। लोकोक्तिके प्रयोगमें चारुता तभी दृष्टिगत होती है जब वह स्वाभाविक और चलती भाषामें नगोंकी भाँति जड़ी रहती है। कृत्रिम भाषामें वह भी बेमेल ही लगती है। गोस्वामीजीके द्वारा किये गये लोकोक्तियोंके प्रचुर प्रयोग उनकी भाषाकी स्वाभाविकता और मनोहरता ही बढ़ाते हैं। कुछ नमूने देखिये—

‘टुइ कि होहि एक समय सुआला । हँसव ठठाइ फुलाउव गाला ।’

‘मानस’ अयो० ३४, ५

‘जस काछिय तस नाचिय नाचा ।’

‘मानस’ अयो० १२५.८

‘मोहि तो सावनके अंधहि अ्यों सूझत रंग हरो ।’

‘विनय०’ पद २२६

‘तुलसी बनी है राम राघर बनाए ना तो धोबी केसो कूकर न घरको न घाट को ।’

‘कविता०’ उ० छ० ६६

‘खाती दीपमालिका ठठाइयत मूप है ।’

‘कविता०’ उ० छ० १७१

‘चीरी को मग्नि खेल बालकनि को सो है ।’

‘बाहुक०’ छ० २९

गोस्वामीजीके काव्यमें व्यहृत मुहावरों और लोकोक्तियोंके आधारपर उनका भाषा नायकत्व तो प्रमाणित ही होता है, साथ ही भारतीय लोकजीवन और संस्कृतिके प्रति उनकी अपार निष्ठा भी प्रकट होती है; क्योंकि किसी भाषाकी लोकोक्तियों, मुहावरों और अन्तर्कथाओंका सम्बन्ध उस भाषा-भाषीके साहित्य, उसके लोकजीवन और उसकी संस्कृतिकसे अविच्छिन्न रहता है। तुलसीदासके काव्यमें लोकोक्तियों, मुहावरों और अन्तर्कथाओंके विपुल वैभवको देखते हुए उसका साहित्यिक और सांस्कृतिक मूल्यांकन करनेके लिए एक स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध-प्रणयनकी अपेक्षा है।

सच्चे महाकविकी भौति गोस्वामीजी अपने सामयिक जन-सामान्यकी भाषासे पूर्णतया अभिज्ञ थे और उसकी प्राचीन परम्परासे सम्बद्ध भाषाओंका भी उन्हें परिज्ञान था। उनकी भाषा व्यापक और उनका शब्द-भण्डार अपरिमित था, इसका आभास तो अवतकके विवरणसे हो गया होगा। स्थानाभावके कारण आगे हम उनकी दोनों भाषाओंका वैशिष्ट्य आदि न दिखाकर इतना ही कहना चाहते हैं कि सांस्कृतिक समन्वयके अपने महान् उद्देश्यकी पूर्तिके लिए उन्होंने अपने युगकी दोनों प्रधान भाषाओंकी परिधिको बृहत् करके उनमें यथासम्भव निकटता और सामञ्जस्य-स्थापनाका कार्य भी कुशलतासे किया। दोनों भाषाओंको अपना-अपना रूप सँवारने और संकीर्णता छोड़नेके निमित्त उनमें परस्पर स्पृहणीय आदान-प्रदान कराया। इसीसे उनकी उत्कृष्ट ब्रजभाषाकी रचनाओंमें जैसे पूरबी प्रयोग भले प्रकार आहत हुए हैं वैसे ही अवधीकी सर्वोत्कृष्ट कृति ‘मानस’में ब्रजभाषा, उसकी विभाषा और बोलियोंतकके शब्द सत्कृत किये गये हैं। ऐसा करके भी उन्होंने दोनों भाषाओंकी मौलिक सत्तापर, उनकी एकरूपतापर किसी प्रकारका कुठाराघात नहीं किया है, यह भी हमें न भूलना चाहिये।

छन्द-विधानपर पूर्ण अधिकार

छन्दोंके नियमानुसार मात्रा, गण, वर्ण अथवा गुरु-लघुकी योजनामात्र करके छन्द-विधान कर लेना कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं है। ऐसा तो रीति-ग्रन्थोंका सामान्य शास्त्र भी कर सकता है। महान् कलाकारके छन्द-विधानमें केवल छन्द-विधानके नियमोंकी पाबन्दी ही नहीं रहती, अपितु उनमें प्रसंगा-नुकूल लय और ताल भी निनादित होते रहते हैं। जैसे कोयलकी काकलीमें, निर्झरके नादमें प्राकृतिक संगीत स्वयमेव कर्णगोचर होता है वैसे-ही उच्च कलाकार-विरचित छन्दोंमें भावानुरूप नैसर्गिक ध्वनि होती है। गोस्वामीजी ऐसे ही उदात्त छन्द-विधायक महाकवि थे। ‘मानस’में उन्होंने जिन विविध प्रकारके छन्दोंपर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अनूठा प्रयोग किया, वह दिखाया ही जा चुका है। प्रस्तुत प्रसंगमें ‘मानस’के अतिरिक्त अन्यान्य कृतियोंमें प्रयुक्त छन्दोंका संकेतमात्र आवश्यक है। ‘कवितावली’ सबाहुकमें कई प्रकारके सवैये, मनहरण, मनहर, धनाक्षरी, छप्पय तथा झलना छन्दोंका प्रयोग हुआ है, दोनों ‘मंगलों’की रचनाएँ मात्रिक अरुण और हरिगीतिकांमें हैं, ‘वरवैरामायण’का छन्द उसके नामसे ही स्पष्ट है, इसी प्रकार ‘दोहावली’का भी, पर ‘दोहावली’में सोरठा भी है, ‘रामाज्ञाप्रश्न’ तो पूर्णतया दोहा छन्दमें ही है, ‘रामललानहछू’की रचना सोहर छन्दमें है और ‘वैराग्यसन्दीपिनी’के वैराग्यका निरूपण दोहा,

सोरठा तथा चौपाईमें हुआ है। 'गीतावली', 'श्रीकृष्णगीतावली' एवं 'विनयपत्रिका' के छन्दविधानके विषयमें कुछ कहना ही नहीं। इन ग्रन्थोंमें सन्निविष्ट पदोंका वास्तविक मर्म विविध राग-रागिनियोंका विशेषज्ञ सदृश्य ही पा सकता है, पर इन तीनों कृतियोंके छन्दोंके द्वारा काव्य और संगीतका समन्वय तथा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझनेमें किसी विशेष प्रयासकी अपेक्षा नहीं। गोस्वामीजीने 'गीतावली' तथा 'विनयपत्रिका' में दो विभिन्न प्रकारके छन्दोंकी संसृष्टि कर एक तीसरे प्रकारका नया छन्द बनानेकी स्वतन्त्र रुचि दिखायी है। 'गीतावली' में दोहाके द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें दो मात्राएँ बढ़ाकर^१ तथा 'विनयपत्रिका' में दो मात्राएँ घटाकर^२ नये ढंगके छन्द भी निर्मित किये गये हैं।

काव्य-सौष्ठवके अभिवृद्धिकारक विविध उपादानों और साहित्यशास्त्र-समस्त प्रतिमानोंका उपयोग तुलसीने किस अंशतक किया है, यह भी विचारणीय है। हमारे साहित्य-शास्त्रके विकासात्मक इतिहाससे अवगत होता है कि काव्यके सम्बन्धमें बड़े-बड़े आलंकारिकोंने अपने-अपने भिन्न-भिन्न मतोंका समर्थन किया। फलतः अलंकार-शास्त्रके अन्तर्गत भरतमुनिका रसमत, भामह और उद्भटके अलंकारमत, वामनके रीतिमत (गुणमत), कुन्तकके वक्रोक्तिमत और आनन्दवर्धनाचार्यके ध्वनिमत प्रभृति नाना मतोंकी प्रतिष्ठा हुई। तुलसी-से चूड़ान्त महाकविकी मति उक्त सभी प्रधान आलंकारिकोंके मतोंका मन्थन कर चुकी थी। तभी तो उन्होंने अपने उत्कृष्ट काव्यमें यथोचित रीतिसे इन सबका समावेश किया है। अपने अपूर्व ग्रन्थ 'मानस'के उपक्रममें उन्होंने काव्यकी प्रतिष्ठा और परीक्षाके लिए ही प्रकारान्तरसे उसके हेतु, उसका लक्षण, उसके प्रयोजन और उसकी संवेदनीयता आदिका संकेत भी किया है।

शब्द-शक्तियोंपर पूर्ण अधिकार

यह तो निर्विवाद है कि कवि-कर्म शब्दार्थमय है। अतः कविके लिए नितान्त आवश्यक है कि वह शब्द और अर्थके सम्बन्धका विशिष्ट परिज्ञाता हो, अर्थात् विविध शब्दशक्तिभोंपर उसका पूर्ण अधिकार हो। अभिधाका महत्त्व सामान्य नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ अथवा सांकेतिक अर्थकी शब्दकी बोधिका प्रथमा शक्ति यही है। इसके द्वारा जिन वाचक शब्दोंका अर्थबोध होता है वे [क] समूह-शक्ति बोधक, [ख] अंग-शक्ति-बोधक, [ग] समूहांग-मिलित-शक्ति-बोधक होनेसे तीन प्रकारके होते हैं। उन्हें क्रमशः रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ भी कहते हैं। कुशल कवि इन तीनों प्रकारके वाचकोंके प्रयोगमें किसी प्रकारका प्रमाद नहीं करता। अनगढ़, अशुद्ध, असमर्थ पद ही अभिधाकी दृष्टिसे हेय माने जाते हैं और ऐसे ही प्रयोग भाषाके स्वाभाविक प्रवाहको फेरकर उसे कीचड़में फँसानेवाले होते हैं। अभिधाका यथार्थ मर्मज्ञ किसी अवाचक शब्दका विवक्षित अर्थमें प्रयोग नहीं करता और न अनुप्रास आदिकी आपातरमणीयताके मोहमें पड़कर दूषितार्थ पदोंका ही प्रयोग करता है।

अब यदि हम गोस्वामीजीके द्वारा प्रयुक्त रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ वाचकोंकी ओर दृष्टिपात करें तो हमें उनके शत-प्रतिशत ऐसे ही प्रयोग मिलेंगे जो प्रायः अपरिवृत्तिसह होंगे और साक्षात्सांकेतिक अभिधे-यार्थको ही प्रकाशित करते होंगे।

कवि जब अपने भावोंकी अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता और तीव्रतासे वाचक शब्दोंके द्वारा नहीं कर सकता तब वह लाक्षणिकताका आश्रय लेकर करता है। भावविशेष या वस्तुविशेषकी वक्र अथवा प्रगल्भ

१. दे० 'गीतावली', अरण्य० पद 'गीत' १७ [१—८]; उत्तर० १९ [१—५]। २. दे० 'विनय०', पद १३५ [१—५], १३६ [१—१२]। ३. 'गीतावली', बा० १९ [९—१६]। ४. दे० 'विनय०', पद १०७—१०९।

व्यञ्जना, उक्तिमें विचित्र चारुता तथा सादृश्य या साधर्म्यकी ओटमें वर्णनार्थका मूर्त प्रत्यक्षीकरण आदिमें हमें जिस चमत्कारकी अनुभूति होती है वह बोधगम्य और उपयुक्त लाक्षणिक प्रयोगोंकी वृहद् राशिमें अत्यो-पलब्ध उपादान-लक्षणाके कुछ उदाहरणमात्र नीचे दिये जाते हैं—

‘सीदत साधु. साधुता सोचति. खल विलसति. हुलसति खलई है ।’

‘विनय०’ पद १३९

यहाँ लाक्षणिक—शब्द है ‘साधुता’ एवं ‘खलई’ । ये धर्म या गुण हैं । इनका सोचना और हुलसना कैसा ? इस दशामें वाच्यार्थको छोड़कर हम लक्ष्यार्थकी ओर बढ़ते हैं और इनके द्वारा समस्त साधु व्यक्ति तथा खलजनका अर्थ ग्रहण करते हैं । इन लक्ष्यार्थोंसे स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध वाच्यार्थ साधुता तथा खलता गुणसे लगा हुआ है । अतः इनमें उपादान या अजहत्-स्वार्थ लक्षणा हुई । इसी भेदका एक दूसरा उदाहरण देखिये—

‘तुलसी बैर सनेह दोउ रहित विलोचन चारि ।’

‘दोहावली’ दो० ३२६

गोस्वामीके काव्यमें प्रयुक्त रमणीय मुहावरों और लोकोक्तियोंमें व्यापक रूपसे सर्वत्र जो रुद्धि-लक्षणा और यत्र-यत्र प्रयोजन-लक्षणाएँ दृष्टिगत होती हैं उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं । इनकी संख्या तो अत्यधिक है । सूक्ष्म भावोंकी अनुभूतिको विशेष गम्भीर बनानेके लिए लाक्षणिकताके बलपर उन्हें मूर्त दृष्टिगोचर स्वरूप देनेका भी उदाहरण लीजिये—

‘सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा । धीरजहू कर धीरज भागा ।’

‘मानस’ अयो० १५१.८

साम्प्रतिक हिन्दी कवियोंकी रचनाओंमें ‘सोनेका दिन’ देखकर हम व्यर्थ ही उन्हें अंग्रेजीका ऋणी टहराते हैं । वस्तुतः गोस्वामीजीने स्वयं अपनी भाषाको सोनेका दिन बहुत पहले ही दिखा दिया है । देखिये—

‘सो दिन सोनेको कहू कब ऐहैं ।

जा दिन बँध्यो सिंधु त्रिजटा सुनु तू संभ्रम आनि मोहि सुनैहैं ॥’

‘गीतावली’ सुन्दर० गीत ५०

गोस्वामीजीके लाक्षणिक प्रयोग काव्य-भाषाकी व्यञ्जकता, व्यापकता और चारुता बढ़ानेवाले हैं । इनके सम्बन्धमें यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि ये जन-समाजकी अनुभूति और विचार-परम्परासे पराङ्मुख एवं अस्वाभाविक होनेके कारण भाषा और भावमें दुरुहता बढ़ानेके अतिरिक्त और किसी कामके नहीं, जैसा कि आजके छायावादी कहलानेवाले कुछ कोरे कवियोंके बे-सिर-पैरके उपहसनीय लाक्षणिक प्रयोग होते हैं ।

केवल अभिधा और लक्षणासे सर्वत्र ही कविका अभिप्रेत अर्थ अभिव्यक्त हो जाता ही हो, ऐसी बात नहीं । श्रेष्ठ रचनाओंके अनेकाने प्रसंगोंमें उक्त दोनों शक्तियोंके विफल होनेपर तीसरी शक्ति व्यञ्जना और ही करामात दिखाती है । इनके द्वारा प्राप्त व्यंग्यार्थ न तो कथित या अभिहित होता है और न लक्षित । वह व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित अवगत या प्रतीत होता है । नीचे तुलसीकी रचनाओंसे कुछ उदाहरण देकर उनके व्यंग्यार्थ-प्रकाशनका प्रयास किया जाता है—

‘तुम्हरे विरह भई गति जौन ।

चित्त दै सुनहु, राम करुना निधि, जानौं कछु पै सकों कहि हौं न ।’

‘गीतावली’ सुन्दर० गीत० ५०

अवतरणमें 'सकौं कहि हौं न'के वाच्यार्थसे हमें सीते ही व्यंग्यार्थ दुःस्वाभिक्यकी अवर्णनीयताका बोध हो जाता है। अतः यहाँ अभिधामूला व्यञ्जना हुई।

वाच्य वैशिष्ट्यके कारण व्यंग्यार्थ किस प्रकार व्यञ्जनावैचित्र्य दिवाता है, इसका एक उदाहरण यह लीजिये—

'पति देवता सुतीय महुँ, मातु प्रथम तव रेख ।
महिमा अमित न सकहि कहि सहस सारदा सेख ॥'

'मानस' बा० २३५.

यह सीताकी उक्ति है पार्वतीकी प्रतिमाके प्रतिमाके प्रति। प्रथम पंक्तिका वाक्यार्थ है—तुम्हारी पतिव्रता स्त्रियोंमें प्रथम गणना है। इससे व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि जय तुम ऐसी पतिव्रता हो तो मेरे पतिव्रत धर्मकी अवश्य रक्षा करोगी, क्योंकि मैं रामको अपना मानस पति बना चुकी हूँ। ऐसा न हो कि कोई अन्य नृप-कुमार धनुर्भंग करके मेरा वरण कर ले। अवतरणसे स्पष्ट है कि सीताके वाक्यकी विशेषताके कारण वाच्यार्थसे उसके व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है। अतः यहाँ वाच्य वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सम्भवार्थों व्यञ्जना हुई। इसी प्रकारकी आर्था व्यञ्जनाका और भी रमणीय दृश्य सीताके उसी स्तुतिप्रवाहमें दिखाई पड़ता है जो उन्होंने 'पतिदेवता सुतीय' 'सेख'के उपरान्त की। देखिये—

'सेवत तोहि सुलभ फलचारी । बरदायिनि त्रिपुरारि पियारी ॥
देवि पूज पदकमल तुम्हारे । सुर-नर-मुनि सब होहिं सुखारे ॥
मोर मनोरथ जानहु नीके । बसहु सदा उरपुर सब ही के ॥
कीन्हेंउँ प्रकट न कारन तेही । अस कहि चरन गहे वैदेही ॥'

'मानस' बा० २३५. १—४

प्रथम दो पंक्तियोंके वाच्यार्थसे कृपाकी प्रेरणा और अभीष्ट लाभ तो व्यंग्य ही है, पर अन्तिम दोनों पंक्तियोंमें लज्जाशीलताकी भी बड़ी मार्मिक व्यञ्जना है।

वाक्य-वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सम्भव आर्था व्यञ्जनाका उदाहरण यह बरवै लीजिये—

'गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह । देखउ आपनि मूरति सिय कइ छाँह' ॥'

उदाहृतमें दूसरी पंक्तिके वाक्य-वैशिष्ट्यसे सीताका अतिशय सौन्दर्यरूप व्यंग्य प्रकट होता है। छाँहके उभय अर्थ हैं। एक सौन्दर्य और दूसरा छाया। छाँहमें, सौन्दर्यमें, रूप देखनेका तात्पर्य यह है कि सीतामें इतनी आभा है कि राम उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। छायाके अर्थमें देखनेका भाव यह है कि रामका श्यामल रूप सीताकी छाया है, क्योंकि वह काली ही होती है।

चित्रकूटमें भरतको ससैन्य आते देख लक्ष्मणके मनमें उनके प्रति आशंका हुई, तत्परिणाम-स्वरूप वे क्षुब्ध हो उठे और अपने आप ही कुँझलाकर उन्हें 'कुटिल', 'कुबन्धु' आदि कहकर भी शान्त न हुए प्रत्युत रामकी दोहाई देते हुए हुए उबल पड़े—

'जौ सहाय कर संकर आई । तौ मारउँ रन राम दोहाई ॥'

रामने उनका ऐसा स्वरूप देखकर उन्हें नीतिपूर्वक समझाया और अन्तमें कहा—

'लषन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबंघु नहिं भरत समाना ॥'

इसका व्यंग्यार्थ यह हुआ कि तुम्हारा विचार अनुचित है। फिर इससे दूसरा व्यंग्य यह भी

निकलता है कि तुमको अनन्य भ्रातृभक्त होनेका अहंकार न करना चाहिये। यहाँ भरत-मिलनका प्रकरण होनेके कारण ही एक व्यंग्यसे दूसरे व्यंग्यका बोध होता है। उक्तिमें प्रस्ताव वैशिष्ट्योत्पन्न-व्यंग्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना हुई।

बन-गमनके प्रसंगमें राम और सीताका परस्पर जो संवाद दिखाया गया है उसमें बड़ी ही मार्मिक व्यञ्जनाएँ हैं। इसी प्रकार चित्रकूटकी सभामें, भरतने अपने ऊपर समस्तसहभार देखते हुए 'अरथ अमित अति आखर थोरे'में जो-जो उत्तर दिये वे अथवा उसी प्रसंगमें-वशिष्ठ, राम, जनकके जो-जो कथन हुए हैं वे सब गूढ़ातिगूढ़ व्यंग्यार्थोंसे संपृक्त हैं। अवकाश नहीं कि हम उक्त प्रसंगोंके भी कुछ उदाहरण दे सकें। अंगद-रावण-संवाद या परशुराम-संवाद आदिके प्रसंगोंमें भी यद्यपि व्यञ्जनाका अच्छा चमत्कार है, पर इनमें उतनी गम्भीरता नहीं है।

त्रिविध शब्द-शक्तियोंके इन कुछ उदाहरणोंको देखते हुए अब अन्तमें निष्कर्षके रूपमें हमें कहना यह है कि गोस्वामीजीका शब्दशक्तियोंपर पूर्ण अधिकार था, इसीलिए यथोचित प्रसंगमें इनके सुप्रयोगोंकी कभी नहीं है।

काव्यके स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायकोंका विधान

शब्द-शक्तियोंपर गोस्वामीजीका अधिकार देख चुकनेके अनन्तर अब देखना चाहिये कि उन्होंने काव्यके स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायक उपकरणोंकी योजना तथा स्वरूपच्युतिकारक अपकर्षाधायकोंका परिहार कहाँतक किया है। आलंकारिकोंके विविध मतोंका पारस्परिक सम्बन्ध मनोयोगपूर्वक समझ लेनेपर अन्तमें हम यहीं कह सकते हैं कि वस्तुतः ध्वनि, रस आदि काव्यके स्वरूपाधायक हैं और अलंकार, गुण, वक्रोक्ति आदि उत्कर्षाधायक। अपकर्षाधायकोंके अन्तर्गत काव्यके विविध दोष परिगणनीय हैं। तुलसीकी दृष्टिमें ध्वनि आदिका क्या स्थान था, इसका किञ्चित् अनुमान इस अर्द्धालीसे किया जा सकता है—

‘धुनि अवरेज कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँति’ ॥’

अवरेजके अर्थ वक्रपनपर दृष्टि रखते हुए यदि विचार किया जाय तो अवतरणसे स्पष्ट है कि कविने ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलंकार आदिको क्योंकर प्रश्रय दिया है। ठीक ही है, जैसे सरोवरके जलमें नाना प्रकारके मीनोंके ऊपर-नीचे थिरकते रहनेका दृश्य नयनाभिराम होता है वैसे ही रामचरित-रूपी जलके शोभा-वर्द्धनके लिए ही कविने ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलंकारादिको अपनाया है। एतदर्थ उनके काव्यमें उक्त मीनोंकी जल-क्रीड़ाएँ भी अवलोकनीय हैं।

ध्वनिके स्वरूपके सम्बन्धमें यहाँ इतना ही संकेत करना अलं होगा कि वाच्यसे अधिक उत्कर्षक चाखता प्रतिपादक व्यंग्यको ध्वनि कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों भी कह सकते हैं कि जिस काव्यमें व्यंग्यार्थ ही मुख्य अर्थात् विशेष चमत्कृति-जनक रहता है वही उत्तम काव्य या ध्वनि-काव्य कहा जाता है। तुलसी ध्वनिके मर्मसे पूर्णतया अभिज्ञ थे, अतः उन्होंने अपने काव्यमें ध्वनिके भी यथोचित प्रयोग किये हैं। ध्वनि-के प्रधान भेदोंमेंसे कुछके उदाहरण उनकी कृतियोंसे दिये जाते हैं।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के द्वितीय भेद अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनिका यह उदाहरण देखिये—

‘बाउ कृपा मूरति अनुकूला। वोलत बचन झरत जनु फूला’ ॥’

१. ‘मानस’, बा० ३६.८। २. चाहत्कोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा’ ध्वन्या-लोक। ३. ‘मानस’, बा० २७९.४।

यह परशुरामके प्रति लक्ष्मणकी उक्ति है। यहाँ 'कृपा', 'अनुकूल मूर्ति' और 'पूले' अपने-अपने वाच्यार्थको छोड़ तद्विपरीत अर्थका बोध कराते हैं, अर्थात् लक्ष्मणके कोपको व्यञ्जित करते हैं।

विवक्षितवाच्यध्वनिके दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। इनमें प्रथमकी महत्ता इसीसे समझी जा सकती है कि इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता सभी आते हैं। अलंकारशास्त्रने रसोंको कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और किस प्रकार ये काव्यके प्राण स्वीकृत किये गये हैं, इन प्रसंगोंको यहाँ छेड़नेका अवकाश नहीं। यहाँ तो हम कुछ उदाहरणमात्र देना चाहते हैं जिनसे प्रकट हो जाय कि तुलसीकी दृष्टि रस, भाव, रसाभास आदिके सुप्रयोगकी ओर भी थी।

संयोगशृंगारका स्थायी भाव रति किस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन तथा व्यभिचारी भाव आदि उपकरणोंसे परिपुष्ट होकर रसरूपमें परिणत हो रही है, यह देखिये—

‘दूल्हा श्री रघुनाथ बने, तुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं ।
गावहि गीत सबै मिलि सुंदरि, वेद जुबा जुरि बिप्र पढ़ाहीं ॥
राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं ।
यातें सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥’

विप्रलम्भशृंगार रसका पूर्ण परिपाक इन पंक्तियोंमें लीजिये—

‘लछिमनु देखु बिपिन कइ सोभा । देखत केहि कर मन नहिं छोभा ॥
नारि सहित सब खग-मृग-चूँदा । मानहु मोरि करत हहिं निंदा ॥
हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहुँ भय नाहीं ॥
तुम्ह आनन्द करहु मृगजाये । कंचन मृग खोजन ये आये ॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं । मानहुँ मोहि सिखावन देहीं ॥
देखहु तात वसंत सुहावा । प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ॥’

यदि भविष्यत् विप्रयोगका उदाहरण देखना चाहें तो यह देखिये—

‘समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ ।
जाइ सासु-पद-कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ ॥’

...

...

...

‘सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के । लोचन ललित भरे जल सिय के ॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे । चकइहि सरद चंद निसि जैसे ॥
उतर न आव बिकल वैदेही । तजन चहत सुचि स्वामि सनेही ॥
वरवस रोकि बिलोचन बारी । धरि धीरजु उर अवनि-कुमारी ॥
लागि सासु पग कह कर जोरी । छमवि देवि बड़ि अविनय मोरी ॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई । जेहि बिधि मोर परम हित होई ॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं । पिय वियोग सम दुख जग नाहीं ॥’

‘प्रान नाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान ।

तुम्ह विनु रघुकुल-कुमुद-विधु सुरपुर नरक-समान ॥’

१. ‘कविता०’, बा० छ० १७ । २. ‘मानस’, अरण्य० ३६. ३-७, १० । ३. ‘मानस’, अयो० ५७. । ४. ‘मानस’, अयो० ६३. १-७ । ५. वही, अयो० ६४. ।

गोस्वामीजीके संयोग तथा वियोग दोनों शृंगारके वर्णन पूर्णतया परिष्कृत होनेके कारण ऐसे नहीं है कि कोई उन्हें असंयत अथवा अस्वाभाविक कह सके। उनके संयोग वर्णनमें न अन्यान्य कवियोंकी-सी गननता और अभव्यता आयी है और न उनका विरह-वर्णन जायसीके विरह-वर्णनकी भाँति इस प्रकारकी वीभत्सतासे दूषित है—

‘विरह के दगध कीन्ह तन माठी । हाड़ जराइ कीन्ह जस काठी ।
नैन नीर सो पोता किया । तस मद चुवा वरा जस दिया ॥
विरह सरागनिह भूँजै माँसू । गिरि गिरि परै रक्त केँ आँसू’ ॥

ऐसे विरह-वर्णनसे सहानुभूति न उत्पन्न होकर जुगुप्सा उत्पन्न होती है। हमारे भारतीय दृष्टिकोणसे यह विरह शृंगाररसका अंग नहीं हो सकता।

हास्यरसका आस्वादन इस छन्दमें कीजिये—

‘विध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा, विनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी, तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे ॥
हैंहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्हैं भली रघुनायकजू करुना करि कानन को पगु धारे’ ॥

तुलसीने अपने आराध्य रामको भी आलम्बन विभाव बनाकर उनके साथ जैसा परिहास किया है वह बहुत ही उच्च कोटिका परिहास है। इसके आलम्बन स्वयं राम भी तुलसीकी इस ठटोलीको सुनकर अवश्य हँस पड़े होंगे। भक्त-जनके मनमें वर्तमान भगवान्की उद्धारिणी शक्तिपर अटल श्रद्धा ही इस हासकी आधारशिला है। अतः यह भक्तिभाव हास्यका ऐसा अनुपम मेल है जो अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। पत्नीहीन ऋषियोंको चन्द्रमुखियोंकी प्राप्तिके विचित्र स्रोतकी उद्भावना कितनी आह्लादकारिणी है।

गोस्वामीजीने हासका जहाँ कहीं भी वर्णन किया है वह अवहसित, अपहसित तथा अतिहसितकी कोटिमें नहीं गिनाया जा सकता, प्रत्युत शत-प्रतिशत शिष्टहास स्मित, हसित अथवा बिहसितके अन्तर्गत ही आयेगा।

शोक स्थायी भाव आलम्बन और उद्दीपन विभाव तथा संचारियोंसे पोषित होकर अपनी पूर्णवस्थाकी प्राप्तिसे करुणरसकी निष्पत्ति किस प्रकार कर रहा है यह देखिये—

‘पति सिर देखत मंदोदरी । मुरछित विकल धरनि खसि परी ॥
जुवति बृंद रोवत जठि धाई । तेहि उठाइ रावन पहिँ आई ॥
पति गति देखि ते करहिँ पुकारा । छूटे कच नहिँ बपुष सँभारा ॥
उर ताड़ना करहिँ विधि नाना । रोवत करहिँ प्रताप बखाना ॥
... ..

‘जगत विदित तुम्हारि प्रभुताई । सुत परिजन बल बरनि न जाई’ ॥

‘मानस’में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण एवं लक्ष्मण-मृच्छाके प्रसंगोंमें तुलसीने करुणरसको मूर्तिमान् किया है। ‘गीतावली’के उत्तरकाण्डके सीतात्याग-सम्बन्धी कुछ गीतोंमें भी उक्त रसकी हृदय-विदारक व्यञ्जना हुई है।

शास्त्रीय सभी अवयवोंके सहित अद्भुतरसकी निष्पत्ति बालकाण्डके ‘एक बार जननी अन्हवाये ।

करि मिगार पलना पाँढ़ाये ॥' आदि अर्द्धालियाकी मालामे देखिये^१। इनके अतिरिक्त सर्ती जब रामकी परीक्षा करने गयीं, उसी प्रसंगमें अद्भुत रसकी परिपूर्णता दिखायी गयी है।^२

वीररसके चार गेदोंमेंसे प्रमुख युद्धवीरके वर्णन गोस्वामीजीने अनेक प्रसंगोंमें किये हैं। यथा लंका-काण्डमें वीररसकी योजना कितने ही प्रसंगोंमें हुई है। बालकाण्डमें जनककी 'वीर बिहीन मही मैं जानी' सदृश उक्तिसे उद्गीत होकर लक्ष्मणने जो बातें कहीं—

‘तोरउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।

जो न करउँ प्रसुपद सपथ पुनि न धरउँ धनु हाथ ॥’

उनमें भी वीररसकी ध्वजना है। यहाँ धनुष आलम्बन विभाव है, जनकका व्यग्र उद्दीपन विभाव है। आवेशमें आकर लक्ष्मणने जो बातें कहीं हैं वे अनुभाव हैं। आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति, गर्व आदि सञ्चारी भाव हैं और जब इनसे स्थायी भाव उत्साह परिपुष्ट होता है तब यहाँ वीररस व्यञ्जित होता है। यहाँ ‘तव प्रताप बल’ उत्साहका बाधक न होकर साधक हो गया है। ‘कवितावली’ के लंकाकाण्डमें भी घनाक्षरी, शूलना और छप्पयकी पिटारीमें वीररसके अच्छे-अच्छे उदाहरण भरे हैं।

युद्धवीरके अतिरिक्त यदि हम अन्य तीनों भेद अर्थात् दानवीर, दयावीर और धर्मवीर दिखाना चाहें तो भी इन्हें सुगमतासे दिखा सकते हैं, क्योंकि तुलसीने राममें वीररसके चारों भेदोंके लक्षण घटित किये हैं। रामकी दानवीरता और दयावीरताके क्रमशः एक-एक उदाहरण लीजिये—

‘जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।

सोइ संपदा बिभीपनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ^३ ॥’

‘रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई।

तुलसी रामहिं प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई ॥

...

...

...

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।

नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों ॥

सुनहुँ लषन ! खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो।

सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो^४ ॥’

धर्मके व्यापक स्वरूपको दृष्टिमें रखकर ही तुलसीने यत्र-तत्र धर्मवीरताकी दिव्य किरणें प्रस्फुटित होती दिखायी हैं। सच्चे पुत्रके सामान्य कर्तव्यके रूपमें यह धर्मवीरताका उद्रेक देखिये—

‘मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिय तात।

आयसु देइय हरषि हिय कहि पुलके प्रसु गात ॥

धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ॥

आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहि होउ रजाई ॥

बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी^५ ॥’

१. ‘मानस’, बा० २००. १-८, २०१. ६-७। २. दे० वही, बा० ५३. ४-८, ५४. १-८।

३. ‘मानस’, सुन्दर० ४९.। ४. ‘गीतावली’, उरण्य० गीत, ११, १३। ५. ‘मानस’, अयो० ४५.

तुलसीके विशाल एवं उत्कृष्ट काव्य-क्षेत्रमें रौद्र, भयानक, वात्सल्य तथा शान्तरसोंके भी एकसे एक बढ़कर अनूठे उदाहरण विद्यमान हैं, पर स्थानाभावके कारण इनके उदाहरण आदि छोड़कर हम आगे बढ़ते हैं।

रसके सभी उपकरणोंको जुटाकर किसी रस-विशेषकी योजना कर देना कोई बड़ी बात नहीं। वस्तुतः कविकी रस-मर्मज्ञताका पता तब चलता है जब वह रसौचित्यका सांगोपांग निर्वाह करता है अर्थात् वह प्रमादवश न विरोधी रसोंका संकर ही करता है और न रसदोषोंके ही चक्करमें पड़ता है। तुलसीने अपनी रचनाओंमें विरोधी रसोंका संकर कहीं भी नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने परस्पर सहायक रसोंको ही मिलाया है भयानक, अद्भुत और वीरके स्वतन्त्र-रस-संकरका एक उदाहरण देखिये—

‘महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अतिघनी।

सुर डरत चौदह सहस्र प्रेत बिलोकि एक अवध धनी॥

सुर मुनि समय प्रभु देखि माया नाथ अति कौतुक करेउ।

देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरेउ’॥’

एक ऐसा उदाहरण देखिये जिसमें कविने वीर और भयानक सदृश विरोधी रसोंको भिन्न देशमें वर्णित कर रसदोष नहीं आने दिया है।

‘प्रभु कीन्हि धनुषटंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।

भये बधिर व्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा’॥’

यहाँ राममें वीर और राक्षसोंमें भयानक होनेके कारण अर्थात् भिन्न देशमें वर्णित होनेसे दोनों रसदूषित नहीं हुए हैं।

रस अनुभूत होनेवाली वस्तु है। अतः उसके निरूपणमें यह अत्यावश्यक माना जाता है कि कवि स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, शृङ्गार, वीर, स्मृति, शोक, चिन्ता और रस प्रभृतिका तत्तद्भेददर्शक स्वनाम द्वारा उल्लेख न करें। ऐसा करना रसदोष माना जाता है। तुलसी इससे भी मुक्त हैं। इस प्रसंगमें हमें यह न भूलना चाहिये कि जहाँ विभाव और अनुभावसे तत्तद्भावकी स्पष्टतया प्रतीति न होती हो वहाँ यदि संचारी भाव स्वनामसे निर्दिष्ट किया जाता है तो वह दोष नहीं कहा जायगा। जैसे तुलसीके इस दोहेमें देखिये—

‘गुरुजन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।

लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि’॥’

उदाहृतमें लज्जा सञ्चारी भावका जो स्वनाम द्वारा प्रयोग किया गया है वह दूषित नहीं है, क्योंकि सकुचकर दूसरी ओर देखना इस अनुभावका भीत्यादिमें होना भी सम्भव है, ऐसी दशामें ‘लगी बिलोकन सखी तन’ इस अनुमान द्वारा लज्जा सञ्चारी भावका ही बोध न हो सकता, एतदर्थ यहाँ लज्जा सञ्चारी भावका जो स्वनाम द्वारा उल्लेख किया गया है वह सदोष नहीं है।

भावका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। प्रधानतासे प्रतीयमान निर्वेदादि सञ्चारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादिके अभावसे उद्बुद्धमात्र रसावस्थाको अप्राप्त रति आदि स्थायी भावोंको भाव कहते हैं^१। हमारे कविने अपनी कृतियोंमें प्रायः सभी प्रकारके भावोंका निरूपण किया है। कुछके उदाहरण दिये जाते हैं।

१. ‘मानस’, अरण्य० २०। २. वही, अरण्य० १९। ३. वही, बा० २४८। ४. ‘काव्यालोक’, पृ० २६८।

ईश्वर-विषयक रति-भाव देखिये—

‘विनु पद चलइ सुनइ विनु काना । कर विनु करम करइ विधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी । विनु वानी बकता बड़ जोगी ॥
तन विनु परस नयन विनु देखा । ग्रहइ ब्रान विनु बास असेखा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती । दारुन असंभावना बीती ॥
पुनि पुनि प्रभु-पद-कमल गहि जोरि पंकरुहपानि ।
बोली गिरिजा वचन वर मनहु प्रेमरस सानि’ ।^१

तुलसीने देवता-विषयक रति-भावका जहाँ-जहाँ निरूपण किया है वे सभी स्थल ऐसे नहीं हैं कि केवल भक्त पुकार या स्तुति आदि करके रह जाता हो और देवता प्रत्यक्ष रूपमें कुछ न कहता-सुनता हो, प्रयुक्त उन्होंने कुछ ऐसे वर्णन भी किये हैं कि आलम्बन (देवता) भी प्रत्यक्ष रूपमें (आश्रय) भक्तको आश्वासन देता हुआ दृष्टिगोचर होता है । यदि जानकी अपनी परम श्रद्धासे गिरिराज-किशोरीकी प्रतिमाकी नाना प्रकारसे जयजयकार करती हुई अपने मनोरथ-पूर्तिकी याचना करती हैं तो उससे प्रभावित होकर भवानी भी मुसकराकर अपना प्रसाद देती हुई बोल उठती हैं—

‘विनय-प्रेम-बस भई भवानी । खसी माल मूरति मुसुकानी ॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ । बोली गौरि हरषु उर भरेऊ ॥
मुनु सिय सत्य असीस हमारी । पूजिहि मन कामना तुम्हारी ॥
नारद वचन सदा सुचि साँचा । सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा’ ॥^२

यद्यपि ऐसे प्रसंगोंमें आलंकारिकोंके मतके विपरीत भक्तिभावसे रसत्वप्राप्ति करनेका विचार अपेक्षित है, पर इस विषयपर अधिक विवेचना अनिवार्य होनेके कारण प्रस्तुत प्रबन्धका विस्तार अधिक हो जायगा । इसलिए इस विषयको यहीं छोड़ता हूँ ।

गुरु-विषयक रति-भावका एक मनोहर उदाहरण ‘मानस’के प्रारम्भमें ‘बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा ।’ आदिमें देखिये । ऋषि-विषयक और राज-विषयक रति-भावके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

‘बंदउँ मुनि-पद-कंजु रामायन जेहि निरमयेउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित’ ॥^३
... ..

‘बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तन इव परिहरेउ’ ॥^४

उद्बुद्धभाव स्थायी भावका भी एक उदाहरण लीजिये—

‘मापे लषन कुटिल भई भौहैं । रदपट फरकत नयन रिसौहैं’ ॥^५

यहाँ आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदिके होते हुए भी क्रोध स्थायी भावकी पुष्टि नहीं हो पायी है, क्योंकि इसीके साथ कविने यह भी निरूपण कर दिया है कि—

१. ‘मानस’, बा० ११७. ५-८, ११९ । २. ‘मानस’, बा० २३५. ५-८ । ३. वही, बा० १४ ।
४. वही, बा० १६ । ५. वही, बा० २५१. ८ ।

‘कहि न सकत रघुवीर डर लगै वचन जनु वान ।
नाइ रामपद कमल सिर वोले गिरा प्रमान’^१।

इससे स्पष्ट है कि रामके भयके सामने क्रोध स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता। अतः यहाँ भावध्वनि ही मानी जायगी।

अन्तमें, प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भावके कुछ नमूने लीजिये—

- (क) ‘तुलसी प्रभु के बिरह अधिक हठि राजहंससे जोरे ।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम लखनके घोरे’^२ ॥
- (ख) ‘पुर तें निकसीं रघुवीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वे ॥
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुटि सूखि गये मधुराधर वै ॥
फिर बूझति हैं ‘चलनो अव केतिक, पर्न कुटि करिहौ कित हैं ॥
नियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल चवै’^३ ॥
- (ग) ‘धरि धीर कहैं चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं ॥
कहिहै जग पोच न सोच कछु, फल लोचन आपन तौ लहिहैं ॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं ॥
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं’^४ ॥
- (घ) ‘कोटि मनोज लजावनि हारे । सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी । सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी ॥
तिन्हिहिं विलोकि विलोकत धरनी । दुहुँ सकोच सकुचति बरवरनी ॥
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी । बोली मधुर बचन पिक वयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लषनु लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदनु-बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हिहिं सिय सयननि’^५ ॥
- (ङ) ‘वारि विलोचन बाँचत पाती । पुलक गात आई भरि छाती ॥
राम लषनु उर कर बर चीठी । रहि गये कहत न खाटी मीठी’^६ ॥
- (च) ‘स्रवन सुनत सागर बंधाना । दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥
बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस ।
सत्य तोयनिधि कम्पति उदधि पयोधि नदीस’^७ ॥

अस्तु, इन अवतरणोंके (क)में ‘निर्वेद’ तथा (ख), (ग), (घ), (ङ) एवं (च)में क्रमशः ‘श्रम’ ‘औत्सुक्य’, ‘वीड़ा’, ‘जड़ता’ और ‘आवेग’ सञ्चारी भाव व्यञ्जित हैं।

आगे गोरवामीजीके द्वारा निरूपित रसाभास और भावाभासकी व्यञ्जना करनेवाले कुछ उदाहरणोंकी ओर बढ़िये। देखिये, शृंगारका यह रसाभास—

१. ‘मानस’, बा० २५२. २. ‘गीतावली’, अयो० गीत ८६ [४]। ३. ‘कविता०’, अयो० छ० ११। ४. ‘कविता०’, अयो० छ० २३। ५. ‘मानस’, अयो० ११५. १-७। ६. वही, बा० २८९. ४, ५। ७. वही, लं० ४. १०, ५।

‘जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम ।
ते निज निज मरजाद तजि भये सकल वस काम ॥
सबके हृदय मदन अभिलाखा । लता निहारि नवहिं तरु साखा ॥
नदी उमगि अंबुधि कहूँ धाई । संगम करहिं तलाव तलाई ॥
जहँ अस दसा जड़न की वरनी । को कहि सकइ सचेतन्ह करनी ॥
पगु पच्छी नभ जल थल चारी । भये काम वस समय विसारी ॥
मदन अंध व्याकुल सब लोका । निसिदिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥
देव-दनुज नर-किन्नर व्याला । प्रेत-पिशाच भूत-बेताला ॥
इनकी दसा न कहूँ बखानी । सदा कामके चरे जानी ॥
मिद्ध विरक्त महामुनि जोगी । तेपि काम वस भये वियोगी’ ॥’

यहाँ लता, वृक्ष, नदी, समुद्र, ताल, तलाई, पशु, पक्षी, मुनि, योगी प्रभृतिका अनुचित शृंगार वर्णित होनेसे शृंगाररसाभास है ।

करण रसाभासका उदाहरण यह लीजिये—

‘मुनि सुत बचन सनेहमय कपट नीर भरि नयन ।
भरत स्रवन मन सूलसम पापिनि बोली बयन ॥
तात वात मैं सकल सँवारी । भइ मंथरा सहाय विचारी ॥
कछुक काज विधि वीच विगारेउ । भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ’ ॥’

यहाँ दशरथकी मृत्युपर कैकेयीने अपनी आँखोंमें आँसु भरकर भरतके सामने जो शोक-प्रकाशन किया है उसकी अयथार्थताके कारण करणरसाभास हुआ ।

भावभासका भी एक उदाहरण देखिये—

‘सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप ॥
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता विचारि तब ॥
नाम तुम्हार प्रताप दिनेसा । सत्यकेतु तब पिता नरेसा ॥
गुरु प्रसाद सब जानिय राजा । कहिय न आपन जानि अकाजा ॥
देखि तात तब सहज सुधाई । प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई ॥
उपज परी ममता मन मोरे । कहूँ कथा निज पृछे तोरे’ ॥’

अवतरणसे प्रकट है कि कपटमुनिने अपनी कार्य-सिद्धिके लिए राजाके प्रति अपना कपटमय प्रेम प्रदर्शित किया है, एतदर्थ यहाँ राजा-विषयक रतिभावाभास हुआ ।

भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि तथा भावशबलताके नमूने भी क्रमशः देखिये—

‘मैं यहि परसु काटि बलि दीन्हें । समरजग्य जग कोटिक कीन्हें ॥
मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे । बोलसि निदरि विप्र के भोरे ॥
मंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा । अहिमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा’ ॥’

१. ‘मानस’, बा० ८४, १-८ । २. वही, अयो० १५८, १, २ । ३. वही, बा० १६३, १-४ ।

४. ‘मानस’, बा० २८२, ४-६ ।

यह गर्व-सञ्चारी आगे जब रामने रमापतिवाले धनुष्की प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तो विस्मयमें परिवर्तित हो गया—

‘राम रमापति कर धन लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥
देत चापु आपहिं चढ़ि गयेऊ। परसुराम मन विस्मय भयेऊ ॥’

अतः यहाँ भावोदय हुआ।

शिवके धनुर्भंगकी ध्वनि सुनते ही परशुराम कुपित हुए और जब वे जनककी सभामें आये तो उनके देखनेसे ही प्रकट होता था कि उनमें कौन-सा भाव छाया रहा—

‘सीस जटा ससि वदन सुहावा। रिस वस कलुक अरुन होइ आवा ॥
भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥’

परन्तु यह क्रोधाभाव विश्वामित्रके आकर मिलने और राम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंको मुनिके चरणोंमें डालनेके उपरान्त सहसा लुप्त हो गया और वे—

‘रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन ॥’

इस प्रकार यहाँ भावशान्ति हुई।

भावसन्धि नीचेकी इन पंक्तियोंमें कितनी सुन्दरतासे व्यक्त हुई है—

‘तव देखी मुद्रिका मनोहर। रामनाम अंकित अति सुन्दर ॥
चकित चितव सुदरी पहिचानी। हरष विषाद हृदय अकुलानी ॥’

इसमें एक साथ ही हर्ष और विषादका सञ्चार वर्णित है।

‘गीतावली’के ‘सुवन समीरको धीर धुरीन वीर बड़ोइ’^१से प्रारम्भ होनेवाले गीतमें समान चमत्कारक अनेक भावोंका सम्मेलन होनेसे अपूर्व भावशबलता दिखायी गयी है। उक्त गीत बड़ा है। उसे उद्धृत करनेका अवकाश नहीं।

केवल विवक्षित वाच्यध्वनिके प्रथम भेद-प्रभेदोंके ही कुछ उदाहरण आदि देनेमें इतना विस्तार हो गया और यदि अब लक्ष्यक्रम व्यंग्यके दोनों प्रधान भेद वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि तथा इनके उपभेद आदिका प्रसंग छेड़ा जाय तो प्रस्तुत परिच्छेद बहुत बढ़ जायेगा, अतः उसे हम यही कहकर छोड़ते हैं कि तुलसीकी रचनाओंमें वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनिके भी सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं।

यद्यपि हमें अलंकारवादियोंकी ऐसी उक्ति—

‘अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलं कृती ॥’

(अर्थात् जो विद्वान् अलंकार-रहित शब्द और अर्थको काव्य मानता है वह अग्निको उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता) से सर्वांशमें सहमत होकर अलंकारको काव्यका सारभूत अंग माननेकी आवश्यकता नहीं, तथापि उसे काव्यका एक ऐसा साधन तो मानना ही पड़ेगा जो यथार्थ और उपयुक्त रीतिसे प्रयुक्त होनेपर भावोंका उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओंके रूप, गुण, क्रियाका अधिक तीव्र अनुभव करानेमें बहुत-कुछ सहायक होता है। श्रेष्ठ काव्य-प्रणेताओंको कलंकारोंका पूर्ण ज्ञान रहता है और वे उनके यथोचित प्रयोगोंसे भी अपने काव्यकी कमनीयता बढ़ाते हैं। गोस्वामीजीको अलंकारोंका सम्यक् ज्ञान था, यह इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि उनके काव्यमें अलंकारोंके तीन प्रधान प्रकार अर्थात् शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार अपने-अपने भेद-प्रभेदोंके सहित उत्तम रीतिसे प्रयुक्त किये गये हैं।

१. ‘मानस’, बा० २८३. ७, ८। २. वही, बा० २६७. ५, ६। ३. वही, बा० २६८. ८।

४. वही, सुन्दर० १२. १, २। ५. दे० ‘गीतावली’, सुन्दर० गीत ५।

शब्दालंकारका काव्यमं विशेष प्रयोग उसके महत्वको कम करनेवाला होता है। तुलसीदासजी गम्भीरप्रकृतिके थे। उन्होंने यमकादि शब्दालंकारपर विशेष दृष्टि नहीं रखी, स्वाभाविक रीतिसे ही ये अलंकार आ गये हैं। रहे अर्थालंकार, उनमेंसे कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो हमारे कविकी रचनाओंमें न मिले। सभी प्रकारोंका एक-एक उदाहरण देनेके लिए भी प्रस्तुत प्रबन्धमें अवकाश नहीं। अतः संक्षेपमें, सुभीतेके साथ विचार करनेके लिए हम विद्याधर, विद्यानाथ प्रभृति आलंकारिकोंके द्वारा किये गये अलंकारोंके वर्गीकरणको ध्यानमें रखते हुए प्रत्येक वर्गके कुछ ही अलंकारोंके उदाहरण देंगे।

साधर्म्यमूलक अलंकारोंको देखनेसे पता चलता है कि उनमेंसे कुछ तो अभेद-प्रधान, कुछ भेद-प्रधान और कुछ भेदाभेद-प्रधान होते हैं। अभेद-प्रधानके अन्तर्गत रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपहृति आते हैं; भेद-प्रधानमें दीपक, तुल्योगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तुपमा, सहोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, अधिक, अल्प परिगणनीय हैं और भेदाभेद-प्रधान अलंकारोंमें उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण गिनाये जा सकते हैं।

गोस्वामीजीने रूपक अलंकारपर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुए उसका प्रयोग अपनी सभी कृतियोंमें पग-पगपर किया है। छोटे-छोटे निरंग और परम्परित रूपकोंका तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े और बेजोड़ सांग रूपकके भी एकसे एक बढ़कर उदाहरण 'मानस', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' प्रभृति प्रधान कृतियोंमें जगमगाते हैं। उन्होंने अपने इन लम्बे-लम्बे सांग रूपकोंमें भी मजाल नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्यका आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उसकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखायी हो। उन्होंने ऐसे रूपकोंकी योजना सामान्यतया गम्भीर विषयोंको सरस एवं सरल रीतिसे हृदयंगम करानेके लिए ही की है और उसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके रूपक केवल परम्परागत उपमानों और अप्रस्तुतोंकी क्षुद्र परिधिमें ही नहीं बँधे रहते, अपितु वे विशेषांशमें अपनी सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्तिके सहारे प्रकृतिके व्यापारोंसे ही ऐसे अप्रस्तुतोंका चयन करते हैं कि उनसे रूपकमें प्रभावादिके अतिरिक्त बड़ी ही स्वाभाविकता आ जाती है। अन्यन्त संक्षेपमें यही उनके रूपकोंकी विशेषताएँ हैं। अब एक उदाहरण लीजिये—

‘आस्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथु।

सेन मनहुँ करुनासरित, लियें जात रघुनाथु।’

‘वोरति ग्यान विराग करारें। बचन ससोक मिलत नद नारें ॥

सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरु-वर कर भंगा ॥

विषम विषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ॥

केवट बुध विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥

वनचर कोल किरात बेचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥

आस्रम उदधि मिलीजब जाई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥’

अपहृतिका चमत्कार कैसी स्वाभाविक रीतिसे रामके रंगभूमिमें प्रवेश करनेके साथ सूर्योदय होनेके प्रसंगमें दिखाया गया है, यह देखिये—

‘रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभुप्रताप सब नृपन्ह दिखाया ॥’

उल्लेखकी योजनाके सहारे विविध गुणोंके आश्रयत्वसे एक ही रामको कविने कैसे विभिन्न रूपोंमें दर्शाया है, यह ‘मानस’के बालकाण्डकी ‘जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरित देखी तिन्ह तैसी ॥’ से

लेकर उसके नीचेकी चौपाइयोंकी मालामें भली-भाँति देखा जा सकता है। जिस पाठकको अलंकारका ज्ञान नहीं उसे भी उक्त प्रसंग स्वाभाविक ही लगता है, क्योंकि इमे वह रामकी दिव्य विभूति समझता है।

अब साधर्म्यमूलककी भेद-प्रधान श्रेणीमें आनेवाले अलंकारोंसे कुछके उदाहरणोंकी ओर आइये।

दीपककी योजनासे विभिन्न प्रस्तुत और अप्रस्तुतोंका एक ही धर्म अर्थात् क्रियामें सम्बन्ध यहाँ किस प्रकार दिखलाया गया है, यह भी देखिये—

‘संग ते जती कुमंत्र ते राजा । मान ते ग्यान पान ते लाजा ॥

प्रीति प्रनय विनु मद ते गुनी । नासहिं बेगि नीति अस सुनी’ ॥

अनेक अप्रस्तुतोंका एक धर्म कालाक्षेप करनेकी असमर्थताकी यह स्वाभाविक और सच्ची उद्भावना किस प्रकार तुल्ययोगितासे अलंकृत हो जाती है, यह देखिये—

‘सहवासी काचो गिलहिं, पुरजन पाक प्रवीन ।

काल छेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खग मृग मीन’ ॥

निदर्शनाके द्वारा गोस्वामीजीने इन पंक्तियोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी उत्कृष्टता कैसे अच्छे ढंगसे व्यक्त की है—

‘जं असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ग्यान हेतु म्रम करहीं ॥

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी’ ॥’

सहोक्ति द्वारा एक ही धनुर्भंगके व्यापारमें होनेवाली अनेक क्रियाओंका यह सहभाव कैसी सुन्दरतासे दिखाया गया है—

‘गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाय लियो ।

नृपगन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो ॥

आकरण्यो सिय-मन समेत हरि, हरण्यो जनक-हियो ।

भंज्यो भृगुपति-गर्व सहित, तिहुँ लोक विमोह कियो’ ॥’

व्यतिरेकका उदाहरण देखिये—

‘सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर । सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर’ ॥’

इसीको हाथीपर चढ़ाकर गधेपर बैठाना कहते हैं ।

अधिक अलंकारकी योजना द्वारा अत्यधिक आनन्दोत्सासकी यह कैसी व्यञ्जना की गयी है—

‘बहुत उछाह भवन अति थोरा । मानहु उमगि चला चहुँ ओरा’ ॥’

यहाँ बहुत उछाह आशेयको भवन आधारसे बहुत बड़ा बताया गया है ।

यदि अल्पका भी चमत्कार देखना चाहें तो वरवैकी यह एक पंक्ति लीजिये—

‘कनगुरिया कइ मुँदरी कँगना होइ’ ॥’

इसमें कनगुरियाकी मुँदरी सूक्ष्म आशेयसे हाथ आधारके अधिक या बड़ा होनेपर भी उसे सूक्ष्म बताया गया है । तभी तो मुँदरी कंकणका स्थान ले रही है ।

साधर्म्यमूलकके भेदाभेद-प्रधान अलंकारोंमें सर्वोपरि उपमा ही है । इसका प्रयोग भी गोस्वामीजीने

१. ‘मानस’, बा० २४०. ४-८, २४१. १-८ । २. वही, अरण्य० २०.१०, ११ । ३. ‘दोहावली’, दो० ४०४ । ४. ‘मानस’, उ० ११४. १, २ । ५. ‘गीतावली’, बा० गीत ८८ [६, ७] । ६. ‘बरवै’, बा० २ । ७. ‘मानस’, बा० २९६. ८ । ८. ‘बरवै०’, सुन्दर० ३८ ।

प्रसुर परिमाणमें किया है। उनकी उपमाओंको दृष्टिमें रखते हुए यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि ये अधिकांशमें सौन्दर्य या दृश्य-चित्रणके लिए व्यवहृत हुई हैं। इनमें उनकी नूतना-तिनूतन कल्पनाशक्तिका विस्तार भी अवगत होता है। कवि-समय-सिद्ध उपमानोंके अतिरिक्त नये उपमानोंके प्रयोगकी भी न्यूनता नहीं है। यही नहीं, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपमानोंको भी कहीं-कहीं बड़ी अनूठी उद्भावना के साथ विशेष-विशेष प्रसंगोंमें वैठाया गया है। उन्होंने ऐसी उपमाओंकी भी सृष्टि की है जो एकमात्र उनके जड़ एवं चेतन जगत्के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण तथा आन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूतिपर अवलम्बित हैं। अब उपमाकी कुछ ऐसी भिन्न-भिन्न पंक्तियाँ देखिये जिनसे उक्त विशेषताएँ झलक उठें—

‘तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह-से विकसे’ ॥’

‘दिये पीठि पाछे लगे, मनमुख होत पराय।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गवाँय’ ॥’
‘जनक वचन हुए विरवा लजारु के-से,
वीर रहे मकल सकुचि सिर नाइ के’ ॥’

‘लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपिन कर सोना’ ॥’

अध्यवसायमूलक अलंकारोंके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार आते हैं। इन दोनों अलंकारोंका प्रयोग भी गोस्वामीजीने दिल खोलकर किया है। उत्प्रेक्षाओंकी भरमार भी उपमाओं और रूपकोंकी भाँति उनकी सभी कृतियोंमें देखी जा सकती है। उन्होंने जहाँ-कहाँ रूप या अंग-शोभाको वर्णनीय बनाया है वहीं उत्प्रेक्षापर उत्प्रेक्षा करते हुए उसकी अनूठी माला भी प्रस्तुत कर दी है जो पाठकको सहजमें ही अप्रतिम सौन्दर्यानुभूति कराती है। इस मालामें परोये अप्रस्तुत कवि परम्परानुगत और प्रकृतिसे गृहीत दोनों प्रकारके रहते हैं। दोनों ही प्रस्तुतके भावको पूर्णतया अनुरजित करते हैं। देखिये—

‘जानकी-चर सुन्दर माई।

इन्द्रनील-मनि स्याम सुभग अंग अंग मनोजनि बहु छवि छाई ॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवन्त कलुक अरुनाई ॥
कंजदलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई ॥
पीत जानु उर चारु जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई ॥
पीतपराग भरे अलिंगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई ॥
किंकिन कनककंज अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई ॥
गई न उपर समीत नमित-मुख, विकसि चहुँदिसि रही लोनाई ॥
जज्ञोपवीत विचित्र हेममय, मुक्तामाल उरसि मोहिं भाई ॥
कंद-तडित बिच जनु सुरपति-धनु-रुचिर बलाकपाँति चलि आई ॥
कंबुकंठ, चिबुकाधर सुन्दर, क्यों कहाँ दसनन की रुचिराई ॥
पदुम कोस महुँ वसे वज्र मनो निज संग तडित-अरुन-रुचि लाई ॥

१. ‘कविता०’, बा० छ० २। २. ‘दोहावली’, दो० २५७। ३. ‘गीतावली’, बा० गीत ८२ [९]। ४. ‘मानस’, बा० २५८.२।

नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छवि पाई ।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई ॥'

उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजनामें कवि अपनी कल्पनाकी जो उड़ान भरता है उसकी सफलता इसीमें है कि इसके सहारे वह ऐसे ही अप्रस्तुतको लाये कि उससे प्रस्तुतका विम्व-प्रतिविम्व-भाव ही झलके । इसी दशामें वर्ण्यके रूपकी सौन्दर्यानुभूति होती है । यथा—

'सतानंद सिष सुनि पायँ परि पहिराई माल सिय पिय-हिय, सोहत सो भई है ।
मानस ते निकसि बिसाल सु तमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी वनि गई है ॥'

यहाँ प्रस्तुत 'जयमाल' और अप्रस्तुत 'मराल-पाँति' दोनोंमें वर्णसादृश्य ही नहीं, अपितु सौन्दर्यकी भावना भी है ।

अतिशयोक्तिकी योजनामें तुलसीने भी यद्यपि अन्य कवियोंकी भाँति दूरकी उड़ान भरी है, परन्तु कहीं भी इसका फल यह नहीं हुआ है कि उनकी अतिशयोक्ति केवल कौतूहलमात्र दिखाकर या पहेली बनकर रह जाती हो और उनके अभिप्रेत वर्ण्यमें उत्कर्ष न लाती हो । अत्यन्तातिशयोक्तिका एक ऐसा उदाहरण लीजिये जो इतनी स्वाभाविकतासे प्रकट किया गया है कि सभी लोग उसे झट पहचान भी नहीं सकते—

'राजन राउर नाम जस सव अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाष तुम्हार ॥'

गोस्वामीजीने 'मानस', 'गीतावली' तथा 'कवितावली'में धनुष्के टूटनेपर उसके घोर रवके भयं-करताद्योतनके लिए, अथवा युद्ध-वर्णनके कई प्रसंगोंमें ऐसी सम्बन्धातिशयोक्तिकी योजना की है जो पूर्णतया परम्परागत है । अतः वह भी अस्वाभाविक नहीं लगती, प्रत्युत अपने प्रयुक्त प्रसंगमें विचित्र प्रभविष्णुता लाती है ।

विरोधमूलक अलंकारोंकी श्रेणीमें आनेवालोंमेंसे भी दो-चारकी वानगी लीजिये—

विभावनाः—

'बिनुपद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु वानी वकता बड़ जोगी ॥'

यहाँ कवि निराकार ब्रह्मकी अलौकिकता हृदयंगम करानेके लिए अपनी आलंकारिक रीतिसे कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति बताकर पाठकके हृदयमें ईश्वर-विषयक भावकी विशेष पुष्टि करनेमें समर्थ हुआ है । विपमः—

'करुना निधानको तो ज्यों-ज्यों तनु छीन भयो ।
त्यौं-त्यौं मन भयो तेरे प्रेम पीन ॥'

यह अलंकृत उक्ति रामके हृदयमें सीताके वियोगजनित दुःखाधिक्य और उनके प्रेमाधिक्य दोनों भावोंकी बड़ी गम्भीर अनुभूति करानेमें सहायक हो रही है ।

असंगतिः—

'जिन्ह वीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥'

१. 'गीतावली', बा० गीत १०६ । २. वही, ९४ [४] । ३. 'मानस', अयो० ३ । ४. वही, बा० ११७. ५, ६ । ५. 'गीतावली', सुन्दर०, गीत ८ । ६. 'मानस', बा० २०३. ८ ।

चारों भाइयोंके मनकोहक रूपके विशेष आकर्षणकी अभिव्यञ्जनामें यह असंगति भी योग दे रही है।

विशेषकी ओटमें निकाम कर्मका यह गूढ़ रहस्य देखिये—

‘तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।

सेए सोक समर्पई विमुख भये अभिराम’ ॥’

यहाँ आशा देवीका विमुख होनेपर भी अभिराम होना विरुद्ध है।

अप्रस्तुतप्रशंसाके सभी भेदोंमेंसे उसके पञ्चम भेद सारूप्य निबन्धनाका, जिसे अन्योक्ति भी कहा जाता है, प्रयोग भी हमारे कविने बड़ी मार्मिकतापूर्वक ‘दोहावली’के कई दोहोंमें किया है। एक उदाहरण लीजिये—

‘तुलसी तोरत तीर तरु, वक हित हंस बिडारि।

विगत नलिन अलि, मलिन जल, सुरसरिहू बढ़ियारि’ ॥’

यहाँ अप्रस्तुत बाढ़की गंगाका ध्वंसकारी चित्र उपस्थित करके उसके द्वारा कवि इस प्रस्तुतका बोध कराना चाहता है कि बढ़ती होनेपर सज्जन भी इतरा जाते हैं।

वाक्यन्यायमूलक अलंकार यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प तथा समुच्चयके प्रयोग भी गोस्वामीजीने किये हैं। इनमेंसे परिसंख्या तो एक ही प्रयोगमें आया है, पर अन्य सभी सामान्य रूपसे कई प्रसंगोंमें व्यवहृत हुए हैं। इन सबके उदाहरण देखिये—

‘मधुर वचन कटु बोलिबो, विनु स्रम भाग अभाग।

कुहू कुहू कलकंठ रव, काँ काँ कररत काग’ ॥’

इस यथासंख्यके द्वारा कविने मधुर और कर्कश वाणीमेंसे प्रथमका उत्कर्ष और दूसरेका अपकर्ष बड़ी स्वाभाविकतासे हृदयंगम कराया है। अतः अलंकारका प्रयोग सार्थक है।

‘दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नरतक नृत्य समाज ॥

जीतहु मनहि सुनिय अस रामचंद्रके राज’ ॥’

इस परिसंख्याके द्वारा रामराजका सौख्याधिक्य व्यंग्य होनेसे इसमें भी कृत्रिमता नहीं प्रकट होने पाती।

‘जितेहु सुरासुर तव स्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं’ ॥’

यहाँ काव्यार्थापत्तिसे भीरु और चापलस मन्त्रियोंका कृत्रिम आश्वासन और उद्बोधनका भाव भी भासित होता है।

‘की तनुप्रान कि केवल प्राना। विधि करतबु कछु जाइ न जाना’ ॥’

रामके वियोगकी आशंकाभात्रसे सीताके दुःखाधिक्य-भावकी तीव्र व्यञ्जना भी यह विकल्प बड़ी खूबीसे कर रहा है।

‘ग्रहगृहीत पुनि बातबस तेहि पुनि वीछी मार।

ताहि पियाइअ वारुनी कहहु कवन उपचार’ ॥’

यह समुच्चय कल्पनातीत वेदनाधिक्यकी अनुभूत करानेमें सहायक हो रहा है।

१. ‘दोहावली’, दो० २५८। २. वही, दो० ४९८। ३. वही, दो० ४३६। ४. ‘मानस’, उ० २२। ५. वही, सुन्दर० ३६. ९। ६. वही, अयो० ५७. ४। ७. वही; अयो० १७९।

लोकव्यवहारमूलक अलंकार भी कई हैं। उनमेंसे प्रायः रावके मंत्र हगारे कविकी रचनाओंमें प्रयुक्त हुए हैं। स्थानाभाववश दो ही चारके नमूने दिये जाते हैं—

प्रत्यनीकः—

‘नहिं चितव जव कपि कोपि तब रहि दसन्ह लातन्ह मारहीं।

धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं’ ॥’

यहाँ रावणकी उपेक्षाको अत्यधिक अपेक्षामें परिणत करनेके लिए ऐसी उन्नेजक घटनाकी अवतारणा की गयी है जो अवश्य ही अपना फल प्रस्तुत करती है।

स्वभावोक्तिः—

‘भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ।

भाजि चले किलकत मुख दधि-ओदन लपटाइ’ ॥’

विनोक्तिः—

‘स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन विनु बानी’ ॥’

तर्कन्यायमूलक अलंकारोंमेंसे भी दो-एकके उदाहरण लीजिये—

काव्यलिङ्गः—

‘व्यालहु ते बिकराल बड़, व्यालफेन जिय जानु।

वहि के खाये मरत हैं, वह खाये विनु प्रानु’ ॥’

अर्थान्तरन्यासः—

‘कारन ते कारज कठिन होइ दोष नहि मोर।

कुलिस अस्थि ते उपल ते लोह कराल कठोर’ ॥’

शृङ्खलाचित्रमूलक अलंकारोंकी श्रेणीमें आनेवाले कारणमाला, एकावली, मालादीपक तथा स्तारका भी क्रमशः एक-एक उदाहरण देखिये—

‘विनु सतसंग न हरिकथा तेहि विनु मोह न भाग।

मोह गये विनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग’ ॥’

... ..

‘काल बिलोकत ईस रुख, भानु काल अनुसारि।

रविहि राउ, राजहि प्रजा, बुध व्यवहरहि बिचारि’ ॥’

... ..

‘जग जपु राम राम जपु जेही’।

‘आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।

तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ’ ॥’

अपह्नवमूलक अलंकारोंमेंसे व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति और मीलितके उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

१. वही, लं० ८५. २. ‘मानस’, बा० २०३. ३. वही, बा० २२८. २. ४. ‘दोहावली’, दो० ५०२. ५. ‘मानस’, अथो० १७८. ६. वही, उ० ६१. ७. ‘दोहावली’, दो० ५०४. ८. ‘मानस’, अथो० २१६. ८. ९. ‘दोहावली’, दो० ३५७।

‘धन्य कीस जो निज प्रभु काजा । जहाँ तहँ नाचइ परिहारि लाजा ॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई । पतिहित करइ धरम निपुनाई ॥’
‘नाँगो फिरे, कहै माँगनो देखि न खाँगो कछु, जनि माँगिए थोरो ।
राँकनि नाकप रीझि करै, तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो ॥’

‘सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत ।

हार बेलि पहिरावउँ चंपक होत ॥’

विशेषणवैचित्र्यभूलक समासोक्ति और पत्रिकर अलंकारके सटीक और उपयुक्त प्रयोग भी देखिये—

‘वरपि परुष पाहन पयद, पंख करो टुक-टुक ।

तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहिं चूक ॥’

‘देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं । सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं ॥’

अन्तमें अब दो-एक ऐसे उदाहरण लीजिये जो उभयालंकारके दोनों भेद संसृष्टि और संकरके प्रयोग-में इनकी प्रगाढ़ योग्यताके समर्थक हों । निम्नांकित दोहोंमें अनुप्रास सहस्र शब्दालंकार तथा उत्प्रेक्षा एवं क्रमालंकार सहस्र अर्थालंकारकी कैसी युन्दर संसृष्टि हुई है—

‘लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु ।

ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु ॥’

यदि संदेह संकर की भूलभुलैयामें रमना हो तो इस अर्द्धालीमें प्रवेश कीजिये—

‘सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के । लोचन नलिन भरे जल सिय के ॥’

यहाँ ‘लोचन नलिन’ पदमें उपमा और रूपकका सन्देह तो हो जाता ही है, साथ ही अवतरणमें विप्रमालंकार और अप्रस्तुत प्रशंसाका भी सन्देह हो जाता है, क्योंकि प्रियके मृदु वचनोंको सुनकर दुःख होना, अर्थात् भले उद्योगसे अनिष्ट फल मिलना, यह विषम अलंकार होता है और ‘लोचन नलिन भरे जल सिय के’ इस वचनसे नेत्रोंमें अश्रु आ जानेके बहाने उसके कारणरूप दुःखका कथन होना कार्यसे कारणका बोधरूप अप्रस्तुतप्रशंसा-अलंकार भी हो सकता है । यहाँ कार्य है—लोचन जल और उसका कारण है—दुःख, तात्पर्य यह कि जहाँ अप्रस्तुत कार्यसे प्रस्तुत कारणका बोध होता है वहीं कार्यनिबन्धा अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है ।

यहाँ उक्त अलंकारोंमेंसे न तो किसीके खण्डनकी सामग्री है और न मण्डनकी, अतः निश्चयपूर्वक किमी अलंकारका निर्णय नहीं हो सकता ।

गोस्वामीजीकी अलंकार-योजनाके इन विविध उदाहरणोंको देखते हुए यह सभी स्वीकार करेंगे कि उन्होंने अलंकारोंका प्रयोग कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शनके लिए नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने इन्हें कहीं भावोत्कर्षका सहयोगी बनाया है तो कहीं वस्तुओंके रूप, गुण, क्रिया आदिकी तीव्र अनुभूतिको सजग करानेका साधन । इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है । तुलसीका अलंकार-विधान उनकी साधुतासे अछूता नहीं रह पाया है । इसीसे उनकी अलंकार-योजना प्रायः उपदेश-समन्वित ही मिलती है ।

-
१. ‘मानस’, लं० २३. १; २ । २. ‘कवितावली’, उ० छ० १५३ । ३. ‘वरवै०’, बा० छ० ६ । ४. ‘दोहावली’, दो० २८२ । ५. ‘मानस’, अयो० २९. ४ । ६. ‘मानस’, ‘अयो० २३८ । ७. वही, अयो० ६३. १ ।

काव्यके उत्कर्षाधायकोंका प्रसंग समाप्त कर चुकनेपर अब देखना चाहिये कि क्या उसके अपकर्षा-धायकोंकी मलिन छाया तुलसीके साधु काव्यपर रज्जुमात्र भी पड़ी है। काव्यमें दोषोंका परिहार कितना आवश्यक ठहराया गया है, इसे आचार्य दण्डीकी इस उक्तिसे अनुमान कीजिये—

‘तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।

स्याद्वपुः सुन्दरमपि शिवत्रेणैकेन दुर्भगम्’ ॥’

(अर्थात् काव्यमें छोटेसे छोटे दोषकी भी उपेक्षा कदापि न करनी चाहिये । चाहे कितना ही सुन्दर शरीर हो, पर कोढ़के एक छींटेसे भी अभागा बन जाता है ।)

काव्यकी सुन्दरता काव्यके अपने सभी गुणोंसे युक्त होनेपर ही अवलम्बित नहीं रहती है, अपितु वह काव्यगत दोषोंसे मुक्त होनेपर भी निर्भर है । विभिन्न आचार्यों ने दोषोंकी संख्या भिन्न-भिन्न ठहरायी है । उसके विवेचन या विस्तारसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं । हमें तो केवल उन दोषोंका संकेत करना है जो हमारे बहुत साथी मारनेपर एकाध प्रसंगोंमें हाथ आये हैं—

‘खल प्रबोध, जग सोध, मनको निरोध, कुल सोध ।

करहिं ते फोकट पचि मरहिं, सपनेहु सुख न सुबोध’ ॥’

यहाँ पूर्वाद्धमें यतिभंगदोष है ।

न्यूनपदत्वदोषका उदाहरण यह लीजिये—

‘उत्तम, मध्यम, नीच गति पाहन, सिकता पानि ।

प्रीति परिच्छा तिहुँन की वैर वितिक्रम जानि’ ॥’

क्रम-भंगदोष निम्नांकित देखिये—

‘साख सुचितित पुनिपुनि देखिय । भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय ॥

राखिय नारि जदपि उरमाहीं । जुवती साख नृपति बस नाहीं’ ॥’

‘मानस’में कहीं-कहीं एक ही अर्द्धाली ज्योंकी त्यों दो प्रसंगोंमें व्यवहृत हो गयी है, यथा ‘सिरधरि आवसु करिय तुम्हारा । परम धरम यह नाथ हमारा ॥’ यह बालकाण्डमें तो आयी ही है^१, अयोध्याकाण्डमें भी है^२ । इसी प्रकार ‘धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा । तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा ॥’ लंकाकाण्डके दो प्रसंगोंमें आयी है^३ । ऐसी ही दो-चार पंक्तियाँ और हैं जो दोहरायी गयी हैं । इसे हम एक प्रकारका अनवीकृतत्व दोष समझते हैं । अस्तु ।

गोस्वामीजीके विस्तृत काम्य-सागरमें उक्त दोष एकविन्दुवत् ही तो ठहरते हैं । इन्हींके आधारपर उनके काव्यकी अलौकिक गरिमापर अंगुलिनिर्देश करनेका साहस कोई नहीं कर सकता । क्योंकि—

‘अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिंसं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।

एकोहि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥’

बाह्य दृश्योंका सूक्ष्मनिरीक्षण और चित्रण

कुशल कलाकारके महत्तम काव्यमें उसका बाह्य जगत्का व्यापकसे व्यापक अनुशीलन सन्निहित ही नहीं रहता, अपितु उसीपर विशेषांशमें उसके अन्तर्जगत्की नींव भी अवलम्बित रहती है । उसका

१. ‘काव्यादर्श’ १:७ । २. ‘दोहावली’, दो० २७४ । ३. वही, दो० २५२ । ४. ‘मानस’, अरण्य० ३६. ८, ९ । ५. वही, बा० ७६. २ । ६. वही, अयो० २११.३ । ७. वही, लं० ७०.६, १०२.३ ।

बहिर्जगत् जितना ही विस्तृत होता है उतना ही अन्तर्जगत् विशाल और कल्पनामय। इसीलिए बाह्य दृश्योंका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण काव्यके अपरिहार्य एवं सार्वभौतिक उपकरणोंमेंसे एक है। बाह्य दृश्योंके अन्तर्गत यों तो हमारी चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेंद्रियके विषय होनेवाले विश्वके असंख्य पदार्थोंकी परिगणना की जा सकती है, पर एक स्थूल दृष्टिसे मनुष्यवर्ग, तिर्यग्वर्ग, कृमि-कीटवर्ग, अचेतनवर्ग आदिके शील, स्वभाव, चेष्टा, आकृति, क्रिया, गुण, धर्म प्रभृतिमें जो-जो वैशिष्ट्य कविकी वाणीसे प्रत्यक्ष हो उठता है उससे कविके बाह्य दृश्य-निरीक्षणकी शक्तिका पता भली भाँति चलता है। सामान्यसे सामान्य स्थावर अथवा गत्वर दृश्यका ही, जिन्हें साधारण मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता, कवि इस प्रकार साक्षात्कार किये रहता है कि आवश्यकता पड़नेपर मूर्तिमान् ही नहीं कर देता, अपितु उनके सहारे गूणातिगूढ़ भावना-को भी हृदयंगम करा देता है।

पहले मनुष्यवर्गसे सम्बद्ध बाह्य दृश्यावलोकनके उदाहरण लीजिये। दोलोत्सवके अवसरपर जय सिन्धुरगामिनी सुन्दरियाँ अपने-अपने आभूषणों और कुसुमभी साड़ियोंको धारण करके एकत्र होती, कलकण्ठसे गान करती और झलने-झुलानेका आनन्द मनाती हैं तो उस समयका दृश्य बड़ा ही मनोह्र होता है। ऐसे दृश्यको कविने कितनी बारीकी और सहृदयतासे देखा था, इसका आभास निम्नांकित पंक्तियाँ देती हैं—

‘बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधरव किन्नर लाजहीं।
अति मचत, छूटत कुटिल कच, छवि अधिक सुंदरि पावहीं।
पट उड़त, भूषन खसत, हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं’ ॥’

अन्तिम दोनों पंक्तियाँ किस प्रकार हमारे सामने झलनेवाली रमणियोंका साक्षात् दृश्य-सा उपस्थित कर रही हैं।

गृहीको जब अपने यहाँ किसी महान् पाहुनके आगमनकी सूचना रहती है तो उसकी अतिथिसे मिलने और उसका स्वागत करनेकी बलवती उत्कण्ठा उसे बार-बार पाहुनके मार्गकी ओर देखनेके लिए विवश करती है। हमारे कविने इस दशाका सजीव चित्र उपस्थित किया है। शबरीको विदिति है कि राम-लक्ष्मण मेरे आश्रमपर पदार्पण करनेवाले हैं। अतः उनके स्वागतार्थ उत्तमोत्तम कन्द, मूल, फलका आयोजन कर चुकनेके उपरान्त मानवस्वभावानुकूल लोल होकर—

‘छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै’ १

अवतारित षक्ति यद्यपि कविकी अन्तर्बुद्धिकी सूक्ष्म पहचान भी प्रकट कर रही है, पर हम इनमें सूक्ष्म निरीक्षणका ही संकेत करना चाहते हैं। दूरस्थ दृश्यको प्रायः जब लोग देखना चाहते हैं तो हाथ स्वभावतः भौँहोंपर चला जाता है।

यों तो हम प्रायः सभीको हँसते या मुसकराते देखा करते हैं, पर कभी-कभी ऐसी हँसी हँसनी पड़ती है जो अन्तर्हास या गूढ़ हास कहलाती है। कविने इसका अवसर खूब पहचाना है। देखिये—

‘स्त्रीपति सुरपति, बिबुध, बात सब सुनि सुनि।

हँसहिं कमल कर जोरि, मोरि मुख पुनि पुनि’ ॥’

धनुर्धर जब किसी बेधूपर बाण छोड़ना चाहता है तो पहले वह भौंह सिकोड़कर निशाना साधता है, तदुपरान्त विशिख-सञ्चालन करता है। ऐसी चेष्टाके निरीक्षण और अंकनका दृश्य लीजिये—

‘सुभग सरासन सायक जोर ।
वेलतर राम फिरत मृगया वन वसति सो मृदु मूरति मन मोरे ।
... ..

जटा मुकुट सिर मारस नयननि गौहैं तकति सुभौह सकोरे ॥’

किसी अनघ और निर्दोष व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई असम्भावित प्रवाद सुनकर तत्काल ही निर्णय प्रकट कर देना और ऐसा करते समय हाथोंसे कान दन्द कर दाँतोंसे जीभ दवाना साधारण अनुभाव है जो प्रायः लोग किया करते हैं । इस नाट्यमय प्रवृत्तिको भी देखिये—

‘कान मूँदि कर रद गहि जीहा । एक कहहि यह बात अलीहा ॥’

प्रायः देखा जाता है कि जब कोई धिपण्य व्यक्ति कहीं दौड़ता है तो उसका उदास मुख स्वभावतः नमित ही रहता है और वह अपने पदतक्की भूमि नखसे खरोचना रहता है । विमनस्ककी ऐसी ही आकृति और क्रियाका चित्रण देखिये—

‘वैठि नमित मुख सोचति सीता ।
.....

चारु चरन नख लेखति धरनी ॥’

दलदलमें फँसा हुआ व्यक्ति आगेकी ओर हुमककर कैसे जोर मारता है, इसे वही समझ सकता है जो स्वयं कभी दलदलमें फँसा हो अथवा जिसकी पैनी दृष्टिने उसमें फँसे हुए व्यक्तिको निकलनेका प्रयास करते हुए देखा हो । हमारे कविके सूक्ष्म निरीक्षणमें यह दृश्य अवश्य आ चुका था । तभी तो उसने इसके दृष्टान्त द्वारा शीलनिधि भरतके वृद्धयुक्त संकोच और प्रेमके परस्पर संघर्षको दृष्टिगोचर-सा कर दिया है—

‘मन अगहुँड तन पुलक सिथिल भयो, नलिन नयन भरे नीर ।

गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महुँ, कड़त प्रेम बल धीर ॥’

तिर्यग्दर्शक पशु-पक्षियोंमें भी सहज प्रवृत्ति होती है, उनकी भी कुछ निजी चेष्टाएँ हुआ करती हैं । अनेकदा हमारी दृष्टि इसपर पड़ती है कि पशु चौकने होनेपर कनौटी बदलते हुए विस्मय-सूचक दृष्टिसे देखते हैं । उनकी इस क्रियाका कविने सूक्ष्म निरीक्षण किया था, इसलिए घोड़ेका आरव पाकर चकित होनेवाले शूकरका यह चित्रण दिखाया है—

‘धुरधुरात हय आरव पाये । चकित बिलोकत कान उठाये ॥’

चन्द्र प्रसन्न होनेपर कैसा नाट्य करता है और उसकी मुलाकृतिमें कैसी भंगियाँ होती हैं, इस दृश्यका यदि तुलसीने सूक्ष्म निरीक्षण न किया होता तो वे ऐसा सजीव चित्रण न करते—

‘कूँदै कपि कौतुकी, नचत रेत रेत हैं ।

अंगद, मर्यद, नल, नील बल सील महा,

वालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं ॥’

भेंड़े स्वभावतः भीरु होती हैं । उनके झुण्डपर जब भेड़िया दौड़ता है तो सबकी सब जी छोड़कर

१. ‘गीतावली’ अरण्य० गीत २ । २. ‘मानस’, अयो० ४७. ७ । ३. वही, अयो० ५७. २, ५ । ४. ‘गीतावली’, अयो० गीत ६९ [३] । ५. ‘मानस’, बा० १५५. ८ । ६. ‘कवितावली’, सुन्दर० छ० २९ ।

भागती है। हमारे कविकी तीक्ष्ण दृष्टि कभी ऐसे दृश्यपर पड़ी थी तभी तो उसने इसका अच्छे ढंगसे उपयोग किया है—

‘भाग भालु बलीमुग्व जूथा । वृकु विलोकि जिमि मंप वरूथा ॥’

बन्दरका यह स्वभाव होता है कि केवौचकी लताको देखते ही वह उसे नोच-नोचकर फेंक देता है। गोस्वामीजीको यह मर्म भली-भाँति अवगत था। इसको वे वेदनाकी दशामें भी नहीं भूले हैं—

‘वाहु तरुमूल, बाहु सूल कपि कच्छु वेली,
उपजी, सकेलि, कपि, खेल ही उग्वारिण’ ।’

कच्छुआ जलसे पृथक् दूरकी यात्रामें दिये हुए अपने अण्डोकी चिन्तामें निरन्तर निरत रहता है, इसपर हमारे कविकी दृष्टि गयी थी। इसके द्वारा उगने कितनी सफाईसे स्पष्ट किया है कि राम भरतका कितना ध्यान रग्वते थे—

‘रामहिं वन्धु मोच दिन गती । अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती’ ॥’

जलके सम धरातलपर भी जाँक स्वभावतः अपनी वक्र गतिमें ही चलती है। कविका यह निरीक्षण इस पंक्तिमें प्रकट होता है—

‘चलइ जोंक जिमि वक्र गति जद्यपि सलिल समान’ ।

मल्लिकार्जुन तो जल-प्रवाहके सम्मुख भी सहजमें ही ऊपरको चढ़ती चली जाती हैं, पर बड़े-बड़े गजराज भी बहते दिखाई पड़ते हैं। इस दृश्यके सूक्ष्म निरीक्षणके बलपर यह कैसी पनेकी बात कही गयी है --

‘जो जेहि कला कुसल ताकहुँ सो सुलभ सदा सुखकारी ।
सफरी सनमुख चल प्रवाह, सुरसरी वहै गज भारी’ ॥’

बधिकके किसी भुलावेमें पड़ जानेपर उसके हाथमें आया हुआ सन्त्रस्त पक्षी किस प्रकार अचानक छूटकर फुरी हो जाता है, इस दृश्यका कभी निरीक्षण किये रहनेपर ही ऐसी सूझ हो सकती है—

‘तुलसी मुनि सिप चले चकित चित,
उड्यो मानो बिहग बधिक भये भोरे’ ।’

काक चालाक तो बहुत होता है, पर साथ ही शक्ति और डरपोक भी होता है। वह हर एकसे डरता रहता है। उसके ऐसे स्वभावको लक्ष्य करके ही ऐसा कथन किया गया है—

‘मत्य वचन बिस्वास न करही । बायस इव सब ही ते डरही’ ॥’

टिटहरी—पक्षीविशेष—जो प्रायः जलाशयोंके किनारे रहती है, सदा पैर ऊपर उठाकर सोती है, इस विचारसे कि जब आसमान मुझपर टूट पड़ेगा तो उसे अपने पैरोंपर रोक लँगी—ऐसी लोगोंकी कल्पना है। इस बातको लेकर ही कविने यह पंक्ति रची होगी—

‘उमा रावनहिं अस अभिमाना । जिमि टिटिभ खग सूत उताना’ ॥

पक्षी हर्ष प्रकट करनेके लिए पंख फुलाया करता है। उसके इस स्वभावको तुलसीने भी देखा था। देखिये, गरुड़को हर्षित होनेपर कैसी मुद्रामें दिखाया गया है—

१. ‘मानस’, लं० ६९. १। २. ‘बाहुक’, छन्द २४। ३. ‘मानस’, अयो० ६. ८। ४. ‘मानस’, अयो० ४२। ५. ‘बिनय०’, पद १६७। ६. ‘गीतावली’, अयो० गीत ११ [४]। ७. ‘मानस’, उ० १११. १४। ८. वही, उ० १११. १४।

‘सुनि भुसुडिके वचन सुहाये । हरखित खगपति पंख फुलाये ॥’

भ्रमर, शुक, पिक, सारस, हंस, मोर, चकोर, चकवा, चातक, खज्जन आदिके स्वभावका चित्रण तो काव्य-परम्परासे प्राप्त है, अतः इनके उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं ।

कच्चे पोखरे, ताल, तलैया अथवा नदीके किनारोंपर जमी वासका तुलसीने कैसा सूक्ष्म निरीक्षण किया था, यह भी अवलोकनीय है

‘तुलसी तृन जल कूलकां निरवल निपट निकाज ।

कै राखै कै संग चलै, बाँह गहेकी लाज ॥’

दाँहेके द्वितीय चरणमें तृणको ‘निरवल निपट निकाज’ बताकर कविने अपने सूक्ष्म निरीक्षणका मूल्य और भी बढ़ा दिया है । वस्तुतः जलसे सदा आर्द्र रहनेके कारण वह निर्वल रहता ही है । उसके एक ओर पानी होनेसे जानवर उसे चरने भी नहीं जाते, अतः वह निकाज-सा ही प्रतीत होता है । तृणको महत्त्व देनेवाला जो निरीक्षण तृतीय चरणमें है वह भी बड़ा ही स्वाभाविक है । कितने ही द्रव्योंको तिनकोंका सहारा मिलता है । पर, अभंगाओंके साथ बेचारा तिनका स्वयं उखड़कर वह जाता है ।

वनस्पतिवर्गान्तर्गत नन्दनवनके कल्पतरु अथवा इस लोकके विविध कमल, कनक, कदली, कदम्ब, केतकी, किंसुक, कुन्द, सिरिस, दाड़िम, श्रीफल, पाटल, पनस, रसाल, तमाल, मलय आदि सभी पारस्परिक उपमानोंके प्रयोगोंको देख इनसे हम अपने कविका सूक्ष्म निरीक्षण न भी मानें तो कोई अनुचित नहीं, पर, अर्क, जवास, निम्ब, गूलर, इमलीका चीथों, सूखता हुआ धान, कुश, कण्टक, लवकदण्ड—कुकुरमुत्ता, यमोई प्रभृति अति सामान्य वस्तुओंकी विशेषताओंको लक्ष्य करके उनसे जो काम लिया गया है उससे कविका सूक्ष्म निरीक्षण ही प्रकट होता है ।

कुमि-कीट आदिका सूक्ष्म निरीक्षण भी तुलसीकी दृष्टिसे नहीं बचा था । यही कारण है कि उनके ज्ञानके बलपर भी उन्होंने अनेकानेक सुन्दर बातें कही हैं । लकड़ीको भीतर-ही-भीतर चालकर खोंग्यला बना देनेवाले धुनको लेकर यह कैसी उक्ति की गयी है—

‘कीट मनोरथ दारु सरीरा । केहि न लाग धुनको अस धीरा ॥’

गोस्वामीजी रेशमके कीड़ेसे भी अवगत थे । उन्होंने उसके पालनेमें जो तथ्य ग्रहण किया है वह भी देखिये—

‘पाट कीट ते होइ, ताते पाटवर रुचिर ।

कुमि पालै सब कोइ, परम अपावन प्रान सम ॥’

चींटीके स्वभावका ज्ञान होनेके कारण उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण बात कही है वह भी उद्घरणिय है—

‘ज्यों सर्करा मिलै सिकता महुँ बल तें न कोउ बिलगावै ॥

अति सूछम रसज्ञ पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै ॥’

अब अचेतन-वर्गके कुछ उदाहरणोंको लीजिये जिनका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण भी स्तुत्य है । छोटे-छोटे गड्ढे अथवा जलाशयोंका जल सूख जानेपर नीचेका कीचड़ गर्मीके मारे थोड़े ही दिनोंमें अपनी तरी खोकर चिरचिराकर फट जाया करता है । ऐसे दृश्यके निरीक्षणसे तुलसीके हृदयमें कैसा मार्मिक विचार स्फुरित हुआ उसे देखिये—

‘हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर ॥’

१. ‘मानस’, उ० ९२.१ । २. ‘दोहावली’, दो० ५४४ । ३. ‘मानस’, उ० ७०.५ । ४. ‘दोहा-वली’, दो० ३७० । ५. ‘विनय०’, पद १६७ । ६. ‘मानस’, अयो० १४५ ।

मार्गका जल पथिकोंके पैरोंकी छपाछपसे बराबर अस्त-व्यस्त होता रहता है, कभी थिराने नहीं पाता, फलतः बँदला ही बना रहता है। ऐसे मलिन जलका दृश्य भी हमारे कविके सूक्ष्म निरीक्षणसे नहीं छूटा, उसने उसका भी यह सुन्दर उपयोग किया है—

‘सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने ।

सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने’ ॥’

अब पतगर्की कला भी देखिये। वायुके अनुकूल रहने अथवा वायुके बिलकुल न रहनेपर चंगकी क्या दशा होती है, इन सबका भी तुलसीने सूक्ष्म निरीक्षण किया था, जैसा कि निम्नांकित अवतरणोंमें अवगत होता है—

‘रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जनु खैंच खेलाऊँ ॥’

... ..

‘नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास ।

ढीलि दिये गिरि परत महि, खैंचत चढ़त अकास’ ॥’

... ..

‘भरत गति लखि मात सब रहि ज्यों गुड़ी बिनु वाय’ ॥’

नौका जब डूबने लगती है तो उसके चारों तरफका जल स्वयं बड़ी तेजीसे खिंचकर उसमें भर जाता है और वह नदीके गम्भीर उदरमें विलीन हो जाती है। ऐसे दृश्यका सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे ही कविने यह बात कही है—

‘सत्रु सयाने सलिल ज्यों, राख सीस रिपु नाड ।

यूढ़त लखि पग डगत लखि, चपरि चहूँ दिसि धाउ’ ॥’

परछाईका निरीक्षण किये रहनेके कारण कविके हृदयमें वैभवके सम्बन्धमें यह कैसा शिक्षा-प्रद भाव उठा है—

‘दिये पीठ पाछे लगै, सनमुख होत पराय ।

तुलसी मंपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवार्य’ ॥’

दृष्टान्तनु जैसे निकम्मे पदार्थके निरीक्षणको भी तुलसीने व्यर्थ नहीं जाने दिया। उन्होंने उसे भी एक उपयुक्त उपमानके रूपमें जड़ दिया है। देखिये—

‘संकट सोच सबै तुलसी लिये नाम फटे मकरी के-से जाले’ ॥’

आगपर रखे हुए दूधमें जब आँच अधिक लग जाती है तो उसमें उफान आता है, पर ज्यों ही पानीका छींटा दिया जाता है त्यों ही वह शान्त हो जाता है। इस दृश्यके सहारे गोस्वामीजीने सीताके हृदय की बड़ी ही मार्मिक दशाका चित्र उतारा है—

‘दुखी सिय पिय-विरह तुलसी, सुखी सुत-सुख पाइ ।

आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाई’ ॥’

रजनीमें जब आकाशसे तारा टूटकर गिरने लगता है तो प्रकाशकी एक रेखा-सी खिंचती है जो

१. ‘बिनय’, पद २६५। २. ‘मानस’, अयो० २३८.६। ३. ‘दोहावली’, दो० ४०१। ४. ‘गीतावली’, लं० गीत १४। ५. ‘दोहावली’, दो० ५२०। ६. ‘दोहावली’, दो० २५७। ७. ‘बाहुक’, छ० १७। ८. ‘गीतावली’, उ० गीत० ३६।

पृथ्वीपर आते-आते क्रमशः क्षीण पड़ती हुई विलीन हो जाती है। तुलसीने इस दृश्यके द्वारा जो हृदय-स्पर्शा कल्पना की है, अन्तमें उसे भी देखिये—

‘राम सोक मनेह संकुल तनु विकल मनु लीन ।
टूटो नारो गगन मग ज्यों होत छिन-छिन छीन’ ॥’

आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनूठी पहचान

कवि जैसे दृष्टिगोचर प्रकृतिकी असंख्य लीलाओं और व्यापारोंकी अनन्त राशिका अपने सूक्ष्म निरीक्षणके बलपर चित्रण करके अमित आनन्द प्रदान करता है, वैसे ही वह अपनी अप्रतिम काव्यानुभूतिके सहारे हृदय-सिन्धुमें तरंगित वृत्तियोंकी अनन्त उभियोंकी छटा दिखवाकर भी अत्यधिक रमास्वादन कराता है। जिस कविको भिन्न-भिन्न स्वभावों और रुचियोंका जितना ही प्रशस्त ज्ञान होता है वह अन्तर्जगत्का उतना ही बड़ा मर्मज्ञ होता है। कैसे अवसरपर कैसे प्राणीके मनमें कैसी बात उपजती है, इसे वह स्वच्छ दर्पणकी भाँति झलका देता है, अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी अनुभूति कराता है और शब्दोंके द्वारा उनका प्रकाशन करता है। गोस्वामीजीका समस्त काव्य उनकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अद्वितीय और व्यापक अनुभूतिसे वैसे ही अनुप्राणित है जैसे अंग्रेजीके महाकवि शेक्सपियरकी कृतिगर्भ उनके गम्भीर और सूक्ष्माति-सूक्ष्म अन्तर्जगतकी अनुभूतिसे।

आगे हम कुछ ऐसे प्रसंगोंका निर्देश करना चाहते हैं जो हमारे कविकी मानव-प्रकृतिकी सूक्ष्माति-सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिको प्रकाशित करनेमें सहायक हों। गोस्वामीजीने मन्थरा और कैकेयीका जो संवाद दिखाया है वह उनके मानव-मनोवृत्तिके ज्ञानकी एक किरण है। उसमें बड़ी मार्मिकतासे परिलक्षित किया गया है कि प्रवंचना और भूतताके बलपर कोई कुटिल व्यक्ति अपनेपर विश्वास रखनेवाले सगल प्रकृतिके प्राणीके उदात्त विचारोंको दवानेका आग्रह कैसे करता है और कैसे मनुष्यकी प्रकृतिगत निर्वलताओंके आवर्तमें फँसा, थोड़ी देरतक किर्कतव्यविमूढ़की स्थितिमें पहुँचाकर उसपर अपनी कुटिल नीतिका ऐसा गाढ़ा रंग चढ़ा देता है कि उसका मिटना असम्भव हो जाता है। कुटिल दासीने देखा कि नगरमें उल्लाम छाया हुआ है। रामकी युवराज-पद-प्राप्तिके लिए धूम मची है। उसका हृदय क्षुब्ध हो उठा। वह बिलखती हुई सँह बनाकर कैकेयीके पास गयी। रानीने उसकी अन्यमनस्कताका कारण पृछा। पर, चेर्गने पहले सीधे उत्तर न देकर ‘नारि चरित करि दारइ आँगू’का नाटक किया और अन्तमें व्यंग्य किया।

‘रामहिं छाड़ि कुसल केहि आजू। जिन्हहिं जनेस देइ जुवराजू ॥’

मन्थराकी ऐसी उक्तिमें उसके हृदयका कालुष्य देख रानीने उसे ‘घरफोरी’ कहते हुए ‘जीभ कड़ावउँ तोरी’ आदिकी धमकी दी। दासी विश्वासपात्र थी, उसे डाँटने-फटकारनेके बाद भी उसके आशय जाननेकी उत्कण्ठा रानीमें बनी ही रही। प्रायः मनुष्यका ऐसा स्वभाव है कि जब वह अपने किसी विश्वासपात्र पुराने सेवकपर किसी कारणसे विगड़ता है और सेवक बिना कुछ उत्तर दिये ही सिर नीचा करके बहुत दुःखी हो जाता है तो बादमें स्वामी सेवकका मन रखनेके लिए उसे प्रेमपूर्वक चुमकार कर उसकी गलती को समझाता भी है। रानीने क्रुद्ध होकर मन्थराको खरी-खोटी सुना दी। वह भयभीत होकर मन्थरा हो गयी। फिर तो उसका जी न दुखाने और उसे समझानेके लिए, रानीको कहना पड़ा—

‘प्रिय बादिनि सिख दीन्हेउँ तोही। सपनेहु तोपर कोप न मोही ॥’

इसके अनन्तर उसे प्रेमपूर्वक 'जैठ स्वामि सेवक लखु भाई । यह दिनकर कुल रीति सदाई ॥' बताते हुए राम और सीताके प्रति अपना सहज अनुराग भी प्रकट किया—

'जो बिधि देहि जनम करि छोड़ । मिलहिं राम सिय पूत पतोड़ ॥
प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे । तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे ॥'

ऐसा समझा बुकनेके बाद भी रानीके हृदयमें दासीका गूढ़ अभिप्राय जाननेकी लालसा तो बनी ही रही । दासीको चुप देख उसके हृदयमें उद्वेग-सा हो उठा और उसे कहना पड़ा—

'भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराड ।
हरष समय विषमय करसि कारन मोहि सुनाड ॥'

कथनमें 'भरत सपथ' पद उभय पक्षके लिए कितना व्यञ्जक और कितना उपोद्बलक है, इसको व्यक्त करनेकी आवश्यकता नहीं । रानीका दासीके विषादका कारण कुछ और ही समझ पड़ा, अतः वह और भी उतावली हो गयी । अवसर तककर दासीने रानीके सरल हृदयमें धीरे-धीरे अपनी विलक्षण वाक्-चातुरीसे नारीके हृदयमें शीघ्र उत्पन्न होनेवाली शंकाका बीज बो दिया । फिर क्या था । संशयसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा विश्वासघाती नहीं । जब संशयके समय महान् विवेकशीलोंका विवेक उनका साथ छोड़ देता है तो बेचारी रानी क्या करती । मन्थराके तर्कों और दृष्टान्तोंके पुष्टीकरणके आधारपर उसका संशय उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और अन्तमें उसे यही विश्वास हो गया कि सपत्नी कौसल्याने उसकी जड़ खोदने के लिए ही सब कुचक्र रचा है । इस विचारके दृढ़ हो जानेपर उसे दासीके द्वारा सुझाई युक्ति ही अति हितकर समझ पड़ी । उसके प्रति अपनी बड़ी समता और कृतज्ञता प्रकट की—

'कुबरिहि रानि प्राण प्रिय जानी । बार बार बड़ी बुद्धि बखानी ॥
तुम सम हित न मोर संसारा । बहे जात कहँ भइसि अधारा ॥'

संवादके आरम्भमें रानीके क्या विचार थे और अन्तमें क्या हो गये । इतने बड़े परिवर्तनको स्वीकारित्ती मानसिक दुर्बलताओंके सहारे जैसी स्वाभाविक रीतिसे उपस्थित किया गया, उसे देख कौन नहीं स्वीकार करेगा कि तुलसीका आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूति थी और उसे वे सफलतापूर्वक मूर्त रूप दे सकते थे ।

उनके मानव-प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणका एक बहुत छोटा-सा उदाहरण यह भी लीजिये—

'जब सिय कानन देखि डेराई । कहेउ मोर सिख अवसर पाई ॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू । पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू ॥
पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी । रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥'

अवतरणकी प्रथम पंक्तिसे प्रकट है कि कवि मनुष्यकी इस स्वभावगत दुर्बलतासे भी भली-भाँति परिचित है कि प्रत्यक्ष भयके उपस्थित होनेपर वह अपना कोई हठ छोड़कर किसीकी ऐसी बात मान भी लेता है जिसे सामान्य स्थितिमें वह कदापि न मानता ।

बड़े और प्रतिष्ठित धनी-मानी लोगोंको हम प्रायः देखते हैं कि वे चिथड़ोंसे लाज ढाँकनेवाले विस्त-हीनोंसे कोई सम्बन्ध रखनेमें अपना अपमान समझते हैं, यहाँतक कि उनसे बात-चीत करनेमें भी छोटाईका अनुभव करते हैं । पर, यदि वे अपनी ऐसी मनोवृत्तिका त्याग करें तो उसका बड़ा ही सुन्दर परिणाम हो, उनके कृपा-कटाक्षसे अनाथ तो सनाथ हो ही जाय, उन्हें भी 'अनाथपति' कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त हो । इसी स्वाभाविक बातको गोस्वामीजी रामके प्रति संकेत करते हुए कहते हैं—

‘हौं मनाथ हँ हौं नही, तुम्हूँ अनाथ पति, जौ लघुतहि न भितैहौं ।’

‘लघुतहि न भितैहौं’ पद उक्तिवैचित्र्यका द्योतक तो है ही, पर उससे भी बढ़कर कविकी अन्तर्दृष्टिका निदर्शन है ।

मनुष्यकी यह सामान्य प्रकृति है कि जब वह किसी कदाचारकी ओर पाँव रखने लगता है तो उसकी धुकधुकी बढ़ जाती है । वह सन्त्रस्त और शंकित हो उठता है कि कोई देख न ले । उसकी आँखें झट इधर-उधर दौड़कर जाँच भी कर लेना चाहती हैं कि कहीं कोई आता तो नहीं है । ऐसी ही मनोवृत्तिकी अनुभूतिके कारण गोस्वामीजीने महापराक्रमी रावणको भी इस स्वाभाविक स्थितिमें दिखाया । जिसे देख्य विश्व काँपता था वही कुकर्म करनेके लिए उतारू होनेपर स्वयं काँप उठा—

‘जाके डर मुर असुर डेराहीं । निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥

सो दससीस स्वान की नाई । इत उन चितैं चला भड़िहाई ॥’

नारी हो या नर, उसकी यह सहज प्रकृति है कि वह अपने नयनाभिराम, मनस्तोपदायक व्यक्ति के मिलनेपर उसे अधिक देरतक अपनी आँखोंके सामने रखना और उसके सान्निध्यका मुख पाना चाहता है । तुलसीने इस मनोवृत्तिकी सैकड़ों प्रसंगोंमें व्यापकसे व्यापक और मार्मिकसे मार्मिक अभिव्यक्ति की है । विश्व-विलोचन-चोर राम जिधर ही दिखाई पड़े हैं उधर ही तो उन्होंने बालक, स्त्री, पुरुष सभीकी उक्त मनोवृत्तिको थहाकर रख दिया है ।

विविध पारिवारिकोंके आदर्शोद्घाटनके हेतु गोस्वामीजीने जो मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं उन सबमें उनकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अद्वितीय अनुभूति और उनका सजीव प्रकाशन वर्तमान है ।

पात्रोंके चरित्रांकन और शीलनिरूपणमें त्वाभाविकताकी रक्षा करते हुए भी उसे कवित्वकी पीयूष-धारासे अभिविक्र करते रहना मामूली बात नहीं । इसमें वही महाकवि सफल होता है जो मनुष्यके अन्तर्जगत्-के अति सामान्यसे लेकर गूढ़ातिगूढ़ भावों और विचारोंतककी अनुभूति किये रहता है । तुलसीके द्वारा किये गये चरित्रांकन किस कोटिके हैं, इसका निर्देश बहुतोंने कर दिया है, अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है । हाँ, उसके आधारपर हमें संकेत करना यह है कि यदि उन्होंने आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी सूक्ष्म अनुभूति न की होती तो वे पात्रोंके चरित्रांकनमें उच्च कोटिकी सफलता कदापि न पाते ।

कुछ सामान्य मनोवृत्तियोंका विश्लेषण करते हुए दो-चार प्रसंगोंका निर्देश करके उसके आधारपर तुलसीकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूति दिखानेका प्रयास यहीं समाप्त न करके आगे हम उसे एक दूसरे ढंगसे भी देखना चाहते हैं ।

पार्थिव जगत्की भाँति हमारे मानसिक जगत्का क्षेत्र भी अति विस्तृत है । हमारी आभ्यन्तरिक वृत्तियाँ अनेक तो हैं ही, उनका पारस्परिक मिश्रण होनेके कारण वे एक प्रकारसे असंख्य हो जाती हैं । परिस्थितिविशेष और अवसरविशेषकी उपस्थितिमें ये आन्तरिक वृत्तियाँ विशेष प्रकारका रूप धारण किया करती हैं । इन आन्तरिक वृत्तियोंका वेग इतना प्रबल हुआ करता है कि स्वतः अपनी ही किसी वृत्तिका किस परिस्थिति और किस अवसरपर कैसा स्वरूप हो जायगा, इसका पता अच्छे-अच्छे और समाजमें अनुकरणीय माने जानेवाले महाशयोंतकको नहीं चलता । फिर, किसी दूसरेके हृदयमें उठनेवाली ऐसी ही वृत्तियोंका ठीक-ठीक अनुभव कर लेना और भी दुष्कर है । यदि अपनी प्रकृति और स्थितिसे सादृश्य रखनेवाला कोई व्यक्ति हो तो कदाचित् उसकी वृत्तियोंका थोड़ा-बहुत सटीक अनुभव किया भी जा सकता है । जिन कठिनाइयोंका सामना किसीको नहीं करना पड़ा है, यदि उन कठिनाइयोंके बीचमें उठनेवाली वृत्तियोंका निरूपण करना हो तो भी विशेष उलझन खड़ी हो जाती है, चाहे वे कठिनाइयाँ किसी समान-

शीलव्यसनकी ही क्यों न हों। वंदे-वड़े प्रतिभाशालियोंमें ही विशेषता दिखाई देती है कि वे सब प्रकारके व्यक्तियों, सब प्रकारके अवसरों तथा सब प्रकारकी परिस्थितियोंका यथावत् अनुभव कर लेते हैं। महात्मा तुलसीदासजीमें आन्तरिक वृत्तियोंके अनुभवकी ऐसी विशेषता दिखाई देती है और विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तियों और अवसरोंका ऐसा तद्रूप निरूपण उन्होंने किया है कि उन-उन कठिनाइयोंका सामना करने-वाला प्रत्येक व्यक्ति इस बातका अनुभव करता है कि कविकी बात बावन तोला पाव रत्ती सही है। सब बातोंपर विचार करनेसे निष्कर्षके रूपमें यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः किसी कविके लिए आभ्यन्तरिक निरूपण इन स्थितियोंमें विशेष कठिन होगा—

१. अपने स्वभावसे विपरीत प्रकृतिके व्यक्तिकी आभ्यन्तरिक वृत्तिका अनुभव।
२. अपनी जाति (सेक्स)से भिन्न व्यक्तिकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनुभूति।
३. अपनी स्थितिसे भिन्न स्थितिके व्यक्तिके मानसिक आन्दोलनका अनुभव।
४. उन परिस्थितियोंमें होनेवाली अन्तर्वृत्तियोंका अनुभव जिनके साक्षात्कारका अवसर उसे प्राप्त नहीं हुआ हो।

जहांतक पता चला है, गोस्वामीजी दुष्ट प्रकृतिके व्यक्ति नहीं थे, फिर भी उन्होंने ऐसी प्रकृतिवालोंकी मानसिक वृत्तियोंका तद्वत् निरूपण किया है^१। ध्यान देनेकी बात यह है कि ऐसे व्यक्तियोंकी मानसिक स्थितिका भी, जो प्रसंग-प्रसंगपर विविध रूपोंमें परिलक्षित होती है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण वे कर सके हैं।

पुरुष होते हुए तिरिया चरित्तरका जान लेना बहुत कठिन है। देवतक उसे नहीं जानता। पर 'तिय माया तव कुवरी टानी'का यथावत् वर्णन इसका अपवाद है। मानसमें नारीवर्गके अनेक प्रकारके निदर्शन हैं। यह अनेकता उनकी अन्तर्वृत्तियोंके सूक्ष्म भेदके कारण हैं, जो छायामात्र अतएव दुरूह हैं। पर, तुलसीके मानस-दर्पणमें उसका भी स्वच्छ प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। प्रस्तुत सम्बन्धमें ऐसे कई प्रसंग आ चुके हैं जिनसे कविकी नारी-प्रकृतिकी अद्वितीय अनुभूति अभिव्यक्त होती है, अतः यहाँ और उदाहरण देनेकी अपेक्षा नहीं।

मंगन-कुलमें उत्पन्न होनेवाला राजसी मनोवृत्तिका अनुभव क्या करेगा, राजसी टाट-बाटकी भी कल्पना नहीं कर सकता। इसीलिए कुछ लोगोंने जानकीके प्रति कौसल्याके 'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ' इस कथनमें तुलसीकी अनभिज्ञता देखी। यद्यपि इस बातका विस्तारके साथ विवेचन करनेका प्रसंग नहीं है, पर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि मानव-जीवनके ऊँचे-नीचे अनेक स्तरोंमें भी एक सामान्य भाव-धारा सदैव संचरमान रहा करती है जो उच्चावच परिस्थितियोंमें संयमीके हृदयसे भी फूट पड़ती है। कौसल्या यहाँ अपने अग्रमहिषीत्वका त्याग करके सामान्य नारी-हृदय लेकर उपस्थित हुई है। अतः यह तुलसीका दोष नहीं, गुण है। अयोध्याकाण्डके मध्य भागमें राजन्यवर्गकी मनोवृत्तियोंका जो यथातथ्य चित्रण है, उसे देखकर कौन कह सकता है कि कविमें उस वर्गकी मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूति नहीं थी। यह वह प्रसंग है जिसे 'मानस' मर्मज्ञ संतोंके वृक्षनेकी बात समझते हैं।

यों तो यह निर्णय करना विशेष कठिन है कि गोस्वामीजीकी आँखों देखी परिस्थितियाँ कौन-कौन-सी हैं, पर जो देखी हुई नहीं थीं उनका अनुमान किया जा सकता है। लड़ाईके प्रसंगोंको देखनेका अवसर उन्हें कदाचित् ही मिला होगा। यह कहा जा सकता है कि उनके ऐसे वर्णन पारम्परिक हैं, पर

१. आगे उनके लोकव्यवहार-नैपुण्यके सम्बन्धमें विचार करनेके प्रसंगमें भली-भाँति दिखाया जायगा कि उन्हें खल-प्रकृतिका कितना गहरा अनुभव था।

यदि इन वर्णनोंमें परम्पराके नियमोंके अनुमोदनके साथ ही यत्र-तत्र नूतन विधानका समावेश भी दृष्टिगत हो तो हमें अवश्य स्वीकार करना होगा कि उन्होंने परिस्थितियोंका कल्पनासे साक्षात्कार किया है।

यह हम स्वीकार करते हैं कि तुलसीमें 'लोकशास्त्रका व्याघ्रवेक्षणान्' निपुणता भी प्रभूत परिमाणमें थी, पर बातोंकी जानकारी दूसरी वस्तु है और परिस्थितिगत मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूति दूसरी। ये बहुश्रुत व्यक्ति विविध प्रसंगोंके अनुरूप बातें तो बहुत-सी बना सकता है, पर अपनी रचनाके पाठकोंके हृदयमें तद्वत् अनुभूति जगानेमें क्वचित् ही समर्थ हो सकेगा। कहना यह है कि कविका मुख्य कर्तव्य अपनी अनुभूतियोंको इस प्रकार व्यक्त करना है कि वे प्रसंगानुकूल और सच्ची उतर सकें। जहाँतक मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूतिका विचार है, गोस्वामीजीने बहुश्रुततासे काम न लेकर अपनी जन-जन-व्यापिनी कवि-प्रतिभाका ही विशेष महारा लिया है।

लोकव्यवहार-नैपुण्य और सद्ग्राहिता

कलाकारकी कृतियोंमें सन्निविष्ट प्रपञ्चासक्तिका विश्लेषण करना भा समीक्षकका प्रधान कर्म है, क्योंकि लोकव्यवहार नैपुण्य भी काव्यका प्रमुख साधन है। प्रगाढ़ अनुभवशील कलाकारकी मानव-प्रकृति की अद्वितीय परल और ठोस दुनियादारी-अभिव्यञ्जक कृतियाँ किसे नहीं मुग्ध करती? विशेषतः प्रपञ्चासक्तोंको तो ऐसी कृतियाँ बड़े उपकारकके रूपमें दिखाई पड़ती हैं। तटस्थ कलाकारकी रचनाओंमें लोक-व्यवहारके यथातथ्य सत् और असत् दोनों पक्षोंका समशील चित्रण देखकर लोग स्वेच्छानुकूल किसी एक पक्षके रंगमें स्वयं धीरे-धीरे रंगते चले जाते हैं। सद्सत्को सापेक्ष दृष्टिसे चित्रित करनेवाले कलाकारकी युक्ति कुछ और प्रकारकी होती है। यद्यपि उभय पक्षोंका चित्रण तो वह भी करता है, पर एककी अभित पराजय और दूसरेकी पूर्ण विजयका प्रबल समर्थन उसका मुख्य उद्देश्य होता है। गोस्वामीजी दूसरे प्रकारके कलाकार कहलायेंगे। पाठक उनकी कृतियोंका आस्तिक मनसे रसास्वादन करनेके उपरान्त असत्यक्षोन्मुख होनेकी उत्तेजना कदापि नहीं प्राप्त करेगा। 'मानस'का आद्योपान्त पारायण कर चुकनेके अनन्तर स्पष्टतः प्रकट होता है कि गोस्वामीजीने संसारके असत्यक्षका निरूपण अवश्य किया है, पर उसकी अपरिमित अनुभूति दिखाई है, इसके विपरीत उन्होंने सत्यक्षकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करते हुए उसे सर्वोपरि विजयी टहराया है। इसे हम उनकी सद्ग्राहिता कह सकते हैं।

संसार भले और बुरे दोनोंका सम्मिश्रण है। फलतः लौकिकज वननेके लिए भले-बुरे दोनोंका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है। बिना दोनों पक्षोंकी जानकारीके किसीका लोक-व्यवहारज्ञान अपरिपक्व एवं अपूर्ण समझना चाहिये। विश्वका गुण-दोषमय स्वरूप ठीक-ठीक समझ लेना ही लोकव्यवहार-निपुणता है और इन दोनोंमेंसे केवल गुण ग्रहण कर लेना तथा दोषका परित्याग करना ही सद्ग्राहिता है—

‘जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार।

संत हंस गुन गहहि पय परिहरि बारि बिकार’ ॥’

सन्त हंस होनेके कारण तुलसीके लोक-व्यवहारमें नैपुण्य और सद्ग्राहिताका अपूर्व सामञ्जस्य है। मनुष्य भलाई और बुराई दोनोंको जानते हुए भी करता है अपने मनकी ही। संसारके व्यवहारका यह बड़ा ही व्यापक स्वरूप है। इस तथ्यका निर्देश गोस्वामीजीने किया है। देखिये—

‘गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई’ ॥’

भाग भले ही अपने मनोनुकूल ही क्यों न करें, पर कर्मका फल तो स्वभावानुकूल ही होता है—

‘भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाई नीचु ।

मुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु’ ॥’

भलाई और बुराईका स्वरूप कैसा होता है । वस्तुतः ये ईंट-पत्थर जैसी स्थूल वस्तुएं नहीं हैं कि हम इन्हें सट पहचानकर व्यवहारविद् हो जायें । भलाई-बुराई, गुण दोष आदिका अभिज्ञान इनके आश्रयोंके कृत्योंसे होता है, इनके किरी स्थूल स्वप्नपते नहीं । बुराई या दोषके आगार हैं दुष्ट या खल जन और भलाईके आकर हैं माधु जन या मजन । मच्चा लोक-व्यवहार-कुशल वही होगा जिसे खल और सज्जन दोनों वर्गोंके मनुष्योंका पूर्ण परिज्ञान हो । गोस्वामीजी इन दोनों वर्गोंके प्राणियोंकी रग-रगसे अभिज्ञ थे । देखिये, खलोंकी विपत्ती प्रकृतिकी कैसी सूक्ष्म पहचान बनायी गयी है—

‘खलन्ह हृदय अति ताप विसेखी । जरहिं सदा पर संपति देखी ॥

जहुँ कहूँ निंदा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहु परी निधि पाई’ ॥

गोस्वामीजीने दुष्टोंकी काम-क्रोध-मद-लोभ-परायणता, निर्दयता, कुटिलता तथा उनका अनृत, अकारण द्रोह और उनकी उपकारीके प्रति अपकार करनेकी दुर्मनोवृत्ति आदिको खूब समझा था, साथ ही वे उनकी उगनेवाली मधुरी वानीके रहस्यसे भी अनभिज्ञ नहीं थे । खलोंकी प्रकृतिकी मर्मवेधिनी निम्नांकित दो-तीन पंक्तियों और देखिये --

‘काहू कै जो सुनहि बड़ाई । स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई ॥

जब काहू कै देखहि विपती । सुखी भये मानहु जग नृपती’ ॥’

‘खल विनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुन उरगारी’ ॥’

‘मानस’के उपक्रममें ‘विनु काज दाहिने गायें’ रहनेवाले खलोंकी वन्दनाके बहाने उनकी गहरी प्रकृतिका जो विस्तृत प्रतिविम्ब झोतित किया गया है वह भी बड़े मार्केका है, पर प्रसंग इतना बड़ा है कि उसे उद्धृत करनेका अवकाश नहीं ।

सत्पक्षके आश्रय सज्जन आदिकी प्रकृतिकी भी गोस्वामीजीको पूर्ण जानकारी थी । इस कथनकी पुष्टि उनकी रचनाओंमें सन्निविष्ट साधु-सन्तोंकी प्रकृतिके विशद चित्रणसे हो जाती है ।

खलों और सज्जनोंकी अद्वितीय परस्परके आधारपर बाबाजीकी लोक-व्यवहार-निपुणताका संकेत तो मिलता ही है, साथ ही खलोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये—इस नीतिका निर्देश करके उन्होंने अपनी लोक-व्यवहार-कुशलताका और भी उत्तम परिचय दिया है । व्यक्तिगत रूपसे वे बड़े भारी उपकारी महात्मा थे, स्वप्नमें भी उन्होंने परोपकार न भुलाया होगा, पर लोक-व्यवहारके अनुसार उन्होंने ऐसा भी कहना उचित समझा—

‘खल उपकार बिकार फल, तुलसी जान जहान ।

मेढुक मर्कट बनिक वक, कथा सत्य उपखान’ ॥’

नीचका संसर्ग किसी-न-किसी प्रकार कष्टकारक ही होता है, अतएव उत्तम यही है कि उससे दूर ही रहा जाय । इसी तथ्यको गोस्वामीजीने मार्मिक ढंगसे यों चिताया है—

१. ‘मानस’, बाल० ५०; ‘दोहावली’ दो० ३३८ । २. ‘मानस’, उ० ३८.३, ४ । ३. वही, उ० ३८.५-८ । ४. ‘मानस’, उ० ३९. २, ३ । ५. वही, उ० १२०. १८ । ६. दे० वही, बाल० ३. १-११, ४. । ७. ‘दोहावली’, दो० ३९८ ।

‘नीच गुडी ज्यों जानिवो, सुनि लखि तुलसीदास ।
डील दिए गिरि परत महि, खैंचन चढ़त अकास’ ॥’

स्वाभाविक मीठी बोली मनुष्यको सर्वप्रिय बनानेमें सहायक होती है । विनम्रता सज्जनोंकी प्रकृतिगत विभूति है । पर व्यवहार-क्षेत्र बताता है कि सभी जगह मिष्टभाषी ही रहनेसे कार्य नहीं चलता । शठों और नीचांसे जिनका पाला पडा होगा उन्हें गोस्वामीजीकी ये बातें अवश्य याद आयी होंगी—

‘डाटेहिं पै नव नीच’ ।’

...

...

...

‘कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोरू’ ।’

यह भी अनुभव हो गया होगा कि शठसे विनय करना ऊपरमें बीज बोना है ।

कितने ही प्राणी भ्रान्तिकारक चमकीला वाक्स्वरूपको देखकर बराबर धोखा खाते रहते हैं, पर जों लोक-व्यवहारमें पारंगत होते हैं वे प्रवृत्तिकी बाहरी तड़क-भड़क या उसकी कृत्रिम मीठी वाणी आदिके चक्करमें नहीं पड़ते । यही बात बड़े अच्छे ढंगसे यों दर्शायी गयी है—

‘तुलसी देखि सुबेखु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर ।

सुंदर केकिहिं पेखु वचन सुधासम असन अहि’ ॥’

अधिकांशमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है कि वे स्वयं मधुर वाणी सुनना पसन्द करते हैं और वैसी ही औरोंको प्रसन्न करनेके लिए कहते भी हैं, इसके विपरीत ऐसे भी प्राणी होते हैं जो बाहरसे बहुत रुक्ष होनेके कारण कटु वाणी तो कहते हैं, पर वह होती है परम हितैषी । ऐसी वाणीके कहने और सुननेवाले दोनोंकी संख्या बहुत थोड़ी है । देखिये—

‘प्रिय वानी जे सुनहिं जे कहहीं । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ॥

वचन परमहित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे’ ॥’

मनुष्यमात्रकी कार्यशक्ति एक-सी नहीं होती । अतः इसका मर्म जान लेना भी सामान्य लोक-व्यवहार-पटुताका कार्य नहीं है । मनुष्यकी उद्योगिताके सम्बन्धमें गोस्वामीजीने जो विचार प्रकट किये हैं वे भी मननीय होनेके कारण उद्धरणीय हैं—

‘संसार महँ पूरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा ।

एक सुमन प्रद एक सुमनफल एक फलइ केवल लागहीं ।

एक कहहिं, कहहिं करहिं अपर, एक करहिं कहत न बागहीं’ ।’

भार्या अपने भर्ताका विपुल वैभव और अमित प्यार पानेपर हर्षोत्फुल्लजीवन बिताती है, यही नहीं, पतिके गिरे दिनोंमें भी उसका प्रेम और साहचर्य प्राप्त रहनेपर पत्नी सन्तोषपूर्वक कालयापन कर सकती है जैसा कि अनेकानेक महिलाएँ करती हैं, इसके विपरीत जहाँ पति स्वभावतः एकाकी जीवन पसन्द करने-वाला है उस घरमें चाहे अतुल वैभव भरा हो, चाहे चूहे दण्ड ही पेलते हों, स्त्रीका जीवन सरस और सुख-मय कदापि नहीं हो सकता । इसी व्यावहारिक बातको निम्नांकित पंक्ति प्रकट कर रही है—

‘सहज एकाकिन्हके भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं’ ।’

१. दोहावली, दो० ४०१ । २. ‘मानस’, सुन्दर० ५८ । ३. वही, बाल० २८०. ५ । ४. वही, सुन्दर० ५७. २ । ५. ‘मानस’, बाल० १६१ । ६. ‘मानस’, लं० ८. ८, ९ । ७. वही, लं० ९० । ८. ‘मानस’, बाल० ७९. ।

नारी-प्रकृति की गम्भीर और सूक्ष्म जानकारी को भी पत्रकी दुनियादारी समझना चाहिये। स्त्री-स्वभावसे पूर्णतया अभिज्ञ ही उसका यथातथ्य रूपमें अंकन कर सकता है। गोस्वामीजी नारी-प्रकृति, नारी-हृदय और नारी-चरित्रका अपार सागर था। चुके थे। इससे भी उनकी लोक-व्यवहार-निपुणता प्रतिपादित होती है।

यद्यपि जन-सामान्यके लिए मानव-प्रकृतिकी दुर्बोधता निर्विवाद है, पर जो जगत्प्रथित अनुभव-सम्पन्न होता है उसका क्या कहना। वह तो मानों सबके पेटकी जानता है। तात्पर्य यह कि जिसका लोक-व्यवहार जितना ही गम्भीर और विस्तृत होता है, वह मनुष्य-स्वभावका उतना ही मार्मिक, सजीव और अनेकविध दृश्य उपस्थित करता है। गोस्वामीजीकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अखण्ड जानकारीका निर्देश पहले ही हो चुका है। उसके आधारपर भी उनके विशाल लोक-व्यवहारका समर्थन हो जाता है। इसी प्रकार विविध वर्गों परस्पर कथोपकथनमें जो दौड़-पेंचकी स्वाभाविक बातें सन्निविष्ट हुई हैं उनसे भी वे लोक-व्यवहार-विद् ही सिद्ध होते हैं।

सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ ज्ञानकी संसृष्टि

सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ ज्ञानकी संसृष्टि भी तुलसीकी अपनी विशेषता है। इन त्रिविध अवयवोंका सामान्य परिचय उपेक्षणीय न होगा। पहले प्रतिभाकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये। संसारमें आजतक ऐसा कोई महाकवि नहीं दृष्टिगत होता जिसने बिना प्रतिभाके सहारे अमरत्व प्राप्त किया हो। क्या पूर्व क्या पश्चिम, सभी देशोंने काव्यके मूल कारणोंमें प्रतिभाको सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। आंग्ल भाषाकी इस कहावत 'कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता' (पोंयट इज वार्न भाट मेड)का क्या आशय है? सच्चा कवि अपनी विशिष्ट काव्य-प्रतिभा सहित अवतीर्ण होता है, उसकी कविता प्रतिभाकी सुदृढ़ भित्तिपर ही सुचारु रूपसे आश्रित रहती है, वह अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अर्थात् प्रातिभ ज्ञानके सहारे अपनी कल्पनाके पंखोंपर उड़कर अतीन्द्रिय स्वर्गीय जगत्का समाचार सुनाकर उसका प्रत्यक्ष दृश्य दिखानेकी क्षमता रखता है। अपनी कविता कामिनीके बाह्य एवं अन्तर्ध्वन्यपर अखिल भू-मण्डलके हृदयोंको मन्त्र-मुग्ध बना सकता है। प्रातिभ ज्ञानकी महिमा हमारे यहाँके बड़े-बड़े प्राचीन आचार्योंने भी स्वीकृत की है और उन सबने प्रतिभाको काव्यका प्रथम हेतु माना है। प्राचीन आलंकारिक भामहाचार्यने कहा है—

‘काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः’^१

आचार्य दण्डीने भी प्रतिभाको काव्यका प्रथम साधन माना है—

‘नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः’^२

इसी प्रकार, भामटाचार्यने भी काव्यके तीन हेतुओंमेंसे प्रतिभाको ही प्रथम स्थान दिया है—

‘शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे’^३॥’

कहना नहीं होगा कि अवतरणमें ‘शक्ति’ प्रतिभाकी ही द्योतक है।

प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त विभूति है और बीजरूपमें काव्यका मुख्य साधन भी यही है। इसका विकास कविके हृदयमें जन्मसे ही होता है। पूर्वकालीन संस्कारके बलसे प्रतिभाकी धारा कविके हृदयमें वेगसे प्रवाहित होने लगती है, फलतः वह काव्य-रचनाकी ओर प्रवृत्त होता है।

१. ‘भामहालंकार’, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ५। २. ‘काव्यादर्श’, प्रथम परिच्छेद, श्लोक १०३। ३. ‘काव्यप्रकाश’, प्रथम उल्लास, कारिका ३।

प्रातिभ ज्ञानका स्वरूप समझनेके लिए आवश्यक है कि पहले हम यथार्थ ज्ञान अर्थात् 'प्रमा' के सम्बन्धमें कुछ विचार कर लें। प्रमाकी प्राप्तिके मुख्य प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम या शब्द। इन्हीं चारोंके द्वारा हमें किसी वस्तुका यथार्थ बोध होता है। उक्त चारों प्रमाणोंकी कारण हैं हमारी पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ। तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके द्वारा प्रमाणोंसे सिद्ध जिस ज्ञानका उदय होता है वही प्रमा है। इसकी प्राप्तिमें लौकिक साधन अपेक्षित होते हैं। परन्तु, एक प्रकारका ऐसा भी ज्ञान होता है जिसका उदय बिना किसी लौकिक साधन या प्रमाणके ही होता है। ऐसे ही ज्ञानको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। अंग्रेजीमें यही 'इण्ट्यूशन' कहा जाता है।

अत्यन्त संक्षेपमें, प्रातिभ ज्ञानके विषयमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों देशोंके मुख्य विचार भी स्पष्ट का लेना चाहिये। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

‘प्रातिभाद्वा सर्वम्’ ।

इस सूत्रके स्पष्टीकरणके हेतु इसके टीकाकारकी निम्नांकित व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है—

‘प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं विवेकजस्य सार्वज्ञस्य पूर्वरूपं यथा सूर्यस्योदयपूर्वरूपं प्रमा । तेनोत्पन्नेन सर्वमेवातीतानामगतादि जानाति’ । इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाके कारण जिस अनौपदेशिक ज्ञानका उदय होता है उसके उदय होनेपर प्राणी सर्वज्ञ होनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है और तत्परिणामस्वरूप तीनों कालका द्रष्टा हो जाता है, ऐसा ही ज्ञान प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है।

पाश्चात्य जगत्ने प्रातिभ ज्ञानका क्या अभिप्राय ग्रहण किया है यह उसके ‘इण्ट्यूशन’ के अर्थसे ही प्रकट होता है। वहाँके प्राचीन विचारशीलोंकी दृष्टिमें प्रातिभ ज्ञान केवल देवदूतों और सिद्धोंमें ही होता था क्योंकि वे ही लोग ज्ञेय पदार्थ और उसके ज्ञानको अभेदरूपसे जानते थे, पर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक तर्कपद्धतिका बिना कोई आश्रय ग्रहण किये ही मस्तिष्क द्वारा वस्तुतत्त्वके लौकिक साधनापेक्ष भाक्षात्कारको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं^१।

अब विचारणीय है कि काव्यमें प्रातिभ ज्ञानका क्या स्थान है। भारतीय आचार्योंने काव्य-रचनामें प्रतिभाको क्या स्थान दिया है, इसका संकेत तो किया ही जा चुका है। यहाँ एक उच्च कोटिके पाश्चात्य समीक्षकका विचार उद्धृत करना अनावश्यक न होगा—‘साहित्यिक समालोचनाका क्षेत्र है शक्तिमय वाङ्मय। इसके अन्तर्गत ललित कलात्मक रूपमें विरचित कविता, नाटक, कथासाहित्य, साहित्यसमीक्षा और निबन्ध आते हैं जो औपदेशिक वाङ्मयकी भाँति साक्षात् सत्य या असत्यका निर्णय नहीं करते। तर्कके बलसे उनके तथ्यका निराकरण नहीं किया जा सकता। वे अपने निजी नियमोंके अनुगामी होते हैं। इन नियमोंका अन्तिम आधार शोधक्षेत्र, तर्क नहीं होता, अपितु, प्रातिभ ज्ञान, कल्पना और सौन्दर्यबोध होते हैं। यों तो उभय प्रकारके वाङ्मयका सम्बन्ध सत्यसे ही रहता है, पर सत्यपर उपनीत होनेके उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानमय साहित्य तार्किक निर्णयके द्वारा सत्यपर पहुँचता है तो शक्तिमय साहित्य प्रातिभ ज्ञानके द्वारा^२।’

प्रातिभ ज्ञान और कल्पना एक ही वस्तु नहीं है। दोनोंमें स्पष्ट अन्तर है। कल्पना किसी प्रत्यक्ष गोचर आधार या उसके किसी अंशके सहारे ही अपना व्यापार करती और कर सकती है। कवि अपने वर्ण्यविषयके किसी अवयव या उसके सादृश्यकी झाँकी पानेपर उसका पूर्ण सांगोपांग स्वरूप कल्पनाके ही

१. ‘योगसूत्र’, ३:३३। २. दे० आक्सफोर्ड डिक्शनरी। ३. स्कॉट जैम्स : ‘मेकिंग आव् लिटरेचर’ पृ० २३।

गोस्वामीजीके सम्बन्धमें यह कथन असंगत न होगा कि उनका-सा मात्रा-बोध भंस्तृत साहित्यके महाकवियोंका भी नहीं था। यदि वादमीकने आवश्यकतासे अधिक प्रकृति-वर्णन करके मात्रा-बोधकी सीमा तोड़ दी है तो श्रीहर्षने दमयन्तीके अंग-प्रस्यंगका वर्णन करते-करते उसके गुप्तस्थानतकका अंकन करके नख शिख-वर्णनकी मर्यादाका अतिरिक्त विस्तार कर डाला है। हिन्दी साहित्यमें तुलसीको छोड़कर अन्य किस महाकविका नाम लिया जाय जो अपनी मात्रा-बोधकी पूर्ण परिकृत रचिका परिचय देता हो? किसी भावको बार-बार गीजने या वर्णनीयोंकी फिहरिस्त तैयार करानेका ढंग तो मात्रा-बोध है नहीं कि जायमी और सूरका भी नामोल्लेख करें।

मात्राके अतिक्रमणकारी विस्तृत वर्णनसे भले ही पाठककी वर्ण्य-विषयक ज्ञानवृद्धि हो, पर उससे काव्यके अलौकिक आनन्दकी अनुभूति तो कदापि नहीं हो पाती। जो कवि मात्राका उचित और यथार्थ उपयोग नहीं जानता, उसकी उच्चतम कृति भी पाठकको सच्ची और पूर्ण रसानुभूति नहीं करा सकती। काव्यके त्रिविध स्वरूपोंमेंसे सुक्तकमें मात्रातिरेकके लिए कम अवकाश रहता है, अन्यथा खण्डकाव्य और महाकाव्यमें तो मात्रा-बोधको कविकी कलाका एक प्रमुख अंग मानना ही होगा।

यों तो गोस्वामीजीकी सभी कृतियाँ उनके मात्रा-बोधसे तुलित हैं, फिर भी उनके खण्डकाव्य और महाकाव्यके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। उनके प्रारम्भिक खण्डकाव्यका वर्ण्य विषय है—रामका नहछू। यदि उन्हें मात्राका यथार्थ परिज्ञान न होता तो वे राजभवनके सुपमावर्णनके साथ उस अवसरपर छाये हुए आनन्दोल्लासमय वातावरणका विस्तृत वर्णन करते, तदनन्तर नहछूका प्रसंग छेड़ते। पर उन्होंने वैसा नहीं किया। वस्तुतः उन्हें ध्यान था कि नहछूकी छटा दिखाना उनका वर्ण्य विषय है, फलतः उन्होंने नगर-वर्णन, उसके उल्लास और माता कौसल्याके अपार हर्ष आदिके सभी व्यापारोंको समेटकर एक ही छन्दमें इंगित किया। देखिये—

‘कोटिन्ह वाजन वाजहिं दसरथ के गृह हो।

देवलोक सब देखहि आनन्द अति हिय हो॥

नगर सोहावन लागनि वरनि न जातै हो।

कौसल्याके हरप न हृदय समानै हो’॥

बस, इतना ही वर्णन देकर गोस्वामीजी शट नहछू स्थल ‘आलेहि बाँसके माड़व मनि गन पूरन हो’ पर आ जाते हैं और माड़वका प्रसंग भी एक छन्दमें ही रमणीय ढंगसे समाप्त करके नहछूका प्रसंग उपस्थित कर देते हैं। इस संस्कारके अवसरपर जिन-जिन विशिष्ट व्यक्तियोंके द्वारा जो-जो विशेष कार्य होते हैं उन सबके वर्णनमें उन्होंने कवि-हृदयकी तन्मयता अवश्य दिखा दी है। उन्होंने ऐसा भी नहीं किया है कि वे लोहारिन, अहिरिन, तम्बोलिन, नाइन आदिकी एकाध शृंगारिक चेष्टाओंके अतिरिक्त उनका अनावश्यक वर्णन करने लगे हों। यदि वे ऐसा करते तो उनकी मात्राबोधहीनता प्रकट हो सकती थी। वस्तुतः उनकी बुद्धि इतनी सधी थी कि वे भली-भाँति जानते थे कि अमुक वस्तुनिर्देशके लिए अमुक शब्द या वाक्य ही पर्याप्त होगा। रामके चरणोंमें महावर लगानेके अवसरपर भी उनकी संयत बुद्धि सचेष्ट है। ऐसा नहीं हुआ कि उक्त प्रसंगमें ही व्यर्थका विवरण चला हो या रामके ही नखशिख वर्णनका विस्तार हो।

‘पार्वतीमंगल’ और ‘जानकीमंगल’ भी मात्रा-बोधकी कसौटीपर बेदाग ठहरते हैं। इन दोनोंमें कहीं भी रज्जुमात्र असंयत, अभीष्ट-परिधि-भङ्गक न्यूनाधिक अथवा किसी प्रकारका प्रतिकूल वर्णन न मिलेगा।

खण्डकाव्यमें मात्रा-बोधका समुचित उपयोग कर लेना कविके लिए उतना महत्वाधायक नहीं कहा जा सकता। यदि वह सामान्यतः भी प्रतिभा-सम्पन्न हुआ तो खण्डकाव्यके सीमित क्षेत्रमें यथार्थ रूपसे अपने मात्रा-बोधका परिचय दे सकता है। वस्तुतः उसके मात्राबोधकी कड़ी परीक्षा महाकाव्यके अपार क्षेत्रमें ही होती है, क्योंकि उसमें विविध वस्तु-योजना, घटना-योजना, चित्रण, वर्णन आदिका निर्वाह करना पड़ता है और यदि कविमें मात्राकी परखका अभाव हुआ तो वह काव्य-धारा-प्रवाहमें मात्रा-बोधकी सीमासे न जाने कितने प्रसंगोंमें हटता हुआ मिलेगा। कहीं आवश्यक विस्तारका अतिक्रमण करके अनावश्यकको बढ़ावेगा तो कहीं मार्मिक आवश्यक प्रसंगको नगण्य करके सारा गुड़ गोबर कर देगा। इसके विपरीत मात्राकी सूक्ष्म दृष्टिसे सम्पन्न महाकवि किसी स्थल-निरूपणमेंधोखा नहीं खाता। गोस्वामीजी ऐसे ही महाकवि हैं। 'मानस'में एकसे एक बढ़कर ऐसे गहन प्रसंग हैं जो उन्हें उलझा सकते थे, पर इस महात्माकी अद्भुत शक्ति थी, इसने सभी प्रसंगोंपर मात्रा-बोध का अंकुश लगा ही दिया है।

यदि 'मानस'की कथावस्तुको लक्ष्यमें रखकर विचार किया जाय तो ऐसा कोई स्थल नहीं दिखाई पड़ेगा, जहाँ किसी प्रासंगिक कथाका ऐसा विवरण किया गया हो कि वह प्रधान कथावस्तुके प्रवाह आदिमें किसी प्रकारका व्याघात करता हो। यदि प्रधान कथावस्तु विस्तृत महानदके समान प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत होती है तो प्रासंगिक कथाएँ उसीमें आकर अन्तर्भूत होनेवाली सहायक नदियोंके समान हैं। पाठकके समक्ष मुख्य कथाका विस्तार सदैव बना रहता है, प्रासंगिक कथाओंकी बीच-बीचमें झलकमात्र मिलती है। कथाका ऐसा विस्तार भी गोस्वामीजीके मात्रा-बोधका उत्तम परिचायक है।

वस्तु-वर्णनके प्रसंगोंमें प्रायः बड़े-बड़े कवियोंमें भी मात्रा-बोधका अभाव खटक जाया करता है। अपनी तन्मयतावश वे वस्तु-वर्णनको इतना विस्तृत कर देते हैं कि कहीं-कहीं वही प्रधान हो जाता है। गोस्वामीजीने भूलकर भी ऐसा नहीं किया है। उनका वस्तु-वर्णन वातावरण और कथानकप्रवाहके अनुरूप हुआ है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। अपने मातुल-गृहमें भरतपर अत्यन्त व्याकुलता छायी थी, क्योंकि भयंकर दुःस्वप्नोंके द्वारा उन्हें भीषण अमंगलकी सूचना मिल चुकी थी। ऐसे ही अवसरपर वशिष्ठने दूत भेजा। गुरुकी आज्ञा सुनते ही उन्होंने प्रस्थान कर दिया। उस समय उनके मनमें कितनी आकुलता और आतुरता थी, इसका अनुमान निम्नांकित दो ही पंक्तियोंसे हो जाता है—

‘चले समीर बेग ह्य हाँके। नाघत सरिस सैल बन वाँके।

हृदय सोच बड़ कछु न सुहाई। अस जानहिं जिय जाउँ उड़ाई॥’

यदि गोस्वामीजी मात्रा-बोधके मर्मज्ञ न होते तो वे भरतके इस प्रस्थानके समय यात्राका विस्तृत वर्णन अवश्य करते, किन्तु नहीं, वे समझते थे कि उनके पात्रकी वृत्तियाँ ऐसे समयमें स्वभावतः किस ओर उन्मुख हैं। क्या वे वर्णनके विस्तारमें उलझाकर प्रतिकूट कर दिये जानेकी क्षमता भी रखती हैं। फलतः उन्होंने—

‘एक निमेष वरष सम जाई। एहि विधि भरत नगर नियराई॥’

कहकर भरतकी वेदनाका आभास देते हुए कथानकका चलता हुआ द्रुत प्रवाह ज्योंका त्यों बनाये रखा।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग और देखिये। रावण-वध हो चुका था। रामके वनवासकी अवधि पूरी होनेवाली थी। भक्त विभीषण अपनी राजधानीको रामकी चरण-रजसे पुनीत करानेके लिए परमोत्कण्ठित था। पर, रामको और ही बेचैनी थी।

‘वाते अवधि जो जाउँ मैं जियत न पावउँ वीर ।
मुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सररीर ॥’

इस स्थितिमें भक्तों आश्वासन देते हुए रामने यही कहा कि मेरे अयोध्या पहुँचनेका प्रयत्न क्षीप्रतिक्षीप्र करो । फिर क्या था, विभीषणने तुरत पुष्पक विमान उपस्थित किया । राम तत्क्षण विमानारूढ़ होकर अयोध्याकी ओर बढ़े । इस यात्राके समय रामके हृदयमें जो भाव छाया था उसके अनुसार वह कदापि उचित नहीं था कि गोस्वामीजी यात्राका लम्बा-चौड़ा वर्णन करने लगते । भावा-बोधका यथोचित रहस्य न जाननेवाले समालोचक महाशयका दुःसाहस ही गोस्वामीजीपर यह दोष लाद सकता है कि उन्होंने उक्त प्रसङ्गोंमें विस्तृत यात्रा-वर्णनकी आवश्यकताकी उपेक्षा कर दी है । वस्तुतः प्रसङ्गानुकूल वर्णनकी यथोचित परिधिका जितना सच्चा ज्ञान तुलसीको था उतना समारके विरल महाकवियोंमें कदाचित् बहुत बहनेपर ही मिले ।

गोस्वामीजी यह भलीभाँति जानते थे कि किस घटनाका विस्तार होना चाहिये और किसका संकेत मात्र । यही कारण है कि उन्होंने सामान्य घटनाको तो एकाध वाक्यमें ही कहकर चलता कर दिया है, पर गम्भीर घटनाको मार्मिक ढंगसे विस्तार दिया है । इसी सम्बन्धमें यह भी न भूलना चाहिये कि गम्भीर घटनाओंका विस्तार भी ऐसा नहीं है कि उसमें थोड़ा-ना भी आपत्ति प्रकट हो । सीता-हरण और लक्ष्मण की हानि लगनेकी घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें गोस्वामीजी इतना बड़ा सकते थे कि सारी प्रकृतिमें उन्माद, प्रलय और विध्वंसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती, पर नहीं, उन्होंने ऐसे अवसरोंको भी उतना ही विस्तार दिया कि पाठकके हृदयमें पूर्ण रसानुभूति हो जाय । ऐसा नहीं किया कि वह पढ़ते-पढ़ते ऊब जायें या फूट-फूटकर रोता ही रह जायें ।

हमारे महाकवियोंकी उत्तमोत्तम रचनाओंके अवलोकनसे अवगत होता है कि प्रायः नख-शिल्प-वर्णनमें उनकी बुद्धि इतनी रमी है कि उन्होंने मात्राका अतिक्रमण करके भी उसको अत्यधिक विस्तार दिया है । यद्यपि राम और सीताके अपार सौन्दर्य-सागरके सामने अन्यान्य कवियोंके नायक नायिकाओंका सौन्दर्य विन्दुमात्र ही होगा, तथापि यात्राजीने स्व-सौन्दर्य-वर्णनकी संयत सीमाके भीतर ही रहकर नख-शिल्पका अंकन किया है । उन्हें न जाने कितने ऐसे प्रसंग मिले जहाँ वे नख-शिल्प-वर्णन प्रचुर परिमाणमें कर सकते थे, पर नहीं, उन्होंने दो-चार पंक्तियोंकी ही आवश्यकता समझकर प्रसंगको उत्तरोत्तर स्वाभाविक गतिमें बढ़ने दिया । इस प्रकार नख-शिल्प-वर्णनके प्रचण्ड धरेमें भी उनका मात्रा-बोध श्लाघनीय है ।

उच्च कोटिके कलाकारोंकी कृतियोंमें भी हम कभी-कभी पात्रोंके कथोपकथनोंसे ऊबने लगते हैं, क्योंकि वे या तो अनावश्यक विस्तृत और नीरस होते हैं अथवा इतने काल्पनिक और अस्वाभाविक कि उनमें हमारा हृदय रमता ही नहीं । सद्ग्राही मात्रा-बोध-सम्पन्न कविकी कृतिके सभी कथोपकथन सौष्ठवपूर्ण एवं संयत होते हैं । तुलसीमें यही बात है । एक उदाहरण लीजिये -

‘पवन तनय के चरित सुहाये । जामवंत रघुपतिहिं सुनाये ॥’
मुनत कृपानिधि मन अति भाये । पुनि हनुमान हरपि हिय लाये ।
कहहु तात केहि भाँति जानकी । रहति करति गच्छा स्वप्नान कीं ॥’

अवतारित अर्द्धालियाँ यदि तुलसी-जैसे मात्रा-बोध-प्रणीत कलाकारके हाथमें न पड़ी होतीं तो कदाचित् अन्य कवि पहली अर्द्धालीके स्थानपर लम्बा नहीं तो संक्षिप्त ही वर्णन करता कि हनुमान् किस

प्रकार समुद्रके तटपर गये, कैसे समुद्रोत्खलन किया और कैसे अन्यान्य घटनाएँ घटित हुईं, पर गोस्वामीजी-ने इन सभी बातोंके बतलानेका काम केवल एक पंक्तिसे लिया। उन सभी बातोंको जानकर रामपर जा प्रभाव पड़ा उसे भी श्रष्ट दूसरी अर्द्धांशमें व्यक्त कर दिया। तदुपरान्त, वे चाहते तो सीताका समाचार सुननेपर रामकी जो दशा हुई उसका विस्तृत वर्णन करते, पर नहीं, कथा-प्रवाह तीव्र रखनेके लिए उन्होंने तीसरी ही अर्द्धांशमें रामके प्रश्नोंका उपस्थित कर दिया। ये प्रश्न भी अनियन्त्रित नहीं हैं। केवल नपे-तुटे दो प्रश्न हैं - सीता किस प्रकार रहती है और क्योंकर अपने प्राणोंकी रक्षा करती है। यद्यपि दोनों प्रश्न देखनेमें सरल हैं, पर उनकी व्यञ्जना गूढ़ है। अतः उनका जैसा गूढ़ और मार्मिक उत्तर देना चाहिये था वैसा ही हनुमानने दिया भी। देखिये —

‘नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट’ ॥’

निस्सन्देह उक्त दोनों प्रश्नोंका उत्तर एक ही दोहेमें दिया गया है, पर इतने ही उत्तरसे सीताके अमित दुःखकी पूर्ण अभिव्यक्ति न होनेपर हनुमान्का कथोपकथन कुछ और बढ़ाया गया और उनसे कहलाया गया कि—

‘चलत मोहिं चूड़ा मनि दीन्हों ।’

माथ ही कुछ सन्देश भी कहा —

‘नाथ युगल लोचन भरि वारी। वचन कहेउ कछु जनक दुलारी ॥
अनुज समेत गहेउ प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारतिहरना ॥
मन क्रम वचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ॥
विरह अगिन तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँह सरीरा ॥
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह विरहागी ॥
सीता कै अति विपति विसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला’ ॥’

इस सन्देशके इतने सीमित क्षेत्रमें जनकदुलारीकी परम आर्तदशाकी कैसी हृदय-स्पर्शनी अभिव्यञ्जना हुई है इसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। सीताकी ऐसी दशा सुनकर रामपर जो प्रभाव पड़ा उसे एक ही चौपाईमें व्यक्त करना अधिक उपयुक्त समझकर गोस्वामीजीने इतना ही कहा है—

‘सुनि सीता-दुख प्रभु सुख-अयना। भरि आये जल राजिव-नयना’ ॥’

इसके उपरान्त यदि वे चाहते तो रामकी दशाका विस्तृत वर्णन करते, पर उनके ऐसा करनेसे चलते हुए कथोपकथनमें एक प्रकारका व्याघात-सा होता। अतएव उन्होंने हनुमान्से कुछ और कहलाना ही समीचीन समझा और कथोपकथनका क्रम आगे बढ़ाया। अस्तु। तुलसीमें प्रायः सभी कथोपकथनके प्रसंगोंमें उनका मात्रा-बोध पूर्णतया परिलक्षित होता है।

अब रही मुक्तकमें मात्रा-निर्वाहकी बात। यदि कोई कवि मुक्तकमें किसी भावको मनोहर ढंगसे व्यक्त करनेके लिए अद्भुत कल्पना, उद्योतक अप्रस्तुत योजना, परिष्कृत रुचि और हृदयकी नैसर्गिक मार्मिकताके वर्णनसे पाठकको लोट-पोट कर देता है तो कहना होगा कि उसमें मात्राबोध है। इस दृष्टिसे तुलसीकी अधिकांश मुक्तक रचनाएँ भी उनके मात्राबोधका परिचय देती हैं।

तुलसीके काव्याद्यानसे सौन्दर्यके जो करनीय कुसुम विकसित हुए हैं उनके सुभग सौगमकी अनुभूतिके लिए पहले सौन्दर्यपर कुछ सामान्य विचार कर लेना चाहिये। इस सामान्य विचारसे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि मैं पाश्चात्य पञ्चमों सौन्दर्य-विज्ञानियोंके सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों (इन्थेटिक थ्योरीज) का गोरखधन्वा फैलाऊँ और सौन्दर्यका आध्यात्मिक रहस्य बताऊँ। ऐसा न करनेपर भी सौन्दर्यका स्वरूप-निर्देश तो करना ही होगा। जैसे हम चन्द्रिकाकी कल्पना बिना चन्द्रके नहीं कर सकते वैसे ही बिना सुन्दर वस्तुके सौन्दर्यकी कल्पना करना असम्भव है। इस आधारपर हम कह सकते हैं कि सुन्दर वस्तुसे पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है। जड़ अथवा चेतन जगत्की कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके साक्षात्कारमात्रसे हमारा मन उनमें ऐसा रम जाता है कि हम उन वस्तुओंकी भावनाके रूपमें ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ताकी वही तदाकार परिणति सौन्दर्यकी अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंगकी वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनकी प्रतीति या भावना हमारे मनमें कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर नहीं जायगी..... किसी वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे हमारी अपनी सत्ताके बोधका जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मनकी उस वस्तुके रूपमें जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बड़ी हुई सौन्दर्यकी अनुभूति कही जायगी। जिस प्रकारकी रूप-रेखा या वर्ण-विन्याससे किसीकी तदाकार परिणति होती है उसी प्रकारकी रूप-रेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यताकी सामान्य भूमिपर पहुँची हुई जातियोंमें सौन्दर्यके सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद केवल अनुभूतिकी मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दरको कोई एकवारगी कुरूप कहता है और न विलकुल कुरूपको सुन्दर^१।

उपर्युक्त उद्घरण एक प्रकारसे सौन्दर्यानुभूतिका स्पष्टीकरण कर देता है, पर सौन्दर्यका वह विस्तृत स्वरूप जिसे हम तुलसीकी रचनाओंमें इंगित करना चाहते हैं पूर्ण रूपसे प्रकाशित करनेके लिए सौन्दर्यका वर्गीकरण करना अधिक सुन्दर होगा। हम कह चुके हैं कि सुन्दर वस्तुसे पृथक् सौन्दर्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अतः सुन्दर वस्तुओंके आधारपर सौन्दर्यके दो वर्ग होंगे—(१) प्रकृति-सौन्दर्य, (२) प्राणि-सौन्दर्य।

सौन्दर्यके इन द्विविध क्षेत्रोंपर दृष्टि डालते ही दोनोंके भेद प्रतीत होंगे : प्रकृति-सौन्दर्यके अन्तर्गत—(१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य, (३) व्यापार-सौन्दर्य आदि और प्राणि-सौन्दर्यमें (१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य, (३) व्यापार-सौन्दर्य, (४) व्यवहार-सौन्दर्य, (५) शील-सौन्दर्य आदि।

निस्संदेह मनुष्य चेतनामय प्राणी होनेके कारण चेतन जगत्के सौन्दर्यका विशेष रसज्ञ होता है, पर यह भी निश्चित है कि वह जड़ प्रकृतिके विविध विलासोंपर भी मुग्ध रहता है। उसका हृदय कहीं पल्लव-गुम्फित पुष्प-हासमें, कहीं निर्झरोंके कलकल नादमें, कहीं पक्षियोंकी काकलीमें, कहीं सिन्दुराभ साम्ब दिगञ्जलके हिरण्य मेखला-मण्डित घनखण्डमें, कहीं तुषारावृत तृंग गिरिशिखरपर पड़ी आभासे निर्मित इन्द्र-धनुषमें, कहीं सघन और स्निग्ध हरीतिमासे आच्छन्न अछोर मैदानोंमें लहलहाते हुए खेतोंमें, तो कहीं महार्णवकी उत्ताल तरंगोंमें जा फँसता है। क्यों ? उत्तर है—प्रकृति-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर। इसी प्रकार प्राणि-सौन्दर्य भी उसे केवल आकर्षित ही नहीं करता, अपितु अनुभूति-साम्य, रुचि-साम्य, विवेक-साम्य और भाव-समष्टिसाम्यसे आप्यायित भी करता है।

सौन्दर्यबोधका एक तीसरा कलात्मक पक्ष भी होता है, जिसके अन्तर्गत कथानक या कथावस्तुकी योजनामें कविकी मौलिकता, कथामें सातन्त्र्य, औदात्य, सामञ्जस्य, सम्बन्ध-निर्वाह आदिकी पूर्णता तथा रम्य-योजनाकी निपुणता, शब्दशक्तियोंका समुचित प्रयोग, रीति, ध्वनि, अलंकार आदिके सुष्ठु प्रयोग भी आते हैं। ये सब कविकी सौन्दर्य-चेतनाके परिचायक होते हैं। इन्हे सौन्दर्य शास्त्रियोंने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। भावात्मक सौन्दर्य, वैचारिक औदात्य, धर्माचरण, सूक्तियों आदि भी कविके अन्तर्जगतके सौन्दर्यका परिचय देती हैं। अतः कलाकारकी रचनाओंमें इनकी छानबीन भी आवश्यक है।

सौन्दर्यके उक्त व्यापक क्षेत्रोंपर न्यूनतम रूपसे विशेष विवेचन करनेका न तां अवकाश है और न उम्मीदी उपेक्षा ही इष्ट है, अतः प्रस्तुत परिच्छेदमें कविकृत बाह्य दृश्य-चित्रण और आभ्यन्तरिक वृत्तिनिरूपणके सम्बन्धमें की गयी विवेचनाके द्वारा ही कविके सौन्दर्य-बोधका प्रकारान्तरसे परिज्ञान करया जा चुका है।

श्रीलताका पूर्ण परिपाक

श्रीलताका अपूर्व परिपाक भी उत्तम काव्यिके काव्यका आवश्यक अंग है। तभी तो कलाकारोंको काव्यके कतिपय दोषोंसे बचनेके साथ ही अश्लीलतासे दूर रहनेकी चेतावनी दी गयी है। अश्लीलता ब्रीडा, जुगुप्सा और असंगल-व्यञ्जक भावोंके प्रकाशनसे तीन प्रकारकी मानी गयी हैं—

‘त्रियेति ब्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात् ।’

दैनिक व्यवहारोंकी ओर दृष्टिपात करनेसे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि समाजमें कितने ही व्यवहारों और व्यापारोंका नग्न-प्रदर्शन लज्जाजनक माना जाता है। ऐसी ब्रीडात्मक बातें प्रायः शृंगार और हास्य-वर्णनके अन्तर्गत विशेष रूपसे दिखाई पड़ती हैं। इन्हीं दोनोंके निरूपणमें अनेकानेक कवि श्रीलताकी उपेक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। रम्यविरोधी अनेक दोषोंमेंसे प्रकृति अर्थात् पात्रोंका विपर्यय नामक दोष भी एक विशेष स्थान रखता है। प्रकृति अर्थात् नायक तीन प्रकारके होते हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, जिनके वर्णनमें प्रधानतया वीर, शैव, शृंगार और शान्तरस गृहीत होते हैं। नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत तथा उत्तम, मध्यम और अधम भेदके होते हैं। इनमेंसे रति, हास, शोक और आश्चर्य ये भाव अदिव्य उत्तम पात्रके सदृश दिव्य उत्तम पात्रोंमें भी वर्णित होते हैं, किन्तु सम्भोग शृंगारकी बीजभूत रति उत्तम दिव्य प्रकृतिके विषयमें सर्वदा अवर्णनीय ठहरायी गयी है, क्योंकि उसका वर्णन माता-पिताके सम्भोग-वर्णनके समान अनुचित है। गोस्वामीजीकी समस्त रचनाओंको ढूँढ़ डालिये, उनमें कहीं भी सम्भोग शृंगारका असुर्यादित वर्णन नहीं मिलेगा। हमें यह न समझना चाहिये कि तुलसीके सामने ऐसे प्रसंग ही नहीं आये, प्रत्युत तथ्य यह है कि ऐसे प्रसंगोंके आनेपर भी उन्होंने प्रकृति-विपर्यय नहीं होने दिया है। जहाँ शिव-पार्वतीके सम्भोग शृंगार-वर्णनका अवसर आया है वहाँ इतना ही कहना उचित समझा गया है—

‘जगत मातु पितु संभु भवानी । तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी ॥

करहिं बिबिध विधि भोग बिलासा । गनन्हूँ समेत बसहिं कैलासा ।’

जहाँ पार्वतीके अप्रतिम सौन्दर्य-वर्णनकी अपेक्षा थी वहाँ भी गोस्वामीजीने बड़े ही संयत और सूचारु ढंगसे जगदम्बिकाके रूप और कान्तिकी अभिव्यक्ति की है। यथा—

१. सम्भोगाचार्यने रसविरोधी दोषोंकी संख्या तेरह मानी है। दे० ‘काव्यप्रकाश’ सप्तम उल्लास, सू० ८८। २. ‘काव्यप्रकाश’ सप्तम उल्लास, १२ ‘प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च सम्भोगवर्णन-मिवाव्यक्तमनुचितम्’। ३. ‘मानस’, बाल० १०२. ४, ५।

‘देखत रूप सकल सुर मोहैं । वरनइ छवि अस जग कवि को है ॥
जगदंबिका जानि भव वामा । सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा ॥
सुंदरता मरजाद भवानी । जाइ न कोटिन्ह वदन वखानी’ ॥’

इसी प्रकार सीताकी अलौकिक शोभाका वर्णन करते समय उनके अंगोंमें यौवनागम आदिका संकेत करके भी तुलसीने जैसी श्रीलताका प्रकाशन किया है वैसी अन्यत्र कहाँ ।

केवल देवियोंके शृंगार-वर्णनमें ही श्रीलताका पालन किया गया हो ऐसी बात नहीं । शिवकी अचल समाधि भंग करनेके लिए कामदेवने जब अपना प्रवल प्रताप दिखाया तो सारी सृष्टि कामके वशमें हुई । ‘लता निहारि नवहि तर साखा ।’ ‘संगम करहिं तलाव तलाई’की स्थिति आ गयी । ऐसे घोर शृंगारका वर्णन भी गोस्वामीजीने किया है^१, पर उस विवरणमें त्रीड़ाव्यञ्जक अश्लीलताका नाम-निशान भी नहीं आने पाया है ।

तुलसीकी कृतियोंमें कहीं-कहीं ग्राम्य शब्दोंका प्रयोग देखकर कोई सहसा कह सकता है कि ऐसे प्रयोग ही श्रीलताके विरोधी हैं । पर, ऐसे सहसा कथनका कोई मूल्य नहीं । काव्यमें कुछ ऐसे अपवाद भी स्वीकृत किये गये हैं जिनमें जुगुप्सा-व्यञ्जक ग्राम्य पदोंके प्रयोग दोषकी अगह गुण माने जाते हैं । यथार्थ तथ्यके निरूपणार्थ नीतिमय वचनोंके कथनमें ग्राम्य पदका प्रयोग अश्लीलत्वका द्योतक नहीं होता । यथा—

‘तुलसी देवल देवको लागे लाख करोरि ।
काग अभागे हगि भरयो, महिमा भई न थोरि’ ॥’

नीतिमय वचनोंमें ही नहीं, अपितु शान्त (वैराग्य)के प्रकरणमें भी जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील अर्थ गुण-विशिष्ट माने जाते हैं । जैसे—

‘रमा विलास राम अनुरागी । तजत वसन इव नर वड़ भारी’ ॥’

अधम पात्रोंकी उक्तियोंमें ग्राम्य पद गुण हो जाते हैं । ऐसे प्रयोग भी गोस्वामीजीने बराबर किये हैं ।

यदि कोई अत्यधिक नियमव्रती समीक्षक अपनी रुक्षताके अनुशासनमें आकर वावाजीमें किसी प्रकारकी अश्लीलता सिद्ध ही करना चाहे तो वह केवल उन्हीं प्रसंगोंकी ओर अंगुलि-निर्देश कर सकेगा जिन्हें उन्होंने अपनी स्पष्टवादिनी अति साधुताकी प्रेरणासे अथवा राम-विरोधीके प्रति सहज चिढ़की माँगसे रचा होगा । मन्दोदरी सदृश पतिपरायणा भार्याने अपने पतिपर जैसे निर्भय और कठोर अमांगलिक और अप्रशस्त अधिक्षेपवचन कहे हैं वे विशुद्धनीतिज्ञोंकी दृष्टिमें अश्लीलता अथवा अनीतिके द्योतक हो सकते हैं । इसी प्रकार भरतने माता कैकेयीकी जो गर्हा की है उसमें भी यही बात दिखाई दे सकती है ।

कवित्व और साधुताका संयोग

संसारके कवियोंने या तो साधु-महात्माओंके सिद्धान्तपर आसीन होकर अपनी कठोर साधना या तीक्ष्ण अनुभूति तथा घोर धार्मिक कष्टरता या साम्प्रदायिक असहिष्णुतासे भरे बिखरे हुए छन्द कहे हैं और अखण्ड ज्योतिकी कौंधमें कुछ रहस्यमय, धुँधली और अस्फुट रेखाएँ अंकित की हैं अथवा लोक-मर्मज्ञकी हैसियतसे सांसारिक जीवनके तत्त या शीतल एकान्त चित्र खींचे हैं जो धर्म और अध्यात्मसे सर्वथा उदासीन

१. मानस, बाल० ९९. ६-८ । २. वही, बाल० २४६. १-८ २४७. १-४ । ३. दे० ‘मानस’, बा० ८४. ८५. । ४. ‘दोहावली’, दो० ३८४ । ५. ‘मानस’, अयो० ३२२. ८ ।

दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामीजी ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने इन सभीके नानाविध भावोंको एक सूत्रमें गुम्फित करके अपना अनुपमेय साहित्यिक उपहार प्रदान किया है। काव्यकी निरवच्छिन्न पीयूष-धारासे अभिषिक्त होनेके कारण उनकी कृतियाँ बहुत ऊँची हैं, पर उनसे भी अधिक ऊँचा है उनका भव्य व्यक्तित्व। उन्होंने शूद्रोंके प्रति जो कुछ कहा है उससे चिढ़कर कोई उन्हें कुछ खरी-खोटी सुना ले, स्त्रियोंके प्रति क्रूरता-व्यञ्जक उनकी कुछ उक्तियोंके कारण कोई उन्हें अनुदार भी कह ले अथवा उन्होंने प्राचीनताके साथ जो अविच्छिन्न सम्वन्ध दिखाया है उस नाते कोई उन्हें प्रतिमुखगामी, नूतनद्वेषी या दक्कियानूस कहकर अपनी प्रगतिशीलता दिखा ले, पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जो उन्हें कपटी या दम्भी कह सके। उनके गहरेसे गहरे पक्षपातमें भी ईमानदारी है, कट्टरतम उक्तिमें भी पवित्र तटस्थता और निश्छल दल है। यह उनके साधु जीवन और व्यक्तित्वका ही प्रभाव है जो उनकी काव्य-प्रतिभासे चमत्कृत चेतना-तरंगिणी एक ओर विमल भक्तिके कूलको और दूसरी ओर मानवताके सम-विषम तटको चूमती चलती है। उनके काव्यमें आत्मगवेपणात्मक वृत्तियोंके जो उद्बोधन दिखाई पड़ते हैं वे सब उनके उदार व्यक्तित्वके सहज उद्गार हैं। सभी परिस्थितियोंके विविध स्तरोंको पार कर परपीड़ाकी अनुभूतिका अभ्यास विरले ही बनाये रखते हैं। महात्मा तुलसीदास इन्हीं विरलोंमेंसे विरलतम हैं, फलतः वे अपने काव्यको लोकोपकारक विभूतियोंसे सम्पन्न किये बिना कैसे रह सकते थे। यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि तुलसीने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुताके संयोगका अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिन्दी साहित्यको देकर युग-युगान्तरके लिए अमर कर दिया है। उन्होंने अपने कवित्व और साधुताके अपूर्व संयोगसे 'मानस' सरीखे मानसरोवरकी रचना करके पूर्ण विश्वासके साथ घोषणा कर दी है—

“मन करि विषय अनल बन जरई।
होइ सुखी जो एहि सर परई॥”

चतुर्दश-परिच्छेद

तुलसीकी प्रभाव-रश्मियाँ

मानसकी ख्याति और उसका उदात्त स्वरूप

किसी आत्म निष्ठ, लोक-सेवी, लोक-हितैषी, समाज-सुधारक, विचारक अथवा कलाकारकी गरिमा और उसकी महत्ताकी परन्व उसके प्रभावके आधारपर भी की जाती है। देखना है तुलसीदास इस दृष्टिमें किस पदके अधिकारी है। यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामीजीके प्रभावने समाज अछूता नहीं है। यद्यपि उनका यह प्रभाव अनेकानेक कारणोद्भव है, तथापि 'रामचरित मानस'की अपरिमित ख्याति तथा उसके परमोदात्त स्वरूपके कारण तुलसीदासके प्रभावकी जो दिव्य ज्योति प्रस्फुटित हुई वह वर्णनातीत है। भारतीय ही नहीं, अपितु अन्यान्य देशीय विद्वज्जनोंकी दृष्टिमें भी अत्युच्चासन ग्रहण करनेका अधिकारी तुलसीदाससे बढ़कर अन्यकोई महाकवि या भक्त हिन्दी-साहित्यमें नहीं दृष्टिगत होता। 'मानस'के प्रतापसे वे असंख्य मानसोंमें प्रविष्ट हो गये और न जाने कितनोंमें प्रवेश कर रहे हैं। 'मानस'की सुक्रीतिके विषयमें सर जार्ज ग्रियर्सनका यह वाक्य सत्य है—“इसकी सुख्याति सार्थक होनेमें तनिक भी सन्देह नहीं। अपने देशमें इसने सब ग्रन्थोंपर प्राधान्य लाभ किया है और सर्वसाधारणपर इसका ऐसा प्रभाव पड़ रहा है कि उसको बढ़ा-चढ़ाकर कहना कठिन कार्य है।” इसी प्रकार एक दूसरा वाक्य भी उद्धरणीय है—“विलायतमें जितना वाइविलका प्रचार है उससे कहीं अधिक बंगाल और पंजाब एवं हिमालय और विन्ध्याके मध्यस्थ प्रदेशोंमें इस महान् ग्रन्थका प्रचार है।” रामायणके प्रसिद्ध अंग्रेज अनुवादक ग्राउस साहेबका निम्नांकित कथन भी 'मानस'की विश्रुति एवं उसके अतिभव्य स्वरूपका समर्थन कर रहा है—“रामायण केवल हिन्दुओंका राष्ट्रीय प्राचीन काव्य ही नहीं है किन्तु उसमें यह विशेष गुण भी है कि वह अपने देशवासियोंके विश्वास तथा चरित्रका चित्र अत्यन्त सत्यतापूर्वक चित्ताकर्षक रूपमें खींचता है। इसका फल यह होता है कि उसके अनुशीलनसे योरपवासियोंके बहुतसे मिथ्या विश्वास और दुर्भाव जो इस सम्बन्धमें हैं दूर हो जाते हैं और दोनों जातियोंमें परस्पर समानुभूतिकी वृद्धि होती है।” रामायणमें वर्णित पात्रोंसे प्रभावित होकर ग्राउस साहेब यह भी कहते हैं—“कोई व्यक्ति राम, सीता, भरत तथा लक्ष्मणके सद्गुणोंपर मुग्ध होकर इन लोगोंकी पूजा चाहे न करे, किन्तु इनके सद्गुणोंकी सराहना सभी करेंगे। हम कहते हैं कि इन्हें कोई ईश्वरावतार या ईश्वरांश माने या न माने परन्तु अपने अलौकिक भव्य गुणोंसे ये लोग अवश्य ईश्वरत्व और देवत्वको प्राप्त हैं और सब पूज्य हैं। हिन्दू-समाजमें चिरकालसे घर-घरमें इनकी पूजा होती आयी है और अवश्य होनी चाहिए। इन्हीं लोगोंपर श्रद्धा-भक्ति रखने, इन्हींकी पूजा करने, इन्हीं महापुरुषोंके सुकार्योंसे शिक्षा-ग्रहण तथा उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका उभय लोकमें कल्याण हो सकता है।”

हमारे स्व० कवि सम्राट् 'हरिऔध'ने 'मानस'के प्रचार और अत्युदात्तत्वका संकेत करते हुए कहा है—“ऐसा ग्रन्थ जो हिन्दू जातिका जीवन सर्वस्व, उन्नायक और कस्तपत्र है जो आदर्श चरितका भण्डार

१. 'जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी' १९०३ पृ० ४५१। २. वही १९०३ पृ० ४५९।

३. दे० ग्राउस : 'रामायण आव् तुलसीदास'की भूमिका। ४. वही।

और गद्भाव-रसोंका रत्नागार है, जो आज दस करोड़ों भी अधिक हिन्दुओंका सत्य प्रदर्शक है, यदि है तो 'रामचरित मानस' है और वह गोस्वामीजीके महान् तपका फल है।' हरिऔधजीके कवि-हृदयसे निस्सृत तुलसी विषयक सुन्दर सर्वथा भी लोकप्रिय सिद्ध हो गया है—

‘वन रामरसायण की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला ।
अवगाहन मानस में करके, जन-मानस का मल सारा टला ॥
वनी पावन भाव की भूमि भली, हुआ भावुक भावुकता का भला ।
कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला ॥’

स्व० रामदास गौड़ने 'मानस'को चारों पदार्थोंका साधन माना है। देखिये—‘इस विचित्र ग्रन्थके महारे वर्णमाला सीखनेके लाभसे लेकर भुक्ति और मुक्तिके लोग कमा लेते हैं। सचमुच 'मानस' कहाँ तो प्रकाशकों या रोजगारियोंका अर्थ दे रहा है तो कहीं धर्म-प्राणोंको धर्म सिखा रहा है, काव्य मर्मशोंको लोकोत्तर आनन्द दे रहा है और मुमुक्षुओंको भक्ति मार्गसे ज्ञान और तदुपरान्त मोक्षतक भी पहुँचा रहा है। ऐसे विरले ही ग्रन्थ होते हैं जो चारों पदार्थ देनेवाले हैं।’

हमारे स्व० गाढ़कवि मैथिलीशरण गुप्तकी दृष्टिमें 'मानस'का क्या पद रहा इसे और देख लीजिए—‘कहनेको तो हम वेद-शास्त्रोंका नाम लेते हैं, परन्तु सच्ची बात यह है कि आज 'रामचरित मानस' ही हमारा धर्म-ग्रन्थ है। मैं समझता हूँ उसमें यह पद देकर हमने कुछ नहीं खोया, उल्टा सबकुल एकसाथ ही पा लिया है। तुलसीने लोक और वेदसे जो कुछ भिक्षाटन करके पाया, सब अपने प्रभुको समर्पण कर दिया। उस भोगका प्रसाद जिसने पाया उसका भी लोक-परलोक बन गया।’

‘मानस’की सुकीर्तिके कायल, उसकी मुक्त-कंठ प्रशंसा करनेवाले और बहुतसे गुणग्राही अधिकारी अध्येता हैं, पर उन सबके विचारोंको स्थानाभावके कारण उद्धृत नहीं किया जा रहा। आगे जिज्ञास्य है कि 'मानस'की कीर्तिके आधारभूत कारण क्या हैं? 'मानस'की ख्यातिके सर्वप्रमुख कारण हैं—तुलसीके राम। अपनी विश्वव्यापिनी अन्तर्दृष्टिके बलपर गोस्वामीजीने रामके अतिव्यापक एवं सूक्ष्माति सूक्ष्म स्वरूपका स्वयं साक्षात्कार कर चुकनेके उपरान्त ऐसा सार्वभौमिक निर्देश किया कि सभी लोग उसे अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल पाकर स्वभावतः उसकी ओर आकृष्ट हों। निस्संदेह तुलसीदासके पूर्व भी बहुतसे सन्तोंने रामका स्वरूप दिखानेका प्रयास किया था, पर उन महात्माओंने रामको सीमित-सा कर लिया था, इसीसे उन्होंने रामको केवल अव्यक्त, परात्पर ब्रह्मका ही प्रतीक माना। निर्गुणियोंके रामका यहीं रहस्य है। तुलसीदासने गम्भीर आध्यात्मिक दृष्टिसे रामको अव्यक्त, परात्पर ब्रह्म तो माना ही है साथ ही साक्षात् मानव दाशरथि राम रूपमें भी ग्रहण किया है। ब्रह्मके सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंको अमेद माना है^१, भेद मानकर चलनेवालोंको निन्द्य ठहराया है^२।

दोनों रूपोंको अभिन्न माननेके परिणाम-स्वरूप यदि गूढ़ अध्यात्म तत्त्वोंके पारदर्शी मुट्ठीभर ज्ञानी जनोंके उरोंमें राम ब्रह्म सच्चिदानन्द रूपसे चिन्तनके विषय हैं तो अधिकांश जन-सामान्यके हृदयमें अवतीर्ण रामके रूपमें अर्चित हैं। इस प्रकार तुलसीके राममें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारकी भावनाएँ परितुष्ट हो जाती हैं। एतदर्थ दोनों प्रकारकी भावनावाले रामोन्मुख होनेके लिए 'मानस'को उत्कृष्ट

१. हरिऔध : 'सन्दर्भ सर्वस्व' पृ० १४५। २. दे० रामदास गौड़ : 'मानसकी भूमिका' ५ वां खण्ड पृ० १०७। ३. दे० 'कल्याण' मानसाङ्क पृ० १०६०। ४. दे० 'मानस' बाल० ११५.१ 'सगुनहि अगुनहि नहि कहु भेदा।' ५. वही ११४.१-८।

साधन समझ उसीके सहारे अपने इष्टको प्राप्त करना चाहते हैं। 'मानस' रामके सम्मुख ले जानेका अच्छा साधन है—

‘ज एहि कथहि सनेह समंता । कहिहहि सुनिहहि समुझि सचेता ।
होइहहि राम-चरन अनुरागी । कलि-मल-रहित सुमंगल-भागी’ ॥

विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणोंका समन्वय भी 'मानस'की ख्यातिका दूसरा कारण है। यह ऐसे ही मन्व्यवादका परिणाम है कि अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि सभी सिद्धान्तानुयायियोंके बीच 'मानस'की कीर्तिकी मधुर स्वर-लहरी गूँजती हुई कर्णगोचर होती है। इसमें निर्दिष्ट साम्प्रदायिकता इतनी व्यापक और सार्वभौमिक है कि इसमें सभी-सम्प्रदायवालोंको अपने-अपने सम्प्रदायके सत्य मूल तत्त्वकी प्रतिष्ठा मिलती है। फलतः यह अधिकांश सम्प्रदायोंमें आदृत है। शैव और वैष्णव दोनों ही भक्तिपूर्वक इसका पारायण करते हैं। यह बहुतांश दृष्टिमें इसलिए भी सम्मानित है कि इसमें प्राचीन भारतीय हिन्दू-संस्कृति, परम्परा-गत नियम, विश्वास, कि बहुना समस्त भारतीयताके उच्चादशोंके अध्ययनकी सामग्री भी है। लोक-ग्राह्य लोकभाषामें होनेके कारण भी इसकी ख्याति हुई है। गोस्वामीजी अधिकसे अधिक पाठकोंको लाभ पहुँचाना चाहते थे और चाहते थे जगत्का उपकार करना। यही कारण है कि अच्छे संस्कृतज्ञ होनेपर भी उन्होंने 'मानस'का प्रणयन लोकभाषामें ही किया। इसी अभिप्रायसे महात्मा लूथर और टिडेल आदिने भी अपने देशवासियोंके लिए, 'बाइबिल' और 'न्युटेस्टामेण्ट'की रचना देश भाषामें ही की थी। मिस्टन जैसे महान् लैटिन-ज्ञाता कविने भी अधिकांश लोगोंके हितार्थ ही अपनी रचनाएँ प्रचलित देशभाषामें ही की। भाषा ही नहीं, भाषाको काव्यके अप्रतिम सौँचेमें ढली रहनेके कारण भी 'मानस'की ख्याति बहुत बढ़ी है। इसे बड़े-बड़े सहृदयोंने सूक्ष्मसे सूक्ष्म काव्यकी कसौटीपर कस चुकनेपर अद्वितीय स्वीकार किया है। तुलसीदासके महान् व्यक्तित्वसे भी 'मानस'की कीर्तिका विस्तार हुआ है। इसी प्रकार उसमें समाविष्ट लोक तत्त्व, लोक-हित, लोक-गति, लोक-मर्यादा और लोक-व्यवहारके अजब समाने भी उसे लोक-विश्रुत बनाया है।

'मानस'के उदात्त स्वरूपकी संक्षिप्त चर्चा भी इसी सिलसिलेमें हो जानी चाहिए। 'मानस'की ख्याति और उसके स्वरूपकी अतिभव्यतामें बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः इसने जो ख्याति पायी है उसके मूलमें इसके उदात्त स्वरूपका ही श्रेय है। यह उदात्तता एकांगी न होकर सर्वांगीण है। क्या नायक, क्या विषय, क्या भाव, क्या चरित्रांकन, क्या चित्रित वातावरण, क्या रचना-उद्देश्य किसी भी दृष्टिने विचार करनेपर सर्वत्र भव्यता ही भव्यता दिखाई पड़ती है। ग्रन्थकी इस चतुर्दिक् उदात्तताको देख हम कह सकते हैं कि जिस दिन संसार मानवताका पूर्ण रूप समझ लेगा उसी दिनसे 'मानस' अपने उदात्त स्वरूपके कारण विश्वमात्रका अन्टा आदर्श पथ-प्रदर्शक रूपमें स्वीकृत हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। 'मानस'के उदात्त स्वरूपके विषयमें इसके प्रणेताने स्वयं कहा है—

‘संबुक्त भेक सिवार समाना । इहाँ न विषय कथा रस नाना ॥
तेहि कारन आवत हिय हारे । कानी काक बलाक विचारे’ ॥

सारा ग्रन्थ ढूँढ़ डालिये, कोई ऐसा प्रसंग नहीं मिलेगा जो इसके उदात्त स्वरूपके प्रतिकूल हो। ऐसी अतिभव्यताके कारण यह भारतीय होनेपर भी सार्वभौमिक और सर्व-धर्म-समन्वयकारी कहा जा सकता है।

समकालीन समाजपर प्रभाव

तुलसीदासका सामयिक वातावरण नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंके चक्रव्यूहसे घिरा पड़ा था। प्राचीन सनातन धर्मका अभ्युदय ही नहीं रुका था, अपितु वह नाना प्रकारके कुटाराघातोंसे हासको प्राप्त हो रहा था।* ऐसे ही समयमें उस व्यूहके भेदनार्थ मानो गोस्वामीजीने 'मानस' रूप ब्रह्मास्त्रका निर्माण किया। अब विचारणीय है कि उनका समकालीन समाज उनके तेज-पुंजसे कहां तक प्रभावित हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थके 'तुलसीकी जीवन-वृत्त-शिखा' शीर्षक परिच्छेदमें अन्तः साक्ष्योंके द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है। तुलसीदासकी मान-प्रतिष्ठा उनके जीवनकालमें ही बहुत बढ़ गयी थी। इस सम्मान-वृद्धिसे उनकी प्रभावशीलताके अतिरिक्त और क्या प्रकट होता है। उनका समकालीन समाज उनसे प्रभावित हुआ, इसका एक प्रमाण यह भी है कि शैवों और वैष्णवोंका साम्प्रदायिक संघर्ष पूर्ण रूपसे नहीं तो अंशतः ठण्डा ही पड़ गया। शैवोंमें अग्रगण्य मधुसूदन 'सरस्वती'ने जिन शब्दोंमें तुलसीदासकी प्रशंसा की वह देखने योग्य है—

“आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।

कविता मञ्जरी यस्य राम-भ्रमर भूषिताः॥”

उत्कट शैवके मुखसे ऐसी प्रशंसा सुनकर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि अपने समकालीन विचारशील शैवोंके हृदयमें भी गोस्वामीजीने स्थान पा लिया था।

गोस्वामीजीके लिए अपना सम्मान प्रकट करनेके लिए नाभादासजीने जो छप्पय रचा है उसकी पहली पंक्ति 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वात्मीकि तुलसी भयो'। उनका उज्ज्वल कीर्ति और प्रताप साथ ही प्रभाव भी सूचित करती है। वस्तुतः अपने समसामयिक समाजपर उनका प्रभाव इतना अवश्य बढ़ गया था कि लोगोंने उन्हें वात्मीकिके अवतारके रूपमें स्वीकृत कर लिया था। यह बात अन्तःसाक्ष्यसे भी इसी ग्रन्थमें प्रथम परिच्छेदमें प्रमाणित की जा चुकी है। रामके प्रेमी भक्त-जन जिनके हृदयमें राम-भक्तिका मधुर स्रोत प्रवाहित होता रहा अपने उन सभी सम-सामयिक व्यक्तियोंपर तुलसीदासका प्रभाव अवश्यमेव पड़ा, कदाचित् इस ओर संकेत करनेकी आवश्यकता नहीं।

तुलसीदासका समकालीन समाज प्राचीन परम्पराओंको भंगकर पतनकी ओर बढ़ा जा रहा था; उनके सम-सामयिक नाममात्रके ज्ञानी प्रचारक और सुधारक लोग प्राच्य सिद्धान्तोंपर कुटाराघात करके स्वनिर्मित पन्थोंका पाठ पढ़ा रहे थे; उनकी सामयिक कतिपय उपासना-पद्धतियाँ अनधिकारी साधकोंके प्रमादवश अनाचारमय हो गयी थीं; उनके युगका शासक वर्ग प्रजाका शोषण करता और उसे दण्डके शिकंजेमें जकड़े था। तुलसीदासने एक ओर इन सभी दानवीय लीलाओंकी कड़ी आलोचना की और दूसरी ओर उन सबके हितार्थ उनके समक्ष भव्य आदर्श उपस्थित किये। अस्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब गोस्वामीजीके प्रभावसे अछूते रहे।

इतिहासके अनुशीलनसे पता चलता है कि जहाँ तुलसीके पूर्ववर्ती यवनोंके शासन-कालमें संस्कृत-नाटकोंके अभिनयादिका प्रायः लोप-सा हो गया था, वहीं रास-लीला पराधीन हिन्दुओंका जैसे-तैसे मनोरंजन करा रही थी। अकबरके समयमें भी हिन्दुओंके बीच रास-लीलाका प्रचलन भलीभाँति था। गोस्वामी-

*तुलसीके सामयिक समाजका हासोन्मुख चित्र पीछे 'तुलसीकी समकालीन परिस्थितियाँ' शीर्षक परिच्छेदमें भलीभाँति दिखाया गया है।

१. दे० 'भक्तमाल' छप्पय १२२।

जाँको रास-लीलासे संताप नहीं हुआ और उन्होंने रामलीलाकी स्थापना की। समाजने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह भी सामान्य प्रभाव नहीं।

रामलीलाको प्रोत्साहन

रामिक प्रकाश भक्तमाल के आधारपर कहा जाता है कि गोस्वामीजीके पहले भी रामलीला होती थी। उस लीलाके प्रवर्तक थे मेघा भगत। इन्होंने भगवान्‌के दर्शन पानेके लिए अनशन व्रत किया और उनको स्वप्नमें आज्ञा हुई कि साक्षात् दर्शन तुल्य है, तुम मेरी लीलाका अनुकरण करो। तभीसे मेघा भगतने पहले-पहल रामलीलाका सूत्रपात किया। मेघा भगतके समयकी लीला इस समय काशीमें चित्रवृत्त-की लीलाके नामसे प्रसिद्ध है। वही लीला प्राचीन है। पर 'मानस'को गा-गाकर उसके अनुसार रामलीला करनेकी जो प्रथा हम देखते हैं उसका प्रचलन तो तुलसीदासके समयसे ही मानना होगा। आज भी वह तुलसीदासजीकी रामलीलाके नामसे विख्यात है। प्रत्येक वर्ष नवंबरके महीनेमें काशीके अस्सीपर हुआ करती है। तुलसीदासके समयसे रामलीलाका जो स्वरूप चला वह शनैः-शनैः उत्तराप्रथके सभी भागोंमें प्रचलित हो गया। आये दिन भारतके अधिकांश प्रदेशोंमें रामलीला किसी-न-किसी रूपमें पहुँच चुकी है। काशी और काशिराजके रामनगरकी तो बात ही निराली है। काशीका हरक महाल किसी न किसी रामलीलाके लिए प्रसिद्ध है। नाटी इमलीका भरत-मिलाप, चैतगंजकी नककटैयाकी भाँति अन्य मुहूर्त्तोंकी कोई-न-काँई रामलीला प्रसिद्ध है। धर्म-प्राण काशिराजके रामनगरमें रामलीलाकी धूम यों तो महीने भरतक मची रहती है, पर यहाँकी दशमी विख्यात है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पंजाब आदि प्रदेशोंमें रामलीलाका प्रचार विशेष रूपसे है। राजस्थानके मध्य मानस और रामलीला दोनोंका प्रचार नगण्य-सा है। महाराष्ट्र आदिके पाण्डुरंगके उपासकोंके बीच अभीतक रामलीलाका प्रभाव नहीं पहुँच सका है। यही बात सुदूर दक्षिणके शैवा और वैष्णवों तथा पूर्वके आसाम और उत्तरके कश्मीर प्रभृति स्थानोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। अन्तमें, हमें यह न भूलना चाहिये कि उन प्रान्तोंमें जहाँ हिन्दी भाषाका विशेष प्रचार नहीं है, उनमें भी तुलसीकृत 'रामचरित मानस'में वर्णित रामलीलाका प्रचार राम लीला मण्डलियोंके द्वारा किसी-न-किसी अंशमें पहुँच गया है। चलते-फिरते रंगमंचपर नाटक खेलनेवाली थिएट्रिकल कम्पनियोंकी भाँति रामलीला मण्डलियाँ भी रंगमंचपर नाटकीय ढंगसे मुख्य रूपसे रामलीला करती हैं और कभी-कभी काँई सामाजिक या सांस्कृतिक नाटक भी खेलती हैं। इन मण्डलियोंका दौरा राजस्थान, आसाम तथा दूरस्थ दक्षिणमें भी यदा-कदा होता रहता है। रामलीला मण्डलियोंको सिनेमा-घरोंकी बढ़के कारण समुचित प्रोत्साहन न मिलनेसे उनकी संख्यामें यथोचित वृद्धि नहीं हो पायी, फलतः इन मण्डलियोंके द्वारा रामलीलाका व्यापक प्रचार नहीं हो पाया है।

परवर्ती समाजपर प्रभाव

गोस्वामीजीके प्रभाव-प्रभातकी काचनाम किरणें यद्यपि उनके जीवनकालमें ही प्रस्फुटित हुईं तथापि इनकी प्रखर ज्योति उनके परवर्ती समाजपर पड़ी। आज वे अपने परम रमणीय काव्य-कौशलके सहारे 'मानस' के रूपमें अमर होकर करोड़ों मनुष्योंपर अपना प्रभाव जता रहे हैं। 'मानस' असंख्य प्राणियोंके कल्याण-साधनका अद्वितीय सोपान बन रहा है। इसमें निर्दिष्ट पथावलम्बनसे न जाने कितनोंका उद्धार हो गया; न जाने कितने अज्ञान-तिमिरान्ध उरोंमें शानोदय हो गया और न जाने कितने गये-बीते भी मन्मार्गपर आ गये। यह तुलसीदासका प्रभाव ही है कि प्रत्येक वर्ष देशके अनेकानेक भागोंमें कहीं रामलीलाएँ होती हैं, कहीं मानस-सम्मेलनोंकी व्यवस्थाके माध्यमसे एकसे एक बढ़कर मानस-मर्मज्ञ विद्वानोंके

व्याख्यान होते हैं, कहीं मानस-नवाह-पाठ महायज्ञकी योजना चलती है तो विविध क्षेत्रोंमें असंख्य श्रद्धालु व्यक्ति व्यक्तिगत रूपसे मागसके नवाह पाठमें संलग्न दिखाई पड़ते हैं: 'मानस'के ऐस्ते प्रेमियोंकी भी कमी नहीं है जो प्रतिदिन उसका पाठपाठ करते हैं: मानसपर प्रवचनोंकी व्यवस्था तो स्थान-स्थानपर होती ही रहती है; शिक्षा-संस्थाओं द्वारा अध्ययनके लिए रखे गये पाठ्यक्रमोंके बीच भी मानसकी पूछ है। तभी तो कहीं छोटी-बड़ी कक्षाओंके छात्र अपनी पाठ्य पुस्तकोंमें मानससे गृहीत अंशोंकी तैयारी करते हैं तो कहीं पी-एच० डी० या डी० लिट्० की उपाधिक लिए प्रबन्ध प्रस्तुत करनेवाले गंशोधक विद्वान् मानसकी थाह लगानेकी अप्रतिहत चेष्टा करते हैं। माधु महात्माओंके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। उनके समागममें तो 'मानस'की विशेष चर्चा होती ही है। एकांत सेवी साधक भी इसका चिंतन करते हैं। पाण्डित्य प्रदर्श-नार्थ विद्वन्मण्डलीके बीच भी मानसपर ऊहापोह होता है। इस प्रकार 'मानस'के प्रभावका क्षेत्र बहुत व्यापक है।

'रामचरित मानस'का शती-समारोह मनानेकी योजनाएँ भी उसके असाधारण प्रभावका प्रकट करती हैं। हमारे युगमें 'मानस'की चतुश्शती सं २०३१ में पड़ती है। उसके लिए सारा राष्ट्र सजग है। बड़े-बड़े विद्यालय या विश्वविद्यालयोंके हिन्दी विभाग, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारें रामचरित मानस चतुश्शती समारोह मनाकर कृत-कृत्य होना चाहती हैं। एतदर्थ अनेक समितियाँ बन चुकी हैं और हरेकके संयोजक महोदय मानस चतुश्शतीके पुनीत अवसरपर अधिकारी सहृदयोंके विचार कुसुमोंको सजाकर तुलसीदासके व्यक्तित्व और कृतित्वपर मानक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित करनेके प्रयासमें जुटे हैं। आशा है दिल्लीकी 'रामचरित मानस चतुःशती राष्ट्रीय समिति', उत्तर प्रदेश सरकारकी 'मानस चतुश्शती समारोह समिति' अथवा इसी प्रकारकी देशकी अन्यान्य समितियाँ तुलसीदासके सार्वभौम प्रचार तथा व्यापक अध्ययन-अनुशीलनमें योगदान अवश्य करेंगी; तुलसी-साहित्यके प्रेमी और अध्वेताओंको प्रशस्त मार्ग दिखाकर कविके वास्तविक मूल्यसे अवगत करायेंगी।

अपने परवर्ती समाजपर गोस्वामीजीने जो प्रभाव छोड़ा है उसे बढ़ा-चढ़ाकर कहनेकी अपेक्षा नहीं। यह उनके प्रभावका ही फल है कि प्रत्येक वर्ष सहर्ष हम उनकी जयन्ती मनाते और स्वयं कृतार्थ होते हैं। राम-भक्तिके विकासके साथ ही राम-भक्तोंकी उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या भी क्या तुलसीदासके प्रभावसे बची होगी ?

तुलसीदासने राम-नामका माहात्म्य सर्वांगपरि टहराया है; नामको ही सगस्त यज्ञोंका उपादान बताया है। उनके परवर्ती समाजके बहुत बड़े अंशने राम-नाममें पूर्ण आस्था प्रकट की है। आज जब कि रणचण्डी अपने दोनों हाथोंमें खप्परें लेकर अपनी जिह्वा लपलपाती हुई निरीहोंका रक्तपान कर रही है: आज जब कि दानवता अपने अत्याचारोंकी बह्नि प्रज्वलित कर मानवताको क्षार करनेपर तुली है—इस संकटाकीर्ण कालमें तुलसीदासके प्रभावके कारण ही हमारे देशके कोने-कोनेमें अखण्ड महासंकीर्तन-यज्ञका स्वर निनादित होता रहता है। सम्प्रतिक भारतमें अखण्ड-संकीर्तनकी सक्रियता व्यक्त करनेके लिए मैं प्रभुदत्त ब्रह्मचारीके प्रारम्भिक भाषणका यह परचा जो बत्तीस वर्ष पहले त्रिवेणी तटके संकीर्तन धामपर किये गये 'अखण्ड-महा-संकीर्तन-यज्ञ'के अवसरपर छपा था, उसके कुछ अंश अविकल रूपमें उद्धृत करता हूँ—

'संवत् २००० की शिवरात्रिसे इस महान् यज्ञका आरम्भ हो गया था। दस दिनोत्तक प्रयागकी संकीर्तन मण्डलियोंने चलाया और दस दिनसे अब भारतवर्षकी भिन्न-भिन्न मण्डलियों चला रही हैं। दो दिनसे मण्डलियोंको थोड़ी-थोड़ी देर, दस-दस, पाँच-पाँच मिनट इस पण्डालमें संकीर्तन हो रहा है जिससे समस्त मण्डलियोंका परिचय हो जाय, किन्तु मण्डलियाँ इतनी अधिक आयी हैं कि उनको यज्ञ-पण्डालमें

पूरा समय देना असम्भव है। '.....' भागलपुर, पूर्णिया, छपरासे लगभग पैंसठ मण्डलियाँ आयी हैं जिनमें आठ सौ भक्त हैं। गुंडुके 'श्री सीताराम संघ' से भी बहुतसे भक्त पधारे हैं; बंगालसे, महाराष्ट्रसे, राजपुताना, मध्य भारत, ब्रज मण्डल तथा अन्य प्रान्तोंने भी बहुत संकीर्तन मण्डलियाँ आयी हैं। '.....' अखण्ड संकीर्तनको भक्तजन धूमधामसे चला रहे हैं। ब्रह्म मण्डलके समस्त पण्डित महासूत्र यागको बड़े प्रेम और लगनसे कर रहे हैं। भागलपुरकी 'मानस-प्रचार-मण्डली' कितने उत्साहसे अखण्ड रामायण-कीर्तन गाजे-वाजे और धूमधामसे कर रही है। श्री अयोध्याजीकी सुप्रसिद्ध रामलीला मण्डली भी अपनी भावमयी लीलासे भक्तोंको आनन्दित कर रही है। '.....'।

भारतवासियोंकी एक बहुत बड़ी संख्या संकीर्तनमें तल्लीन है, इसका आभास अवतरणसे मिल गया होगा। आज कितने ही सांख्यिक भक्तगण वस्तुतः "हरे राम ! हरे राम ! राम ! राम ! हरे ! हरे !" की प्रतिध्वनिसे गगन भेदकर रामको रक्षाके लिए बुला रहे हैं। यह किसकी बताई युक्ति है ? कहना नहीं होगा—यंत तुलसीदासकी। इस युक्तिको राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने अपने जीवनके अन्तिम क्षण तक नहीं छोड़ा। भारतीय संस्कृतिके संरक्षणका यह ब्रह्मान्न उसकी सदैव रक्षा करेगा।

कला क्षेत्रमें प्रभाव

तुलसीदासने, अपनी उत्कट साधना, गंभीर शान्त्रानुशीलन, विलक्षण कारयित्री प्रतिभा और अपरिमित लोक-व्यवहार-निपुणताके बलपर, जो रमणीय साहित्य-क्षेत्र तैयार किया वह वेजोड़ है। उनके अलभ्य साहित्यिक उपहारको प्राप्तकर हिन्दी काव्य उससे अप्रभावित कैसे रह सकता था। तुलसीदासके रामचरित-मानका आलोक उनके समयमें ही इतना प्रखर हुआ कि केशवदास जैसे दरबारी कविमें भी 'रामचंद्रिका' लिखनेकी उत्कंठा जगी। पर, सामान्यतः बहुत काल तक कलावानोंकी सृष्टि सोती रही। कालांतर में कितने ही कवियोंने राम-कथा लेकर गोस्वामीजीकी रचनाओंका अनुकरण किया। भले ही उन अनुकरण कर्त्ताओंकी कृतियाँ तुलसीदासकी कृतियोंके सामने ख्याति न पा सकीं, पर यह तो निर्विवाद है कि गोस्वामीजीसे प्रभावित होकर ही उन लोगोंने रामायणोंकी रचनाएँ बढ़ाई। रीतिकालके घोर शृंगारी युगमें भी महाराज विश्वनाथ सिंहने अपनी अनेकानेक रचनाओंके अतिरिक्त 'रामायण', 'गीता रघुनन्दन प्रामाणिक', 'रामचन्द्रकी सवारी', 'आनन्द रामायण' प्रभृति ग्रंथोंकी रचना की। ललकदासके 'सत्योपाख्यान'^१ में रामकथाका अच्छा विस्तार है। नवलसिंह कायस्थके 'रामचन्द्र विलास', 'अध्यात्म रामायण', 'रूपक रामायण' और 'रामायण सुमिरनी'^२ आदिके वर्ण्य-विषय भी उनके नामसे ही प्रकट हैं। 'भारतेन्दु' के पिता बाबू गिरधरदास भी अपनी विविध कृतियोंसे संतुष्ट न रहे और उन्होंने 'अद्भुत रामायण' ही लिखकर अपनी लेखनीको पवित्र किया।^३ इधर बीसवें शतकमें भी रामचरित विषयक रचनाओंकी सृष्टि प्रचुर परिमाणमें हुई है। इस युगमें अयोध्याके बाबा रघुनाथ दास और महन्त रामचरणदासकी रचनाएँ तो हुई हीं, महाराज रघुराज सिंहका 'राम स्वयंवर' (सं० १९२६) वर्णनात्मक प्रबंध काव्य अच्छी तरह प्रतिष्ठित हुआ। अयोध्याके पंडित रामनाथ ज्योतिषीका 'राम चन्द्रोदय', पं० रामचरित उपाध्यायका 'रामचरित-चिन्ता-मणि' सदृश रत्न भी निर्मित हुए। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणमुक्तकी लघुकृति 'पंचवटी' या बृहद

१. दे० रामचन्द्रशुक्ल : 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' (नवीन संस्करण) पृ० ३७७। २. वही, ४१९। ३. वही, ४२१। ४. दे० 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' नवीन संस्करण पृ० ४३२। ५. वही, १६९। ६. वही, ६४३।

कृति 'साकेत' तथा कवि सम्राट् 'हरिऔध' का 'वैदेही वनवास' भी इसी युगकी देन है। राधेश्याम कृत रामायण गायकोंका मनोरंजन अलग ही करा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामसाहित्य हिन्दी काव्यमें अभी तक प्रोत्साहित होता चला जा रहा है। तुलसीदासके पश्चात् रामसाहित्यका जो विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत हुआ है वह उनके प्रभावसे वचित नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास के विस्तृत काव्य-क्षेत्रमें 'हनुमान् वाहुक' का विशिष्ट स्थान है। इसके आधार पर भी उनके अनेक अनुयायी कवि हुए हैं। तभी तो हनुमत् चरित्रको लेकर भी बहुत सी रचनाएँ हुई हैं। जैसा कि अनेकानेक हनुमत् पच्चीसियों, छवीसियों और पंचकोंसे अवगत होता है।

तुलसीदासकी रामभक्ति धारासे काव्यकी कई पदतियोंको प्रेरणा मिली। इनमें भी प्रबंध-पद्धति तो पूर्णतया सनाथ हो गयी। इसकी ओर कतिपय कलाकारोंका मन विशेष रूपसे लगा। गोस्वामीजीके पूर्व यद्यपि जायसीने दोहा-चौपाईमें ही अपना प्रबंध रचा था, पर जायसीको आदर्श मान कोई प्रसिद्ध कवि चला हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। किर्त्तने न उनके टेंटको ही अपनाया, न उनके मसनवी ढर्रे ही को। इसके विपरीत, तुलसीदासकी साहित्यिक अवधी और उनका दोहा-चौपाईका क्रम न जाने कितनोंने ग्रहण किया। मंचित कृत 'कृष्णायन' तुलसीदासके रामायणके अनुकरणपर दोहा-चौपाईमें लिखा गया, कविने तुलसीदासकी पदावली तकको ग्रहण किया है। मधुसूदनदासने अपने बड़े और मनोहर प्रबंध काव्य 'रामाश्वमेध' में तो गोस्वामीजीकी शैलीका इतना गहरा अनुगमन किया है कि उक्त ग्रन्थ सत्र प्रकारसे 'मानस' का परिशिष्ट होने योग्य है। 'इस ग्रन्थमें प्रधानता दोहेके साथ चौपाइयोंकी है, पर बीच-बीचमें गीतिका आदि और छन्द भी हैं। पद-विन्यास और भाषा-सौष्ठव 'रामचरित मानस' का-सा ही है। प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधीके रखे गये हैं। गोस्वामीजीकी प्रणालीके अनुकरणमें मधुसूदनदासको पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबंध-कुशलता, कवित्व शक्ति और भाषाकी शिष्टता तीनों उच्च कोटिकी हैं। इनकी चौपाइयाँ अलवत्तः गोस्वामीजीकी चौपाइयोंसे बेखटके मिलायी जा सकती हैं।' तुलसीदासकी प्रबंध शैलीके अन्य अनुकरण-कर्त्ताओंका उल्लेख स्थानाभावके कारण अनावश्यक समझ छोड़ा जाता है।

तुलसीदासके पूर्ववर्ती, सामयिक अथवा परवर्ती कवियोंमें प्रायः सभीने भाषाके साथ बराबर बर-जोरीकी और रह-रहकर उसके अङ्ग-अङ्ग मसल डाले और बेचारी उस कोमलंगीको विकलांगी बनानेमें वे सबके सब तनिक भी न हिचके, पर हमारे गोस्वामीजी ऐसा करनेवाले न थे। वे तो असामान्य भाषानायक थे। उन्होंने अवधी और ब्रजि दोनों भाषा-नागरियोंके साथ अपना ऐसा गूढ़ सम्बन्ध रखा कि दोनोंने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पितकर दिया। उन्होंने दोनोंको उच्चातिउच्च स्थान देकर ग्रहण किया। दोनोंकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म प्रवृत्तिका मान रखते हुए, उनके अंग-प्रत्यंगकी सुषमा बढ़ायी। दोनोंके लावण्यमय स्वरूपका अनोखा प्रतिमान स्थापित किया। ब्रजभाषा प्रकृतितः सामासिक पदोंसे हिचकती थी, पर जब वह तुलसीदासके समीप गयी तो उसने अपनी रुचिमें यथेष्ट परिष्कारकर लिया; वह समासयुक्त पदावलीमें भी अपनी मंजु झटलाहट दिखाने लगी। 'विनयपत्रिका' के पचासों पदोंमें एकसे एक बढ़कर संस्कृत गभित सामासिक पदावली प्रयुक्त हुई है। गोस्वामीजीकी इस प्रवृत्तिका प्रभाव ब्रजभाषाके जगन्नाथदास 'रत्नाकर' सदृश कवि रत्नोंपर तो पड़ा ही है, आये दिन खड़ी बोलीके अनेक महान् कवियोंने भी सामासिक पदावलीका आधिपत्य स्वीकारकर लिया है। तुलसीदासने अपनी ब्रजभाषाकी रचनाओंमें कुछ पूर्वी प्रयोग भी

कर दिये हैं। फलतः उनके परवर्ती कवियोंमें भी यह प्रवृत्ति निरादृत नहीं हुई। भाषाकी सफाईकी दृष्टिसे घनानन्द और 'रत्नाकर' दोनों ही व्रजभाषाके अद्वितीय कवि माने जाते हैं, पर इन दोनोंकी रचनाओंमें भी पूर्वी प्रयोग का अभाव नहीं। यह भी तुलसीदासका प्रभाव कहा जाये तो कोई अनुचित नहीं।

यद्यपि कवि अपनी कविशक्ति के साथ अवतीर्ण होता है, पर इस शक्तिको पूर्णतया आलोकित करनेके लिए उसे कई अन्य साधनोंके साथ उत्तमोत्तम कवियोंकी रचनाओंका अनुशीलन भी करना पड़ता है। कहना नहीं होगा कि तुलसीदासके अनुशीलनसे न जाने कितने कवियोंकी कारवित्री प्रतिभाकी पुष्टि हुई। इसी प्रकार उनका प्रभाव हमारे समीक्षकोंपर भी कम नहीं पड़ा। औरोंकी तो बात ही छोड़िए, आचार्य रामचन्द्रयुक्त जैसे उत्कट समालोचककी भाववित्री प्रतिभा तुलसीदासके रंगमें इतनी रंग उठी है कि उन्होंने अपनी रामस्त आलोचनाओंका प्रतिभान मानो तुलसीदासकी रचनाओंसे गृहीत तत्त्वोंसे ही प्राप्त किया है।

रामचरित मानसकी टीकाएँ

तुलसीदासका प्रभाव 'मानस' की विविध टीकाओंसे भी प्रकट होता है। इन विभिन्न टीकाओंका देशी-विदेशी सभी भाषाओंमें अम्बार-सा लगा हुआ है। हिन्दी साहित्यमें ऐसा कोई अन्य कृतिकार नहीं है, जिसके ग्रंथकी लोकप्रियता इतनी बड़ी हो कि उसपर भी 'मानस' की भाँति पचासों टीकाएँ हो चुकी हों और उत्तरोत्तर होती जा रही हों। भारतीय भाषाओंमें प्राप्त मानसी टीकाओंकी रचना करनेके पूर्व विदेशी भाषाओंमें उपलब्ध अनुवादोंको लीजिए। विदेशी भाषाओंमें अंग्रेजीने सर्वप्रथम मानसका अनुवाद करने का यशार्जन किया। अंग्रेज अनुवादकोंमें ग्राउज, मैक्फी, डगलस, हिल तथा ए. जी. एटकिन्सका नाम बड़े आदरसे लिया जा सकता है। इनमें भी एटकिन्स और भी प्रशंसनीय है, क्योंकि उन्होंने पद्यानुवाद किया है। इस पद्यानुवादकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रूपान्तरकारने 'मानस' के मूल छन्दोंको अंग्रेजी के तदनुसारी छंदोंमें उतारा है। अंग्रेजीके अतिरिक्त फ्रांसीसी और रूसी भाषाएँ भी मानसका अनुवाद करके कृतकृत्य हुईं। सोवियत रूसमें 'मानस' में वर्णित रामराज्यकी महिमाको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। समूचे 'मानस' का रूसी भाषामें अनुवाद करके सोवियत संघके लेखक स्व० ए० वारान्निकोवने उस क्षेत्रकी जनताको आकृष्ट किया है। वारान्निकोवका मानसका अनुवाद पद्यबद्ध अनुवाद है। इस रूसी भाषाई पद्यबद्ध अनुवादके पूर्व लियो टालस्टायने रामायणकी विशेषताओंसे रूसी जनताको अवगत करा दिया था। उन्होंने अपने पत्रों तथा डायरीमें रामायणके बुद्धिमत्तापूर्ण कथन उद्धृत किये हैं। उनकी इच्छा थी कि प्राचीन भारतका साहित्य अपने कलात्मक रूपमें रूसी पाठकोंके हृदय तक पहुँचे। वारान्निकोवने दस वर्षों तक सतत् परिश्रम करके स्व० डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सन् १९४८ में प्रकाशित हुआ। 'रामायणके अँग्रेजी तथा फ्रांसीसी अनुवादके माध्यमसे अमेरिकामें रामकथाका प्रचलन हुआ। उत्तरी अमेरिकामें पहले 'राम-सितोवा' नामक एक उत्सव मनाया जाता है जो पेरुविया साहित्यपर रामायणकी स्पष्ट छाप है। दक्षिणी अमेरिकाके त्रिनिनाद तथा गायनाके प्रवासी भारतीय रामकथाका अभिनय करते हैं जिसे वहाँकी जनता उत्सुकतासे देखती है। स्पष्ट है कि रामकथा एवं रामचरितने सभ्यता एवं संस्कृतिमें पूर्व देशोंसे उन्नत होनेका दंभ भरनेवाले पश्चिमी देशोंको प्रभावित किया है। यद्यपि पश्चिमी लेखकोंने रामकथामें कतिपय अप्रासांगिक बातोंका भी समावेश किया है, पर उन्होंने किसी न किसी रूपमें मर्यादापुरुषोत्तमको स्मरण तो किया है। इस प्रकार वे पश्चिममें भी लोकप्रिय होते जा रहे हैं।''

१. साप्ताहिक 'धर्मयुग' पृ० ५३ दिनांक १५ अक्टूबर, सन् १९६१ में प्रकाशित डा० उदय-नारायण सिंह द्वारा प्रकाशित लेखसे गृहीत।

भारतकी भाषाओंमें हिन्दीकी अनेकानेक टीकाओंके अतिरिक्त संस्कृत, उड़िया, बंगला, गुजराती तथा मराठीमें भी 'मानस' के अनुवाद हुए हैं। गुजराती टीकाके कर्त्ता हैं—छोटा लालचन्द्रशंकर शास्त्री। इस टीकाका प्रकाशन 'मन्त्रु साहित्यवर्षक कार्यालय', अहमदाबादमें हुआ है। मराठी टीकाके रचयिता हैं—श्रीमंत यादवराजराजराव। इनकी टीका पूनासे सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुई थी। गुजराती और मराठी दोनोंकी उक्त टीकाएँ मध्यम हैं। बंगलामें कई अनुवाद हुए हैं और वे पद्यमें हैं। इनमेंसे 'तुलसी चरितामृत' नामके प्रकाशित प्रसिद्ध अनुवाद तथा कुछ अन्य अनुवादोंका परिचय स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठीने दिया है। उड़ियामें 'मानस' के चार अनुवाद हुए हैं। इन चारोंके कर्त्ता थे—गोविन्द साव, स्वर्गियाके राजा नीरविक्रम सिंह, रामप्रसाद सिंह बोह्रिदारके बड़े भाई और पं० स्वप्नेश्वरदाम्। 'मानस' का उत्तम संस्कृत अनुवाद महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदीने सम्पन्न किया।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन विविध भाषा-भाषियोंके बीच तुलसीदासका प्रभाव 'मानस' के इन अनुवादों द्वारा किसी न किसी रूपमें अवश्य ही पहुँचा होगा।

अब रही 'मानस' की हिन्दी टीकाओंकी बात। हिन्दीकी इन टीकाओंको दो श्रेणियोंमें विभाजित किया जा सकता है। पुराने ढंगकी तथा नये ढंगकी टीकाएँ। प्रथम वर्गकी टीकाओंके प्रसिद्ध टीकाकार हैं—ज्ञानी संतमिहजी, कुर्मा वैजनाथजी, पाटक शिवलालजी, परमहंस हरिहरप्रसादजी, मुंशी शुक्रदेवलाल तथा महन्त रामचरणदासजी आदि। उक्त टीकाकारोंकी टीकाओंमें उनकी विभिन्न शैलीके स्वरूपपर दृष्टि डालनेसे कुछ विशेष बातें दिखाई पड़ती हैं। इनकी भाषा प्रांतिकतासे पूर्ण है। यदि संतसिंहकी टीकाकी भाषा पंजाबी मिश्रित है तो वैजनाथ या बाबा रामचरणकी पण्डिताऊपनसे ओतप्रोत है। फलतः इन्हें समझनेमें उतनी सरलता नहीं होती। इन टीकाओंमें भाषाके भावकी पुष्टिके लिए आर्प ग्रन्थों पुराणादिके श्लोक भी यत्र-तत्र उद्धृत किये गये हैं। इनमेंसे कुछ ऐसी टीकाएँ भी हैं जो संस्कृतके अवतरणोंके बाहुल्यके साथ एक सीधे-सादे अर्थको नीच-तान करके स्पष्ट करनेकी जगह दुरुह बना बैठती हैं। कुछ टीकाकारोंने तुलसीका भाव प्रतिपादित करनेके लिए अपनी रचनाएँ पेश कर दी हैं। उन्हीं टीकाओंमें कुछ ऐसी भी हैं जिनमें मानसके कुछ अलंकारों और छन्दोंका भी संकेत है।

दूसरे वर्ग अर्थात् नवीन ढंगके टीकाकारोंमें विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० रामेश्वर भट्ट, श्री रामप्रसाद शरण, पं० विनायक रावजी, श्री रणबहादुर सिंह, डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० महावीर मालवीय, श्री जनकमुताशरण शीतलासहाय सावंत, पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा पं० देवनाशरण द्विवेदी आदि सज्जनोंके नामोलेखनीय है। इन नवीन शैलीके टीकाकारोंकी भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। 'मानस'की अधिकसे अधिक जानकारी करानेमें जितनी उपयोगी श्री जनकमुताशरण शीतलासहाय सावंतकी 'मानस पीयूष' है उतनी अन्य टीका नहीं। इस टीकामें टीकाकारने एक-एक शब्दपर विचार किया है। पहले छन्दका शब्दार्थ दिया है, फिर नीचे पूरे छन्दका सरल सुबोध भाषामें अर्थ किया है। यही नहीं, इसके फुट नोट और टिप्पणियोंमें बहुत-सी बातें सन्निविष्ट हैं। कहीं किसी प्रसंग विशेषमें अन्यान्य टीकाकारोंके विचार उल्लिखित हैं, तो कहीं तुलसीदासकी ही अन्य रचनाओंसे भावका प्रतिपादन करनेके लिए आर्प ग्रन्थोंकी उक्तियाँ भी नोटमें दी गयी हैं। अलंकारोंका निर्देश भी जहाँ-तहाँ है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रकी 'संजीवनी' टीका जनसामान्यमें यथेष्ट ख्याति पा चुकी है। टीका भी अच्छी है। इसमें श्लेषक भी

१. देखिए 'तुलसीदास और उनकी कविता' पहला भाग पृ० २६४।
२. वही, २६२-६३।
३. 'कल्याण' भाससांक भाग १ पृष्ठ ९०८।

समाहत हुए हैं। रामेश्वर भट्टकी 'पावूप धारा' भी श्लेषक युक्त है। ऊपर इंगित अन्य टीकाकारोंकी टीकाओंमें श्लेषकका अभाव है। रणवहादुर सिंहकी टीकाकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें 'मानस' की प्रत्येक पंक्तिको किसी न किसी संस्कृत ग्रन्थकी उक्तिसे मिलानेका प्रयत्न आग्रह और जबरदस्त प्रयास है। डॉ० श्यामसुन्दरदास और पं० रामनरेश त्रिपाठीकी टीकाओंकी बड़ी विशेषताएँ हैं उनकी विस्तृत भूमिकाएँ। अर्थ करनेका ढंग साहित्यिक और सरल है। नवीन शैलीके टीकाकारोंमें वेनायक रावकी टीका अपना एक निरालापन रखती है। वह कथावाचकोंके लिए अधिक उपयोगी कही जा सकती है क्योंकि इसमें प्रत्येक प्रसंगपर हिन्दीके अन्य कवियोंके छन्द और गाने दिये गये हैं। प्रत्येक काण्डके अन्तमें एक 'पुरौनी' दी गयी है जिसमें काण्ड भरकी शंकाओंका समाधान तथा अन्य ज्ञानव्य बातें समाविष्ट कर दी गयी हैं।

मानसके कुछ ही अंशोंपर टीका करनेवाले टीकाकारोंका भी एक अच्छा नवीन वर्ग है। इसके अन्तर्गत प्रयाग बाँधपरके परमहंस नागा दावा, पं० शिवरत्न शुक्ल, श्री राजवहादुर लमगोड़ा, पं० विजयानन्द त्रिपाठी आदिके नाम आते हैं। पं० बंदन पाठक तथा पं० रामकुमारजीके टिप्पणी, श्री रामदास गौड़ तथा लाला भगवानदीनके नोट्स, श्री वल्लभाशरणजी एवं रामबालकदासजी सहस्र महात्माओंकी वचनावली आदि भी आंशिक टीकाएँ हैं। अन्य टीकाओं और आंशिक टीकाओंके नामोल्लेखका अवकाश नहीं। प्रायः हिन्दीके जितने भी अच्छे प्रेस हैं सभीने अपने यहाँसे 'मानस'की कोई न कोई टीका प्रकाशित करनेका प्रयास किया है। 'गीता प्रेस' गोरखपुरका तो कुछ कहना ही नहीं। उसने तो तुलसीकी प्रायः सभी रचनाओंकी टीकाएँ निकाली हैं। टीकाओं और आंशिक टीकाओंकी इस संक्षिप्त चर्चाके पदचातु हमारा ध्यान डॉ० सूर्यकान्त शास्त्रीके "इण्डेक्स वर्गोरम आव् दी तुलसी रामायन"की ओर जाता है। यह सूची अपने ढंगकी पहली चीज है। आधुनिक अध्ययनकी परिपाटीके लिए ऐसे 'इण्डेक्स'की उपयोगिता और उपादेयता सामान्य नहीं। यह सूची 'मानस'के उस संस्करणपर अवलम्बित है जिसे 'इण्डियन प्रेस'ने प्रकाशित किया और जिसपर डॉ० श्यामसुन्दरदासकी टीका है।

अन्तमें इन टीकादि ग्रन्थोंके महत्त्वको दृष्टिमें रखते हुए इतना तो निर्विवाद रूपसे कहा ही जा सकता है कि ये सबके सब तुलसीदासका प्रभाव तो बताते ही हैं, इसके अतिरिक्त उनके सिद्धान्तोंके प्रचारमें भी किसी न किसी रूपमें सहायक हैं, इनके द्वारा 'मानस'को भलीभाँति समझ लेनेपर हमारी आलोचनात्मक प्रज्ञा विशेष सचेत होकर कार्य करती है। यद्यपि प्रत्येक तिलकमें कुछ ऐसे भाव भी हैं जो सामान्यतः टीक नहीं जँचते तथापि उनमें उत्तमोत्तम भावोंकी भी कमी नहीं है। बहुतसे ऐसे गूढ़ भाव भी हैं जहाँतक सामान्य बुद्धिका प्रवेश नहीं। इन टीकाकारोंने विद्यार्थीकी भाँति ग्रन्थका मनन किया, हमारे लिए छानबीन करनेका मार्ग सुगम कर दिया। आज यदि ये विविध टीकाएँ न होतीं तो सम्भवतः हमें 'मानस'के सुन्दर भावोंको समझनेमें कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता।

जैसे 'मानस'की अनेकानेक टीकाओंके प्रचलनसे गोस्वामीजीका प्रभाव प्रकट होता है वैसे ही उसके सैकड़ों संस्करणोंसे भी। यहाँ सभी संस्करणोंकी लम्बी सूची देना तो व्यर्थ ही होगा, किन्तु उनके फलफलका किंचित संकेत करना आवश्यक है। विविध संस्करणोंके साथ अगणित प्रतियाँ प्रकाशित होती गयीं और 'मानस'के पठन-पाठनका क्षेत्र बढ़ता गया। इस प्रकार प्रचारके लिए संस्करणोंकी भरमार अवश्य लाभकारी हुई पर उसका दुष्परिणाम भी हुआ। विविध संस्करणोंमें भिन्न-भिन्न पाठोंकी गड़बड़ीके कारण शुद्ध-शुद्ध पाठोंका निर्णय करना भी दुष्कर हो गया। टीका और श्लेषक युक्त संस्करणोंकी भूलोंकी भयावहता तो है ही, यहाँतककी मूल पाठ छापनेवाले संस्करणोंमें भी बहुत-सी त्रुटियाँ घर किये बैठी हैं। मूलके

ही जितने संस्करण निकले हैं उनमेंसे दो ही चार संस्करण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, उनके पाठ अधिकांशमें ठीक हैं क्योंकि उनमें तुलसीदासके लेख नियमानुसार छापनेका प्रयास किया गया है। ऐसे प्रयास करनेवाले संस्करण ये हैं—‘काशी नागरी प्रचारिणी सभा’ काशीका संस्करण, ‘इण्डियन प्रेस’ इलाहाबादका संस्करण। यद्यपि इन दोनोंमें भी परस्पर प्रभेद है तथापि ये दोनों अन्यान्य संस्करणोंकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं। इन दोनोंसे भी बढ़कर शुद्ध पाठ है उस संस्करणका जिसका सम्पादन रामदास गौड़ने किया और जो ‘हिन्दी पुस्तक एजेन्सी’से प्रकाशित हुआ। इस संस्करणके पाठमें नाममात्रकी त्रुटियाँ हैं। काशीके प्रसिद्ध रामायणी स्व० पं० विजयानन्द त्रिपाठी द्वारा सम्पादित संस्करण भी प्रकाशित हुआ, जिसमें मूल प्रतियोंका आधार ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा तो की गयी थी पर इसमें भी यत्र तत्र स्वेच्छा-पाठ दिखाई देता है। ‘गीता प्रेस’ गोरखपुरका संस्करण भी उल्लेखनीय है। कहनेको तो इसमें प्राचीन प्रतियोंका आधार रखा गया है और सम्पादनमें मनोयोग दिखाया गया है, पर इसका पाठ भी चिन्तनीय है। ‘मानस’का काशिराज-संस्करण भी निकल चुका है, जो पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रके तत्त्वावधानमें विद्वज्जनोंके एक मण्डल द्वारा काशिराजके संग्रहालयमें प्राप्त मानसकी प्राचीन प्रतियोंके आधारपर तैयार किया गया है। अबतकके निकले हुए प्रामाणिक संस्करणोंमें यह अग्रगण्य कहा जा सकता है। इसमें त्रुटियाँ नगण्य हैं। कहीं-कहीं पाठ-भेद मिलता है, पर वह असंगत नहीं लगता। काशीके दुर्गाकुण्ड महालमें स्थित ‘मानस-मंदिर’में उत्कीर्ण मानस काशिराज-संस्करणसे ही उतारा गया है।

व्यास-पद्धतिका प्रचलन

अखिल-भारतीय-मानस-सम्मेलन और रामायण-कथाकी व्यास-पद्धति आदिका उत्तरोत्तर प्रचार और प्रसार देखकर भी हम गोस्वामीजीके प्रभावका अनुभव करते हैं। इस समय सामान्यतः मानसकी कथा कहनेके आधारपर छोटे-मोटे व्यासोंकी संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि उनका अंकन करना कठिन है। इधरके प्रसिद्ध व्यासोंमें काशीके पं० विजयानन्द त्रिपाठी, आगराके बच्चू सर, वृन्दावनी ‘विन्तु’ आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। खेद है कि अब ये तीनों महानुभाव इस लोकमें नहीं हैं। इस समय मिर्जापुरके सीखड़ गाँव निवासी श्री रामकिंकरजीको विशेष ख्याति मिली है। मानसके अन्यान्य व्यासोंका परिचय न देकर हम व्यासोंकी प्राचीन परम्पराका निर्देश करना अधिक समीचीन समझते हैं। यह परम्परा विशेष रूपसे इन पाँच स्थानोंसे प्रवर्तित हुई—अयोध्या, चित्रकूट, काशी, सरयूतटका वाराह क्षेत्र तथा गंगा तटका सोरों। अयोध्याके ‘तुलसीचौरा’ पर गोस्वामीजीने स्वयं व्यासका स्थान ग्रहण किया और सँडीलेके स्वामी नन्दलालजी तथा मिथिलाके स्वामी रूपाक्षजीको तुलसीदासके मुखसे ‘मानस’का पाठ सुननेका प्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनमेंसे एकने वृन्दावनके भक्त रसखानिको तीन वर्षतक कथा सुनायी और दूसरेने संभलसिंह भूमिहारको वागमतीके तटपर। अयोध्याके अतिरिक्त अन्य चारों स्थानोंमें जो प्रथम व्यास और उनके श्रोता हुए उनके नाम आदिका संकेत मात्र मिलता है। इन सभी स्थानोंसे मानसकी जितनी शिष्य-परम्पराएँ चलीं उनका पूर्ण परिचय अभीतक नहीं मिला है। हाँ, ‘मानसकी शिष्य-परम्पराके दो विशेष सम्प्रदायोंका कुछ परिचय उपलब्ध हुआ है। गोस्वामीजीके बाद इन दोनोंके आदि व्यास ये—(१) श्री किशोरीदत्त, (२) बूढ़े रामदासजी। इनमें किशोरीदत्तकी चौथी पीढ़ीमें शिवलाल पाठक प्रसिद्ध रामायणी हुए, इधर बूढ़े रामदासकी पाँचवीं पीढ़ीमें पं० रामगुलाम दिवेदी काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। रामगुलामके शिष्योंकी दो परम्पराएँ हो गयीं थीं, जिनमेंसे एकमें लाला छक्कनलाल और दूसरीमें वंदन

पाठक विशेष यशस्वी हुए। उधर त्रिवल्लाल पाठककी परम्परामें श्री शेषदत्त तथा शेषदत्तके शिष्योंमें कोदोराम प्रसिद्ध व्यास हुए। इन प्रसिद्ध व्यासोंके अतिरिक्त दोनों परम्पराके अन्तर्गत सामान्यतः 'मानस' की शिष्य-परम्परामें आनेवालोंके नामोंकी तालिका 'कल्याण' मानसाङ्क भाग १ पृ० ११०-१२ पर दी गयी है। आजकलके व्यासोंके सारे जमवटको किसी विशेष परम्परासे जोड़ना युक्तियुक्त न होकर दुराग्रह मात्र होगा।

तुलसीके नामपर प्रचलित अनेकानेक रचनाएँ

तुलसीदासके नामपर बहुविध रचनाओंकी वृद्धि भी उनका प्रभाव सूचित करती है। रचनाओंका प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थमें समझना चाहिए। इसके अन्तर्गत तुलसीके नामसे स्वतन्त्र ग्रन्थाकारमें प्राप्त रचनाएँ ही नहीं अपितु तुलसीदासके ही ग्रन्थमें क्षेपक रूपसे आनेवाली तथा उन्हींके नामसे मौखिक रूपमें प्रचलित रचनाएँ भी आती हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें उनके नामसे प्रचलित रचनाओंके पहाड़ दिखाई पड़ेंगे।

मनुष्य सामान्यतः स्वार्थपर प्राणी है। वह अपनी दमड़ीकी चीजपर भी किसी दूसरेका अधिकार नहीं देखना चाहता। यह कैसी विलक्षण बात है कि कोई स्वयं परिश्रम करके रचना करे और उसपर किसी औरकी मुहर लगाकर अपने अधिकारसे अपना हाथ कटा दे। विचारणीय है कि लोग किस मनोवृत्तिकी प्रेरणासे अपनी कृति दूसरेके नामसे व्यक्तकर परितुष्ट होते हैं। यह मनुष्यका स्वभाव है कि वह अपना विकसित स्वरूप देखनेके लिए सदैव लालायित और प्रयत्नशील रहता है। छोटे-बड़े सभी चाहते हैं कि हम ऐसे समाजमें रहें जहाँ हमारी प्रतिष्ठा बढ़े। सामान्य स्थितिका प्राणी एक विशाल विभवशाली राजाबाबूका साहचर्य प्राप्तकर अपनेको धन्य मानता है और वस्तुतः धन्य हो भी जाता है। ऐसी मनोवृत्तिकी प्रेरणासे सामान्य रचना करनेकी क्षमता रखनेवालोंने तुलसीदासके विख्यात नामका सहारा पकड़ा, जिससे उन्हें भी महान् कवियोंमें गिने जानेका सौभाग्य प्राप्त हो चाहे उन्हें साक्षात् कोई न जाने। इस मनोवृत्तिके परिणाम-स्वरूप तुलसीदासके नामपर कुछ न कुछ रचनाएँ तो अवश्य रची गयी होंगी।

मनुष्य मात्रमें अपने व्यक्तिगत भावों, विचारों और सिद्धान्तोंको औरोंपर व्यक्त करके उन्हें प्रभावित करनेकी प्रवृत्ति भी प्रायः होती है। पर सभी इसमें सफल नहीं होते। अतः सफलताके लिए मनुष्य छल-छद्मका सहारा लेकर भी कार्य सिद्ध करना चाहता है। गधा होकर भी वह शेरकी खाल आँदकर अपने मनीशमका संतोष करनेपर उतारू हो जाता है। तुलसीके नामका वाघम्वर ओढ़कर भी बहुतोंने जाल फैलाये और इस ढंगसे भी तुलसीदासके नामपर कुछ रचनाओंकी वृद्धि नहीं रोकी जा सकती थी।

हम किसी व्यक्ति विशेषमें अपनी गहरी श्रद्धा होनेके फलस्वरूप भी अपनी सभी वस्तुएँ अपने परम-श्रद्धास्पदको समर्पित कर हर्षसे गद्गद हो उठते हैं। गोस्वामीजीमें अपार श्रद्धा रखनेवाले कुछ ऐसे महानुभाव भी रहे होंगे, जिन्होंने अपनी कृतिको गोस्वामीजीका प्रसाद समझ उन्हींके नामसे लिपिबद्ध कर दिया होगा।

अनेकोंका तुलसी नाम ही रहा होगा। उन्होंने अपने नामसे रचनाएँ की होंगी। कालान्तरमें भ्रमवश लोगोंने तुलसी नामवालोंकी रचनाओंको तुलसीदासकी रचनाओंमें सन्निविष्ट कर दिया होगा। ऐसी भूलके कारण भी तुलसीदासके नामपर कुछ न कुछ रचनाओंका बढ़ना अनिवार्य था।

स्वतंत्र ग्रन्थाकारके रूपमें तुलसीदासके वारहों प्रामाणिक ग्रंथोंकी चर्चा आरम्भके 'तुलसीकी कृतियाँ' शीर्षक परिच्छेदमें की जा चुकी है। यहाँ तुलसीके नामसे प्रचलित अन्याय ग्रंथोंका उल्लेख किया जाता

हैं। पर उसके पहले इतना संकेत और आवश्यक है कि आजसे करीब सौ वर्ष पहले जब कि सेंगरजीका 'सरोज' निकला, उस समयतक गोस्वामीजीके नामसे उतनी अधिक रचनाएँ नहीं प्रचलित हुई थीं जितनी आज दिन हैं। उस समय तो प्रामाणिक ग्रंथोंके अतिरिक्त निम्नांकित आठ ग्रंथ और थे—

'छन्दावली', 'कुण्डलिया रामायण', 'रामसतई', 'रामशालाका', 'संकट मोचन', 'रोलाछन्द', 'कड़का छन्द' तथा 'झलना छन्द' ज्यों-ज्यों समय बीतता गया। त्यों-त्यों संख्या भी बढ़ती गयी। तभी तो तुलसीदासके नामसे प्रचलित ग्रंथोंके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न लोगोंकी विभिन्न धारणाएँ हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठीने इनकी संख्यालगभग चालीस तक पहुँचा दी है। वारहों प्रामाणिक कृतियोंके अतिरिक्त उन्होंने जिन ग्रंथोंको गिनाया है उनके नाम हैं—'कुण्डलिया रामायण', 'पदावली रामायण', 'छप्पय रामायण', 'रोला रामायण', 'छन्दावली रामायण', 'झलना रामायण', 'मंगल रामायण', 'संकट मोचन, हनुमान चालीसा', 'रामशालाका', 'तुलसी-मतसई', 'कलिधर्म निरूपण', 'वारहमासी', 'अंकावली', 'श्रुव प्रश्नावली', 'तुलसीदासकी बानी', 'ज्ञानको परिकरण', 'गीता भाषा', 'सूर्य पुराण', 'ज्ञानदीपिका', 'स्वयंवर', 'रामगीता', 'हनुमान शिक्षासुक्तावली', 'कृष्णचरित' तथा 'सगुनावली'।

इन ग्रंथोंमेंसे अधिकांशके कोई विशेष महत्त्व नहीं। 'हनुमान चालीसा'का प्रकार सामान्य लोगोंके बीच अवश्य कुछ विशेष रूपसे अवगत होता है। काव्य-सौष्टवकी दृष्टिसे भले ही इसका कोई विशेष महत्त्व न हो, पर इसके प्रचारकी उपयोगिता तो माननी ही होगी। छोटे-छोटे बालकोंसे लेकर बूढ़े तक इसको कंठस्थ किये रहते हैं। प्रायः पाठ करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ग्रंथकी विशेषताके आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि इसका रचयिता कोई सीधा-साग हनुमद् भक्त रहा होगा, जिसने जन-सामान्यके हितार्थ अपनी टूटी-फूटी भाषामें हनुमानकी स्तुति निर्मित कर उसपर तुलसीदासके नामकी छाप कदाचित् इसलिए लगा दी कि ग्रंथका प्रचार विनोप रूपसे हो।

'हनुमान चालीसा'के अनन्तर 'कुण्डलिया रामायण'की सामान्य चर्चा भी अपेक्षित है। 'कुण्डलिया रामायण'का स्वरूप संसारके रामने पहले पहल सन् १९४१ ई० में दृष्टिगत हुआ। इसके पहले हम उसके स्वरूपमें अनभिज्ञ हों, उनका नाम तो सेंगरजीने बहुत पहले सुना दिया था। सनातन-धर्म कालेज, कानपुर के प्रोफेसर सत्यनारायण पांडेयने अपने जिस अनवरत परिश्रमके द्वारा 'कुण्डलिया रामायण'का सम्पादन किया और उसे हमारे सामने रखा, उसके लिए हिन्दी संसार आपका आभारी होगा। आपने ग्रंथमें अपनी नारगमित भूमिका और टीका जोड़कर उसका स्वरूप और भी रुचिकर एवं महत्त्व पूर्ण बना दिया है। तुलसीदासकी प्रामाणिक कृतियोंमें 'कुण्डलिया रामायण'के कतिपय स्थलोंका भाव साम्य दिखाकर इसे तुलसी-कृत मिद्ध किया है। प्रामाणिक रचनाओंकी कथावस्तु, उनकी भाव-व्यंजना आदिसे भी 'कुण्डलिया रामायण'की कथावस्तु और व्यंजनाओंकी तुलनाका आग्रह करके इसे तुलसीदासकी कृति ठहराया है। इसका रचना-काल 'गीतावली' और 'मानस'के बीच माना है।

मैंने 'कुण्डलिया रामायण'का अध्ययन इस ध्येयसे नहीं किया है कि उसे तर्क-प्रणालीसे गोस्वामीजीकी कृति मिद्ध करूँ। ग्रंथको मैंने गम्भीरतासे पढ़ा और गुना। ग्रंथ भरमें प्राप्त उसकी एक बड़ी विशेषता देख मैं वही विचार करता हूँ कि क्या गोस्वामीजीकी प्रामाणिक रचनाओंमें भी कोई ऐसी है जिसमें वे अपनी भावभिव्यक्तिमें उलझे हो; उनकी प्रारम्भिक रचनाओंमें भी यह बात नहीं, प्रौढ़ रचनाओंकी तो बात ही न्यायी है। 'कुण्डलिया रामायण'के जिस किसी दोहासे कुण्डलिया, आरम्भ होती हो उसीके

देखिये, दोहा निध्वाण-सा दिग्वार्द देगा । बिना अध्याहारके अधिकांश दोहोंका अर्थ ही नहीं स्पष्ट होता । क्या गोस्वामीजीके दोहोंकी यही विशेषता है ? 'दोहानवली' भी तो ब्रजभाषामें है । उनके दोहोंको 'कुण्डलिया रामायण' के दोहोंसे मिलानेपर ऐसी प्रतीति होती है कि इन दोनोंके प्रणेता भिन्न-भिन्न प्रतिभाके दो व्यक्ति रहे होंगे । यद्यपि 'कुण्डलियाँ रामायण' की पदावली प्राचीनताका द्योतन करनेके लिए बहुत कुछ काट-छाँट कर वैय्याकरणिक नियमोंको ध्यानमें रखकर प्रयुक्त हुई है, तथापि ग्रन्थकी भाषा अर्वाचीन-सी लगती है । हमारी समझमें यह ग्रन्थ किसी ऐसी व्यक्तिका प्रयास है जो तुलसीदासकी रचनाओंसे अत्यधिक प्रभावित था । यही कारण है कि गोस्वामीजीके प्रामाणिक ग्रन्थोंके भाव इस ग्रन्थमें प्रचुर परिमाणमें सन्निहित हैं ।

'तुलसी-सतसई' के विषयमें जो कुछ कथनीय था उसे 'तुलसीदासकी कृतियाँ' परिच्छेदमें पहले ही कहा जा चुका है । रही बात तुलसीके नामपर प्रचलित अन्य ग्रन्थोंकी, उनके सम्बन्धमें मुझे कुछ नहीं कहना है । मैंने स्वयं उनमेंमें कई एकको देखा-सुना भी नहीं है ।

तुलसीदासके नामपर प्रचलित ऐसी रचनाएँ जो किसी समय बरसाती पानीकी भाँति 'मानस'में आकर छिपीं, उन्हें भी समझ सेना चाहिए । 'बेंकटेश्वर प्रेस' बम्बई, अथवा 'वैजनाथ प्रसाद प्रेस' राजा दरवाजा, बनारससे मुद्रित 'मानस'के संस्करणोंमें आज भी श्लेषकोंका स्थान बना हुआ है । ऐसे और भी कितने संस्करण हैं जिनमें श्लेषकोंकी प्रतिष्ठा है । श्लेषकानुरागियोंने 'मानस'के अष्टम काण्ड (लव-कुश काण्ड) की वृद्धि तो की ही, इसके अतिरिक्त वे अन्य काण्डोंमें भी ढेरके ढेर छन्दों और चौपाइयोंको मिलानेमें न पिछड़े । ये सभी श्लेषक रचनाएँ 'मानस'का अंग बनना चाहती थीं, आज भी सामान्य जानकारी रखनेवालोंकी दृष्टि में ये तुलसीदासकी रचनाएँ हैं । इन समय मुझे एक ऐसी ही घटना याद आ रही है । स्नातकोत्तर कक्षाके पूर्व मैंने अपने एक वृद्ध गुरुजनके मुखसे सुना था—

“हाथ जोरि लछिमन तब बोले । रघुनायक सों बचन अमोले ॥

पगभूपन हों सकत चिन्हारी । ऊपर कबहु न सीय निहारी ॥”

इन्हें सुनते ही मेरे कान खड़े हो गये । मैंने पूछा ये चौपाइयाँ कहाँ की हैं ? उत्तर मिला—तुलसी-कृत रामायणकी । मैंने काण्ड पृष्ठा और वृद्ध महोदयने किष्किन्धा काण्ड देखनेको बहा । मैंने धृष्टता की और कहा कि यह वहाँ नहीं है । इसपर वे विगड़ गये । बोले जाकर ध्यानसे ढूँढ़ो । अपनी विस्मृतिकी आशंका कर मैं श्लेषक-रहित 'मानस'के पीछे हाथ धोकर पड़ गया, पन्ना-पन्ना ढूँढ़नेका प्रयास कई बार किया और अन्तमें निराश होकर बैठ गया । आगे चलकर जब मैंने गोस्वामीजीको अपने शोधका विषय बनाया, तब यह बात समझमें आयी कि उक्त वृद्ध दादाकी भाँति कितने ही ऐसे भ्रांत सज्जन होंगे, जिन्होंने श्लेषकोंको भी तुलसीकृत मान रखा है । उक्त घटना की ओर संकेत करनेका मेरा अभिप्राय यह है कि ऐसी बहुत-सी श्लेषक चौपाइयाँ या छन्द हैं जो धोखेसे तुलसीकी रचनाओंमें प्रविष्ट होनेके कारण तुलसी ही के नामसे प्रचलित हो चले हैं ।

यहाँतक तो उन रचनाओंका संकेत किया गया जो तुलसीदासके नामपर लिपिवद्ध रूपमें प्रचलित है । अब उन रचनाओंकी ओर ध्यान दीजिये जो मँगते गोसाइयों (भरथरियों) के होठोंपर नाचती रहती हैं । किसी रमते भरथरीको बुला लीजिये । उसका गान सुनिए । सरंगीकी रँव-रँवपर वह जितनी तानें भरेगा, उनमें प्रायः 'तुलसीदास प्रभु आस चरनकी' टेक रहेगी । इन गीतोंको सुनकर यदि कोई उन्हें तुलसी की रचनाओंमें खोजने लगे तो यह उसका पागलपन नहीं तो क्या ?

भरथरियोंको छोड़ नापिटोंकी एक विशेष मण्डलीकी ओर दृष्टिपात कीजिए । किसी नाईके यहाँ जब कोई विशेष उत्सव पड़ता है तो मण्डलीके सभी लोग आकर अपने नउआ झुमर (नउआ झाम या नउआ

झक) की धूम मचाते हैं। खजड़ीकी ताल देकर मण्डली नाना प्रकारके भजनों और पदोंको भाव-मग्न होकर गाती हैं। इसके इन सभी गीतोंपर 'तुलसी'की छाप लगी रहती है। ये गाने हमें तुलसीकी रचनाओंमें स्वप्नमें भी नहीं भिरेंगे। ऐसे न जाने और भी कितने लोग हैं जो अपनी तुलसीकी करते जाते हैं और तुलसी, सूर या कवीर इन तीनोंमेंसे किसी एक की छाप देकर स्वयं फूले नहीं समाते। वस्तुतः ये मूर्ख तुलसी भी भली-भाँति जानते हैं कि तुलसीदास बहुत ही व्यापक और महान् हैं, उनकी छापके संसर्गसे हमारे टूटे-फूटे शब्दोंको लोग रुचिसे सुनेंगे।

किसी पर्व विशेषमें गंगा-स्नानके लिए जानेवाली दिहाती महिलाओंकी टोली लोक-गीतोंको एक साथ गाती हुई जब सड़कसे गुजर रही हो तो ध्यानसे सुनिये। इन लोकगीतोंमें भी प्रायः 'तुलसी'की छाप सुनाई पड़ेगी। यह सब क्या है? तुलसीके नामपर आये दिन जितनी अधिक रचनाएँ प्रचलित हैं, उन्हें देखते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुलसीदासके अपरिमेय प्रभावके कारण लोगोंने उन्हें अनेकानेक भव्याभव्यमागोंसे ग्रहण किया है और उत्तरोत्तर ग्रहण करते जा रहे हैं। वगुले तुलसीकी ओटमें अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं और हंसोंको मानस-विहार सुलभ हो गया है, तुलसीदासकी ओर भले-बुरे सभी लोग अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार नजर दौड़ा रहे हैं।

आधुनिक विद्वज्जनोंकी सम्मतियाँ

गोस्वामीजीके सम्बन्धमें कुछ आधुनिक विद्वज्जनोंकी सम्मतियोंके आधारपर भी हम उनके प्रभावका अनुमान कर सकते हैं। सम्मतियोंको अविकल रूपसे उद्धृत करनेके पूर्व यह इंगित कर देना अच्छा होगा कि उनके संग्रहमें मैंने किस विशेष बातका ध्यान रखा है। अधिकांश कृतिकार ऐसे होते हैं जो किसी वर्ग या सम्प्रदाय विशेषके अनुयायियों या अपने इष्ट-मित्रोंकी मण्डलीकी ओरसे अच्छी सम्मति पाकर अपनी सीमित परिधिमें द्वितीय बृहस्पति बननेका दावा करने लगते हैं। ऐसे लोगोंको प्राप्त सम्मतियाँ एक देशीय होती हैं। अपवाद रूपसे कुछ ऐसे महा-प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार भी होते हैं जिनके दिव्यात्माकी प्रखर ज्योति इतनी आकर्षक होती है कि उसके समक्ष आनेपर सबको किसी न किसी रूपमें नतमस्तक होना पड़ता है। ऐसे कलाकारपर जो सम्मतियाँ प्राप्त होती हैं वे एक देशीयताके क्षुद्र घेरेमें कदापि नहीं आतीं। तुलसीदास ऐसे ही कलाकार हैं। उनके 'मानस'में जिसे प्रवेश करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह किसी न किसी कारणसे उसकी महत्ता स्वीकार किये बिना न रह सका। तभी तो हिन्दुओंके विविध सम्प्रदायवाले ही नहीं अपितु कुछ मुसलमानों और अँग्रेजों तकने अपनी-अपनी योग्यतानुसार उनकी गुण-गरिमाका गान किया है।

पहले दो-चार पाश्चात्य विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं। डॉ० ग्रियर्सनने तुलसीदासका अच्छा अध्ययन किया था, अतः सर्वप्रथम उनकी सम्मति देखिए—

“भारतवर्षके इतिहासमें तुलसीदासकी महत्ताके विषयमें इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। साहित्यिक दृष्टिसे रामायणके गुणोंको एक ओर रखकर यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ यहाँकी सर्वजातियों द्वारा अंगीकृत है। पंजाबसे भागलपुरतक और हिमालयसे नर्मदा पर्यन्त उसका प्रभाव है। राज-महलसे लेकर झोंपड़ीतक प्रत्येक मनुष्यके हाथोंमें यह देखी जाती है। और हिन्दू जातिके प्रत्येक वर्ण द्वारा चाहे वह उच्च हो चाहे नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो अथवा वृद्ध, एक रूपसे पढ़ी-सुनी जाती अथवा आदृत होती है। वह हिन्दू जातिके जीवन, भाषा एवं चरित्रमें प्रायः तीन सौ वर्षोंसे ओत-प्रोत है और केवल अपनी कवितागत सुन्दरताके लिए आदर तथा प्रेम नहीं लाभ करती, वरन् यह उनसे पवित्र पुस्तक

की भौति सम्मानित होती है। जिस धर्मका उसने प्रचार किया है वह सादा और उच्च है तथा ईश्वरके नामके पूर्ण विश्वासपर निर्भर है।”

महोदय नृत्य डडले कहते हैं—“तुलसीदासने अपने स्वामीके नामका जो हृदय स्पर्शी गान गाया वह युगयुगान्तरमें सुनाई पड़ेगा, इससे प्राच्य जनोंकी भौति पाश्चात्य नर-नारीके हृदयमें परमात्मानुभूतिकी धुधा बड़ेगी और जिनके हृदयमें प्राणिमात्रके प्रति प्रेम है वही लोग अनन्य प्रेमको जानेंगे।”

रे० एडविन ग्रीव्ज गोस्वामीजीकी ओर क्यों खिंचते हैं—

“उनकी अमर कृतियों द्वारा हम उनकी ओर खिंचते हैं, परन्तु इससे भी अधिक उनके जीवनकी सादगी और पवित्रता, उनका पावन व्यक्तित्व हमारे हृदयको, हमारे मनको हठात मोह लेता है।”..... हिन्दी काव्य-गगनमें गोस्वामीजी सूर्यके समान देदीप्यमान हैं और दूसरे कवि नक्षत्रोंके समान हैं। गोस्वामी जीके सरल, सबल और निर्मल जीवनके साथ उनकी कविताकी अपूर्व मिठास तथा अद्भुत शक्ति उन्हें सर्वोत्कृष्ट स्थानका अधिकार बना देती है।”

डा० जे० एम० मैक्मीकी सम्मति देखिये—

“सर्वसामान्य हिन्दू-जातिके सर्वोच्च प्रतिनिधि विश्वासांको अभिव्यक्त करनेवाला तुलसीके रामायण-के अतिरिक्त कदाचित् कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं।.....तुलसीदासकी रचनाओंमें मनुष्य रूप भगवान्का परमोच्च और सच्चा आध्यात्मिक स्वरूप पाया जाता है। भारतीय साहित्यमें उनका नायक अपना सानी नहीं रखता।”

डॉ० हाफिज सईदकी सम्मतिमें—“रामायणने हिन्दू संस्कृतिकी रक्षा ही नहीं की वरं इसने हिन्दी भाषाको भी बचा लिया है।.....”इस बातको कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है कि संसारका कोई धर्म-ग्रन्थ इतना लोकप्रिय नहीं हो सका है जितना रामायण।.....”अद्यावधि हिन्दू जातिकी आध्यात्मिक संस्कृति तथा पवित्र और सदाचार पूर्ण जीवनका अधिकांश श्रेय रामायणके दिव्य सनातन संदेशोंको है।”

इसी प्रकार अनेकानेक हिन्दू विद्वज्जनोंकी सम्मतियोंको उद्धृत करना मैं इसलिए अनावश्यक समझता हूँ कि वे अपनी वस्तुके सम्बन्धमें होनेके कारण आत्म-स्तुतिकी कोटिमें ही आ जाएँगी। गोस्वामी जी हमारे हैं, उनकी कृतियाँ हमारे रत्नकोशके अमूल्य रत्न हैं।

श्रद्धाञ्जलि

प्रतिष्ठित और प्रामाणिक सम्मतियोंकी चर्चा करनेके उपरान्त अब मैं अपनी कोई सम्मति देनेका दुस्साहस तो नहीं करता, पर आर्य-शिरोमणि तुलसीदासके चरणोंकी वन्दना करनेकी अपनी लालसा मैं भी टूटे-फूटे शब्दोंमें व्यक्त किये बिना कैसे रह सकता हूँ? लोक इसे मेरी सम्मति ही क्यों न समझे, पर है यह मेरी श्रद्धाञ्जलि।

विधाता ! तेरी लीला धन्य है। तूने तुलसीको अकिंचन कुलमें उत्पन्न ही नहीं किया अपितु बाल्य-कालमें ही अनाथ भी बना दिया, ऐसा करके भी अन्तमें उन्हें इतना महान् भी बनाया कि उनकी तुलनाके लिए कोई उपमान नहीं मिलता। किसी बड़े सम्राट्से उनकी समता करना अशोभन है क्योंकि

१. दे० वर्नाक्युलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान” पृ० ४२। २. “बुक आव् राम—बाइबिल आव् इंडिया” भूमिका पृ० २२। ३. ,, ‘कल्याण’ मानसाङ्ग खण्ड ३ पृ० १११८। ४. वही ,, ११२०। ५. दे०, रामायण आव् तुलसीदास’ भूमिका पृ० ८। ६. ,, वही पृ० २५२। ७. ,, ‘कल्याण’ मानसाङ्ग खण्ड ३ पृ० १०५६।

सम्राट् तो स्थूल शक्तिसे बाह्य शासन करता है, परन्तु तुलसीदास लोगोके हृदयके शासक हैं; किसी जग-द्विख्यात कविसे उनकी तुलना इसलिए नहीं फवती कि उनकी भव्य साधुता महान्से महान् कविमें नहीं; कोई बड़ा साधक भी उनकी बराबरी इसलिए नहीं कर सकता कि उनमें तुलसीकी अलौकिक कवित्व शक्ति एवं भव्यकाव्य-निर्माणके अन्य श्रील उपादान नहीं। ऐसे अनुपमेय तुलसीदासके प्रति जो श्रद्धा, जो भक्ति, जो पूज्य बुद्धि हमारे भीतर है, वह शब्दोंके द्वारा इस लघु श्रद्धाञ्जलिमें भले ही हम व्यक्त न कर सकें, पर वह उनसे छिपी न होगी।

हे हिन्दू जातिके उद्धारक तुलसीदास ! तुम्हारी पैनी दृष्टिने अपने सामयिक हिन्दू-समाजके पतनका अंग-प्रत्यंग देखा; तुम्हें स्पष्टतः ज्ञात हो गया कि हिन्दू जाति कराल-कालके प्रवाहमें पड़कर दीर्घ संस्कृति, परम्परासे टूटकर विच्छिन्न होती हुई, अनेक प्रकृत स्वरूप और प्राचीन गौरवका क्रमशः विस्मरण करती हुई क्षिप्रगतिसे विनाशोन्मुख है। यह दृश्य देख तुम कलेजा थाम कर बैठ नहीं गये, प्रत्युत तुम्हारा विश्व-हितैषी हृदय जग पड़ा; तुमने समाजके दंभ और पाखण्ड युक्त व्यवहारों एवं अनाचारोंका भण्डाफोड़ करते हुए उसकी कड़ी आलोचना ही नहीं की, अपितु उसे सन्मार्ग बतानेके लिए अद्वितीय सामाजिक मत भी रमणीय ढंगसे स्वर्णाक्षरोंमें अंकित किया। तुमसे बड़ा समाज-सेवक और परहितेच्छु दूसरा कोई नहीं।

हे सन्त शिरोमणि ! तुम स्वयं उच्चकोटिके साधक और साधु होनेके कारण सच्चे सन्तोंकी लोकोत्तर भावनाओं और उनके अपरिमित त्यागके उत्तराधिकारी हो; तुम्हारी सन्त-भावनाकी कसौटीपर टिकनेवाले सन्त विरल ही होंगे और जो हाँगे वे तुम्हारी भाँति हेतु-रहित विश्व-हितैषी होंगे; तुम्हारे सन्तमतका अनुयायी अपने साधु-मतका लोक-मतसे कहीं विरोध होनेपर लोक-हितके लिए लोकमतको ही श्रेय देता है।

हे अध्यात्म-दर्शमुनि ! लोकको भक्तिका राजमार्ग दिखानेके लिए तुम्हारे समान गुरु कहाँ मिलेगा ? हे अखिल-जीव-वत्सल, निर्भत्सर भक्त तुलसीदास ! तुमने भक्तिको सर्व-जन-सुलभ करानेके हेतु प्राचीन आचार्योंके द्वारा निर्दिष्ट भक्तिके विविध स्वरूपों एवं उसके सिद्धान्तोंके सजीव मनोरम चित्र उपस्थित किये, माथ ही ज्ञान, वैराग्य, योग आदिका अपेक्षित महत्त्व भी हस्तामलक कराया। अध्यात्म-ज्ञानके अक्षुण्ण भण्डारका द्वार उन्मुक्त करनेके लिए अपना कलेजा निकाल कर रखनेवाले तुम धन्य हो !

रामोपासनाके प्रतीक तुलसीदास ! तुम्हारी उपासना-पद्धतिकी धज निराली है, तुम्हारे उपास्यका सानी और कहाँ है ?; तुम्हारी विचारानुमोदित आचार-प्राण उपासना-पद्धतिकी समतामें कौन-सी दूसरी पद्धति टिक सकती है ? तुम किसी नवीन उपासना पद्धतिके प्रवर्तक न होते हुए भी रामोपासनाके अद्वितीय प्रचारक और पैगम्बर हो; तुम्हारे चरणोंमें कौन-सा रामभक्त नतमस्तक नहीं होगा ?

अपने इष्टदेवकी उपासनाके निरन्तर सहयोगसे अपनी तत्त्वचिंतन-शक्तिको समन्वयके दिव्यासनपर अधिष्ठित करनेवाले रामभक्त तुलसी ! तुम्हारा तात्त्विक दृष्टिकोण धन्य है। तुमने वेदान्तकी सभी उदात्त पद्धतियोंका ऐसा समन्वय किया है कि उसका वर्णन करना कठिन है। तुम्हारे दार्शनिक विचारोंका अपूर्व समन्वय देखते हुए तुम्हें किसी सम्प्रदाय विशेषका कहना, तुम्हारी व्यापकताको संकुचित करना है। पर, तुम्हारी 'भेद-भक्ति' का मार्मिक मधुरिमाका अनुभव करनेपर हृदयको तुम्हारी द्वैत प्रणाली जँचती है।

प्रत्येक सम्प्रदायके सात्त्विक और आचार युक्त स्वरूपके प्रति आदर एवं सत्कारकी उच्च भावना रखनेवाले, विकृत और संकीर्ण साम्प्रदायिकताके क्षुद्र पाशमें न आबद्ध होनेवाले, निर्लिप्त तुलसी ! तुम्हारे व्यापक, उदार दृष्टिकोणकी परिधि असीम है, तभी तो हिन्दू-धर्मके सभी प्रधान सम्प्रदायोंकी अन्तरात्मा तुममें विद्यमान है। तुम सभी सम्प्रदायोंके आदर और सत्कारके भाजन हो। तुम्हारी तितिक्षा और उदारता सर्वग्राह्य है।

जो प्राचीन आर्य-धर्म कालचक्रमें पड़कर कर्मकाण्डकी दुष्करताके कारण अपने अनुयायियोंको भार-भूत होकर अस्त होने लगा था, उसमें रामनामकी एक नवीन ज्योति फैलाकर उसे फिरसे नव प्रकाश युक्त करनेवाले धर्मप्राण तुलसी ! तुमने धर्मको अन्धकारावृत्त रहस्यवाद, निष्प्राण बाह्याडम्बर और अज्ञानमूलक भूत-प्रेत-पूजा आदिके पंक्से निकाल कर बुद्ध नैतिक, भाविक एवं बौद्धिक आधारपर प्रतिष्ठित कर उसपर सर्वसामान्यका अधिकार जताया है, तुम्हारे रोम-रोममें परम सात्त्विक वैष्णवकी विश्व-जनीन करुणा संचरित है, इसीसे तुमने परोपकार और अहिंसाको ही अपने धर्मका परमोच्च लक्ष्य ठहराया है ।

हे अध्ववसायी, स्वाध्यायी, महापण्डित तुलसीदास ! तुमने प्राचीन राम-साहित्यके अगाध रत्नाकरमें गोते लगा-लगाकर राम-कथारूपी मणि-माणिक्योंको खोज-खोजकर निकाला है । तुम्हारी मननशीलता अपार थी, तुमने गमकथा सम्वन्धी प्रायः सभी आर्प-ग्रन्थोंका पूर्ण मंथन किया । तभी तो तुम्हारे राम-साहित्यमें वाल्मीकीय, अध्यात्म, महारामायण प्रभृति रामायणों, संस्कृतके महाकाव्यों और नाटकोंके प्रभाव आदि स्पष्टतया अवगत होते हैं ।

राम-कलाके परम प्रवीण, कलाविशारद तुलसीदास ! तुम्हारी सन्दर्भण-कलाकी जो पटुता 'मानस' में दीप्त होती है उसपर कौन नहीं तृण तोड़ता; तुम्हारे 'मानस'के उपक्रम और उपसंहार, उसकी षड्विध संगति-योजना, उसके श्रुति-स्मृति, पुराणादि पुष्पोंसे संगृहीत मधुकोश, उसकी भावानुरूप शैली, उसकी प्रवन्धानुरूप छंद-योजना और उसमें स्पंदित संदेश तथा संवाद योजना कौशल तुम्हें कलाकारोंका मूर्धाभिषिक्त सम्राट् ठहराते हैं ।

हे काव्य-गगनके सूर्य तुलसीदास ! तुमने अपने अमर आलोकसे हिन्दी-साहित्य लोकको सर्वभावेन देदीप्यमान किया, काव्यके विविध स्वरूपों तथा शैलियोंको विशेष प्रोत्साहन देकर भाषाको खूब सँवारा और शब्दशक्तियों, ध्वनियों और अलंकारोंके यथोचित प्रयोगों द्वारा अर्थ-क्षेत्रका अपूर्व विस्तार भी किया: तुम्हारा वाह्य दृश्योंका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण, तुम्हारी आन्तरिक वृत्तियोंकी अद्वितीय अनुभूति-प्रवणता आदि सभी आदर्श हैं; तुम्हारी कृतियोंमें लोक-व्यवहार-निपुणता एवं सद्ग्राहिताका मणि-कांचन-योग भी देखते ही बनता है: तुम्हारे सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ-ज्ञानकी संसृष्टि भी अनुपम है; तुम्हारी रचनाओंमें श्रीलताका पूर्ण परिपाक है और तुम्हारा काव्य मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करता; तुम्हारी विशाल कवित्व-शक्ति एवं तुम्हारी उच्चतम साधुताका अपूर्व संयोग सब प्रकारसे पूज्य है ।

हे लोक-विज्ञात, लोक-कांत तुलसीदास ! तुम्हारा प्रभाव भी वर्णनातीत है; यह चतुर्दिक् परिव्याप्त है; इसकी प्रतिष्ठाका मुख्य आधार तुम्हारे महा-ग्रंथ 'मानस' का पवित्र, उदात्त और प्रकृष्ट स्वरूप है । मानसने ही तुम्हें अपने जीवनकालमें 'महामुनि' (धार्मिक) का अवतार घोषित करा दिया । यह तुम्हारा प्रभाव नहीं तो क्या है ? आज तुम्हारा परवर्ती समाज भी तुम्हारे निर्दिष्ट मार्गको सहज और श्रेय-स्कर स्वीकार करता है । सनातनधर्ममें आस्था रखनेवालोंकी दृष्टिमें तो तुम बंदनीय ही हो, इसके अतिरिक्त 'मानस' को 'गोप' कहनेवाले समाजी भी यह कहनेके लिए विवश हैं—'तुलसीदासकी रसीली कवितासे देशमें देवनागरी अक्षरोंका प्रचार सर्वसाधारणके मध्य प्रशंसा योग्य हुआ है । रामायणके निर्माण का मुख्य प्रयोजन पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह, दास्य-धर्म, प्रजा-ममत्त्व, देशभिमामन और पुरुषार्थ था ।'

हिन्दी-साहित्यके आधुनिककालमें भी 'रामचंद्रोदय', 'रामचरित चिंतामणि', 'साकेत', 'वैदेही वनवास', 'रामकी शक्ति पूजा' प्रभृति रचनाएँ प्रमाणित करती हैं कि इनके मूलमें तुलसीदासकी ही प्रेरणा है । यह तुलसीदासका ही प्रभाव है कि आज दिन भी राम लीलाओंके मनोरम अभिनय बड़े उत्साहके साथ होते हैं; रामायणकी व्यास-पद्धतिका आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है; रामायणकी विविध टीकाओंकी

वृद्धि जारी है; तुलसीदासके प्रभावशाली नामपर रचनाओंका विकास भी रुका नहीं है, तुलसी-संस्थान भी बढ़ते जा रहे हैं।

आलोचकोंको भी आलोक प्रदान करनेवाले तुलसीदासका यह विशेष प्रभाव नहीं ताँ क्या है कि आज उनके जितने आलोचक हैं उतने किसी अन्य हिन्दीके महाकविके नहीं। ऐसे प्रभविष्णु महामानव और महाकविके प्रभावकी छव-छायामें विश्राम पाकर श्रद्धा और सत्कार, स्नेह और सौमनस्य, सम्भ्रम और सम्मानके दो-चार कुमुद लेकर उनकी अर्चनाके लिए उपस्थित हुआ हूँ। वे हमारी आँखोंमें समाये हैं, उनकी प्रशंसा, आशंसा अथवा अभिनन्दनमें जो कुछ कहा जाय थोड़ा है। अस्तु, मानस चतुश्चतीके पुनीत अवसरपर 'तुलसीदास और उनका युग' का यह तृतीय संस्करण भक्त-प्रवर महाकवि तुलसीदासके चरणोंमें सादर समर्पित है।

—राजपति दीक्षित

परिशिष्ट

आधुनिक युगमें रामचरित मानसकी प्रासंगिकता

गोस्वामी तुलसीदासके बहुत पहले अनेकानेक रामायणों एवं रामकाव्योंकी रचनाएँ हो चुकी थीं, जिनमेंसे वाल्मीकि-रामायणकी ख्याति सर्वोपरि कही जा सकती है। पर, आज वाल्मीकि-रामायणका नाम साहित्यकार तो प्रसंगवश लेते भी हैं किन्तु लोक सामान्य उसे विस्मृत-सा हो गया है। इसके विपरीत तुलसीदासका 'रामचरित मानस' जनसामान्यके बीच रामायणके नामसे विख्यात है। इसका प्रमुख कारण देश और काल है। वाल्मीकीय रामायणकी रचना ऐसी भाषामें हुई, जो इस समय जनसाधारणकी समझसे बहुत दूर है। इतना ही नहीं, उसमें मात्र ऐसी स्थानीय परिस्थितियाँ एवं परिपाशोंके विस्तृत और आकर्षक चित्रण हैं जो सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक नहीं कहे जा सकते। इधर गोस्वामीजीने अपने महाकाव्यके लिए जनसाधारणकी भाषाका चुनाव किया है; उन्होंने केवल मर्यादा पुरुषोत्तम ऐतिहासिक रामका ही चित्रण नहीं किया, बल्कि रामकथाके बहाने एक ऐसे रामको प्रस्तुत किया है जो एक ओर परात्पर ब्रह्मसे अभिन्न है तो दूसरी ओर अवतारी पुरुषके रूपमें मानवीय गुणोंसे सम्पन्न साधारण मानवके रूपमें भी दिखाई पड़ता है। तुलसीदासने अपने सामयिक वर्णनोंको न कर ऐसे वर्णन किये हैं जिनके साथ किसी कालके पाठकका तादात्म्य स्थापित हो सकता है और उन परिस्थितियों, उन वर्णनों, उन समस्याओंमें वह अपने युगकी झोंकी पाता है। इतना ही नहीं, 'मानस'में डूबनेवाले सच्चे अध्येताको उससे सुखशान्तिमय, सर्वहितकारी जीवन व्यतीत करनेमें सहायता मिलती है। 'मानस'में ऐसा संसार उपस्थित किया गया है जिसे हम आज भी अपनाना चाहते हैं—

“मुद् मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जस पावा॥”

यों तो 'रामचरित' मानसकी रचना आजसे चार सौ वर्ष पूर्व हुई, पर वह आज भी भारतीय जनताके लिए सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रन्थ, उत्कृष्ट साहित्य और राजनीतिका प्रकाशस्तम्भ बना हुआ है। प्रश्न यह उठता है कि यह ग्रन्थ केवल हिन्दुओंमें ही नहीं, बल्कि हिन्दी भाषियों और उनसे सम्बद्ध सभी लोगोंमें उसी रूपमें महत्वपूर्ण स्थानका अधिकारी क्यों है? तुलसी द्वारा वर्णित राम, लक्ष्मण, सीता, भरत और हनुमानका स्वरूप ही क्यों मान्य है? आज 'मानस'के सैकड़ों दोहे, चौपाइयाँ सूक्ति रूपमें असंख्य कण्ठोंमें विराजमान हैं और लोग दैनिक जीवनमें उनका प्रयोग करते हैं। वैसे तो रामायणकी कथा सहस्रों वर्ष पुरानी है तथा तुलसीदासको भी मानसकी रचना किये चार सौ वर्ष बीत गये और उन्होंने उस समय जो कुछ लिखा था वह उनके सामयिक ज्ञान, परिस्थिति आदिपर आधारित था, किन्तु एक लम्बे अन्तराल और दुनियाके मानव मूल्यों, आस्थाओं तथा जीवन-दर्शनमें परिवर्तन आ जानेपर भी उनका यह महाकाव्य उसी तरह है। आज भी यह हमारे प्रशस्त एवं श्रेयस्कर मार्गका अजस्र स्रोत है।

तुलसी साहित्य विशेषतः 'मानस'के सम्बन्धमें प्रायः आधुनिक चिंतक यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या आज भी इसका अध्ययन-अध्यापन उसी प्रकार काम्य है, जैसे चार सौ वर्ष पूर्व रहा? सूत्र रूपमें सहज उत्तर यही होगा कि तुलसी-साहित्यका अध्ययन-अध्यापन हमें उसी प्रकार जीवनयापनकी प्रेरणा देता है जैसा वह चार सौ वर्ष पहले अपने युगको दे रहा था।

मानसकी लोकप्रियताके कारण तुलसी-साहित्यकी लोकप्रियताको ध्यानमें रखकर विदेशी विद्वान् 'एडाविन ग्रीव्ज'ने स्वीकार किया है कि इंग्लैंडमें किसी भी कविता आम जनतामें इतना प्रभाव नहीं है जितना कि तुलसीदासका इस देशकी जनतामें है ।

‘मानस’के उपक्रमकी एक लोकप्रसिद्ध अर्द्धाली है—

‘सठ मुधरहिं सत संगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ॥’

उसका मूल भाव यही है कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरेके दोषोंको भूल जाना और उन्हें ठीक रास्तेपर ले आना सराहनीय कार्य है । क्या आज भारतके बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ और नेता लोग इस तरहके उपदेश दिन प्रतिदिन नहीं देते रहते ? क्या गांधीजीने इसकी आवश्यकता नहीं समझी थी ? गांधीकी कल्पनाके भारतमें उपदेशके लिए सभी इन वाक्योंको दोहराते हैं, भले ही चरितार्थ नहीं करते । कथनी और करनीमें समानता नहीं रखते ।

तुलसीदास सारे संसारको सीताराममय देखनेवाले थे—

‘सीया राम मय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥’

क्या गांधीका छूत-अछूतके भेदभावको मिटानेका आदर्श तुलसीदास चार सौ वर्ष पूर्व नहीं स्थापित कर गये थे ? क्या उनके ये विचार जनतन्त्रकी भावनाके अनुकूल नहीं थे ? वे प्राणिमात्रको सीय-राम अर्थात् परमात्माका रूप मानकर यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनके साथ दुर्व्यवहार या भेदभाव करना तो बुरा रहा वे इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते ।

एक ओर तुलसीदास जहाँ आदर्श मानवकी स्थापनाके लिए इस प्रकारकी घोषणा करते हैं—

“काम कोह मद् मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥

जननी सम जानहिं सब नारी । धनु पराव विष तैं विष भारी ॥’

वहीं दूसरी ओर जाति-पाँतिका त्याग करनेवालोंकी प्रशंसा करते हैं—

‘जाति-पाँति धन धाम बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥

सब तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई । तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥’

यहाँ कहा जा सकता है कि तुलसीने रामभक्तिका प्रसंग लिया है, परन्तु ध्यानमें रखनेकी बात यह है कि उन्होंने पहले ही संसारको सीयराममय मान लिया है । फिर भी, इसके विपरीत यदि हम इन कथनोंको सिर्फ भक्तिके ही सन्दर्भमें ग्रहण करें तो भी क्या वे लोग जो भगवान्में विश्वास नहीं करते, क्या उनमें ऐसे गुणोंकी कल्पना नहीं की जा सकती ? तुलसीदासके द्वारा स्थापित मानवके ये गुण ऐसे मूल्य हैं जो हर युगमें महत्वपूर्ण होंगे । मानवताके अन्तिम क्षणतक इनका अस्तित्व अटल रहेगा । वस्तुतः तुलसीकी दृष्टि विशाल थी । तभी तो वे डंकेकी चोटपर कहते हैं—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥’

अर्थात् कीर्ति, कविता अथवा सम्पत्ति वही श्रेष्ठ है जो गंगा जलकी भाँति सबका हित साधन करने-वाली हो । गोस्वामीजीकी यह उक्ति साम्यवादके व्यापकसे व्यापक प्रसारको मात करनेवाली है । क्योंकि वे केवल सम्पत्ति और साहित्यको ही सब लोगोंमें नहीं बाँटना चाहते, अपितु कीर्तिका भी ऐसा ही वितरण करना चाहते हैं जिससे सभी लोग लाभान्वित हों ।

महात्मा गांधीने सत्य और अहिंसाको देशके कल्याणके लिए सरल मार्ग ठहराया और उसीपर चलकर भारतको पराधीनताकी बेड़ीसे मुक्त कराया । उधर ४०० वर्ष पहले तुलसीने धर्मके सब व्यवहारों और सब रूपोंसे सत्यकी श्रेष्ठता स्थापित कर दी थी—

‘धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥’

यह सत्य ऐसा सत्य है जिसका उपयोग केवल गांधीका भारत ही नहीं, आगंके अनेक युगोंका भारत भी करता रहेगा । जहाँतक अहिंसाका प्रश्न है, तुलसी तो प्राणिमात्रके प्रति प्रेमका प्रचार करते हैं । वे कहते हैं—

‘निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध ।’

लेखककी महानता उसके चरित्रोंके निर्माणसे भी आँकी जाती है । जितने दीर्घकालतक उसके चरित्र पाठकके लिए अविस्मरणीय रहेंगे, उतने काल पर्यन्त उसकी महानतापर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता । प्रसिद्ध आयरिश लेखक जार्ज रसेलने लिखा है कि रामायण और महाभारतके लेखकोंकी सबसे बड़ी महानता यह है कि उन्होंने ऐसे चरित्रोंका निर्माण किया जिनको हम ऐसे याद करते हैं जैसे वे हमारे ही जीते जागते चित्र हैं । इस दृष्टिसे तुलसीदास महान् लेखक हैं । जिस समय उन्होंने मानसकी रचना की, उस समयतक जनसाधारण वाल्मीकिके चरित्रोंको भूल चुका था, पर तुलसीदासने ऐसे आदर्श चरित्र उपस्थित किये जो आज भी लोकसामान्यके बीच अपने आदर्श प्रस्तुत करते हैं । तुलसीके दशरथ अप्रतिम पुत्र-प्रेमी पिता तथा सत्यकी रक्षामें अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुको बलि चढ़ानेवाले सत्यवादीके रूपमें उपस्थित हैं । भरत और लक्ष्मणके द्वारा भानुत्वके लिए आदर्शको तुलसीने प्रस्तुत किया है वह आजके बंधुविरोधी युगमें समुचित मार्ग प्रदर्शनका कार्य करेगा । भरत महान् त्यागी और तपस्वीके रूपमें चित्रित किये गये हैं । वे बड़े भाईके प्रेमपर एक बड़े साम्राज्यके राजत्वको भी ठुकरा देते हैं और यदि उसे स्वीकार भी करते हैं तो मात्र एक सेवक और अंगरक्षकके रूपमें । राज्यको रागकी सम्पत्ति समझ उसे सब प्रकारके प्रयत्नों द्वारा सुरक्षित रखना अपना कर्त्तव्य समझते हैं । दूसरी ओर लक्ष्मण अपनी पत्नी और माताको त्यागकर भाईके प्रेममें स्वयं वनवासी बन जाते हैं । सीताके रूपमें तुलसीदासने जो आदर्श नारीकी कल्पना की है उस नारीत्वकी खोजमें आज हम भटक रहे हैं । उन्होंने दलित वर्गके केवट, शबरी, बनजीवी कोल, किरात आदिके चित्रण भी बड़ी मार्मिकताके साथ किये हैं और अपनी इसी चरित्र-चित्रणकी विशेषताके कारण वानर जातिमें अग्रगण्य हनुमानको सबसे बड़ा भक्त सिद्ध किया है ।

मानसकारने मनुष्यके सामाजिक जीवनको दृष्टिमें रखते हुए मित्रताके प्रशस्त पंथको दिखाना भी आवश्यक समझा । फलतः उसने मित्रताकी उत्कृष्ट कसौटी भी दिखा दी है । देखिए—

‘जे न मित्र दुख होहि दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥

निज दुख गिरि सम रजु करि जाना । मित्र क दुख रजु मेरु समाना ॥

जिन्हके असि मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ॥’

मैत्रीके ये सिद्धान्त दुनियाके किसी भी कोनेमें, किसी भी व्यक्तिके लिए, किसी भी कालमें आदर्श माने जायेंगे । आज विश्वबंधुत्वकी जो कल्पना की जा रही है उसके मूल्यमें तुलसीके ये सिद्धान्त ही हैं । तुलसी-साहित्य मानवतावादका सबसे बड़ा संपोषक एवं रक्षक है । उसमें वर्णाश्रम व्यवस्थाका समर्थन होते हुए भी छुआछूत अथवा पिछड़े वर्गके लोगोंके प्रति द्वेषकी भावनाका सर्वथा अभाव है । राम द्वारा शबरी-का आतिथ्य स्वीकार करना, उससे माँग-माँगकर कन्द-मूल-फल खाना, जाति-पाँति और खानपानमें छूआ-छूतके ऊपर गहरा आघात है । अथवा इसे सामाजिक उत्सर्गोंमें भक्तजनका अपवाद समझना चाहिए ।

भक्तिको सामान्यतः भगवत्प्रेमका पर्याय ही समझा जाता है, किन्तु विस्तृत अर्थमें भक्ति शब्द गुरु, माता, पिता, भाई और राष्ट्रके सन्दर्भमें भी प्रयुक्त होता है । तभी तो गुरु-भक्ति, मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, भ्रातृ-भक्ति, राष्ट्र या देश भक्ति प्रभृति स्वतन्त्र वर्णनीयोंके मनोहर दृश्योंसे भी हमारा साहित्य भरा-पूरा है ।

राष्ट्र या देश भक्ति तथा भक्तिके अन्य रूपोंमें सबकी शतें एक-सी हैं। हमें यह बात सदैव ध्यानमें रखनी चाहिए। भगवद्भक्तिके सम्बन्धमें तुलसीदासका कथन है—

‘राम कृपा विनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥
जाने विनु न होइ परतीती। विनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति विना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥’

यहां राम राष्ट्रके प्रतीक हैं और भक्तिका उद्देश्य रामकी कृपा पाना है। इसी प्रकार राष्ट्रभक्ति या देशभक्ति, राष्ट्र या देश-कृपा प्राप्त करनेकी प्रारम्भिक प्रक्रिया है। व्यक्तिमें यह राष्ट्र भक्ति तभी आती है जब उसे राष्ट्रकी महती भक्तिका बोध होता है। एक ओर यह महती शक्ति नागरिकको भक्ति प्रदान करती है और दूसरी ओर अपनी भक्तिके लिए प्रेरित करती है। राष्ट्र-भक्तिका अर्थ सुरक्षा तथा लोककल्याणकी गारण्टी है। इसके बिना न तो नागरिकमें राष्ट्रकी प्रभुताका ज्ञान ही हो पायेगा और न उसके प्रति विश्वास, टीक यही प्रक्रिया रामभक्तिकी भी है।

किसी रचनाकी गरिमाको बढ़ानेवाली उसमें प्रयुक्त सूक्तियाँ भी होती हैं। रचनाकी लोकप्रियता बहुत कुछ सूक्तियोंपर निर्भर करती है और इन सूक्तियोंकी चरितार्थता चिरकालतक अकाट्य रहती है। ‘रामचरितमानम’में भी ऐसी अनेकानेक सूक्तियाँ प्रयुक्त हैं जो आज भी हमें उपदेश देती हैं और आगे भी देती रहेंगी।

‘भय विनु हाइ न प्रीति’, ‘आरत के चित्त रहइ न चेतू’, ‘सुख जुआरिहि आपन टाऊ’ अथवा ‘विनय न मान खगेस सुनु डौंटेहि पै नव नीच’ सदृश न जाने कितनी उक्तियोंसे युक्त ‘मानम’ इस प्रकारके अनुभवों और नाति सम्बन्धी परामर्शोंका अपरिमित भण्डार है। कल्पनातीत अतीतके अनुभव इन छोटी सूक्तियोंमें भर दिये गये हैं जो आज भी यथार्थ और उपयोगी हैं।

तुलसीदासके निम्नोक्त वे उपदेश आज भी उतने ही यथार्थ हैं जितने उनके कालमें थे—

‘कवि कोविद गावहिं अस नीति। खल सन कलह नहीं भल प्रीति ॥
वरु भल वास नरक कै ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिय खान की नाई ॥

इसी प्रकार तुलसीदासका यह कथन है कि संसारके लोग उसी कामको करते हैं जिसमें वे अपने स्वार्थकी सिद्धि देखते हैं, यह आजके प्रसंगमें, आजके मानवकी चेतनाका कितना सटीक उदाहरण है, इसे भी देखिये—

‘जेहिं ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता करु सब कोई ॥’
‘पन्नगारि अस नीति श्रुति सम्मत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति करिय जानि निज परम हित ॥’

धैर्य तुलसीकी निगाहोंमें मानवका सबसे बड़ा गुण है। उनकी यह मान्यता आज भी मूल्यवान है। यदि राम धैर्यपूर्वक अपनी सारी योजनाएँ न बनाते तो कदाचित् ही वे रावणको पराजितकर सीताका उद्धार कर पाते। आधुनिक कालका मानव तरह-तरहकी परीक्षाओंसे घिरा हुआ है, उसे हर कार्यमें अनेक विघ्न-बाधाओंका सामना करना पड़ता है, यदि उसमें धैर्यका अभाव हुआ तो वह उन्नतिके पथपर अग्रसर नहीं हो सकता। विपत्ति कालमें धीरज, धर्म, मित्र और नारी ही सहायक होते हैं, तुलसीदासकी यह कसौटी आजके जीवनमें उतनी ही सही है जितनी उस समय थी।

शत्रुको कभी छोटा तथा कमजोर न समझनेका जो उपदेश गोस्वामीजीने दिया है वह आज भी उपयोगी अथवा ग्रन्थ है—

‘रिपु रुज पावक पाय प्रभु, अहि गनिअ न छोट करि ।’

‘रितु तेजसी अकेल अपि, लघुकर गनिअ न काहु ।’

तुलसीदासने बाह्याडम्बरों और पाखण्डकी घोर कुत्सा की है; उन्होंने, अपना उल्लू सीधा करनेके लिए सुन्दर वेश बनानेवाले प्रवचकोंको न्यूव फटकारा है, क्या यह हमारी आजकी भावनाकी अभिव्यक्ति नहीं है ।

गोस्वामीजीने सत् चरित्रोंके साथ-साथ दुष्ट चरित्रोंके वर्णन भी पूरी सच्चाई और उत्साहसे किया । दुष्ट चरित्रोंके अंतसमें पैठकर उन्होंने अनेक आनन्द वृत्तोंको ही प्रकाशित नहीं किया अपितु सत् वृत्तोंपर भी प्रकाश डाला । इन चरित्रोंमें उनका तटस्थ भाव साक्षी है ।

तुलसीदास बड़े क्रांतिकारी युगद्रष्टा महाकवि थे । उन्होंने समाजमें परिव्याप्त पाखण्ड और रूढ़ियोंपर वज्राघात किया । फलतः समाजके तथाकथित तत्कालीन नेतागण तिलमिला उठे और वे सब तुलसीदासके विरोधमें जी-जानसे जुट गये । इसके बावजूद भी उन्होंने शैवों और वैष्णवोंमें व्याप्त विरोधकी अग्निको शान्तकर उन्हें परस्पर सहिष्णु और उदार बनाया । उन्होंने मानस जैसे महान ग्रन्थकी रचनाके लिए ऐसी भाषा चुनी जो उस समय साहित्यिक भाषा नहीं थी । जहाँ उन्होंने इस भाषाके माध्यमसे इस रूढ़िको खण्डित किया कि धर्मग्रन्थों और देव-चरित्रोंके वर्णनोंकी भाषा केवल संस्कृत ही हो सकती है, वहीं दूसरी ओर एक उपेक्षित विस्तृत समाजके लिए धर्मकी सुलभताका मार्ग भी दिखाया । तुलसीदासके युग पर्यन्त ‘मानस’के स्तरका ग्रन्थ किसी कविका भाषामें लिखनेका साहस नहीं हुआ । यह तुलसीदासका ही अदम्य उत्साह था कि उन्होंने अनेक विरोधोंका सामना करते हुए भी जनसाधारणके लिए सुलभ करानेके उद्देश्यसे ऐसी भाषाका चयन किया । वे जानते थे कि उनकी कविताका और उनका दोनोंका उपहास समाजके तथाकथित कर्णधार लोग उड़ावेंगे । फिर भी, राम-महिमाका वर्णन करनेके कारण वे भाषा-चुनावके सन्दर्भमें निश्चित थे—

‘कवित रसिक न राम पद नेहू । तिन्ह कहँ सुखद हास रस पढ़ू ॥

भाषा भनिति मोरि मति भोरी । हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ॥’

तुलसीदासने ‘मानस’की रचना समाजके विशिष्ट वर्गके लिए नहीं की । उन्होंने अपने इस राम-महाकाव्यका प्रणयन उस साधारण जनताको ध्यानमें रखकर किया, जो दीर्घकालसे समाजके विशिष्ट वर्गसे केवल अलग ही नहीं थी, उपेक्षित भी थी । उनका लगाव इसी उपेक्षित जनताके प्रति था और उन्होंने अपना सारा जीवन इसी जनताके कल्याणार्थ उत्सर्ग किया । साधारण जनताके लिए की गयी भलाईकी अनेक लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं । फिर भी, केवल यह कहना कि वे जनसामान्यके लिए जन्मे थे या कवि बने थे, पूर्णतया संगत नहीं । क्योंकि उनका मानस जहाँ एक तरफ जनसाधारणकी समस्याओंको लेकर उनका हल प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी तरफ विशिष्ट वर्गकी समस्याओंका उल्लेख एवं उनका हल भी सुझाता है । साधारण पाठक मानसके पठनसे जितना आनन्द उठाता है, उससे कम आनन्द विशिष्ट पाठक, बौद्धिक वर्ग और विशिष्ट सामाजिकको नहीं मिलता ।

भक्तिकी अक्षय निधि जो केवल कुछ लोगोंकी थाती बनी थी, उसे सर्वजन सुलभ करके तुलसीदासने दीर्घकालीन परम्पराका उल्लंघन भी किया । यह उनका रूढ़ियोंको छिन्न-भिन्न करनेका प्रयास था । उनके ‘मानस’ने पराजित, निराश जनसमुदायको आशा और धैर्यका संबल दिया, बिखरे हिन्दू-समाजको

एकत्र होनेका एक सुदृढ़ आधार दिया और निद्रा-निमग्न जन-मानसको चेतना दी, जिसके परिणामस्वरूप पथ-भ्रष्ट जनताने कल्याण-प्रद मार्गके दर्शन किये। उसमें हिन्दू-जीवन-दृष्टिके प्रति पुनः आत्मविश्वास जगा। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि गोस्वामीजीने हिन्दू जनताका उद्बोधन कर उसे अपनी संस्कृतिके प्रति सचेत किया, किन्तु उन्होंने उस विदेशी संस्कृतिके विरोधकी बात तो दूर रही, उसका नामतक नहीं लिया, जो हिन्दूधर्म, संस्कृति, गम्भीरताके ह्रासका प्रमुख कारण थी। तुलसीको सम्प्रदायवादी और धार्मिक सिद्ध करनेवाले व्यक्ति या नेताको यह सोचना चाहिए कि क्या केवल अपनी संस्कृति और धर्मका उत्थान ही धर्मविरोधी कार्य है? देश और समाजकी प्रगति तभी सम्भव है जब उसकी सुदृढ़ संस्कृति दूसरोंके लिए अनुकरणीय हो और दूसरी संस्कृतियोंमें अपना उच्च स्थान रखती हो। संस्कृति विहीन मानव जलसे पृथक् मछलीके समान है।

आजके क्रान्तिकारी नेतागण केवल कल्पना और विचारोंमें जीते हैं। इन्हे हवामें महल बनाना खूब आता है। वस्तुतः ये नाममात्रके क्रान्तिकारी होते हैं और यदि कुछ करते भी हैं तो अपनेको सर्वोच्च आसनपर आसीन होनेके लिए, न कि समाजकी समस्याओंको सुलझानेके लिए। इसके विपरीत तुलसीदासने क्रान्तिका जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह सचमुच आजके दिग्भ्रांत नेताओंके लिए अनुकरणीय है।

तुलसीदासने साहित्य-सेवाके द्वारा हमारी साहित्यिक परम्पराको अपनी रचनाओंमें जीवित रखा और उसके निचोड़ स्वरूप अनेक नये रूपोंकी प्रतिष्ठापना भी की। साहित्यिक रूपोंकी खोज करनेवाले पिपासु बौद्धिक वर्गके लिए उनकी रचनाएँ अजायब घर हैं। काव्यकी प्रत्येक विधाका प्रतिभान उनकी रचनाओंमें अपने ऐतिहासिक रूपमें सुरक्षित है। उनके पहले जन्मे सभी साहित्यिक रूप उनकी रचनाओंमें मिल जायेंगे। यह अवश्य है कि उन्होंने उन रूपोंका समन्वय करके अत्यधिक लोकप्रिय पद्धतिका निर्माण किया है।

तुलसीदासने तत्कालीन साहित्यकारोंकी पहली आवश्यकता प्राकृत जनोंके गुणगानको टुकरा दिया। उन्होंने राजाओं, सामन्तों और नवाबोंकी वंदना करनेवाले कविको सरस्वतीका गला घांटनेवाला टहराया। यह एक प्रकारसे साहित्यकारकी बौद्धिक स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मानकी घोषणा थी। जहाँ कवि किसी राजा या धनीमानीकी स्तुति करना अथवा उनकी इच्छाके अनुसार किसी काव्यग्रन्थकी रचना करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता था, वहीं निर्भीक, स्पष्टवक्ता तुलसीदासने उन्हें दुतकारते हुए इस परम्पराको पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। भले ही उन्हें इसके लिए अत्यधिक विरोधोंका सामना करना पड़ा। पर उससे क्या। सच्चा क्रान्तिकारी विचारक, मनीषी तो इन्हीं विरोधोंमेंसे अपना मार्ग प्रशस्त करता चलता है। काश, आजके सन्दर्भमें यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि गोस्वामीजीके समान परम्पराको छिन्न-भिन्न करनेवाले साहित्यकारोंकी संख्या आज भी नगण्य है। क्रान्तिके अग्रदूत माने जानेवाले अनेक लेखक स्वार्थ-लिप्सा, वैयक्तिक हानि-लाभको दृष्टिमें रखकर राजसत्ताके अविवेकपूर्ण गलत कार्योंका भी समर्थन करते हैं। तुलसीका-सा क्रान्तिकारी व्यक्तित्व हमें आज कहाँ दिखाई देता है?

तुलसीदासने मध्यकालीन जीवनको सामाजिक विघटनसे बचाया है। उन्होंने अपने युगका वर्णन मार्मिक ढंगसे किया है। 'मानस'के उत्तरकाण्डमें कलियुगका जो वर्णन आया है उसमें आर्थिक पक्ष प्रमुख नहीं है। किन्तु अन्यत्र जहाँ सामाजिक दुर्दशाके आर्थिक और नैतिक गिरावटका वर्णन किया गया है वहाँ वे आजके किसी भी प्रगतिशील लेखकसे आगे हैं। जनसामान्यकी बेकारी बहुत बढ़ गयी थी; बेचारे किसान, श्रमजीवी आदि जिस प्रकार दारिद्र्यके कारण भयंकर दुःख झेल रहे थे, उसे देख तुलसीसे नहीं रहा गया। उनके कोमल हृदयसे निर्माकित कातर स्वर फूट पड़ा—

‘वेती न किसान को, भिखारी को न भीख, वलि,
 वनिक को वनिज, न चाकर को चाकरी ।
 जीविका विहीन लोग सीधमान सोच वस,
 कहैं एक एकन्ह सों, ‘कहाँ जाई का करी ?’
 वेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकियत,
 साँकरे सबै पै गम ! रावरे कृपा करी ।
 दारिद्र-दसानन दवाई दुनी, दीन-बंधु !
 दुरित-दहनि देखि तुलसी ह हा करी ॥’

कविता० उत्तरकाण्ड छ० २७

किसान जो भारतके आर्थिक जीवनका केन्द्र रहा है उसकी इस दशाको दिखाकर कविने मानों समूचे समाजकी गरीबीकी बात कह दी । ‘जीविका विहीन लोग सीधमान, सोच वस’ में जीवनकी बेकारी का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है । समाजकी नैतिक स्थिति और सामाजिक व्यवस्थाकी कुदृष्टियोंपर कशाघात करते हुए तुलसीदास कहते हैं—

‘राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुप कुचाल नई है !
 नीति, प्रतीति प्रीति परमित पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥
 आश्रम-चरन-धरम-विरहित जग, लोक-वेद-भरजाद गई है ।
 प्रजा पतित, पाखंड पाप रत, अपने अपने रंग रई है ॥
 सांति, सत्य, सुभ रीति गई घटि, वदी कुरीति कपट कलई है ।
 सीदत माधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसत खलई है ॥’

(विनय० पद १३५)

सामाजिक विघटनकी स्थितिका इससे मार्मिक वर्णन और क्या हो सकता है ? सामाजिक संकटकी विभीषिकाको पहचाननेवाला तुलसीसे बढ़कर अथवा उनके समकक्ष भी कोई दूसरा कवि नहीं । जो लोग आजकी सामाजिक स्थिति और संकटका वर्णन कर रहे हैं उनके लिए भी ऊपरकी पंक्तियाँ मीलके पत्थरके समान हैं ।

‘मानस’ के भरत सच्चे अर्थमें आधुनिक क्रांतिकारी युवककी कोटिमें बिठाये जा सकते हैं । वे पिताकी आज्ञा, वेदोंकी अगुआ समाजकी मान्यताके कायल नहीं । अत्यन्त शिष्टवाणीमें उन्होंने वसिष्ठसे कहा कि आप जड़ता और मोहके वशमें होकर ही मुझ जैसे अधमसे राज्य-मुख चाहते हैं । वे न तो लोक के व्यंग्यकी परवाह करते हैं न कि पिताकी आज्ञा नहीं माननेसे परलोक सुखसे वंचित होना पड़ेगा इसकी चिन्ता करते हैं । उन्हें दुःख केवल इस बातका है कि उनके कारण राम-लक्ष्मण-सीताको कष्ट उठाना पड़ रहा है—

‘डरु न मोहि जग कहहि कि पोचू । पर लोकहु कर नाहि न सोचू ॥
 एकइ उर बस दुसह दवारी । मोहि लागि भे सिय राम दुखारी ॥’

यहाँपर भरतका चरित्र सर्वोत्तम मानवीय रूपमें प्रकट होता है । यहाँ वे रामको बड़े भाईके रूपमें नहीं देख रहे हैं । माता, पिता, गुरुकी उपेक्षा करनेवाला बड़े भाईकी भी उपेक्षा कर सकता था । किन्तु उन्हें कष्ट इस बातका है कि उनके कारण किसी औरको दुःख सहना पड़ रहा है । इस दुःखसे कातर और छटपटाते हुए भरत अयोध्याकी प्रजा और म्वजनोंके साथ रामको मना लानेके लिए उनके पास जाते हैं ।

भारतके इस कृत्यके माध्यमसे गोस्वामीजीने परम्पराके स्थानपर प्रेम, पर-दुःख कातरता—जैसे आदर्श तथा संसारको शांति और सुख देनेवाले मानवीय गुणोंको उपस्थित किया है। उन्होंने अनेक स्थलोंपर भरत द्वारा कितनी ही सामाजिक मान्यताओंको चुनौती दी है। निपादराजकी छायासे भी दूर रहनेवाले लोगोंके समाजमें भरत निपादराजको गले लगाते हैं। भरतका यह व्यवहार मानवीय प्रेम और मानवतावादी दृष्टि-कोणका ही पोषक है। निपाद और शबरी उच्च स्थानके अधिकारी नहीं थे, पर मानने उन्हें अमर बना दिया और वे लोक मानसमें छा गये।

गोस्वामीजीकी लोकप्रियताके अनेक कारणोंमें से एक कारण उनके द्वारा वर्णित विषयका विस्तार भी है। जहाँ उनके पूर्ववर्ती कवियोंने किसी एक भावको लेकर महाकाव्योंके प्रणयनकर डाले, वहीं इन्होंने अपने दृष्टि-विस्तार द्वारा मानव-जीवनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्दशाओंको उजागर किया है। आचार्य रामचंद्रशुक्लके शब्दोंमें—“अपने दृष्टि-विस्तारके कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारतकी समग्र जनताके हृदय-मन्दिरमें पूर्ण प्रेम प्रतिष्ठाके साथ विराजमान हैं।” जहाँ एक ओर वे शुद्ध विरागपूर्ण भगवद्भक्तिका उपदेश देते हैं, वहीं दूसरी ओर लोकपक्षमें जाकर पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्योंके अत्यन्त उत्कर्षमय रूप प्रस्तुत करते हैं। आजके वैज्ञानिक युगमें भक्ति और धर्मका पक्ष तो पीछे पड़ जाता है, पर गोस्वामीजी द्वारा स्थापित लोकपक्षका आदर्श हमारे वर्तमान जीवनमार्ग दर्शक बनता है। हमारे लिए ‘मानस’ की उपादेयता आज केवल इसी प्रसंगमें है और हम कदम-कदम उन आदर्शोंको अपने जीवनमें ढालनेका प्रयत्न करते हैं।

आज विज्ञान और मनोविज्ञानके युगमें मानव मनकी गहराई में डूबकर मनकी गहनतम अंतर्वृत्तियों को यथा तथ्य रूपमें प्रकट करनेवाले या लेखक, कविको विशेष महत्त्व दिया जाता है। जीवनके मार्मिक प्रसंगोंको पहचानने और पूरी सहृदयताके साथ अभिव्यक्ति करनेवाला कलाकार पूर्ण सफल समझा जाता है। इस दृष्टिसे तुलसीदासकी सफलता आज भी असंदिग्ध है। उनके समान मार्मिक स्थलोंकी पहचान और सहृदयताकी अभिव्यक्ति करनेवाला बहुत खोजनेपर भी कहाँ मिलेगा ?

इसके अतिरिक्त तुलसीके सभी ग्रन्थ माननीय सम्बन्धों और प्रगतिके महत्त्वपूर्ण आधार स्तंभ हैं। इस साहित्यमें मनुष्यको ऊपर उठानेवाली अनेक विशिष्ट स्थापनाएँ हैं। राम उत्पीड़न, अन्याय और अत्याचारके विरोधके प्रतीक हैं। वे चाहते तो साम्राज्य बना सकते थे पर उन्होंने कभी अपना यह लक्ष्य ही नहीं रखा। लंका-विजय कर भी वे वहाँकी सम्पत्ति और वहाँके राज्यको अस्पृश्य ही मानते हैं। उनकी लड़ाईका उद्देश्य राज्य-प्राप्ति न होकर अन्यायका दमन करना था। वे चाहते तो भारतके इस छोरसे उस छोरतक अपना साम्राज्य स्थापित कर सकते थे। क्या रामका यह कार्य मानवतावादकी दुहाई देनेवाले आधुनिक राजनेताओंके लिए अनुकरणीय नहीं है ? रामकी विजयका उद्देश्य विश्व-मैत्रीकी स्थापना करना था। ‘मानस’की मन्थरा केवल व्यक्तिके रूपमें नहीं उपस्थित की गयी है, अपितु वह कूटनीतिज्ञता और सेना-धर्मके मरत्त्वपूर्ण उदाहरणके रूपमें भी चित्रित है। मन्थराका व्यक्तित्व गिरा हुआ नहीं है; वह रामको प्रभु रूपमें नहीं, प्रत्युत एक मानव रूपमें देखती है अन्यथा वह भी राम-भक्तिमें विलीन हो जाती; जहाँ सभी लोग रामराज्याभिषेकमें सुग्ध हैं, वहीं वह अपने मालिकके हित-चिंतनके प्रति सजग है। वह राम-राज्याभिषेककी आँधीसे अछूती है। वह अपने मालिकका ‘अनमल’ नहीं देख सकती थी, इसलिए उसने कुछ कठोर कहा। उसके बोलनेमें न केवल दृढ़ता बल्कि चातुर्य और कूटनीतिज्ञता भी है। उसे और स्पष्ट करते हुए तुलसीदासने उसे ‘गूढ़ कपट प्रिय बचन’ कहनेवाली कहा है। वह “सजि प्रतीति बहु बिधि गदि छोली।” बोलती है। कैकेयी भी उसकी बुद्धि पर सुग्ध है—



“तोहि मम हित न मोर संसारा । वहै जात कह भइमि अधारा ॥”

इसपर भी अगर कोई मन्थरावादका अर्थ उदासीनता और तटस्थतासे ले तो आश्चर्य है । मन्थरावाद तो कूटनीतिज्ञता और सेवक-धर्मका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है ।

तुलसीदासकी माया और कुछ नहीं है अपितु वह मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों ही हैं । इन्हींके कारण वह संसारी बनता है । वे न हों तो संसार उसके लिए व्यर्थ है । और वह संसारके लिए उपेक्षित है । तुलसी-साहित्यमें माया निवृत्ति मार्गका आधार न होकर सामाजिक माधनाका मिढान्त है । तुलसीदास मनुष्यको श्रेष्ठ संसारी मनुष्य बनाना चाहते हैं ।

महात्मा तुलसीदासके क्रान्तिकारी स्वरूपके दर्शन उनके जिन कार्योंसे होते हैं उनका संकेत नीचे दिया जा रहा है—

- (क) साम्प्रदायिक संघर्षोंको भिड़ाना और समन्वय स्थापित करना ।
- (ख) संस्कृतको छोड़ लोक भाषामें लिखना ।
- (ग) विशिष्ट वर्गको छोड़कर जनतासे अपनेको जोड़ना ।
- (घ) भक्तिके द्वारा भगवान्की प्राप्तिके मार्गको सबके लिए सरल एवं सहज बनाना ।
- (ङ) समाजको संगठित करने, दिशा देने, उद्बोधन करने, तथा भले-बुरेकी पहचान करनेकी कसौटी बताना ।
- (च) हिन्दू-धर्मको संस्कृत भाषाके कठघरे से निकाल कर लोक-भाषामें लाना ।
- (छ) भारतीय संस्कृतिको विदेशी प्रभावसे बचाना ।
- (ज) अर्द्धनिद्रा, निराशा और पराजयके भावमें पड़े हिन्दू-समाजको अपने बिग्वरावके प्रति सचेत करना ।
- (झ) विदेशी यवन प्रशासकोंकी चर्चा या निन्दा किये बिना भी हिन्दू-जीवनमें एक बार पुनः आत्म-विश्वास जगाना ।

इसी प्रकार उनकी क्रान्तिकारिताकी अन्य दिशाएँ भी हैं । उनका नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी कम क्रान्तिकारी नहीं कहा जा सकता । वे निरगुनियोंसे बहुत आगे हैं । यह सच है कि चरित्र-चित्रणके आग्रह से ‘मानस’की कथाके बीच बहुविध प्रसंगोंमें, विभिन्न प्रकारके स्त्री-पात्रोंके भव्याभव्य व्यक्तित्वके अनुरूप रम्यारम्य, कोमल और कठोर सभी तरहकी उक्तियाँ प्रयुक्त हैं । पर उन उक्तियोंसे तुलसीका नारी-विषयक दृष्टिकोण समझ लेना आसान नहीं । वस्तुतः उनकी नारी-विषयक धारणाका बहुत टोस आधार है । सामाजिक जीवनमें, उन्होंने नारीका दर्जा नरसे हेठा नहीं उँचा दिखाया है । ‘कामायनी’की ‘श्रद्धा’ अथवा अरविन्दकी ‘सावित्री’ स्त्री जातिकी जिस गरिमाकी घोषणा करती हैं, तुलसीदासकी ‘भक्ति’ भी उसी का उद्धोष करती है । पुरुषका आत्म-विकास नारीके सहयोगसे ही हो सका है । उसे ‘श्रद्धा’ ‘सावित्री’, ‘भक्ति’ने ही आनन्द लोक अर्थात् आत्मारामके दर्शनका प्रयोग घटित किये हैं । सामाजिक विकास भी नारी और नरके सहयोगसे हुआ है । तुलसीके समकालीन समाजमें नारीके स्वातन्त्र्य और नारीके व्यक्तित्व की कोई समस्या नहीं थी । हाँ, वर्ण व्यवस्था सदासे ही भारतकी समस्या बनी रही है । वर्ण व्यवस्थाकी

१. विशेष जानकारीके लिए देखिए सतुर्थ परिच्छेदका उपशीर्षक ‘समाज’में कियोंका स्थान’,

उपकरण-ग्रन्थोंकी तालिका

ऋग्वेद	शिवपुराण
महाभारत एवं हरिवंश	पद्मपुराण
श्रीमद्भागवत महापुराण	मार्कण्डेयपुराण
विष्णुपुराण	वाल्मीकीय रामायण
देवीभागवत	आनन्दरामायण
अध्यात्मरामायण	सेतुबन्ध
महारामायण	कुमारसम्भव
रघुवंश	प्रसन्नराघव
हनुमन्नाटक	प्रबोधचन्द्रोदय
उत्तररामचरित	हितापदेश
पञ्चतन्त्र	भनुस्मृति
चाणक्यनीति	याज्ञवल्क्यस्मृति
आपस्तम्बस्मृति	ज्योतिषसार
वैयाकरणभूषणसार-टर्पण	चरकसंहिता
बृहत्संहिता	मिद्धान्तकौमुदी
योगदर्शनसूत्र	शाण्डिल्यसूत्र
नारदपञ्चरात्र	श्रीभगवन्नामकौमुदी
नारदसूत्र	भक्तिरसायन
विष्णुमहत्तनाम	वैष्णवमताब्जभास्कर और रामार्चनपद्धति
हरिभक्तिरसामृत	श्वेताश्वतरोपनिषद्
रामोत्तरतापिनी-उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
रामरहस्योपनिषद्	सप्तशतीसर्वस्व
तारकोपनिषद्	नित्यतन्त्र
शाट्यायनीयोपनिषद्	आचारभेदतन्त्र
गुरुगीता	गुप्तसाधनतन्त्र
तन्त्रराज	योगिनीतन्त्र
श्यामारहस्य	वृत्तिवार्तिक
निवृत्तरतन्त्र	कुवलयानन्द
कुलार्णव	अलंकारकौस्तुभ
चित्रमीमांसा	चैतन्यचन्द्रोदय
सामवेद	कंसवध
श्रीमद्भगवद्गीता	अच्युतरायभ्युदय

साहित्यदर्पण
काव्यालङ्कार
काव्यप्रकाश
वृत्तरत्नाकर
मुद्राचरित
भारतीभूषण
काव्यप्रभाकर
काव्यालोक
लिरिक
आदर्श और यथार्थ
मिडीवल इण्डिया
ट्रेवेल्स इन दी मुगल इम्पायर
हि० आर्. मिडीवल इण्डिया
हिस्ट्री आव् इण्डिया
हिस्ट्री आव् इण्डियन एण्ड इस्टर्नआक्रियेक्चर
ए स्केच आव् दि रेलिजन्स आव् हिन्दूज
गाइडर् त् हिन्दूज्म
वैदिक इण्डिया
ऐन इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियनफिलासफी
इण्डियन फिलासफी
भारतीयदर्शन
तुलसीग्रन्थावली, भाग ३
तुलसीदास
हिन्दी नाट्यन
तुलसीदास और उनकी कविता भाग २
उज्ज्वलीलमणि
नाटकचन्द्रिका
राष्ट्रौदवंशमहाकाव्य
पद्मावलि
काव्यादर्श
वक्रोक्तिजीवित
एकावली
श्रुतबोध
पिंगलप्रकाश
अलंकारमञ्जूषा
कविप्रिया

एपिक
चिन्तामणि
मिडीवल मिस्ट्रीसिज्म आव् इण्डिया
हिस्ट्री आव् जहाँगीर
मुगल एडमिनिस्ट्रेशन
भारतवर्षका इतिहास
अकबर दि ग्रेट मुगल
वाण्डरिंग आव् ए पिलग्रिम इन सर्च-आव् दि पिक्चरस्क
एसेज एण्ड लेक्चर्स आन् दि रेलिजन्स-आव्-हिन्दूज
रेलिजन्स आव् इण्डिया
वै०, दौ०, एण्ड अदर माइनर रेलिजससिस्टम
हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी
दि फिलासफी आव् द्वैत वेदान्त
गोस्वामी तुलसीदास
गोस्वामी तुलसीदास
तुलसीदर्शन
इण्डेक्स बवॉरम आव् दि तुलसी रामायण
श्री गोस्वामी तुलसीदास
तुलसीके चार दल
वि० सा० मे रामचरितमानस
दि रामायन आव् तुलसीदास
गोस्वामी तुलसीदास और रामकथा
मानसकी रामकथा
तुलसी रसायन
तुलसीदास और उनके ग्रंथ
'तुलसीदास' (चन्द्रबली पाण्डे)
तुलसीदास और उनका 'साहित्य'
'तुलसीदासकी भाषा'
साहित्य सम्राट् तुलसीदास
'रामचरितमानसका कथा शिल्प'
'तुलसीदर्शन मीमांसा'
'रामचरितमानसके साकेत' (तुलनात्मक अध्ययन)
तुलसीकी काव्यकला
'तुलसीदास जीवनीकी विचारधारा'
'मानसका सामाजिक दर्शन'
'वाल्मीकि रामायण एवं मानसका तुलनात्मक अध्ययन'

‘रामचरितमानसका काव्य शास्त्रीय अनुशीलन’

तुलसीके भक्त्यात्मक गीत

‘रामचरित मानसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन’

‘रामचरित मानसका तन्त्र दर्शन’

‘मानस मंथन’

‘तुलसी काव्य मीमांसा’

गो० तुलसीदासकी दृष्टिमें नारी और मानव-जीवनमें
उसका महत्त्व ।

‘वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मन्दांकन’

‘मानस अनुशीलन’

‘तुलसी : आधुनिक वातायनसे’

‘तुलसीकी कारयित्री प्रतिभाका अध्ययन ।’

‘विनयपत्रिका-समीक्षा’

‘तुलसी : नवमूल्यांकन’

‘तुलसी-काव्य-दर्शन’

उक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त अधोलिखित पत्र-पत्रिकाएँ भी हमारे उपकरण-ग्रन्थोंकी तालिकामें

उल्लेखनीय हैं :—

इंडियन ऐंटीक्वेरी

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज

ना० प्र० पत्रिका

कल्याण

विशालभारत

अन्तर्मे दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका नामोल्लेख भी आवश्यक है—

दादूदयालकी बानी

पद्मावत

घटरामायण

मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरैचर आव् हिन्दुस्तान

अभरकोश

हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास

हिस्त्री आव् संस्कृत लिटरैचर

इन्साइक्लोपिडिया आव् रेलिजन एण्ड एथिक्स

हिन्दी साहित्यका इतिहास

‘तुलसीकी प्रतिभा’

‘तुलसीकी विचारधारा’

रामचरितमानसका तुलनात्मक अध्ययन ।

‘गो० तुलसीदास’ (सीताराम चतुर्वेदी)

बुक आव् राम बाइबिल आव् इण्डिया

कबीर ग्रन्थावली

सूरसागर

भक्तमाल

मानसकी अकानेनेक टीकाओंमें दी हुई भूमिकाएँ—

यथा प्राउसके रामायन आव् तुलसीदासकी भूमिका,

इण्डियन प्रेससे प्रकाशित संस्करणकी भूमिका आदि

अभिधानपदीपिका

खालिकवारी

हिन्दी विश्वकोश

आक्सफोर्ड डिक्शनरी

‘बाबा सेवादसकी बानी चेलादासकी निरञ्जनी’

शिवसिंहसरोज

स्केच आव् हिन्दी लिटरैचर

दि थियोलॉजी आव् तुलसीदाम

निर्गुन स्कूल आव् हिन्दी पोएट्री

मिश्रचन्द्र विनोद

मेकिंग आव् लिटरैचर

संस्कृत साहित्यका संक्षिप्त इतिहास

जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी

भारतीय अनुशीलन

सरस्वती

हंस

माधुरी

भक्तगीतामृत

आलम्बन स्वयं राम भी तुलसीकी इस ठटोलीको सुनकर अवश्य हँस पड़े होंगे। भक्त-जनके मनमें वर्तमान भगवान्की उद्धारिणी शक्तिपर अटल श्रद्धा ही इस हासकी आधारशिला है। अतः यह भक्तिभाव हास्यका ऐसा अनुपम मेल है जो अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। पत्नीहीन ऋषियोंको चन्द्र-मुखियोंकी प्राप्तिके विचित्र स्रोतकी उद्भावना कितनी आह्लादकारिणी है।

गोस्वामीजीने हासका जहाँ कहीं भी वर्णन किया है वह अवहसित, अपहसित तथा अतिहसितकी कोटिमें नहीं गिनाया जा सकता, प्रत्युत शत-प्रतिशत शिष्टहास स्मित, हसित अथवा विहसितके अन्तर्गत ही आयेगा।

शोक स्थायी भाव आलम्बन और उद्दीपन विभाग तथा संचारियोंसे पोषित होकर अपनी पूर्णावस्थाकी प्राप्तिसे करुण रसकी निष्पत्ति किस प्रकार कर रहा है यह देखिये—

‘पति सिर देखत मंदोदरी । मुरछित बिकल धरनि खसि परी ॥
जुवति बृंद रोवत उठि धाई । तेहि उठाइ रावन पहि आई ॥
पति गति देखि ते करहि पुकारा । छूटे कच नहि बपुष सँभारा ॥
उर ताड़ना करहि बिधि नाना । रोवत करहि प्रताप बखाना ॥

...

...

...

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई ।

सुत परिजन बल वरनि न जाई ॥’

‘मानस’में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण एवं लक्ष्मण-मूर्च्छाके प्रसंगोंमें तुलसीने करुण रसको मूर्तिमान् किया है। ‘गीतावली’के उत्तरकाण्डके सीतात्याग-सम्बन्धी कुछ गीतोंमें भी उक्त रसकी हृदय-विदारक व्यञ्जना हुई है।

शास्त्रीय सभी अवयवोंके सहित अद्भुत रसकी निष्पत्ति बालकाण्डके ‘एक बार जननी अन्हवाये । करि सिंगार पलना पौढ़ाये ॥’ आदि अर्द्धा-

लियोंकी मालामें देखिये^१। इसके अतिरिक्त सती जब रामकी परीक्षा करने गयीं, उस प्रसंगमें भी अद्भुत रसकी परिपूर्णता दिखायी गयी है^२।

वीर रसके चार भेदोंमेंसे प्रमुख युद्धवीरके वर्णन गोस्वामीजीने अनेक प्रसंगोंमें किये हैं। यथा, लंकाकाण्डमें वीर रसकी योजना कितने ही प्रसंगोंमें हुई है। बालकाण्डमें जनककी 'वीर बिहीन मही मैं जानी' सदृश उक्तिसे उद्दीप्त होकर लक्ष्मणने जो बातें कहीं—

‘तोरउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।

जो न करउँ प्रभुपद सपथ पुनि न धरउँ धनु हाथ ॥’

उनमें भी वीर रसकी व्यञ्जना है। यहाँ घनुष आलम्बन विभाव है, जनकका व्यंग्य उद्दीपन विभाव है। आवेशमें आकर लक्ष्मणने जो बातें कही हैं वे अनुभाव हैं। आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति, गर्व आदि सञ्चारी भाव हैं और जब इनसे स्थायी भाव उत्साह परिपुष्ट होता है तब यहाँ वीर रस व्यञ्जित होता है। यहाँ ‘तव प्रताप बल’ उत्साहका बाधक न होकर साधक हो गया है। ‘कवितावली’के लंकाकाण्डमें भी वनाक्षरी, झूलना और छप्पयकी पिटारीमें वीर रसके अच्छे-अच्छे उदाहरण भरे हैं।

युद्धवीरके अतिरिक्त यदि हम अन्य तीनों भेद अर्थात् दानवीर, दयावीर और धर्मवीर दिखाना चाहें तो इन्हें भी सुगमतासे दिखा सकते हैं, क्योंकि तुलसीने राममें वीर रसके चारों भेदोंके लक्षण वटित किये हैं। रामकी दानवीरता और दयावीरताके क्रमशः एक-एक उदाहरण लीजिये—

‘जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।

सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ^३ ॥’

...

...

...

१. ‘मानस’ बा० २००.१-८, २०१. ६, ७.

२. दे० वही, बा० ५३.४-८, ५४.१-८.

३. ‘मानस’ सुन्दर० ४९

‘रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई ।
तुलसी रामहिं प्रिया विसरि गई सुमिरि सनेह सगाई ॥

...

...

...

राघौ गीध गोद करि लीन्हों ।

नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हों ॥
सुनहुँ लपन ! खगपतिहि मिले वन में पितु मरन न जान्यो ।
सहि न सक्यो सो कठिन विधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो^१ ॥

धर्मके व्यापक स्वरूपको दृष्टिमें रखकर ही तुलसीने यत्र-तत्र धर्म-वीरताकी दिव्य किरणें प्रस्फुटित होती दिखायी हैं । सच्चे पुत्रके सामान्य कर्तव्यके रूपमें यह धर्म-वीरताका उद्रेक देखिये—

‘मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिय तात ।

आयसु देख्य हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात ॥

धन्य जन्म जगतीतल तासू । पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ताके । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ॥
आयसु पालि जनम फलु पाई । ऐहउँ वैगिहि होउ रजाई ॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी । चलिहउँ वनहिं बहुरि पग लागी^१ ॥’

तुलसीके विशाल एवं उत्कृष्ट काव्य-क्षेत्रमें रौद्र, भयानक, वात्सल्य तथा शान्त रसोंके भी एकपे एक बढ़कर अनूठे उदाहरण विद्यमान हैं, पर स्थानाभावके कारण इनके उदाहरण आदि छोड़कर हम आगे बढ़ते हैं ।

रसके सभी उपकरणोंको जुटाकर किसी रस-विशेषकी योजना कर देना कोई बड़ी बात नहीं । वस्तुतः कविकी रस-मर्मज्ञताका पता तब चलता है जब वह रसौचित्यका सांगोपांग निर्वाह करता है अर्थात् वह प्रमादवश न विरोधी रसोंका संकर ही करता है और न रसदोषोंके ही

१. ‘गीतावली’ अरण्य० गीत, ११, १३

२. ‘मानस’ अयो० ४५.१ — ४

चक्रमें पड़ता है। तुलसीने अपनी रचनाओंमें विरोधी रसोका संकर कहीं भी नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने परस्पर सहायक रसोंको ही मिलाया है। भयानक, अद्भुत और वीरके स्वतन्त्र-रस-संकरका एक उदाहरण देखिये—

‘महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अतिघनी ।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध धनी ॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि माया नाथ अति कौतुक करेउ ।
देखहि परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरेउ’ ॥^१

एक ऐसा उदाहरण देखिये जिसमें कविने वीर और भयानक सदृश विरोधी रसोंको भिन्न देशमें वर्णित कर रसदोष नहीं आने दिया है।

‘प्रभु कीन्हि धनुषटंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा ।
भये बधिर व्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा’ ॥^२

यहाँ राममें वीर और राक्षसोंमें भयानक होनेके कारण अर्थात् भिन्न देशमें वर्णित होनेसे दोनों विरोधी रसदूषित नहीं हुए हैं।

रस अनुभूत होनेवाली वस्तु है। अतः उसके निरूपणमें यह अत्यावश्यक माना जाता है कि कवि स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, शृंगार, वीर, स्मृति, शोक, चिन्ता और रस प्रभृतिका तत्तद्भेददर्शक स्वनाम द्वारा उल्लेख न करें। ऐसा करना रसदोष माना जाता है। तुलसी इससे भी मुक्त हैं। इस प्रसंगमें हमें यह न भूलना चाहिये कि जहाँ विभाव और अनुभावसे तत्तद्भावकी स्पष्टतया प्रतीति न होती हो वहाँ यदि संचारी भाव स्वनामसे निर्दिष्ट किया जाता है तो वह दोष नहीं कहा जायगा। जैसे तुलसीके इस दोहेमें देखिये—

‘गुरुजन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि ।
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुवीरहि उर आनि’ ॥^३

१. ‘मानस’ अरण्य० २०

२. ‘मानस’ अरण्य० १९

३. ‘मानस’ बा० २४८

उदाहृतमें लज्जा सञ्चारी भावका जो स्वनाम द्वारा प्रयोग किया गया है वह दूषित नहीं है, क्योंकि सकुचकर दूसरी ओर देखना इस अनुभावका भीत्यादिमें होना भी सम्भव है, ऐसी दशामें 'लगी बिलोकन सखी तन' इस अनुभाव द्वारा लज्जा सञ्चारी भावका ही बोध न हो सकता, एतदर्थ यहाँ लज्जा सञ्चारी भावका जो स्वनाम द्वारा उल्लेख किया गया है वह सदोप नहीं है।

भावका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। प्रधानतासे प्रतीयमान निर्वेदादि सञ्चारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादिके अभावसे उद्बुद्ध-मात्र रसावस्थाको अप्राप्त रति आदि स्थायी भावोंको भाव कहते हैं^१। हमारे कविने अपनी कृतियोंमें प्रायः सभी प्रकारके भावोंका निरूपण किया है। कुछके उदाहरण दिये जाते हैं।

ईश्वर-विषयक रति-भाव देखिये—

‘बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।

कर बिनु करम करइ विधि नाना॥

आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥

पुनि पुनि प्रभु-पद कमल गहि जोरि पंकरुहपानि।

बोली गिरिजा बचन वर मनहु प्रेमरस सानि^२॥’

तुलसीने देवता-विषयक रति-भावका जहाँ-जहाँ निरूपण किया है वे सभी स्थल ऐसे नहीं हैं कि केवल भक्त पुकार या स्तुति आदि करके रह जाता हो और देवता प्रत्यक्ष रूपमें कुछ न कहता-सुनता हो, प्रत्युत उन्होंने कुछ ऐसे वर्णन भी किये हैं कि आलम्बन (देवता) भी प्रत्यक्ष रूपमें

१. ‘काव्यालोक’ पृ० २६८.

२. ‘मानस’ बा० ११७. ५-८, ११९.

(आश्रय) भक्तको आश्वासन देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि जानकी अपनी परम श्रद्धासे गिरिराज-किशोरीकी प्रतिमाकी नाना प्रकारसे जय-जयकार करती हुई अपने मनोरथ-पूर्तिकी याचना करती हैं तो उससे प्रभावित होकर भवानी भी मुस्कराकर अपना प्रसाद देती हुई बोल उठती हैं—

‘बिनय-प्रेम-बस भई भवानी । खसी माल मूरति मुसुकानी ॥
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ । बोली गौरि हरषु उर भरेऊ ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी । पूजिहि मन कामना तुम्हारी ॥
नारद बचन सदा सुचि साँचा । सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा’ ॥’

यद्यपि ऐसे प्रसंगोंमें आलंकारिकोंके मतके विपरीत भक्तिभावके रसत्व-प्राप्ति करनेका विचार अपेक्षित है, पर इस विषयपर अधिक विवेचना अनिवार्य होनेके कारण प्रस्तुत प्रबन्धका विस्तार अधिक हो जायगा। इसलिए इस विषयको यहीं छोड़ता हूँ।

गुरु-विषयक रति-भावका एक मनोहर उदाहरण ‘मानस’के प्रारम्भमें ‘बंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा ।’ आदिमें देखिये। ऋषि-विषयक और राज-विषयक रति-भावके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

‘बंदउँ मुनि-पद-कंजु रामायन जेहि निरमयेउ ।
सखर सुकोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित’ ॥’
... ..

‘बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तन इव परिहरेउ’ ॥’

उद्बुद्धमात्र स्थायी भावका भी एक उदाहरण लीजिये—

‘माषे लषन कुटिल भई भौहैं । रदपट फरकत नयन रिसौहैं’ ॥’

१. ‘मानस’ बा० २३५. ५—८

२. वही, बा० १४

३. वही, बा० १६

४. वही, बा० २५१. ८

यहाँ आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदिके होते हुए भी क्रोध स्थायी भावकी पुष्टि नहीं हो पायी है, क्योंकि इसीके साथ कविने यह भी निरूपण कर दिया है कि—

‘कहि न सकत रघुवीर डर लगे बचन जनु बान ।

नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान’ ॥’

इससे स्पष्ट है कि रामके भयके सामने क्रोध स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है, परिपुष्ट नहीं होता । अतः यहाँ भावध्वनि ही मानी जायगी ।

अन्तमें, प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भावके कुछ नमूने लीजिये—

(क) ‘तुलसी प्रभु के बिरह अधिक हठि राजहंससे जोरे ।

ऐसेहु दुखित देखि हों जीवति राम लषनके घोरे’ ॥’

(ख) ‘पुर तैं निकसीं रघुवीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै ।

झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै ॥’

फिरि बूझति हैं ‘चलनो अब केतिक, पर्न कुटि करिहौ कित है ।

तिय की लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल चवै’ ॥

(ग) ‘धरि धीर कहैं चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं ।

क हहै जग पोच न सोच कछु, फल लोचन आपन तौ लहिहैं ॥

सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं ।

तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं’ ॥’

(घ) ‘कोटि मनोज लजावनि हारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥

सुनि सनेहमय मंजुल बानी । सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी ॥

तिन्हिहिं विलोकिबिलोकतिधरनी । दुहुँसकोच सकुचतिबरबरी ॥

सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी । बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥

१. वही, बा० २५२

२. ‘गीतावली’ अयो० गीत ८६ [४] ३. ‘कविता०’ अयो० छ० ११

४. ‘कविता०’ अयो० छ० २३

सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लषनु लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदन-विधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौह करि बाँकी ॥
खंजनमंजुतिरीछैनयननि । निजपतिकहेउतिन्हहिंसियसयननि ॥'

(ङ) 'बारि बिलोचन वाँचत पाती । पुलक गात आई भरि छाती ॥
राम लषनु उर कर बर चीठी । रहि गये कहत न खाटी मीठी ॥'

(च) 'स्रवन सुनत सागर बंधाना । दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥
बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंघु बारीस ।
सत्य तोयनिधि कम्पति उदधि पयोधि नदीस' ॥'

अस्तु, इन अवतरणोंके (क)में 'निर्वेद' तथा (ख), (ग), (घ), (ङ) एवं (च)में क्रमशः 'श्रम', 'औत्सुक्य', 'व्रीडा', 'जड़ता' और 'आवेग' सञ्चारी भाव व्यञ्जित हैं ।

आगे गोस्वामीजीके द्वारा निरूपित रसाभास और भावाभासकी व्यञ्जना करनेवाले कुछ उदाहरणोंकी ओर बढ़िये । देखिये, शृंगारका यह रसाभास—

‘जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम ।

ते निज निज मरजाद तजि भये सकल बस काम ॥

सब के हृदय मदन अभिलाखा । लता निहारि नवहिं सब साखा ॥
नदी उमगि अंबुधि कहूँ धाई । संगम करहिं तलाव तलाई ॥
जहँ असि दसा जड़न की बरनी । को कहि सकइ सचेतन्ह करनी ॥
पसु पच्छी नभ जल थल चारी । भये काम बस समय बिसारी ॥
मदन अंध व्याकुल सब लोका । निसिदिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥
देव-दनुज नर-किन्नर व्याला । प्रेत-पिसाच भूत-बेताला ॥
इनकी दसा न कहउँ बखानी । सदा कामके चेरे जानी ॥

१. 'मानस' अयो० ११५. १—७

२. वही, बा० २८९. ४, ५

३. वही, लं० ४. १०, ५

सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी । तेपि काम वस भये वियोगी^१ ॥'

यहाँ लता, वृक्ष, नदी, समुद्र, ताल, तलाई, पशु, पक्षी, मुनि, योगी प्रभृतिका अनुचित शृंगार वर्णित होनेसे शृंगाररसाभास है ।

करुणरसाभासका उदाहरण यह लीजिये—

‘सुनि सुतवचन सनेहमय कपट नीर भरि नयन ।

भरत खवन मन सूलसम पापिनि बोली बयन ॥

तात बात मैं सकल सँवारी । भइ मथरा सहाय विचारी ॥

कलुक काज बिधि बीच बिगारेउ । भूपति सुरपति पुरपगु धारेउ^३ ॥’

यहाँ दशरथकी मृत्युपर कैकेयीने अपनी आँखोंमें आँसू भरकर भरतके सामने जो शोक-प्रकाशन किया है उसकी अयथार्थताके कारण करुण-रसाभास हुआ ।

भावभासका भी एक उदाहरण देखिये—

‘सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहि नृप ।

मोहि ताहि पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव ॥

नाम तुम्हार प्रताप दिनेसा । सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥

गुरु प्रसाद सब जानिय राजा । कहिय न आपन जानि अकाजा ॥

देखि तात तव सहज सुधाई । प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई ॥

उपज परी ममता मन मोरे । कहउँ कथा निज पूछे तोरे^१ ॥’

अवतरणसे प्रकट है कि कपटमुनिने अपनी कार्य-सिद्धिके लिए राजाके प्रति अपना कपटमय प्रेम प्रदर्शित किया है, एतदर्थ यहाँ राजा-विषयक रतिभावभास हुआ ।

भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि तथा भावशबलताके नमूने भी क्रमशः देखिये—

‘मैं यहि परसु काटि बलि दीन्हे । समरजग्य जग कोटिक कीन्हे ॥

१. ‘मानस’ बा० ८४. १—८.

२. वही, अयो० १५८. १, २

३. वही, बा० १६३. १—४

मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे । बोलसि निदरि विप्र के भोरे॥
भंजेउ चाप दाप बड़ वाढ़ा । अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा॥'

यह गर्व-सञ्चारी आगे जब रामने रमापतिवाले धनुष्की प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तो विस्मयसे परिवर्तित हो गया—

'राम रमापति कर धनु लेहू । खैंचहु मिटइ मोर संदेह ॥
देत चापु आपुहि चढ़ि गयेऊ । परसुराम मन विस्मय भयेउ' ॥'

अतः यहाँ भावोदय हुआ ।

शिवके धनुर्भंगकी ध्वनि सुनते ही परशुराम क्रुपित हुए और जब वे जनककी सभामें आये तो उनके देखनेसे ही प्रकट होता था कि उनमें कौन-सा भाव छाया रहा—

'सीस जटा ससि बदन सुहावा ।

रिस बस कछुक अरुन होइ आवा ॥

भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते ।

सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते' ॥'

परन्तु यह क्रोधभाव विश्वामित्रके आकर मिलने और राम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंको मुनिके चरणोंमें डालनेके उपरान्त सहसा छुप्त हो गया और वे—

'रामहिं चितइ रहे थकि लोचन । रूप अपार मार मद मोचन' ॥'

इस प्रकार यहाँ भावशान्ति हुई ।

भावसन्धि नीचेकी इन पंक्तियोंमें कितनी सुन्दरतासे व्यक्त हुई है—
'तब देखी मुद्रिका मनोहर । रामनाम अंकित अति सुंदर ॥
वकित चितइ मुदरी पहिचानी । हरष विषाद हृदय अकुलानी' ॥'

इसमें एक साथ ही हर्ष और विषादका सञ्चार वर्णित है ।

१. 'मानस' बा० २८२. ४-६

२. वही, बा० २८३. ७, ८

३. वही, बा० २६७. ५, ६

४. वही, बा० २६८. ८

५. वही, सुन्दर० १२. १, २

‘गीतावली’के ‘सुवन समीरको धीर धुरीन बीर बड़ोइ’से प्रारम्भ होनेवाले गीतमें समान चमत्कारक अनेक भावोंका सम्मेलन होनेसे अपूर्व भावशबलता दिखायी गयी है। उक्त गीत बड़ा है। उसे उद्धृत करनेका अवकाश नहीं।

केवल विवक्षित वाच्यध्वनिके प्रथम भेद-प्रभेदोंके ही कुछ उदाहरण आदि देनेमें इतना विस्तार हो गया और यदि अब लक्ष्यक्रम व्यंग्यके दोनों प्रधान भेद वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि तथा इनके उपभेद आदिका प्रसंग छोड़ा जाय तो प्रस्तुत परिच्छेद बहुत बढ़ जायेगा, अतः उसे हम यही कहकर छोड़ते हैं कि तुलसीकी रचनाओंमें वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनिके भी सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं।

यद्यपि हमें अलंकारवादियोंकी ऐसी उक्ति—

‘अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥’

(अर्थात् जो विद्वान् अलंकार-रहित शब्द और अर्थको काव्य मानता है वह अग्निको उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता) से सर्वोद्देशमें सहमत होकर अलंकारको काव्यका सारभूत अंग माननेकी आवश्यकता नहीं, तथापि उसे काव्यका एक ऐसा साधन तो मानना ही पड़ेगा जो यथार्थ और उपयुक्त रीतिसे प्रयुक्त होनेपर भावोंका उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओंके रूप, गुण, क्रियाका अधिक तीव्र अनुभव करानेमें बहुत कुछ सहायक होता है। श्रेष्ठ काव्य-प्रणेताओंको अलंकारोंका पूर्ण ज्ञान रहता है और वे उनके यथोचित प्रयोगोंसे भी अपने काव्यकी कमनीयता बढ़ाते हैं। गोस्वामीजी-को अलंकारोंका सम्यक् ज्ञान था, यह इसीसे प्रमाणित हो जाता है कि उनके काव्यमें अलंकारोंके तीनों प्रधान प्रकार अर्थात् शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार अपने-अपने भेद-प्रभेदोंके सहित उत्तम रीतिसे प्रयुक्त किये गये हैं।

शब्दालंकारका काव्यमें विशेष प्रयोग उसके महत्त्वको कम करनेवाला होता है। तुलसीदासजी गम्भीर प्रकृतिके थे। उन्होंने यमकादि शब्दालंकार-पर विशेष दृष्टि नहीं रखी, स्वाभाविक रीतिसे ही ये अलंकार आ गये हैं। रहे अर्थालंकार, उनमेंसे कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो हमारे कविकी रचनाओंमें न मिले। सभी प्रकारोंका एक-एक उदाहरण देनेके लिए भी प्रस्तुत प्रबन्धमें अवकाश नहीं। अतः संक्षेपमें, सुभीतेके साथ विचार करनेके लिए हम विद्याधर, विद्यानाथ प्रभृति आलंकारिकोंके द्वारा किये गये अलंकारोंके वर्गीकरणको ध्यानमें रखते हुए प्रत्येक वर्गके कुछ ही अलंकारोंके उदाहरण देंगे।

साधर्म्यमूलक अलंकारोंको देखनेसे पता चलता है कि उनमेंसे कुछ तो अभेद-प्रधान, कुछ भेद-प्रधान और कुछ भेदाभेद-प्रधान होते हैं। अभेद-प्रधानके अन्तर्गत रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति आते हैं, भेद-प्रधानमें दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, प्रतीप, व्यतिरेक, अधिक, अल्प परिगणनीय हैं और भेदाभेद-प्रधान अलंकारोंमें उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण विनाये जा सकते हैं।

गोस्वामीजीने रूपक अलंकारपर अपना अनुपमेय अधिकार दिखाते हुए उसका प्रयोग अपनी सभी कृतियोंमें पग-पगपर किया है। छोटे-छोटे निरंग और परम्परित रूपकोंका तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े और बेजोड़ सांग रूपकके भी एकसे एक बढ़कर उदाहरण 'मानस', 'गीतावाली', 'विनयपत्रिका' प्रभृति प्रधान कृतियोंमें जगमगाते हैं। उन्होंने अपने इन लम्बे-लम्बे सांग रूपकोंमें भी मजाल नहीं है कि सादृश्य और साधर्म्यका आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उसकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखायी हो। उन्होंने ऐसे रूपकोंकी योजना सामान्यतया गम्भीर विषयोंको सरस एवं सरल रीतिसे हृदयंगम करानेके लिए ही की है और उसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके रूपक केवल परम्परागत उपमानों और अप्रस्तुतोंकी क्षुद्र परिधिमें ही नहीं बँधे रहते, अपितु वे विशेषांशमें अपनी

सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्तिके सहारे प्रकृतिके व्यापारोंसे ही ऐसे अप्र-
स्तुतोंका चयन करते हैं कि उनसे रूपकमें प्रभावादिके अतिरिक्त बड़ी ही
स्वाभाविकता आ जाती है। अत्यन्त संक्षेपमें यही उनके रूपकोंकी
विशेषताएँ हैं। अब एक उदाहरण लीजिये—

‘आस्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथु ।

सेन मनहुँ करनासरित, लियें जात रघुनाथ ॥

बोरति ग्यान विराग करारें । बचन ससोक मिलत नद नारें ॥
सोच उसास समीर तरंगा । धीरज तट-तरु-बर कर भंगा ॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा । भय भ्रम भँवर अबर्त अपारा ॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा । सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥
बनचर कोल किरात बैचारे । थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई । मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥’

अपह्नुतिका चमत्कार कैसी स्वाभाविक रीतिसे रामके रंगभूमिमें
प्रवेश करनेके साथ सूर्योदय होनेके प्रसंगमें दिखाया गया है, यह देखिये—

‘रवि निज उदय व्याज रघुराया ।

प्रभुप्रताप सब नृपन्ह दिखाया’ ॥’

उल्लेखकी योजनाके सहारे विविध गुणोंके आश्रयत्वसे एक ही रामको
कविने कैसे विभिन्न रूपोंमें दर्शाया है, यह ‘मानस’के बालकाण्डकी ‘जिन्ह कै
रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥’से लेकर उसके नीचेकी
चौपाइयोंकी मालामें भली भाँति देखा जा सकता है^१ । जिस पाठकको
अलंकारका ज्ञान नहीं उसे भी उक्त प्रसंग स्वाभाविक ही लगता है, क्योंकि
इसे वह रामकी दिव्य विभूति समझता है ।

अब साधर्म्यमूलककी भेद-प्रधान श्रेणीमें आनेवाले अलंकारोंमेंसे कुछ
के उदाहरणोंकी ओर आइये ।

१. ‘मानस’ अयो० २७५. १-६

२. वही, बा० २३८. ५

३. वही, बा० २४०. ४-८, २४१. १-८

दीपककी योजनासे विभिन्न प्रस्तुत और अप्रस्तुतोंका एक ही धर्म अर्थात् क्रियामें सम्बन्ध यहाँ किस प्रकार दिखाया गया है, यह भी देखिये—
‘संग ते जती कुमंत्र ते राजा । मान ते ग्यान पान ते लाजा ॥
प्रीति प्रनय विनु मद ते गुनी । नासहिं वेगि नीति अस सुनी’॥’

अनेक अप्रस्तुतोंका एक धर्म कालक्षेप करनेकी असमर्थताकी यह स्वाभाविक और सच्ची उद्भावना किस प्रकार तुल्ययोगितासे अलंकृत हो जाती है, यह देखिये—

‘सहवासी काचो गिलहिं, पुरजन पाक प्रवीन ।
काल छेप केहि मिलि करहिं, तुलसी खग मृग मीन’॥’

निदर्शनाके द्वारा गोस्वामीजीने इन पंक्तियोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति-की उत्कृष्टता कैसे अच्छे ढंगसे व्यक्त की है—

‘जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ग्यान हेतु खम करहीं ।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी’॥’

सद्बोधि द्वारा एक ही धनुर्भंगके व्यापारमें होनेवाली अनेक क्रियाओं-का यह सहभाव कैसी सुन्दरतासे दिखाया गया है—

‘गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाय लियां ।
नृपगन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो ॥
आकरण्यो सिय-मन समेत हरि, हरण्यो जनक-हियो ।
भंज्यो भृगुपति-गर्व सहित, तिहुँ लोक बिमोह कियो’॥’

व्यतिरेकका उदाहरण देखिये—

‘सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर ।
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर’॥’

१. वही, अरण्य० २०, १०, ११

२. ‘दोहावली’ दो० ४०४

३. ‘मानस’ उ० ११४. १, २

४. ‘गीतावली’ बा० गीत ८८ [६, ७]

५. ‘बरवै’ बा० २

इसीको हाथीपर चढ़ाकर गधेपर बैठाना कहते हैं ।

अधिक अलंकारकी योजना द्वारा अत्यधिक आनन्दोल्लासकी यह कैसी व्यञ्जना की गयी है—

‘बहुत उछाह भवन अति थोरा । मानहु उमगि चला चहुँ ओरा’॥’

यहाँ बहुत उछाह आधेयको भवन आधारसे बहुत बड़ा बताया गया है ।

यदि अल्पका भी चमत्कार देखना चाहें तो बरवैकी यह एक पंक्ति लीजिये—

‘कनगुरिया कइ मुँदरी-कँगना होइ’ ।’

इसमें कनगुरियाकी मुँदरी सूक्ष्म आधेयसे हाथ आधारके अधिक या बड़ा होनेपर भी उसे सूक्ष्म बताया गया है । तभी तो मुँदरी कंकणका स्थान ले रही है ।

साधर्म्यमूलकके भेदाभेद प्रधान-अलंकारोंमें सर्वोपरि उपमा ही है । इसका प्रयोग भी गोस्वामीजीने प्रचुर परिमाणमें किया है । उनकी उपमाओंको दृष्टिमें रखते हुए यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि ये अधिकांशमें सौन्दर्य या दृश्य-चित्रणके लिए व्यवहृत हुई हैं । इनमें उनकी नूतनातिनूतन कल्पनाशक्तिका विस्तार भी अवगत होता है । कवि-समय-सिद्ध उपमानोंके अतिरिक्त नये उपमानोंके प्रयोगकी भी न्यूनता नहीं है । यही नहीं, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपमानोंको भी कहीं-कहीं बड़ी अनुठी उद्भावनाके साथ विशेष-विशेष प्रसंगोंमें बैठाय़ा गया है । उन्होंने ऐसी उपमाओंकी भी सृष्टि की है जो एकमात्र उनके जड़ एवं चेतन जगत्के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण तथा आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूतिपर अवलम्बित हैं । अब उपमाकी कुछ ऐसी भिन्न-भिन्न पंक्तियाँ देखिये जिनसे उक्त विशेषताएँ झलक उठें—

१. ‘मानस’ बा० २९६. ८

२. ‘बरवै०’ सुन्दर० ३८

‘तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से ।
सजनी ससि में समसील उमै नवनील सरोरुह-से बिकसे’ ॥’

...

...

...

‘दिये पीठि पाछे लगे, सनमुख होत पराय ।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन वैठि गँवाय’ ॥’

‘जनक बचन हुए बिरवा लजारु के-से,
बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के’ १’

...

...

...

‘लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपिन कर सोना’ ॥’

अध्यवसायमूलक अलंकारोंके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार आते हैं। इन दोनों अलंकारोंका प्रयोग भी गोस्वामीजीने दिल खोलकर किया है। उत्प्रेक्षाओंकी भरमार भी उपमाओं और रूपकोंकी भाँति उनकी सभी कृतियोंमें देखी जा सकती है। उन्होंने जहाँ-कहीं रूप या अंग-शोभाको वर्णनीय बनाया है वहीं उत्प्रेक्षापर उत्प्रेक्षा करते हुए उसकी अनूठी माला भी प्रस्तुत कर दी है जो पाठकको सहजमें ही अप्रतिम सौन्दर्यानुभूति कराती है। इस मालामें पिरोये अप्रस्तुत कवि-परम्परानुगत और प्रकृतिसे गृहीत दोनों प्रकारके रहते हैं। दोनों ही प्रस्तुतके भावको पूर्णतया अनुरजित करते हैं। देखिये—

‘जानकी-बर सुंदर माई ।

इंद्रनील-मनि स्याम सुभग अंग अंग मनोजनि बहु छवि छाई ॥
अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई ।
कंजदलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सुसदसि बनाई ॥
पीत जानु उर चारु जटित मनि नूपुर पद कल मुखर सोहाई ।
पीतपराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लोभाई ॥

१. ‘कविता०’ बा० छ० २

२. ‘दोहावली’ दो० २५७

३. ‘गीतावली’ बा० गीत ८२ [१]

४. ‘मानस’ बा० २५८.२

किंकिन कनककंज अवली मृदु मरकत सिखर मध्य जनु जाई ।
 गई न उपर सर्भांत नमित-मुख, बिकसि चहुँदिसि रही लोनाई ॥
 जज्ञोपवीत विचित्र हेमभय, मुक्तामाल उरसि मोहि भाई ।
 कंद-तड़ित बिच जनु सुरपति-धनु-रुचिर वलाकपाँति चलि आई ॥
 कंवुकंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौँ दसनन की रुचिराई ।
 पदुम कोस महँ वसे बज्र मनो निज संग तड़ित-अरुन-रुचि लाई ॥
 नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छवि पाई ।
 रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदय डेराई ॥'

उत्प्रेक्षा अलंकारकी योजनामें कवि अपनी कल्पनाकी जो उड़ान भरता है उसकी सफलता इसीमें है कि इसके सहारे वह ऐसे ही अप्रस्तुत-को लाये कि उससे प्रस्तुतका विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव ही झलके । इसी दशामें वर्ण्यके रूपकी सौन्दर्यानुभूति होती है । यथा—

सतानंद सिय सुनि पायँ परि पहिराई
 माल सिय पिय-हिय, सोहत सो भई है ।
 मानस ते निकसि विसाल सु तमाल पर
 मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है^१ ॥'

यहाँ प्रस्तुत 'जयमाल' और अप्रस्तुत 'मराल-पाँति' दोनोंमें वर्ण-सादृश्य ही नहीं, अपितु सौन्दर्यकी भावना भी है ।

अतिशयोक्तिकी योजनामें तुलसीने भी यद्यपि अन्य कवियोंकी भाँति दूरकी उड़ान भरी है, परंतु कहीं भी इसका फल यह नहीं हुआ है कि उनकी अतिशयोक्ति केवल कौतूहलमात्र दिखाकर या पहेली बनकर रह जाती हो और उनके अभिप्रेत वर्ण्यमें उत्कर्ष न लाती हो । अत्यन्तातिशयोक्तिका एक ऐसा उदाहरण लीजिये जो इतनी स्वाभाविकतासे प्रकट किया गया है कि सभी लोग उसे झट पहचान भी नहीं सकते—

१. 'गीतावली' बा० गीत १०६

२. वही, ९४ [४]

‘राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार ।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाप तुम्हार’ ॥’

गोस्वामीजीने ‘मानस’, ‘गीतावली’ तथा ‘कवितावली’में धनुषके टूटनेपर उसके घोर रवके भङ्ककरताद्योतनके लिए, अथवा युद्ध-वर्णनके कई प्रसंगोंमें ऐसी सम्बन्धातिशयोक्तिकी योजना की है जो पूर्णतया परम्परागत है। अतः वह भी अस्वाभाविक नहीं लगती, प्रत्युत अपने प्रयुक्त प्रसंगमें विचित्र प्रभविष्णुता लाती है।

विरोधमूलक अलंकारोंकी श्रेणीमें आनेवालोंमेंसे भी दो-चारकी बानगी लीजिये—

विभावनाः—

‘बिनुपद चलइ सुनइ बिनुकाना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु वानी बकता बड़ जोगी’ ॥’

यहाँ कवि निराकार ब्रह्मकी अलौकिकता हृदयंगम करानेके लिए अपनी आलंकारिक रीतिसे कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति बताकर पाठकके हृदयमें ईश्वर-विषयक भावकी विशेष पुष्टि करनेमें समर्थ हुआ है।
विषमः—

‘करुना निधानको तो ज्यों-ज्यों तनु छीन भयो ।
त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन’ ॥’

यह अलंकृत उक्ति रामके हृदयमें सीताके वियोगजनित दुःखाधिक्य और उनके प्रेमाधिक्य दोनों भावोंकी बड़ी ही गम्भीर अनुभूति करानेमें सहायक हो रही है।

असंगतिः—

‘जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई’ ॥’

१. ‘मानस’ अथो० ३

२. वही, बा० ११७. ५, ६

३. ‘गीतावली’ सुन्दर० गीत ८

४. ‘मानस’ बा० २०३. ८

चारों भाइयोंके मनमोहक रूपके विशेष आकर्षणकी अभिव्यञ्जनामें यह असंगति भी योग दे रही है।

विरोधकी ओटमें निष्काम कर्मका यह गूढ़ रहस्य देखिये—

‘तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।

सेए सोक समर्पई विमुख भये अभिराम’ ॥’

यहाँ आशा देवीका विमुख होनेपर भी अभिराम होना विरुद्ध है।

अप्रस्तुतप्रशंसाके सभी भेदोंमेंसे उसके पञ्चम भेद सारूप्य निबन्धनाका, जिसे अन्योक्ति भी कहा जाता है, प्रयोग भी हमारे कविने बड़े मार्मिकतापूर्वक ‘दोहावली’के कई दोहोंमें किया है। एक उदाहरण लीजिये—

‘तुलसी तोरत तीर तर, बक हित हंस बिडारि।

बिगत नलिन अलि, मलिन जल, सुरसरिहू बढ़ियारि’ ॥’

यहाँ अप्रस्तुत वादकी गंगाका ध्वंसकारी चित्र उपस्थित करके उसके द्वारा कवि इस प्रस्तुतका बोध कराना चाहता है कि बढ़ती होनेपर सज्जन भी इतरा जाते हैं।

वाक्यन्यायमूलक अलंकार यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प तथा समुच्चयके प्रयोग भी गोस्वामीजीने किये हैं। इनमेंसे परिसंख्या तो एक ही प्रसंगमें आया है, पर अन्य सभी सामान्य रूपसे कई प्रसंगोंमें व्यवहृत हुए हैं। इन सबके उदाहरण देखिये—

‘मधुर बचन कटु बोलिबो, बिनु स्नम भाग अभाग।

कुहू कुहू कलकंठ रव, काँ काँ कररत काग’ ॥’

इस यथासंख्याके द्वारा कविने मधुर और कर्कश वाणीमेंसे प्रथमका उत्कर्ष और दूसरेका अपकर्ष बड़ी स्वाभाविकतासे हृदयंगम कराया है। अतः अलंकारका प्रयोग सार्थक है।

‘दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नरतक नृत्य समाज ।

जीतहु मनहि सुनिय अस रामचंद्रके राज’ ॥’

इस परिसंख्याके द्वारा रामराजका सौख्याधिक्य व्यंग्य होनेसे इसमें भी कृत्रिमता नहीं प्रकट होने पाती ।

‘जितेहु सुरासुर तब स्रम नाहीं ।

नर बानर कोहि लेखे माहीं’ ॥’

यहाँ काव्यार्थापत्तिसे भीरु और चापलूस मन्त्रियोंका कृत्रिम आश्वासन और उद्बोधनका भाव भी भासित होता है ।

‘की तनुप्रान कि केवल प्राना । विधि करतवु कछु जाइ न जाना’ ॥’

रामके वियोगकी आशंकामात्रसे सीताके दुःखाधिक्य-भावकी तीव्र व्यञ्जना भी यह विकल्प बड़ी खूबीसे कर रहा है ।

‘ग्रहगृहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार ।

ताहि पियाइअ बारुनी कहहु कवन उपचार’ ॥’

यह समुच्चय कल्पनातीत वेदनाधिक्यकी अनुभूति करानेमें सहायक हो रहा है ।

लोकव्यवहारमूलक अलंकार भी कई हैं । उनमेंसे प्रायः सबके सब हमारे कविकी रचनाओंमें प्रयुक्त हुए हैं । स्थानाभाववश दो ही चारके नमूने दिये जाते हैं—

प्रत्यनीकः—

‘नहिं चितव जव कपि कोपि तब गहि दसन्ह लातन्ह मारहीं ।
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं’ ॥’

१. ‘मानस’ उ० २२

२. वही, सुन्दर० ३६. ९

३. वही, अयो० ५७. ४

४. वही, अयो० १७९

५. वही, लं० ८१

यहाँ रावणकी उपेक्षाको अत्यधिक अपेक्षामें परिणत करनेके लिए ऐसी उत्तेजक घटनाकी अवतारणा की गयी है जो अवश्य ही अपना फल प्रस्तुत करती है।

स्वभावोक्ति:—

‘भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ।

भाजि चले किलकत मुख दधि-ओदन लपटाइ^१॥’

विनोक्ति:—

‘स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनुबानी^२॥’

तर्कन्यायमूलक अलंकारोंमेंसे भी दो-एकके उदाहरण लीजिये—

काव्यलिङ्ग:—

‘ब्यालहु ते बिकराल बड़, ब्यालफेन जिय जानु।

वहि के खाये मरत है, वह खाये बिनु प्रानु^३॥’

अर्थान्तरन्यास:—

‘कारन ते कारज कठिन होइ दोष नहि मोर।

कुलिस अस्थि ते उपल ते लोह कराल कठोर^४॥’

शृङ्खलावैचित्र्यमूलक अलंकारोंकी श्रेणीमें आनेवाले कारणमाला, एकावली, मालादीपक तथा सारका भी क्रमशः एक-एक उदाहरण देखिये—

‘बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।

मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग^५॥’

...

...

...

‘काल बिलोकत ईस रख, भानु काल अनुसारि।

रबिहि राउ, राजहि प्रजा, बुध व्यवहरहि बिचारि^६॥’

१. ‘मानस’ बा० २०३.

२. वही, बा० २२८. २

३. ‘मानस’ अयो० १७८.

४. ‘दोहावली’ दो० ५०४

५. ‘दोहावली’ दो० ५०२

६. वही, उ० ६१

...
‘जग जपु राम राम जपु जेहीं’ ॥’
...

‘आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ’ ॥’

अपह्वमूलक अलंकारोंमेंसे व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति और मीलित-
के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

‘धन्य कीस जो निज प्रभु काजा ।
जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा ॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई ।
पतिहित करइ धरम निपुनाई’ ॥’

‘नाँगो फिरै, कहै माँगनो देखि न खाँगो कछु, जनि माँगिए थोरो ।
राँकनि नाकप रीझि करै, तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो’ ॥’

‘सिय तुब अंग रंग मिलि अधिक उदोत ।
हार वैलि पहिरावउँ चंपक होत’ ॥’

विशेषणवैचित्र्यमूलक समासोक्ति और परिकर अलंकारके सटीक
और उपयुक्त प्रयोग भी देखिये—

‘बरषि परुष पाहन पयद, पंख करो डुक-डूक ।
तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहिँ चूक’ ॥’

‘देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं । सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं’ ॥’

अन्तमें अब दो-एक ऐसे उदाहरण लीजिये जो उभयालंकारके दोनों
भेद संसृष्टि और संकरके प्रयोगमें इनकी प्रगाढ़ योग्यताके समर्थक हों ।

१. ‘मानस’ अयो० २१६.८

२. ‘दोहावली’ दो० ३५७

४. ‘कविता०’ उ० छ० १५३

६. ‘दोहावली’ दो० २८२

३. ‘मानस’ लं० २३.१, २

५. ‘बरवै०’ बा० छ० ६

७. ‘मानस’ अयो० २९.४

निम्नांकित दोहेमें अनुप्रास सदृश शब्दालंकार तथा उत्प्रेक्षा एवं क्रमालंकार सदृश अर्थालंकारकी कैसी सुन्दर संसृष्टि हुई है—

‘लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।

ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु’ ॥’

यदि सन्देह संकरकी भूलभुलैयामें रमना हो तो इस अर्द्धालीमें प्रवेश कीजिये—

‘सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के।

लोचन नलिन भरे जल सिय के’ ॥’

यहाँ ‘लोचन नलिन’ पदमें उपमा और रूपकका सन्देह तो हो जाता ही है, साथ ही अवतरणमें विषमालंकार और अप्रस्तुतप्रशंसाका भी सन्देह हो जाता है, क्योंकि प्रियके मृदु वचनोंको सुनकर दुःख होना, अर्थात् भले उद्योगसे अनिष्ट फल मिलना, यह विषम अलंकार होता है और ‘लोचन नलिन भरे जल सिय के’ इस वचनसे नेत्रोंमें अश्रु आ जानेके बहाने उसके कारणरूप दुःखका कथन होना कार्यसे कारणका बोधरूप अप्रस्तुतप्रशंसा-अलंकार भी हो सकता है। यहाँ कार्य है—लोचन जल और उसका कारण है—दुःख, तात्पर्य यह कि जहाँ अप्रस्तुत कार्यसे प्रस्तुत कारणका बोध होता है वहीं कार्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।

यहाँ उक्त अलंकारोंमेंसे न तो किसीके खण्डनकी सामग्री है और न मण्डनकी, अतः निश्चयपूर्वक किसी अलंकारका निर्णय नहीं हो सकता।

गोस्वामीजीकी अलंकार-योजनाके इन विविध उदाहरणोंको देखते हुए यह सभी स्वीकार करेंगे कि उन्होंने अलंकारोंका प्रयोग कहीं भी चमत्कार-प्रदर्शनके लिए नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने इन्हें कहीं भावोत्कर्षका सहयोगी बनाया है तो कहीं वस्तुओंके रूप, गुण, क्रिया आदि की तीव्र अनुभूतिको सजग करानेका साधन। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है। तुलसीका अलंकार-विधान उनकी साधुतासे अछूता

नहीं रह पाया है। इसीसे उनकी अलंकार-योजना प्रायः उपदेश-समन्वित ही मिलती है।

काव्यके उत्कर्षाधायकोंका प्रसंग समाप्त कर चुकनेपर अब देखना चाहिये कि क्या उसके अपकर्षाधायकोंकी मलिन छाया तुलसीके साधु काव्य-पर रञ्जमात्र भी पड़ी है। काव्यमें दोषोंका परिहार कितना आवश्यक ठहराया गया है, इसे आचार्य दण्डीकी इस उक्तिसे अनुमान कीजिये—

‘तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।

स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्’ ॥’

(अर्थात् काव्यमें छोटेसे छोटे दोषकी भी उपेक्षा कदापि न करनी चाहिये। चाहे कितना ही सुन्दर शरीर हो, पर कोढ़के एक छींटेसे भी अभागा बन जाता है।)

काव्यकी सुन्दरता काव्यके अपने सभी गुणोंसे युक्त होनेपर ही अवलम्बित नहीं रहती है, अपितु वह काव्यगत दोषोंसे मुक्त होनेपर भी निर्भर है। विभिन्न आचार्योंने दोषोंकी संख्या भिन्न-भिन्न ठहरायी है। उसके विवेचन या विस्तारसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल उन कुछ दोषोंका संकेत करना है जो हमारे बहुत माथा मारनेपर एकाध प्रसंगोंमें हाथ आये हैं—

‘खल प्रबोध, जग सोध, मनको निरोध, कुल सोध।

करहिं ते फोकट पचि मरहिं, सपनेहु सुख न सुबोध’ ॥’

यहाँ पूर्वाद्ध^१में यतिभंगदोष है।

न्यूनपदत्वदोषका उदाहरण यह लीजिये—

‘उत्तम, मध्यम, नीच गति पाहन, सिकता पानि।

प्रीति परिच्छा तिहुँन की बैर बितिक्रम जानि’ ॥’

१. ‘काव्यादर्श’ १:७

२. ‘दोहावली’ दो० २७४

३. ‘दोहावली’ दो० ३५२

क्रम-भंगदोष निम्नांकितमें देखिये—

‘साख सुचिंतित पुनिपुनि देखिय । भूप सुसेवित बस नहिंलेखिया॥
राखिय नारि जदपि उरमाहीं । जुवती साख नृपति बस नाहीं॥’

‘मानस’में कहीं-कहीं एक ही अर्द्धाली व्योम्की त्यों दो प्रसंगोंमें व्यव-
हृत हो गयी है, यथा ‘सिरधरि आयमु करिय तुम्हारा । परम धरम यह नाथ
हमारा ॥’ यह बालकाण्डमें तो आयी ही है, अयोध्याकाण्डमें भी है^१। इसी
प्रकार ‘धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा । तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा ॥’
लंकाकाण्डके दो प्रसंगोंमें आयी है^२। ऐसी ही दो-चार पंक्तियाँ और हैं जो
दोहरायी गयी हैं। इसे हम एक प्रकारका अनवीकृतत्व दोष समझते हैं।
अस्तु ।

गोस्वामीजीके विस्तृत काव्य-सागरमें उक्त दोष एक विन्दुवत् ही तो
ठहरते हैं। इन्हींके आधारपर उनके काव्यकी अलौकिक गरिमापर अंगुलि-
निर्देश करनेका साहस कोई नहीं कर सकता। क्योंकि—

‘अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य,
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एकोहि दोषो गुणसन्निपाते,
निमज्जतीन्दाः किरणेष्विवाङ्कः ॥’

बाह्य दृश्योंका सूक्ष्मनिरीक्षण और चित्रण

कुशल कलाकारके महत्तम काव्यमें उसका बाह्य जगत्का व्यापकसे
व्यापक अनुशीलन सन्निहित ही नहीं रहता, अपितु उसीपर विशेषांशमें
उसके अन्तर्जगत्की नींव भी अवलम्बित रहती है। उसका बहिर्जगत्
जितना ही विस्तृत होता है उतना ही अन्तर्जगत् विशाल और कल्पना-
मय। इसीलिए बाह्य दृश्योंका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण काव्यके अप-
रिहार्य एवं सार्वभौतिक उपकरणोंमेंसे एक है। बाह्य दृश्योंके अन्तर्गत यों

१. ‘मानस’ अरण्य० ३६. ८, ९

२. वही, बा० ७६. २

३. वही, अयो० २११. ३

४. वही, लं० ७०. ६, १०२. ३

तो हमारी चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रियके विषय होनेवाले विश्वके असंख्य पदार्थोंकी परिगणना की जा सकती है, पर एक स्थूल दृष्टिसे मनुष्यवर्ग, तिर्यग्वर्ग, कृमि-कीटवर्ग, अचेतनवर्ग आदिके शील, स्वभाव, चेष्टा, आकृति, क्रिया, गुण, धर्म प्रभृतिमें जो-जो वैशिष्ट्य कविकी वाणीसे प्रत्यक्ष हो उठता है उससे कविके बाह्य दृश्य-निरीक्षणकी शक्तिका पता भली भाँति चलता है। सामान्यसे सामान्य स्थावर अथवा गत्वर दृश्यका ही, जिन्हें साधारण मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता, कवि इस प्रकार साक्षात्कार किये रहता है कि आवश्यकता पड़नेपर उन्हें मूर्तिमान् ही नहीं कर देता, अपितु उनके सहारे गूढातिगूढ भावनाको भी हृदयंगम करा देता है।

पहले मनुष्यवर्गसे सम्बद्ध बाह्य दृश्यावलोकनके उदाहरण लीजिये। दोलोत्सवके अवसरपर जब सिन्धुरगामिनी सुन्दरियाँ अपने-अपने आभूषणों और कुसुम्भी साड़ियोंको धारण करके एकत्र होती, कलकण्ठसे गान करती और झूलने-झुलानेका आनन्द मनाती हैं तो उस समयका दृश्य बड़ा ही मनोह्र होता है। ऐसे दृश्यको कविने कितनी बारीकी और सहृदयतासे देखा था, इसका आभास निम्नांकित पंक्तियाँ देती हैं—

‘बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधरब किन्नर लाजहीं।
अति मचत, छूटत कुटिल कच, छवि अधिक सुंदरि पावहीं।
पट उड़त, भूषन खसत, हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं॥’

अन्तिम दोनों पंक्तियाँ किस प्रकार हमारे सामने झूला झूलनेवाली रमणियोंका साक्षात् दृश्य-सा उपस्थित कर रही हैं।

गृहीको जब अपने यहाँ किसी महान् पाहुनके आगमनकी सूचना रहती है तो उसकी अतिथिसे मिलने और उसका स्वागत करनेकी बलवती उत्कण्ठा उसे बार-बार पाहुनके मार्गकी ओर देखनेके लिए विवश करती है। हमारे कविने इस दशाका सजीव चित्र उपस्थित किया है। शबरीको विदित है कि राम-लक्ष्मण मेरे आश्रमपर पदार्पण करनेवाले हैं। अतः

उनके स्वागतार्थ उत्तमोत्तम कन्द, मूल, फलका आयोजन कर चुकनेके उपरान्त मानवस्वभावानुकूल लोल होकर—

‘छन भवन, छन बाहर विलोकति पंथ भू पर पानि कै।’

अवतारित पंक्ति यद्यपि कविकी अन्तर्वृत्तिकी सूक्ष्म पहचान भी प्रकट कर रही है, पर हम इसमें सूक्ष्म निरीक्षणका ही संकेत करना चाहते हैं। दूरस्थ दृश्यको प्रायः जब लोग देखना चाहते हैं तो हाथ स्वभावतः भौंहों-पर चला जाता है।

यों तो हम प्रायः सभीको हँसते या मुस्कराते देखा करते हैं, पर कभी-कभी ऐसी हँसी हँसना पड़ती है जो अर्न्तहास या गूढ़ हास कहलाती है। कविने इसका अवसर खूब पहचाना है। देखिये—

‘स्त्रीपति, सुरपति, विबुध, बात सब सुनि सुनि।

हँसहिं कमल कर जोरि, मोरि मुख पुनि पुनि’ ॥’

धनुर्धर जब किसी वेध्यपर बाण छोड़ना चाहता है तो पहले वह भौंह सिकोड़कर निशाना साधता है, तदुपरान्त विशिख-सञ्चालन करता है। ऐसी चेष्टाके निरीक्षण और अंकनका दृश्य लीजिये—

‘सुभग सरासन सायक जोरे।

खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।’

...

...

...

जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौहैं तकति सुभौह सकोरे^१ ॥

किसी अनघ और निर्दोष व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई असम्भावित प्रवाद सुनकर तत्काल ही निर्णय प्रकट कर देना और ऐसा करते समय हाथोंसे कान बन्द कर दाँतोंसे जीभ दबाना साधारण अनुभाव है जो प्रायः लोग किया करते हैं। इस नाट्यमय प्रवृत्तिको भी देखिये—

१. ‘गीतावली’ अरण्य० गीत १७. ३

२. ‘पार्वतीमंगल’ छ० ६८

३. ‘गीतावली’ अरण्य० गीत २

‘कान मूँदि कर रद् गहि जीहा । एक कहहिं यह बात अलीहा’ ॥’

प्रायः देखा जाता है कि जब कोई विषण्ण व्यक्ति कहीं बैठता है तो उसका उदास मुख स्वभावतः नमित ही रहता है और वह अपने पदतलकी भूमि नखसे खरोचता रहता है। विमनस्ककी ऐसी ही आकृति और क्रियाका चित्रण देखिये—

‘बैठि नमित मुख सोचति सीता ।

.....

चारु चरन नख लेखति धरनी...’ १’

दलदलमें फँसा हुआ व्यक्ति आगेकी ओर हुमककर कैसे जोर मारता है, इसे वही समझ सकता है जो स्वयं कभी दलदलमें फँसा हो अथवा जिसकी पैनी दृष्टिने उसमें फँसे हुए व्यक्तिको निकलनेका प्रयास करते हुए देखा हो। हमारे कविके सूक्ष्म निरीक्षणमें यह दृश्य अवश्य आ चुका था। तभी तो उसने इसके दृष्टान्त द्वारा शीलनिधि भरतके हृदयके संकोच और प्रेमके परस्पर संघर्षको दृष्टिगोचर-सा कर दिया है—

‘मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन नयन भरे नीर ।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ, कड़त प्रेम बल धीर’ ॥’

तिर्यग्वर्गके पशु-पक्षियोंमें भी सहज प्रवृत्ति होती है, उनकी भी कुछ निजी चेष्टाएँ हुआ करती हैं। अनेकदा हमारी दृष्टि इसपर पड़ती है कि पशु चौकन्ने होनेपर कनौटी बदलते हुए विस्मय-सूचक दृष्टिसे देखते हैं। उनकी इस क्रियाका कविने सूक्ष्म निरीक्षण किया था, इसीलिए वोड़का आरव पाकर चकित होनेवाले शूकरका यह चित्र दिखाया है—

‘घुरघुरात हय आरव पाये । चकित बिलोकत कान उठाये’ ॥’

१. ‘मानस’ अयो० ४७. ७

२. वही, अयो० ५७. २, ५

३. ‘गीतावली’ अयो० गीत ६९ [३]

४. ‘मानस’ बा० १५५. ८

बन्दर प्रसन्न होनेपर कैसा नाट्य करता है और उसकी मुखाकृतिमें कैसी भंगियाँ होती हैं, इस दृश्यका यदि तुलसीने सूक्ष्म निरीक्षण न किया होता तो वे ऐसा सजीव चित्रण न करते—

‘कूदैं कपि कौतुकी, नचत रेत रेत हैं ।

अंगद, मयंद, नल, नील बल सील महा,

वालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं’ ॥’

मेड़ें स्वभावतः भीरु होती हैं । उनके छुण्डपर जब मेड़िया दूटता है तो सबकी सब जी लोडकर भागती हैं । हमारे कविकी तीक्ष्ण दृष्टि कभी ऐसे दृश्यपर भी पड़ी थी तभी तो उसने इसका अच्छे ढंगसे उपयोग किया है—

‘भागे भालु बलीमुख जूथा । बृकु विलोकि जिमि मेष बरूथा’ ॥’

बन्दरका यह स्वभाव होता है कि कैवाँचकी लताको देखते ही वह उसे नोच-नोचकर फेंक देता है । गोस्वामोजीको यह मर्म भली भाँति अवगत था । इसको वे वेदनाकी दशामें भी नहीं भूले हैं—

‘बाहु तरुमूल, बाहु सूल कपि कच्छु बेलि,

उपजी, सकेलि, कपि, खेल ही उखारिण’ ॥’

कछुआ जलसे पृथक् दूरकी बालूमें दिये हुए अपने अण्डोंकी चिन्तामें निरन्तर निरत रहता है, इसपर हमारे कविकी दृष्टि गयी थी । इसके द्वारा उसने कितनी सफाईसे स्पष्ट किया है कि राम भरतका कितना ध्यान रखते थे—

‘रामहि बंधु सोच दिन राती ।

अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँति’ ॥’

जलके सम धरातलपर भी जोंक स्वभावतः अपनी वक्र गतिसे ही चलती है । कविका यह निरीक्षण इस पंक्तिसे प्रकट होता है—

१. कवितावली’ सुन्दर० छ० २९

२. ‘मानस’ लं० ६९. १

३. ‘बाहुक’ छन्द २४

४. ‘मानस’ अयो० ६. ८

‘चलइ जौंक जिमि वक्र गति जद्यपि सलिल समान’ ।^१

मछलियाँ तो जल-प्रवाहके सम्मुख भी सहजमें ही ऊपरको चढ़ती चली जाती हैं, पर बड़े-बड़े गजराज भी बहते दिखाई पड़ते हैं। इस दृश्यके सूक्ष्म निरीक्षणके बलपर यह कैसी पतेकी बात कही गयी है—

‘जो जेहि कला कुसल ताकहुँ सो सुलभ सदा सुखकारी ।
सफरी सनमुख चल प्रबाह, सुरसरी बहै गज भारी’ ॥^२

वधिकके किसी भुलावेमें पड़ जानेपर उसके हाथमें आया हुआ सन्त्रस्त पक्षी किस प्रकार अचानक छूटकर फुर हो जाता है, इस दृश्यका कभी निरीक्षण किये रहनेपर ही ऐसी सूझ हो सकती है—

‘तुलसी सुनि सिष चले चकित चित,
उड्यो मानो बिहग बधिक भये भोरे’ ।^३

काक चालाक तो बहुत होता है, पर साथ ही शंकित और डरपोक भी होता है। वह हर एकसे डरता रहता है। उसके ऐसे स्वभावको लक्ष्य करके ही ऐसा कथन किया गया है—

‘सत्य वचन बिस्वास न करही ।

वायस इव सय ही ते डरही’ ॥^४

टिटहरी—पक्षिविशेष—जो प्रायः जलाशयोंके किनारे रहती है, सदा पैर ऊपर उठाकर सोती है। इस विचारसे कि जब आसमान मुझपर टूट पड़ेगा तो उसे अपने पैरोंपर रोक लूँगी—ऐसी लोगोंकी कल्पना है। इस बातको लेकर ही कविने यह पंक्ति रची होगी—

‘उमा रावनहिँ अस अभिमाना । जिमि टिटिभ खग सूत उताना’ ॥^५

१. ‘मानस’ अयो० ४२.

२. ‘विनय०’ पद १६७

३. ‘गीतावली’ अयो० गीत ११ [४]

४. ‘मानस’ उ० १११. १४

५. ‘मानस’ उ० १११. १४

पक्षी हर्ष प्रकट करनेके लिए पंख फुलाया करता है। उसके इस स्वभावको तुलसीने भी देखा था। देखिये, गरुड़को हर्षित होनेपर कैसी मुद्रामें दिखाया गया है—

‘सुनि भुंसुंडि के वचन सुहाये। हरखित खगपति पंख फुलाये’॥

भ्रमर, शुक, पिक, सारस, हंस, मोर, चकोर, चकवा, चातक, खज्जन आदिके स्वभावका चित्रण तो काव्य-परम्परासे प्राप्त है अतः इनके उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं।

कच्चे पोखरे, ताल, तलैया अथवा नदीके किनारोंपर जमी घासका तुलसीने कैसा सूक्ष्म निरीक्षण किया था, यह भी अवलोकनीय है—

‘तुलसी तृन जल कूलको निरबल निपट निकाज।

कै राखै कै संग चलै, बाँह गहेकी लाज’॥

दोहेके द्वितीय चरणमें तृणको ‘निरबल निपट निकाज’ बताकर कविने अपने सूक्ष्म निरीक्षणका मूल्य और भी बढ़ा दिया है। वस्तुतः जलसे सदा आर्द्र रहनेके कारण वह निर्बल रहता ही है। उसके एक ओर पानी होनेसे जानवर उसे चरने भी नहीं जाते, अतः वह निकाज-सा ही प्रतीत होता है। तृणको महत्त्व देनेवाला जो निरीक्षण तृतीय चरणमें है वह भी बड़ा ही स्वाभाविक है। कितने ही दूबतोंको तिनकोंका सहारा मिलता है। पर, अभागोंके साथ बेचारा तिनका स्वयं उखड़कर बह जाता है।

वनस्पतिवर्गान्तर्गत नन्दनवनके कल्पतरु अथवा इस लोकके विविध कमल, कनक, कदली, कदम्ब, केतकी, किंसुक, कुन्द, सिरिस, दाड़िम, श्रीफल, पाटल, पनस, रसाल, तमाल, मलय आदि सभी पारम्परिक उपमानोंके प्रयोगोंको देख इनसे हम अपने कविका सूक्ष्म निरीक्षण न भी मानें तो कोई अनुचित नहीं, पर, अर्क, जवास, निम्ब, गूलर, इमलीका चीयाँ, सूखता हुआ धान, कुश, कण्टक, छत्रकदण्ड—कुकुरमुत्ता, घमोई

१. ‘मानस’ उ० ९२.१

२. ‘दोहावली’ दो० ५४४

प्रभृति अति सामान्य वस्तुओंकी विशेषताओंको लक्ष्य करके उनसे जो काम लिया गया है उससे कविका सूक्ष्म निरीक्षण ही प्रकट होता है।

कृमि-कीट आदिका सूक्ष्म निरीक्षण भी तुलसीकी दृष्टिसे नहीं बचा था। यही कारण है कि उनके ज्ञानके बलपर भी उन्होंने अनेकानेक सुन्दर बातें कही हैं। लकड़ीको भीतर ही भीतर चालकर खोखला बना देनेवाले धुनको लेकर यह कैसी उक्ति की गयी है—

‘कीट मनोरथ दारु सरीरा । केहि न लाग धुन को अस धीरा’॥’

गोस्वामीजी रेशमके कीड़ेसे भी अवगत थे। उन्होंने उसके पालनेसे जो तथ्य ग्रहण किया है वह भी देखिये—

‘पाट कीट ते होइ, ताते पाटंबर रुचिर।

कृमि पालै सब कोइ, परम अपावन प्रान सम’॥’

चींटीके स्वभावका ज्ञान होनेके कारण उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण बात कही है वह भी उद्बलनीय है—

‘ज्यों सर्करा मिलै सिकता महुँ बल तैं न कोइ बिलगावै ।

अति सूक्ष्म रसज्ञ पिपीलिका विनु प्रयास ही पावै’॥’

अब अचेतन-वर्गके कुछ उदाहरणोंको लीजिये जिनका सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण भी स्तुत्य है। छोटे-छोटे गड़दे अथवा जलाशयोंका जल सूख जानेपर नीचेका कीचड़ गर्मीके मारे थोड़े ही दिनोंमें अपनी तरी खोकर चिरचिराकर फट जाया करता है। ऐसे दृश्यके निरीक्षणसे तुलसीके हृदयमें कैसा मार्मिक विचार स्फुरित हुआ उसे देखिये—

‘हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर’ ।’

मार्गका जल पथिकोंके पैरोंकी छपाछपसे बराबर अस्त-व्यस्त होता रहता है, कभी थिराने नहीं पाता, फलतः गँदला ही बना रहता है। ऐसे मलिन

१. ‘मानस’ उ० ७०. ५

२. ‘दोहावली’ दो० ३७०

३. ‘विनय०’ पद १६०

४. ‘मानस’ अयो० १४५.

जलका दृश्य भी हमारे कविके सूक्ष्म निरीक्षणसे नहीं छूटा, उसने उसका भी यह सुन्दर उपयोग किया है—

‘सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने ।
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कवहुँ न हृदय थिराने’ ॥’

अब पतंगकी कला भी देखिये । वायुके अनुकूल रहने अथवा वायुके बिलकुल न रहनेपर चंगकी क्या दशा होती है, इन सबका भी तुलसीने सूक्ष्म निरीक्षण किया था, जैसा कि निम्नांकित अवतरणोंसे अवगत होता है —

‘रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जुनु खैच खेलारू’ ॥’

...

...

...

‘नीच गुड़ी ज्यों जानियो, सुनि लखि तुलसीदास ।
ढीलि दिये गिरि परत महि, खैचत चढ़त अकास’ ॥’

...

...

...

‘भरत गति लखि मान सब रहि ज्यों गुड़ी बिनु बाय’ ॥’

नौका जब डूबने लगती है तो उसके चारों तरफका जल स्वयं बड़ी तेजीसे खिंचकर उसमें भर जाता है और वह नदीके गम्भीर उदरमें विलीन हो जाती है । ऐसे दृश्यका सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे ही कविने यह बात कही है—

‘सत्रु सयाने सलिल ज्यों, राख सीस रिपु नाउ ।
बूझत लखि पग डगत लखि, चपरि चहुँ दिसि धाउ’ ॥’

परछाहींका निरीक्षण किये रहनेके कारण कविके हृदयमें वैभवके सम्बन्धमें यह कैसा शिक्षा-प्रद भाव उठा है—

‘दिये पीठ पाछे लगै, सनमुख होत पराय ।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाय’ ॥’

१. ‘विनय०’ पद २३५

२. ‘मानस’ अयो० २३८. ६

३. ‘दोहावली’ दो० ४०१

४. ‘गीतावली’ लं० गीत १४

५. ‘दोहावली’ दो० ५२०

६. ‘दोहावली’ दो० २५७

लूतातन्तु जैसे निकम्मे पदार्थके निरीक्षणको भी तुलसीने व्यर्थ नहीं जाने दिया। उन्होंने उसे भी एक उपयुक्त उपमानके रूपमें जड़ दिया है। देखिये—

‘संकट सोच सवै तुलसी लिये नाम फटे मकरी के-से जाले’।’

आगपर रखे हुए दूधमें जब आँच अधिक लग जाती है तो उसमें उफान आता है, पर ज्यों ही पानीका छोंटा दिया जाता है त्यों ही वह शान्त हो जाता है। इस दृश्यके सहारे गोस्वामीजीने सीताके हृदयकी बड़ी ही मार्मिक दशाका चित्र उतारा है—

‘दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी, सुखी सुत-सुख पाइ।

आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ’ ॥’

रजनीमें जब आकाशसे तारा टूटकर गिरने लगता है तो प्रकाशकी एक रेखा-सी खिंचती है जो पृथ्वीपर आते-आते क्रमशः क्षीण पड़ती हुई विलीन हो जाती है। तुलसीने इस दृश्यके द्वारा जो हृदय-स्पर्शा कल्पना की है अन्तमें उसे भी देखिये—

‘राम सोक सनेह संकुल तनु विकल मनु लीन।

टूटो तारो गगन मग ज्यों होत छिन-छिन छीन’ ॥’

आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनूठी पहचान

कवि जैसे दृष्टिगोचर प्रकृतिकी असंख्य लीलाओं और व्यापारोंकी अनन्त राशिका अपने सूक्ष्म निरीक्षणके बलपर चित्रण करके अमित आनन्द प्रदान करता है, वैसे ही वह अपनी अप्रतिम काव्यानुभूतिके सहारे हृदय-सिन्धुमें तरंगित वृत्तियोंकी अनन्त ऊर्मियोंकी छटा दिखाकर भी अलौकिक रसस्वादन कराता है। जिस कविको भिन्न-भिन्न स्वभावों और रुचियोंका जितना ही प्रशस्त ज्ञान होता है वह अन्तर्जगत्का उतना ही बड़ा मर्मज्ञ

१. ‘बाहुक’ छ० १७

२. ‘गीतावली’ उ० गीत ३६

३. वही, अयो० गीत ५८ [२]

वह अपने किसी विश्वासपात्र पुराने सेवकपर किसी कारणसे बिगड़ता है और सेवक बिना कुछ उत्तर दिये ही सिर नीचा करके बहुत दुःखी हो जाता है तो बादमें स्वामी सेवकका मन रखनेके लिए उसे प्रेमपूर्वक चुम-कारकर उसकी गलतीको समझाता भी है। रानीने क्रुद्ध होकर मन्थराको खरी-खोटी सुना दी। वह भयभीत होकर स्तब्ध हो गयी। फिर तो उसका जी न दुखाने और उसे समझानेके लिए रानीको कहना पड़ा—

‘प्रिय बादिनि सिख दीन्हैउँ तोही । सपनेहु तोपर कोप न मोही॥’

इसके अनन्तर उसे प्रेमपूर्वक ‘जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिनकर कुल रीति सदाई ॥’ बताते हुए राम और सीताके प्रति अपना सहज अनुराग भी प्रकट किया—

**‘जो बिधि देहि जनम करि छोहू । मिलहिं राम सिय पूत पतोहू ॥
प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे । तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे ॥’**

ऐसा समझा चुकनेके बाद भी रानीके हृदमें दासीका गूढ़ अभिप्राय जाननेकी लालसा तो बनी ही रही। दासीको चुप देख उसके हृदयमें उद्वेग-सा हो उठा और उसे कहना पड़ा—

‘भरत सपथ तोहि सत्य कहू परिहरि कपट दुराउ ।

हरष समय बिसमय करसि कारन मोहि सुनाउ ॥’

कथनमें ‘भरत सपथ’ पद उभय पक्षके लिए कितना व्यञ्जक और कितना उपोद्बलक है, इसको व्यक्त करनेकी आवश्यकता नहीं। रानीको दासीके विप्रादका कारण कुछ और ही समझ पड़ा अतः वह और भी उतावली हो गयी। अवसर तककर दासीने रानीके सरल हृदयमें धीरे-धीरे अपनी विलक्षण वाक्चातुरीसे नारीके हृदयमें शीघ्र उत्पन्न होनेवाली शंकाका बीज बो दिया। फिर क्या था। संशयसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा विश्वासघाती नहीं। जब संशयके समय महान् विवेकशीलोंका विवेक उनका साथ छोड़ देता है तो बेचारी रानी क्या करती। मन्थराके तर्कों और दृष्टान्तोंके पुष्टीकरणके आधारपर उसका संशय उत्तरोत्तर बढ़ता

ही गया और अन्तमें उसे यही विश्वास हो गया कि सपत्नी कौसल्याने उसकी जड़ खोदनेके लिए ही सब कुचक्र रचा है। इस विचारके दृढ़ हो जानेपर उसे दासीके द्वारा मुझायी युक्ति ही अति हितकर समझ पड़ी। उसके प्रति अपनी बड़ी ममता और कृतज्ञता प्रकट की—

**‘कुवरिहि रानि प्रान प्रिय जानी । बार बार बड़ि बुद्धि बखानी ॥
तुम सम हितु न मोर संसारा । बहे जात कहँ भइसि अधारा ॥’**

संवादके आरम्भमें रानीके क्या विचार थे और अन्तमें क्या हो गये। इतने बड़े परिवर्तनको स्त्री जातिकी मानसिक दुर्बलताओंके सहारे जैसी स्वाभाविक रीतिसे उपस्थित किया गया उसे देख कौन नहीं स्वीकार करेगा कि तुलसीको आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूति थी और उसे वे सफलतापूर्वक मूर्त रूप दे सकते थे।

उनके मानव-प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणका एक बहुत छोटा-सा उदाहरण यह भी लीजिये—

**‘जब सिय कानन देखि डेराई । कहेउ मोर सिख अवसर पाई ॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू । पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू ॥
पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी । रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥’**

अवतरणकी प्रथम पंक्तिसे प्रकट है कि कवि मनुष्यकी इस स्वभावगत दुर्बलतासे भी भली भाँति परिचित है कि प्रत्यक्ष भयके उपस्थित होनेपर वह अपना कोई हठ छोड़कर किसीकी ऐसी बात मान भी लेता है जिसे सामान्य स्थितिमें वह कदापि न मानता।

बड़े और प्रतिष्ठित धनी-मानी लोगोंको हम प्रायः देखते हैं कि वे चिथड़ोंसे लाज ढँकनेवाले वित्तहीनोंसे कोई सम्बन्ध रखनेमें अपना अपमान समझते हैं, यहाँतक कि उनसे बात-चीत करनेमें भी छोटाईका अनुभव करते हैं। पर, यदि वे अपनी ऐसी मनोवृत्तिका त्याग करें तो उसका बड़ा ही सुन्दर परिणाम हो, उनके कृपा-कटाक्षसे अनाथ तो सनाथ हो ही जाय, उन्हें भी ‘अनाथपति’ कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त हो। इसी स्वाभाविक बातको गोस्वामीजी रामके प्रति संकेत करते हुए कहते हैं—

‘हौं सनाथ ह्वै हौ सही, तुम्हहूँ अनाथ पति,
जौ लघुतहि न भितैहौ ।’

‘लघुतहि न भितैहौ’ पद उक्तिवैचित्र्यका द्योतक तो है ही, पर उससे भी बढ़कर कविकी अन्तर्दृष्टिका निदर्शन है ।

मनुष्यकी यह सामान्य प्रकृति है कि जब वह किसी कदाचारकी ओर पाँव रखने लगता है तो उसकी धुकधुकी बढ़ जाती है । वह सन्त्रस्त और शंकित हो उठता है कि कोई देख न ले । उसकी आँखें झट इधर-उधर दौड़कर जाँच भी कर लेना चाहती हैं कि कहीं कोई आता तो नहीं है । ऐसी ही मनोवृत्तिकी अनुभूतिके कारण गोस्वामीजीने महापराक्रमी रावणको भी इस स्वाभाविक स्थितिमें दिखाया । जिसे देख विश्व काँपता था वही कुकर्म करनेके लिए उतारू होनेपर स्वयं काँप उठा—

‘जाके डर सुर असुर डेराहीं । निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाई । इत उत चितै चला भड़िहाई ॥’

नारी हो या नर, उसकी यह सहज प्रकृति है कि वह अपने नयनाभिराम, मनस्तोषदायक व्यक्तिके मिलनेपर उसे अधिक देरतक अपनी आँखोंके सामने रखना और उसके सान्निध्यका सुख पाना चाहता है । तुलसीने इस मनोवृत्तिकी सैकड़ों प्रसंगोंमें व्यापकसे व्यापक और मार्मिकसे मार्मिक अभिव्यक्ति की है । विश्व-विलोचन-चोर राम जिधर ही दिखाई पड़े हैं उधर ही तो उन्होंने बालक, स्त्री, पुरुष सभीकी उक्त मनोवृत्तिको थहाकर रख दिया है ।

विविध पारिवारिकोंके आदर्शोद्घाटनके हेतु गोस्वामीजीने जो मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं उन सबमें उनकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अद्वितीय अनुभूति और उनका सजीव प्रकाशन वर्तमान है ।

पात्रोंके चरित्रांकन और शीलनिरूपणमें स्वाभाविकताकी रक्षा करते हुए भी उसे कवित्वकी पीयूषधारासे अभिषिक्त करते रहना मामूली बात नहीं । इसमें वही महाकवि सफल होता है जो मनुष्यके अन्तर्जगत्के

अति सामान्यसे लेकर गूढ़ातिगूढ़ भावों और विचारों तककी अनुभूति किये रहता है। तुलसीके द्वारा किये गये चरित्रांकन किस कोटिके हैं, इसका निर्देश बहुतोंने कर दिया है, अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है। हाँ, उसके आधारपर हमें संकेत करना यह है कि यदि उन्होंने आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी सूक्ष्म अनुभूति न की होती तो वे पात्रोंके चरित्रांकनमें उच्च कोटिकी सफलता कदापि न पाते।

कुछ सामान्य मनोवृत्तियोंका विश्लेषण करते हुए दो-चार प्रसंगोंका निर्देश करके उसके आधारपर तुलसीकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी गहरी अनुभूति दिखानेका प्रयास यहीं समाप्त न करके आगे हम उसे एक दूसरे ढंगसे भी देखना चाहते हैं।

पार्थिव जगत्की भाँति हमारे मानसिक जगत्का क्षेत्र भी अति विस्तृत है। हमारी आभ्यन्तरिक वृत्तियाँ अनेक तो हैं ही, उनका पारस्परिक मिश्रण होनेके कारण वे एक प्रकारसे असंख्य हो जाती हैं। परिस्थिति विशेष और अवसर-विशेषकी उपस्थितिमें ये आन्तरिक वृत्तियाँ विशेष प्रकारका रूप धारण किया करती हैं। इन आन्तरिक वृत्तियोंका वेग इतना प्रबल हुआ करता है कि स्वतः अपनी ही किसी वृत्तिका किस परिस्थिति और किस अवसरपर कैसा स्वरूप हो जायगा, इसका पता अच्छे-अच्छे और समाजमें अनुकरणीय माने जानेवाले महाशयों तकको नहीं चलता। फिर, किसी दूसरेके हृदयमें उठनेवाली ऐसी ही वृत्तियोंका ठीक-ठीक अनुभव कर लेना और भी दुष्कर है। यदि अपनी प्रकृति और स्थितिसे सादृश्य रखनेवाला कोई व्यक्ति हो तो कदाचित् उसकी वृत्तियोंका थोड़ा-बहुत सटीक अनुभव किया भी जा सकता है। जिन कठिनाइयोंका सामना किसीको नहीं करना पड़ा है, यदि उन कठिनाइयोंके बीचमें उठनेवाली वृत्तियोंका निरूपण करना हो तो भी विशेष उलझन खड़ी हो जाती है, चाहे वे कठिनाइयाँ किसी समानशीलव्यसनकी ही क्यों न हों। बड़े-बड़े प्रतिभाशालियोंमें ही ऐसी विशेषता दिखाई देती है कि वे सब प्रकारके व्यक्तियों, सब प्रकारके अवसरों तथा सब प्रकारकी परिस्थितियोंका यथावत्

अनुभव कर लेते हैं। महात्मा तुलसीदासजीमें आन्तरिक वृत्तियोंके अनुभवकी ऐसी विशेषता दिखाई देती है और विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तियों और अवसरोंका ऐसा तद्रूप निरूपण उन्होंने किया है कि उन-उन कठिनाइयोंका सामना करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस बातका अनुभव करता है कि कविकी बात बावन तोला पाव रत्ती सही है। सब बातोंपर विचार करनेसे निष्कर्षके रूपमें यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः किसी कविके लिए आभ्यन्तरिक निरूपण इन स्थितियोंमें विशेष कठिन होगा—

१. अपने स्वभावसे विपरीत प्रकृतिके व्यक्तिकी आभ्यन्तरिक वृत्तिका अनुभव।

२. अपनी जाति(सेक्स)से भिन्न व्यक्तिकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अनुभूति।

३. अपनी स्थितिसे भिन्न स्थितिके व्यक्तिके मानसिक आन्दोलनका अनुभव।

४. उन परिस्थितियोंमें होनेवाली अन्तर्वृत्तियोंका अनुभव जिनके साक्षात्कारका अवसर उसे प्राप्त नहीं हुआ हो।

जहाँतक पता चला है गोस्वामीजी दुष्ट प्रकृतिके व्यक्ति नहीं थे, फिर भी उन्होंने ऐसी प्रकृतिवालोंकी मानसिक वृत्तियोंका तद्वत् निरूपण किया है^१। ध्यान देनेकी बात यह है कि ऐसे व्यक्तियोंकी मानसिक स्थिति का भी, जो प्रसंग-प्रसंगपर विविध रूपोंमें परिलक्षित होती है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण वे कर सके हैं।

पुरुष होते हुए तिरिया चरित्तरका जान लेना बहुत कठिन है। देव-तक उसे नहीं जानता। पर 'तिय माया तब कुबरी ठानी'का यथावत् वर्णन इसका अपवाद है। मानसमें नारीवर्गके अनेक प्रकारके निदर्शन हैं।

१. आगे उनके लोकव्यवहार-नैपुण्यके सम्बन्धमें विचार करनेके प्रसंगमें भली भाँति दिखाया जायेगा कि उन्हें खल-प्रकृतिका कितना गहरा अनुभव था।

यह अनेकता उनकी अन्तर्बृत्तियोंके सूक्ष्म भेदके कारण है, जो छायाभाव अतएव दुरुह हैं। पर, तुलसीके मानस-दर्पणमें उसका भी स्वच्छ प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। प्रस्तुत प्रबन्धमें ऐसे कई प्रसंग आ चुके हैं जिनसे कविकी नारी-प्रकृतिकी अद्वितीय अनुभूति अभिव्यक्त होती है, अतः यहाँ और उदाहरण देनेकी अपेक्षा नहीं।

मंगन-कुलमें उत्पन्न होनेवाला राजसी मनोवृत्तिका अनुभव क्या करेगा, राजसी ठाट बाटकी भी कल्पना नहीं कर सकता। इसीलिए कुछ लोगोंने जानकीके प्रति कौसल्याके 'दीप बाति नहिं टारन कहँऊँ' इस कथनमें तुलसीकी अनभिज्ञता देखी। यद्यपि इस बातका विस्तारके साथ विवेचन करनेका प्रसंग नहीं है, पर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि मानव-जीवनके ऊँचे-नीचे अनेक स्तरोंमें भी एक सामान्य भाव-धारा सदैव स्यंदमान रहा करती है जो उच्चावच परिस्थितियोंमें संयमीके हृदयसे भी फूट पड़ती है। कौसल्या यहाँ अपने अग्रमहिषीत्वका त्याग करके सामान्य नारी-हृदय लेकर उपस्थित हुई हैं। अतः यह तुलसीका दोष नहीं, गुण है। अयोध्याकाण्डके मध्य भागमें राजन्यवर्गकी मनोवृत्तियोंका जो यथातथ्य चित्रण है उसे देखकर कौन कह सकता है कि कविमें उस वर्गकी मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूति नहीं थी। यह वह प्रसंग है जिसे 'मानस'-मर्मज्ञ संतोंके बूझनेकी बात समझते हैं।

यों तो यह निर्णय करना विशेष कठिन है कि गोस्वामीजीकी आँखों देखी परिस्थितियाँ कौन-कौन सी हैं, पर जो देखी हुई नहीं थीं उनका अनुमान किया जा सकता है। लड़ाईके प्रसंगोंको देखनेका अवसर उन्हें कदाचिन् ही मिला होगा। यह कहा जा सकता है कि उनके ऐसे वर्णन पारम्परिक हैं, पर यदि इन वर्णनोंमें परम्पराके नियमोंके अनुमोदनके साथ ही यत्र-तत्र नूतन विधानका समावेश भी दृष्टिगत हो तो हमें अवश्य स्वीकार करना होगा कि उन्होंने परिस्थितियोंका कल्पनासे साक्षात्कार किया है।

यह हम स्वीकार करते हैं कि तुलसीमें 'लोकशास्त्रका व्याख्येक्षणार्थ' निपुणता भी प्रभूत परिमाणमें थी, पर बातोंकी जानकारी दूसरी वस्तु है

और परिस्थितिगत मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूति दूसरी। यों बहुश्रुत व्यक्ति विविध प्रसंगोंके अनुरूप बातें तो बहुत-सी बना सकता है, पर अपनी रचनाके पाठकोंके हृदयमें तद्वत् अनुभूति जगानेमें क्वचित् ही समर्थ हो सकेगा। कहना यह है कि कविका मुख्य कर्तव्य अपनी अनुभूतियोंको इस प्रकार व्यक्त करना है कि वे प्रसंगानुकूल और सच्ची उतर सकें। जहाँतक मानसिक वृत्तियोंकी अनुभूतिका विचार है, गोस्वामीजीने बहुश्रुततासे काम न लेकर अपनी जन-जन-व्यापिनी कवि-प्रतिभाका ही विशेष सहारा लिया है।

लोकव्यवहार-नैपुण्य और सद्ग्राहिता

कलाकारकी कृतियोंमें सन्निविष्ट प्रपंचासक्तिका विश्लेषण करना भी समीक्षकका प्रधान कर्म है, क्योंकि लोकव्यवहार-नैपुण्य भी काव्यका प्रमुख साधन है। प्रगाढ़ अनुभवशील कलाकारकी मानव-प्रकृतिकी अद्वितीय परख और ठोस दुनियादारी-अभिव्यञ्जक कृतियाँ किसे नहीं सुगंध करतीं? विशेषतः प्रपञ्चासक्तोंको तो ऐसी कृतियाँ बड़े उपकारकके रूपमें दिखाई पड़ती हैं। तटस्थ कलाकारकी रचनाओंमें लोकव्यवहारके यथातथ्य सत् और असत् दोनों पक्षोंका समशील चित्रण देखकर लोग स्वेच्छानुकूल किसी एक पक्षके रंगमें स्वयं धीरे-धीरे रँगते चले जाते हैं। सत्सत्को सापेक्ष दृष्टिसे चित्रित करनेवाले कलाकारकी युक्ति कुछ और प्रकारकी होती है। यद्यपि उभय पक्षोंका चित्रण तो वह भी करता है, पर एककी अमित पराजय और दूसरेकी पूर्ण विजयका प्रबल समर्थन उसका मुख्य उद्देश्य होता है। गोस्वामीजी दूसरे प्रकारके कलाकार कहलायेंगे। पाठक उनकी कृतियोंका आस्तिक मनसे रसास्वादन करनेके उपरान्त असत्पक्षोन्मुख होनेकी उत्तेजना कदापि नहीं प्राप्त करेगा। 'मानस'का आद्योपान्त पारायण कर चुकनेके अनन्तर स्पष्टतः प्रकट होता है कि गोस्वामीजीने संसारके असत्पक्षका निरूपण अवश्य किया है, पर उसकी अपरिमित अभिभूति दिखाई है, इसके विपरीत उन्होंने सत्पक्षकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करते हुए उसे सर्वोपरि विजयी ठहराया है। इसे हम उनकी सद्ग्राहिता कह सकते हैं।

संसार भले और बुरे दोनोंका सम्मिश्रण है। फलतः लौकिकज्ञ बननेके लिए भले-बुरे दोनोंका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है। बिना दोनों पक्षोंकी जानकारीके किसीका लोक-व्यवहार ज्ञान अपरिपक्व एवं अपूर्ण समझना चाहिये। विश्वका गुण-दोषमय स्वरूप ठीक-ठीक समझ लेना ही लोक-व्यवहार-निपुणता है और इन दोनोंमेंसे केवल गुण ग्रहण कर लेना तथा दोषका परित्याग करना ही सद्ग्राहिता है—

‘जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।

संत हंस गुन गहहि पय परिहरि बारि विकार’ ॥’

सन्त हंस होनेके कारण तुलसीके लोक-व्यवहारमें नैपुण्य और सद्ग्राहिताका अपूर्व सामञ्जस्य है। मनुष्य भलाई और बुराई दोनोंको जानते हुए भी करता है अपने मनकी ही। संसारके व्यवहारका यह बड़ा ही व्यापक स्वरूप है। इस तथ्यका निर्देश गोस्वामीजीने किया है। देखिये—

‘गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई’ ॥’

लोग भले ही अपने मनोनुकूल ही क्यों न करें, पर कर्मका फल तो स्वाभावानुकूल ही होता है—

‘भलो भलाईहि पै लहइ, लहइ निचाई नीचु।

सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु’ ॥’

भलाई और बुराईका स्वरूप कैसा होता है। वस्तुतः ये ईंट-पत्थर-जैसी स्थूल वस्तुएँ नहीं हैं कि हम इन्हें झट पहचानकर व्यवहारविद् हो जायँ। भलाई-बुराई, गुण-दोष आदिका अभिज्ञान इनके आश्रयोंके कृत्योंसे होता है, इनके किसी स्थूल स्वरूपसे नहीं। बुराई या दोषके अगार हैं दुष्ट या खल जन और भलाईके आकर हैं साधु जन या सज्जन। सच्चा लोक-व्यवहार-कुशल वही होगा जिसे खल और सज्जन दोनों वर्गोंके मनुष्योंका पूर्ण परिज्ञान हो। गोस्वामीजी इन दोनों वर्गोंके प्राणियोंकी रग-

रगसे अभिज्ञ थे। देखिये, खलोंकी विपैली प्रकृतिकी कैसी सूक्ष्म पहचान बतायी गयी है—

‘खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी ।
जराहिं सदा पर रूपति देखी ॥
जहुँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई ।
हरषहिं मनहु परी निधि पाई’ ॥’

गोस्वामीजीने दुष्टोंकी काम-क्रोध-मद-लोभ-परायणता, निर्दयता, कुटिलता तथा उनका अनृत, अकारण द्रोह और उनकी उपकारीके प्रति अपकार करनेकी दुर्मनोवृत्ति आदिको खूब समझा था, साथ ही वे उनकी ठगनेवाली मधुरी बानीके रहस्यसे भी अनभिज्ञ नहीं थे^१। खलोंकी प्रकृतिकी मर्मवेधिनी निम्नांकित दो-तीन पंक्तियाँ और देखिये—

‘काहू कै जो सुनहिं बड़ाई । खास लेहिं जनु जूड़ी आई ॥
जब काहू कै देखहिं विपती । सुखी भये मानहु जग नृपती’ ॥’

...

...

...

‘खल बिनु स्वारथ पर अपकारी ।
अहि मूषक इव सुन उरगारी’ ॥’

‘मानस’के उपक्रममें ‘बिनु काज दाहिने बायें’ रहनेवाले खलोंकी बन्दनाके बहाने उनकी गह्वर प्रकृतिका जो विस्तृत प्रतिबिम्ब द्योतित किया गया है वह भी बड़े मार्केका है^२, पर प्रसंग इतना बड़ा है कि उसे उद्धृत करनेका अवकाश नहीं ।

सत्पक्षके आश्रय सज्जन आदिकी प्रकृतिकी भी गोस्वामीजीको पूर्ण जानकारी थी । इस कथनकी पुष्टि उनकी रचनाओंमें सन्निविष्ट साधु-सन्तोंकी प्रकृतिके विशद चित्रणसे हो जाती है ।

१. ‘मानस’ उ० ३८.३, ४,

२. वही, उ० ३८.५-८,

३. ‘मानस’ उ० ३९. २, ३

४. वही, उ० १२०. १८,

५. दे० वही, बाल० ३. १—११, ४.

खलों और सज्जनोंकी अद्वितीय परस्परके आधारपर बाबाजीकी लोक-व्यवहार-निपुणताका संकेत तो मिलता ही है, साथ ही खलोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये—इस नीतिका निर्देश करके उन्होंने अपनी लोक-व्यवहार-कुशलताका और भी उत्तम परिचय दिया है। व्यक्तिगत रूपसे वे बड़े भारी उपकारी महात्मा थे, स्वप्नमें भी उन्होंने परोपकार न भुलाया होगा, पर लोक-व्यवहारके अनुसार उन्होंने ऐसा भी कहना उचित समझा—

‘खल उपकार विकार फल, तुलसी जान जहान ।

मेदुक मर्कट बनिक बक, कथा सत्य उपखान’ ॥’

नीचका संसर्ग किसी-न-किसी प्रकार कष्टकारक ही होता है, अतएव उत्तम यही है कि उससे दूर ही रहा जाय। इसी तथ्यको गोस्वामीजीने मार्मिक ढंगसे यों चिताया है—

‘नीच गुड़ी ज्यों जानियो, सुनि लखि तुलसीदास ।

ढील दिए गिरि परत महि, खँचत चढ़त अकास’ ॥’

स्वामाधिक मीठी बोली मनुष्यको सर्वप्रिय बनानेमें सहायक होती है। विनम्रता सज्जनोंकी प्रकृतिगत विभूति है। पर व्यवहार-क्षेत्र बताता है कि सभी जगह मिष्टभाषी ही रहनेसे कार्य नहीं चलता। शठों और नीचोंसे जिनका पाला पड़ा होगा उन्हें गोस्वामीजीकी ये बातें अवश्य याद आयी होंगी—

‘डाटेहिं पै नव नीच’ १’

...

...

...

‘कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू’ १’

यह भी अनुभव हो गया होगा कि शठसे विनय करना ऊसरमें बीज बोना है।

१. ‘दोहावली’ दो० ३९८

३. ‘मानस’ सुन्दर० ५८

५. वही, सुन्दर० ५७. २

२. वही, दो० ४०१

४. वही, बाल० २८०. ५

कितने ही प्राणी भ्रान्तिकारक चमकीला बाह्यरूपको देखकर बराबर घोखा खाते रहते हैं, पर जो लोक-व्यवहारमें पारंगत होते हैं वे प्रवञ्चककी बाहरी तड़क-भड़क या उसकी कृत्रिम मीठी वाणी आदिके चक्करमें नहीं पड़ते। यही बात बड़े अच्छे ढंगसे यों दर्शायी गयी है—

‘तुलसी देखि सुबेखु भूलहि मूढ़ न चतुर नर ।

सुंदर केकिहिं पेखु वचन सुधासम असन अहि’ ।’

अधिकांशमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है कि वे स्वयं मधुर वाणी सुनना पसन्द करते हैं और वैसी ही औरोंको प्रसन्न करनेके लिए कहते भी हैं, इसके विपरीत ऐसे भी प्राणी होते हैं जो बाहरसे बहुत रुक्ष होनेके कारण कटु वाणी तो कहते हैं, पर वह होती है परम हितैषी। ऐसी वाणीके कहने और सुननेवाले दोनोंकी संख्या बहुत थोड़ी है। देखिये—

**‘प्रिय थानी जे सुनहिं जे कहहीं । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ॥
वचन परमहित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे’ ॥’**

मनुष्यमात्रकी कार्यशक्ति एक-सी नहीं होती। अतः इसका मर्म जान लेना भी सामान्य लोक-व्यवहार-पटुताका कार्य नहीं है। मनुष्यकी उद्योगिताके सम्बन्धमें गोस्वामीजीने जो विचार प्रकट किये हैं वे भी मननीय होनेके कारण उद्धरणीय हैं—

**‘संसार महुँ पुरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा ।
एक सुमन प्रद एक सुमनफल एक फलइ केवल लागहीं ।
एक कहहिं, कहहिं करहिं अपर, एक करहिं कहत न वागहीं’ ।’**

भार्या अपने भर्ताका विपुल वैभव और अमित प्यार पानेपर हर्षोत्फुल्ल-जीवन बिताती है, यही नहीं, पतिके गिरेदिनोंमें भी उसका प्रेम और साहचर्य प्राप्त रहनेपर पत्नी संतोषपूर्वक कालयापन कर सकती है जैसा कि अनेकानेक महिलाएँ करती हैं, इसके विपरीत जहाँ पति स्वभावतः

१. ‘मानस’ बाल० १६१ ~

२. ‘मानस’ लं० ८. ८, ९

३. वही, लं० ९०

एकाकी जीवन पसन्द करनेवाला है उस वरमें चाहे अतुल वैभव भरा हो, चाहे चूहे दण्ड ही पेलते हो, स्त्रीका जीवन सरस और सुखमय कदापि नहीं हो सकता । इसी व्यावहारिक बातको निम्नांकित पंक्ति प्रकट कर रही है—

‘सहज एकाकिन्हके भवन कवहुँ कि नारि खटाहि’ ।

नारी-प्रकृतिकी गम्भीर और सूक्ष्म जानकारीको भी पक्की दुनियादारी समझना चाहिये । स्त्री-स्वभावसे पूर्णतया अभिज्ञ ही उसका यथातथ्य रूपमें अंकन कर सकता है । गोस्वामीजी नारी-प्रकृति, नारी-हृदय और नारी-चरित्रका अपार सागर थहा चुके थे । इससे भी उनकी लोक-व्यवहार-निपुणता प्रतिपादित होती है ।

यद्यपि जन-सामान्यके लिए मानव-प्रकृतिकी दुर्बोधता निर्विवाद है, पर जो जगत्प्रथित अनुभव-सम्पन्न होता है उसका क्या कहना, वह तो मानों सबके पेटकी जानता है । तात्पर्य यह कि जिसका लोक-व्यवहार जितना ही गम्भीर और विस्तृत होता है वह मनुष्य-स्वभावका उतना ही मार्मिक, सजीव और अनेकविध दृश्य उपस्थित करता है । गोस्वामीजीकी आभ्यन्तरिक वृत्तियोंकी अखण्ड जानकारीका निर्देश पहले ही हो चुका है । उसके आधारपर भी उनके विशाल लोक-व्यवहारका समर्थन हो जाता है । इसी प्रकार विविध वर्गीय पात्रोंके परस्पर कथोरक्तथनमें जो दाँव-पेंचकी स्वाभाविक बातें सन्निविष्ट हुई हैं उनसे भी वे लोक-व्यवहार-विद् ही सिद्ध होते हैं ।

सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ ज्ञानकी संसृष्टि

सौन्दर्यबोध, मात्राबोध और प्रातिभ ज्ञानकी संसृष्टि भी तुलसीकी अपनी विशेषता है । इन त्रिविध अवयवोंका सामान्य परिचय उपेक्षणीय न होगा । पहले प्रतिभाकी ओर दृष्टिपात करना चाहिये । संसारमें आजतक ऐसा कोई महाकवि नहीं दृष्टिगत होता जिसने बिना प्रतिभाके सहारे अमरत्व प्राप्त किया हो । क्या पूर्व, क्या पश्चिम सभी देशोंने काव्यके

मूल कारणोंमें प्रतिभाको सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। आंग्ल भाषाकी इस कहावत 'कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता' (पोयट इज बार्न नाट मेड) का क्या आशय है। सच्चा कवि अपनी विशिष्ट काव्य-प्रतिभा सहित अवतीर्ण होता है, उसकी कविता प्रतिभाकी सुदृढ़ भित्तिपर ही सुचारु रूपसे आश्रित रहती है, वह अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अर्थात् प्रातिभ ज्ञानके सहारे अपनी कल्पनाके पंखोंपर उड़कर अतीन्द्रिय स्वर्गाब्ज जगत्का समाचार सुनाकर उसका प्रत्यक्ष दृश्य दिखानेकी क्षमता रखता है। अपनी कविता कामिनीके बाह्य एवं अन्तर्ध्वेयपर अखिल भू-मण्डलके सहृदयोंको मन्त्र-मुग्ध बना सकता है। प्रातिभ ज्ञानकी महिमा हमारे यहाँके बड़े-बड़े प्राचीन आचार्योंने भी स्वीकृत की है और उन सबने प्रतिभाको काव्यका प्रथम हेतु माना है। प्राचीन आलंकारिक भामहाचार्यने कहा है—

‘काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः^१ ।’

आचार्य दण्डीने भी प्रतिभाको काव्यका प्रथम साधन माना है—

‘नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।

अमन्द्राभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः^२ ॥’

इसी प्रकार, भामटाचार्यने भी काव्यके तीन हेतुओंमेंसे प्रतिभाको ही प्रथम स्थान दिया है—

‘शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवै^३ ॥’

कहना नहीं होगा कि अवतरणमें ‘शक्ति’ प्रतिभाकी ही द्योतक है। प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त विभूति है और बीजरूपमें काव्यका मुख्य साधन भी यही है। इसका विकास कविके हृदयमें जन्मसे ही होता है।

१. ‘भामहालंकार’ प्रथम परिच्छेद, श्लोक ५

२. ‘काव्यादर्श’ प्रथम परिच्छेद, श्लोक १०३

३. ‘काव्यप्रकाश’ प्रथम उल्लास, कारिका ३

पूर्वकालीन संस्कारके बलसे प्रतिभाकी धारा कविके हृदयमें वेगसे प्रवाहित होने लगती है, फलतः वह काव्य-रचनाकी ओर प्रवृत्त होता है।

प्रातिभ ज्ञानका स्वरूप समझनेके लिए आवश्यक है कि पहले हम यथातथ्य ज्ञान अर्थात् 'प्रमा'के सम्बन्धमें कुछ विचार कर लें। प्रमाकी प्राप्तिके मुख्य प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम या शब्द। इन्हीं चारोंके द्वारा हमें किसी वस्तुका यथातथ्य बोध होता है। उक्त चारों प्रमाणोंकी कारण हैं हमारी पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ। तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके द्वारा प्रमाणोंसे सिद्ध जिस ज्ञानका उदय होता है वही प्रमा है। इसकी प्राप्तिमें लौकिक साधन अपेक्षित होते हैं। परन्तु, एक प्रकारका ऐसा भी ज्ञान होता है जिसका उदय बिना किसी लौकिक साधन या प्रमाणके ही होता है। ऐसे ही ज्ञानको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। अंग्रेजीमें यही 'इन्स्ट्रिब्यूशन' कहा जाता है।

अत्यन्त संक्षेपमें, प्रातिभ ज्ञानके विषयमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों देशोंके मुख्य विचार भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

‘प्रातिभाज्ञा सर्वम्’।

इस सूत्रके स्पष्टीकरणके हेतु इसके टीकाकारकी निम्नांकित व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है—

‘प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं विवेकजस्य सार्वज्ञस्य पूर्वरूपं यथा सूर्यस्योदयपूर्वरूपं प्रमा। तेनोत्पन्नेन सर्वमेवातीतानागतादि जानाति’। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाके कारण जिस अनौपदेशिक ज्ञानका उदय होता है उसके उदय होनेपर प्राणी सर्वज्ञ होनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है और तत्परिणामस्वरूप तीनों कालका द्रष्टा हो जाता है, ऐसा ही ज्ञान प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है।

पाश्चात्य जगत्ने प्रातिभ ज्ञानका क्या अभिप्राय ग्रहण किया है यह उसके 'इन्स्ट्रिब्यूशन'के अर्थसे ही प्रकट होता है। वहाँके प्राचीन विचार-

शीलोंकी दृष्टिमें प्रातिभ ज्ञान केवल देवदूतों और सिद्धोंमें ही होता था क्योंकि वे ही लोग ज्ञेय पदार्थ और उसके ज्ञानको अमेदरूपसे जानते थे, पर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक तर्कपद्धतिका बिना कोई आश्रय ग्रहण किये ही मस्तिष्क द्वारा वस्तुतत्त्वके लौकिक साधनापेक्ष साक्षात्कारको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं^१ ।

अब विचारणीय है कि काव्यमें प्रातिभ ज्ञानका क्या स्थान है । भारतीय आचार्योंने काव्य-रचनामें प्रतिभाको क्या स्थान दिया है, इसका संकेत तो किया ही जा चुका है । यहाँ एक उच्च कोटिके पाश्चात्य समीक्षकका विचार उद्धृत करना अनावश्यक न होगा—‘साहित्यिक समालोचनाका क्षेत्र है शक्तिमय वाङ्मय । इसके अन्तर्गत ललित कलात्मक रूपमें विरचित कविता, नाटक, कथासाहित्य, साहित्यसमीक्षा और निबन्ध आते हैं जो औपदेशिक वाङ्मयकी भाँति साक्षात् सत्य या असत्यका निर्णय नहीं करते । तर्कके बलसे उनके तथ्यका निराकरण नहीं किया जा सकता । वे अपने निजी नियमोंके अनुगामी होते हैं । इन नियमोंका अन्तिम आधार क्षोदक्षेम, तर्क नहीं होता, अपितु, प्रातिभ ज्ञान, कल्पना और सौन्दर्यबोध होते हैं । यों तो उभय प्रकारके वाङ्मयका सम्बन्ध सत्यसे ही रहता है, पर सत्यपर उपनीत होनेके उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं । ज्ञानमय साहित्य तात्त्विक निर्णयके द्वारा सत्यपर पहुँचता है तो शक्तिमय साहित्य प्रातिभ ज्ञानके द्वारा^२ ।’

प्रातिभ ज्ञान और कल्पना एक ही वस्तु नहीं है । दोनोंमें स्पष्ट अन्तर है । कल्पना किसी प्रत्यक्ष गोचर आधार या उसके किसी अंशके सहारे ही अपना व्यापार करती और कर सकती है । कवि अपने वर्ण्य विषयके किसी अवयव या उसके सादृश्यकी झाँकी पानेपर उसका पूर्ण सांगोपांग स्वरूप कल्पनाके ही बलपर चित्रित करता है, किन्तु प्रातिभ ज्ञानका उदय किसी आधारकी अपेक्षा नहीं करता । वह आकस्मिक होता

१. दे० आक्सफोर्ड डिक्शनरी ।

२. स्काट जैम्स: ‘मेकिंग आव् लिटरेचर’ पृ० २३

है। उसे एक शब्दमें 'सूक्ष्म' कह सकते हैं। इस प्रातिभ ज्ञानसे सूचित किसी असफल विषयकी सफलता हम कल्पनाके द्वारा सम्पन्न कर सकते हैं, पर नितान्त अज्ञात विषयकी उत्थापना कल्पना नहीं कर सकती। वह काम प्रातिभ ज्ञानके ही मानका है। इस प्रकार प्रातिभ ज्ञान कल्पनासे भिन्न और विशेष महत्त्वपूर्ण है। जहाँ कल्पनाके पंख झड़ जाते हैं, वहाँ प्रातिभ ज्ञान ही अपना चमत्कार दिखाता है।

अपने प्रातिभ ज्ञानके सहारे तुलसीने जिन अपूर्व प्रसंगोंकी उद्भावना की है, अब उनमेंसे दो-एककी बानगी देखिये। निम्नांकित सोरठा बहुत प्रसिद्ध है—

‘संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल ।
बूड़े सकल समाज प्रथमहिं चढ़े जे मोहबस’ ॥’

लोगोंकी धारणा है कि इस सोरठाका तृतीय चरण लिखनेके बाद गोस्वामीजी चक्करमें पड़ गये और अन्तमें चतुर्थ चरणकी पूर्ति हनुमान्जीके द्वारा की गयी। पर, तार्किक ऐसी बात क्योंकर स्वीकार करेंगे। चतुर्थ चरणमें जिस वस्तु-निर्देशके लिए हनुमान्जीकी सहायताप्राप्तिकी कल्पना की जाती है वस्तुतः वही वस्तु-निर्देश कविकी अपनी अनोखी सूझ है। उसके प्रातिभ ज्ञानका मञ्जु प्रकाश है।

‘मानस’के आरम्भमें गोस्वामीजीने जानकीकी वन्दना यों की है—

‘जनकसुता जग जननि जानकी ।
अतिसय प्रिय करुना निधान की ॥
ताके युग पद कमल मनावउँ ।
जासु कृपा निरमल मति पावउँ’ ॥’

ऐसी ही निर्मल मतिकी प्राप्तिके फलस्वरूप उनका प्रातिभ ज्ञान सजग हुआ और रंग भूमिमें पदार्पण करनेके समय जगज्जननी जानकीके जिस अनुपमेय सौन्दर्यको उन्होंने अपने मानसिक नेत्रोंसे देखा उसे

पाठकोंको भी यद्यथातिशयोक्तिके सहारे वर्णनातीत कहनेके नये ढंगसे जता दिया है^१ ।

सीताकी हृदय-विद्राविणी उन्मादकी दशामें उनके दबे हृदयकी आहोंसे 'अवनि न आवत एकउ तारा'का हृदय-स्पर्शा स्वर निकलते ही—

'कपि करि हृदय बिचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।

जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठ कर गहेउ'^२ ॥'

का दृश्य उपस्थित करके गोस्वामीजीने नाटककारकी अघटित-घटना-पटुताका अनूठा उदाहरण छोड़ा है ।

अस्तु, स्थालीपुलाक न्यायसे दो-एक उदाहरण दे दिये गये । वस्तुतः उनकी रचनाओंमें उनकी सूझके न जाने कितने उदाहरण वर्तमान हैं । उनमेंसे बहुतोंको तो हम उनके रूपक और उत्प्रेक्षाके भारी-भरकम आवरणसे प्रतारित होकर पहचान भी नहीं पाते । 'मानस'का उपक्रम-विन्यास भी उनकी सूझका ज्वलन्त प्रमाण है । इष्टदेवके रूप-निर्देश एवं राम-नाम-माहात्म्य-प्रदर्शन अथवा दिव्यादिव्य पात्रोंके शीलानुशीलनके अनेकानेक प्रसंगोंमें भी अनोखी सूझ देखी जा सकती है ।

गोस्वामीजीकी मात्रा-बोध-पटुताका कोई प्रमाण प्रस्तुत करनेके पूर्व इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि मात्रा-बोधसे मेरा अभिप्राय वही है जिसे पाश्चात्य समीक्षक 'सेन्स आव् प्रोपोर्शन' कहते हैं । गोस्वामीजी-के सम्बन्धमें यह कथन असंगत न होगा कि उनका-सा मात्रा-बोध संस्कृत साहित्यके महाकवियोंका भी नहीं था । यदि वाल्मीकिने आवश्यकतासे अधिक प्रकृति-वर्णन करके मात्रा-बोधकी सीमा तोड़ दी है तो श्रीहर्षने दमयन्तीके अंग-प्रत्यंगका वर्णन करते-करते उसके गुप्तस्थानतकका अंकन करके नख-शिख-वर्णनकी मर्यादाका अतिरिक्त विस्तार कर डाला है । हिन्दी साहित्यमें तुलसीको छोड़कर अन्य किस महाकविका नाम लिया जाय जो अपनी मात्रा-बोधकी पूर्ण परिष्कृत रुचिका परिचय देता हो ?

किसी भावको बार बार गीजने या वर्णनीयोंकी 'फिहरिस्त तैयार करानेका ढंग तो मात्रा-बोध है नहीं कि जायसी और सूरका भी नामोल्लेख करें।

मात्राके अतिक्रमणकारी विस्तृत वर्णनसे भले ही पाठककी वर्ण-विषयक ज्ञानवृद्धि हो, पर उससे काव्यके अलौकिक आनन्दकी अनुभूति तो कदापि नहीं हो पाती। जो कवि मात्राका उचित और यथार्थ उपयोग नहीं जानता उसकी उच्चतम कृति भी पाठकको सच्ची और पूर्ण रसा-नुभूति नहीं करा सकती। काव्यके त्रिविध स्वरूपोंमेंसे मुक्तकमें मात्रातिरेकके लिए कम अवकाश रहता है, अन्यथा खण्डकाव्य और महाकाव्यमें तो मात्रा-बोधको कविकी कलाका एक प्रमुख अंग मानना ही होगा।

यों तो गोस्वामीजीकी सभी कृतिय उनके मात्रा-बोधसे तुलित हैं, फिर भी उनके खण्डकाव्य और महाकाव्यके विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं। उनके प्रारम्भिक खण्डकाव्यका वर्ण्य विषय है—रामका नहछू। यदि उन्हें मात्राका यथार्थ परिज्ञान न होता तो वे राजभवनके सुषमा-वर्णनके साथ उस अवसरपर छाये हुए आनन्दोल्लासमय वातावरणका विस्तृत वर्णन करते, तदनन्तर नहछूका प्रसंग छेड़ते। पर उन्होंने वैसा नहीं किया। वस्तुतः उन्हें ध्यान था कि नहछूकी छटा दिखाना उनका वर्ण्य विषय है, फलतः उन्होंने नगर-वर्णन, उसके उल्लास और माता कौसल्याके अपार हर्ष आदिके सभी व्यापारोंको समेटकर एक ही छन्दमें इंगित किया। देखिये—

‘कोटिन्ह वाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।

देवलोक सब देखहि आनंद अति हिय हो।

नगर सोहावन लागति बरनि न जातै हो।

कौसल्याके हरष न हृदय समातै हो’ ॥’

बस, इतना ही वर्णन देकर गोस्वामीजी झट नहछू स्थल ‘आलेहि बाँस के माड़व मनि गन पूरन हो’ पर आ जाते हैं और माड़वका प्रसंग भी एक छन्दमें ही रमणीय ढंगसे समाप्त करके नहछूका प्रसंग उपस्थित

कर देते हैं। इस सस्कारके अवसरपर जिन-जिन विशिष्ट व्यक्तियोंके द्वारा जो-जो विशेष कार्य होते हैं उन सबके वर्णनमें उन्होंने कवि-हृदयकी तन्मयता अवश्य दिखा दी है^१। उन्होंने ऐसा भी नहीं किया है कि वे लोहारिन, अहिरिन, तम्बोलिन, नाइन आदिकी एकाध शृंगारिक चेष्टाओंके अतिरिक्त उनका अनावश्यक वर्णन करने लगे हों। यदि वे ऐसा करते तो उनकी मात्राबोधहीनता प्रकट हो सकती थी। वस्तुतः उनकी बुद्धि इतनी सधी थी कि वे भली भाँति जानते थे कि अमुक वस्तु निर्देशके लिए अमुक शब्द या वाक्य ही पर्याप्त होगा। रामके चरणोंमें महावर लगनेके अवसरपर भी उनकी संयत बुद्धि सचेष्ट है। ऐसा नहीं हुआ कि उक्त प्रसंगमें ही व्यर्थका विवरण चला हो या रामके ही नख-शिख-वर्णनका विस्तार हो।

‘पार्वतीमंगल’ और ‘जानकीमंगल’ भी मात्रा-बोधकी कसौटीपर वेदाग ठहरते हैं। इन दोनोंमें कहीं भी रज्जुमात्र असंयत, अभीष्ट-परिधि-भञ्जक न्यूनाधिक अथवा किसी प्रकारका प्रतिकूल वर्णन न मिलेगा।

खण्डकाव्यमें मात्रा-बोधका समुचित उपयोग कर लेना कविके लिए उतना महत्वाधायक नहीं कहा जा सकता। यदि वह सामान्यतः भी प्रतिभा-सम्पन्न हुआ तो खण्डकाव्यके सीमित क्षेत्रमें यथार्थ रूपसे अपने मात्रा-बोधका परिचय दे सकता है। वस्तुतः उसके मात्राबोधकी कड़ी परीक्षा महाकाव्यके अपार क्षेत्रमें ही होती है, क्योंकि उसमें विविध वस्तु-योजना, घटना-योजना, चित्रण, वर्णन आदिका निर्वाह करना पड़ता है और यदि कविमें मात्राकी परखका अभाव हुआ तो वह काव्य-धारा-प्रवाहमें मात्रा-बोधकी सीमासे न जाने कितने प्रसंगोंमें हटता हुआ मिलेगा। कहीं आवश्यक विस्तारका अतिक्रमण करके अनावश्यकको बढ़ायेगा तो कहीं मार्मिक आवश्यक प्रसंगको नगण्य करके सारा गुड़ गोबर कर देगा। इसके विपरीत मात्राकी सूक्ष्म दृष्टिसे सम्पन्न महाकवि किसी स्थूल-निरूपणमें धोखा नहीं खाता। गोस्वामीजी ऐसे ही महाकवि हैं। ‘मानस’में एकसे एक बढ़कर ऐसे

गहन प्रसंग हैं जो उन्हें उलझा सकते थे, पर इस महात्माकी अद्भुत शक्ति थी, इसने सभी प्रसंगोंपर मात्रा-बोधका अंकुश लगा ही दिया है।

यदि 'मानस'की कथावस्तुको लक्ष्यमें रखकर विचार किया जाय तो ऐसा कोई स्थल नहीं दिखाई पड़ेगा जहाँ किसी प्रासंगिक कथाका ऐसा विवरण किया गया हो कि वह प्रधान कथावस्तुके प्रवाह आदिमें किसी प्रकारका व्याघात करता हो। यदि प्रधान कथावस्तु विस्तृत महानदके समान प्रवाहित होती हुई दृष्टिगत होती है तो प्रासंगिक कथाएँ उसीमें आकर अन्तर्भूत होनेवाली सहायक नदियोंके समान हैं। पाठकके समक्ष मुख्य कथाका विस्तार सदैव बना रहता है, प्रासंगिक कथाओंकी बीच-बीचमें झलकमात्र मिलती है। कथाका ऐसा विस्तार भी गोस्वामीजीके मात्रा-बोधका उत्तम परिचायक है।

वस्तुवर्णनके प्रसंगोंमें प्रायः बड़े-बड़े कवियोंमें भी मात्रा-बोधका अभाव खटक जाया करता है। अपनी तन्मयतावश वे वस्तुवर्णनको इतना विस्तृत कर देते हैं कि कहीं-कहीं वही प्रधान हो जाता है। गोस्वामीजीने भूलकर भी ऐसा नहीं किया है। उनका वस्तुवर्णन सदैव वातावरण और कथानकप्रवाहके अनुरूप हुआ है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। अपने मातुल-गृहमें भरतपर अत्यन्त व्याकुलता छायी थी, क्यों कि भयंकर दुःस्वप्नोंके द्वारा उन्हें भीषण अमंगलकी सूचना मिल चुकी थी। ऐसे ही अवसरपर वशिष्ठने दूत भेजा। गुरुकी आज्ञा सुनते ही उन्होंने ब्रह्मान कर दिया। उस समय उनके मनमें कितनी आकुलता और आतुरता थी, इसका अनुमान निम्नांकित दो ही पंक्तियोंसे हो जाता है—

‘चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन वाँके ॥
हृदय सोच बड़ कछु न सुहाई। अस जानहिं जिय जाउँ उड़ाई॥’

यदि गोस्वामीजी मात्रा बोधके मर्मज्ञ न होते तो वे भरतके इस प्रस्थानके समय यात्राका विस्तृत वर्णन अवश्य करते, किन्तु नहीं, वे समझते

थे कि उनके पात्रकी वृत्तियाँ ऐसे समयमें स्वभावतः किस ओर उन्मुख हैं। क्या वे वर्णनके विस्तारमें उलझाकर प्रतिरुद्ध कर दिये जानेकी क्षमता भी रखती हैं। फलतः उन्होंने—

‘एक निमेष वरप सम जाई । एहि बिधि भरत नगर नियराई॥’

कहकर भरतकी वेदनाका आभास देते हुए कथानकका चलता हुआ द्रुत प्रवाह ज्योंका त्यों बनाये रखा।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग और देखिये। रावण-वध हो चुका था। रामके वनवासकी अवधि पूरी होनेवाली थी। भक्त विभीषण अपनी राजधानीको रामकी चरण-रजसे पुनीत करानेके लिए परमोत्कण्ठित था। पर, रामको और ही बेचैनी थी—

‘बीते अवधि जो जाउँ मैं जियत न पावउँ बीर।

सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर१॥’

इस स्थितिमें भक्तको आश्वासन देते हुए रामने यही कहा कि मेरे अयोध्या पहुँचनेका प्रबन्ध शीघ्रतिशीघ्र करो। फिर क्या था, विभीषणने तुरंत पुष्पक विमान उपस्थित किया। राम तत्क्षण विमानारुढ़ होकर अयोध्या-की ओर बढ़े। इस यात्राके समय रामके हृदयमें जो भाव छाया था उसके अनुसार यह कदापि उचित नहीं था कि गोस्वामीजी यात्राका लम्बा-चौड़ा वर्णन करने लगते। मात्रा-बोधका यथोचित रहस्य न जाननेवाले समा-लोचक महाशयका दुःसाहस ही गोस्वामीजीपर यह दोष लाद सकता है कि उन्होंने उक्त प्रसंगोंमें विस्तृत यात्रा-वर्णनकी आवश्यकताकी उपेक्षा कर दी है। वस्तुतः प्रसंगानुकूल वर्णनकी यथोचित परिधिका जितना सच्चा ज्ञान तुलसीको था उतना संसारके विरल महाकवियोंमें कदाचित् बहुत दूँदनेपर ही मिले।

गोस्वामीजी यह भली भाँति जानते थे कि किस घटनाका विस्तार होना चाहिये और किसका संकेतमात्र। यही कारण है कि उन्होंने सामान्य

घटनाको तो एकाध वाक्यमें ही कहकर चलता कर दिया है, पर गम्भीर घटनाको मार्मिक ढंगसे विस्तार दिया है। इसी सम्बन्धमें यह भी न भूलना चाहिये कि गम्भीर घटनाओंका विस्तार भी ऐसा नहीं है कि उसमें थोड़ा-सा भी आधिक्य प्रकट हो। सीता-हरण और लक्ष्मणको शक्ति लगनेकी घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें गोस्वामीजी इतना बढ़ा सकते थे कि सारी प्रकृतिसे उन्माद, प्रलाप और विलापकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती, पर नहीं, उन्होंने ऐसे अवसरोंको भी उतना ही विस्तार दिया कि पाठकके हृदयमें पूर्ण रसानुभूति हो जाय। ऐसा नहीं किया कि वह पढ़ते-पढ़ते ऊब जाये या फूट-फूटकर रोता ही रह जाये।

हमारे महाकवियोंकी उत्तमोत्तम रचनाओंके अवलोकनसे अवगत होता है कि प्रायः नख-शिख-वर्णनमें उनकी बुद्धि इतनी रमी है कि उन्होंने मात्राका अतिक्रमण करके भी उसको अत्यधिक विस्तार दिया है। यद्यपि राम और सीताके अपार सौन्दर्य-सागरके सामने अन्यान्य कवियोंके नायक-नायिकाओंका सौन्दर्य विन्दुमात्र ही होगा, तथापि बाबाजीने रूप-सौन्दर्य-वर्णनकी संयत सीमाके भीतर ही रहकर नख-शिखका अंकन किया है। उन्हें न जाने कितने ऐसे प्रसंग मिले जहाँ वे नख-शिख-वर्णन प्रचुर परिमाणमें कर सकते थे, पर नहीं, उन्होंने दो-चार पंक्तियोंकी ही आवश्यकता समझकर प्रसंगको उत्तरोत्तर स्वाभाविक गतिसे बढ़ने दिया। इस प्रकार नख-शिख-वर्णनके प्रचण्ड घेरेमें भी उनका मात्रा-बोध श्लाघनीय है।

उच्च कोटिके कलाकारोंकी कृतियोंमें भी हम कभी-कभी पात्रोंके कथोपकथनोंसे ऊबने लगते हैं, क्योंकि वे या तो अनावश्यक विस्तृत और नीरस होते हैं अथवा इतने काल्पनिक और अस्वाभाविक कि उनमें हमारा हृदय रमता ही नहीं। सद्ग्राही मात्रा-बोध-सम्पन्न कविकी कृतिके सभी कथोपकथन सौष्टवपूर्ण एवं संयत होते हैं। तुलसीमें यही बात है। एक उदाहरण लीजिये—

‘पवन तनय के चरित सुहाये ।

जामवंत रघुपतिहि सुनाये ॥

सुनत कृपानिधि मन अति भाये ।
पुनि हनुमान हरषि हिय लाये ॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी ।
रहति करति रच्छा स्वपान की' ॥'

अवतारित अर्द्धालियाँ यदि तुलसी-जैसे मात्रा-बोध-प्रवीण कलाकारके हाथमें न पड़ी होतीं तो कदाचित् अन्य कवि-पहली अर्द्धालीके स्थानपर लम्बा नहीं तो संक्षिप्त ही वर्णन करता कि हनुमान् किस प्रकार समुद्रके तटपर गये, कैसे समुद्रोत्खलन किया और कैसे अन्यान्य घटनाएँ घटित हुईं, पर गोस्वामीजीने इन सभी बातोंके बतलानेका काम केवल एक पंक्तिसे लिया । उन सभी बातोंको जानकर रामपर जो प्रभाव पड़ा उसे भी श्रुत दूसरी अर्द्धालीमें व्यक्त कर दिया । तदुपरान्त, वे चाहते तो सीताका समाचार सुननेपर रामकी जो दशा हुई उसका विस्तृत वर्णन करते, पर नहीं, कथा-प्रवाह तीव्र रखनेके लिए उन्होंने तीसरी ही अर्द्धालीमें रामके प्रश्नोंको उपस्थित कर दिया । ये प्रश्न भी अनियन्त्रित नहीं हैं । केवल नपे-तुले दो प्रश्न हैं—सीता किस प्रकार रहती है और क्योंकर अपने प्राणोंकी रक्षा करती है । यद्यपि दोनों प्रश्न देखनेमें सरल हैं, पर उनकी व्यञ्जना गूढ़ है । अतः उनका जैसा गूढ़ और मार्मिक उत्तर देना चाहिये था वैसा ही हनुमान्ने दिया भी । देखिये—

‘नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंघित जाहिं प्रान केहि बाट’ ॥’

निस्सन्देह उक्त दोनों प्रश्नोंका उत्तर एक ही दोहेमें दिया गया है, पर इतने ही उत्तरसे सीताके अमित दुःखकी पूर्ण अभिव्यक्ति न होनेपर हनुमान्का कथोपकथन कुछ और बढ़ाया गया और उनसे कहलाया गया कि—

‘चलत मोहिं चूड़ा मनि दीन्हों ।’

साथ ही कुछ सन्देश भी कहा—

‘नाथ युगल लोचन भरि वारी ।
वचन कहेउ कछु जनक दुलारी ॥
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना ।
दीनबंधु प्रनतारतिहरना ॥
मन क्रम वचन चरन अनुरागी ।
केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥
अवगुन एक मोर में माना ।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा ।
निसरत प्रान करहि हठि वाधा ॥
बिरह अगिन तनु तूल समीरा ।
स्वास जरइ छन माँह सरीरा ॥
नयन स्रवहि जल निज हित लागी ।
जरइ न पाव देह बिरहागी ॥
सीता कै अति विपति विसाला ।
विनिहिं कहे भलि दीनदयाला’ ॥’

इस सन्देशके इतने सीमित क्षेत्रमें जनकदुलारीकी परम आर्तदशाकी कैसी हृदय-स्पर्शिनी अभिव्यञ्जना हुई है इसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। सीताकी ऐसी दशा सुनकर रामपर जो प्रभाव पड़ा उसे एक ही चौपाईमें व्यक्त करना अधिक उपयुक्त समझकर गोस्वामीजीने इतना ही कहा है—

‘सुनि सीता-दुख प्रभु सुख-अयना ।
भरि आये जल राजिव-नयना’ ॥’

इसके उपरान्त यदि वे चाहते तो रामकी दशाका विस्तृत वर्णन करते, पर उनके ऐसा करनेसे चलते हुए कथोपकथनमें एक प्रकारका

व्याघात-सा होता । अतएव उन्होंने हनुमान्से कुछ और कहलाना ही समीचीन समझा और कथोपकथनका क्रम आगे बढ़ाया । अस्तु । तुलसीमें प्रायः सभी कथोपकथनके प्रसंगोंमें उनका मात्रा-बोध पूर्णतया परिलक्षित होता है ।

अब रही मुक्तकमें मात्रा-निर्वाहकी बात । यदि कोई कवि मुक्तकमें किसी भावको मनोहर ढंगसे व्यक्त करनेके लिए अद्भुत कल्पना, उद्योतक अप्रस्तुत योजना, परिष्कृत रुचि और हृदयकी नैसर्गिक मार्मिकताके वर्णनसे पाठकको लोट-पोट कर देता है तो कहना होगा कि उसमें मात्रा-बोध है । इस दृष्टिसे तुलसीकी अधिकांश मुक्तक रचनाएँ भी उनके मात्रा-बोधका परिचय देती हैं ।

तुलसीके काव्योद्यानमें सौन्दर्यके जो कमनीय कुसुम विकसित हुए हैं उनके सुभग सौरभ्यकी अनुभूतिके लिए पहले सौन्दर्यपर कुछ सामान्य विचार कर लेना चाहिये । इस सामान्य विचारसे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि मैं पाश्चात्य पचासों सौन्दर्य-विज्ञानियोंके सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों (ईस्थेटिक थ्योरीज) का गोरखधन्धा फैलाऊँ और सौन्दर्यका आध्यात्मिक रहस्य बताऊँ । ऐसा न करनेपर भी सौन्दर्यका स्वरूप-निर्देश तो करना ही होगा । जैसे हम चन्द्रिकाकी कल्पना बिना चन्द्रके नहीं कर सकते वैसे ही बिना सुन्दर वस्तुके सौन्दर्यकी कल्पना करना असम्भव है । इस आधारपर हम कह सकते हैं कि सुन्दर वस्तुसे पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है । जड़ अथवा चेतन जगत्की कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके साक्षात्कारमात्रसे हमारा मन उनमें ऐसा रम जाता है कि हम उन वस्तुओंकी भावनाके रूपमें ही परिणत हो जाते हैं । हमारी अन्तस्सत्ताकी यही तदाकार परिणति सौन्दर्यकी अनुभूति है । इसके विपरीत कुछ रूप-रंग-की वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनकी प्रतीति या भावना हमारे मनमें कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है । जिस वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी..... किसी

वस्तुके प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे हमारी अपनी सत्ताके बोधका जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मनकी उस वस्तुके रूपमें जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई सौन्दर्यकी अनुभूति कही जायगी । जिस प्रकारकी रूप-रेखा या वर्ण-विन्याससे किसीकी तदाकार परिणति होती है उसी प्रकारकी रूप रेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है । मनुष्यता-की सामान्य भूमिपर पहुँची हुई जातियोंमें सौन्दर्यके सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं । भेद केवल अनुभूतिकी मात्रामें पाया जाता है । न सुन्दरको कोई एकवारगी कुरूप कहता है और न बिल्कुल कुरूपको सुन्दर^१ ।

उपर्युक्त उद्धरण एक प्रकारसे सौन्दर्यानुभूतिका स्पष्टीकरण कर देता है, पर सौन्दर्यका वह विस्तृत स्वरूप जिसे हम तुलसीकी रचनाओंमें इंगित करना चाहते हैं पूर्ण रूपसे प्रकाशित करने लिए सौन्दर्यका वर्गीकरण करना अधिक सुन्दर होगा । हम कह चुके हैं कि सुन्दर वस्तुसे पृथक् सौन्दर्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है । अतः सुन्दर वस्तुओंके आधार पर सौन्दर्यके दो वर्ग होंगे—(१) प्रकृति-सौन्दर्य, (२) प्राणि-सौन्दर्य ।

सौन्दर्यके इन द्विविध क्षेत्रोंपर दृष्टि डालते ही दोनोंके भेद प्रतीत होंगे । प्रकृति-सौन्दर्यके अन्तर्गत—(१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य (३) व्यापार-सौन्दर्य आदि और प्राणि-सौन्दर्यमें (१) रूप-सौन्दर्य, (२) गुण-सौन्दर्य, (३) व्यापार-सौन्दर्य, (४) व्यवहार-सौन्दर्य, (५) शील-सौन्दर्य आदि ।

निस्संदेह मनुष्य चेतनामय प्राणी होनेके कारण चेतनजगत्के सौन्दर्य का विशेष रसज्ञ होता है, पर यह भी निश्चित है कि वह जड़ प्रकृतिके विविध विलासोंपर भी मुग्ध रहता है । उसका हृदय कहीं पल्लव-गुम्फित पुष्प-हासमें, कहीं निर्झरोंके कलकल नादमें, कहीं पक्षियोंकी काकलीमें, कहीं सिन्दुराभ सान्ध्य दिगञ्जलके हिरण्य मेखला-मण्डित घनखण्डमें, कहीं तुषार आवृत तुंग गिरिशिखरपर पड़ी आभासे निर्मित इन्द्रधनुषमें, कहीं सघन और स्निग्ध हरीतिमासे आच्छन्न अछोर मैदानोंमें लहलहाते हुए खेतोंमें, तो कहीं

महार्णवकी उत्ताल तरंगोंमें जा फँसता है। क्यों ? उत्तर है—प्रकृति-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर। इसी प्रकार प्राणि-सौन्दर्य भी उसे केवल आकर्षित ही नहीं करता, अनुभूति-साम्य, रुचि-साम्य, विवेक-साम्य और भाव-समष्टि-साम्यसे आप्यायित भी करता है।

सौन्दर्यके उक्त व्यापक क्षेत्रोंपर स्वतन्त्र रूपसे विशेष विवेचन करनेका न तो अवकाश है और न उसकी उपेक्षा ही इष्ट है, अतः प्रस्तुत परिच्छेदमें कविकृत बाह्य दृश्य-चित्रण और आभ्यन्तरिक वृत्ति-निरूपणके सम्बन्धमें की गयी विवेचनाके द्वारा ही कविके सौन्दर्य-बोधका प्रकारान्तरसे परिज्ञान कराया जा चुका है।

श्रीलताका पूर्ण परिपाक

श्रीलताका अपूर्व परिपाक भी उत्तम क्रोटिके काव्यका नितान्त आवश्यक अंग है। तभी तो कलाकारोंको काव्यके कतिपय दोषोंसे बचनेके साथ ही अश्लीलतासे भी दूर रहनेकी चेतावनी दी गई है। अश्लीलता ब्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल-व्यञ्जक भावोंके प्रकाशनसे तीन प्रकारकी मानी गयी है—

‘त्रिधेति ब्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्।’

दैनिक व्यवहारोंकी ओर दृष्टिपात करनेसे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि समाजमें कितने ही व्यवहारों और व्यापारोंका नग्न-प्रदर्शन लज्जाजनक माना जाता है। ऐसी ब्रीडात्मक बातें प्रायः शृंगार और हास्य-वर्णनके अन्तर्गत विशेष रूपसे दिखाई पड़ती हैं। इन्हीं दोनोंके निरूपणमें अनेकानेक कवि श्रीलताकी उपेक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। रसविरोधी अनेक दोषोंमेंसे प्रकृति अर्थात् पात्रोंका विपर्यय नामक दोष भी एक विशेष स्थान रखता है। प्रकृति अर्थात् नायक तीन प्रकारके होते हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, जिनके वर्णनमें प्रधानतया वीर, रौद्र, शृंगार

१. मम्मटाचार्यने रसविरोधी दोषोंकी संख्या तेरह मानी है। दे०

‘काव्यप्रकाश’ सप्तम उल्लास, सू० ८८

और शान्तरस गृहीत होते हैं। नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीर-प्रशान्त और धीरोद्धत तथा उत्तम, मध्यम और अधम भेदके होते हैं। इनमेंसे रति, हास, शोक और अद्भुत ये भाव अदिव्य उत्तम पात्रके सदृश दिव्य उत्तम पात्रोंमें भी वर्णित होते हैं, किन्तु सम्भोग शृंगारकी बीजभूत रति उत्तम दिव्य प्रकृतिके विषयमें सर्वदा अवर्णनीय ठहरायी गयी है, क्योंकि उसका वर्णन माता-पिताके सम्भोग-वर्णनके समान अनुचित है^१। गोस्वामीजीकी समस्त रचनाओंको ढूँढ़ डालिये, उनमें कहीं भी सम्भोग शृंगारका अमर्यादित वर्णन नहीं मिलेगा। हमें यह न समझना चाहिये कि तुलसीके सामने ऐसे प्रसंग ही नहीं आये, प्रत्युत तथ्य यह है कि ऐसे प्रसंगोंके आनेपर भी उन्होंने प्रकृति-विपर्यय नहीं होने दिया है। जहाँ शिव-पार्वतीके सम्भोग शृंगार-वर्णनका अवसर आया है वहाँ इतना ही कहना उचित समझा गया है—

‘जगत मातु पितु संभु भवानी ।
तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी ॥
करहिं बिबिध बिधि भोग विलासा ।
गनन्हँ सप्रेत बसहिं कैलासा^२ ॥’

जहाँ पार्वतीके अप्रतिम सौन्दर्य-वर्णनकी अपेक्षा थी वहाँ भी गोस्वामीजीने बड़े ही संयत और सुचारु ढंगसे जगदम्बिकाके रूप और कान्तिकी अभिव्यक्ति की है। यथा—

‘देखत रूप सकल सुर मोहै ।
बरनइ छवि अस जग कवि को है ॥
जंगदंजिका जानि भव बामा ।
सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा ॥

२. ‘काव्यप्रकाश’ सप्तम उल्लास, १२ ‘प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।’

१. ‘मानस’ बाल० १०२. ४, ५

सुंदरता मरजाद भवानी ।
जाइ न कोटिन्ह वदन बखानी' ॥'

इसी प्रकार सीताकी अलौकिक शोभाका वर्णन करते समय उनके अंगोंमें यौवनागम आदिका संकेत करके भी तुलसीने जैसी श्रीलताका प्रकाशन किया है वैसी अन्यत्र कहाँ ।

केवल देवियोंके शृंगार-वर्णनमें ही श्रीलताका पालन किया गया हो ऐसी बात नहीं । शिवकी अचल समाधि भंग करनेके लिए कामदेवने जब अपना प्रबल प्रताप दिखाया तो सारी सृष्टि कामके वशमें हुई । 'लता निहारि नवहिं तरु साखा ।' 'संगम करहि तलाव तलाई'की स्थिति आ गयी । ऐसे घोर शृंगारका वर्णन भी गोस्वामीजीने किया है^३, पर उस विवरणमें ब्रीड़ाव्यञ्जक अश्लीलताका नाम-निशान भी नहीं आने पाया है ।

तुलसीकी कृतियोंमें कहीं-कहीं ग्राम्य शब्दोंका प्रयोग देखकर कोई सहसा कह सकता है कि ऐसे प्रयोग ही श्रीलताके विरोधी हैं । पर, ऐसे सहसा कथनका कोई मूल्य नहीं । काव्यमें कुछ ऐसे अपवाद भी स्वीकृत किये गये हैं जिनमें जुगुप्सा-व्यञ्जक ग्राम्य पदोंके प्रयोग दोषकी जगह गुण माने जाते हैं । यथार्थ तथ्यके निरूपणार्थ नीतिमय वचनोंके कथनमें ग्राम्य पदका प्रयोग अश्लीलत्वका द्योतक नहीं होता । यथा—

‘तुलसी देवल देवको लागे लाख करोरि ।
काग अभागे हगि भख्यो, महिमा भई न थोरि’ ॥’

नीतिमय वचनोंमें ही नहीं, अपितु शान्त (वैराग्य) के प्रकरणमें भी जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लील अर्थ गुण-विशिष्ट माने जाते हैं । जैसे—

‘रमा बिलास राम अनुरागी । तजत वमन इव नर बड़ भागी’ ।’

१. वही, बाल० ९९. ६-८

२. वही, बाल० २४६. १-८, २४७. १-४

३. दे० ‘मानस’ बा० ८४ ८५

४. ‘दोहावली’ दो० ३८४

५. ‘मानस’ अयो० ३२२.८

अधम पात्रोंकी उक्तियोंमें ग्राम्य पद गुण हो जाते हैं। ऐसे प्रयोग भी गोस्वामीजीने बराबर किये हैं।

यदि कोई अत्यधिक नियमव्रती सन्निक्षक अपनी रक्षताके अनुशासनमें आकर बाबाजीमें किसी प्रकारकी अश्लीलता सिद्ध ही करना चाहे तो वह केवल उन्हीं प्रसंगोंकी ओर अंगुलि-निर्देश कर सकेगा जिन्हें उन्होंने अपनी स्वश्रुति की अति साधुताकी प्रेरणासे अथवा राम-विरोधीके प्रति सहज चिढ़की माँगसे रचा होगा। सन्दोदरी सहस्र पतिपरायणा भार्याने अपने पतिपर जैसे निर्भय और कठोर अमांगलिक और अप्रशस्त अधिक्षेप-वचन कहे हैं वे विशुद्ध नीतियोंकी दृष्टिमें अश्लीलता अथवा अनीतिके द्योतक हो सकते हैं। इसी प्रकार भरतने माता कैकेयीकी जो गर्हा की है उसमें भी यही बात दिखाई दे सकती है।

कवित्व और साधुताका संयोग

संसारके कवियोंने या तो साधु-महात्माओंके सिद्धासनपर आसीन होकर अपनी कठोर साधना या तीक्ष्ण अनुभूति तथा घोर धार्मिक कट्टरता या साम्प्रदायिक असहिष्णुतासे भरे बिखरे हुए छन्द कहे हैं और अखण्ड ज्योतिकी कौंधमें कुछ रहस्यमय, धुंधली और अस्फुट रेखाएँ अंकित की हैं अथवा लोक-मर्मज्ञकी हैसियतसे सांसारिक जीवनके तप्त या शीतल एकान्त चित्र खींचे हैं जो धर्म और अध्यात्मसे सर्वथा उदासीन दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामीजी ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने इन सभीके नानाविध भावोंको एक सूत्रमें गुम्फित करके अपना अनुपमेय साहित्यिक उपहार प्रदान किया है। काव्यकी निरवच्छिन्न पीयूष-धारासे अभिषिक्त होनेके कारण उनकी कृतियाँ बहुत ऊँची हैं, पर उनसे भी अधिक ऊँचा है उनका भव्य व्यक्तित्व। उन्होंने शूद्रोंके प्रति जो कुछ कहा है उससे चिढ़कर कोई उन्हें कुछ खरी-खोटी सुना ले, स्त्रियोंके प्रति क्रूरता-व्यञ्जक उनकी कुछ उक्तियोंके कारण कोई उन्हें अनुदार भी कह ले अथवा उन्होंने प्राचीनताके साथ जो अविच्छिन्न सम्बन्ध दिखाया है उस नाते कोई उन्हें प्रतिमुखगामी, नूतन-

द्वेषी या दकियानूस कहकर अपनी प्रगतिशीलता दिखा ले, पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जो उन्हें कपटी या दम्भी कह सके। उनके गहरेसे गहरे पक्षपातमें भी ईमानदारी है, कट्टरतम उक्तिमें भी पवित्र तटस्थता और निश्छल बल है। यह उनके साधु जीवन और व्यक्तित्वका ही प्रभाव है जो उनकी काव्य-प्रतिभासे चमत्कृत चेतनातरंगिणी एक ओर विमल भक्तिके कूलको और दूसरी ओर मानवताके सम-विषम तटको चूमती चलती है। उनके काव्यमें आत्मगवेषणात्मक वृत्तियोंके जो उद्बोधन दिखाई पड़ते हैं वे सब उनके उदार व्यक्तित्वके सहज उद्गार हैं। सभी परिस्थितियोंके विविध स्तरोंको पार कर परपीड़ाकी अनुभूतिका अभ्यास बिरले ही बनाये रखते हैं। महात्मा तुलसीदास इन्हीं बिरलोंमेंसे विरलतम हैं, फलतः वे अपने काव्यको लोकोपकारक विभूतियोंसे सम्पन्न किये बिना कैसे रह सकते थे। यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि तुलसीने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुताके संयोगका अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिन्दी साहित्यको देकर उसे युग-युगान्तरके लिए अमर कर दिया है।

उपकरण-ग्रन्थोंकी तालिका

ऋग्वेद
 महाभारत एवं हरिवंश
 श्रीमद्भागवत महापुराण
 विष्णुपुराण
 देवीभागवत
 अध्यात्मरामायण
 महारामायण
 रघुवंश
 हनुमन्नाटक
 उत्तररामचरित
 पञ्चतन्त्र
 चाणक्यनीति
 आपस्तम्बस्मृति
 वैयाकरणभूषणसार-दर्पण
 बृहत्संहिता
 योगदर्शनसूत्र
 नारदपञ्चरात्र
 नारदसूत्र
 विष्णुसहस्रनाम
 हरिभक्तिसामृत
 रामोत्तरतापिनी-उप०
 रामरहस्योपनिषद्
 तारकोपनिषद्
 शाठ्यायनीयोपनिषद्
 गुरुगीता
 तन्त्रराज
 श्यामारहस्य
 निरुत्तरतन्त्र
 कुलार्णव

चित्रमीमांसा
 सामवेद
 श्रीमद्भगवद्गीता
 शिवपुराण
 पद्मपुराण
 मार्कण्डेयपुराण
 वाल्मीकीयरामायण
 आनन्दरामायण
 सेतुबन्ध
 कुमारसम्भव
 प्रसन्नराघव
 प्रबोध चन्द्रोदय
 हितोपदेश
 मनुस्मृति
 याज्ञवल्क्यस्मृति
 ज्योतिषसार
 चरकसंहिता
 सिद्धान्तकौमुदी
 शाण्डिल्यसूत्र
 श्रीभगवन्नामकौमुदी
 भक्तिसायन
 वैष्णवमताब्जभास्कर और रामा-
 र्चनपद्धति
 श्वेताश्वतरोपनिषद्
 तैत्तिरीयोपनिषद्
 सप्तशतीसर्वस्व
 नित्यतन्त्र
 आचारभेदतन्त्र
 गुप्तसाधनतन्त्र

योगिनीतन्त्र
वृत्तिवार्तिक
कुवलयानन्द
अलंकारकौस्तुभ
चैतन्यचन्द्रोदय
कंसवध
अच्युतरायाभ्युदय
साहित्यदर्पण
काव्यालंकार
काव्यप्रकाश
वृत्तरत्नाकर
सुवृत्ततिलक
भारतीभूषण
काव्यप्रभाकर
काव्यालोक
लिरिक
आदर्श और यथार्थ
मेडिवियल इण्डिया
ट्रेवेल्स इन दी मुगल इम्पायर
हि० आब् मेडिवियल इण्डिया
हिस्ट्री आब् इण्डिया
हिस्ट्री आब् इण्डियन एण्ड ईस्टर्न-
आर्किटेक्चर
ए स्केच आब् दि रेलिजन्स आब्
हिन्दूज
माडर्न हिन्दूइज्म
वैदिक इण्डिया
ऐन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन-
फिलासफी
इण्डियन फिलासफी
भारतीयदर्शन
तुलसीग्रन्थावली, भाग ३
तुलसीदास
हिन्दी नवरत्न

तुलसीदास और उनकी कविता
भाग २
उज्ज्वलनीलमणि
नाटकचन्द्रिका
राष्ट्रौदवंशमहाकाव्य
पद्यावलि
काव्यादर्श
वक्रोक्तिजीवित
एकावली
श्रुतबोध
पिंगलप्रकाश
अलंकारमञ्जूषा
कविप्रिया
एपिक
चिन्तामणि
मेडिवियल मिस्ट्रीसिज्म आब् इण्डिया
हिस्ट्री आब् जहाँगीर
मुगल एडमिनिस्ट्रेशन
भारतवर्षका इतिहास
अकबर दि ग्रेट मुगल
वाण्डरिंग आब् ए पिलग्रिम इन सर्च-
आब् दि पिकचरस्क
एसेज एण्ड लेक्चर्स आन् दि रेलि-
जन्स-आब् हिन्दूज
रेलिजन्स आब् इण्डिया
वै०, शै०, एण्ड अदर माइनर
रेलिजससिस्टम
हिस्ट्री आब् इण्डियन फिलासफी
दि फिलासफी आब् द्वैत वेदान्त
गोस्वामी तुलसीदास
गोस्वामी तुलसीदास
तुलसीदर्शन
इण्डैक्स बर्बोरस आब् दि तुलसी-
रामायण

श्री गोस्वामी तुलसीदास
 तुलसीके चार दल
 वि० सा० में रामचरितमानस
 दि रामायन आव् तुलसीदास
 बुक आव् राम दाइविल आव्
 इण्डिया
 कबीर-ग्रन्थावली
 सूरसागर
 भक्तमाल
 मानसकी अनेकानेक टीकाओंमें दी
 हुई भूमिकाएँ—यथा ग्राउसके
 रामायन आव् तुलसीदासकी
 भूमिका, इण्डियन प्रेससे
 प्रकाशित संस्करणकी भूमिका
 आदि
 अभिधानप्य दीपिका
 खालिकबारी
 हिन्दी विश्वकोश
 आक्सफोर्ड डिक्शनरी

शिवसिंहसरोज
 स्केच आव् हिन्दी लिटरेचर
 दि थियोलोजी आव् तुलसीदास
 निगुन स्कूल आव् हिन्दी पोएट्री
 दादूदयालकी बानी
 पञ्चावत
 घटरामायण
 माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव्
 हिन्दुस्तान
 अमरकोश
 हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक
 इतिहास
 हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर
 इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन
 एन्ड-एथिक्स
 हिन्दी साहित्यका इतिहास
 मिश्रवन्धु विनोद
 मेकिंग आव् लिटरेचर
 संस्कृत साहित्यका संक्षिप्त इतिहास

उक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त अधोलिखित पत्र-पत्रिकाएँ भी हमारे उप-
 करण-ग्रन्थोंकी तालिकामें उल्लेखनीय हैं :—

इण्डियन ऐटीक्वेरी
 इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज
 ना० प्र० पत्रिका
 कल्याण
 विशालभारत

जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी
 भारतीय अनुशीलन
 सरस्वती
 हंस
 माधुरी

अन्तमें दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका नामोल्लेख भी आव-
 श्यक है—

‘बाबा सेवादासकी बानी
 चेलादासकी निरञ्जनी’

भक्तगीतामृत